
1990020047884

6892

SriBhasya- I

जगद्गुरु श्री रामानुजाचार्य कृत



प्रथम खंड

प्रस्तोता

आचार्य श्री ललितकृष्ण गोस्वामी

श्री निम्बार्काचार्य पीठ
१२, महाजनी टोला
प्रयाग

मुनिलाल, प्रकाशन अधिकारी
श्री निम्बार्क पीठ
१२ महाजनी टोला, प्रयाग

मूल्य : इक्यावन रुपये मात्र

मुद्रक
ईश्वर शरण आश्रम मुद्रणालय, इलाहाबाद

प्रकाशकोय:

भगवान श्री रामानुजाचार्य कृत श्री भाष्य की सानुवाद प्रस्तुति से हमें अपार हर्ष है। पूज्य चरण स्वामी ललित कृष्ण जी महाराज ने बड़ी निष्ठा और लगन के साथ प्रसिद्ध चारो वैष्णव सम्प्रदाय के भाष्यों की व्याख्या सरल सुगम मार्मिक भाषा में प्रस्तुत की है। सं० २०२० में श्री निम्बार्काचार्य चरण प्रणीत वेदान्त पारिजात सौरभ और वेदान्त कामधेनु को हम सानुवाद, वृहद भूमिका सहित प्रकाशित कर चुके हैं, जो कि प्रादेशिक सरकार द्वारा पुरस्कृत भी है, उसका नव संस्करण तथा मध्व और वल्लभ संप्रदाय के पूर्णप्रज्ञ और अणुभाष्य भी हम इसके साथ प्रकाशित कर रहे हैं। समस्त वैष्ण समाज निश्चित ही इससे लाभान्वित होगा।

इस ग्रन्थ के प्रकाशन में आदरणीय पं० भगवानदत्त जी जोशी, श्रीमान नृसिंह दास जी बाँगर, बैकुण्ठवासी श्रीमान गजाधर जी सोगाणी, श्रीमान जयदयाल जी डालमिया, श्रीमान गंगाधर जी डालमिया आदि महानुभावों की सदभावना और आर्थिक सहयोग प्राप्त हुआ है इसके लिए हम अत्यन्त आभारी हैं। कल्याण के सम्पादक पूज्य चिम्मन लाल जी गोस्वामी की आज्ञा से गीता प्रेस के प्रबन्धकों ने आचार्य चरण के चित्रपट भेजे हैं उसके लिये हम गोस्वामी जी को साभार नमन करते हैं।

श्री सम्प्रदाय के आचार्यों, विद्वानों और वैष्णवों का भी इस ग्रन्थ के प्रकाशन में हमें पूर्ण सौहार्द प्राप्त हुआ है इस ग्रन्थ की गरिमा जगत् प्रसिद्ध है, इसके संबंध में कुछ लिखना मुझ जैसे व्यक्ति के लिए असंभव है। विज्ञजन इसे अपनाकर हमें कृतार्थ करेंगे।

मकरसंक्रान्ति, २०३०

मुनि लाल

(भगवानदास मुन्नीलाल, बाँदा, उत्तर प्रदेश)

ग्रन्थकार परिचिति:

**श्री माधवाङ्घ्रि जलजद्वय नित्यसेवा प्रेमाविलाशय पराङ्कुश पादभक्तम् ।
कामादिदोषहरमात्मपदाश्रितानां रामानुजं यतिपतिं प्रणमामि मूर्ध्ना ॥**

सर्वत्र पूर्ण रूप से व्याप्त, तीनो कालो में विद्यमान तथा सब प्राणियो और पदार्थो के स्वरूपभूत ब्रह्म को जो महापुरुष पवित्र, एकाग्र वेदान्त सम्कार युक्त अन्त:करण से अभेद भाव से स्पष्ट अनुभव करते है वे महापुरुष ब्रह्म वेत्ता कहे जाते है। ऐसे ब्रह्मविद् महापुरुषो का अवतार इस पवित्र देव भूमि भारत में समय समय पर होता रहता है श्री रामानुजाचार्य इसी श्रेणी के अन्यतम महापुरुष है। विक्रम सवत् १०७४ मे दक्षिण भारत मे भूतपुरी वर्त्तमान पेरम्बुधूरम स्थान पर श्री केशव जी सोमयाजी के घर माता कान्तिमता जी के गर्भ से मेष राशि के सूर्य और आर्द्रा नक्षत्र मे आचार्य चरण का प्रादुर्भाव हुआ। प्रसिद्धि है कि ससाराग्नि से प्रदीप्त जीवों के उद्धार के लिए भगवान विष्णु की आज्ञा से शेष जी ने ही आचार्य रूप से अवतार धारण किया था पिता की आज्ञा से यज्ञोपवीत के बाद आप काची मे यादव प्रकाश जी के पास विद्याध्ययन के लिए गए, आचार्य की कुशाग्र बुद्धि और शास्त्र विवेचन की अद्भूत शैली से यादव प्रकाश जी को अमर्ष होना स्वाभाविक था। आगे चल कर उसने वैमनस्य का रूप धारण किया। यादव प्रकाश जी ने आचार्य की हत्या करने का प्रयास किया, अन्तत: श्री रामानुज गुरुकुल मे अधिक दिन नही ठहर सके। अल्पवय में ही माता की आज्ञा से इन्होने विवाह किया, किन्तु इनका गार्हस्थ्य जीवन भी कलहपूर्ण रहा। कटुभाषिणी स्त्री के दुर्व्यवहार से खिन्न होकर आचार्य ने त्रिदण्ड सन्यास ग्रहण कर अपने को वैष्णव धर्म के प्रचार मे पूर्णत: अर्पित कर दिया। उन्ही दिनो श्रीरगम् में श्री यामुनाचार्य जी वैष्णव धर्म के प्रचार कार्य मे लगे हुए थे, उन्होने आचार्य रामानुज की प्रशस्ति श्रवण की और अपने शिष्य महापूर्ण स्वामी को आचार्य को काची से लिवा लाने के लिए भेजा, आचार्य भी श्री यामुनाचार्य जी से मिलने के लिए बहुत दिनो से उत्सुक थे, वे जब तक श्रीरगम पधारे तब तक दुर्भाग्य से यामुनाचार्य जी का परलोक हो गया अत: आचार्य ने महापूर्ण स्वामी से ही दीक्षा ग्रहण की। आचार्य की सन्यास दीक्षा गोष्ठीपूर्णस्वामी द्वारा हुई। यामुनाचार्य जी ने ब्रह्मसूत्र भाष्य की रचना, दिल्ली के तत्कालीन शासको के महल से भगवान श्रीराम के श्री विग्रह का उद्धार और विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त का प्रचार करने की प्रबल कामना की थी, आचार्य रामानुज ने इन तीनो को पूर्ण किया। भाष्य रचना के लिए वे अपने अभिन्न सहयोगी कूरेश स्वामी को लेकर काश्मीर पधारे, वहाँ उन्होने सरस्वती पीठ मे बोधायन वृत्ति देखी, कूरेश स्वामी ने प्राय: सम्पूर्ण ग्रन्थ को कठस्थ कर लिया, उसी के आधार पर आचार्य ने ब्रह्म सूत्र भाष्य की रचना की जो कि श्रीभाष्य के नाम से प्रसिद्ध हुआ, जिसे आज आपके समक्ष लोक भाषा विवर्त्त के साथ प्रस्तुत किया जा रहा है। दिल्ली के शासकों से श्रीराम के श्रीविग्रह को सम्पत् कुमार कह कर आचार्य जी ने ग्रहण किया। आचर्य को एक हयग्रीव का विग्रह कश्मीर में भी प्राप्त हुआ था जिसकी आराधना से ही आचार्य को वाग्वैभव प्राप्त हुआ। आजकल यह विग्रह, मैसूर के परकाल मठ मे विराजमान है।





स्वामी ललित कृष्ण जी महाराज

श्री यामुनाचार्य को वैष्णव धर्म के प्रचार कार्य में सबसे बड़ी कठिनाई चोल देश के राजा कुलतुङ्ग शैव की कट्टरता और बर्बरता थी, इसीलिए उन्हें श्रीरामानुज के सहयोग की अपेक्षा थी। आचार्य ने बड़े संघर्ष और धैर्य से उस बर्बर शासक का सामना किया। उसने श्री रामानुज को शासकीय अधिकार से दरबार मे बुलाकर समाप्त करने का ही निश्चय कर लिया, किन्तु कूरेश स्वामी ने आचार्य को चुपचाप मसूर रवाना कर दिया और स्वयं दरबार में उपस्थित हो गए। उस क्रूर धर्मान्ध शासक ने कूरेश स्वामी की आँखें निकलवाली थीं। यह भारत के सांस्कृतिक समाज की लज्जास्पद घटना है जिसे वैष्णव समाज आज तक नहीं भुला पाता। अभी भी वैष्णवों का अन्तःकरण उक्त संकीर्ण विचार वाले उपासकों के प्रति क्षुब्ध है। आचार्य ने मैसूर के राजा वितस्तिदेव को प्रभावित कर वैष्णव सम्प्रदाय में दीक्षित किया और उसके सहयोग से अपनी अभीष्ट सिद्धि की। १११८ ई० में कुलतुङ्ग की मृत्यु हो जाने के बाद आचाय पुनः श्री रंगम आ सके, वहाँ उन्होंने आलवार सन्त की मूर्तियों की स्थापना की। आचार्य के बढ़ते हुए प्रभाव से श्री रङ्गम के अर्चक भी आचार्य श्री से ईर्ष्या करते थे, एकबार उन्होंने आचार्य को समाप्त करने की भी योजना बनाई किन्तु अर्चक की पत्नी ने जो कि आचार्य की लीला से अभिभूत थीं आचार्य को आगाह कर दिया जिससे उनका षड्यंत्र विफल हो गया। आचार्य ने तिरुपति में गोविन्द राज की मूर्ति की स्थापना की। आचार्य चरण ने ७४ शिष्य बनाए। आचार्य श्री का जीवन अत्यन्त संघर्षमय था, दक्षिण भारत के प्रचलित शैव सम्प्रदाय से ही आचार्य को संघर्ष नहीं करना पड़ा अपितु पूर्व प्रचलित अन्यान्य वैष्णव मतावलम्बियों से भी उनका संघर्ष हुआ। जिसका आजतक अंशतः प्रभाव चला आ रहा है। आचार्य श्री रामानुज का सा संघर्षमय जीवन किन्हीं भी अन्य का नहीं था आचार्य श्री ने जो कार्य किया है वह वैष्णव सम्प्रदाय के ऐतिह्य में चिरस्मरणीय रहेगा, उनकी असीम कृपा से श्री वैष्णव सम्प्रदाय उपकृत है, अन्यथा दक्षिण भारत तो वैष्णवता विहीन हो जाता।

प्रयागस्थ श्री निम्बार्काचार्य पीठाधीश, जगद्गुरु स्वामी श्री राधाकृष्ण जी महाराज के बालक स्वामी ललित कृष्ण जी ने श्री भाष्य का हिन्दी रूपान्तर कर वैष्णव समाज के समक्ष श्लाघ्य आदर्श प्रस्तुत किया है। आशा है वैष्णवजन परम्परित तथा पारस्परिक कथितभेदभाव को अनादृत कर समादर पूर्वक इसको ग्रहण करेंगे। आचार्य ललित कृष्ण जी ने कई वर्ष पूर्व श्री निम्बार्काचार्य जी के भाष्य वेदान्त पारिजात सौरभ का भी लोकभाषा में रूपान्तर किया है। श्री बल्लभाचार्य के अणुभाष्य तथा श्री मध्वाचार्य के पूर्णप्रज्ञभाष्य के हिन्दी रूपान्तर भी इस भाष्य के साथ प्रकाशित हुए हैं। निश्चित ही समस्त वैष्णव सम्प्रदाय के लिए यह गौरव की बात है, ब्रह्मसूत्र के परम्परित वैष्णव भाष्यों को हिन्दी भाषियों के समक्ष प्रस्तुत कर जो स्तुत्य प्रयास किया है उसके लिए लेखक धन्यवादार्ह हैं।

श्री रामानुज जयन्ती, सं० २०३०

गतश्रम नारायण मंदिर
विश्रान्त घाट
मथुरा

रामानुज आचार्य

श्रीमते रामानुजाय नमः
श्रीमते वेदान्त महादेशिकाय नमः

अनन्त श्री जगद्गुरु निम्बार्काचार्य स्वामी श्री राधाकृष्ण जी महाराज के बालक स्वामी श्री ललित कृष्ण जी महाराज ने श्री भाष्य का हिन्दी में विवर्त्त (अनुवाद) किया है, हमने इसको देखा है, अनुवाद में मूल का आशय स्पष्ट किया गया है। साम्प्रदायिक अर्थ परम्परा का भंग कहीं भी दृष्टिगत नहीं होता।

सनातन भागवत धर्मरूपी एक ही बटवृक्ष की श्री निम्बार्क श्री रामानुज, श्री माध्व, श्री वल्लभ आदि अनेक शाखायें हैं, सब शाखाओं में जो व्यापक भावना है, इस अनुवाद में उसी का दर्शन हो रहा है। अनुवादक ने निम्बार्क सम्प्रदायी होते हुए भी श्री भाष्य का अनुवाद किया है यह भागवत धर्म की व्यापकता का ही दर्शन है। इस से सब शाखाओं के वैष्णवों को समन्वय भाव का समादर करने की प्रेरणा मिलती है।

हिन्दी में भगवान श्री रामानुजाचार्य जी के श्री सूक्तिस्नप अमृत के पान करने की अभिलाषा रखने वाले जनों को इससे आत्मतृप्ति मिलेगी। इसके लिए अनुवाद कर्त्ता धन्यवादार्ह हैं। इसका प्रचार सब अधिकारियों में हो ऐसी हमारी कामना है।

अनिरुद्धाचार्य वेङ्कटाचार्य
(चाँदोद, बड़ौदा, गुजरात)

प्रस्तावना :

नमो नमो वाङ्मनसातिभूमये नमो वाङ्मनसैकभूमये ।
नमो नमोऽनन्तमहाविभूतये नमो नमोऽनन्तदयैकसिन्धवे ॥

चेतनाचेतन विभागविशिष्ट ब्रह्म के अभेद के प्रतिपादक सिद्धान्त को विशिष्टाद्वैत कहते हैं। श्री यमुनाचार्य ने अपने ग्रन्थों म इसी सिद्धान्त को युक्तियुक्त प्रतिपादन किया है। इसी मत को आचार्य श्री रामानुज ने आगे बढ़ाया किन्तु आचार्य चरण के प्रतिपादन का आधार बोधायन टीका और श्री द्रविडाचार्य के भाष्य थे। वेदान्त सूत्रों के प्रथम भाष्यकार आचार्य द्रविड ही के सर्वमान्य सिद्धान्त को प्रायःस भी परवर्ती आचार्यों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से अपनाया है। आचार्य शकर माण्डूक्योपनिष्द् भाष्य में द्रविडाचार्य को 'आगमविद्' तथा वृहदारण्यकोपनिषद् भाष्य मे 'सम्प्रदाय विद्' कहते है। जहाँ कहीं भी आचार्य का उल्लेख किया है वहाँ सम्मानपूर्वक ही किया है। श्री यामुनाचार्य ने भी द्रविडाचार्य के भाष्य की महत्ता स्वीकार की है—वे सिद्धित्रय में लिखते हैं कि— "भगवता बादरायणेन इदमर्थमेव सूत्राणि प्रणीतानि विवृतानि च परिमित गम्भीर भाष्यकृता" अर्थात् भाष्यकार आचार्य द्रविड ने जिस परिमित और गम्भीर शैली में वेदात सूत्रों का विवरण प्रस्तुत किया है लगता है भगवान बादरायण ने उसी अर्थ में सूत्रों की रचना की है। आचार्य रामानुज भी इस परिमित गम्भीर भाष्य को अपने भाष्य का उपजीव्य बतलाते हुए कहते हैं "पूर्वाचार्याः संचिक्षिपुः तन्मतानुसारेण' इत्यादि आचार्य रामानुज ने अपने भाष्य में यत्रतत्र यथाह द्रविड भाष्यकारः कहकर उनके उपनिषद् भाष्यों के वाक्य भी उद्धृत किये हैं बल्लभ सम्प्रदाय में भी पूर्वाचार्य के रूप में श्री द्रविडाचार्य का स्मरण किया गया है। प्रसिद्ध सभी भाष्यों का आधार श्री द्रविडाचार्य कृत भाष्य ही है। प्रायः सभी आचार्यों ने मीमांसा को पूर्व, उत्तर दो भागों में स्वीकार किया है, किन्तु आचार्य रामानुज, बोधायन टीका के आधार पर "अथातो धर्म जिज्ञासा" से लेकर "अनावृत्तिः शब्दात्" सूत्र तक बीस अध्यायों का एक ही वेदार्थ विचार करने वाला मीमांसा दर्शन मानते है। उनके मत से धर्म मीमांसा, देवमीमांसा और ब्रह्ममीमांसा नामक तीन काण्ड हैं। प्रथम काण्ड जैमिन का रचा हुआ है, जिसमें बारह अध्याय हैं। दूसरा काण्ड-काशकृत्स्नाचार्य-रचित है जिसमें चार-अध्याय हैं। तीसरा काण्ड बादरायणाचार्य रचित है, इसमें भी चार अध्याय है। इस संपूर्ण मीमांसा शास्त्र की वृत्ति बोधनाचार्य ने बनाई थी।

आचार्य रामानुज ने पूर्व प्रचलित अद्वैतवाद को ही अपने ढंग से प्रस्तुत किया है। "एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म" आदि श्रुतिवाक्य ब्रह्म के एकत्व का प्रतिपादन करते हैं। केवलाद्वैतवाद में एकमात्र ब्रह्म की सत्ता ही स्वीकार की गई है, तद्भिन्न कुछ भी नही है। किन्तु रामानुज जी "वृहबृंहिवृद्धौ' धातु के साथ "मनिन्" प्रत्यय के संयोग से 'ब्रह्म' शब्द की निष्पत्ति करते है अतः वे एक में तीन का समावेश मानते है। इसके प्रमाण में वे "वृहतिबृंहयति इतितत्परं ब्रह्म" ऐसा रहस्याम्नाय ब्राह्मण वा तथा "वृहत्त्वाद् बृंहरणत्वाच्च तद् ब्रह्मेत्यभिधीयते" ऐसा विष्णुपुराण का वाक्य प्रस्तुत करते है। इन प्रमाणों से स्पष्ट होता है कि ब्रह्म एक है जो स्वयं बृहत् होने और दूसरे को बृहत् करने में समर्थ है। ब्रह्म से अन्य पदार्थ भी है जो कि इसी के द्वारा बृहत् किए जाते हैं। रामानुजाचार्य जी का अद्वैत, परमात्मा का दो अन्य वस्तुओं से विशिष्ट एकत्व है। इस मत की पुष्टि के लिए आचार्य चरण ने भाष्य मे अनेक स्थलो पर अन्तर्यामी ब्राह्मण का यह वाक्य प्रस्तुत किया है—

"यस्य पृथिवी शरीरं यं पृथिवी न वेद, यः पृथिवीमन्तरो यमयति यस्यात्मा-शरीरं यमात्मा न वेद य आत्मानमन्तरो यमयति" इत्यादि।

इससे स्पष्ट होता है कि परमात्मा, आत्मा और जड पदार्थ दोनों में है। वह चिन्मय, आत्मा तथा जड़ प्रकृति से विशिष्ट है। इस प्रकार विशिष्ट ब्रह्म को विशिष्टाद्वैत कहा गया है। इस मान्यता का सबसे बड़ा वैशिष्ट्य यह है कि केवला-द्वैत वाद को जो एकमात्र ब्रह्म को ही सत्य सिद्ध करने के लिए जगत को मिथ्या तथा ब्रह्म में अविद्या की कल्पना करनी पड़ी जिससे कि ब्रह्म अपने में विविध नाम रूपात्मक जगत को देखता है, वह थोथापन नही है। विशिष्टाद्वैत में एक ब्रह्म में जो तीन पदार्थों की समिष्ट है उससे उसे अद्वैत के लिए उक्त कल्पना करने की आवश्यकता नही पड़ी। इस मत में शास्त्र वाक्यो से निश्चित कर दिया गया है कि विश्व ब्रह्म में लीन है और ईश्वर विश्व में अन्तर्हित, अतः बिना मिथ्या कल्पना के ही ब्रह्म का एकत्व प्रमाणित हो जाता है।

आचार्य रामानुज भारतीय परम्परा के अनुरूप ही ब्रह्म को प्रमाणित करने में शब्द अर्थात् वेद को ही एकमात्र प्रमाण स्वीकार करते हैं। क्योंकि वेद सनातन हैं, प्रत्येक कल्प में इनकी उसी पदक्रम से आवृत्ति होती है, इनका कोई रचयिता नहीं है ये अपौरुषेय हैं, अतः मानव के मन बुद्धि में संभावित संशय विपयर्य आदि दोषों की इनमें संभावना नहीं है। ये स्वतः प्रमाण हैं इसलिए इनके स्वरूप के विपरीत किसी को कुछ भी निर्णय देने या किसी अंश को अप्रामाणिक कहने का

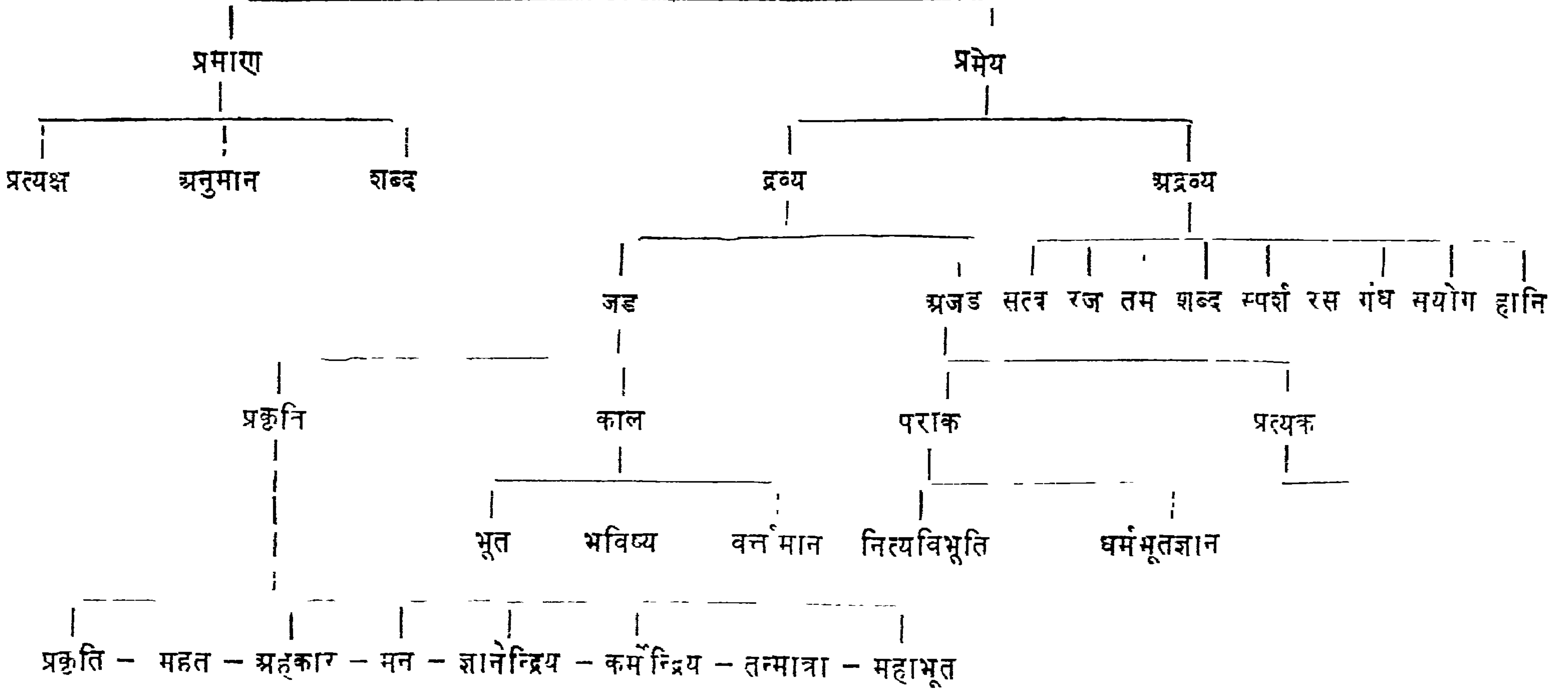
कोई अधिकार नहीं है। यदि कोई भी बात वेदों में प्रत्यक्ष या अनुमान प्रमाण के विपरीत प्रतीत होती है तो उसमें मनुष्य की समझ की ही कमी है उनकी कोई त्रुटि नहीं है। उन समस्याओं को मीमांसा शास्त्र ने सुलझाया है। वेदों मे प्रतीत होने वाले विरोधाभास का वास्तविक अभिप्राय मीमांसा शास्त्र से ही ज्ञात होता है, हमें अपने भ्रम की निवृत्ति के लिए इसी के सहारे की आवश्यकता है। वेद के अन्तिम भाग उपनिषद् ही वेदान्त नाम से प्रसिद्ध है वे भी वैसे ही प्रमाण है। वेदान्त वाक्यों में तीन पदार्थों का स्पष्टतया उल्लेख है, जड पदार्थ अथवा जड़ प्रकृति जिसे प्रधान प्रकृति, माया या अविद्या कहते है। दूसरा चेतन आत्मा जो कि अणु प्रमाण है। तीसरा ईश्वर जो कि विभु और सर्वनियन्ता हैं तथा सत्य ज्ञान आनन्द आदि कल्याण गुणों से विशिष्ट है। ब्रह्म में ये तीनों पदार्थ एक साथ रहते हैं। प्रत्येक शरीर में हम देखते हैं कि उसमें रहने वाला एक चेतन आत्मा होता है ठीक उसी प्रकार ईश्वर आत्मा तथा ईश्वर और जड पदार्थ का भी संबध है। ब्रह्म और ईश्वर एक ही है। उक्त तीन पदार्थों की समष्टि का नाम ही ब्रह्म का अद्वैत है। संसार में स्थावर और जगम दो प्रकार के जीव हैं। जंगम जीव अधिक प्राण शक्ति समन्वित हैं, स्थावर जीवों में प्राण शक्ति कम होती है। प्रत्येक सत् वस्तु उपर्युक्त त्रैत में ही है। कोई भी जड पदार्थ आत्मा और ईश्वर बिना नहीं रह सकता। कोई भी आत्मा प्रकृति और ईश्वर के बिना नहीं रह सकता तथा ईश्वर भी प्रकृति और आत्मा के बिना नहीं रह सकता। उदाहरण के लिए मनुष्य ही को लें मनुष्य का अर्थ आपाततः शरीर ही होता है, अधिक विचार करने पर अर्थ होता है शरीर में रहने वाला आत्मा, वेदान्त का कथन है कि आत्मा जैसे शरीर का संचालन करता है वैसे ही ईश्वर आत्मा का नियन्त्रण करता है अतः ईश्वर प्रत्येक पदार्थ का अन्तर्यामी आत्मा है। इससे निश्चित होता है कि शरीर तथा शरीर को धारण पोषण करने वाला चैतन्य आत्मा तथा उस आत्मा को भी धारण पोषण और नियन्त्रण करने वाला ईश्वर, इन तीनों की समष्टि ही यथार्थ अद्वैत है। इस वेदान्त सिद्धान्त से परिणामवाद ही प्रमाणित होता है विवर्त्तवाद नही अर्थात् कारण ही कार्य बन जाता है। जैसे कि घट की कारण मृत्तिका और घट एक ही वस्तु है वैसे ही ब्रह्म और जगत भी एक है। कारण के गुण ही कार्य के गुण हैं। यदि हमें इस संसार रूप कार्य में तीन पदार्थ दृष्टिगोचर होते हैं तो इसके कारण में भी तीनों का होना आवश्यक है। जब वेद कहते है कि ब्रह्म जगत के कारण हैं तो यह निश्चित हो जाता है कि एक में तीन छिपे हैं और वे ही एक के अन्तर्गत तीन के रूप में प्रकट होते हैं। परिणामवाद वेद सम्मत है जैसे

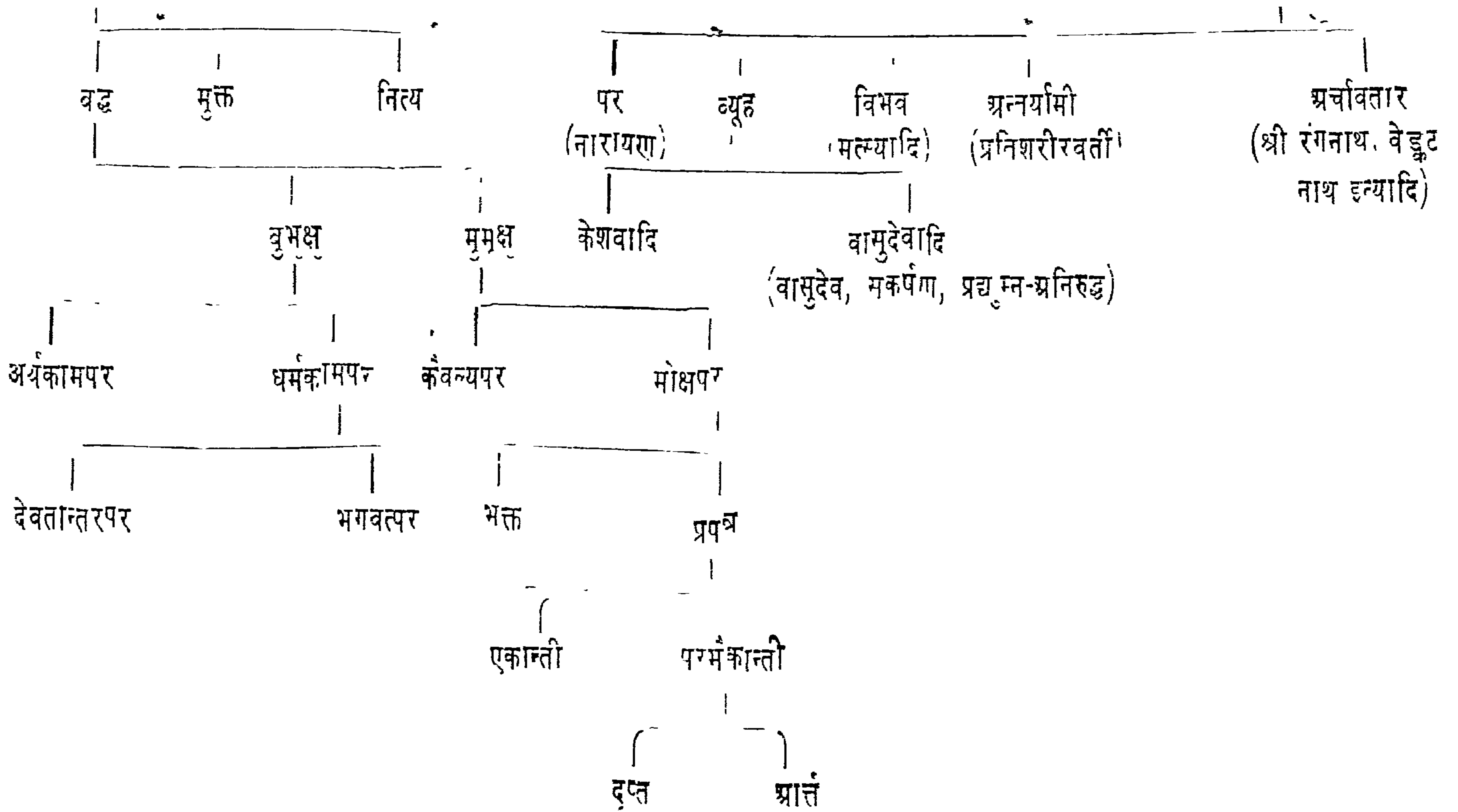
कि—"यथा सौम्येकेन मृत्पिण्डेन विज्ञातेन सर्वं मृन्मयं विज्ञात भवति" इत्यादि ।

संसार का कारण संसार के सदृश ही होना चाहिए यह स्वतः सिद्ध है । कारण ब्रह्म और कार्यब्रह्म समान हे, कारण ही कार्य बन जाता है, अन्तर केवल इतना ही है कि कारण को हम योगजन्य ज्ञान से ही देख सकते है जब कि कार्य को इन नेत्रो से ही देखते हैं । कारणरूप ब्रह्म अव्यक्त जड प्रकृति अव्यक्त चेतन्य और ईश्वर इन तीनों की समष्टि है । यहाँ अगोचर सूक्ष्म ब्रह्म कार्यरूप स्थूल ब्रह्म बन जाता है । अतः तत्त्वतः कारण और कार्य ब्रह्म में कोई भेद नही है ।

जड और चेतन शरीरी ब्रह्म मे ससारी पदार्थों की तरह "अस्ति, जायते, वर्द्धते, विपरिणमते, अपक्षीयते, नश्यति" आदि परवर्त्तन नही होते, श्रुतियों में ब्रह्म को अविकार्य बतलाया गया है । जैसे कि बच्चा जन्म लेकर क्रमशः यौवन प्रौढ़ता और वार्धक्य को प्राप्त होता है किन्तु ये सारी अवस्थायें शरीर की ही होती हे आत्मा की नहीं वैसे ही कारण ब्रह्म जब कार्य रूप मे परिणत होता है तो उसमे भी विकार नही होता, प्रकृति बदलती है तथा आत्मा का ज्ञानस्वरूप बदल जाता है, यद्यपि वह तत्त्वतः सदा एक सा रहता है । ब्रह्म की विविध नामरूपात्मक जगद् रूप परिणति मे जो परिवर्तन होता भी है वह समस्त स्थूल शरीरो मे अनुप्रविष्ट होने की इच्छा से होती है अतः उसे किसी भी दृष्टि से विकार नही कह सकते । एकता ही ईश्वर का स्वरूप है, जड प्रकृति और चेतन आत्मा, उसका शरीर है अतः जगत सत्य है और अद्वैत भी सत्य है । ब्रह्माद्वैत का तात्पर्य है कि इसकी बराबरी का कोई नही है । संसार ब्रह्म से ओत-प्रोत है अतः ब्रह्माद्वैत कहने का यह तात्पर्य कदापि नही हो सकता कि जगत है ही नही । श्रुतियो मे इसी लिए अनेक स्थलो पर आत्मा और ब्रह्म की भिन्नता का स्पष्ट उल्लेख है और एकता का भी । केवलाद्वैत मतानुसार अभेद प्रतिपादक श्रुति ही सही और प्रामाणिक है तथा भेद प्रतिपादक श्रुति काल्पनिक और मिथ्या हैं । किन्तु वैष्णव मतावलम्बियो के मत में दोनों ही प्रकार की श्रुतियाँ सही और प्रामाणिक हैं । इनका कथन है कि जैसे मनुष्य को एक कहते हुए भी आत्मा और शरीर के रूप में भिन्न माना जाता है वैसे ही ब्रह्म, जड प्रकृति और चेतन आत्मा से भिन्न होते हुए भी एक है । श्रीरामानुज के मत मे अभेद प्रतिपादक श्रुति एक में तीन का वर्णन करती है तथा भेद प्रतिपादक श्रुति तीनों का भिन्न-भिन्न वर्णन करती हैं । इस प्रकार दोनो ही प्रामाणिक हैं । इसी प्रकार सगुण और निर्गुण प्रतिपादक श्रुतियो का भी तात्पर्य है देखने मे तो ये परस्पर

५ (ब)


पदार्थ
प्रमाण
प्रमेय
प्रत्यक्ष
अनुमान
शब्द
द्रव्य
अद्रव्य
जड
अजड
सत्व
रज
तम
शब्द
स्पर्श
रस
गंध
संयोग
हानि
प्रकृति
काल
पराक
प्रत्यक्
भूत
भविष्य
वर्त्तमान
नित्यविभूति
धर्मभूतज्ञान
प्रकृति – महत – अहंकार – मन – ज्ञानेन्द्रिय – कर्मेन्द्रिय – तन्मात्रा – महाभूत



श्री रामानुज संप्रदाय में इस समय दो प्रकार से उपासना होती है, एक प्रकार के लोग कर्मकाण्ड प्रधान वैधी भक्ति को महत्व देते हैं और अनुरागात्मिका प्रपत्ति को ही प्रधान मानते हैं। इन दोनों को बन्दर और बिल्ली के बच्चों की उपमा दी जाती है, कार्मकाण्डी, बन्दर के बच्चे की तरह स्वयं भगवान से चिपटने का प्रयास करते हैं जबकि प्रपन्न भक्त बिल्ली के बच्चे की तरह प्रभु के आश्रित रहते हैं प्रभु को ही उनकी देखभाल करनी पड़ती है। ये बड़गल और तिंगल नाम से जाने जाते हैं। इनमें कतिपय प्रभेद हैं, वैसे ये हैं, एक ही। ये प्रभेद हैं उपासना की दृष्टि से ही।

विरुद्ध प्रतीत होता है किन्तु निर्गुणश्रुति का तात्पर्य है कि ब्रह्म में कोई प्राकृत गुण नहीं है सगुण श्रुति में सत्यसंकल्प सत्यकाम आदि उन अलौकिक गुणों का उल्लेख है जो कि एकमात्र परमात्मा में ही है, जीव या जड़ में कदापि संभव नहीं है। श्रुतियों में कहीं-कहीं ऐसा भी उल्लेख है कि ब्रह्म में कोई अवगुण नहीं हैं अपितु अनेक कल्याण गुण हैं। श्रुतियों के उल्लेख्य निर्विकार आदि शब्द जगत के आदि कारण रूप ब्रह्म के ज्ञापक है "जीव ब्रह्म भिन्न है" जीव ब्रह्म एक है 'ब्रह्म निर्गुण है" ब्रह्म सगुण है "इत्यादि वाक्यों का संदर्भानुसार अलग-अलग अभिप्राय है। जहाँ एकता की बात है वहाँ जीव ब्रह्म और जीव प्रकृति में भेद है ये प्रकृति और जीव, ब्रह्म के शरीर से भिन्न कुछ और नहीं है इस कथन में वदतोव्याघात नहीं होता। यही विशिष्टाद्वैत का अभिप्राय है। इस मत के समर्थन में आचार्य रामानुज ने अनेक प्रकार से विचार किया है जो कि संक्षेप में इस प्रकार है।

आचार्य के मत में ब्रह्म जिज्ञासा का वही अधिकारी है जिसे कर्म और कर्मफल की अनित्यता का यथोचित ज्ञान हो चुका हो। उसे प्रथम शास्त्र चिन्तन करना होगा तभी उसे कर्मफल की अनित्यता का परिज्ञान हो सकेगा तभी उसे उससे मुक्त होने की अभिलाषा होगी तथा स्थिर फ़लावाप्ति की इच्छा के फलस्वरूप ब्रह्म की जिज्ञासा होगी। अविद्या की निवृत्ति ही वास्तविक प्रयोजन है। उपासना द्वारा ब्रह्म साक्षात्कार हो जाने पर ही अज्ञान से छुटकारा संभव है। मुक्त जीव ईश्वर के दास के रूप में ईश्वर की नित्यलीला में अपार आनन्द का उपभोग करता है। ध्यान और उपासना ही मुक्ति के साधन हैं, ज्ञान मुक्ति का साधन नहीं है. ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान से अविद्या की निवृत्ति नहीं हो सकती क्योंकि जब बन्धन पारमार्थिक है तब इस प्रकार के ज्ञान से उसकी निवृत्ति कैसे संभव है। वेदन, ध्यान' उपासना आदि शब्द भक्ति के ही सूचक हैं। भक्ति, साधन और फल दो प्रकार की है।

जिज्ञास्य ब्रह्म, सगुण और सविशेष हैं उसकी शक्ति माया है। वह अशेष कल्याणकारी गुणों के आलय हैं उनमें हेयता नहीं है। सर्वेश्वरत्व सर्वशेषितत्व सर्वफलप्रदत्व, सर्वाधारत्व, सर्वकार्योत्पादकत्व, समस्तद्रव्य शरीरत्व आदि उनके लक्षण है। चिदचिच्छरीरत्व उनका मुख्य लक्षण है। समस्तचिदचिद् विशेष रूप में वे जगत के उपादान कारण हैं, संकल्प विशिष्ट रूप में निमित्त कारण है। भगवान नारायण, सृष्टिकर्त्ता, कर्मफलदाता, नियन्ता और सर्वान्तर्यामी है। पर, व्यूह, विभव अन्तर्यामी और अर्चावतार भेद से वे पाँच प्रकार के

हैं। शंख चक्र गदा पदम्धारी चतुर्भुज, किरीटादि दिव्य आभूषणों से सुज्जित वे श्री, भू, लीला देवी सहित विराजते है। मत्स्य, कूर्म, सिंह, वराह, परशुराम श्रीराम, बलभद्र, श्रीकृष्ण, और कल्कि उनके मुख्य अवतार है। इनमें भी मुख्य, गौण, पूर्ण, अंश आदि अनेक भेद है। भगवदवतार कर्म प्रयोजन से नहीं होते स्वेच्छा से होते है। दुष्कृतों का विनाश और साधुओं का परित्राण ही अवतार सबंधिनी इच्छा है।

जीव, ब्रह्म के ही समान चेतन है और ब्रह्म का शरीर है, किन्तु ब्रह्म विभु हैं जीव अणु है। ब्रह्म जीव में सजातीय विजातीय भेद नही हैं अपितु स्वगत भेद है। ब्रह्म पूर्ण है, जीव खण्डित है, ब्रह्म ईश्वर है, जीव दास है। मुक्त जीव भी ईश्वर का दास है। जीव कार्य है, ईश्वर कारण है, दोनो ही स्वयं प्रकाश, चेतन ज्ञानाश्रय और आत्मस्वरूप हैं। जीव देहेन्द्रिय मन प्राणादि से भिन्न है। जीव नित्य है उसका स्वरूप भी नित्य है। जीव प्रत्येक शरीर मे भिन्न है,। स्वाभाविक रूप मे सुखी है किन्तु उपाधिवश उसे संसार भोग प्राप्त होते है।

भगवान के दासत्व की प्राप्ति ही जीव की मुक्ति है वैकुण्ठ मे श्री, भू लीला सहित नारायण की सेवा करना ही परमपुरुषार्थ है। प्राकृत देह विच्युत हो जाने पर अप्राकृत देह से नारायण के समान भोग प्राप्त करना ही मुक्ति है। ब्रह्म के साथ अभिन्नता प्राप्त करना कदापि सभव नहीं है, क्योंकि जीव स्वरूपतः नित्य, नित्यदास, नित्य अणु है। मुक्त जीव में आठों गुणो का आविर्भाव होता है।

भगवान नारायण भूमा है उनके श्री चरणो मे आत्म-समर्पण करने से ही जीव को वास्तविक शान्ति मिल सकती है। सर्वस्व निवेदन करने से ही प्रभु की कृपा प्राप्त हो सकती है तभी वे जीव का वरण करते हैं (अपनाते है) प्रभु के अनुकूल, आचरण करने का सकल्प, प्रतिकूल आचरण का वर्जन तथा सब विधियो का त्याग कर उनकी शरण होना ही समर्पण संन्यास या प्रपत्ति है। ऐसी प्रपत्ति या न्यासविद्या से भगवदावाप्ति होती है।

इस समय इस सप्रदाय में बड़गल और तिङ्कल दो मत दृष्टिगत होते है जो कि— . वैष्णवो मे विवाद रूप से प्रचलित है। दोनों ही अपने को प्रथम का हो का दावा करते है और उस पक्ष में अपने प्रमाण प्रस्तुत करते है, किन्तु गंभीर दृष्टि से विचार करने पर और आचार्य चरण के सिद्धान्त का मनन भीर करने पर दोनों ही विचारधाराओ की प्राचीनता सिद्ध हो जाती है,

आचार्य चरण ने प्रपत्ति भक्ति की महत्ता के साथ पूर्व मीमांसा को भी जब उत्तर मीमांसा का ही अंग माना है तब कर्मकाण्ड की महत्ता भी तो उनको स्वीकृत थी, अतः दोनों ही धारायें प्राचीन है यह तो कालान्तर में तिलक धारण आदि कुछ परिवर्त्तनों के साथ दोनों ने अपने को पृथक करके विवाद प्रारम्भ कर दिया है। सही बात तो यह है कि वैष्णव संप्रदायों की नींव तो रागात्मिका भक्ति ही है उसी पर इनके प्रासाद खड़े हैं, आचार्य श्री रामानुज के प्रथम जितने भी आलवार सन्त हुए वे सभी गाढानुरागी थे आचार्य चरण उनसे पूर्णतः प्रभावित थे। कुमारिल आदि मीमांसकों के मत जब प्रबल हुए तो कर्मकाण्ड की अर्हता भक्तों को स्वीकारनी पड़ी। पंद्रहवीं सोलहवीं शताब्दी में पूरे भारत में सभी वैष्णव संप्रदायों में पुनः उनकी असली प्रकृति उभड़ी और वे सारे के सारे प्रभु चरणों की गाढानुरक्ति में निमग्न हो गए अतः कर्मकाण्ड में शिथिलता आना स्वाभाविक ही था। भक्तिमार्ग तो समन्वयात्मक है उसमें सभी का निर्वाह सदा से होता रहा है इसलिए भगवान ने स्वयं ही श्रीमद्भगवत में उद्धव को उपदेश देते हुए भक्ति मार्ग के इस वैशिष्ट्य का स्पष्ट उल्लेख किया है—"न निर्विण्णः नातिसक्तः भक्तियोगोऽस्य सिद्धिदः" अर्थात् भक्ति योग उसी को लाभदायी होता है जो कि न तो एकदम ही कर्म का त्याग कर देता है और न एकदम ही कर्म में आसक्त हो जाता है। इस भगवदाज्ञा को मानकर पारम्परिक मतभेद को त्यागकर विनम्रतापूर्वक प्रभु कृपा प्राप्त करने के लिए प्रयास करना चाहिए, यही भक्ति मार्ग की शोभा है विशिष्टाद्वैत तो माया को भी भगवान का ही अंग मानता है, तभी तो वह वास्तविक अद्वैत वादी होने का दावा करता है इसमें भेद भाव का अवसर ही नहीं है।

आचार्य चरण ने अपने सिद्धान्त और उपासना की पुष्टि के लिए लगभग पचास ग्रन्थों की रचना की है जो कि इस प्रकार हैं—

(१) श्री भाष्य (२) विशिष्टाद्वैत भाष्य (३) वेदान्त संग्रह (४) वेदान्त सार (५) वेदान्त दीप (६) वेदान्त तत्त्वसार (७) वेदार्थ संग्रह (८) गीताभाष्य (९) श्वेताश्वतरोपनिषद् भाष्य (१०) मुण्डकोपनिषद् भाष्य (११) प्रश्नोपनिषद् भाष्य (१२) ईशोपनिषद् भाष्य (१३) विष्णु सहस्रनाम भाष्य (१४) न्यास परिशुद्धि (१५) न्याय सिद्धाञ्जन (१६) पाञ्चरात्र रक्षा (१७) योग सूत्र भाष्य (१८) मणि दर्पण (१९) रत्न प्रदीप (२०) न्याय रत्नमाला (२१) गुण रत्नकोष (२२) मति मानुष (२३) देवता पारम्य (२) चक्रोल्लास (२५) कूट संदोह (२६) वार्त्ता माला (२७) शत दूषणी (२८) गद्य त्रय (२९) शरणागति गद्य (३०)

वैकुण्ठ गद्य (३१) विष्णु विग्रह (३२) संशन स्तोत्र (३३) पंच पटल (३४) अष्टादश रहस्य (३५) कण्टकोद्धार (३६) नित्य पद्धति (३७) नित्याराधन विधि (३८) नारायण मंत्रार्थ (३९) संकल्प सूर्योदय टीका (४०) सच्चरित्र रक्षा (४१) राम पटल (४२) राम पद्धति (४३) राम पूजा पद्धति (४४) राम रहस्य (४५) रामार्चापद्धति (४६) रामायण व्याख्या (४७) दिव्य सूरि प्रभाव दीपिका (४८) सर्वार्थ सिद्धि (४९) भगवदाराधन क्रम, इत्यादि।

इन ग्रन्थों के अतिरिक्त आचार्य श्री ने ७२ वाक्यों का उपदेश भक्तों को दिया था किन्तु उनका पालन कलिकाल में असंभव मानकर आचार्य चरण ने ६ विशेष वाक्यों का उपदेश दिया जिनका सारांश इस प्रकार है—

(१) कर्मानुष्ठान को भगवत्कैङ्कर्य समझ कर करना चाहिए, और फलेच्छा रहित होकर भगवन्मन्त्र का जप करना चाहिए। श्री भाष्य को आदर से श्रवण-मनन करना चाहिए। इस भाष्य का लोक में प्रचार करने से ईश्वर कैङ्कर्य हो जाता है।

(२) यदि इसमें असमर्थ हों तो द्राविड ग्रन्थों का अहर्निश पाठ करना चाहिए।

(३) यदि यह भी न हो सके तो दिव्य देशों में भगवत्कैङ्कर्य करना चाहिए और भगवन्मूर्त्तियों की प्रतिष्ठा करनी चाहिए।

(४) यदि यह भी न हो तो अर्थ के सहित निरन्तर मन्त्रद्वय का अनुसन्धान करना चाहिए।

(५) यदि इसमें भी गति न हो तो दिव्य देशों में कुटी बनाकर निरन्तर वास करना चाहिए।

(६) यदि ऐसा भी न कर सके तो, ज्ञान भक्ति वैराग्य युक्त शरणागति धर्म के मर्मज्ञ अहंकार ममता मुक्त भगवद् भक्तों के आश्रय में सदा रहना चाहिए।

यह सम्प्रदाय श्री (लक्ष्मी) के नाम से प्रसिद्ध है, इस सिद्धान्त की आद्याचार्या श्री जी ही थीं। श्री पराशर व्यास पराङ्कुश, आदि इस सम्प्रदाय के प्रसिद्ध आचार्य है। कहा जाता है, आचार्य श्री रामानुज ने कांचीपूर्ण स्वामी से छः प्रश्न किये थे कि—परम तत्त्व क्या है? सिद्धान्त क्या है? मोक्ष के अनेक उपाय है परन्तु कौन सा सुलभ है? अन्तिम कर्त्तव्य क्या है? प्रपन्न का मोक्ष कब होगा? मैं किन आचार्य से शिष्यता ग्रहण करूँ? कांचीपूर्ण स्वामी ने, भगवान वरदराज से इन प्रश्नों की जिज्ञासा की, भगवान ने आकाशवाणी द्वारा इनका उत्तर दिया कि—समस्त जगत का कारण मैं नारायण ही परंतत्त्व हूँ। ईश्वर जीव का भेद ही सिद्धान्त है। शरणागति ही मोक्षोपाय है। अन्तकाल में यदि मेरे भक्त मेरा स्मरण न भी कर सकें तो भी उनकी मुक्ति होती है। प्रपन्न भक्त का मोक्ष व कर्त्ता मैं हूँ महापूर्णाचार्य की शिष्यता ग्रहण करो।

कहा जाता है कि श्री रामानुजाचार्य ने ७४ पीठों की स्थापना की थी। कालान्तर में श्री बरबर मुनि स्वामी ने ८ पीठों की स्थापना की। इन पीठस्थ आचार्यों और श्रीमन्तो के द्वारा ही इस सम्प्रदाय की श्रीवृद्धि हो रही है।

स्वामी ललित कृष्ण

अवतरणिकाः

प्रथम अध्याय

(प्रथम पाद)

शास्त्र की प्रधानता तथा सगुणवाक्य की अपेक्षा निर्गुण बोधक वाक्य की प्रधानता का समर्थन। "सत्यज्ञानमनन्तं" आदि पदों की निर्विशेष वस्तु मात्र बोधकता का निरूपण और लक्षणा वृत्ति विचार। सामानाधिकरण्य विचार। भेद प्रतीति की मत्यता का खण्डन। अनुभूति की सद्रूपता, स्वप्रकाशता, नित्यता, निर्विकारता, एकता और आत्मता का समर्थन। विषय विज्ञाता और व्यावहारिक "अहं" पदार्थ की अनात्मकता का विश्लेषण। पृ०२४-८६

महा सिद्धान्त

१. शांकरमत निरसन:- निर्विशेष वस्तु की अप्रामाणिकता तथा सविशेष वस्तु ग्राहिता का निरूपण। शब्द प्रमाण की सविशेष वस्तु ग्राहिता का स्थापन, वेदांत सम्मत निर्विकल्प ज्ञान निरूपण तथा नैय्यायिक निर्विकल्प ज्ञान का खण्डन।

२. भेदाभेदवाद का निराकरण:-अनुमान की सविशेष वस्तु विषयकता का निरूपण। प्रत्यक्ष की सन्मात्र ग्राहिता का खण्डन तथा भेदवाद में आरोपित दोषों का प्रत्याख्यान।

३. शरीर संस्थान की स्थापना, घटादि वस्तु के मिथ्यानुमान का खण्डन तथा सत् और अनुभूति की एकता निराकरण। अनुभूति की स्वप्रकाशता, नित्यता निर्विकारता और एकता का निराकरण। संवित' (अनुभूति) की आत्मता का निराकरण तथा "अहं" पदार्थ की आत्मता ज्ञान स्वरूपता और ज्ञानशीलता का समर्थन। ज्ञाता के मिथ्यात्व का खण्डन, विकारशील अंत: करण की ज्ञातृता का निराकरण, परोक्ष ज्ञातृता की व्यवस्था का दोष कथन। संवित् और आत्मा की अज्ञानाश्रयता का खण्डन। सुषुप्ति आदि अवस्थाओं में "अहं" पदार्थ के प्रकाश का समर्थन, मोक्षदशा में भी "अहं" पदार्थ की अनुवृत्ति का समर्थन।

शास्त्र और प्रत्यक्ष के विरोध में शास्त्र की प्रधानता या प्रामाणिकता का खण्डन भेदवासना की दोषरूपता का निराकरण। असत्य या मिथ्या पदार्थ जन्य सत्य-ज्ञान की उत्पत्ति का खण्डन स्फोटवाद का निराकरण।

४. वेदांत वाक्यों की निर्विशेष वस्तुमात्र बोधकता खण्डन पूर्वक सविशेष वस्तु बोधकता का स्थापन। पराविद्या की सविशेष वस्तु बोधकता का समर्थन। "सत्यं ज्ञानमनन्तं" श्रुति के सत्य आदि पदों की अखंडार्थता में सामानाधिकरण की अनुपपत्ति का प्रदर्शन तथा सविशेषार्थकता का निरूपण। सगुण और निर्गुण बोधक श्रुतियों की भिन्न भिन्न विषयों की सार्थकता निरूपण पूर्वक विरोध का परिहार। ब्रह्म की ज्ञातृता एवं ज्ञेयता के निषेध का खण्डन। ब्रह्म की भेद प्रतिपादक एवं भेद निषेधिका श्रुतियों की स्वमतानुसार व्याख्या और अविरोध स्थापन। ब्रह्म के निर्विशेष भाव के प्रतिपादन में परपक्ष द्वारा प्रस्तुत श्रुति स्मृति वाक्यों का स्वमतानुसार सविशेष भाव से प्रतिपादन तथा उन वाक्यों की उपबृंहण विधि का निरूपण।

जीव और ब्रह्म के भेद उपपादन के लिए "द्वासुपर्णा" आदि श्रुति का निरूपण तथा मुक्तावस्था में भी दोनों की पृथकता का विवेचन।

५. अविद्या कल्पना में दोष प्रदर्शनः– (i) अविद्या की ब्रह्माश्रयता का निराकरण (ii) अविद्या द्वारा ब्रह्म तिरोभान की अनुपपत्ति (iii) अविद्या की दोष रूपता की अनुपपत्ति (iv) अविद्या की अनिर्वच-नीयता की अनुपपत्ति (v) तम या अन्धकार की द्रव्यता का समर्थन (vi) अज्ञान की भावरूपता का विवेचन (vii) अविद्या की भावरूपता के खण्डन

के प्रसंग में अविद्या की प्रत्यक्ष विषयता की स्थापना अविद्याऽनुमान का खण्डन, अनिर्वचनीय ख्याति और असत्ख्याति आदि का दूषण ज्ञापन एव सत्ख्याति का समर्थन।

तत्त्वमसि महावाक्य के अर्थ निरूपण के प्रसंग में अभेदवाद तथा औपाधिक एवं स्वाभाविक भेदाभेद वाद में सामानाधिकरण्य की अनुपपत्ति का प्रदर्शन। मनुष्यादि शरीरों मे आत्म विशेषणता का समर्थन। चेतन और अचेतन सभी वस्तुओं की ब्रह्म शरीरता एवं ब्रह्म की ही कार्य कारणात्मक अनस्था का प्रतिपादन। ब्रह्मैकत्वविज्ञान मे अज्ञान निवृत्ति की अनुपपत्ति। सूत्रार्थ योजना और ब्रह्म विचार की व्यर्थता का संशय।

६. ब्रह्म विचार की आवश्यकता का प्रतिपादन, शब्द और अर्थ संबंधी प्रतीति के नियम का निरूपण, वेद की कार्यपरता के पक्ष मे भी ब्रह्म जिज्ञासा की आवश्यकता का प्रतिपादन। शब्द की कार्यपरता का खण्डम। "शेष" के लक्षण और विषय तथा कृत्युद्देश्यता एवं "नियोग" पर विचार। पृ०४६–२२८

२ जन्माद्यधिकरण (सूत्र २)

१. सूत्रार्थ निरूपण, जगज्जन्मादि के लक्षण में आपत्ति, तथा विशेषण, विशेष्य भाव पर विचार।

२. [सिद्धान्त] ब्रह्म की जगज्जन्मादिलक्षणता का समर्थन, "सत्य-ज्ञान-अनन्त" शब्दों की व्याख्या

३. निर्विशेष ब्रह्मवाद में "ब्रह्मजिज्ञासा" और "जन्माद्यस्य यतः" इन सूत्रों की अनर्थकता का प्रदर्शन। पृ०२२८–३६

३ शास्त्र योनित्वधिकरण (सूत्र ३)

१. सूत्रार्थ निरूपण।

२. पूर्वपक्ष—ब्रह्म की शास्त्रयोनिता पर आपत्ति।

४ समन्वयाधिकरण (सूत्र ४)

५ ईक्षत्यधिकरण (सूत्र ५-१२)

४. हेयता वचन के अभाव हेतुक प्रधान की सत् शब्द प्रतिपादकता का निराकरण। प्रधान की सत् शब्द वाच्यता के समर्थन में प्रतिज्ञा विरोध का निर्देश। जीव की सुषुप्तावस्था में प्राप्त सत् स्वरूपता के आधार पर, प्रधान के लिए प्रयुक्त सत् शब्दकता का खण्डन।

५. समस्त वेदांत वाक्यों की ब्रह्मकारणावगति के आधार पर प्रधान की जगतकारणता का निराकरण एवं ब्रह्म की जगत् कारणता का प्रतिपादन। सत्य संकल्प आदि श्रुति के आधार पर सगुणब्रह्म की जगत्कारणता का उपपादन तथा निर्विशेष चिन्मात्र ब्रह्मवाद का खण्डन। —पृ०२९२—३०६

६ आनन्दमयाधिकरण (सूत्र १३-२०)

१. अधिकरण की भूमिका।

२. वेदात वाक्योक्त "आनन्दमय" शब्दार्थ के सम्बन्ध में संशय एवं उसकी जीवार्थता की कल्पना, शाखाचन्द्र आदि दृष्टान्त से आनन्दमय के जीवत्व का प्रतिपादन। शंकर सम्मत 'पुच्छ ब्रह्म' श्रुति पर विचार।

३. [सिद्धान्त]—आनन्दमय की परब्रह्मता का निरूपण तथा उसके जीवत्व पक्ष का निरसन। परब्रह्म के जीवभाव और जगत्कारणभाव के मिथ्यात्व का निराकरण। तत्त्वमसि आदि वाक्यों में लक्षणा तथा उनके औपलक्ष्य समानाधिकरण्य पर विचार, प्रासंगिक रूप से जैमिनीय "अरुणाधिकरणन्याय" से सूत्र का उपसंहार।

४. मयट् प्रत्यय के विकारार्थ का निराकरण तथा प्राचुर्यार्थ का समर्थन। आनन्द हेतुता से परमात्मा की आनन्दमयता तथा मांत्रवर्णिक हेतुता से आनन्दमय की परमात्मकता का समर्थन।

५. बद्ध, मुक्त आदि अवस्थाओं वाले जीव की आनन्दमयता से अनुपपत्ति तथा आनन्दमय से उसका भेद दिग्दर्शन। सृष्टि विषयक संकल्प वाले सृष्टा का आनन्दमय के रूप में समर्थन और उसी हेतु से जीवात्मा की पृथकता का प्रतिपादन। आनन्दमय ब्रह्म की प्राप्ति से जीव के आनन्दी होने के आधार पर जीव की भिन्नता का उपपादन। —पृ३०६-५४

७ अन्तराधिकरण (सूत्र २१—२२)

१. पूर्वपक्ष—आदित्य मण्डलस्थ और नेत्रस्थ पुरुष की जीवभाव और देवभाव आदि रूपों में संभावना।

२. (सिद्धान्त)—आदित्य और नेत्रमध्यवर्ती पुरुष की परब्रह्मता की उपस्थापना। परब्रह्म की सगुणता तथा भक्तानुग्रह से विचित्र जगदाकार के रूप में आविर्भाविता का वर्णन। भेदोक्ति के आधार पर अक्षि और आदित्यपुरुष की जीव से पृथकता का विवेचन। —पृ०३५४-६३

८ आकाशाधिकरण (सूत्र २३)

१. पूर्वपक्ष—आकाश शब्द की भूताकाश रूपक शंका।

२. (सिद्धान्त) आकाश शब्द की परब्रह्मता का प्रतिपादन। —पृ०३६३-७०

९ प्राणाधिकरण (सूत्र २४)

आकाश के दृष्टान्त से प्राण शब्द की परमार्थता का निरूपण। —पृ०३७०-७१

१० ज्योतिरधिकरण (सूत्र २५—२८)

१. ज्योति शब्द की आदित्य आदि अर्थों में शंका।

२. (सिद्धान्त) ज्योति शब्द की परब्रह्मता का उपपादन। गायत्री छन्दोल्लेख्य ज्योति शब्द की अब्रह्मता की शंका का निरास। भूत, पृथिवी, शरीर और हृदय

आदि गायत्री के चार रूपों का निरूपण तथा गायत्री का ब्रह्म के रूप में उपपादन। सप्तमी एवं पंचमी विभक्ति से निर्दिष्ट ज्योति शब्द की अब्रह्मार्थता का निरास। —पृ० ३७१-७६

११. ऐन्द्रप्राणाधिकरण (सूत्र २६-३२)

१. ऐन्द्र प्रोक्त "प्राण" शब्द की जीवादि अर्थ में शंका तथा परमात्मार्थ रूप से उसका समाधान।

२ जीवार्थ रूप से पुनः शंका तथा प्राण की अध्यात्म उपदेश के रूप से बहुल चर्चा होने से उसकी ब्रह्म रूपता का सुदृढ़ उपपादन।

३. शास्त्रलब्ध ज्ञान के अनुसार ऐन्द्र कृत उपदेश की परमात्मपरता का समर्थन। प्राण शब्द की मुख्य प्राणार्थ रूप से की गई शंका का सतर्क समाधान।—पृ० ३७६ ८५

(द्वितीय पाद)

विषय, भूमिका, प्रथम पाद से संबंध, प्रथम पाद के विषय का संक्षिप्त विवरण, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ पादों के वक्तव्य विषयों की पूर्व पीठिका। —पृ० ३८५-८६

१ प्रसिद्ध्यधिकरण (सूत्र १-८)

१. पूर्वपक्ष—श्रुत्युक्त मनोमयादि विशिष्ट पदार्थ की जीवता तथा ब्रह्म शब्द की जीवार्थता का समर्थन।

२. (सिद्धान्त)—मनोमयादि शब्द और ब्रह्म शब्द की परब्रह्मार्थता का निरूपण। मनोमयादि वाक्योक्त गुणराशि का ब्रह्म संबधी उपपादन। जीव कर्त्तृता और कर्मता का विरोध, ब्रह्म संबंधी अनुकूल शब्द विशेष तथा स्मृति प्रमाणों का प्रदर्शन। हृदय में ब्रह्म की स्थिति का प्रतिपादन तथा हृदयस्थ ब्रह्म की संभाव्य भोग प्रसक्ति का प्रत्याख्यान। —पृ० ३८६-४०५

२. अत्ताधिकरण (सूत्र ६-१२)

१. ब्राह्मण आदि समस्त की जीवता का समर्थन, सर्वभोक्ता हेतुक उनकी ब्रह्मता का प्रतिपादन।

२. कर्म फलोल्लेख होने से भोक्ता की ब्रह्मता में संशय गुहा प्रविष्ट आत्माओं की जीवता और ब्रह्मता का समर्थन कठोपनिषाद् के वाक्यों की पर्यालोचना द्वारा ब्रह्म पक्ष का समर्थन। —पृ०४०५-१४

३. अन्तराधिकरण (सूत्र १३-१८)

१. पूर्वपक्ष—नेत्र पुरुष की जीवता का अनुमोदन।

२. (सिद्धान्त)अक्षि पुरुष की परमात्मकता का निरूपण। जगत की स्थिति परिचालन आदि के आधार पर अक्षि पुरुष की परमात्मकता का उपपादन। "कं खं ब्रह्म" इत्यादि श्रुति कथित सुखविशिष्टाभिधान के अनुसार परमात्मा का निर्धारण। उपकोशल उपाख्यान वर्णित मुक्ति संवाद द्वारा परमात्मा का उपपादन। नियति, स्थिति और तदसंभवता हेतु से छायात्मा और जीवात्मा की अक्षि पुरुषता का प्रतिषेध। —पृ०४१४-२४

४. अन्तर्याम्यधिकरण (सूत्र १९-२१)

१. पूर्वपक्ष—अन्तर्यामी शब्दक का पृथ्वी आदि की अधिष्ठात्री देवता के अर्थ में समर्थन।

२. (सिद्धान्त)—अन्तर्यामी शब्द की ब्रह्मार्थकता का प्रतिपादन अन्तर्यामी शब्द से सांख्योक्त प्रधान और जीव के अर्थ के संशय का समाधान। काण्व और माध्यन्दिन शाखीय पाठ के अनुसार जीव और अन्तर्यामी का भेद प्रदर्शन। —पृ०४२४-३१

५. अदृश्यत्वाधिकरण (सूत्र २२-२४)

१. पूर्वपक्ष—शास्त्रोक्त अदृश्यत्व आदि गुण युक्त पदार्थ की जीवता या प्रधानता के विषय में विचार।

२. (सिद्धान्त)—अदृश्यतादि गुण सम्पन्न पदार्थ की ब्रह्मार्थकता का प्रतिपादन।

एक विज्ञान से सर्व विज्ञान रूप विशिष्ट फल निधान तथा जीव की अपेक्षा श्रेष्ठत्वाभिधान के आधार पर अन्तर्यामी शब्द की जीव और प्रधानार्थकता का निराकरण।

३. परापरा भेद से द्विविध विद्या का निरूपण। ब्रह्म प्राप्ति के उपाय भूत अपरोक्ष ज्ञान की भक्तिरूपता का प्रतिपादन तथा अंगहीन और अयथानुष्ठित कर्म की निष्फलता ज्ञापन। —पृ०४३१-४०

६. वैश्वानराधिकरण (सूत्र २५-३३)

१. पूर्वपक्षः—वैश्वानर शब्द से जाठराग्नि, भूताग्नि और देवता अर्थ की संभावना का संशय।

२. (सिद्धान्त) परमात्मा के विशेषधर्मों के आधार पर वैश्वानर की परमात्मकता का प्रतिपादन। अग्निमूर्धा इत्यादि के निर्देश से वैश्वानर की परमात्मकता का निरूपण। पूर्व सूत्रीय युक्ति से देवता और भूताग्नि की वैश्वानरता का खण्डन। वैश्वानर की ब्रह्मता का जैमिनि के मतानुसार अविरोध और उपपत्ति। आश्मरथ्य और बादरि आचार्यों के मत से अविरोध का उपपादन जैमिनि मतानुसार वैश्वानर उपासना तथा उपासक के देह में उपास्य का विवेचन। —पृ०४४०-४५

(तृतीय पाद)

१. द्युभ्वाद्यधिकरण (सूत्र १-६)

१. पूर्वपक्ष—द्युभूलोक आदि के आश्रय के रूप में अभिहित पदार्थ की जीवता की संभावना का संशय।

२. (सिद्धान्त)—लोकाभिहित पदार्थ की परमात्मकता की, उपस्थापना, भेद निर्देश हेतुक जीवता का खण्डन, प्रकरणानुसार ब्रह्मार्थकता का समर्थन। —पृ०४५६-६२

२. भूमाधिकरण (सूत्र ७-८)

१. भूमा शब्द की व्याख्या

२. पूर्वपक्ष---भूमा की जीवता का संशय

३- (सिद्धान्त)–भूमा की परमात्मकता का निरूपण तथा उसकी सुखरूपता आदि विशिष्ट गुणों का उपपादन। —पृ०४६२–७७

३. अक्षराधिकरण (सूत्र ६-११)

१. पूर्वपक्ष---वेदोक्त अक्षर शब्द की प्रधान, जीव और पर ब्रह्म अर्थों में अभिशंका उत्थापन पूर्वक प्रधान और जीव के अर्थ में संभावना का संशय।

२. (सिद्धान्त) सर्व जगत् विधारकता, सर्वशास्ता और अच्युतत्व के आधार पर अक्षर तत्त्व की परब्रह्मार्थकता का प्रतिपादन। —पृ०४७७–८३

४. ईक्षति कर्माधिकरण (सूत्र १२)

१. त्रैमात्रिक प्रणवोपासना की प्रतिपादक श्रुति के अर्थ का विवेचन। उपास्य "पर पुरुष" की जीवार्थकता का निरास, ईक्षणीय "पर पुरुष" की ब्रह्मात्मकता का प्रतिपादन। —पृ०४८३–८७

५. दहराधिकरण (सूत्र १३-२२)

१. पूर्वपक्ष---"दहराकाश" की जीवात्मकता और भूताकाशता का संशय।

२. (सिद्धान्त) सत्यकामता आदि विशिष्ट गुणों के आधार पर दहर की परब्रह्मता का निरूपण।

३. सुषुप्ति में जीवों की दहराकाश गति की प्रकाशिका श्रुति, दहर के लिए प्रयुक्त ब्रह्मलोक शब्द के उल्लेख तथा दहरके ब्रह्म संबधीय गुणों के आधार पर उसकी परमात्मकता का समाधान।

४. गति श्रुति के अन्यार्थ का निरूपण। विश्वधारण महिमा, अपहतपाप्मता आदि विशिष्ट गुण, के अनुसार दहर की ब्रह्मात्मकता का उपपादन।

५. दहर की जीवताविषयक संभावना का समाधान जीव की अविद्या रहितअवस्था के प्रदर्शन के निमित्त

दहर की जीवोल्लेखना का निरूपण। अल्पत्व श्रुति के आधार पर अब्रह्मभाव संबन्धी शंका का समाधान। दहर के अनुरूप अवस्था वाले जीव को ही दहर स्वीकारने का निराकरण तथा स्मृत्यानुसार भी दहर की ब्रह्मरूपकता का निरूपण। —पृ०४८७–५०६

६. प्रमिताधिकरण [सूत्र २३-४१]

१. पूर्वपक्ष—अंगुष्ठ परिमित पुरुष की जीवात्मकता और परमात्मकता के विचार में जीवात्मकता का समर्थन।

२. (सिद्धान्त)—अंगुष्ठ परिमित पुरुष की परमात्मकता का उपस्थापन तथा मानव हृदय के परिमाणानुसार पुरुष की अंगुष्ठ परिमिति की सिद्धि। —पृ०५०६–९

१. प्रासंगिक देवताधिकरण [सूत्र २५-२९]

१. पूर्वपक्ष—मनुष्य भिन्न जीवों का उपासना में अनधिकार प्रदर्शन।

२, (सिद्धान्त)—मनुष्येतर देवतादिकों के उपासनाधिकार का प्रतिपादन तथा उनकी शरीरता का समर्थन। देवताओं की शरीरता स्वीकारने में, अनेकों यज्ञों में उनकी युगपद उपस्थिति की असंभावना का निराकरण तथा वैदिक शब्द के विरोध का परिहार। देवादिसृष्टि की शब्द पूर्वकता का प्रतिपादन तथा मंत्रमय वेद की नित्यता का समर्थन। प्रत्येक प्रलय के अन्त में समानाकार सृष्टि का समर्थन। —पृ०५०९–२१

(ii) प्रासंगिक मध्वधिकरण (सूत्र ३०-३२)

१. पूर्वपक्ष—मधु आदि विद्याओं में, वसु आदि देवताओं के उपासना अधिकार के असंभव होने से जैमिनी के मतानुसार उपासना में देवताओं के अनधिकार का विवेचन। ज्योतिर्मय ब्रह्मोपासना मात्र में अधिकार का ज्ञापन।

२. (सिद्धान्त)—बादरायण के मतानुसार देवताओं के उपासनाधिकार का प्रतिपादन। —पृ० ५२१-२५

(iii) प्रासंगिक अपशूद्राधिकरण (३३-३९)

१. पूर्वपक्ष—ब्रह्मविद्या में शूद्रों के अधिकार का समर्थन

२. (सिद्धान्त)—ब्रह्म विद्या में शूद्रों के अनधिकार का उपस्थापन. ब्रह्म विद्यार्थी जानश्रुति की क्षत्रियता का प्रतिपादन चित्ररथ वंशीय राजा अभिप्रतारी के साहचर्य निर्देश से जानश्रुति की क्षत्रियता की पुष्टि। ब्रह्मविद्या में उपनयन अपेक्षित होने से शूद्रों के वेद श्रवण, अध्ययन और अधिकार रहित होने की पुष्टि। स्मृति प्रमाणों से भी अनधिकार का समर्थन। निर्विशेष ब्रह्मवादी मत से शूद्र के अनधिकार की अनुपपत्ति। अधिकरण की परिसमाप्ति—ज्योति शब्द से उल्लेख परिमित पुरुष की परब्रह्मता का प्रतिपादन तथा अन्य संभावना का निरास। —पृ० ५२५-४३

७ अर्थान्तरत्वधिकरण (सूत्र ४२-४४)

१. पूर्वपक्ष—नामरूप निर्वाहक आकाश शब्दोक्त आत्मा में मुक्तात्मा और परमात्मा की संभावना की तुलना में मुक्तात्मा का समर्थन।

२ (सिद्धान्त)—सुषुप्ति और उत्क्रमण काल में आकाश और जीव के स्पष्ट भेद उल्लेख होने से तथा आकाश के लिए प्रयुक्त पति शब्द के प्रयोग से आकाश की परमात्मकता की पुष्टि। —पृ० ५४३-४९

(चतुर्थपाद)

१. आनुमानिकाधिकरण (सूत्र १-७)

१. पूर्वपक्ष—कठोपनिद् के "महतः परमव्यक्तम्" मंत्र के आधार पर सांख्य परिकल्पित प्रधान की जगत्कारणता की कल्पना।

२. (सिद्धान्त)—अव्यक्त शब्द से रथरूप से परिकल्पित शरीर के निर्देश से, अव्यक्त शब्द की सूक्ष्म शरीरता का समर्थन तथा रथरूपक की सार्थकता का विवेचन ज्ञेयता के अभाव में प्रधान का निराकरण। प्रधान मे ज्ञेयता की सभावना का खडन करते हुए प्राज्ञ आत्मा की ज्ञेयता की पुष्टि। परम पुरुष, उसके उपासक तथा उपासना प्रणाली संबधी प्रश्नोत्तरों का उल्लेख। महत् शब्द के दृटान्त से सांख्योक्त प्रधान की सभावना का निराकरण। —पृ० ५५०-६५

२ चमसाधिकरण सूत्र (८ १०)

१. पूर्वपक्ष—वेदोक्त अजा शब्द की सांख्योक्त प्रधानार्थता का समर्थन।

२. (सिद्धान्त)—चमस दृष्टान्त से प्रधान के अपरिग्रह का निरूपण। ब्रह्मोत्पन्न अजा ग्रहण के हेतु तथा आदित्य की मधुत्व कल्पना के समान, ब्रह्मकारणिका प्रकृति की अजत्व कल्पना की संगति का प्रदर्शन। अजा शब्द की शांकर मतोक्त तेज, जल और अन्नार्थ प्रतिपादकता का निराकरण। —प० ५६५-७६

३. संख्योपसंग्रहाधिकरण सूत्र (११-१३)

१. पूर्वपक्ष—"पंच पंचजना." श्रुति से सांख्योक्त प्रधान के पचीस तत्वों की परिकल्पना।

२. (सिद्धान्त) श्रौत और सांख्य के पच्चीस तत्वों की नितान्त भिन्नता से उक्त मत का निराकरण। पंचजन शब्द से प्राण आदि पांच का तथा काण्व शाखा के अनुसार ज्योति शब्द से विषय प्रकाशिका इन्द्रियों की पच सख्या का निरूपण! —पृ० ५७६-८२

४. कारणत्वाधिकरण सूत्र (१४-१५)

१. पूर्वपक्ष—"तदैक्षत" श्रुति की प्रधान कारणपरता का समर्थन।

२. (सिद्धान्त)—आकाश आदि की कारणता के रूप से अवधारित, परब्रह्म की जगत्कारणता का समर्थन

द्वितीय अध्याय

(प्रथम पाद)

६ आरम्भणाधिकरण [सूत्र १५-२०]

१. असद्कार्यवादी कणाद आदि के मतों का दिग्दर्शन स्वमतानुसार कार्य कारण के अभेद का समर्थन। शंकरादि सम्मत जीव ब्रह्मादि विषयक सिद्धान्त का दिग्दर्शन शकरादिमतों का निराकरण। अपने मत और सिद्धान्त का उपसंहार।

२. कार्माधीन करणोपलब्धि के आधार पर कार्य कारण की अभिन्नता का समर्थन। वेदोक्त "असत्" शब्द के अर्थान्तर का विवेचन। कार्य कारण के अभेद में पटादि के दृष्टान्त का प्रदर्शन। एक ही वायु के प्राण अपान आदि भेद के दृष्टान्त से एक ही ब्रह्म की विचित्र जगद्कारणता का उपपादन। —पृ० ६६६–७२४,

७. इतरव्यपदेशाधिकरण (सूत्र २१–२३)

१. पूर्वपक्ष—जीव और ब्रह्म की एकता के मत में, सर्वज्ञ ब्रह्म ने अपने लिए अहितकर दुःखमय जगत रचना की, इस असंगति की आशंका।

२. (सिद्धान्त)—श्रुति स्मृति पुराणों के आधार पर जीव ब्रह्म के भेद का उपपादन। जड़ और जीव की ब्रह्मभावानुपपत्ति का प्रदर्शन। स्थूल-सूक्ष्म, चेतना-चेतन शारीरक ब्रह्म की कारण और कार्यावस्था का निरूपण। पाषाण आदि के द्रष्टान्त से उसकी पुष्टि। अविद्या के हेतु से जीव, ब्रह्म के विभागवादी मत का खण्डन। —पृ० ७२४–३०,

८. उपसंहार दर्शनाधिकरण (सूत्र २४–२५)

१. पूर्वपक्ष–साधन निरपेक्ष ब्रह्म की जगत्कर्तृत्वानुपपत्ति का दिग्दर्शन।

२. (सिद्धान्त)—क्षीर जल आदि के द्रष्टान्त से साधन निरपेक्ष ब्रह्म की कर्तृता का प्रतिपादन। —पृ० ७३०–३३,

९. कृत्स्न प्रसक्ति अधिकरण (सूत्र २६–३१)

१. पूर्वपक्ष—निरवयव ब्रह्म के सर्वांश की जगदाकार परिणति की संभावना में संशय तथा उसकी निराकारता स्वीकारने में आपत्ति।

२. (सिद्धान्त)—ब्रह्म की निराकारता के होते हुए भी शास्त्रानुसार असंपूर्ण परिणाम का समर्थन। ब्रह्मनिष्ठ शक्ति वैचित्र्य के आधार पर परिणाम वैचित्र्य का उपपादन। त्रिगुणात्मिका प्रकृति कारणतावादी सांख्यमत में दोष प्रसक्ति परमेश्वर की सर्वशक्तिमत्ता बोधक श्रुति का दिग्दर्शन उपयुक्त साधनों के अभाव में भी ब्रह्म की सर्वकारणता का पुष्टि पुष्ट समाधान। —पृ० ७३३–३८

१०. प्रयोजनवत्वाधिकरण (सूत्र ३२-३६)

१. निष्प्रयोजन सृष्टि कार्य में पूर्ण काम ब्रह्म की अप्रवृत्ति का समर्थन। ब्रह्म कृत जागतिक सृष्टि की लीलारूपता का वर्णन।

२. सृष्टि कार्य में ब्रह्म की विषम दर्शिता और निर्दयता की शंका। जीव के कर्मानुसार जगत् सृष्टि वैचित्र्य के सिद्धान्त से ब्रह्म प्रसक्त वैषम्य और नैघृण्य दोषों का परिहार। सृष्टि के आदि में कर्माभाव की शंका। सृष्टि की अनादिता के हेतु से कर्म के सद्भाव का प्रतिपादन। ब्रह्म सृष्टि की अनादिता के हेतु से कर्म के कारणत्वोपपादक धर्म सद्भाव का निरूपण। —पृ० ७३८–४३,

[द्वितीय पाद]

१ रचनानुपपत्त्यधिकरण (सूत्र १-६)

१. सांख्यमत तत्त्व वर्णन और प्रकृति की जगत् कारणता का समर्थन स्वमतानुसार प्रकृति की जगत्कारणता की अनुपपत्ति दिखलाते हुए सांख्य मत खंडन।

जल और दूध के द्रष्टान्त से प्रकृति जगत्कारणता के किए गए समर्थन का निराकरण।

२. ब्रह्म की सृष्टिकर्त्तृता में जीव के पुण्यपापानुसार प्रकृति की कारणता का समर्थन। पुण्य पाप की शास्त्रगम्यता, परमेश्वर की दयालुता, और निग्रहानुग्रह के आधार पर प्रकृति की जगत्कारणता का खंडन।

३. धेनु भुक्त तृण आदि की दुग्धाकार परिणिति की तरह, ईश्वर प्रेरणा निरपेक्ष प्रकृति की जगताकार परिणिति के सिद्धान्त का खंडन।

४. पंगु सहायक अंध तथा लोह सन्निहित चुम्बक मणि की तरह, पुरुष निकटस्थ प्रकृति स्फुरण सिद्धान्त का खंडन। सत्त्व, रज और तमोगुण में गुण प्रधान भाव की अनुपपत्ति।

५. प्रधान में ज्ञान शक्ति के अभाव के आधार पर तत्संबंधी अन्यान्य अनुमानों की अनुपपत्ति का प्रदर्शन। अनुमान के साहाय्य से प्रधान की स्थिति की सिद्धि होते हुए भी उसकी व्यर्थता ज्ञापन। परस्पर विरोधी सिद्धान्तों के आधार पर सांख्यमत की असमंजसता का दिग्दर्शन।

६. शांकर सम्मत निर्विशेष चिन्मात्र की असत् बंध मोक्ष भागित सिद्धान्त का खंडन। —७४३–६६

२. महद्दीर्घाधिकरण [सूत्र १०-१६]

१. वैशेषिक परमाणु कारणवाद का वर्णन एवं उसकी अनुपपत्ति का प्रदर्शन। १०वें सूत्र की शांकर व्याख्या में दोष दिग्दर्शन।

२. परमाणुगत प्राथमिक क्रियोत्पत्ति की असंभवता का वर्णन। समवाय संबंध का खंडन। युत सिद्धि और अयुतसिद्धि का विचार तथा समवाय स्वीकृति में अनवस्था दोष की शंका। समवाय संबंध की नित्यता

के हेतु से तत्सबंधी जगत् नित्यता की संभावना का ज्ञापन। रूप रस आदि गुण संबद्ध होने से परमाणु में अनित्यता, स्थूलता आदि दोषों की सभावना की विज्ञप्ति। परमाणुगत, रूप रस आदि की स्वीकृति और अस्वीकृति दोनों में दोष प्रदर्शन। शिष्टो से अपरिग्रहीत परमाणु कारणवाद की उपेक्षणीयता।— पृ० ७६६-७३.

३. समुदायाधिकरण [सूत्र १७-२६]

१. चार प्रकार के बौद्धों के अभिमत सिद्धान्तों का वर्णन

२. परमाणुजात और पृथिव्यादि जात संघातों की उत्पत्ति की अनुत्पपत्ति अविद्या आदि परस्पर कारण कार्य भाव से समुदायों की उत्पत्ति सिद्धांत का स्वमतानुसार निराकरण।

३. क्षणिकवाद में पूर्ववर्त्ती और परवर्त्ती क्षण के कारण कार्यवाद की असंभावना का प्रदर्शन, तथा कारण के बिना कार्योत्पत्ति की स्वीकृति में प्रतिज्ञा हानि का वर्णन। प्रतिसंख्या निरोध और अप्रतिसंख्या निरोध की अनुपपत्ति का प्रदर्शन। तुच्छ कारण से कार्योत्पत्ति तथा उत्पन्न पदार्थ की तुच्छता के सिद्धान्त का खण्डन। आकाश की तुच्छता का खण्डन। प्रतिभिज्ञा प्रमाण का खण्डन।

४. सौतांत्रिकाभिमत विज्ञानवाद का खण्डन तथा प्रयत्न के अभाव में कार्योत्पत्ति की संभावना का समर्थन। —पृ० ७७३—८८,

४. उपलब्ध्यधिकरण [सूत्र २७-२९]

१. योगाचार मत से विज्ञानातिरिक्त बाह्यवस्तु मात्र के असद् भाव का समर्थन। विज्ञानमात्रास्तित्ववाद का खंडन।

२. स्वप्न दृष्ट पदार्थ के साथ बाह्य पदार्थ की विलक्षणता का प्रदर्शन। बाह्य पदार्थ के असद्भाव का खंडन।

५. सर्वथानुपपत्त्यधिकरण [सूत्र ३०]

सर्वशून्यवादी माध्यमिक सिद्धान्त का वर्णन । स्वमतानुसार सर्वशून्यत्ववाद का निराकरण । —पृ० ७८९–९३,

६. एकस्मिन्नसम्भवाधिकरण [सूत्र ३१-३३]

१ जैनाभिमत सिद्धान्त का निरूपण । सप्तभंगी न्याय की असंगति ।

२ आत्मा की देह परिमितता, तथा संकोच विकास स्वभाव का खंडन । आत्मा की मोक्ष कालीन परिणाम की स्थिरता के आधार पर उक्त स्वभाव का निराकरण । —पृ० ७९३–८०२,

७. पशुपत्यधिकरण [सूत्र ३५-३८]

पाशुपत मत का वर्णन । पाशुपत की असमंजसता का विवेचन अशरीर ईश्वर के प्राकृतिक अधिष्ठान की असंभवता प्रदर्शन । अशरीर जीव के इन्द्रियाधिष्ठान की तरह परमेश्वराधिष्ठान की स्वीकृति से ईश्वर में सुखदु:खादि भोग प्रसक्ति की संभावना प्रदर्शन । पशुपति में पुण्य पाप की स्वीकृति से अनित्यतादि दोषों की संभावना का दिग्दर्शन । —पृ० ८०२–८,

उत्पत्त्यसंभवाधिकरण [सूत्र ३९-४२]

१. पांचरात्र सात्वतदर्शन के सिद्धान्त का विवेचन ।

२. पूर्वपक्ष-कर्त्तास्वरूप संकर्षण से कारणरूप प्रद्युम्न की उत्पति का विरोध प्रदर्शन ।

३. उत्तरपक्ष—संकर्षण आदि की विज्ञानमय ब्रह्मस्वरूपता हेतुक जीवोत्पत्ति के विवेचक पांचरात्र मत की प्रामाणिकता ज्ञापन । पांचरात्र शास्त्रानुसार ही जीव की स्वरूपत: उत्पत्ति का निषेध तथा पांचरात्र शास्त्र की वेद सम्मतता का प्रतिपादन ।

४. (सिद्धान्त)—"न च कर्त्तु: करणम्" इत्यादि सूत्रों की शंकराचार्य कृत व्याख्या का निराकरण । सांख्य

आदि शास्त्रों के साथ पांचरात्र शास्त्र का अविरोध ज्ञापन। उक्त शास्त्र की स्वाभिमत स्वीकृति। —पृ० ८०८–१६,

(तृतीय पाद)

१. वियदधिकरण [सूत्र १-६]

१. पूर्वपक्ष–आकाश की अनुत्पत्ति का संशय।

२. (सिद्धान्त)–आकाश की उत्पत्ति का समर्थन तथा आकाशोत्पत्ति बोधक श्रुति की गौणार्थता के संशय का निराकरण।

३. पूर्वपक्ष–ब्रह्म शब्द की तरह "संभूत" शब्द के गौण मुख्य दोनों ही अर्थों का समर्थन।

४. (सिद्धान्त)–एक विज्ञान से समस्त विज्ञान की प्रतिज्ञा के आधार पर आकाशोत्पत्ति के सिद्धान्त का श्रौत शब्दों से ही समर्थन। जन्य पदार्थ मात्र की ब्रह्म कार्यता का समर्थन। आकाशोत्पत्ति से वायु की उत्पत्ति का वर्णन तथा सद्ब्रह्म की अनुपपत्ति का निरूपण। —पृ० ८११–२१,

२. तेजोधिकरण (सूत्र १०-१७)

१. पूर्वपक्ष–शुद्ध वायु से तेजोत्पत्ति की शंका, तेज से जलोत्पत्ति की शंका, जल से पृथिवी उत्पत्ति की शंका श्रौत "अन्न" शब्द के पृथिवी परक अर्थ का हेतु प्रदर्शन।

१. (सिद्धान्त)–आकाशादि शरीरधारी ब्रह्म से वायु आदि की उत्पत्ति का समर्थन, ब्रह्म से साक्षात् आकाश आदि की उत्पत्ति का प्रतिपादन। इन्द्रिय और मन की उत्पत्ति के आधार पर ब्रह्म की साक्षात् कारणता का समर्थन। स्थावर जंगम सभी पदार्थों की ब्रह्म शब्द की मुख्यार्थता प्रदर्शन। —पृ० ८२१–३२,

३. आत्माधिकरण (सूत्र १८)

१. पूर्वपक्ष–आकाश आदि की तरह जीवोत्पत्ति की शंका

२. (सिद्धान्त)-श्रुति और युक्ति के आधार पर जीव की नित्यता का समर्थन तथा एक विज्ञान से सर्व विज्ञान का उपपादन। —पृ० ८३३-३६,

४. ज्ञाधिकरण सूत्र (१६-३२)

१. जीवात्मा का स्वरूप निरूपरण।

२, पूर्वपक्ष—जीवात्मा की चैतन्य रूपता का समर्थन।

३. (सिद्धान्त]-आत्मा की ज्ञानरूपता का निराकरण तथा ज्ञान विशिष्टता का प्रतिपादन। जीव की लोकान्तर गमनागमना बोधक श्रुति के आधार परसर्वव्यापकता का खंडन। जीव की अणु परिमाणता का प्रतिपादन लोकान्तर गमनागमन में जीव के कर्त्तृत्व का समर्थन।

४ विज्ञानमय शब्द से जीव एवं उसकी सर्वव्यापकता मानने वाले सिद्धान्त का निराकरण, उसकी ब्रह्मार्थता का निरूपण। अणु परिमाण बोधक शब्द तथा द्रष्टान्त के आधार पर जीव की अणुता का समर्थन। अणु जीव की सर्वांगीण उपलब्धि का समर्थन। जीव की हृदयस्थिति का समर्थन। एक स्थित प्रदीपादि की तरह जीव की भी सर्वांगीण ज्ञानरूप अनुभूति का प्रतिपादन। आत्म गुण ज्ञान की आत्मातिरिक्तता का प्रदर्शन। ज्ञान और आत्मा के पृथक निर्देश का समर्थन। ज्ञान प्राधान्यता के आधार पर ही, आत्मा में ज्ञान शब्द की व्यवहार्यता का सम्मोदन। ज्ञान और आत्मा के नित्य साहचर्य के कारण आत्मा के लिए प्रयुक्त विज्ञान शब्द के प्रयोग का उपपादव। सुषप्ति आदि अवस्थाओं में ज्ञान की अप्रतीति होते हुए भी ज्ञान की आत्मगुणता का समर्थन। आत्मा की सर्वव्यापकता और ज्ञानमयता में दोष प्रदर्शन।—पृ० ८३९-५०,

५. कर्त्ताधिकरण (सूत्र ३३-३९)

जीवात्मा के कर्त्तृत्व का निरूपण। इन्द्रियग्रहण और परिभ्रमण में आत्मा के कर्त्तृत्व का विरूपण

बुद्धि की कर्तृता स्वीकारने में दोष प्रदर्शन। बुद्धि की कर्तृता में भोगशांकर्य का उपपादन बुद्धिकर्तृता में समाधिसाधन की असंभवता तथा उसकी भोगकर्तृता का समर्थन। जीव की कर्तृता होते हुए भी सामयिक कर्मानुष्ठान का उपपादन। —पृ० ८५०–५६,

६. परायत्ताधिकरण (सूत्र ४०–४१)

जीव की ब्रह्माधीन कर्तृता का तथा जीव की चेष्टानुसार ईश्वर प्रेरणा का निरूपण। —पृ० ८५६–६०,

७ अंशाधिकरण (सूत्र ४२–५२)

१. पूर्वपक्ष—ब्रह्म से जीव की अत्यन्त भिन्नता की शंका।

२. (सिद्धान्त)—जीव की ब्रह्मांशता का प्रतिपादन। श्रुति और स्मृति प्रमाणों से अंशता का उपपादन। ब्रह्म में जीवगत दोष संसर्गता संभावना के प्रसंग में आदित्य आदि द्रष्टान्तों की प्रस्तुति देहभेद से जीवों के अधिकार भेदों का प्रतिपादन। देहभेद और जीव भेद के कारण एक के भोग का दूसरे में अभाव प्रदर्शन। जीव और ब्रह्म की अभेद समर्थक आभासता का उपपादन। अदृष्ट की भोग नियामकता का वर्णन। भोगाभिसंधि से जीव की अनियामकता का वर्णन। अंशभेद के अनुसार भोगादि व्यवस्था का खंडन। —पृ० ८६०–७१,

[चतुर्थ पाद]

१. प्राणोत्पत्ति अधिकरण [सूत्र १–३]

१. पूर्वपक्ष—इन्द्रियों की उत्पत्ति की शंका।

२. (सिद्धान्त)—इन्द्रियों की उत्पत्ति का समर्थन, तथा अनुत्पत्ति बोधक श्रुतियों की गौणार्थता निरूपण। आकाशादि से भिन्न वायु आदि की सृष्टि का उपपादन। —पृ० ८७१–७५,

१. पूर्वपक्ष—त्रिवृत्कृत आकाश आदि भूत समुदाय के पृथक् पृथक् व्यवहार की संभावना की शंका।

२. (सिद्धान्त)—अधिकता के अनुसार आकाश आदि नाम की व्यवहारिकता का उपपादन। —पृ० ८८७–८६,

[तृतीय अध्याय]

[प्रथम पाद]

१ तदन्तर प्रतिपत्त्यधिकरण [सूत्र १-७]

शरीर त्याग करते समय जीव भावी देह के उपादान भूतसूक्ष्म को ले जाता है या नहीं, इस पर विचार

१. पूर्वपक्ष—भूतसूक्ष्म को न ले जाने की शंका।

२. (सिद्धान्त)—जीव के साथ भतसूक्ष्म के गमन का प्रतिपादन प्रयाण काल में वागादि इन्द्रियों की अग्नि आदि में लीनता बतलाने वाली श्रुति के आधार पर उक्त शंका का समाधान। पंचाग्निविद्या के प्रकरण में जल होम का उल्लेख न होने से सूक्ष्मभूतों के सहगमन पर उद्भूत संशय का समाधान। जीवोल्लेख संबंधी संशय का समाधान। —पृ०८६६–६०६,

२. कृतात्ययाधिकरण (सूत्र ८-११)

कर्मयोगी जीवों के चन्द्रमण्डल से लौटते समय प्राक्तन कर्म अवशिष्ट रहते हैं या नहीं, इस पर विचार।

१. पूर्वपक्ष—जो कर्म फलभोग के लिए जीव के साथ जाते हैं, उनका चन्द्रमण्डल में ही भोग समाप्त हो जाता है।

२. (सिद्धान्त)—कर्म के अवशिष्ट फलभोग के लिए ही पृथिवी में पुनरागमन होता है, इस मत का प्रतिपादन।

१. पूर्वपक्ष— संचित शुभाशुभ कर्मानुसार जीव के जन्म का समर्थन

४. (सिद्धान्त)—वैदिक "चरण" शब्द के आधार पर अवशिष्ट कर्मानुसार ही जन्म का समर्थन।

५. पूर्वपक्ष—स्मृतिशास्त्र विहित आचार की व्यर्थता ज्ञापन।

६. (सिद्धान्त)—स्मृति शास्त्रोक्त आचार की कारणता का प्रतिपादन बादरि आचार्य के मतानुसार "चरण" शब्द की पुण्य पापार्थता का निरूपण। —पृ० ९०६–११,

३. अनिष्टादिकार्याधिकरण (सूत्र १२-२१)

१. यागादिकर्म विहीन पापी जीवों की भी चान्द्रमसी गति की संभावना का निरूपण। प्रथम यमालय में पापफल का भोग बाद में चान्द्रमसी गति की संभावना प्रदर्शन।

२. सात प्रकार के प्रधान नरकों का ज्ञापन। नरक में यम की प्रधानता वर्णन। कर्मी और कर्मांग विद्या संपन्न व्यक्तियों की चान्द्रमसी गति का निरूपण। पापपुण्य रहित अज्ञ जीवों की दंशमशकादि गति का वर्णन। स्वेदज में उद्भिज का अन्तर्भाव। —पृ० ९११–१६,

४. तत्स्वाभाव्यापत्ति अधिकरण (सूत्र २२)

चन्द्रमंडल से लौटते समय कर्मयोगियों की आकाशादि स्वभाव प्राप्ति का निरूपण। —पृ० ९१६–१७,

५. नातिचिराधिकरण (सूत्र २३)

आकाश आदि स्वभाव के परित्याग की त्वरा का विवेचन। —पृ० ९१७–१८,

६. अन्याधिष्ठिताधिकरण (सूत्र २४-२७)

अन्य जीवों से अधिष्ठत जीव का शस्य प्रवेश वर्णन। यज्ञीय हिंसा में निष्पापता का प्रतिपादन। जीव का शस्य से, रेत सेचनक्षम शरीर में प्रवेश वर्णन। स्त्री देह में रेत सिंचन द्वारा जीव का गर्भ प्रवेश तथा योनि द्वारा जन्म वर्णन। —पृ० ९१८–२१,

(द्वितीय पाद)

१. संध्यधिकरण (सूत्र १-६)

१. पूर्वपक्ष—स्वप्नदृष्ट पदार्थों की जीवकर्त्तता का श्रौत प्रमाणों से समर्थन।

२. (सिद्धान्त) स्वप्नदृश्य की मायिकता का वर्णन। परमेश्वर की इच्छानुसार ही जीव की ज्ञानैश्वर्यादि शक्ति के तिरोधान और बंधन मुक्ति का प्रतिपादन। देह संबंध को जीव की शक्ति तिरोधान का कारण ज्ञापन। स्वप्नदर्शन की शुभाशुभ सूचकता का वर्णन। —पृ० ६२४-२६,

२. तमसाधिकरण (सूत्र ७ ८)

१. पूर्वपक्ष—हित नामक नाड़ी और आत्मा इन दोनों स्थानों में यथा संभव सुषुप्ति की संभावना का सशय।

२. (सिद्धान्त)—नाड़ी, पुरीतत और आत्मा तीनों स्थानों में सुषुप्ति का निरूपण। सुषुप्ति भग के समय ब्रह्म से जीव के उत्थान का वर्णन। —पृ० ६२६-३१,

३. कर्मानुस्मृतिशब्दविध्यधिकरण (सूत्र ६)

जागरण के समय जीव के पुनरुत्थान का निरूपण।

४. मुग्धाधिकरण (सूत्र १०)

मुग्धावस्था का स्वरूप निरूपण। —पृ० ६३१-३४,

५. उभयलिंगाधिकरण (सूत्र ११-२५)

१. पूर्वपक्ष—जाग्रत आदि अवस्थाओं से संबद्ध ब्रह्म में दोष प्रसक्ति संभावना की शंका।

२. (सिद्धान्त)—तीनों अवस्थाओं से संबद्ध होते हुए भी ब्रह्म की निर्दोषता तथा उसकी उभयलिंगता का निरूपण। कठशाखीय मत से एकस्थानस्थित ब्रह्म की निर्दोषता तथा शरीर स्थित होते हुए भी उसकी निराकारता का उपपादन।

३. ब्रह्म की स्व-प्रकाशता एवं ज्ञान स्वभावता का उपपादन उक्त विषय में जलसूर्यादि प्रतिबिम्ब का दृष्टान्त प्रस्तुत।

४. पूर्वपक्ष—जल सूर्यादि के साथ देहस्थ परमात्मा की विषय दृष्टान्तता का दिग्दर्शन।

५. (सिद्धान्त)—वृद्धि ह्रास आदि द्रष्टान्त द्वारा उक्त आपत्ति का परिहार।

६. "नेति नेति" श्रुति का तात्पर्य निरूपण ब्रह्म के अव्यक्त भाव का वर्णन। भक्ति स्वरूप निदिध्यासन की अवस्था में ब्रह्म की अभिव्यक्ति का विवेचन। प्रकाश आदि की तरह ब्रह्म के मूर्त्तामूर्त्तरूप का वर्णन। ब्रह्म के कल्याणमय अनन्त गुणों के सद्भाव का निरूपण। —पृ० ६३४–५१,

६. अहिकुण्डलाधिकरण (सूत्र २६-२६)

अहिकुण्डल के द्रष्टान्त से ब्रह्म के भेदाभेद रूप का प्रतिपादन। तेज के दृष्टान्त एवं प्रकारान्तर से भी भेदाभेद का उपपादन। जड़धर्म विधेयक श्रुति के आधार पर ब्रह्म के अंशांशी भाव का निरूपण।—पृ० ६५१–५५,

७. पराधिकरण (सूत्र ३० ३६)

१. पूर्वपक्ष—श्रुति में ब्रह्म को सेतु और परिमित कहे जाने से, उससे अतिरिक्त तत्त्व के अस्तित्व की आशंका।

२. (सिद्धान्त)—सादृश्यता बोधकरूप से सेतु शब्द का प्रतिपादन। उपासना के सौविध्य से सेतु शब्द के प्रयोग का उपपादन। स्थान विशेष से संबद्ध होने से ब्रह्म के परिमाण निर्देश का सयुक्ति प्रतिपादन। ब्रह्म के अतिरिक्त किसी अन्य वृहत् पदार्थ की सत्ता का निराकरण। ब्रह्म की सर्वव्यापकता का समर्थन। —६५५–६२,

८ फलाधिकरण [सूत्र ३७-४०]

१. हर प्रकार के फल प्रदान में ब्रह्म की कर्तृता का वर्णन।
२. जैमिनि के मत से धर्म से फलप्राप्ति का वर्णन।
३. बादरायण के मतानुसार परमेश्वर की फल प्रदानता का उपपादन। —पृ० ६६२—६६,

(तृतीय पाद)

१. सर्ववेदांत प्रत्ययाधिकरण [सूत्र १-५]

विभिन्न वैदिक शाखाओं में विहित एक जातीय ब्रह्मोपासना की एकता का वर्णन। उपासना की एकता के संबंध में की गई शंका का समाधान। यज्ञांग स्नान के द्रष्टान्त से शिरोव्रत की अध्ययनांगता का निरूपण। श्रुति के आधार पर विद्या की एकता का समर्थन। एक उपासना में कथित गुणों का तत्समान जातीय उपासना में उपसंहार के प्रयोजन का निरूपण। —पृ० ६६७—७२,

२. अन्यथात्वाधिकरण [सूत्र ६-९]

१. पूर्वपक्ष—छांदोग्य और वृहदारण्यक में वर्णित उद्गीथ विद्या की भिन्नता का संशय।
२. (सिद्धान्त)—छांदोग्य और वृहदारण्योक्त उद्गीथोपासना के स्वरूपगत भेद के आधार पर दोनों की पृथकता और विद्याभेद का प्रतिपादन। उद्गीथ की प्रणवार्थता का निरूपण। —पृ० ६७२—७६,

३. सर्वभेदाधिकरण [सूत्र १०]

ज्येष्ठ श्रेष्ठ आदि गुणों के योग से प्राणोपासना की एकता प्रतिपादन। —पृ० ६७९—८३,

४. आनन्दाधिकरण [सूत्र ११-१७]

आनन्द आदि ब्राह्म गुणों का सभी उपासनाओं में चिन्तन का उपदेश। प्रियशिर आदि गुणों का सभी

१२. साम्परायाधिकरण (सूत्र २७-३१)

ज्ञानी के पुण्यपाप त्याग काल का निरूपण। पुण्यपाप त्याग सर्पकि। वाक्य समन्वय का निर्देश। कर्मानुसार कार्याधिकार विशेष प्राप्त जीवो की अधिकार पर्यन्त अवस्थिति का विवेचन। —पृ० १००४–६,

१३. अनियमाधिकरण (सूत्र ३२)

उपासक मात्र की देवयान गति ब्रह्मलोक प्राप्ति का निरूपण। —पृ० १००६–१२,

१४. अक्षर धी अधिकरण (सूत्र ३३-३४)

अक्षर ब्रह्म संबंधी अस्थूलता आदि गुणों का सभी विद्याओं में उपसंहार निर्देश, उक्त गुणों के उपसंहार की आवश्यकता का निरूपण। —१०१२–१५,

१५. अन्तरत्वाधिकरण (सूत्र ३५-३७)

सर्वान्तरपद की परमार्थता का निरूपण। उषस्त और कहोल के प्रश्नार्थ के परस्पर विनिमय का प्रदर्शन। छांदोग्य में एक ही परादेवता के पूर्वापर कीर्त्तन का निरूपण। —पृ० १०१५–२६,

१६. कामाद्यधिकरण (सूत्र ३८-४०)

छांदोग्य और वाजसनेयोक्त सत्यकामता आदि ब्राह्म गुणों का अभेद निरूपण। नेति नेति श्रुति से सत्यकामता आदि गुणों की अप्रतिषिद्धता ज्ञापन। सगुणोपासना की मोक्षसाधकता का निरूपण। – पृ० १०२६–३४

१७. तन्निर्धारिण नियमाधिकरण (सूत्र ४१)

कर्मकाल में कर्मांग उपासना की अवश्यकर्त्तव्यता का खंडन। —पृ० १०३४,

१८. प्रदानाधिकरण (सूत्र ४२)

अपहतपाप्मता आदि गुणों के साथ गुणी परमात्मा के चिन्तन की आवश्यकता ज्ञापन। —पृ० १०३४–३६,

एक या अनेक के अनुष्ठान की कर्त्तव्यता निरूपण।

१. पूर्वपक्ष—कर्मांगाश्रित उपासना में कर्मांग के साथ उपासनानुष्ठान की आवश्यकता का शास्त्र सम्मत युक्तिपूर्ण प्रतिपादन। —पृ०१०५७-६१

२६. यथाश्रयभावाधिकरण (सूत्र ५९-६४)

२. (सिद्धान्त)—कर्मांगानुष्ठान के साथ तदाश्रित उपासना की अवश्य कर्त्तव्यता का खंडन, उक्त मत की पुष्टि में शास्त्र समर्थन। —पृ०१०६१-६६

(चतुर्थ पाद)

१. पुरुषार्थाधिकरण (सूत्र १-२०)

१. बादरायण के मतानुसार विद्या से मुक्ति लाभ का निरूपण।

२. जैमिनि के मतानुसार विद्या की मुक्ति साधनता की अर्थवादिता का प्रदर्शन, उक्त मत में शिष्ट सम्मति प्रदर्शन। प्रकारान्तर से विद्या की कर्मांगता का समर्थन।

३. बादरायण मत से सिद्धान्त निरूपण। विद्या की कर्मांगता के विरुद्ध प्रमाण प्रदर्शन। विद्या की कर्मांगता का खंडन मृत व्यक्ति के साथ विद्या और कर्म के पृथक गमन का वर्णन विद्या की कर्मांगता विषयक जैमिनि की युक्ति का सतर्क खंडन जैमिनि प्रदर्शित नियम श्रुति का अर्थान्तर कथन, प्रकारान्तर से नियम श्रुति का प्रतिपादन। वैराग्य सम्पन्न व्यक्ति के गृह त्याग विषय में श्रुति प्रमाण प्रस्तुति। विद्या की कर्मोपमर्दकता प्रदशन। कर्मत्यागी संन्यासी के विद्यानुशीलन का समर्थन।

४. आचार्य जैमिनि के मतानुसार सन्यासाश्रम की अवैधता।

५. बादरायणचार्य के मत से संन्यासाश्रम का सद्भाव तथा वैधता प्रतिपादन। —पृ०१०६७-८१

२. स्तुतिमात्राधिकरण (सूत्र २१-२२)

१. पूर्वपक्ष—यज्ञांग उद्गीथ आदि के विषय में उपदिष्ट रसतमत्व आदि के प्रशंसामात्र तात्पर्य का निरूपण।
२. (सिद्धान्त)—यज्ञांग उद्गीथादि के विषय में रसतमत्वादि दृष्टि की विधेयता का प्रतिपादन। —पृ० १०८६–८८

३. पारिप्लवाधिकरण (सूत्र २३-२४)

१. पूर्वपक्ष—उपनिषदुक्त सभी आख्यायिकाओं की पारिप्लव प्रयोगांगता का प्रदर्शन।
२. (सिद्धान्त)—आख्यायिकाओं के विद्यामाहात्म्य प्रकाशन तात्पर्य का समर्थन, एकवाक्यता द्वारा सिद्धान्त प्रतिपादन। —पृ० १०८८–८९

४. अग्नीन्धनाद्यधिकरण (सूत्र २५)

ऊर्ध्वरेताओं का यज्ञांग विद्या में अधिकार प्रतिपादन पृ० १०८९–९०

५. सर्वापेक्षाधिकरण (सूत्र २५)

कर्म निरत ग्रहस्थों की विद्योपासना में अग्निहोत्र कर्मानुष्ठान की आवश्यकता प्रतिपादन। पृ० १०९०–९२

६. शमाद्यधिकरण (सूत्र २६)

ग्रहस्थों के लिए शमदमादि आवश्यकता का प्रतिपादन। —पृ० १०९२–९४

७. सर्वान्नानुमत्यधिकरण (सूत्र २८-३१)

आपत् काल में प्राणात्मदर्शी के लिए सर्वान्नभक्षण की शास्त्रानुमति समर्थन। विशुद्ध आचार से चित्त शुद्धि निरूपण। यथेच्छ आहार निषेध। —पृ० १०९४–९७

८. विहितत्वाधिकरण (सूत्र ३२-३५)

मुक्ति की अभिलाषा से रहित ग्रही के लिए आश्रमोचित कर्मानुष्ठान की अनिवार्यता का निर्देश। विद्या के सहकारी साधन के रूप में कर्मानुष्ठान की कर्त्तव्यता का निरूपण। यज्ञांग और आश्रमांग कर्मों

की एकरूपता का विश्लेषण। आश्रमोचित कर्म के साथ विद्या के अविरोध का प्रतिपादन। —पृ० १०६७–६६

६. विधुराधिकरण (सूत्र ३६-३६)

अनाश्रमी व्यक्तियों के लिए भी ब्रह्मविद्या में अधिकार प्रदर्शन प्रकारान्तर से उक्त मत का प्रतिपादन। अनाश्रमी की अपेक्षा आश्रमी की श्रेष्ठता प्रतिपादन। —पृ० १०६६–११०२

१०. तद्भूताधिकरण (सूत्र ४०-४३)

ब्रह्मचर्य आदि नैष्ठिकों के लिए निज आश्रम परित्याज्यता का निषेध, नैष्ठिकों के स्वधर्मच्युत होने पर प्रायश्चित्ताभाव का निरूपण। स्वधर्मच्युत नैष्ठिकों का विद्या में अनधिकार प्रदर्शन। —पृ० ११०२-५

११. स्वाम्यधिकरण (सूत्र ४४-५४)

१. आत्रेय के मतानुसार कर्मांग उपासना में यजमान कर्त्तृता का निरूपण।

२. औडुलोमि के मत से ऋत्विक् कर्त्तृत्व निरूपण —पृ० ११०५–८

१२. सहकार्यन्तरविधि अधिकरण (सूत्र ४६-४८)

ब्रह्मविद्या में मौन की सहकारिता का निरूपण। मौन के समान अन्यान्य आश्रमधर्मों का उपदेश। पृ० ११०८–१३

१३. अनाविष्काराधिकरण (सूत्र ४६)

वेदोक्त बाल्य शब्द के अर्थ का विवेचन। —पृ० १११३–१५

१४. ऐहिकाधिकरण (सूत्र ५०)

प्रतिबंधक के अभाव में इहलोक में ही विद्या के फलस्वरूप प्राप्त होने वाले स्वर्गिक सुखों की प्राप्ति का प्रदर्शन। —पृ० १११५–१६

१५. मुक्तिफलाधिकरण (सूत्र ५१)

प्रतिबन्धक न होने से विद्याफल से मुक्ति प्राप्ति

(चतुर्थ अध्याय)

(प्रथम पाद)

१. आवृत्यधिकरण (सूत्र १-२)

१. ब्रह्म प्राप्ति की उपाय उपासना के एक बार अनुष्ठान मात्र से फलप्राप्ति संभावना प्रदर्शन।

२. जीवन पर्यन्त उपासना की कर्त्तव्यता निरूपण, अनुकूल प्रमाणों के आधार पर उक्त सिद्धान्त का निरूपण। —पृ० १११७–२०

२. आत्मत्वोपासनाधिकरण (सूत्र ३)

१. पूर्वपक्ष—आत्मरूप से ब्रह्म की उपासना का निषेध।

२. (सिद्धान्त)—आत्मभाव से उपासना की कर्त्तव्यता का निरूपण। —पृ० ११२०–२३

३. प्रतीकाधिकरण (सूत्र ४-५)

१. पूर्वपक्ष—मन आदि प्रतीक की आत्मारूप से उपासना का समर्थन।

२. (सिद्धान्त) मन आदि प्रतीक की आत्मारूप से उपासना का खंडन मन आदि प्रतीक में ब्रह्मदृष्टि की कर्त्तव्यता का प्रतिपादन। —पृ० ११२३–२४

४. आदित्यादिमत्याधिकरण (सूत्र ६)

१. पूर्वपक्ष—कर्मांग उद्गीथ आदि की उपासना में आदित्य आदि में उद्गीथादि दृष्टि कर्त्तव्यता का निरूपण।

२. (सिद्धान्त)—कर्मांग उद्गीथ आदि में आदित्य दृष्टि का समर्थन। —पृ० ११२४–२५

५. आसीनाधिकरण (सूत्र ७-११)

आसनविशेष में ही उपासना करने का उपपादन। ध्यानात्मक उपासना में आसन की अनिवार्यता ज्ञापन। उपासना की स्थिरतासापेक्षता का प्रतिपादन। उपासना में एकाग्रता के अनुकूल देश, काल की प्रयोजनीयता का समर्थन। —पृ० ११२५–२७

२. जैमिनि के मत से ब्रह्म शब्द की मुख्यार्थता समर्थन
३. का बादरायण के मत से प्रतीकोपासना रहित उपासकों का निरूपण। —पृ० ११७४–८३

(चतुर्थ पाद)

१. संपद्याविर्भावाधिकरण (सूत्र १-३)

परज्योति परब्रह्म की प्राप्ति के अनन्तर जीव के स्वरूपाविर्भाव का निरूपण प्रकरणानुसार आत्मा की स्वाविक निष्पापता का समर्थन। —पृ० ११८४–८७

२. अविभागेन दृष्टत्वाधिकरण (सूत्र ४)

मुक्त पुरुष की अभिन्नरूप से ब्रह्मानुभूति का समर्थन। —पृ० ११८७–९२

३. ब्राह्माधिकरण (सूत्र ५-७)

१. जैमिनि के मत से अपहतपाप्मता आदि गुणविशिष्ट ब्रह्म रूप से मुक्तात्मा के आविर्भाव का निरूपण।
२. औडुलोमि के मत से चैतन्यात्मक ब्रह्मरूप में स्वरूपाविर्भाव का निरूपण।
३. बादरायण के मत से दोनों स्वरूपाविर्भाव का प्रतिपादन। —पृ० ११९२–९५

४. संकल्पाधिकरण (सूत्र ८-९)

मुक्त पुरुष के स्वेच्छानुसार ज्ञाति प्रिय समागम का निरूपण। मुक्त पुरुष की पराधीनता का निराकरण। —पृ० ११९६–९७

५. अभावाधिकरण (सूत्र १०-१६)

१. बादरि के मत से मुक्त पुरुष के शरीरादि अभाव का प्रतिपादन।
२. जैमिनि के मत से मुक्त पुरुष के शरीरादि सद्भाव का समर्थन।

३. मुक्ति के समय देहाभाव में भी स्वेच्छा से भगवान के लीलारस आस्वादन का प्रतिपादन। मुक्त पुरुष की देहादि के सद्भाव में जाग्रतानुभूति का निरूपण। मुक्तावस्थ अणु स्वरूप आत्मा की अन्यत्र भोग संभावना का समर्थन। नित्य जीवात्मा की सर्वज्ञता का समर्थन। ——पृ०११६७–१२०२

६. जगद्व्यापारवर्जाधिकरण (सूत्र १७-२२)

१. मुक्त पुरुष का जगत् सृष्टि आदि ईश्वरीय कार्यों से भिन्न कार्यों में अधिकार निरूपण।

२. मुक्त पुरुष के निर्विकार ब्रह्मभोग का वर्णन।

३. मुक्त पुरुष की संसार पुनरावृत्ति का निराकरण पृ०१२०२–११



।। श्रीमते रामानुजाय नम ।।

शारीरक मीमांसा श्रीभाष्य

अखिलभुवनजन्मस्थेमभङ्गादिलीले,
विनतविविधभूतव्रातरक्षैकदीक्षे ।
श्रुतिशिरसि विदीप्ते ब्रह्मणि श्रीनिवासे,
भवतु मम परस्मिन् शेमुषी भक्तिरूपा ॥

समस्त विश्व की सृष्टि, स्थिति और लय रूप लीला करने वाले, शरणागत भक्त की रक्षा के लिए प्रतिश्रुत, उपनिषद् शास्त्र प्रतिपादित परब्रह्म श्रीनिवास वासुदेव मे मेरी सतत भक्तमयी मति हो।

पाराशर्यवचस्सुधामुपनिषद्दुग्धाब्धिमध्योद्धृतां
संसाराग्निविदीपनव्यपगतप्राणात्मसंजीवनीम् ।
पूर्वाचार्यसुरक्षितां बहुमतिव्याघातदूरस्थिता-,
मानीतान्तु निजाक्षरैस्सुमनसो भौमाः पिबन्त्वन्वहम् ॥

उपनिषद् शास्त्र रूप समुज्ज्वल क्षीरसागर से प्रकट, संसार रूप अग्नितापसे तप्त, परमात्मज्ञान हीन संतप्त जनो की सजीवनी, पूर्वाचार्य (श्री द्रविडाचार्य) से सुरक्षित, मतमतान्तरों के व्याघात से दुर्बोध, वेदांताचार्यों के व्याख्यानों से प्राप्त. पराशरपुत्र बादरायण की अमृतमय वाणी का भूलोक वासी विद्वज्जन निरन्तर पान करे।

भगवद्बोधायनकृतां विस्तीर्णां ब्रह्मसूत्रवृत्तिं पूर्वाचार्याः संचिक्षिपुः तन्मतानुसारेण सूत्राक्षराणि व्याख्यास्यन्ते ।

भगवान् बोधायन कृत विस्तृत ब्रह्मसूत्र वृत्ति को पूर्वाचार्य (श्री द्रविड) ने संक्षिप्त किया, मैं उन्हीं के मतानुसार सूत्राक्षरों की व्याख्या कर रहा हूँ।

प्रथम अध्याय, प्रथम पाद

१ अधिकरण

अथाऽतो ब्रह्मजिज्ञासा । १।१।१।।

अत्रायमथशब्द आनन्तर्ये भवति, अतश्शब्दो वृत्तस्य हेतुभावे। अधीतसाङ्गसशिरस्कवेदस्याधिगताल्पास्थिरफल-केवलकर्मज्ञानतया संजातमोक्षाभिलाषस्याऽनन्तास्थिरफल-ब्रह्मजिज्ञासा ह्यनन्तरभाविनी।

इस सूत्र में ''अथ'' शब्द आनन्तर्य अर्थ का बोधक तथा ''अत:'' शब्द पूर्वविगत विषय का सूचक है, अर्थात् पूर्ववर्त्ती कर्मकाण्ड से अवगत कर्म-फल की अस्थिरता, अनित्यता आदि का अवबोध ही ब्रह्मजिज्ञासा की उपस्थिति का मुख्य हेतु है। जिस व्यक्ति ने वेद वेदांग, उपनिषद् शास्त्र के अध्ययन से यह बात समझ ली है कि केवल कर्म का फल अल्प, अस्थिर और नाशवान् है तथा ब्रह्मज्ञान का फल अनन्त और अक्षर है, तो निश्चित ही उसके मन में मोक्षलाभ की अभिलाषा जाग्रत होती है, और फिर उसके अनन्तर उसके मन में ब्रह्म संबन्धिनी जिज्ञासा होती है।

ब्रह्मणो जिज्ञासा ब्रह्मजिज्ञासा इति कर्मणि षष्ठी "कर्तृकर्मणो: कृति" इति विशेषविधानात्। यद्यपि संबन्धसामान्यपरिग्रहेऽपि जिज्ञासाया: कर्मापेक्षत्वेन कर्मार्थत्वसिद्धि:, तथाप्याक्षेपत: प्राप्तादाभिधानिकस्यैव ग्राह्यत्वात् कर्मणि षष्ठी गृह्यते। न च "प्रतिपदविधाना षष्ठी न समस्यते" इति कर्मणि षष्ठया: समासनिषेध: शङ्कनीय:। "कृद्योगा च षष्ठी समस्यते" इति प्रतिप्रसवसद्भावात्।

ब्रह्म जिज्ञासा का तात्पर्य है ब्रह्म के जानने की इच्छा। "कर्तृ कर्मणो: कृति:" इस व्याकरणीय नियमानुसार "ब्रह्मण:" पद कर्मवाच्य षष्ठी विभक्ति का है। यद्यपि सामान्य संबंध रूप अर्थ स्वीकारने से भी जिज्ञासा कर्म की अपेक्षित कर्मार्थता सिद्ध है, तथापि आक्षेप लब्ध (प्रकारान्तर से प्राप्त) अर्थ की अपेक्षा आभिधानिक

(शब्द लब्ध) अर्थ ग्राह्य होता है इसलिए यहाँ कर्म में षष्ठी विभक्ति मानते हैं।

"प्रतिपद (कर्म विहित) षष्ठी विभक्ति में समास नहीं होता" इस नियमानुसार यहाँ समास निषेध की शंका भी नहीं की जा सकती, क्योंकि "कृद्योगा षष्ठी समस्यते" इस नियम से कृत् प्रत्यय के योग में विहित षष्ठी के साथ समास का पुनः विधान किया गया है।

ब्रह्मशब्देन च स्वभावतो निरस्तनिखिलदोषोऽनवधिकातिशयासंख्येयकल्याणगुणगणः पुरुषोत्तमोऽभिधीयते, सर्वत्र बृहत्त्वगुणयोगेन हि ब्रह्मशब्दः, बृहत्त्वं च स्वरूपेण गुणैश्च यत्रानवधिकातितशयं सोऽस्य मुख्योऽर्थः। स च सर्वेश्वर एव, अतो ब्रह्मशब्दस्तत्रैव मुख्यवृत्तः। तस्मादन्यत्र तद्गुणलेशयोगादौपचारिकः, अनेकार्थकल्पनायोगाद् भगवच्छब्दवत्। तापत्रयातुरैरमृतत्वाय स एव जिज्ञास्यः। अतस्सर्वेश्वर एव जिज्ञासाकर्मभूतं ब्रह्म।

ब्रह्म शब्द से स्वभावतः समस्त दोषों से रहित, निरवधि, असंख्येय, कल्याणमय गुणों से युक्त पुरुषोत्तम कहे गये हैं। ब्रह्म शब्द सभी जगह "बृहत्त्व" गुणवाला कहा गया है। स्वरूपतः और गुणानुसार असीमता और अतिशायिता ही बृहत्त्व का सही अर्थ है। उक्त विशेषताओं से युक्त सर्वेश्वर ही हैं, इसलिए ब्रह्म शब्द से वे ही अभिहित हैं। उक्त गुणों से आंशिक संबंध होने से अन्यों के लिए प्रयुक्त ब्रह्म शब्द भगवत् शब्द की तरह औपचारिक मात्र है। त्रितापों से तप्त और आतुर संसारी जीवों को अमरता और शांति प्राप्त करने के लिए वह सर्वेश्वर ही जिज्ञास्य हैं। जिस ब्रह्म की जिज्ञासा की जाती है वह सर्वेश्वर ही हैं।

ज्ञातुमिच्छा जिज्ञासा। इच्छाया इष्यमाणप्रधानत्वादिष्यमाणं ज्ञानमिह विधीयते। मीमांसापूर्वभागज्ञातस्य कर्मणोऽल्पास्थिरफलत्वादुपरितनभागावसेयस्य ब्रह्मज्ञानस्यानन्ताक्षय फलत्वं च पूर्ववृत्तात् कर्मज्ञानादनन्तरं तत एव हेतोर्ब्रह्म ज्ञातव्यमित्युक्तं भवति। तदाह वृत्तिकारः—"वृत्तात्कर्माधिगमादनन्तरं ब्रह्मविविदिषा" इति।

जानने की इच्छा को जिज्ञासा कहते हैं, इच्छा क्रिया में इष्यमाण वस्तु प्रधान होती है, जिज्ञासा पद में इष्यमाण वस्तु ज्ञान है; इसलिए ब्रह्म जिज्ञासा का तात्पर्य है, ब्रह्म ज्ञान। मीमांसा के पूर्व भाग से ज्ञात कर्म की अल्प और अस्थिर फलता तथा उत्तर भाग से ज्ञात ब्रह्म ज्ञान की अनन्त और अक्षय फलता से मन में निर्वेद होता है, जिसके फलस्वरूप कर्म तत्त्व को भली भाँति जानकर ब्रह्म तत्त्व को भी जानना चाहिए ऐसा भाव होता है। ऐसा ही वृत्तिकार ने कहा भी है—"कर्मतत्त्व को भली भाँति जानने के बाद ब्रह्म ज्ञान की इच्छा होती है।"

वक्ष्यति च कर्मब्रह्ममीमांसयोरैकशास्त्र्यम्—"संहितमेतच्छारीरकं जैमिनीयेन षोडशलक्षणेनेति शास्त्रैकत्वसिद्धिः" इति। अतः प्रतिपिपादयिषितार्थभेदेन षट्कभेदवदध्यायभेदवच्च पूर्वोत्तर-मीमांसयोर्भेदः। मीमांसाशास्त्रम्—"अथातो धर्मजिज्ञासा" इत्यारभ्य "अनावृत्तिश्शब्दादनावृत्तिश्शब्दात्" इत्येवमन्तं संगतिविशेषेणाविशिष्टक्रमम्।

वृत्तिकार कर्ममीमांसा और ब्रह्ममीमांसा दोनों को एक ही शास्त्र बतलाते हैं—"यह शारीरक मीमांसा, जैमिनि कृत धर्म मीमांसा के सोलह अध्यायों से मिलकर ही संपूर्ण एक शास्त्र के रूप में पूरी होती है।" प्रतिपाद्य विषय को जैसे पाद और अध्यायों में बाँटकर अलग-अलग वर्णन किया गया है, वैसे ही मीमांसा के पूर्व और उत्तर दो भेद हैं। मीमांसा शास्त्र पूर्व मीमांसा के आदिम सूत्र "अथातो धर्म जिज्ञासा" से लेकर उत्तर मीमांसा के अंतिम सूत्र "अनावृत्तिश्शब्दात्" में जाकर संगति विशेष के विशिष्ट क्रम से पूरा हुआ है।

तथाहि प्रथमं तावत् "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" इति अध्ययनेनैव स्वाध्यायशब्दवाच्यवेदाख्याक्षरराशेर्ग्रहणं विधीयते।

सर्व प्रथम विद्यार्थी को आदेश होता है "स्वाध्योऽध्येतव्यः", तथा अध्ययन से स्वाध्याय शब्द वाच्य वेद नामक अक्षर राशि को ग्रहण करने का विधान बतलाया जाता है।

तच्चाध्ययनं किंरूपम् ? कथं च कर्तव्यम् ? इत्यपेक्षायाम्—श्रावण्यां प्रौष्ठपद्यां वा उपाकृत्य यथाविधि "अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत तमध्यापयेत्" इत्यनेन "युक्तश्छन्दांस्यधीयीत मासान्विप्रोऽर्धपञ्चमान् ।" इत्यादिव्रतनियमविशेषोपदेशैश्चापेक्षितानि विधीयन्ते । एवं सत्संतानप्रसूतसदाचारनिष्ठात्मगुणोपेतवेदविदाचार्योपनीतस्य व्रतनियमविशेषयुक्तस्याचार्योच्चारणानुच्चारणरूपमक्षरराशिग्रहणफलमध्ययनमित्यवगम्यते ।

उस अध्ययन का क्या रूप है ? वह कैसे किया जाता है ? ऐसी आकांक्षा होने पर "आठ वर्ष में ब्राह्मण का उपनयन करके उसे पढ़ाओ", "श्रावण या भाद्रपद की पूर्णिमा को यथा विधि उपाकर्म करके साढ़े चार महीने तक स्थिर चित्त से वेद पढ़ना चाहिए।" इत्यादि व्रत और नियम विशेष के उपदेश द्वारा अपेक्षित अध्ययन की विधि का निरूपण किया गया है। इस प्रकार कुलीन, सदाचार निष्ठ, आत्म गुण संपन्न वेदज्ञ आचार्य द्वारा उपनीत , विशेष व्रत नियम संम्पन्न (बटु) शिक्षा के उद्देश्य से जब अक्षर राशि को गुरुमुख से श्रवण कर स्वयं मुखरित करता है , उसे ही अध्ययन मानते हैं।

अध्ययनं च स्वाध्यायसंस्कारः "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" इति स्वाध्यायस्य कर्मत्वावगमात् । संस्कारो हि नाम कार्यान्तरयोग्यताकरणम् । संस्कार्यत्वं च स्वाध्यायस्य युक्तम्, धर्मार्थकाममोक्षरूपपुरुषार्थचतुष्टयतत्साधनावबोधितत्वात्, जपादिना स्वरूपेणापि तत्साधनत्वाच्च । एवमध्ययनविधिर्मन्त्रवन्नियमवदक्षरराशिग्रहणमात्रे पर्यवस्यति ।

"स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" इस वाक्य से अध्ययन स्वाध्याय क्रिया का कर्म निश्चित होता है; अध्ययन से स्वाध्यायरूप संस्कार दृढ होता है। कार्यान्तर योग्यता संपादन करने वाले को संस्कार कहते हैं। अधीत अक्षरराशि प्रतिपाद्य ज्ञानार्जन से धर्मार्थ काम मोक्ष रूप पुरुषार्थ चतुष्टय

का संपादन होता है तथा अक्षर राशि के जाप आदि रूप से भी पुरुषार्थ चतुष्टय की सिद्धि होती है, इसलिए स्वाध्याय की सस्कार्यता युक्ति युक्त है। वेद की अध्ययन विधि मंत्र की तरह अक्षर राशि के ग्रहण मात्र मे पर्यवसित है।

अध्ययनगृहीतस्य स्वाध्यायस्य स्वभावत एव प्रयोजनवदर्थावबोधित्वदर्शनात् । गृहीतात् स्वाध्यायादवगमय्यमानात् प्रयोजनवतोऽर्थानापाततो दृष्ट्वा तत्स्वरूपप्रकारविशेषनिर्णयफलवेदवाक्यविचाररूपमीमासाश्रवणे अधीतवेदः पुरुषः स्वयमेव प्रवर्तते ।

अध्ययन-गृहीत अक्षर राशि रूप स्वाध्याय के प्रयोजनीय (यज्ञ, उपासना आदि) अर्थावबोध की प्रवृत्ति स्वत· ही होती है तथा वेद के विधिवत् कण्ठस्थ हो जाने पर प्रयोजनीय विषयो को वेदो मे आदि से अन्त तक देखकर उनके स्वरूप, प्रकार विशेष आदि के निर्द्धारण के लिए वेदवाक्य विचारात्मक मीमासा शास्त्र के श्रवण मे वेद पढ़ा हुआ व्यक्ति स्वयमेव उन्मुख होता है।

तत्र कर्मविधिस्वरूपे निरूपिते कर्मणामल्पास्थिरफलत्वं दृष्ट्वा अध्ययनगृहीतस्वाध्यायोपनिषद्वाक्येषु च अमृतस्वरूपानन्तस्थिरफलापातप्रतीतेः तन्निर्णयफलवेदान्तविचाररूपशारीरकमीमांसायामधिकरोति ।

कर्म मीमांसा के कर्म विधि के स्वरूप निरूपण प्रकरण में कर्मों की अल्प अस्थिर फलता को देखकर तथा अध्ययन के सिलसिले में अधीत उपनिषद् वाक्यो मे ब्रह्मज्ञान की अनन्त स्थिर फलता की प्रतीति होने पर ब्रह्मतत्त्व निर्णायक वेदांत विचार रूप शारीरक मीमांसा में स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। विचारक स्वत· ही शारीरक मीमांसा का अध्ययन करता है।

तथाच वेदान्तवाक्यानि केवलकर्मफलस्य क्षयित्वं ब्रह्मज्ञानस्य चाक्षयफलत्व दर्शयन्ति—"तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते, एव-

मेवात्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते", "अन्तवदेवास्य तद् भवति", "नह्यध्रुवैः प्राप्यते", "प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपाः", "परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायात्, नास्त्यकृतः कृतेन। तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ॥ तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक् प्रशान्तचिन्ताय शमान्विताय। येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम्।" इति। "ब्रह्मविदाप्नोति परम्", "न पुनर्मृत्यवे तदेकं पश्यति", "न पश्योमृत्युं पश्यति", "स स्वराड्भवति", "तमेव बिद्वानमृत इह भवति", "नान्यः पन्था अयनाय विद्यते", "पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति" इत्यादीनि।

वेदान्त वाक्य ज्ञानरहित कर्मफल की क्षीणता तथा ब्रह्मज्ञान की अक्षय फलता का ऐसा विवेचन करते है—"इस लोक की वस्तुएँ जैसे नाशवान् है वैसे ही पारलौकिक वस्तुएँ भी नाशवान् हैं"—"सकाम कर्मों का फल नाशवान् ही होता है"—"क्षण भंगुर कर्मो से नित्य फल कभी नहीं मिलता"—"यज्ञादि कर्म संसार से पार करने वाली दृढ नौकाएँ नहीं हैं" —"लौकिक कर्मों का भली भाति पर्यवेक्षण करके, कर्मों की अक्षमता समझ कर ब्राह्मण को सांसारिक कर्मों की ओर से निर्वेद होता है, वह ब्रह्म तत्व की जिज्ञासा से हाथ में कुश आदि पूजन सामग्रियों को लेकर श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ गुरु के निकट उपस्थित होता है, गुरु अपने निकट उपस्थित प्रशान्तचित्त संयतेन्द्रिय शिष्य को ब्रह्मविद्या का उपदेश दें जिससे कि वह अक्षर तथा सत्य से अवगत हो जाय"—"ब्रह्मवेत्ता पर-ब्रह्म को प्राप्त करता है"—"पुनः मृत्यु को प्राप्त नहीं करता"—"वह एक ही वस्तु को देखता है, जागतिक कामनाओं को न देखने वाला मृत्यु को नही देखता"—"वह स्वतंत्र हो जाता है" "उसको जानने वाला अमृत हो जाता है"—"उसे जानकर मृत्यु का अतिक्रमण करता है,—इसके अतिरिक्त मोक्ष का दूसरा उपाय नहीं है"—"प्रेरक आत्मा को भिन्न मानकर उसका कृपा पात्र होता है और उसी सें, अमृतत्व प्राप्त करता है।" इत्यादि।

ननु च साङ्गवेदाध्ययनादेव कर्मणां स्वर्गादिफलत्वं स्वर्गादीनां च क्षयित्वं ब्रह्मोपासनस्यामृतफलत्वं च ज्ञायत एव। अनन्तरं मुमुक्षुर्ब्रह्मजिज्ञासायामेव प्रवर्तताम्, किमर्था धर्मविचारापेक्षा ? एवं तर्हि शारीरकमीमासायामपि न प्रवर्तताम् साङ्गाध्ययनादेव कृत्स्नस्य, ज्ञातत्वात्।

सत्यम्, आपातप्रतीतिर्विद्यत एव, तथापि न्यायानुगृहीतस्य वाक्यस्यार्थनिश्चायकत्वादापातप्रतीतोऽप्यर्थः संशयविपर्ययौ नातिवर्तते; अतस्तन्निर्णयाय वेदान्तवाक्यविचारः कर्तव्य इति चेत्; तथैव धर्मविचारोऽपि कर्तव्यः, इति पश्यतु भवान्।

(शका) वेद वेदाग के अध्ययन से ही कर्मो की स्वर्गादि फलता. स्वर्गादि की क्षीणता एव ब्रह्मोपासना की अमृतफलता ज्ञात हो जाती है तो मोक्ष की इच्छा वालो की ब्रह्म जिज्ञासा में ही प्रवृति होगी, उन्हे धर्म विचार की अपेक्षा ही क्या है ? (उत्तर) यदि ऐसी ही बात है कि वेदाध्ययन से ही सब कुछ ज्ञात हो जाता है तो शारीरक मीमासा मे ही क्यो प्रवृत्ति होगी। (पूर्वपक्ष) उक्त विषयो की सामान्य प्रतीति अध्ययन से हो जाती है ऐसा सत्य है; फिर भी न्यायानुमोदित वाक्य के अर्थनिर्णायक होने से अविचारित रूप से प्रतीत होने वाला सामान्य अर्थ संशय और विपर्यय (भ्रम) की निवृत्ति नही कर पाता, इसलिए अर्थ निर्णायक वेदान्त वाक्यों का विचार आवश्यक है। (उत्तर पक्ष) आपके उक्त मत के अनुसार ही धर्म विचार भी आवश्यक हो जाता है।

(लघु पूर्वपक्ष) ननु च ब्रह्मजिज्ञासा यदेव नियमेनापेक्षते, तदेव पूर्ववृत्तं वक्तव्यम्। न धर्मविचारापेक्षा ब्रह्मजिज्ञासायाः, अधीतवेदान्तस्यानधिगतकर्मणोऽपि वेदान्तवाक्यस्यार्थविचारोपपत्तेः। कर्माङ्गाश्रयाणि उद्गीथ-आदि उपासनानि अत्रैव चिन्त्यन्ते, तदनधिगतकर्मणो न शक्यं कर्तुमिति चेत्, अनभिज्ञो भवान् शारीरकशास्त्रविज्ञानस्य। अस्मिन् शास्त्रे अनाद्यविद्याकृतविविधभेद-

दर्शननिमित्तजन्मजरामरणादिसांसारिकदु:खसागरनिमग्नस्य निखिल-दु:खमूलमिथ्याज्ञाननिवर्हणायात्मैकत्वविज्ञानं प्रतिपिपादयिषितम्। अस्यहि भेदावलम्बिकर्मज्ञानं क्वोपयुज्यते ? प्रत्युत विरुद्धमेव। उद्गीथादिविचारस्तु कर्मशेषभूत एव ज्ञानरूपत्वाविशेषादिहैव क्रियते। स तु न साक्षात् संगतः, अतो यत् प्रधानं शास्त्रं तदपेक्षित-मेव पूर्ववृत्तं किमपि वक्तव्यम्।

(वाद) ब्रह्म जिज्ञासा में जिम नियम की अपेक्षा होती है, उस पूर्व-वर्त्ती कारण के विषय में कुछ कहना है। ब्रह्म जिज्ञासा, में धर्म विचार अपेक्षित नहीं है। वेदांत का ज्ञाता कर्म के विधि निषेधात्मक नियमों को न जानकर भी वेदांतवाक्यों के तत्त्वों पर विचार कर सकता है। यदि आप कहें कि वेदांत में तो कर्माङ्गाश्रित उद्गीथ आदि विद्याओं का भी निरूपण है, कर्मकांड के विचार बिना उन पर विचार नहीं हो सकता। तो मेरी समझ में आप शारीरक मीमांसा शास्त्र प्रणाली से अनभिज्ञ हैं। इस शास्त्र में अनादि अविद्याजन्य भेद दृष्टि के फलस्वरूप होने वाले जन्म जरा मरण आदि सांसारिक दु:ख सागर में निमग्न व्यक्ति की दु:खराशि की मूलकारण मिथ्याभ्रान्ति के निवारणार्थ, आत्मैकत्व ज्ञान का प्रति-पादन किया गया है। इस विवेक में भेद पर अवलंबित कर्म ज्ञान की क्या उपयोगिता हो सकती है ? यह तो इसमें विरुद्ध कार्य ही करेगा। उद्गीथ आदि उपासना कर्माङ्ग होते हुए भी ज्ञान स्वरूप हैं इसीलिए उनका उत्तरमीमांसा में विवेचन किया गया है, कर्म का उन उपासनाओं से साक्षात् संबन्ध नहीं है। शास्त्र के प्रधान प्रतिपाद्य विषय से संबद्ध विषय को ही उस शास्त्र का पूर्ववर्त्ती कारण कह सकते हैं, अन्य किसी को नहीं (अतः कर्म ज्ञान ब्रह्मजिज्ञासा में अपेक्षित नहीं है)।

बाढम् ; तदपेक्षितं च कर्मविज्ञानमेव, कर्मसमुच्चिताद् ज्ञानादपवर्गश्रुतेः। वक्ष्यति च "सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत्" इति। अपेक्षिते च कर्मण्यज्ञाते केन समुच्चयः केन नेति विभागो न शक्यते ज्ञातुम्, अतस्तदेव पूर्ववृत्तम्।

(प्रतिबाद) ब्रह्मज्ञान में कर्म ज्ञान ही अपेक्षित पूर्व कारण हो सकता है। कर्मसमुच्चित ज्ञान से ही मुक्ति होती है, ऐसा मोक्ष प्रतिपादक श्रुति वाक्य से ज्ञात होता है। ऐसा सूत्रकार भी "यज्ञादिश्रुतेरश्ववत्" मे प्रतिपादन करते हैं। ज्ञानापेक्षित कर्मकाड का विशेष ज्ञान न होने से कौन सा कर्म ज्ञानसमुच्चित हो सकता है, कौन सा नही? ऐसा निर्णय करना कठिन है। इसलिए समस्त कर्ममीमांसा को ब्रह्ममीमांसा का पूर्ववर्त्ती मानना होगा।

नैतद् युक्तम्; सकलविशेषप्रत्यनीकचिन्मात्रब्रह्मविज्ञानादेवाविद्यानिवृत्तेः, अविद्यानिवृत्तेरेव हि मोक्षः। वर्णाश्रमविशेषसाध्यसाधनेतिकर्त्तव्यताद्यनन्तविकल्पास्पदं कर्म सकलभेददर्शननिवृत्तिरूपाज्ञाननिवृत्तेः कथमिव साधनं भवेत्? श्रुतयश्च कर्मणामनित्यफलत्वेन मोक्षविरोधित्वं, ज्ञानस्यैव मोक्षसाधनत्वं च दर्शयन्ति—"अन्तवदेवास्य तद् भवति", "तद् यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते, एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते", "ब्रह्मविदाप्नोति परम्, ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति", "तमेव विदित्वातिमृत्युमेति" इत्याद्याः।

(वाद) उक्त कथन सगत नही है, सर्वविध भेदों से रहित शुद्ध चिन्मय ब्रह्मज्ञान से ही अविद्या की निवृत्ति होती है, अविद्या की निवृत्ति ही मोक्ष है। वर्ण और आश्रमगत भेद, साध्य, साधन और इतिकर्तव्यता आदि अनन्त भेद सापेक्ष कर्म समस्त भेद दर्शन निवृत्तिरूप अज्ञान निवृत्ति के साधन कैसे हो सकते है? "अज्ञानी का कर्म निश्चित ही नाशवान् होता है", "इस लोक में कर्मलब्ध वस्तुएं जैसे अशाश्वत होती हैं; वैसे पुण्यचित् स्वर्गादि भी नश्वर है", "ब्रह्मवेत्ता ही पर ब्रह्म को प्राप्त कर सकता है", "ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म ही होता है।" इत्यादि श्रुतियाँ भी अनित्य फल वाले कर्मों को मोक्ष विरोधी तथा ज्ञान को ही मोक्ष साधक बतलाती हैं।

यदपि चेदमुक्तम्—यज्ञादिकर्मापेक्षाविद्येति, तद् वस्तुविरोधात् श्रुत्यक्षरपर्यालोचनया चान्तःकरणनैर्मल्यद्वारेण विविदिषोत्पत्तावुपयुज्यते, न फलोत्पत्तौ, "विविदिषन्तीति" श्रवणात्, विविदिषा-

यां जातायां ज्ञानोत्पत्तौ शमादीनामेव अन्तरङ्गोपायतां श्रुतिरेवाह "शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्येत्" इति । तदेवं जन्मान्तरशतानुष्ठितानभिसंहितफलविशेषकर्ममृदितकषायस्य विविदिषोत्पत्तौ सत्याम् "सदेव सोम्येदमग्र आसीद् एकमेवाद्वितीयम्", "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म", "निष्कलं निष्क्रियं शान्तम्", "अयमात्मा ब्रह्म", "तत्त्वमसि" इत्यादिवाक्यजन्यज्ञानादविद्या निवर्त्तते ।

यद्यपि "विद्या यज्ञादि कर्म सापेक्ष है" ऐसा कहा गया है। श्रुति के अक्षरों की पर्यालोचना से स्पष्ट होता है कि अन्तःकरण की निर्मलता द्वारा ब्रह्म जिज्ञासा की उत्पत्ति में ही यज्ञादि कर्म की उपयोगिता है, फलोत्पत्ति में नहीं। यदि इसे फलोत्पत्ति में उपयोगी मानेंगे तो वह ज्ञान वस्तु का विरोधी सिद्ध होगा। "विविदिषन्ति" इस श्रुतिवाक्य से भी उक्त बात की पुष्टि होती है। विविदिषा के होने पर ज्ञानोत्पत्ति में शम दम इत्यादि ही अन्तरंग साधन श्रुति में बतलाये गये हैं—"शान्त, दान्त, उपरत और तितिक्षु व्यक्ति ही समाहित होकर स्वयं अपने आत्मा को देखता है।" इत्यादि । इस प्रकार सैकड़ों जन्मों के निष्काम कर्मों के अनुष्ठान द्वारा कर्मवासना के समाप्त हो जाने पर विविदिषोत्पत्ति होने से—"हे सौम्य ! यह समस्त जगत् एक अद्वितीय सत् ही था", "ब्रह्म सत्य ज्ञान और अनन्त रूप है", "वह निष्कल निष्क्रिय और शान्त है", "यह आत्मा ही ब्रह्म है", "तू वही है", इत्यादि वाक्य जन्य ज्ञान से अविद्या निवृत्त होती है।

वाक्यार्थज्ञानोपयोगीनि च श्रवणमनननिदिध्यासनानि, श्रवणं नाम—वेदान्तवाक्यानि आत्मैकत्वविद्याप्रतिपादकानि इति तत्त्वदर्शिन आचार्याद् न्याययुक्तार्थग्रहणम् । एवं आचार्योपदिष्टस्यार्थस्य स्वात्मन्येवमेव युक्तमिति हेतुतः प्रतिष्ठापनं मननम् । एतद्विरोध्यनादिभेदवासनानिरसनायास्यैवार्थस्यानवरतभावना निदिध्यासनम् । श्रवणादिभिर्निरस्तसमस्तभेदवासनस्य

वाक्यार्थज्ञानमविद्यां निवर्त्तयतीत्येवंरूपस्य श्रवणस्यापेक्षितमेव पूर्ववृत्तं वक्तव्यम् । तच्च नित्यानित्यवस्तुविवेकः, शमदमादि-साधनसम्पत्, इहामुत्र फलभोगविरागः, मुमुक्षुत्वं चेत्येतत्साधन-चतुष्टयम् । अनेन विना जिज्ञासानुपपत्तेः, अर्थस्वभावादेवेदमेव पूर्ववृत्तमिति ज्ञायते ।

श्रवण, मनन और निदिध्यासन वाक्यार्थज्ञान के उपयोगी साधन है। तत्वदर्शी आचार्य से "समस्त वेदान्त वाक्य अभेद विद्या के प्रतिपादक है" ऐसे युक्तियुक्त वाक्यार्थ ग्रहण को श्रवण कहते है। ऐसे आचार्योपदिष्ट तथ्य को युक्ति सगत मानकर आत्मसात् करने के अभ्यास को मनन कहते है। एकत्व ज्ञान की विरोधी अनादि भेद बुद्धि और उसके संस्कारों को दूर करने के लिए आचार्योपदिष्ट तत्व की अनवरत भावना को निदिध्यासन कहते है। इस प्रकार श्रवण मनन आदि द्वारा जिसकी समस्त भेदवासना निरस्त हो चुकी है, (तत्वमसि आदि) वाक्य जनित ज्ञान उसी की अविद्या की निवृत्ति कर सकता है। इस प्रकार का श्रवण रूप कर्म ही वाक्यार्थ ज्ञान का पूववर्त्ती अपेक्षित कर्म है, ऐसा कहना चाहिए। नित्य अनित्य वस्तु का विवेक, शम दम आदि साधन, ऐहिक और पारलौकिक फल भोग से वैराग्य तथा मुमुक्षता ये चार साधन है, इनके बिना ब्रह्म जिज्ञासा हो नही सकती। श्रुतियो के वास्तविक अर्थ से ये चारो ही अपेक्षित पूर्ववृत्त ज्ञात होते है।

एतदुक्तं भवति—ब्रह्मस्वरूपाच्छादिकाऽविद्यामूलमपारमार्थिकं भेददर्शनमेव बन्धमूलम्। बन्धश्चापारमार्थिकः स च समूलोऽपा-रमार्थिकत्वादेव ज्ञानेनैव निवर्त्यते । निवर्त्तकं च ज्ञानं तत्त्व-मस्यादिवाक्यजन्यम् । तस्यैतस्य वाक्यजन्यस्य ज्ञानस्य स्वरूपो-त्पत्तौ कार्ये वा कर्मणो नोपयोगः, विविदिषायामेव तु कर्मणामुपयोगः स च पापमूलरजस्तमोनिवर्हणद्वारेण सत्त्वविवृद्ध्या भवतो-त्यमुपयोगमभिप्रेत्य "ब्राह्मणा विविदिषन्ति" इत्युक्तमिति । अतः कर्मज्ञानस्यानुपयोगादुक्तमेव साधनचतुष्टयं पूर्ववृत्तमिति वक्तव्यम् ।

कथन यह है कि ब्रह्म के स्वरूप को ढकने वाली अविद्या से प्रसूत असत्य भेद दर्शन ही (जीवों के) बन्धन का कारण है, वह बन्धन भी अवास्तविक है, और वह समूल अवास्तविक होने से ज्ञान से ही उसकी निवृत्ति हो जाती है। तत्त्वमसि आदि वाक्य जन्य ज्ञान ही उक्त बन्धन का निवारक है। इस प्रकार के वाक्य जन्य ज्ञान में कार्य या कर्म की कोई उपयोगिता नहीं है, विविदिषा में ही एक मात्र कर्मों की उपयोगिता है। वह विविदिषा, पाप के हेतु रज और तम गुणों की निवृत्ति तथा सत्त्व गुण की अत्यधिक वृद्धि में ही होती है। इसकी इस उपयोगिता के आशय से ही "ब्राह्मणाः विविदिषन्ति" ऐसा निर्देश किया गया है। इससे सिद्ध होता है कि ब्रह्मज्ञान में कर्मज्ञान की कोई उपोगिता नही है, पूर्वोक्त साधन चतुष्टय ही पूर्ववर्ती उपयोगी साधन हैं।

(लघु सिद्धान्त)—अत्रोच्यते—यदुक्तमविद्यानिवृत्तिरेव मोक्षः सा च ब्रह्मविज्ञानादेव भवति, इति। तदभ्युपगम्यते, अविद्यानिवृत्तये वेदान्तवाक्यैर्विधित्सितं ज्ञानं किंरूपमिति विवेचनीयम्, किं वाक्याद् वाक्यार्थज्ञानमात्रम्, उत तन्मूलमुपासनात्मकं ज्ञानम्? इति।

(प्रतिवाद) आपने जो यह कहा कि "अविद्या निवृत्ति ही मोक्ष है और वह ब्रह्मज्ञान से ही होती है", तो मैं पूछता हूँ कि अविद्या निवृत्ति के लिए वेदान्त वाक्यों के विधित्सित ज्ञान का रूप क्या है, यह विवेचन का विषय है। वह ज्ञान वाक्य जन्य वाक्यार्थ ज्ञान मात्र है अथवा वाक्यार्थ ज्ञान मूलक उपासना का बोधक है?

न तावद् वाक्यजन्यं ज्ञानं तस्य विधानमन्तरेणापि वाक्यादेव सिद्धेः, तावन्मात्रेणाविद्यानिवृत्त्यनुपलब्धेश्च। न च वाच्यम् भेदवासनायामनिरस्तायां वाक्यमविद्यानिवर्तकं ज्ञानं न जनयति, जातेऽपि सर्वस्य सहसैव भेदज्ञानानिवृत्तिः न दोषाय, चन्द्रैकत्वे ज्ञातेऽपि द्विचन्द्रज्ञानानिवृत्तिवत्। अनिवृत्तमपि छिन्नमूलत्वेन न बन्धाय भवति, इति।

वाक्य जन्य ज्ञान तो अविद्या निवृत्ति का कारण हो नहीं सकता,

ज्ञान के विधान के अतिरिक्त केवल वाक्य से तो उसकी सिद्धि हो नहीं सकती, केवल उतने होने मात्र से अविद्या निवृत्ति देखी भी नहीं जाती। ऐसा भी नहीं कह सकते कि भेदवासना के निवारण के बिना "तत्त्वमसि" आदि वाक्य अविद्या निवारक ज्ञानोत्पादक नहीं होते। क्योंकि चन्द्र एक है ऐसी जानकारी होते हुए भी दृष्टि दोष से दो चन्द्रों की जो भ्रान्ति होती है, वह निराधार ही तो है, उसका निराकरण तो होता नहीं, निराकृत न होने पर भी निर्मूल होने से उसका कोई महत्व भी नहीं है। उसी प्रकार भेद ज्ञान भी भ्रान्ति मूलक ही तो है, उसका कोई सत्य आधार तो है नही, फिर वह भेदज्ञान बन्धन का कारण भी नही हो सकता, उसका निराकरण सहसा न भी हो तो उसमें हानि ही क्या है? वाक्य-जन्य ज्ञान का कुछ असर तो होना ही चाहिए।

सत्यां सामग्र्यां ज्ञानानुत्पत्त्यनुपपत्तेः, सत्यामपि विपरीत-वासनायामाप्तोपदेशलिङ्गादिभिर्बाधकज्ञानोत्पत्तिदर्शनात्। सत्यपि वाक्यार्थज्ञाने अनादिवासनया मात्रया भेदज्ञानमनुवर्तत इति भवता न शक्यते वक्तुम्, भेदज्ञानसामग्र्या अपि वासनाया मिथ्यारूपत्वेन ज्ञानोत्पत्त्यैव निवृत्तत्वात्, ज्ञानोत्पत्तावपि मिथ्यारूपायास्तस्या अनिवृत्तौ निवर्त्तकान्तराभावात् कदाचिदपि नास्या वासनाया निवृत्तिः। वासनाकार्यं भेदज्ञानं छिन्नमूलमथ चानुवर्त्तत इति बालिशभाषितम्। द्विचन्द्रज्ञानादौ तु बाधकसन्निधावपि मिथ्याज्ञानहेतोः परमार्थ-तिमिरादिदोषस्य ज्ञानबाध्यत्वाभावेन अविनष्टत्वाद् मिथ्याज्ञान-निवृत्तिरविरुद्धा। प्रबलप्रमाणबाधितत्वेन भयादिकार्यं तु निवर्त्तते। अपिच भेदवासनानिरसनद्वारेण ज्ञानोत्पत्तिमभ्युपगच्छतां कदा-चिदपि ज्ञानोत्पत्तिः न सेत्स्यति। भेदवासनाया अनादिकालोप-चितत्वेनापरिमितत्वात् तद्विरोधिभावनायाश्चाल्पत्वादनया तन्नि-रासानुपपत्तेः।

प्रायः ज्ञानोत्पादक साधनों के रहते हुए भी ज्ञानोत्पत्ति नही होती तथा विरुद्ध संस्कारों के होते हुए भी महात्माओ के उपदेश और आक-स्मिक घटनाओं से सहसा ज्ञानोत्पत्ति होती देखी जाती है।

वाक्यार्थ ज्ञान के होने पर भी अनादि वासना के कारण थोड़ी बहुत भेद दृष्टि बनी ही रहती है, ऐसा तो आप कह नहीं सकते, क्योंकि आपके मत से भेदवासना मिथ्या है अतः भेदोत्पादक साधनों के रहते हुए भी ज्ञानोत्पत्ति से ही उस मिथ्यावासना की निवृत्ति हो जानी चाहिये। यदि ज्ञानोत्पत्ति होने पर भी मिथ्यारूप उस वासना की निवृत्ति नहीं होती तो, उसकी निवृत्ति का ज्ञान के अतिरिक्त कोई दूसरा उपाय तो है नहीं, फिर वासना की निवृत्ति कभी भी सम्भव नहीं है। भेद दृष्टि की मूल कारण वासना नष्ट हो जाय और उसका कार्य भेदज्ञान फिर भी बना रहे, ऐसा तो मूर्ख ही कह सकता है। "चन्द्र दो हैं" ऐसा जो ज्ञान होता है उसमें भ्रम के निवारक यथार्थ ज्ञान के होते हुए भी, भ्रम के यथार्थ कारण तिमिर आदि दोष (नेत्र रोग विशेष) की स्थिति रहती है, जिसे यथार्थ स्वानुभूत ज्ञान से दूर नहीं किया जा सकता, इस स्थिति में दो चन्द्र संबंधी मिथ्या भ्रान्ति होती भी है तो कोई विरुद्ध बात नहीं है; किसी प्रामाणिक व्यक्ति के द्वारा दो चन्द्र देखने वाले व्यक्ति की भ्रान्ति निवारण की जाती है तो उसके भ्रम जन्य भय आदि की निवृत्ति हो जाती है। उसी प्रकार वाक्यार्थ जन्य ज्ञान से भेदवासना की निवृत्ति हो जाने पर भेददृष्टि की भी निवृत्ति हो जानी चाहिये, यदि भेददृष्टि बनी रहती है तो निश्चित ही भेदवासना भी है, वह वाक्यार्थ जन्य ज्ञान से कदापि निवृत्त नहीं होती ऐसा मानना पड़ेगा।

भेदवासना के निराकरण से ही ज्ञानोत्पत्ति को चाहने वालों की भी ज्ञानोत्पत्ति कभी हो नहीं सकती, क्योंकि भेदवासना अनन्त काल-संचित होने से अपरिमित है तथा उसके विपरीत भावना (ज्ञानवासना) बहुत ही अल्प है, उसके द्वारा प्रबल भेदवासना का निराकरण सम्भव नहीं है।

अतो वाक्यार्थज्ञानादन्यदेव ध्यानोपासनादिशब्दवाच्यं ज्ञानं वेदान्तवाक्यैर्विधित्सितम्। तथा च श्रुतयः—"विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत", "अनुविद्य विजानाति", "ओमित्येवात्मानं ध्यायथ", "निचाय्य तं मृत्युमुखात् प्रमुच्यते", "आत्मानमेव लोकमुपासीत", "आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" "सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः"—इत्येवमाद्याः।

इससे यह निश्चित होता है कि वाक्यार्थ ज्ञान से भिन्न ध्यान, उपासना आदि शब्दगम्य ज्ञान ही वेदांत वाक्यों का अभीप्सित तात्पर्य है, ऐसा ही "अच्छी तरह जानकर प्रज्ञा (ध्यान) करनी चाहिये", "भली भांति (वेदांतवाक्यों की) पर्यालोचना करके जानने की चेष्टा करो", "आत्मा का प्रणव रूप से चिन्तन करो", "उपासक उस परमात्मा को देखकर मृत्यु मुख से मुक्त होते है", "आत्मा की ही उपासना करो" "आत्मा ही श्रोतव्य, द्रष्टव्य, मंतव्य और निदिध्यासितव्य है", "वही अन्वेष्टव्य और जिज्ञास्य है"—इत्यादि श्रुतिवाक्यों का भी तात्पर्य है।

अत्र निदिध्यासितव्य इत्यादिनैकार्थ्यात् "अनुविद्य विजानाति", "विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत" इत्येवमादिभिर्वाक्यार्थज्ञानस्य ध्यानोपकारकत्वात् "अनुविद्य" "विज्ञाय" इत्यनूद्य "प्रज्ञां कुर्वीत" "विजानाति" इति ध्यानं विधीयते। "श्रोतव्य" इति चानुवादः, स्वाध्यायस्यार्थपरत्वेनाधीतवेदः पुरुषः प्रयोजनवदर्थावबोधित्वदर्शनात्तन्निर्णयाय स्वयमेव श्रवणे प्रवर्त्तते इति श्रवणस्य प्राप्तत्वात्। श्रवणप्रतिष्ठार्थत्वान्मननस्य "मन्तव्य" इति चानुवादः, तस्माद् ध्यानमेव विधीयते। वक्ष्यति च "आवृत्तिरसकृदुपदेशात्" इति।

उपर्युक्त श्रुति वाक्यो में निदिध्यासन आदि सभी उपाय एक ही अर्थ के द्योतक हैं। "अनुविद्य विजानाति", "विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत" इत्यादि वाक्यों से वाक्यार्थ ज्ञान की ध्यानोपकारकता ही बतलाई गई है, "प्रज्ञा कुर्वीत", "विजानाति" आदि शब्दों में ध्यान का ही विधान बतलाया गया है। "श्रोतव्य" शब्द भी ध्यान का अनुवाद है, अधीत अक्षर राशि का अर्थावबोध ही स्वाध्याय का सही तात्पर्य है, वेदों को पढ़ा हुआ व्यक्ति शब्द के प्रयोजनीय अर्थ को जानकर उसके निर्णय के लिए स्वयं ही श्रवण के लिए प्रस्तुत होता है। इस प्रकार श्रवण भी ध्यान का ही एक प्रकार सिद्ध होता है। श्रवण को स्थिर करना ही मनन का प्रयोजन है, "मनन" 'श्रवण" अपेक्षित उपाय है, इसलिए "मन्तव्य" को भी ध्यान का ही अनुवाद मानना चाहिये, इससे भी ध्यान का ही विधान किया गया है। "आवृत्तिरसकृदुपदेशात्" सूत्र में सूत्रकार भी उक्त तथ्य का प्रतिपादन करते है।

तदिदमपवर्गोपायतया विधित्सितं वेदनमुपासनम् इत्यवगम्यते। विद्युपास्योर्व्यतिकरेणोपक्रमोपसंहारदर्शनात् "मनो ब्रह्मेत्युपासीत' इत्यत्र "भाति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवं वेद", "न स वेद अकृत्स्नो ह्येष आत्मेत्येवोपासीत", "यस्तद् वेद यत्स वेद स मयैतदुक्तः" इत्यत्र "अनु म एतां भगवो देवतां शाधि यां देवतामुपास्से" इति।

मोक्ष के उपाय के रूप में वेदन और उपासना शब्द का श्रुति वाक्यों में आगे पीछे उलट पलट कर विधान वर्णन किया गया है। जैसे—"मन की ब्रह्म रूप से उपासना करनी चाहिए", "जो उसे इस प्रकार जानता है वह कीर्ति (पराक्रम जन्य प्रतिष्ठा), यश (दान जन्य प्रतिष्ठा) और ब्रह्मतेज से उद्दीप्त होकर सबको अभिभूत करता है", "वे पूर्ण आत्मा को नहीं जानते. ये सब तो उसके अंशमात्र हैं", "आत्मा इन अंशों में व्याप्त है, ऐसा मानकर ही उपासना करनी चाहिए", "जो उसे जानता है वही वास्तविक ज्ञाता है", "भगवन्! आप जिस देवता की उपासना करते हैं मुझे उन्हीं का उपदेश दें।" इत्यादि।

ध्यानं च तैलधारावदविच्छिन्नस्मृतिसंतानरूपम्। "ध्रुवा स्मृतिः, स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः" इति ध्रुवायाः स्मृतेरपवर्गोपायत्वश्रवणात्। सा च स्मृतिः दर्शनसमाकारा "भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥" इत्यनेनैकार्थ्यात्। एवं सति "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः" इत्यनेन निदिध्यासनस्य दर्शनसमानाकारता विधीयते। भवति च स्मृतेर्भावनाप्रकर्षाद् दर्शनरूपता। वाक्यकारेणैतत्सर्वं प्रपञ्चितम् "वेदनमुपासनं स्यात् तद्विषये श्रवणात्" इति। सर्वासूपनिषत्सु मोक्षसाधनतया विहितं वेदनमुपासनमित्युक्तम् "सकृत् प्रत्ययं कुर्यात् शब्दार्थस्य कृतत्वात्प्रयाजादिवत्" इति पूर्वपक्षं कृत्वा "सिद्धन्तूपासनशब्दात्" इति वेदनम् असकृदावृत्तं मोक्षसाधनमिति

निर्णीतम्। "उपासनं स्याद् ध्रुवानुस्मृतिदर्शनान्निर्वचनाच्च" इति। तस्यैव वेदनस्योपासनरूपस्यासकृदावृत्तस्य ध्रुवानुस्मृतित्वमुपवर्णितम्।

तैल धारा की तरह अखंड प्रवाहमयी स्मृति परम्परा ही ध्यान है। "स्मृति के आश्रय से हृदयस्थ समस्त ग्रन्थियाँ भंग हो जाती हैं।" इस वाक्य में ध्रुवा स्मृति को मोक्ष का उपाय बतलाया गया है। वह स्मृति आत्मदर्शन के समान रूप वाली है, "उस परावर सर्वोत्तम पुरुष का दर्शन करके हृदयस्थ ग्रन्थियों का मोचन, संशयों का उच्छेद तथा कर्मों का क्षय हो जाता है" इस वाक्य से स्मृति और दर्शन की एकार्थता सिद्ध होती है। इसी प्रकार "आत्मा वा अरे" इत्यादि वाक्य से निदिध्यासन की दर्शन रूपता दिखलायी गयी है। स्मृति भावना के प्रकर्ष से इसकी दर्शन रूपता होती है। वाक्यकार ने इस सबका विस्तृत विवेचन इस प्रकार किया है—"वेदन ही उपासना है ऐसा श्रुति से ही ज्ञात होता है।" सभी उपनिषदों में मोक्ष के उपाय रूप से विहित "वेदन" को ही "उपासना" रूप बतलाया गया है। प्रयाजादि याग की तरह ज्ञानानुशीलन भी एक बार करना चाहिए" इस वाक्य को पूर्वपक्ष के रूप में उद्धृत करके "सिद्धन्तूपासनशब्दात्" इस सूत्र से "वेदन" की प्रवाहमयी आवृत्ति का मोक्ष साधन के रूप में निर्णय किया गया है। तथा "उपासनं स्याद् ध्रुवानुस्मृतिर्दर्शनान्निर्वचनाच्च" इस सूत्र से उस उपासना रूप वेदन की प्रवाहमयी आवृत्ति को ध्रुवा स्मृति बतलाया गया है।

सेयं स्मृतिर्दर्शनरूपा प्रतिपादिता, दर्शनरूपता च प्रत्यक्षतापत्तिः। एवं प्रत्यक्षतापन्नामपवर्गसाधनभूतां स्मृतिं विशिनष्टि—"नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन। यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्॥" इति। अनेन केवलश्रवणमनननिदिध्यासनानामात्मप्राप्त्यनुपायत्वमुक्त्वा "यमेवैष आत्मा वृणुते तेनैव लभ्यः" इत्युक्तम्।

उक्त स्मृति की दर्शन रूपता का प्रतिपादन किया गया है, दर्शन रूपता को ही साक्षात्कार कहते है। ऐसी साक्षात्कार रूपता को प्राप्त

मोक्ष की साधन रूपा स्मृति का विश्लेषण श्रुति में इस प्रकार करते हैं— "इस आत्मा को प्रवचन, मेधा या अधिक शास्त्र ज्ञान से नहीं प्राप्त कर सकते, यह आत्मा ही जिसको वरण करता है, उसे ही वह प्राप्त होता है, उसके समक्ष अपना रूप प्रकट कर देता है।" इस वाक्य से केवल श्रवण मनन निदिध्यासन को आत्मप्राप्ति में असमर्थ बतला कर "वही जिसे वरण करता है उसके समक्ष प्रकट होता है" ऐसी साक्षात्कार रूपा स्मृति का वर्णन किया गया है।

प्रियतम एव वरणीयो भवति, यस्यायं निरतिशयं प्रियः स एवास्य प्रियतमो भवति, यथायं प्रियतमात्मानं प्राप्नोति तथा स्वयमेव भगवान् प्रयतत इति भगवतैवोक्तम्—"तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्। ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥" इति। "प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः।" इति च। अतः साक्षात्काररूपा स्मृतिः स्मर्यमाणात्यर्थप्रियत्वेन स्वयमप्यत्यर्थं प्रिया यस्य स एव परेणात्मना वरणीयो भवतीति तेनैव लभ्यते परमात्मेत्युक्तं भवति; एवंरूपा ध्रुवानुस्मृतिरेव भक्तिशब्देनाभिधीयते। उपासनपर्यायत्वाद् भक्तिशब्दस्य। अत एव श्रुतिस्मृभिरेवमभिधीयते "तमेव विदित्वातिमृत्युमेति", "तमेवं विद्वानमृत इह भवति", "नान्यः पन्था अयनाय विद्यते", "नाहं वेदैर्नतपसा न दानेन न चेज्यया। शक्य एवं विधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा॥ भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवं विधोऽर्जुन। ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप॥", "पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया॥" इति।

प्रियतम व्यक्ति ही वरणीय होता है, जिस व्यक्ति के ये प्रभु अत्यन्त प्रिय होते हैं वही उनका प्रियतम होता है। जिस प्रकार यह प्रियतम उन्हें प्राप्त होता है वैसा प्रयास भगवान स्वयं ही करते हैं। ऐसा भगवान का ही कथन है—"प्रीतिपूर्वक निरन्तर भजन करने वालों को मैं ऐसी

बुद्धि प्रदान करता हूँ जिससे वे मुझे प्राप्त कर सकें।" "ज्ञानी भक्तों का मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और वे मेरे प्रियतम हैं।"

अत्यन्त प्रिय प्रभु ही स्वयं स्मृतिमार्ग में प्रकट होकर साक्षात्कार के अनुरूप अपनी प्रिय स्मृति प्रदान करते हैं, जिससे उपासक परमात्मा का वरणीय होता है, उसी से वह परमात्मा को प्राप्त होता है। इस प्रकार की ध्रुवानुस्मृति ही भक्ति शब्द से कही गयी है, उपासना शब्द भक्ति शब्द का पर्यायवाची है, इससे भी उक्त बात की पुष्टि होती है। श्रुति-स्मृतियों से भी ऐसा ही ज्ञात होता है, जैसे—"उसको इस प्रकार जानकर मृत्यु का अतिक्रमण करता है", "उसको जानकर मुक्त हो जाता है", "इसको जानने का कोई दूसरा मार्ग नहीं है", "जैसा तुमने मुझे देखा है, मेरे इस रूप को वेदाध्ययन, तप, दान, यज्ञ किसी भी साधन से नहीं देखा जा सकता", "मेरी अनन्य भक्ति द्वारा ही मेरे इस रूप को देखा और समझा जा सकता है", "केवल भक्ति द्वारा ही पर पुरुष को प्राप्त किया जा सकता है।" इत्यादि।

एवंरूपाया ध्रुवानुस्मृतेः साधनानि यज्ञादीनि कर्माणि इति "यज्ञादिश्रुतेरश्ववत्" इत्यभिधास्यते। यद्यपि विविदिषन्तीति यज्ञादयो विविदिषोत्पत्तौ विनियुज्यन्ते, तथापि तस्यैव वेदनस्य ध्यानरूपस्याहरहरनुष्ठीयमानस्याभ्यासाधेयातिशयस्याप्रयाणादनुवर्तमानस्य ब्रह्मप्राप्तिसाधनत्वात्तदुत्पत्तये सर्वाण्याश्रमकर्माणि यावज्जीवमनुष्ठेयानि। वक्ष्यति च "आ प्रयाणात्तत्रापि हि दृष्टम्"। "अग्निहोत्रादि तु तत्कार्यायैव तद्दर्शनात्।" "सहकारित्वेन च" इत्यादिषु। वाक्यकारश्च ध्रुवानुस्मृतेर्विवेकादिभ्य एव निष्पत्तिमाह—"तल्लब्धिर्विवेकविमोकाभ्यासक्रियाकल्याणानवसादानुद्धर्षेभ्यः संभवान्निर्वचनाच्च" इति।

इस प्रकार ध्रुवा स्मृति के साधनरूप यज्ञादि कर्म हैं, ऐसा "यज्ञादिश्रुतेरश्ववत्" सूत्र में बतलावेंगे। यद्यपि "विविदिषन्ति" इस श्रुति में यज्ञादि कर्मों को विविदिषोत्पत्ति में साधन बतलाया गया है, तथापि नित्य निरन्तर मरणपर्यन्त अनुष्ठीयमान, अभ्यास द्वारा उत्कृष्टता को प्राप्त ध्यान-

रूप वेदन ही ब्रह्मप्राप्ति का साधन है, उसी की उत्पत्ति के लिए आश्रम विहित समस्त कर्मों का जीवन पर्यन्त अनुष्ठान करना चाहिए। सूत्रकार भी इसी बात का समर्थन "अप्रयाणात्तत्रापि हि दृष्टम्", "अग्निहोत्रादि तु तत्कार्यायैव तद्दर्शनात्", "सहकारित्वेन च" इत्यादि सूत्रों में करते हैं। वाक्यकार विवेक आदि से ध्रुवानुस्मृति की निष्पत्ति कहते हैं—"विवेक, विमोक, अभ्यास, क्रिया, कल्याण, अनवसाद और अनुद्धर्ष से ध्रुवानुस्मृति होती है, शास्त्र भी इसका समर्थन करते हैं।"

विवेकादीनां स्वरूपंचाह—"जात्याश्रयनिमित्तादुष्टादन्नात् कायशुद्धिर्विवेकः" इति। तत्र निर्वचनम्—"आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः" इति। "विमोकः कामानभिष्वङ्गः" इति। "शान्त उपासीत" इति निर्वचनम्, "आरम्भणः संशीलनं पुनः पुनरभ्यासः" इति। निर्वचनं च स्मार्त्तमुदाहृतं भाष्यकारेण—"सदा तद्भावभावितः" इति। "पञ्चमहायज्ञाद्यनुष्ठानं शक्तितः क्रिया" इति। निर्वचनं "क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः", "तमे तंवेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेम तपसाऽनाशकेन" इति च। "सत्यार्जवदयादानाहिंसानभिध्याः कल्याणानि" इति। निर्वचनं "सत्येन लभ्यः", "तेषामेवैष विरजो ब्रह्मलोकः" इत्यादि। "देशकालवैगुण्याच्छोकवस्त्वाद्यनुस्मृतेश्च तज्जं दैन्यमभास्वरत्वं मनसोऽवसादः" इति। "तद्विपर्ययोऽनवसादः"। निर्वचनं "नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः" इति। "तद्विपर्ययजा तुष्टिरुद्धर्षः" इति। तद्विपर्ययोऽनुद्धर्षः, अतिसंतोषश्च विरोधीत्यर्थः। निर्वचनमपि "शान्तो दान्तः" इति। एवं नियमयुक्तस्याश्रमविहितकर्मानुष्ठानेनैव विद्यानिष्पत्तिरित्युक्तं भवति।

विवेक आदि का स्वरूप भी बतलाते हैं— जाति आश्रय निमित्त दोषों से रहित अन्न से शरीर की रक्षा करना विवेक है। इस पर शास्त्र-प्रमाण जैसे—"आहार शुद्धि से अन्तःकरण शुद्ध होता है, अन्तःकरण की शुद्धि से ही ध्रुवा स्मृति होती है।" काम्य विषयों में आसक्ति न होना

विमोक है। इस पर शास्त्र प्रमाण जैसे—"शान्त चित्त से उपासना करनी चाहिए।" अवलम्बनपूर्वक शुभ विषय के पुनः पुनः अनुशीलन को अभ्यास कहते हैं। शास्त्र प्रमाण में भाष्यकार इसमें स्मृतिवाक्य प्रस्तुत करते हैं—"सदा उस परमात्मभाव में निमग्न रहता है।" यथाशक्ति पंचयज्ञों के अनुष्ठान को क्रिया कहते हैं। शास्त्र प्रमाण जैसे—"ब्राह्मण वेदाध्ययन यज्ञ, दान, तप द्वारा भोगतृष्णारहित होकर परमात्मा को जानने की इच्छा करते है।" सत्य, सरलता, दया, दान, अहिंसा और अनभिध्या (सफल चिन्ता) को कल्याण कहते है। शास्त्र प्रमाण—"इस विरज (निर्दोष) ब्रह्मलोक को सत्य से प्राप्त करते हैं।" देश काल आदि की विपरीतता तथा शोक के कारणों की स्मृति से होने वाली मन की दुर्बलता और अप्रसन्नता को अवसाद कहते है, इनका न होना अनवसाद है। शास्त्र प्रमाण—"यह आत्मा बलहीन (दुर्बल मन वाले) व्यवित से लभ्य नही है।" उक्त अवसाद से होने वाले असंतोष को उद्धर्ष कहते हैं, उसकी विपरीत स्थिति है। "शान्तदान्त' आदि वाक्य इसका उदाहरण है। इन नियमो से युक्त आश्रम विहित कर्मानुष्ठान से ही विद्या की निष्पत्ति हो सकती है; यही वक्तव्य का साराश है।

तथाच श्रुत्यन्तरम् "विद्यां चाविद्यां च यस्तद् वेदोभयं सह। अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते॥" इति। अत्राविद्याशब्दाभिहितं वर्णाश्रमविहितं कर्म। अविद्यया कर्मणा, मृत्युं ज्ञानोत्पत्ति-विरोधि प्राचीनं कर्म, तीर्त्वा अपोह्य, विद्यया ज्ञानेन, अमृतं ब्रह्म, अश्नुते प्राप्नोति इत्यर्थः। मृत्युतरणोपायतया प्रतीता अविद्या विद्येतराद् विहितं कर्मैव, यथोक्तम्—"इयाज सोऽपि सुबहून् यज्ञान् ज्ञानव्यपाश्रयः। ब्रह्मविद्यामधिष्ठाय ततुं मृत्युमविद्यया॥" इति।

एक दूसरी श्रुति भी उक्त तथ्य की पुष्टि करती है—"जो प्रसिद्ध विद्या और अविद्या दोनों को जानते हैं, वे अविद्या से मृत्यु का अतिक्रमण करके विद्या से अमृतत्व प्राप्त करते हैं।" यहाँ अविद्या शब्द का अर्थ वर्णाश्रम विहित कर्म है। अर्थात् अविद्या—वर्णाश्रम कर्म द्वारा ज्ञानोत्पत्ति विरोधी प्रारब्ध कर्म से,—छुटकारा पाकर, विद्या—ज्ञान

ज्ञान से, अमृत – ब्रह्म को प्राप्त करते है। मृत्युतरण के उपायरूप से प्रतीत अविद्या का तात्पर्य विद्याभिन्न वर्णाश्रम विहित कर्म ही है। जैसा कि कहा गया—"ज्ञान संपन्न उन्होंने भी ब्रह्मबुद्धि अवलंबनपूर्वक, अविद्या द्वारा ज्ञानविरोधी प्राक्तन कर्मों के निवारणार्थ बहुत से यज्ञों का अनुष्ठान किया।"

ज्ञानविरोधि च कर्म पुण्यपापरूपम् । ब्रह्मज्ञानोत्पत्तिविरोधित्वेनानिष्टफलतयोभयोरपि पापशब्दाभिधेयत्वम् । अस्य च ज्ञानविरोधित्वं ज्ञानोत्पत्तिहेतुभूतशुद्धसत्त्वविरोधिरजस्तमोविवृद्धिद्वारेण । पापस्य च ज्ञानोदयविरोधित्वम्—"एष एवासाधु कर्म कारयति तं यमधो निनीषति" इति श्रुत्या अवगम्यते । रजस्तमसोर्यथार्थज्ञानावरणत्वं सत्त्वस्य च यथार्थज्ञानहेतुत्वं भगवतैव प्रतिपादितं सत्त्वात्संजायते ज्ञानमित्यादिना । अतश्च ज्ञानोत्पत्तये पापं कर्म निरसनीयम्, तन्निरसनञ्च अनभिसंहितफलेनानुष्ठितेन धर्मेण । तथा च श्रुतिः—"धर्मेण पापमपनुदति" इति । तदेवं ब्रह्मप्राप्तिसाधनं ज्ञानं सर्वाश्रमकर्मापेक्षम्, अतो अपेक्षितकर्मस्वरूपज्ञानं केवलकर्मणामल्पास्थिरफलत्व ज्ञानं च कर्ममीमांसावसेयम् इति, सैवापेक्षिता ब्रह्मजिज्ञासायाः पूर्ववृत्ता वक्तव्या ।

पुण्य-पाप रूप कर्म ही ज्ञान विरोधी हैं। ज्ञानोत्पत्ति के विरोधी होने से दोनों ही अनिष्ट फलदायी हैं, इसलिए दोनों का ही पाप शब्द से कथन किया गया है। चित्तशुद्धि से ज्ञानोत्पत्ति होती है, रज और तम गुणों की वृद्धि करने वाला पाप उसके प्रतिकूल है, इसलिए वह ज्ञानविरोधी है। पाप की ज्ञानोदय-विरोधिता "जिसको अधोगति देना चाहते हैं उससे भगवान ही पाप कराते हैं।" इस श्रुति से ज्ञात होती है। रज और तम की ज्ञानावरणता तथा सत्त्व की यथार्थ ज्ञानहेतुता का प्रतिपादन स्वयं भगवान ने ही "सत्वात्संजायतेज्ञानम्" इत्यादि से किया है, इसलिए ज्ञानोदय के लिए पाप कर्म का निरसन आवश्यक है, उसका निराकरण अनासक्त फल वाले कर्मानुष्ठान से ही हो सकता है। जैसा कि श्रुति वाक्य भी है—"धर्म से पापों का निरसन होता है।"

"इस प्रकार ब्रह्म प्राप्ति का साधन ज्ञान आश्रमकर्म अपेक्षित सिद्ध होता है। अपेक्षित कर्म का स्वरूप तथा उपासना रहित कर्मों की अल्प अस्थिर फलता का स्वरूपज्ञान कर्ममीमासा से ही होता है, इसीलिए कर्ममीमासा को ब्रह्ममीमासा का पूर्वापेक्षित कहा गया है।

अपिच नित्यानित्यवस्तुविवेकादयश्च मीमांसाश्रवणमन्तरेण न संपत्स्यते, फलकरणेतिकर्त्तव्यताधिकारिविशेषनिश्चयादृते कर्मस्वरूपतत्फलतास्थिरत्वास्थिरत्वात्मनित्यत्वादीनां दुरवबोधत्वात्। एषां साधनत्वं च विनियोगावसेयम्, विनियोगश्च श्रुतिलिङ्गादिभ्यः, स च तार्तीयः। उद्गीथाद्युपासनानि कर्मसमृद्ध्यर्थान्यपि ब्रह्मदृष्टिरूपाणि, ब्रह्मज्ञानापेक्षाणीति इहैव चिन्तनीयानि। तान्यपि कर्माणि अनभिसंहितफलानि ब्रह्मविद्योत्पादकानीति तद्साद्गुण्यापादनान्येतानि सुतरामिहैव संगतानि। तेषां च कर्मस्वरूपाधिगमापेक्षा सर्वसम्मता।

नित्य अनित्य वस्तु का विवेक आदि कर्ममीमासा के सुने बिना हो नही सकता, स्थिरतर फल साधन विषयक कर्त्तव्यता के लिए विशेष निश्चय आवश्यक है, उसके बिना कर्म का स्वरूप तथा उसके फल की स्थिरता और अस्थिरता रूपी नित्यता और अनित्यता जानना कठिन होगा। शम आदि ब्रह्मज्ञान के साधनों के विनियोग का ज्ञान भी इसी कर्ममीमांसा से हो सकता है, कर्ममीमांसा शास्त्र के तृतीय अध्याय में वर्णित श्रुतिलिंग आदि के आधार पर ही विनियोग का ज्ञान होता है। उद्गीथ आदि उपासनाएँ कर्मसमृद्धि की द्योतिका होते हुए भी ब्रह्मदृष्ट रूप होने से ब्रह्मज्ञान में अपेक्षित हैं, इसका विचार भी कर्ममीमांसा में ही किया गया है। वे कर्म भी निष्काम भाव से अनुष्ठित होने पर ब्रह्मविद्योत्पादक होते है, उद्गीथ आदि उपासनाएँ उन निष्काम कर्मों में उत्कर्ष प्रदान करती हैं, इसलिए उन सबकी इस ब्रह्म मीमांसा में संगति है तथा उन उद्गीथ आदि की कर्मसापेक्षता भी सर्वसम्मत सिद्ध होती है।

(महापूर्वपक्षः)—यदप्याहुः—अशेषविशेषप्रत्यनीकचिन्मात्रं ब्रह्मैव परमार्थः, तदतिरेकिनानाविधज्ञातृज्ञेयतत्कृतज्ञानभेदादि सर्वं

तस्मिन्नेव परिकल्पितं मिथ्याभूतम्—"सदेव सौम्येदमग्र आसोदेकमेवाद्वितीयम्", "अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते", "यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादं नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद् भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः", "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म", "निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्", "यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः । अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्", "न दृष्टेर्द्रष्टारंपश्येः न मतेर्मन्तारं मन्वीथाः", "आनन्दो ब्रह्म", "इदं सर्वं यदयमात्मा", "नेह नानास्ति किंचन", "मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति", "यत्र हि द्वैतम् इव भवति, तदितर इतरं पश्यति यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत्केन कं पश्येत्तत्केन कं विजानीयात्", "वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्", "यदा हि एवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते अथ तस्य भयं भवति", "न स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्गं सर्वत्र हि", "मायामात्रं तु कात्स्र्न्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात्", "प्रत्यस्तमितभेदं यत् सत्तामात्रमगोचरम् । वचसामात्म संवेद्यं तज्ज्ञानं ब्रह्म संज्ञितम्॥", "ज्ञानस्वरूपमत्यन्तनिर्मलं परमार्थतः । तमेवार्थस्वरूपेण भ्रान्तिदर्शनतः स्थितम्॥", "परमार्थस्त्वमेवैको नान्योऽस्ति जगतः पते ।", "यदेतद् दृश्यते मूर्त्तमेतज्ज्ञानात्मनस्तव । भ्रान्तिज्ञानेन पश्यन्ति जगद्रूपमयोगिनः ॥", "ज्ञानस्वरूपमखिलं जगदेतदबुद्धयः । अर्थस्वरूपं पश्यन्तो भ्राम्यन्ते मोहसंप्लवे ॥", "ये तु ज्ञानविदः शुद्धचेतसस्तेऽखिलं जगत् । ज्ञानात्मकं प्रपश्यन्ति त्वद्रूपं परमेश्वर ॥", "तस्यात्मपरदेहेषु सतोऽप्येकमयं हि यत् । विज्ञानं परमार्थो हि द्वैतिनोऽतथ्यदर्शिनः ॥", "यद्यन्योऽस्ति परः कोऽपि मत्तः पार्थिवसत्तम । तदैषोऽहमयं चान्यो वक्तुमेवमपीष्यते॥", "वेणुरन्ध्रविभेदेन भेदः षड्जादिसंज्ञितः । अभेदव्यापिनो वायोस्तथासौ परमात्मनः ॥",

"सोऽहं स च त्वं स च सर्वमेतदात्मस्वरूपं त्यज भेदमोहम् । इतीरितस्तेन स राजवर्यः तत्याज भेदं परमार्थदृष्टिः ॥", "विभेदजनके ज्ञाने नाशमात्यन्तिकं गते । आत्मनो ब्रह्मणो भेदम असन्तं कः करिष्यति ॥", "अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।" "क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत ।" "न तदस्ति विना यत् स्यान्मया भूतं चराचरम् ।" इत्यादिभिर्वस्तुस्वरूपोपदेशपरैः शास्त्रैः निर्विशेषचिन्मात्रं ब्रह्मैव सत्यम् अन्यत् सर्वं मिथ्या इत्यभिधानात् ।

महापूर्वपक्ष (शाकरमत)—सर्व प्रकार के विशेष धर्मों से रहित चिन्मय ब्रह्म ही यथार्थ सत्य है । उसके अतिरिक्त ज्ञाता, ज्ञेय, ज्ञान आदि सभी प्रकार के भेद उस ब्रह्म मे ही कल्पित है, सभी मिथ्या है, जैसा कि "हे सौम्य ! यह सब कुछ पहले एक अद्वितीय सत् ही था,—बाद मे परा से अक्षर की अभिव्यक्ति हुई, जो बुद्धीन्द्रिय, अगम्य, कर्मेन्द्रिय, अगम्य, मूल कारण रहित, स्थूलता शुक्लता आदि अवस्थाओ से रहित, नेत्र-कान-हाथ पर रहित, नित्य, विभु, सूक्ष्म, अव्यय और भूतो के कारण है, उनको धीर लोग सभी ओर देखते है, ब्रह्म सत्य ज्ञान और अनन्त रूप है—वह अखड निष्क्रिय शात निर्दोष और निर्मल है, जो सोचते है कि हम ब्रह्म को नही जानते वस्तुत वे ही यथाथ ज्ञाता है, ब्रह्म विशेषज्ञो से अज्ञात तथा अज्ञो से ज्ञात है—वह दृष्टा की दृष्टि से दृष्ट तथा मनन करने वाले के मन से मननीय नही है—ब्रह्म आनन्द है,—यह सब कुछ आत्म-स्वरूप है, इसमे कोई विभिन्नता नही है,—जो इसमे भेद देखता है वह बार-बार मृत्यु को प्राप्त करता है,—जब द्वैत भाव में रहता है तभी दूसरे को दूसरा समझता है,—जब सब कुछ आत्मभूत है तो कौन किसे देखे, कौन किसे जाने ?—घट आदि केवल कहने मात्र के है, एक मात्र मिट्टी ही यथार्थ है,—जिस समय इसमें भेद देखता है तभी जीव भयभीत होता है, किसी भी उपाधि से परब्रह्म में दोनों बातें (सविशेषता और निर्विशेषता) नही हो सकती, सर्वत्र इसकी निर्विशेष, रूपता ही बतलाई गई है,—स्वप्न दृष्ट वस्तु मायामय है क्योंकि उनकी अभिव्यक्ति नही होती—भेद रहित, सत्ता मात्र, अगोचर, वाणी और अन्तः करण से संवेद्य ज्ञान ही ब्रह्म नाम वाला है—नितान्त निर्मल ज्ञानस्वरूप वह भ्रमवश विकारों

के रूप में परिलक्षित होता है,—हे प्रभु ! एक मात्र आप ही परमार्थ सत्य है, और सब कुछ मिथ्या है, आप ज्ञानमय है, यह दृश्यमान जगत आपकी ही मूर्ति है, योग रहित व्यक्ति ही इस जगत को आपसे भिन्न देखता है, जो शुद्ध चित्त ज्ञाता है वे समस्त जगत को ज्ञानात्मक आपका ही रूप मानते हैं जो अपने और दूसरे शरीरों मे एक मात्र सत् को देखते है, उनका ऐसा विज्ञान ही परमार्थ है,द्वैत वादी वस्तुतः तथ्य नही जानते। जैसे एक व्यापक वायु वेणुरंध्रो मे प्रवेश करके षड्ज आदि नाम प्राप्त करता है, वैसे ही परमात्मा में भी भेद है। यदि मुझसे कुछ भिन्न है तब तो यह मैं हूं; अमुक दूसरा है ऐसा कहा जा सकता है, जो मैं हूं, वही तुम हो, तुम्हीं सब कुछ हो, तब भेदभ्रम छोड़ दो—इस प्रकार कहने पर उस राजा ने परमार्थ दृष्टि से भेद भाव का त्याग कर दिया। भेद के मूल कारण भ्रमात्मक वृत्ति के नष्ट हो जाने पर, आत्मा और ब्रह्म के भेद की बात कौन कर सकता है। मैं ही समस्त भूतों का हृदयस्थ आत्मा हूं। मुझे सब क्षेत्रों में क्षेतज्ञ जानो। मेरे अतिरिक्त स्थावर जंगम कुछ भी नहीं है।" इत्यादि वस्तु स्वरूप का निरूपण करने वाले शास्त्र वचनों से 'निर्विशेष चिन्मात्र ब्रह्म ही सत्य है और सब कुछ मिथ्या है" ऐसा सिद्ध होता है।

मिथ्यात्वं नाम प्रतीयमानत्वपूर्वकयथावस्थितवस्तुज्ञान-निवर्त्यत्वम्। यथा रज्ज्वाद्यधिष्ठानसर्पादिः। दोषवशाद् हि तत्र तत्कल्पनम्। एवं चिन्मात्रवपुषि परे ब्रह्मणि दोषपरिकल्पितमिदं देवतिर्यङ्मनुष्यस्थावरादिभेदं सर्वं जगद् यथावस्थितब्रह्मस्वरूपा-वबोधबाध्यं मिथ्यारूपम्, दोषश्च स्वरूपतिरोधानविविधविचित्र-विक्षेपकरी सदसद्-अनिर्वचनीया अनाद्यविद्या एव। "अनृतेन हि प्रत्यूढाः, तेषां सत्यानां सतामनृतमपिधानम्।", "नासदासीन्नो सदासीत्तदानी तम आसीत्तमसा गूढमग्रे प्रकेतम्।", "मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।", "इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते।", "मम माया दुरत्या।", "अनादिमायया सुप्तो यदा जीवः प्रबुद्धयते।" इत्यादिभिर्निर्विशेषचिन्मात्रं ब्रह्मैवानाद्यविद्यया सदसदनिर्वाच्यया तिरोहितस्वरूपं स्वगतनानात्वं पश्यति इत्यवगम्यते।

जिसकी पहले प्रतीति हो, यथार्थता का ज्ञान हो जाने पर जिस प्रतीति की निवृत्ति हो जाये, उस प्रतीत ज्ञान को मिथ्या ज्ञान कहते हैं जैसे कि रज्जु आदि अधिकरणो में सर्प आदि की भ्रान्ति। भ्रान्ति-वश ही रज्जु आदि मे सर्प आदि की परिकल्पना होती है। इसी प्रकार चिन्मात्र शरीर ब्रह्म मे देव, पशु पक्षी, मनुष्य, स्थावर आदि भेद वाला सारा जगत परिकल्पित है, जिससे कि ब्रह्म के यथार्थ स्वरूप में बाधा रूप मिथ्यात्व की प्रतीति होती है। उक्त दोष की उत्पादिका, स्वरूप को तिरोहित करने वाली, विभिन्न विचित्र विक्षपकारणी, सत् असत् से विलक्षण, अकथ्य, अनादि अविद्या ही है। "अनृत (मिथ्या) द्वारा आवृत वह सत्य होते हुए भी असत्य है,—सृष्टि के पूर्व सत् असत् कुछ नही था एकमात्र तम (प्रकृति) ही था, उस समय प्रकेत (जीव—जगत) तम से ही आच्छादित था, माया को प्रकृति तथा मायावान् को महेश्वर जानो, ईश्वर माया द्वारा अनेक रूपों मे व्यक्त होता है, मेरी माया दुरति क्रमणीया है, अनादि माया से सुप्त जीव जब उठता है।" इत्यादि वाक्यों से ज्ञात होना है कि निर्बिशेष चिन्मात्र ब्रह्म ही स्वयं, सद् असद् अनिर्वचनीया माया से आवृत होकर अपने को भिन्न-भिन्न रूपों में देखता है।

यथोक्तम्—"ज्ञानस्वरूपो भगवान् यतोऽसावशेषमूर्तिर्न तु वस्तुभूतः। ततो हि शैलाब्धिधरादिभेदान् जानीहि विज्ञानविजृम्भितानि॥ यदा तु शुद्धं निजरूपि सर्बकर्मक्षये ज्ञानमपास्तदोषम्। तदा हि संकल्पतरोः फलानि भवन्ति नो वस्तुषु वस्तुभेदाः॥ तस्मान्न विज्ञानमृतेऽस्ति किंचित् क्वचित् कदाचिद् द्विज वस्तुजातम्। विज्ञानमेकं निजकर्मभेदविभिन्नचित्तैर्बहुधाऽभ्युपेतम्॥ ज्ञानं बिशुद्धं विमलं विशोकमशेषलोभादिनिरस्तसंगम्। एकं सदैकं परमः परेशः स वासुदेवो न यतोऽन्यदस्ति॥ सद्भाव एवं भवतो मयोक्तो ज्ञानं यथा सत्यमसत्यमन्यत्। एतत्तु यत् संव्यवहारभूतं तथापि चोक्तं भुवनाश्रितं ते॥" इति। अस्याश्चाविद्याया निर्विशेष-चिन्मात्रब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानेन निवृत्ति वदन्ति—"न पुनर्मृत्यवे

तदेकं पश्यति ।", "न मृत्यो मृत्युं पश्यति ।", "यदा हि एवैष एतस्मिन्न-दृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते अथ सोऽभयं गतो भवति ॥", "भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः । क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥", "ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति ।", "तमेवं विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्थाः ।" इत्याद्याः श्रुतयः । अत्र मृत्युशब्देन अविद्याऽभिधीयते । यथा सनत्सुजातवचनम्—"प्रमादं वै मृत्यु-महं ब्रवीमि सदाऽप्रमादममृतत्वं ब्रवीमि ।" इति । "सत्यं ज्ञान-मनन्त ब्रह्म ।" "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म ।" इत्यादि शोधकवाक्यावसेयनि-र्विशेषस्वरूपब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानं च । "अथ योऽन्यां देवतामुपास्तेऽ-न्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद ।", "अकृत्स्नो हि एष आत्म त्येवो-पासीत ।", 'तत्त्वमसि ।", "त्वं वा अहमस्मि भगवो देवते अहं वै त्व-मसि भगवो देवते तद् योऽहं सोऽसौ योऽसौ सोऽहमस्मि ।" इत्यादि-वाक्यसिद्धम् । वक्ष्यति च एतदेव—"आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च" इति । तथा च वाक्यकारः—"आत्मेत्येव तु गृह्णीयात् सर्वस्य तन्निष्पत्तेः ।" इति अनेन च ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानेन मिथ्यारूपस्य सकारणस्य बन्धस्य निवृत्तिर्युक्ता ।

जैसा कि—"यह अनंत भगवान ज्ञानस्वरूप हैं, वस्तुरूप नहीं, इसलिए शैल, सागर, पृथिवी आदि भेदों को विज्ञान का स्फुरण मात्र समझो । जब समस्त कर्म और उनके संस्कारों का क्षय हो जाता है तभी शुद्ध (अविद्या रहित), निर्दोष (रागादिशून्य), भेददृष्टि रहित ज्ञान का अपना वास्तविक रूप प्रकट होता है । इस निर्दुष्ट स्थिति में कल्पना रूपी वृक्ष के वस्तुभेदमय फल आदि का उद्गम नहीं होता । विज्ञान के अतिरिक्त कहीं भी कुछ नहीं है, अपने अपने कर्मों के भेद से जीव, एक विज्ञान को अनेक रूपों में देखते हैं । विशुद्ध, विमल, शोक लोभादि रहित, सदा एक, ज्ञान स्वरूप वे वासुदेव ही एक मात्र तथ्य हैं, उनके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है । ज्ञान ही सत्य है और सब कुछ असत्य है, ऐसे सत्य तथा जागतिक व्यवहारों का मैं तुम्हें उपदेश देता हूँ ।" इत्यादि श्रुतियों

से ज्ञात होता है कि निर्विशेष शुद्ध चिन्मय ब्रह्म और आत्मा के अभद ज्ञान मात्र से अविद्या की निवृत्ति होती है। "पुनः मृत्यु के लिए ही एकता नहीं देखता। अद्वैतदर्शी मृत्यु नहीं देखता। यह जीव जब अदृश्य, अनात्म्य (अशरीर), अकथ्य, निराधार ब्रह्म में निर्भय होकर प्रतिष्ठित हो जाता है तो उसकी अभय गति होती है। परावर ब्रह्म कोदेखकर हृदय की ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं, सारे संशय उच्छिन्न हो जाते हैं, समस्त कर्म क्षीण हो जाते हैं। ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म ही होता है। उन्हें इस प्रकार जानकर अमरता प्राप्त करता है। इसके अतिरिक्त कोई दूसरा मार्ग नहीं है।" इत्यादि श्रुतियाँ भी उक्त मत की पुष्टि करती हैं। यहाँ मृत्यु शब्द अविद्यावाची है। सनत्सुजात संहिता में भी--"प्रमाद को ही मैं मृत्यु मानता हूँ तथा प्रमाद के अभाव को अमरता। ब्रह्म विज्ञान और आनंद स्वरूप है" इत्यादि वाक्यों से निर्विशेष ब्रह्म के साथ आत्मा की एकता ज्ञात होती है। "यह दूसरा है, मैं दूसरा हूँ, ऐसा मानकर जो देवता की उपासना करता है, वह उपासना नहीं जानता, उपास्य को आत्मा मानकर उपासना करनी चाहिए। तुम वही हो। हे भगवन्, तुम मैं हूँ और मैं तुम हो; जो मैं हूँ सो वह है, जो वह है सो मैं हूँ।" इत्यादि वाक्यों से भी उक्त बात सिद्ध होती है। सूत्रकार भी "आत्मेति तूपगच्छन्ति" में ऐसा ही कहते हैं, तथा वाक्यकार--"ब्रह्म को आत्मा मानकर ग्रहण करो, क्योंकि सब कुछ उसी से निष्पन्न होता है" ऐसा कहकर उक्त बात की ही पुष्टि करते हैं। ऐसे ब्रह्मात्मैक्य विज्ञान से मिथ्या भ्रांति और उसकी मूल कारण अविद्या की निवृत्ति होती है, यह युक्तिसंगत बात है।

ननु च सकलभेदनिवृत्तिः प्रत्यक्षविरुद्धा, कथमिव शास्त्रजन्यविज्ञानेन क्रियते? कथं वा "रज्जुरेषा न सर्पः" इति ज्ञानेन प्रत्यक्षविरुद्धा सर्पनिवृत्तिः क्रियते? तत्र द्वयोः प्रत्यक्षयोर्विरोधः, इह तु प्रत्यक्षमूलस्य शास्त्रस्य प्रत्यक्षस्य चेति चेत्; तुल्ययोर्विरोधे वा कथं बाध्यबाधकभावः? पूर्वोत्तरयोर्दुष्टकारणजन्यत्वतदभावाभ्यामिति चेत्; शास्त्रप्रत्यक्षयोरपि समानमेतत्।

(प्रश्न) समस्त भेद की निवृत्ति तो कहीं भी नहीं देखी जाती, शास्त्र जन्य ज्ञान से उसे कैसे निवृत्त किया जा सकता है? (उत्तर)

"यह रज्जु है, सर्प नहीं" ऐसे ज्ञान से प्रत्यक्ष विरुद्धा सर्पभ्रांति की निवृत्ति कैसे कर लेते हो ? यदि कहो कि रज्जु और सर्प की प्रत्यक्षता में तो नितांत विपरीतता है और ब्रह्म-जगत संबंध में तो प्रत्यक्ष मूलक शास्त्र और प्रत्यक्ष का स्पष्ट विरोध है, (तो मैं पूछता हूँ कि) दोनों की तुलना और विरोध में तुमने बाध्य-बाधक भाव कैसे किया ? यदि कहो कि पूर्व बाध्यज्ञान दुष्ट कारणोत्पन्न होता है तथा पर बाधकज्ञान अदुष्ट कारण जन्य होता है (इस आधार पर हमने बाध्य-बाधक ज्ञान किया), (तो मैं कहता हूँ कि) अद्वैत बोधक शास्त्र तथा प्रत्यक्ष जागतिक भेद में भी उक्त सिद्धान्त लागू हो सकता है । दोनों एक सी ही बातें हैं ।

एतदुक्तं भवति—बाध्यबाधकभावे तुल्यत्वसापेक्षत्वनिरपेक्षत्वादि न कारणम्, ज्वालाभेदानुमानेन प्रत्यक्षोपमर्दायोगात् । तत्र हि ज्वालैक्यं प्रत्यक्षेणावगम्यते । एवं च सति द्वयोः प्रमाणयोः विरोधे यत् संभाव्यमानान्यथासिद्धिः, तद् बाध्यम्, अनन्यथासिद्धिमनवकाशमितरद् बाधकमिति सर्वत्र बाध्यबाधकभावनिर्णयः । तस्मादनादिनिधनाविच्छिन्नसंप्रदायासंभाव्यमानदोषगन्धानवकाशशास्त्रजन्यनिर्विशेषनित्यशुद्धमुक्तबुद्धस्वप्रकाशचिन्मात्रब्रह्मात्मभावावबोधेन संभाव्यमान दोषसावकाश प्रत्यक्षादि सिद्धविविधविकल्परूप बन्धनिवृत्तियुक्तैव । संभाव्यते च विविधविकल्पभेद प्रपञ्चग्राहिप्रत्यक्षस्य अनादिभेदवासनादिरूपाऽविद्याख्यो दोषः ।

बाध्य बाधक भाव में (प्रमाण की) तुल्यता, सापेक्षता या निरपेक्षता नहीं होती, जैसे कि—अग्नि शिखाओं के भेद से अग्नि की प्रत्यक्ष एकता में तो कोई बाधा नही होती; वहाँ एक ही ज्वाला की प्रत्यक्ष प्रतीति होती है उसी प्रकार दो भावों की विरोधस्थिति में संभाव्य अन्यथा सिद्धि (जो प्रकारान्तर से सिद्ध हो सके) ही बाध्य कहलाती है तथा अनन्यथा सिद्ध बाधक कहलाती है । यही बाध्य बाधक भाव का सामान्य सिद्धान्त है । इससे यह सिद्ध होता है कि उत्पत्ति विनाश रहित, अखंड, निर्दोष, प्रयोजनान्तर रहित, शास्त्रजन्य, निर्विशेष, नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्व

प्रकाश चिन्मात्र ब्रह्म में एकात्म भाव होने से, संभावित दोषों की प्रत्यक्ष सिद्ध भेद कल्पना रूपी बंधन की विमुक्ति शास्त्र सम्मत है। प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों में तो किसी न किसी प्रकार के दोष की संभावना रहती है, जिससे इस प्रपंचमय जगत् में विभिन्न भेदों की कल्पना; अनादि भेदवासना रूपी अविद्या नामक दोष से होती है।

ननु अनादिनिधिनाविच्छिन्नसंप्रदायतया निर्दोषस्यापि शास्त्रस्यज्योतिष्टोमेन स्वर्ग "कामो यजेत्" इत्येवमादेर्भेदावलंबिनो बाध्यत्वं प्रसज्येत्। सत्यम् पूर्वापरापच्छेदे पूर्वशास्त्रवत् मोक्षशास्त्रस्य निरवकाशत्वात्तेन बाध्यत एव। वेदांतवाक्येष्वपि सगुणब्रह्मोपासनपराणां शास्त्राणामयमेव न्यायः निर्गुणत्वात्परस्यब्रह्मणः।

(शंका) यदि उक्त बात मान लेंगे तो — उत्पत्ति विनाश रहित, परंपरित, निर्दोष "स्वर्ग की कामना से ज्योतिष्टोम यज्ञ करना चाहिए" इत्यादि भेदावलम्बी शास्त्र वाक्य भी बाधित हो जायगा। (समाधान) पूर्व और परवर्त्ती वाक्य में अपच्छेद (व्याघात) होने पर पूर्व शास्त्र दुर्बल माना जाता है, इसलिऐ निरवकाश मोक्ष शास्त्र द्वारा — भेदावलंबी पूर्व शास्त्र का बाधित होना स्वाभाविक है। वेदांत वाक्यों में भी सगुण ब्रह्मोपासना के उपदेशक शास्त्रों में भी यही नियम है, क्योंकि परब्रह्म निर्गुण है।

ननु च "स सर्वज्ञः सर्ववित्", "परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च", "सत्यकामः सत्य संकल्पः" इत्यादि ब्रह्मस्वरूपप्रतिपादनपराणां शास्त्राणां कथं बाध्यत्वं निर्गुणवाक्यसामर्थ्यादिति ब्रूमः। एतदुक्तं भवति–"अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घम्", "सत्यंज्ञानमनन्तं ब्रह्म," "निर्गुणं निरंजनम्" इत्यादिवाक्यानि निरस्तसमस्तविशेषकूटस्थनित्यचैतन्यं ब्रह्मेति प्रतिपादयन्ति, इतराणि च सगुणम्। उभयविधवाक्यानां विरोधे तेनैवापच्छेदन्यायेन निर्गुणवाक्यानां गुणापेक्षत्वेन परत्वाद् बलीयस्त्वमिति न किंचिदपहीनम्।

(शंका) "जो सर्वज्ञ और सर्वविद् है"—"पर की ज्ञान बल क्रिया आदि अनेक स्वाभाविक शक्तियाँ सुनी जाती हैं"— 'वह सत्यकाम और सत्यसंकल्प है" इत्यादि ब्रह्मस्वरूप प्रतिपादक शास्त्रों को बाध्य कैसे करोगे ? (उत्तर) निर्गुण विधायक वाक्यों के सामर्थ्य से। बात यह है— "ब्रह्म स्थूल महान् और दीर्घ नहीं है"—"ब्रह्म सत्य ज्ञान और अनन्त स्वरूप है"—"वह निर्गुण निरंजन है"—इत्यादि वाक्य निर्विशेष नित्य चैतन्य ब्रह्म का प्रतिपादन करते हैं; और कुछ वाक्य सगुण के प्रतिपादक हैं। दोनों प्रकार के परस्पर विरुद्ध वाक्यों में उक्त अपच्छेद न्याय से निर्गुण विधायक वाक्यों की ही बलवत्ता सिद्ध होती है, क्योंकि निर्गुण विधायक वाक्य गुण विधायक वाक्यों से पूर्ववर्त्ती होने से बलीय हैं। इसलिए हमारे मत में किसी प्रकार की हानि नही होती।

ननु च—"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इत्यत्र सत्यज्ञानादयो गुणाः प्रतीयन्ते। नेत्युच्यते सामानाधिकरण्येनैकार्थत्वप्रतीतेः। अनेक गुण-विशिष्टाभिधानेऽप्येकार्थत्वमविरुद्धम्, इतिचेत्; अनभिधानज्ञो देवानां प्रियः। एकार्थत्वं नाम सर्वपदानामर्थैक्यम्; विशिष्टपदार्थाभिधाने विशेषणभेदेन पदानामर्थभेदोऽवर्जनीयः; ततश्चैकार्थत्वं न सिध्यति एवं तर्हि सर्वपदानां पर्यायिता स्यात् अविशिष्टार्थाभिधायित्वात्। एकार्थाभिधायित्वेऽपि अपर्यायित्वमवहितमनाः शृणु। एकत्वतात्पर्य-निश्चयात् एकस्यैवार्थस्य तत्तत्पदार्थविरोधिप्रत्यनीकत्वपरत्वेन सर्व-पदानामर्थवत्त्वमेकार्थत्वमपर्यायिता च।

(शंका) "सत्यं ज्ञानमनंतं ब्रह्म" इस वाक्य में सत्य ज्ञान आदि परमात्मा के गुण प्रतीत होते हैं। (समाधान) उक्त कथन ठीक नहीं है, इनमें परस्पर विशेषण विशेष्य भाव से एकार्थता प्रतीत होती है। यदि कहो कि अनेक गुण विशिष्ट मानने पर भी तो एकार्थता भंग नहीं होती। तो संभवतः आपको "देवानां प्रियः" वाक्य संबंधी नियम का ज्ञान नहीं है। समस्त पदों के अर्थैक्य की ही एकार्थता होती है; विशिष्ट पदों के अभिधान में तो विशेषण के भेद से पदों के अर्थ का भेद आवश्यक होता है, इसलिए उनमें एकार्थता की सिद्धि नही होती। (शंका) यदि

ऐसी बात है तो सभी पदो की पर्यायता सिद्ध होती है, क्योंकि सभी पदों में सामान्य अर्थ का अभिधान रहता है। (समाधान) पदों के एकार्थाभिधायी होने पर भी उनमें पर्यायिता नही होती, इस बात को आप ध्यान देकर सुन ले कि पदो का एक ही अर्थ मे निश्चित तात्पर्य होता है जो कि अन्य से नितांत विपरीत होता है, जिससे समस्त पदों की सार्थकता, एकार्थता और अपर्यायिता सिद्ध होती है।

एतदुक्तं भवति—लक्षणतः प्रतिपत्तव्यं ब्रह्म सकलेतरपदार्थविरोधिरूपम्। तद् विरोधिरूपं सर्वमनेन पदत्रयेण फलतो व्युदस्यते। तत्र सत्यपदं विकारास्पदत्वेनासत्याद् वस्तुनो व्यावृत्त ब्रह्मपरम्, ज्ञानपदं चान्याधीनप्रकाशजडरूपाद् वस्तुनो व्यावृत्तपरम्, अनन्त पदं च देशतः कालतो वस्तुतश्च परिच्छिन्नव्यावृत्तपरम्। न च व्यावृत्तिर्भावरूपोऽभावरूपो वा धर्मः, अपितु सकलेतरविरोधि ब्रह्मैव। यथा शौक्ल्यादेः काष्र्ण्यादिव्यावृत्तिस्तत्पदार्थस्वरूपमेव, न धर्मान्तरम्। एवमेकस्यैव वस्तुनः सकलेतरविरोध्याकारतामवगमयदर्थवत्तरमेकार्थमपर्यायं च पदत्रयम्।

कथन यह है कि लक्षण से जानने योग्य ब्रह्म, अन्य समस्त पदार्थों से विलक्षण रूप वाला है। उसका यह विलक्षण रूप सत्य, ज्ञान और अनंत पदों से स्पष्ट हो जाता है, उसे समस्त पदार्थों से अलग कर देता है। "सत्य" पद विकारास्पद असत् वस्तुओं से अलग करने वाला, "ज्ञान" पद अन्य से प्रकाशित जड़ रूप से अलग करने वाला तथा "अनंत" पद देश काल और वस्तु की परिछिन्नता से अलग करने वाला है। उक्त व्यावृत्ति कोई भाव रूप या अभाव रूप वस्तु नहीं है अपितु ब्रह्म को सबसे विरोधी बतलाने की सूचक मात्र है। जैसे कि "शुक्लता दुर्वलता "आदि लक्षण उन उन पदार्थों के स्वरूप के सूचक पद हैं, उन पदार्थों के किसी अन्य गुण के ज्ञापक नही हैं। इसी प्रकार उक्त तीनों पद एक ही वस्तु (ब्रह्म) को अन्य सभी पदार्थो से विलक्षण आकार वाला प्रतीत कराते हैं, इस प्रकार उनकी सार्थकता, एकार्थता और अपर्यायिता तीनों बातें संगत हो जाती हैं।

तस्मादेकमेव ब्रह्म स्वयंज्योतिर्निर्धूत निखिलविशेषमित्युक्तं भवति। एवं वाक्यार्थ प्रतिपादने सत्येव "सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्" इत्यादिभि रैकार्थ्यम्। "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते—सदेव सौम्येदमग्र आसीत्—आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्" इत्यादिभिर्जगत्कारणतयोपलक्षितस्य ब्रह्मणः स्वरूपमिदमुच्यते "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इति। तत्र सर्वशाखाप्रत्ययन्यायेन कारणवाक्येषु सर्वेषु सजातीयविजातीयव्यावृत्तमद्वितीयं ब्रह्मावगतम्, जगत्कारणतयोपलक्षितस्य ब्रह्मणोऽद्वितीयस्य प्रतिपिपादयिषितं स्वरूपं तदविरोधेन वक्तव्यम्, अद्वितीयत्वश्रुतिगुणलोऽपि सद्वितीयतां न सहते। अन्यथा "निरञ्जनं निर्गुणम्" इत्यादिभिश्च विरोधः, अतश्चैतल्लक्षणवाक्यमखण्डैकरसमेव प्रतिपादयति।

इसीलिए उस अद्वैत ब्रह्म को स्वयं प्रकाश और प्रकार भेद रहित कहा गया है, (निर्विशेषता बोधक) वाक्य के अर्थ से भी ऐसा ही ज्ञात होता है। "हे सौम्य ! सृष्टि के पूर्व यह सब एक अद्वितीय सत् ही था" इत्यादि से एकार्थता तथा "जिससे ये सारे भूत उत्पन्न होते हैं"–"पहिले सब सत् ही था"—"पहिले सब कुछ आत्मा ही था" इत्यादि से परमात्मा की जगत्कारणरूपता का निरूपण करके, उसके स्वरूप को इस प्रकार वर्णन किया गया कि—"ब्रह्म सत्य ज्ञान और अनंत स्वरूप है।"

सर्वशाखा प्रत्ययन्याय (उपनिषद् की एक शाखा में जो नियम निर्द्धारित किया गया, उसे सभी शाखाओं में सामंजस्य करने) के अनुसार कारणता बोधक सभी वाक्यों से सजातीय विजातीय सभी पदार्थों से विलक्षण अद्वैत ब्रह्म की अवगति होती है। जगतकारण रूप से उपलक्षित अद्वैत ब्रह्म के जिस रूप का प्रतिपादन किया गया है, वह निर्विरोध है ऐसा मानना चाहिए, अद्वैतता की प्रतिपादक श्रुति किसी भी प्रकार सगुण रूप को प्रतिपादन करनेवाली श्रुति के आधार पर द्वैतभाव को सहन नहीं करती, अन्यथा "ब्रह्म निरंजन निर्गुण है" इत्यादि श्रुतिप्रतिपाद्य तत्त्व से वह विरुद्ध सिद्ध हो जायगी, इससे सिद्ध होता है कि

स्वरूप लक्षण बोधक (सत्यं ज्ञानमनंतं ब्रह्म) वाक्य अखंड, एकरस अद्वैत ब्रह्म का प्रतिपादक है।

ननु च—सत्यज्ञानादिपदानां स्वार्थप्रहाणेन स्वार्थविरोधिव्यावृत्तवस्तुस्वरूपोपस्थापनपरत्वे लक्षणा स्यात्। नैष दोषः, अभिधानवृत्तेरपि तात्पर्यवृत्तेर्बलीयस्त्वात्। सामानाधिकरण्यस्य हि ऐक्य एव तात्पर्यमिति सर्वसम्मतम्।

(शंका) सत्य ज्ञान आदि पद यदि अपने शब्दार्थ का परित्याग कर स्वार्थ विरुद्ध किसी विशेष वस्तुस्वरूप का स्थापन करते है तो, उन पदों में लक्षणा करनी होगी।

(समाधान) उक्त दोष नही होगा, क्योकि अभिधा वृत्ति (शब्द के मुख्यार्थ) से तात्पर्य वृत्ति (तात्पर्यार्थ) बलवान होती है। सामानाधिकरण्य (अभेद विशेषण विशेष्य मानने) में ऐसा ही तात्पर्य होता है, ऐसा सर्वसम्मत सिद्धान्त है।

ननु च—सर्वपदानां लक्षणा न दृष्टचरी। ततः किम्? वाक्यतात्पर्याविरोधे सत्येकस्यापि न दृष्टा, समभिव्याहृतपदसमुदायस्यैतत्तात्पर्यमिति निश्चिते सति द्वयोस्त्रयाणां सर्वेषां वा तदविरोधाय एकस्यैव लक्षणा न दोषाय, तथा च शास्त्रस्थैरभ्युपगम्यते। (कार्यवाक्यार्थवादिभिर्लौकिकवाक्येषु सर्वेषां पदानां लक्षणा समाश्रीयते, अपूर्वकार्य एव लिंगादेर्मुख्यवृत्तत्वात् लिंगादिभिः क्रियाकार्यं लक्षणया प्रतिपाद्यते। कार्यान्वितस्वार्थाभिधायिनां चेतरेषां पदानामपूर्वकार्यान्वित एव मुख्यार्थं इति क्रियाकार्यान्वितप्रतिपादनं लाक्षणिकमेव। अतो वाक्यतात्पर्याविरोधाय सर्वपदानां लक्षणापि न दोषः, अत इदमेवार्थजातं प्रतिपादयन्तो वेदान्ताः प्रमाणम्।)

(शंका) सभी पदों की लक्षणा तो कही भी नहीं देखी जाती। (उत्तर) इससे क्या होता है? वाक्य के विरुद्ध तात्पर्य होने पर तो एक पद की

लक्षणा भी नहीं देखी जाती। वस्तुतः एक साथ प्रयुक्त पदों के वाक्य का यही तात्पर्य है, ऐसा निश्चित हो जाने पर दो या तीन या सभी पदों की, उनके अविरुद्धार्थ प्रकाशन के लिए, एक जैसी लक्षणा करना दोष नही है, ऐसा शास्त्रज्ञ भी स्वीकार करते हैं। कार्य वाक्यार्थ-वादी तो लौकिक वाक्यों में सभी पदों की लक्षणा स्वीकार करते हैं। उनके मत में लिंग आदि (विविध प्रत्यय) का मुख्य अर्थ "अपूर्व कार्य" ही है, इससे ज्ञात होता है कि लिंग आदि से यज्ञादि क्रिया का जो कार्य निश्चित होता है, वह भी लक्षणा द्वारा ही होता है। अन्यान्य यज्ञादि क्रिया बोधक वाक्यों से संबद्ध पदों का जब अपूर्वकार्य संबद्ध अर्थ ही मुख्यार्थ होता है तो, जो पद एक मात्र अनुष्ठेय कर्म संबंधी अर्थ का ही प्रतिपादन करते हैं, वे तो लाक्षणिक ही होंगे। इसलिए वाक्य तात्पर्य के विरोध निवारण के लिए सभी पदों की लक्षणा भी दोषावह नहीं होगी। इस पूर्व मीमांसा के सिद्धांत का प्रतिपादन करने से ही वेदांत वाक्य प्रामाणिक हैं।

प्रत्यक्षादि विरोधे च शास्त्रस्य बलीयस्त्वमुक्तम्, सति च विरोध बलीयस्त्वं वक्तव्यम्, विरोध एव न दृश्यते, निर्विशेषसन्मात्र-ब्रह्मग्राहित्वात्प्रत्यक्षस्य।

प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों के पारस्परिक विरोध होने पर शास्त्र प्रमाण की बलवत्ता कही गयी है। विरोध होने पर ही बलवान प्रमाण की बलवत्ता माननी चाहिए, यहाँ तो कोई विरोध ही नहीं दीखता, निर्विशेष सत् स्वरूप ब्रह्म ही एकमात्र प्रत्यक्ष प्रमाण से ग्राह्य है।

ननु च—घटोऽस्ति पटोऽस्तीति नानाकारवस्तुविषयं प्रत्यक्षं कथमिव सन्मात्रग्राहीत्युच्यते। विलक्षणग्रहणाभावे सति सर्वेषां ज्ञानानामेकविषयत्वेन धारावाहिकविज्ञानवदेकव्यवहारहेतुतैव स्यात्।

(उक्त मत पर आपत्ति) घट और पट के अस्तित्व के समान अनेक जागतिक आकारों की प्रत्यक्ष प्रतीति होती है, तो यह कैसे कहा कि—

"निर्विशेष सत् ही एक मात्र प्रत्यक्ष प्रमाण ग्राह्य है? यदि उक्त बात ही सही होती, कि समस्त जगत में विभिन्नताओं की प्रतीति का अभाव तथा एक मात्र सत् की ही प्रतीति होती, तो जगत् संबंधी सारी प्रतीतियाँ एक ही प्रकार की होतीं, सभी में सदा प्रवाहमय एक सी ही प्रतीति होती रहती तथा सभी पदार्थों में एक सा ही व्यवहार होता रहता [सो तो है नहीं अतः उक्त कथन निराधार है]।

सत्यम्; तथैवात्र विविच्यते। कथम्? घटोऽस्तीत्यत्र अस्तित्वं तद्-भेदश्च व्यवह्रियते; न द्वयोरपि व्यवहारयोः प्रत्यक्षमूलत्वम् संभवति तयोः भिन्नकालज्ञानफलत्वात्, प्रत्यक्षज्ञानस्य चैकक्षणवर्त्तित्वात् तत्र स्वरूपं वा भेदो वा प्रत्यक्षस्य विषय इति विवेचनीयम्। भेद-ग्रहणस्य स्वरूपग्रहणतत्प्रतियोगिस्मरणसव्यपेक्षत्वादेव स्वरूप विषय-त्वमवश्यमाश्रयणीयमिति। न भेदः प्रत्यक्षेण गृह्यते, अतो भ्रान्तिमूल एव भेदव्यवहारः।

(उक्त आपत्ति का निराकरण) ठीक है, आपकी शंकानुसार हम यहाँ उक्त विचार का विवेचन करते है। में पूछता हूँ कि "घट है" इस प्रतीत में उस वस्तु के अस्तित्व और उस वस्तु की अन्य वस्तु से भिन्नता का व्यवहार किस आधार पर करते हो? दो वस्तुओं का एककालिक व्यवहार प्रत्यक्ष मूलक तो हो नहीं सकता (अर्थात् दो वस्तुएं एक साथ ही देख कर समझी नहीं जा सकतीं) क्योंकि प्रत्यक्ष ज्ञान एक क्षण में एक ही वस्तु का सभंव है तथा दो वस्तुओं की भिन्न काल में ही प्रतीति होती है। इसलिए वस्तु का स्वरूप या भेद प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय है या नहीं; यह विवेचन का विषय है। वस्तु की स्वरूपानुभूति और जिस वस्तु से उसका भेद करना है, ऐसी प्रतियोगी वस्तु को भूल जाने के बाद तो कभी भेद निर्धारण किया नहीं जा सकता, इसलिए वस्तु के स्वरूप को ही केवल प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय मानना चाहिए, भेद को नहीं, क्योंकि भेद की प्रत्यक्ष प्रतीति तो होती नहीं; इससे सिद्ध होता है कि भेद का व्यवहार भ्रान्ति मूलक ही है।

किंच–भेदो नाम कश्चित् पदार्थो न्यायविद्भिर्निरूपयितुं न शक्यते। भेदस्तावन्न वस्तुस्वरूपम्, वस्तुस्वरूपे गृहीते स्वरूपव्यवहार

वत् सर्वस्माद् भेदव्यवहार प्रसक्तेः। न च वाच्यम्—स्वरूपे गृहीतेऽपि भिन्न इति व्यवहारस्य प्रतियोगिस्मरणसव्यपेक्षत्वात्, तत्स्मरणाभावेन तदानीमेव न भेदव्यवहार इति। स्वरूपमात्रभेदवादिनो हि प्रतियोग्यपेक्षा च नोत्प्रेक्षितुं क्षमा, स्वरूपभेदयोः स्वरूपत्वाविशेषात्। यथा स्वरूपव्यवहारो न प्रतियोग्यपेक्षः, भेदव्यवहारोऽपि तथैव स्यात् हस्तः कर इतिवत् घटोभिन्न इति पर्यायत्वं च स्यात्। नापि धर्मः धर्मत्वे सति तस्य स्वरूपाद् भेदोऽवश्यमाश्रयणीयः अन्यथा स्वरूपमेव स्यात्। भेदे च तस्यापि भेदस्तद्धर्मः तस्यापीत्यनवस्था। किं च, जात्यादिविशिष्टवस्तुग्रहणे सति भेदग्रहणं, भेदग्रहणे सति जात्यादिविशिष्टवस्तुग्रहणमित्यन्योन्याश्रयणम् अतो भेदस्य दुर्निरूपत्वात् सन्मात्रस्यैव प्रकाशकं प्रत्यक्षम्।

नैयायिक विद्वान भेदनामक किसी पदार्थ विशेष का निरूपण नहीं कर सकते, क्योंकि भेद कोई वस्तु रूप तो है नही, यदि उसे वस्तु रूप मान लेंगे तो, स्वरूप व्यवहार की तरह, सभी पदार्थों से सभी का भेदव्यवहार सिद्ध हो जायगा। यह नहीं कह सकते कि स्वरूप का ग्रहण होने पर भी "यह वस्तु अमुक से भिन्न है" ऐसी प्रतीति में प्रतियोगी वस्तु की स्मृति अपेक्षित है, क्योंकि उस वस्तु की यदि विस्मृति हो गई तो उस समय भेद करना कठिन हो जाता है। जो लोग केवल स्वरूप में ही भेद मानते हैं वे भी प्रतियोगी की अपेक्षा के बिना भेद का निर्णय नहीं कर सकते, क्योंकि स्वरूप भेद में कोई विशेष स्वरूपता तो होती नहीं (अर्थात् एक घट से दूसरे घट का भेद करने में भी यह स्मरण रखना आवश्यक हो जाता है कि अमुक घट, अमुक घट से अमुक कारण से भिन्न है, अन्यथा घटों का स्वरूप तो प्रायः समान ही होता है उसमें भेद करना कठिन होगा) जैसे स्वरूप के व्यवहार में प्रतियोगी वस्तु अपेक्षित नहीं है, केवल उसकी स्मृतिमात्र अपेक्षित है, उसी प्रकार भेद व्यवहार में भी स्मृतिमात्र अपेक्षित है। हाथ और कर के पर्याय के समान, दो भिन्न घट भी एक दूसरे के पर्याय मात्र ही हैं; [भिन्न वस्तु नहीं हैं] भेद कोई धर्म भी नहीं है, यदि उसकी धर्मता हो

जायगी तो उस धर्म का स्वरूप से भी भेद मानना पडेगा (क्योकि धर्म और धर्मी मे भेद होता है), अन्यथा भेद ही वस्तु का स्वरूप हो जायेगा, और फिर भेद मे भेद होते चले जायेगे जिससे अव्यवस्था (गडवड़ घोटाला) हो जायगी। घट आदि एक जाति मे शुक्लता आदि विशेष गुणो के आधार पर ही उनके स्वरूपगत भेद की प्रतीति होती है उस भेद प्रतीति से ही जाति विशिष्ट वस्तु का ज्ञान होता है—इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोष घटित होता है। इस तरह भेद का विवेचन दुरूह है, [स्वरूप, जाति आदि भेदो को एक मिथ्या भ्रान्ति ही मानना चाहिए] वस्तुतः सत् वस्तु ही प्रत्यक्ष लब्ध है [समस्त विभिन्नताये उसी की रूपान्तरमात्र है]

किं च–घटोऽस्ति पटोऽस्ति, घटोऽनुभूयते पटोऽनुभूयते इति सर्वे पदार्थाः सत्तानुभूतिर्घटिता एव दृश्यन्ते। अत्र सर्वासु प्रतिपत्तिषु सन्मात्रमनुवर्त्तमान दृश्यत इति तदेव परमार्थं.। विशेषास्तु व्यावर्त्तमानतया अपरमार्था. रज्जुसर्पादिवत्। यथा रज्जुरधिष्ठानतयाऽनुवर्त्तमाना परमार्थसती; व्यावर्त्तमानास्सर्पभूदलनाम्बुधारादयो अपरमार्था.।

घट है–पट है, घट की अनुभूति होती है–पट की अनुभूति होती है इस प्रकार सभी पदार्थ अस्तितव और अनुभवगम्य प्रतीत होते है। इन सबकी प्रतीति मे एक अस्तित्ववान् सन् वस्तु अनुस्यूत है, ऐसा निश्चित है; वह अनुस्यूत सत् ही परमार्थ है, यह मानना चाहिए। बाकी जो वस्तुगत विशेषतायें है, जो कि एक दूसरे से भिन्न प्रतीति कराने वाली है; वे सब, रज्जु सर्प की तरह मिथ्या है। जैसे कि सर्प की अधिष्ठान रज्जु सत्तावाली होने से सत्य मानी जाती है तथा परिवर्तन शील सर्प, भ्रू भ्रंश रेखा और जलधारा आदि भ्रामक होने से असत्य माने जाते है।

ननु च रज्जुसर्पादौ रज्जुरियं न सर्प इत्यादिरज्वाद्यधिष्ठानयाथार्थ्यज्ञानेन बाधितत्वात् सर्पादिरपारमार्थ्यम्, न व्यावर्त्तमानत्वात्, रज्वादेरपि पारमार्थ्यं नानुवर्त्तमानतया, किन्तु अबाधितत्वात्। अत्र त घटादीनामबाधितानां कथमपारमार्थ्यम्?

(आपत्ति) आपने जो रज्जुसर्प का उदाहरण प्रस्तुत किया उसमें तो–"यह रज्जु है सर्प नही" इत्यादि अवगति मे रज्जु आदि अधिष्ठान के यथार्थ ज्ञान हो जाने पर सर्प आदि सबधी असत्य भ्रान्ति का निराकरण हो जाता है, परिवर्तन शील होने से उक्त भ्रान्ति का निराकरण होता ही सो तो है नही। रज्जु आदि की जो यथार्थ रूप से सर्व प्रतीति है, वह सत्तात्मक नही है अपितु अबाधित है (अर्थात सर्पाकृति रज्जु मे जिस समय सर्प प्रतीति होती है, उस समय यथार्थ ज्ञान रूपी बाधा तो उपस्थित होती नही जिससे रज्जु की रज्जुता का ज्ञान हो सके उस समय तो रज्जु मे सर्प की ही यथार्थ प्रतीति होती है जो कि तात्कालिक भ्रान्तिमात्र है) पर घट आदि वस्तुओ मे जो भिन्नता की प्रतीति होती है वह तो नितान्त अबाधित है (अर्थात इसमे तो रज्जु मे सर्प प्रतीति की भाति कोई दूसरी प्रकार की प्रतीति होती नही जो बाध्य होने पर भ्रान्त सिद्ध हो सके' यहाँ तो प्रारंभ से अ त तक घट मे घट की ही प्रतीति होती है) इसलिए इन पदार्थो की भेद प्रतीति को कैसे मिथ्या कहते है ?

उच्यते–घटादौ दृष्टा व्यावृत्तिः सा किंरूपेति विवेचनीयम्। किं घटोऽस्तीत्यत्र पटाद्यभावः ? सिद्धं तर्हि घटोऽस्तीत्यनेन पटादीनां बाधितत्वम्; अतो बाधफलभूता विषयनिवृत्तिर्व्यावृत्तिः। सा व्यावर्त्तमानानामपारमार्थ्यं साधयति। रज्जुवत्सन्मात्रमबाधितमनुवर्त्तते। तस्मात्सन्मात्रातिरेकि सर्वमपरमार्थः। प्रयोगश्च भवति–सत् परमार्थः, अनुवर्त्तमानत्वात्, रज्जुसर्पादौ रज्ज्वादिवत्, घटादयोऽपरमार्थाः व्यावर्त्तमानत्वात्, रज्ज्वाद्यधिष्ठान सर्पादिवत् इति। एवं सति अनुवर्त्तमानाऽनुभूतिरेव परमार्था, सैव सती।

(उक्त आपत्ति का निराकरण) घट आदि में दीखने वाली भिन्नता किस प्रकार की है, यह विवेचनीय विषय है। "घट है" ऐसी प्रतीति में, क्या पट आदि के अभाव का बोध होता है? यदि एसी बात है तो,,–"घट है" इतना कहने से ही पट आदि के अस्तित्व में बाधा उपस्थित हो जाती है, जिससे निष्कर्ष निकलता है कि–पटादि विषयक निषेधात्मक जो व्यावृति (भिंन्नता) है वह पट आदि की बाधता के फल स्वरूप ही

जो कि पट आदि की व्यावर्तमान असत्यता को व्यक्त करती है। रज्जु की तरह अबाधित सत्ता मात्र का अनुवर्त्तन (अनुसरण) करती है (कोई नई बात तो करती नही) इससे सिद्ध होता है कि—सत् के अतिरिक्त बाकी सब कुछ असत्य है। ऐसा कहा भी जाता है कि-"सत्" ही एक मात्र सत्य है, इसी की हर जगह अनुवृत्ति होती है, जैसे कि रज्जु सर्प में रज्जु सत्ता की अनुवृत्ति है। घट आदि पदार्थ मिथ्या है, क्यो कि वे भी रज्जु आदि आश्रयो मे व्यावर्त्तित सर्प की भाति व्यावर्त्तमान है। इस से निष्कर्ष निकलता है कि वस्तु में होने वाली अनुभूति वास्तविक सत्य है, और वही सत् है।

ननु च—सन्मात्रमनुभूतेर्विषयतया ततो भिन्नम्। नैवम्; भेदो हि प्रत्यक्षाविषयत्वाद्दुर्निरुपत्वाच्च पुरस्तादेव निरस्तः। अत एव सतोऽनुभूतिर्विषयभावोऽपि न प्रमाणपदवीमनुसरति; तस्मात्सदनुभूतिरेव। सा च स्वतः सिद्धा अनुभूतित्वात्। अन्यतः सिद्धौ घटादिवदननुभूतित्वप्रसंगः। किं च अनुभवापेक्षा चानुभूतेर्न शक्या कल्पयितुम्, सत्तयैव प्रकाशमानत्वात्। न हि अनुभूतिर्वर्त्तमाना घटादिवदप्रकाशा दृश्यते येन परायत्तप्रकाशाऽभ्युपगम्येत।

(आपत्ति) यदि आपके मत से एकमात्र सत् ही अनुभूति का विषय है तब वह भिन्न रूप वाला ही है (क्योकि—जागतिक अस्तित्व वाले पदार्थो मे भिन्नता का प्रत्यक्ष अनुभव होता है)

(निराकरण) ऐसी बात नही है; प्रत्यक्ष का अविषय तथा दुर्बोध होने से भेद का निराकरण पहले ही किया जा चुका है। सत् अनुभूति का विषय होते हुए भी प्रमाणित नही किया जा सकता, सत् की अनुभूति ही उसका स्वतः प्रमाण है क्योंकि उसकी अनुभूति होती है यदि सत् की अनुभूति अन्य प्रमाणों से सिद्ध होने लगे तो उसकी घट आदि स्थूलों की सी अनुभूति होगी, जो कि उसके अपने वास्तविक स्वरूप से नितान्त विपरीत होगी। अस्तित्व की अनुभूति अपनी सत्ता से ही स्वयं प्रकाशित होती है, इसके लिए अन्य प्रकार की अनुभूति की कल्पना भी शक्य नही है। घट आदि की अनुभूति की तरह, इस अनुभूति का प्रत्यक्ष प्रकाश

भी नहीं होता, जिससे उसके प्रकाश को परायत्त (पराश्रित) कहा जा सके।

अथैवं मनुषे—उत्पन्नायामप्यनुभूतौ विषयमात्रमवभासते घटोऽनुभूयते इति। न हि कश्चिद् घटोऽयमिति जानन् तदानीमेवाविषयभूतामनिदम्भावामनुभूतिमप्यनुभवति। तस्माद् घटादिप्रकाशनिष्पत्तौ चक्षुरादिकरणसन्निकर्षवदनुभूतेः सद्भाव एव हेतुः। तदनन्तरमर्थगतकादाचित्कप्रकाशातिशयलिंगेनानुभूतिरनुमीयते।

यदि ऐसा मानें कि—अनुभूति के होने पर केवल विषय की ही प्रतीति होती है, जैसे कि घट अनुभूत होता है, सो तो है नहीं। घट की अनुभूति में नेत्र आदि इन्द्रियों का संपर्क रहता है वैसा इस अलौकिक सद् अनुभूति में तो होता नहीं यह तो अतीन्द्रिय अनुभूति है, इसका अस्तित्व मात्र ही अवभासित होता है। घट आदि अनुभूतियों से विलक्षण, जागतिक पदार्थों के क्रियाकलापों के अन्दर ही आकस्मिक अलौकिक प्रकाश के रूप में सत् की अनुभूति की अनुमिति होती है।

एवं तर्हि अनुभूतेरजडाया अर्थवज्जडत्वमापद्यत इति चेत्; किमिदमजडत्वं नाम? न तावत् स्वसत्तायाः प्रकाशाकाभिचारः, सुखादिष्वपि तत्संभवात्, नहि कदाचिदपि सुखादयस्सन्तो नोपलभ्यन्ते, अतोऽनुभूतिः स्वयमेव नानुभूयते, अर्थान्तरं स्पृशतोऽङ्गुल्यग्रस्य स्वात्मस्पर्शवदशक्यत्वादिति।

यदि कहो कि उक्त मत स्वीकारने से, घट आदि विषयों की तरह, चिन्मय अनुभूति भी जड़ हो जायगी तो उसकी अजड़ता (चिन्मयता) का स्वरूप क्या है? स्वयं प्रकाशित शुद्ध अस्तित्व को तो चिन्मयता कह नहीं सकते, यदि ऐसा मानेंगे तो सुखादि में भी चिन्मयता की संभावना हो जायेगी; सुख आदि अनुभूतियाँ कभी भी अनुपलब्ध तो होती नहीं (उनकी तो सदा उपलब्धि होती है) अनुभूति स्वयं ही अपना भान नहीं कर पाती जैसे कि—अंगुली के अग्रभाग से समस्त पदार्थों की स्पर्शानुभूति होती है, पर स्वयं अपने को स्पर्श करने की क्षमता अंगुली में नहीं होती।

तदिदमनाकलितानुभवविभवस्य स्वमतिविजृम्भितम्, अनुभूतिव्यतिरेकिणो विषयधर्मस्य प्रकाशस्य रूपादिवदनुपलब्धेः उभयाभ्युपेतानुभूत्यैवाशेषव्यवहारोपपत्तौ प्रकाशस्य धर्मकल्पनानुपपत्तेश्च। अतो नानुभूतिरनुमीयते, नापि ज्ञानान्तरसिद्धा, अपितु सर्वं साधयन्त्यनुभूतिः स्वयमेव सिद्धयति। प्रयोगश्च अनुभूतिरन्याधीनस्वधर्मव्यवहाराः, स्वसंबन्धादर्थान्तरे तद्धर्मव्यवहारहेतुत्वात्, यः स्वसंबन्धादर्थान्तरे यद्धर्मव्यवहारहेतुः स तयोः स्वस्मिन्ननन्याधीनो दृष्टः, यथा रूपादिश्चाक्षुषत्वादौ। रूपादिर्हि पृथिव्यादौ स्व संबन्धाच्चाक्षुषत्वादि जनयन् स्वस्मिन् न रूपादि संबन्धाधीनश्चाक्षुषत्वादौ, अतोऽनुभूतिरात्मनः प्रकाशमानत्वे प्रकाशत इति व्यवहारे च स्वयमेव हेतुः।

उक्त प्रकार की आपत्तियां, अनुभूति के महत्व को न जानने वालों की मनगढन्त कल्पनामात्र हैं। अनुभूति से भिन्न, स्थूल विषयों की, रूप आदि धर्मो से जैसी अभिव्यक्ति होती है, वैसी उपलब्धि अनुभूति की तो होती नही। यदि (वादी-प्रतिवादी) दोनों की अनुभूति चिन्तन के आधार पर ही सारे व्यवहारों की सिद्धि हो जायतो विषय प्रकाशक नामक अतिरिक्त धर्म कल्पना की आवश्यकता ही क्या है? अनुभूति का अनुमान नहीं किया जा सकता और न किन्ही अन्य प्रकार के ज्ञान से ही उसे सिद्ध किया जा सकता है, अपितु सभी व्यवहारों की साधिका अनुभूति स्वयं सिद्ध वस्तु है। इसके लिए ऐसा कहा जा सकता है कि—अनुभूति अपनी स्वाभाविक अभिव्यक्ति में किसी अन्य के अधीन नहीं है, अनुभूति तो अपने से संबद्ध अन्य विषयों के व्यवहार की कारण है। जो अन्य विषयों के व्यवहार का हेतु है, वह अपने धर्म और व्यवहार में दूसरे के अधीन नहीं हो सकती। जैसे कि—श्वेत पीत आदि रूप, जो स्वसंबंधी पृथिवी आदि का चाक्षुष प्रत्यक्ष कराते हैं, वे स्वयं किसी पृथक् कारणों की अपेक्षा नहीं करते। इससे सिद्ध होता है कि—अनुभूति स्वयं प्रकाश होने से, "प्रकाशते" इस व्यवहार की स्वयं ही कारण है।

सेयं स्वयंप्रकाशाऽनुभूतिर्नित्या च, प्रागभावाद्यभावात् । तदभावश्च स्वतस्सिद्धत्वादेव । न हि अनुभूतेः स्वतस्सिद्धायाः प्रागभावः स्वतोऽन्यतो वाऽवगन्तुं शक्यते । अनुभूतिः स्वाभावमवगमयन्ती, सती तावन्नावगमयति । तस्याः सत्त्वे विरोधादेव तदभावो नास्तीति कथं सा स्वाभावमवगमयति ? एवमसत्यपि नावगमयति, अनुभूतिः स्वयमसती स्वाभावे कथं प्रमाणं भवेत् । नाप्यन्यतोऽवगन्तुं शक्यते, अनुभूतेरनन्यगोचरत्वात् । अस्याः प्रागभावे साधयत् प्रमाणम् "अनुभूतिरियम्" इति विषयीकृत्य तदभावं साधयेत् । स्वतस्सिद्धत्वेन इयमिति विषयीकारानर्हत्वात्, न तत्प्रागभावोऽन्यतः शक्यावगमः, अतो अस्याः प्रागभावाभावात् उत्पत्तिर्न शक्यते वक्तुम् इति, उत्पत्ति प्रतिबद्धाश्चान्येऽपि भावविकारास्तस्या न सन्ति ।

ऐसी स्वयं प्रकाशा अनुभूति नित्या है क्योंकि इसमें प्रागभाव आदि अभावों का अभाव है । यह स्वतः सिद्ध है, इसीलिए इसमें किसी प्रकार के अभाव नहीं हैं । स्वतः सिद्ध अनुभूति का प्रागभाव,स्वयं या किसी अन्य साधन से जाना नहीं जा सकता । अनुभूति अपने अभाव को जानती हुई भी स्वयं उतना नहीं जानती । क्योंकि, अनुभूति के अस्तित्व में तो उसका अभाव रहता नहीं,इसलिए वह अपने अभाव को जाने भी कैसे? इसी प्रकार वह अपने अनस्तित्व को भी नहीं जान सकती। अनुभूति जब स्वयं अस्तित्व हीन होती है उस समय अपने अभाव को प्रमाणित भी कैसे कर सकती है ? उसके अभाव को किसी अन्य साधन से भी नहीं जान सकते, क्यों कि-अनुभूति किसी अन्य से ज्ञेय नहीं है । कोई भी प्रमाण इसके प्रागभाव को बतलाने के प्रथम "वह अनुभूति है" ऐसा अस्तित्व का अनुभव करके ही उसका अभाव बतला सकता है; पर जो स्वयं सिद्ध वस्तु है, उसे "यह" कहकर संबोधित करना भी शक्य नहीं है । इसलिए अनुभूति के प्रागभाव को अन्य किसी भी प्रमाण से प्रमाणित नहीं कर सकते । इस प्रकार जब इसका प्रागभाव ही नहीं सिद्ध होता, तो इसकी उत्पत्ति की बात भी कैसे कही जा सकती है, और जब इसकी उत्पत्ति असिद्ध हो जाती है, तब अन्य

(बृद्धिक्षय आदि) होने वाले विकार भी इसमें नही है यह भी निश्चित बात है।

अनुत्पन्नेयमनुभूतिरात्मनि नानात्वमपि न सहते, व्यापकविरुद्धोपलब्धेः। न हि अनुत्पन्नं नानाभूतं दृष्टम्। भेदादे..मनुभाव्यत्वेन च रूपादेरिवानुभूतिधर्मत्वं न संभवति, अतोऽनुभूतेरनुभवस्वरूपत्वादेवान्योऽपि कश्चिदनुभाव्यो नास्या धर्मः यतो निर्द्धूतनिखिलाभेदा संवित्। अतएव नास्याः स्वरूपातिरिक्त आश्रयो ज्ञाता नाम कश्चिदस्तीति स्वप्रकाशरूपा सैवात्मा अजडत्वाच्च। अनात्मत्वव्याप्तं जडत्वं संविदि व्यावर्त्तमानमनात्मत्वमपि हि संविदि व्यावर्त्तयति।

जन्म रहित यह अनुभूति अपने मे अनेकता भी नही सह सकती' क्योकि अनेकता होने से उसकी व्यापक उपलब्धि से विरुद्धता होती है। जन्म रहित वस्तु की अनेकता देखी भी नही जाती। अनुभव से होने वाले भेद आदि की, रूप रस आदि की तरह अनुभूति धर्मता नही हो सकती (अर्थात रूप रस आदि विषयो की जैसी विभिन्न प्रकार की प्रतीति होती है, वैसी अनुभूति लब्ध भेद प्रतीति नही होती अनुभूति की अपनी निराली ही प्रतीति होती है) स्वय अनुभव स्वरूप होने से अनुभूति का अनुभावक कोई अन्य नही हो सकता क्योकि—यह संवित समस्त भेदों से रहित स्वच्छ स्वरूपा है। इसीलिए इसके स्वरूप के अतिरिक्त इसका कोई नामी जानकार नही है; स्वय प्रकाशरूपा वह स्वयं ही अपनी ज्ञाता है क्योकि वह चैतन्य है। जडता अनात्म वस्तुओ मे ही व्याप्त है, अनुभूति जडता रहित है, इसलिए उसकी अनात्मता भी बाधित हो जाती है (अर्थात अनुभूति आत्मरूप है)

ननु च—अहं जानामीति ज्ञातृता प्रतीतिसिद्धा। नैवम्—सा भ्रान्तिसिद्धा; रजततेव शुक्तिशकलस्य; अनुभूतेः स्वात्मनि कर्तृत्वायोगात्, अतो मनुष्योऽहमित्यन्तबहिर्भूतमनुष्यत्वादिविशिष्ट-

पिण्डात्माभिमानवत् ज्ञातृत्वमपि अध्यस्तम् । ज्ञातृत्वं हि ज्ञानक्रिया-कर्तृत्वम्, तच्च विक्रियात्मकं जडं विकारिद्रव्याहंकारग्रंन्थिस्थम् अविक्रिये साक्षिणि चिन्मात्रात्मनि कथमिव संभवति ?

(संशय) "मैं जानता हूं" ऐसी ज्ञातृता तो प्रतीति सिद्धा है (फिर कैसे कहते हैं कि–अनुभूति स्वयं सिद्ध वस्तु है, किसी अन्य से ज्ञेय नहीं है ?) (समाधान) बात ऐसी नहीं है सीप के टुकड़े में जैसी चांदी की भ्रांति होती है, वैसी ही" मैं जानता हूं" इस प्रतीति में आत्मज्ञान की भ्रांति होती है । आत्मा में स्वतंत्र अनुभूति करने का अभाव है । मैं मनुष्य हूं" ऐसी जो प्रतीति होती है, वह आत्मा से अत्यन्तभिन्न, मनुष्यता आदि विशिष्ट गुणों से युक्त पांचभौतिक शरीर में होती है जो कि वस्तुत: आत्मा नहीं है; शरीर में अहं की प्रतीति आत्माभिमान मात्र है जो कि भ्रांति है । उसी तरह" मैं जानता हूं" यह प्रतीति भी मिथ्या भ्रांति है । ज्ञान क्रिया कर्तृत्व ही तो ज्ञातृता है, जो कि विक्रियात्मक, जड, विकारी द्रव्य अहंकार ग्रन्थि में स्थित है, अविकृत साक्षिस्वरुप चिन्मात्र आत्मा में ऐसी विकृत ज्ञातृता कैसे संभव है ? (अर्थात विकारी अहंकार ग्रन्थि में स्थित ज्ञातृता अनात्म है, इसलिए वह भ्राँत और अप्रामाणिक है । अनुभूति आत्म स्वरुप है अत: वही सत्य और प्रामाणिक है)

दृश्यधीनसिद्धित्वादेव रूपादेरिव कर्तृत्वादेर्नात्मधर्मत्वम् सुषुप्ति-मूर्च्छादौ अहं प्रत्ययापाये अपि आत्मानुभवदर्शनेन नात्मनोऽहंप्रत्यय-गोचरत्वम् । कर्तृत्वेऽहंप्रत्ययगोचरत्वे चात्मनोऽभ्युपगम्यमाने देहस्येव जडत्वपराक्त्वानात्मत्वादिप्रसङ्गो दुष्परिहर: । अहंप्रत्यय-गोचरात् कर्तृतया प्रसिद्धात् देहात् तत्क्रियाफलस्वर्गादे: भोक्तु: आत्मनोऽन्यत्वं प्रामाणिकानां प्रसिद्धमेव । तथाऽहमर्थात् ज्ञातुरपि विलक्षण: साक्षी प्रत्यगात्मेति प्रतिपत्तव्यम् ।

ज्ञानाधीन रूप रस आदि की प्रतीति जैसे आत्मा का धर्म नही है वैसे ही ज्ञानाधीन प्रतीति के विषय कर्तृत्व आदि भी आत्मा के धर्म नहीं है । सुपुप्ति, मूर्च्छा आदि अवस्थाओं में "अहं"प्रत्यय का अभाव रहने

से आत्मानुभूति नहीं होती, इससे स्पष्ट है कि "अहं" प्रतीति का विषय आत्मा नही है। आत्मा में कर्तृता, अहं प्रतीति विषयता, मानने से देह की तरह जडता, वाह्यपदार्थता और अनात्मता आदि दोष उसमें घटित हो जावेगे, जिन्हें उसमें से अलग करना कठिन हो जायेगा अहं बुद्धि के विषय, कर्त्ता रूप से प्रसिद्ध देह से, उसकी क्रियाओं के फलस्वरुप प्राप्त होने वाले स्वर्गादि फलो के भोक्ता आत्मा का, जो प्रभेद है, उसे प्रमाग ज्ञाता लोग जानते ही है उसी प्रकार "अह" अर्थात ज्ञाता (अहंकार) से भी विलक्षण, साक्षी प्रत्यगात्मा (जीव) है, ऐसा जानना चाहिए।

एवमविक्रियाऽनुभवस्वरूपस्यैवाभिव्यंजको जडोऽप्यहंकारः स्वाश्रयतयातमभिव्यनक्ति। आत्मस्थतयाऽभिव्यंग्याभिव्यंजनमभिव्यंजकानां स्वभावः। दर्पणजलखंडादिर्हि मुखचंद्रबिबगोत्वादिकं आत्मस्थतयाऽभिव्यनक्ति। तत्कृतोऽयंजानाम्यहमिति भ्रमः। स्वप्रकाशाया अनुभूतेः कथमिव तदभिव्यंग्यजडरूपाहंकारेण अभिव्यंगत्वमिति मावोचः, रविकरनिकराभिव्यंग्यकरतलस्य तदभिव्यंजकत्वदर्शनात् जालकरंध्रनिष्क्रान्त द्युमणिकिरणानां तदभिव्यंगेनापि करतलेन स्फुटतरप्रकाशो हि द्रष्टचरः। यतोऽहं जानामीति ज्ञाताऽयमहमर्थः चिन्मात्रात्मनो न पारमार्थिको धर्मः। अतएव सुषुप्तिमुक्त्योः न अन्वेति। तत्र हि अहमर्थोल्लेखविगमेन स्वाभाविकानुभवमात्ररूपेण आत्माऽवभासते। अतएव सुप्तोत्थितः कदाचिन्मामप्यहं न ज्ञातवानिति परामृशति, तस्मात् परमार्थतो निरस्तसमस्तभेद विकल्पनिर्विशेष चिन्मात्रैकरसकूटस्थ नित्य संविदेव भ्रान्त्या ज्ञातृज्ञेयज्ञान रूप विविध विचित्रभेदा विवर्त्तत इति, तन्मूलभूता अविद्या निवर्हणाय नित्य शुद्धबुद्धमुक्त स्वभावब्रह्मात्मैकत्व विद्या प्रतिपत्तये सर्वे वेदान्ताः आरभ्यन्ते इति।

इसी प्रकार अविकृत अनुभव के स्वरूप का अभिव्यजक, अहकार स्वयं जड होते हुए भी, अपने आश्रय से उस अनुभव को, अभिव्यक्त

करता है। अभिव्यंग्य वस्तु को आत्मस्थरूप से अभिव्यंजित करना ही अभिव्यंजक का स्वभाव होता है। दर्पण, जल आदि मुख, चन्द्र आदि को आत्मस्थ रूप से ही अभिव्यक्त करते हैं। इसी प्रकार "मैं जानता हूं" ऐसी प्रतीति भी व्यंग्यव्यंजक भाव कृत भ्रममात्र है।

स्वयं प्रकाश अनुभूति अपने अभिव्यंग्य जड रूप अहंकार से कैसे अभिव्यंजित हो सकती है ? ऐसा संशय नहीं करना चाहिए क्यों कि–सूर्य किरणों से अभिव्यंग्य करतल की अभिव्यंजकता देखी जाती है। खिड़की के छिद्रों से आने वाली सूर्य किरणों से करतल प्रकाशित होता है, उस करतल से वे किरणें और अधिक प्रकाशित होती हैं।

"मैं जानता हूं" इस प्रतीति का ज्ञाता "अहं" आत्मा का स्वाभाविक धर्म नहीं है, उसलिए सुषुप्ति और मुक्ति में वह संबद्ध नहीं रहता; उन परिस्थितयों में "अहं" प्रतीति नहीं रहती, आत्मा केवल स्वभाव सिद्ध अनुभव के रुप में स्वयं प्रकाशित रहता है। इसीलिए प्रगाढ निद्रा से उठा हुआ व्यक्ति कभी "मैं अपने को भी नहीं जानता" ऐसा परामर्श (संदेहात्मक विचार) करता है।

इससे सिद्ध होता है कि–सब प्रकार की भेद कल्पनाओं से रहित निर्विशेष, चिन्मयमात्र एकरस, कूटस्थ नित्य संवित (अनुभूति) ही भ्रांतिवश ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान रूप अनेक विभिन्न भेदो में विवर्त्तित होती हैं (अर्थात स्वभाव से उसी प्रकार रहते हुये केवल रूपान्तरित होती रहती है) उक्त अनुभूति विवर्त्त की मूल कारण अविद्या की निवृत्ति के लिए ही, नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाव ब्रह्मात्मा के अद्वैत ज्ञान को बतलाने के लिए समस्त वेदांत वाक्य प्रयास करते हैं।

महासिद्धान्तः—तदिदमौपनिषद परमपुरुष वरणीयता हेतु गुण विशेष विरहिणामनादिपापवासनादूषिताशेषशेमुषीकाणामनधिगतपद वाक्यस्वरूपतदर्थं याथात्म्य प्रत्यक्षादि सकल प्रमाणवृत्ततदितिकर्त्तव्यता रूप समीचीन न्यायमार्गाणां विकल्पासहविविधकुतर्क कल्ककल्पितमिति न्यायानुग्रहीत प्रत्यक्षादि सकल प्रमाणवृत्तयाथात्म्यविद्भिः अनादरणीयम्।

महासिद्धान्त (शांकरमत निरसन) उपनिषद प्रतिपाद्य परम पुरुष की प्राप्ति हेतु उनके गुण ही है' अनादि पाप वासना से दूषित' खोखली बुद्धि वाले लोग ही उन्हे निर्गुण मानकर' शास्त्र वचनों की साररहित, कुतर्क पूर्ण काल्पनिक व्याख्या करते है; उन्हे शास्त्र के प्रकृत पद, वाक्य, वाक्यार्थ तात्पर्य, प्रत्यक्ष आदि प्रमाण और तज्जन्य ज्ञान के रूप और उनकी इतिकर्त्तव्यता आदि का यथार्थ ज्ञान नही रहता । जो लोग न्यायानुसार समस्त वाक्य और प्रत्यक्ष आदि प्रमाणो से लब्ध ज्ञान के यथार्थ मर्म को जानते है, उनकी दृष्टि मे उनका मत अनादरणीय है ।

तथा हि निर्विशेषवस्तुवादिभिर्निविशेषे वस्तुनि इदं प्रमाणम् इति न शक्यते वक्तुम । सविशेषवस्तु विषयत्वात् सर्वं प्रमाणानाम् । यस्तु स्वानुभवसिद्ध इति स्वगोष्ठी निष्ठः समयः सोऽप्यात्मसाक्षिक सविशेषानुभवादेव निरस्तः । इदमहमदर्शमिति केनचिद् विशेषेण विशिष्टविषयत्वात् सर्वेषामनुभवानां स विशेषोऽप्यनुभूयमानोऽनुभवः केनचिद् युक्तयाभासेन निर्विशेष इति निष्कृष्यमाणः सत्ताऽतिरेकिभिः स्वासाधारणैः स्वभावविशेषैः निष्क्रष्टव्यः, इति निष्कर्षं हेतुभूतैः सत्ताऽतिरेकिभिः स्वासाधारणैः स्वभावविशेषैः सविशेष एवावतिष्ठते । अतः कैश्चिद् विशेषैर्विशिष्टस्यैववस्तुनोऽन्ये विशेषा निरस्यंत इति न क्वचिन्निर्विशेषवस्तु सिद्धिः ।

निर्विशेष वस्तु का प्रतिपादन करने वाले, निर्विशेष की वस्तु सिद्धि में'' अमुक प्रमाण है'' ऐसा नही कह सकते । क्यों कि—शास्त्र के समस्त प्रमाण सविशेष वस्तु परक ही हैं । और जो उस निर्विशेष वस्तु को'' स्वानुभव सिद्ध'' ही अपने मत का परम्परित सिद्धान्त बतलाते है, वह भी आत्म प्रतीति सिद्ध सविशेष के अनुभव से निरस्त हो जाता है । ''मैने इसे देखा है'' ऐसे अनुभव में किसी विशेषण से विशिष्ट वस्तु की ही प्रतीति होती है (अर्थात अनुभव सगुण वस्तु पर ही आधारित रहता है, जो वस्तु कभी भी दृश्य संभव नहीं है' उसके लिए'' अनुभवसिद्ध'' कैसे कह सकते है) अनुभव गम्य सविशेष

वस्तु को यदि किसी थोथी युक्ति से निर्विशेष सिद्ध किया जाय तो वैसा करने में भी अस्तित्व हीन उस वस्तु को अपने से विलक्षण स्वभाव विशेष विशेषित मानना पड़ेगा और तब वह अस्तित्वहीन वस्तु अपने से विलक्षण स्वभाव विशेष से विशेषित होने पर स्वतः ही सविशेष सिद्ध हो जायगी। वस्तु के किसी भी विशेषण से विशेषित होने पर उस वस्तु की अन्य विशेषतायें निरस्त हो जाती हैं इसलिए किसी भी प्रकार निर्विशेष वस्तु की सिद्धि नहीं हो सकती [अर्थात वस्तु की सत्ता मानने पर उसमें कोई न कोई विशेषता तो स्वीकारनी ही पड़ेगी अन्यथा उसकी सत्ता सिद्ध न हो सकेगी सत्ता मानना ही उसे सविशेष स्वीकारना है]

धियो हि धीत्वं स्वप्रकाशता च ज्ञातुर्विषय प्रकाशनस्वभावतयोपलब्धेः। स्वापमदमूर्च्छासु च सविशेषएवानुभवः इति स्वावसरे निपुणतरमुपपादयिष्यामः। स्वाभ्युपगताश्च नित्यत्वादयो हि अनेके विशेषाः सन्त्येव। ते च न वस्तुमात्रम् इति शक्योपपादनाः, वस्तुमात्राभ्युपगमे सत्यपि विधाभेद विवाददर्शनात् स्वाभिमततद् विधाभेदैश्च स्वमतोपपादनात्, अतः प्रामाणिक विशेषैर्विशिष्टमेव वस्तु इति वक्तव्यम।

ज्ञातव्य विषय को प्रकाशित करने की स्वाभाविक प्रवृत्ति के कारण, ज्ञाता की ज्ञातव्यता और स्वप्रकाशता सदा बनी रहती है। निद्रा मद मूर्च्छा आदि में जो अनुभूति होती है वह भी सविशेष ही होती है' इन विषयों के विवेचन के अवसर में भलीभाँति सतर्क विवेचन करेंगे। वस्तु में अपनी अभिन्न नित्यता आदि अनेक विशेषतायें तो रहती ही हैं। वे विशेषतायें वस्तुमात्र में ही नही रहतीं (सभी जगह रहती हैं) ऐसा प्रतिपादन करने की चेष्टा करोगे तो सामान्य वस्तुओं में जो विभिन्नभेद देखे जाते हैं वे सभी भेद तुम्हारी स्वीकृत अपनी वस्तु में भी घटित होंगे जिससे यह सिद्ध हो जायगा कि तुम अपने मत में विभिन्न भेदों को भी स्वीकारते हो। फिर तो तुम्हें "वस्तु प्रामाणिक विशेषताओं से विशिष्ट है" ऐसा भी कहना पड़ेगा।

शब्दस्य तु विशेषेण सविशेष एवं वस्तुनि अभिधान सामर्थ्यम् पदवाक्यरूपेणप्रवृत्तेः। प्रकृति प्रत्यययोगेन हि पदत्वम्। प्रकृतिप्रत्यययोरर्थ भेदेन पदस्यैव विशिष्टार्थप्रतिपादमवर्जनीयम् । पदभेदश्चार्थभेदनिबन्धनः, पदसंघातरूपस्य वाक्यस्यानेकपदार्थसंसर्गविशेषाभिधायित्वेन निर्विशेष वस्तु प्रतिपादनासामर्थ्यात् न निर्विशेषवस्तुनि शब्दः प्रमाणम्।

शब्द की, विशेष रूप से, सविशेष वस्तु के प्रतिपादन में ही, अभिधा शक्ति होती है (अर्थात् शब्द सविशेष वस्तु का ही बोध करा सकता है) क्यों कि-वह पद और वाक्यों के रूप से ही वस्तु का वर्णन करता है। प्रकृति और प्रत्यय के योग से ही शब्द पदरूप प्राप्त करता है। प्रकृति और प्रत्यय में स्वाभाविक अर्थ भेद रहता है, जिससे पद को विशिष्ट अर्थ प्रतिपादकता अनिवार्य हो जाती है (अर्थात पद विशिष्ट का ही प्रतिपादन करता है, ऐसा निश्चित हो जाता है क्यों कि विशेषण और विशेष्य भाव में दोनों पदों का अर्थ भिन्न होता है, जैसे नील कमल, यहाँ कमल पद विशेष्य और नील पद विशेषण है, दोनों पद क्रमशः पुष्प और वर्ण विशेष के बोधक हैं। "जलज" पद में "जल" प्रकृति और "ज" प्रत्यय है, ये दोनीं ही विभिन्न अर्थावबोधक हैं, दोनों प्रकृति के संहित रूप "जलज" पद का अर्थ जल से उत्पन्न होने वाला होता है) अर्थ भेद से ही पद भेद होता है, तथा अनेक पदों का संहित रूप वाक्य होता है जोकि अनेक पदों के अर्थो का बोध कराता है। इससे सिद्ध होता है कि वाक्य भी विशेष अर्थावबोधक होता है, उसमें निर्विशेष वस्तु के प्रतिपादन की क्षमता नहीं है। इसलिए निर्विशेष वस्तु में शब्द प्रभाव नहीं है; यह निश्चित बात है।

प्रत्यक्षस्य निर्विकल्पकसविकल्पकभेदभिन्नस्य न निर्विशेष बस्तुनि प्रमाणभावः। सविकल्पकं जात्यादि अनेकपदार्थविशिष्ट विषयत्वादेव सविशेष विषयम्। निर्विकल्पकमपि सविशेषविषयमेव, सविकल्पके स्वस्मिन्ननुभूतपदार्थविशिष्टप्रतिसंधान हेतुत्वात्। निर्विकल्पकं नाम केनचिद् विशेषेण वियुक्तस्य ग्रहणम्, नसर्वविशेष

रहितस्य, तथाभूतस्य कदाचिदपि ग्रहणादर्शनादनुपपत्तेश्च केनचिद् विशेषेण इदमित्थमिति हि सर्वा प्रतीतिरुपजायते, त्रिकोण सास्नादि संस्थान विशेषेण विना कस्यचिदपि पदार्थस्य ग्रहणायोगात्-अतोनिर्विकल्पकमेकजातीय द्रव्येषु प्रथम पिण्ड ग्रहणम् । द्वितीयादि पिण्डग्रहणं सविकल्पमित्युच्यते । तत्र प्रथम पिण्डग्रहणे गोत्वादेरनुवृत्ताकारता न प्रतीयते । द्वितीयादि पिण्डग्रहणेष्वेवानुवृत्तिप्रतीतिः प्रथम प्रतीत्यनुसंहितवस्तुसंस्थानरूपगोत्वादेरनुवृत्तिधर्मं विशिष्टत्वं द्वितीयादि पिण्ड ग्रहणावसेयमिति, द्वितीयादि ग्रहणस्य सविल्कपकत्वं सास्नादिवस्तुसंस्थानरूप गोत्वादेरनुवृत्तिर्न प्रथम पिण्ड ग्रहणे गृह्यत इति, प्रथम पिण्ड ग्रहणस्य निर्विकल्पकत्वम् । नपुनः संस्थानरूप जात्यादेरग्रहणात् संस्थान रूप जात्यादेरपि-ऐन्द्रियकत्वाविशेषात् , संस्थानेन विना संस्थानिनः प्रतीतित्यनुपपत्तेश्च प्रथम पिण्ड ग्रहणेऽपि तसंस्थानमेव वस्तु इत्थम् इति गृह्यते, अतोद्वितीयादि पिण्ड ग्रहणेषु गोत्वादेरनुवृत्तिधर्मविशिष्टता संस्थानिवत् संस्थानवच्च सर्वदैव गृह्यत इति तेषु सविकल्पकत्वमेव । अतः प्रत्यक्षस्य कदाचिदपि न निर्विशेष विषयत्वम् ।

निर्विकल्पक सविकल्पक भेद वाले प्रत्यक्ष की निर्विशेष वस्तु में प्रमाणता नहीं हो सकती । सविकल्प प्रतीति, जाति आदि अनेक विशेषताओं से विशिष्ट विषय वाली होती है, इसलिए वह तो सविशेष विषयक ही है । निर्विकल्पक भी सविशेष विषयक ही है क्यों कि -सविकल्पक प्रतीति में जात्यादि विशिष्ट विषयों की, निर्विकल्पक प्रतीति, की स्मृति होती है । किसी एक विशिष्ट विशेषता से रहित वस्तु, संबंधी ज्ञान को निर्विकल्पक ज्ञान कहते हैं, समस्त सामान्य विशेषताओ से रहित को नहीं । समस्त सामान्य विशेषताओं से रहित वस्तु तो कभी उपलब्ध हो ही नहीं सकती । "अमुक वस्तु" ऐसी प्रतीति में किसी न किसी प्रकार की विशेषता से युक्त वस्तु की ही उपलब्धि होती है । सास्ना आदि चिन्ह विशेष के बिना गो पदार्थ की प्रतीति नहीं हो सकती । एक जातीय द्रव्य

में सर्व प्रथम जो स्वरूप ज्ञान होता है वह निर्विकल्पक तथा द्वितीय स्वरूप ज्ञान सविकल्पक होता है। प्रथम बार स्वरूप देखने पर गाय के परिचायक समस्त चिन्हों की सहसा प्रतीति नही होती, द्वितीय आदि दृष्टियों में समस्त विशेषताओ की प्रतीति हो जाती है। प्रथम प्रतीति में वस्तु की संस्थान (अवयव संयोजन रूप) जिस गोत्व की प्रतीति होती है द्वितीय आदि दृष्टियो में उस संस्थान की पूर्ण उपलब्धि हो जाती है, वही सविकल्पकता है। सास्ना लांगूल ककुद खुर विषाण आदि चिन्हों वाली गौ प्रथम दृष्टि मे ही प्रतीत नही हो पाती, यही निर्विकल्पकता है। संस्थान (आकृति) की जाति आदि की प्रतीति न होने से निर्विकल्पकता होती हो सो बात नही है; जात्यादि की प्रतीति भी इन्द्रियवेद्य ही होती है, आकृति प्रतीति के विना ,आकृति विशेष की प्रतीति तो संभव है नहीं प्रथम आकृति दर्शन में भी आकृति ही "यह वस्तु ऐसी है" उस वस्तु विशेष की प्रतीति होती है। द्वितीय तृतीय आदि गोपिड दर्शनों में जैसे संस्थान (अवयव विन्यास) और सस्थानी (गौ) की प्रतीति होती है, वैसी ही धर्मानुगत गोत्व प्रतीति सदा होती है यही सविकल्पक विषयक प्रतीति है। इससे सिद्ध होता है, कि प्रत्यक्ष कभी भी निर्विशेष विषयक नही होता।

अत एव सर्वत्रभिन्नाभिन्नत्वमपि निरस्तम्। इदमित्थं इति प्रतीतौ इदमित्थम्भावयोरैक्यं कथमिव प्रत्येतुं शक्यते ? तत्रेत्थंभावः सास्नादिसंस्थानविशेषः, तदविशेष्यंद्रव्यमिदमंशइत्यनयोरैक्यं प्रतीतिपराहतमेव। तथाहि प्रथममेव वस्तु प्रतीयमानं सकलेतर व्यावृत्तमेव प्रतीयते। व्यावृत्तिश्च गोत्वादिसंस्थानविशेष विशिष्टतयेत्थमिति प्रतीतेः। सर्वत्र विशेषणविशेष्यभाव प्रतिपत्तौ तयोरत्यन्तभेदः प्रतीत्यैव सुव्यक्तः। तत्र दंड कुंडलादयः पृथक् संस्थान संस्थिताः स्वनिष्ठाश्च कदाचित् क्वचित् प्रकान्तर विशेषण तयावतिष्ठन्ते। गोत्वादयस्तु द्रव्यसंस्थानतयैव पदार्थभूतास्संतो द्रव्यविशेषणतया अवस्थिताः। उभयत्र [illegible]भावः समानः तत एव तयोर्भेद प्रतीतिश्च।

इयांस्तु विशेषः पृथक्स्थिति प्रतिपत्तियोग्या दंडादयः, गोत्वादयस्तु नियमेन तदनर्हाः इति । अतो वस्तु विरोधः प्रतीतिपराहत एव प्रतीतिप्रकार निह्नवोच्यते । प्रतीतिप्रकारो हि इदंमित्थं इत्येव सर्व सम्मतः । तदेत्सूत्रकारेण "नैकस्मिन्न संभवात्" इति सुव्यक्तमुपपादितम् । अतः प्रत्यक्षस्य सविशेषविषयत्वेन प्रत्यक्षादि दृष्ट संबंधविशिष्टविषयत्वादनुमानमपि सविशेषविषयमेव । प्रमाणसंख्याविवादेऽपि सर्वाभ्युपगत प्रमाणानामयमेव विषय न केनापि प्रमाणेन निर्विशेष वस्तुसिद्धिः । वस्तुगतस्वभावविशेषैस्तदेव वस्तु निर्विशेमिति वदन् जननीवंध्यात्व प्रतिज्ञायामिव स्ववाग्विरोधमपि न जानाति ।

जो लोग सब जगह भेदाभेद संबंध मानते हैं, उक्त विचार के आधार पर, वह मत भी परास्त हो जाता है। "इदं–इत्थं" इस प्रकार की प्रतीति में "इदं और इत्थं" इन दो भावों की एकता कैसे कही जा सकती है ? सास्नादि संस्थान विशेष "इत्थं" पद वाच्य तथा उससे अविशिष्ट द्रव्य "इदं" पद वाच्य है, इन दोनों की ऐक्य प्रतीति असंभव ही है। जब वस्तु की प्राथमिक प्रतीति होती है, वह सबसे विलक्षण होती है। गोत्वादि संस्थान विशेष विशिष्टता ही विलक्षणता का कारण है जो कि "इत्थं" रूप से प्रतीत होती है। सब जगह विशेषणविशेष्य भाव की प्रतिपत्ति में, विशेषणविशेष्य के अत्यन्त भेद की सुस्पष्ट प्रतीति होती है। दंड कुंडल आदि, पृथक संस्थान संस्थित और स्वनिष्ठ आकृतियाँ हैं, कभी कहीं दूसरे द्रव्य के विशेषण के रूप से भी स्थित रहती हैं। तथा गोत्व आदि द्रव्य संस्थान, पदार्थ भूत होकर उसी द्रव्य के विशेषण रूप से स्थित रहते हैं। दोनों ही जगह विशेषणविशेष्य भाव समान है तथा उसी प्रकार विशेषणविशेष्य भाव की भेद प्रतीति भी समान है विशेषता केवल इतनी ही है कि–दंड कुंडल आदि पृथक् पृथक् संस्थान संस्थित होने से, प्रतिपत्ति करने योग्य हैं गोत्व आदि एक संस्थान में नियमित होने से, प्रतिपत्ति योग्य नहीं है। इसलिए वस्तु की भिन्नता की बात, परास्त हो जाती है; प्रतीति का प्रकार जरा छिपा कर

प्रकारान्तर से बतलाया गया है; बस्तुतः कोई भेद नही है। "इदं—इत्थं" ही सर्व सम्मत प्रतीति का प्रकार है। इस तथ्य को सूत्रकार "नैकस्मिन्न संभवात्" में सुस्पष्ट रूप से समर्थन करते है। प्रत्यक्ष की सविशेषप्रमाणता निश्चित हो जाने से, प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से ज्ञात संबन्ध विशेष वाले अनुमान की भी सविशेष प्रमाणता निश्चित हो जाती है, प्रमाणों की संख्या के विषय में शास्त्रकारों का मतभेद है, पर जितने भी भेद है; सभी सविशेष वस्तु को ही प्रमाणित करते है; किसी भी प्रमाण से निर्विशेष वस्तु की सिद्धि नही हो सकती। प्रत्येक वस्तु का अपना एक विशेष स्वभाव होता है, यदि ऐसी विशेष स्वभाव वालो वस्तु को निर्विशेष कहा जाता है तो वह वैसी ही अज्ञानता है, जैसे कोई प्रतिज्ञा करे कि "मै बन्ध्या का पुत्र हूँ"। इस बेचारे को अपने वाग् विरोध तक का ज्ञान नही होता।

यत्तु प्रत्यक्षं सन्मात्रग्राहित्वेन न भेदविषयम्, भेदश्च विकल्पासहत्वाद् दुर्निरूपः इत्युक्तम्, तदपि जात्यादिविशिष्टस्यैव वस्तुनः प्रत्यक्षविषयत्वाज्जात्यादेरेव प्रतियोग्यपेक्षया वस्तुनः स्वस्य च भेदव्यवहारहेतुत्वाच्च दूरोत्सारितम् संवेदनवद् रूपादिवच्च परमव्यवहारविशेषहेतोः स्वस्मिन्नपि तद् व्यवहार हेतुत्वं युष्माभिरभ्युपेतं भेदस्यापि संभवत्येव; अत एव च मानवस्थान्योन्याश्रयणंच। एकक्षणवर्त्तित्वेऽपि प्रत्यक्षज्ञानस्य तस्मिन्नेवक्षणे वस्तुभेदरूप तत्संस्थानरुप गोत्वावेगृहीतत्वात् क्षणान्तर ग्राह्यं न किंचिदिह तिष्ठति।

जो यह कहा कि प्रत्यक्ष प्रमाण सद्वस्तु मात्र ग्राही होता है, इसलिए भेद विषयक नही है, तथा भेद विकल्प को न सहने से दूर्निरूप है। सो इसमें भी, कथन यह है कि—जात्यादि विशिष्ट वस्तु की ही प्रत्यक्ष विषयता होती है वे जाति आदि ही उस वस्तु की अन्य वस्तुओं से भिन्नता ज्ञापन करते है। संवेदन और रूपरस आदि जैसे आश्रय के परिचय विशेष का ज्ञापन करके अपना भी परिचय ज्ञापन करते हैं उसी प्रकार अन्य पदार्थ भी अपरवस्तु के व्यवहार विशेष का ज्ञापन करके

तदनुरूप अपने व्यवहार का भी ज्ञापन करते हैं, इससे तो आपको यह मानना ही पड़ेगा कि प्रत्यक्ष, भेद को भी प्रमाणित करता है। इस प्रकार भेद ग्रहण में न तो अनवस्था दोष होता है और न अन्योन्याश्रय दोष। प्रत्यक्ष ज्ञान एक क्षणवर्त्ती होते हुए भी, उसी क्षण में उस वस्तु का भेद, आकृति, धर्म आदि सभी वस्तुओं का ग्राहक होता है, दूसरे क्षण उसके लिए ग्रहण करने को कुछ भी शेष नहीं रह जाता।

अपि च—सन्मात्र इति ग्राहित्वे घटोऽस्ति पटोऽस्तिइति विशिष्ट विषयाप्रतीतिर्विरूध्यते। यदि च सन्मात्रातिरेकवस्तुसंस्थानरूप जात्यादिलक्षणोभेदः प्रत्यक्षेणन गृहीतः किमित्यश्वार्थी महिष दर्शने निवर्त्तते? सर्वासुप्रतिपत्तिषु सन्मात्रमेव विषयश्चेत् तत् तत्प्रतिपतिविषयसहचारिणः सर्वेशब्दाः एकैकप्रतिपत्तिषु किमिति न स्मर्यन्ते?

तथा प्रत्यक्ष को सन्मात्र ग्राही मानेंगे तो "घट है" "पट है" ऐसी विशिष्ट विषयक प्रतीति के विरुद्ध होगा। यदि सन्मात्र के अतिरिक्त, वस्तु संस्थान रूप जाति आदि लक्षक भेदों की प्रतीति, प्रत्यक्ष से संभव न होती तो, घोड़ा को चाहने वाला कोई व्यक्ति घुडसाल में बंधे भैंसे को देखकर लौट नही सकता। यदि कहो कि—सभी प्रतीतियाँ सन्मात्र विषयक ही होती है; तो फिर भिन्न भिन्न प्रतीति विषयक शब्द, हर प्रतिपत्ति में स्मृत क्यों नहीं होजाते?

किं च अश्वे हस्तिनि च संवेदनयोरेक बिषयत्वेनोपरितनस्य गृहीत ग्राहित्वात् विशेषाभावाच्च स्मृति वैलक्षण्यं न स्यात्। प्रति संवेदनं विशेषाभ्युपगमे प्रत्यक्षस्य विशिष्टार्थं बिषयत्वमेवभ्युपगतं भवति सर्वेषां संवेदना नामेकविषयतायामेकेनैव संवेदनेनाशेषग्रहणा दंधबधिराद्यभावश्च प्रसज्येत्।

घोड़ा और हाथी की प्रतीतियां यदि एक प्रकार ही मानली जाएं तो ग्रहीत, ग्राहिता तथा विशेषता के अभाव से किसी प्रकार की स्मृति विलक्षणता न रह जाएगी [अर्थात् घोड़ा संबंधी प्रतीति के समान ही यदि हाथी

की भी प्रतीति हो जाय तो घोड़ा के समान हाथी को भी चाबुक से हाँकने की चेष्टा हो सकती है तथा घोड़े को अंकुश से। क्यों कि भिन्न प्रकार की स्मृति तो रहेगी नही] यदि प्रत्येक संवेदन को एक विशेष संवेदन मानेंगे तो प्रत्यक्ष की विशिष्टार्थ विषयता माननी पड़ेगी। सभी प्रतीतियों की एक विषयता मानने में एक ही प्रतीति से सभी विषयों की प्रतीति हो जानी चाहिए जिसके फलस्वरूप अंधे, बहरे आदि भेदों का अभाव हो जाना चाहिए [पर ऐसा होता नहीं, इसलिए उक्त सभी संभावनाये शक्य नही हैं]

न च चक्षुषा सन्मात्रं गृह्यते, तस्यरूपरूपिरूपैकार्थ ग्राहित्वात् नापि त्वचा, स्पर्शवद् वस्तुविषयत्वात्। श्रोत्रादीन्यपि न सन्मात्र विषयाणि; किन्तु शब्दरसगंधलक्षणविशेषविषयाण्येव। अतः सन्मात्रस्य ग्राहकं न किंचिदिह दृश्यते।

शुद्ध सद् वस्तु नेत्र से तो देखी नहीं जा सकती क्यों कि नेत्र रूप और रूप युक्त वस्तु को ही देख पाते हैं। त्वचा से भी ग्राह्य नहीं है क्यों कि त्वचा स्पर्शवान वस्तु को ही ग्रहण करतीहै। कान, नाक जिह्वा-आदि ज्ञानेन्द्रियाँ भी सद्वस्तु को नहीं जान सकतीं, क्योंकि उनसे शब्द, गंध, रस आदि विषयों की ही प्रतीति होती है। इसलिए सद्वस्तु का ग्राहक यहाँ तो कोई दीखता नही।

निर्विशेषसन्मात्रस्यप्रत्यक्षेणैव ग्रहणे तद् विषयागमस्य प्राप्त-विषयत्वेनानुवादकत्वमेव स्यात्। सन्मात्र ब्रह्मण: प्रमेयभावश्च। ततो जडत्वनाशित्वादयस्त्वयैवोक्ताः। अतोवस्तुसंस्थानरूपजात्या-दिलक्षणभेदविशिष्टविषयमेव प्रत्क्षम्; संस्थानातिरेकिणोऽनेकेषु एकाकार बुद्धिबोध्यस्यादर्शनात्, तावतैव गोत्वादि जाति व्यहारो-पपत्तेः। अतिरेक वादोऽपि संस्थानस्य संप्रतिपन्नत्वाच्च संस्थानमेव जातिः। संस्थाननाम साधारणरूपमिति; यथावस्तु संस्थानमनुसंधेयम् जातिग्रहणेनैव भिन्न इति व्यवहार संभवात्, पदार्थान्तरादर्शनात् अर्थान्तरवादिनाप्यभ्युतगतत्वाच्च गोत्वादिरेव भेदः।

निर्विशेष सन्मात्र को प्रत्यक्ष से ही ग्राह्य प्रमाणित करने वाला, शास्त्र अनुवादक मात्र ही है, क्योंकि—उक्त विषय की प्राप्ति की जानकारी तथा सन्मात्र ब्रह्म का प्रमेय भाव, उसमें बतलाया गया है। उक्त शास्त्र को सही मान लेने से, उस संन्मात्र ब्रह्म में जड़ता क्षीणता आदि दोष तुम्हीं बतलाने लगोगे। इससे सिद्ध होता है कि, वस्तु संस्थान रूप जाति आदि लक्षण भेदों वाला विशिष्ट विषय ही प्रत्यक्ष द्वारा प्रमाणित है। भिन्न आकृति वाली अनेक वस्तुओं में एकाकार बुद्धि विषयक ज्ञान नहीं हुआ करता, तभी गोत्व आदि जातियों का व्यवहार उपपन्न होता है। संस्थान से अतिरिक्त जातिवाद मानने से भी संस्थान की स्थिति पूर्व वत् रहती है, इसलिए संस्थान ही एक जाति होती है। अपने असाधारण विशिष्ट रूप को ही संस्थान कहते हैं। वस्तु के स्वरूपानुसार उसके संस्थान को जानने की चेष्टा करनी चाहिए। जाति संबंधी ज्ञान से ही भिन्नता के व्यवहार का परिज्ञान होता है। संस्थान के अतिरिक्त वस्तु को जाति मानने पर भी; संस्थान के अतिरिक्त, जाति नामक किसी वस्तु की प्रतीति न होने से तथा एक मात्र संस्थान में ही जाति की प्रतीति होने से गोत्व आदि भेदों की प्रतीति होती है।

ननुच जात्यादिरेव भेदश्चेत्, तस्मिन् गृहीते तद्व्यवहारवद् भेदव्यवहारः स्यात्। सत्यम् भेदश्च व्यवह्रियत एव गोत्वादि व्यवहारात्। गोत्वादिरेव हि सकलेतरव्यावृत्तिः, गोत्वादौ गृहीते सकलेतरसजातीयबुद्धिव्यवहारयोर्निवृत्तेः। भेदग्रहणेनैव हि अभेद निवृत्तिः। "अयम् अस्मात् भिन्नः,, इति व्यवहारे प्रतियोगी निर्देशस्य तदपेक्षत्वात् प्रतियोगि अपेक्षा भिन्न इति व्यवहार इत्युक्तम

(शंका) जाति आदि ही भेद हैं ऐसा मनाने से तो यह भी मानना पड़ेगा कि जाति आदि व्यवहार की तरह, भेद का भी व्यवहार होता है। (समाधान) ठीक है; गोत्व आदि के व्यवहार से ही भेद व्यवहृत होता है। गोत्व आदि ज्ञान ही अन्य वस्तुओं से उसकी विभिन्नता बतलाता है; गोत्वादि में जानकारी हो जाने पर अन्यान्य समस्त वस्तुओं में, सजातीय बुद्धि और व्यवहार की निवृति हो जाती है। भेद ज्ञान से ही अभेद भाव की निवृत्ति होती है। "यह वस्तु अमुक वस्तु से भिन्न

है" ऐसे व्यवहार मे भेद प्रतीति के लिए ही वस्तु के प्रतियोगी "अमुक" का निर्देश किया जाता है, तभी "अमुक प्रतियोगी से यह वस्तु भिन्न है" ऐसा व्यवहार किया जाता है।

यत्पुनर्घटादीनां विशेषाणा व्यावर्त्तमनत्वेनापारमार्थ्यमुक्तं तदा-नालोचितबाध्यबाधकभावव्यवहारवृत्यनुवृत्तिविशेषस्य भ्रांति परिकल्पितम्। द्वयोर्ज्ञानयोर्विरोधे हि बाध्यबाधक भाव.। बाधितः स्यैव्यावृत्तिः। अत्र घट पटादिषु देश काल भेदेन विरोध एव नास्ति। यस्मिन् देशे यस्मिन् काले यस्यसद्भाव. प्रतिपन्न. तस्मिन् देशे तस्निन् काले तस्याभाव. प्रतिपन्नश्चेत् तत्र विरोधात् बलवतो बाधकत्वं बाधितस्य च निवृत्ति.। देशान्तर कालान्तर सबधितयानुभूतस्यान्य-देशकालयोरभावप्रतीतौ न विरोध इति कथमत्र बाध्यबाधक भाव.?अन्यत्र निवृत्तस्यान्यत्र निवृत्तिर्वा कथमुच्यते ? रज्जुसर्पादिषु तु तद्देशकालसंबधितयैवाभाव प्रतीतेर्विरोधोबाधकत्व व्यावृत्तिश्चेति देशकालान्तर व्यावर्त्तमानत्व मिथ्यात्वव्याप्तं न दृष्टमिति, व्यावर्त्तमानत्वमात्रमपारमार्थ्यं हेतु.।

और जो, आप घट आदि विशेष पर्दाथो को व्यावर्त्तमान होने से, अपारमार्थिक कहते है वह भी, बाध्यबाधक भाव, तथा व्यावृति, अनु-वृति आदि की सही पर्यालोचना न करने के कारण आपकी भ्रान्त धारणा है। दो ज्ञानो के पारस्परिक विरोध होने में ही बाध्यबाधक होता है। बाधित पर्दाथ की ही व्यावृति होती है। घट पट आदि की प्रतीति में तो देश काल का भेद है, अतः विरोध का प्रश्न ही नही उठता। जिस स्थान मे, जिस समय जिस वस्तु के अस्तित्व की प्रतीति होती है, उसी स्थान मे उसी समय, उस वस्तु का अभाव हो जाय, तभी विरोध उप-स्थित होता है और तभी वलवान बाधक वस्तु से बाधिक पदार्थ की निवृति होती है। जो वस्तु भिन्न स्थान और भिन्न समय में अनुभूत हो, उसकी अन्य स्थान और अन्य समय में अभाव प्रतीति हो, उसमें विरोध का प्रश्न ही नही है, घट पढ आदि की प्रतीति में भी यही स्थिति

है, तो बाध्य बाधक भाव कैसे घटित होगा ? एक स्थान के अभाव को, दूसरे स्थान का कैसे कह सकते हैं ? रज्जुसर्प आदि दृष्टान्त में तो, एक ही स्थान और एक ही समय में, सर्प रज्जु का व्यार्तक है, इसीलिए रज्जु के अभाव की प्रतीति होती है, तभी विरोध, बाधक भाव होते हैं, और व्यावृति होती है। स्थान और समय की भिन्नता में व्यावृति, मिथ्यात्व और व्याप्ति का कहीं भी उदाहरण नहीं मिलता। इसलिए केवल व्यावृत्ति ही अपारमार्थिकता की हेतु नहीं है।

यत्तु अनुवर्त्तमानत्वात् सत्परमार्थ इति, तत् सिद्धमेवेति न साधनमर्हति अतो न सन्मात्रमेव वस्तु अनुभूति सद्विषययोश्च विषयविषयिभावेन भेदस्यप्रत्यक्षसिद्धत्वात् अबाधितत्वाच्च अनुभूतिरेवसतीत्येतदपि निरस्तम्।

और जो, अनुवर्त्तमान होने से सत् की परमार्थता है वह तो सिद्ध ही है, उसको प्रमाणित करने की कोई आवश्यता नहीं है, इसलिए सत् ही एक मात्र वस्तु है, ऐसा नहीं कह सकते। अनुभूति और सत् में विषय और विषयी का भाव होने से उन दोनों का भेद प्रत्यक्ष सिद्ध है, जो किसी भी प्रकार बाधित नहीं हो सकता। इसलिए, अनुभूति ही सत् है, यह बात भी कट जाती है।

यत्त्वनुभूतेः स्वयम्प्रकाशत्वमुक्तं, तद्विषयप्रकाशनवेलायां-ज्ञातुरात्मनस्तथैव, न तु सर्वेषां सर्वश तथैवेति नियमोऽस्ति परानु-भवस्य, हानोपानादिलिंगकानुमानज्ञानविषयत्वात् स्वानुभवस्या-प्यतीतस्य अज्ञासिषमितिज्ञानविषयत्वदर्शनाच्च, अतोऽनुभूतिश्चेत् स्वतःस्सिद्धेति वक्तुं न शक्यते।

और जो, अनुभूति की स्वयं प्रकाशता बतलाई सो, विषय प्रकाशन के समय ज्ञाता की स्वतः जैसी स्थिति होती है; सभी की सदा वैसी ही स्थिति हो ऐसा कोई नियम नहीं है। क्यों कि, परकीय अनभव तो प्रवृत्ति निवृत्ति लिंगक होने से केवल अनुमान प्रमाण का विषय होता है तथा स्वानुभव भी (अनुभव के) द्वितीय क्षण में "मैंने जान लिया"

ऐसे ज्ञान का विषय होता है। इसलिए अनुभूति स्वतः सिद्ध वस्तु है, ऐसा नहीं कह सकते।

अनुभूतेरनुभाव्यत्वेऽननुभूतित्वमित्यपि दुरुक्तम्, स्वगतातीतानुभावनां परगतानुभवानांच अनुभाव्यत्वेन अननुभूतित्वप्रसंगात्। परानुभवानुमानानभ्युपगमे च शब्दार्थसंबंधग्रहणाभावेन समस्तशब्दव्यवरोच्छेद प्रसंगः। आचार्यस्य ज्ञानवत्वं अनुमाय तदुपसत्तिश्च क्रियते, सा च नोपपद्यते। न च अन्यविषयत्वेऽननुभूतित्वम्, अनुभूतित्वं नाम वर्त्तमानदशायां स्वसत्तयैव स्वाश्रयं प्रति प्रकाशमानत्वं, स्वसत्तयैव, स्वविषय साधनत्वं वा। ते च अनुभवान्तरानुभाव्यत्वेऽपि स्वानुभवसिद्धत्वेनापगच्छत इति नानुभूतित्वमपगच्छति घटादेस्त्वननुभूतित्वमेतत्स्वभाव विरहात् नानुभाव्यत्वात्। तथा अनुभूतेरननुभाव्यत्वेऽपि अननुभूतित्वप्रसंगो दुर्वारः गगनकुसुमादेरननुभाव्यस्याननुभुतित्वात्।

अनुभूति, अनुभाव्य है; इसलिए अनुभूति कोई वस्तु नही है, ऐसा कहना भी कठिन है। अपने अतीत तथा दूसरों के अनुभवों के अनुभाव्य होने से अननुभूति की बात उठती है (अर्थात जो अपने अतीत अनुभव हैं, तथा दूसरों के अनुभवों को हम अननुभूति कहते है) परंतु अपने बीते हुए अनुभवों के अनुमान तथा दूसरों के अनुभवों को अस्वीकार करने से (जो कि शाब्दिक ही होते हैं) शब्दार्थ संबंध के ग्रहण का अभाव हो जायेगा जिसके फलस्वरूप, स्वानुभव और परानुभव पर आधारित जितना भी वाङ्मय है उसकी महत्ता ही समाप्त हो जायेगी तथा आचार्य के वैदुष्य का, अनुमान कर जो छात्र समुदाय, आचार्य के निकट विद्याभ्यास के लिए जाया करता है, वह भी समाप्त हो जायगा।

अन्य विषयता होने से भी अननुभूति की बात नही उठाई जा सकती क्योंकि—वर्तमान दशा में अपनी सत्ता से ही जो अपनी आश्रय वस्तु को प्रकाशित करे अथवा अपनी सत्ता से अपने विषय को सिद्ध करे उसे अनुभूति कहते है। अन्यान्य अनेक अनुभूतियो के होते हुए भी, जो अनुभूति

पहले हो चुकी हैं, उन स्वानुभूतियों का अभाव कभी नहीं होता। घट आदि पदार्थ स्वयं अनुभूति नहीं कर पाते, वे सब जीव रहित जड़ हैं, पर वे अनुभाव्य तो हैं ही। अनुभूति स्वयं अनुभाव्य नहीं हैं, फिर भी उसकी अनुभूति नहीं होती, ये नहीं कहा जा सकता। आकाश पुष्प आदि असंभव वस्तुएँ तो अनुभाव्य ही नही है, इसलिये उनका अनुभव नहीं होता।

गगनकुसुमादेरननुभूतित्वमसत्त्वप्रयुक्तम् नानुभाव्यत्वप्रयुक्तमिति चेत्, एवं तर्हि घटादेरप्यज्ञानाविरोधित्वमेवाननुभूतित्वनिबन्धनम् नानुभाव्यत्वमित्यास्थीयताम्। अनुभूतेरनुभाव्यत्वे अज्ञानाविरोधित्वमपि तस्याः घटादेरिव प्रसज्यते इति चेत्, अननुभाव्यत्वेपि गगनकुसुमादेरिवाज्ञानाविरोधित्वमपि प्रसज्यते एव अतोऽनुभाव्यत्वेऽननुभूतित्वमिति उपहास्यम्।

गगन कुसुम आदि में जो अनुभूति राहित्य है, वो तो, असत् प्रयुक्त है, अनुभाव्य प्रयुक्त नहीं है, यदि ऐसा मानते हो तो घट आदि की जो अननुभूतिता है, वह अज्ञान के कारण है, अनुभाव्यता से नहीं है, ऐसा भी मानना पड़ेगा। यदि कहो कि— अनुभूति की अनुभाव्यता स्वीकारने से, घट आदि को तरह उसमें भी अज्ञान की बात लागू हो सकती है [तो मैं कहता हूँ कि अनुभूति कोई गगनकुसुम की तरह असंभव वस्तु नही है जो उसकी अनुभाव्यता न मानी जाय] यह कथन नितान्त हास्यास्पद है कि अनुभूति अनुभाव्य है, इसलिए अनुभूति नाम की कोई वस्तु नहीं है।

यत्तु संविदः स्वतस्सिद्धायाः प्रागभावाद्यभावात् उत्पत्तिर्निरस्यते। तदन्धस्य जात्यन्धेन यष्टिः प्रदीयते। प्रागभावस्य ग्राहकाभावादभावो न शक्यते वक्तुम्, अनुभूत्यैव ग्रहणात् कथमनुभूतिस्सती तदानीमेव स्वाभावं विरुद्धमवगमयतीति चेत्; न हि अनुभूतिः स्व समकालवर्त्तिनमेव विषयीकरोतीत्यस्ति नियमः अतीतानागतयोरविषयत्वप्रसंगात्।

और जो, प्रागभाव आदि के न होने से, स्वयं सिद्धा अनुभूति, की उत्पत्ति का खंडन किया, वह भी ऐसी ही बात है जैसे कोई जन्मान्ध, दूसरे अन्धे को लाठी का सहारा दे। प्रागभाव इसलिए अभाव है, कि उसमें ग्राहकता का अभाव है, ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि अनुभूति का ग्रहण उसमें होता है (अर्थात् अनुभूति अतीत भी होती है) अनुभूति स्वयं स्थित रहकर उसी समय अपने अभाव को कैसे बतला सकती है, यह विरुद्ध भाव है ? ऐसी शंका भी नहीं कर सकते क्योंकि—अनुभूति सम-कालीन विषयक ही हो ऐसा कोई नियम नहीं है। यदि ऐसा मान लेगें तो अतीत और अनागत विषयक अनुभूति की बात तो एक दम ही समाप्त हो जायगी।

अथमन्यसे—अनुभूति प्रागभावादेः सिद्ध्यतः तत् समकाल-भावनियमोऽस्तीति; किं त्वयाक्वचिदेवं दृष्टं ? यन्नियमंब्रवीषि। हन्त तर्हि तत् एव दर्शनात् प्रागभावादिः सिद्ध इति, न तदपह्नवः। तत् प्रागभावं च तत् समकालवर्त्तिनं, अनुन्मत्तः कोब्रवीति ?

यदि अपने बचाव के लिए यह मानों कि—उपलब्धि के बिना किसी वस्तु की प्रतीति नहीं होती, इसलिए अनुभूति प्रागभाव आदि सभी में रहती है ऐसा नियम है; तो क्या तुमने कहीं ऐसा देखा है ? जो नियम बतला रहे हो। यदि देखा है, तो बड़ी प्रसन्नता की बात है, तुम्हारे उस दर्शन से ही अनुभूति के प्रागभाव आदि सिद्ध हो जाते हैं, जिन्हें तुम छिपा नहीं सकते। अभाव और उसके साथ उस अनुभूति का भाव, दोनों एक साथ रहते है, ऐसा पागल के अतिरिक्त दूसरा और कौन कह सकता है ?

इन्द्रिय जन्मनः प्रत्यक्षस्य हि एष स्वभाव नियमः, यत् स्वसम-कालवर्त्तिनः पदार्थस्य ग्राहकत्वम्, न सर्वेषांज्ञानानां प्रमाणानाञ्च, स्मरणानुमानागमयोगिप्रत्यक्षादिषु कालान्तरवर्त्तिनोऽपि ग्रहणदर्श-नात्। अतएव च प्रमाणस्य प्रमेयाविनाभावः, नहि प्रमाणस्य स्वसमकालवर्त्तिनाऽविनाभावोऽर्थ संबंधः, अपितु यत् देशकालादि

संबंधितया योऽर्थोऽवभासते, तस्य तथाविधाकारमिथ्यात्वप्रत्यनीकता, अत इदमपि निरस्तम् "स्मृतिर्नवाह्यविषया" नष्टेत्यर्थे स्मृति दर्शनात् इति ।

इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष का ही यह स्वाभाविक नियम है कि, उसमें समकालीन पदार्थ की प्रतीति होती है, सभी ज्ञानों और प्रमाणों का ऐसा नियम नहीं है; स्मरण, अनुमान, आगम, योगिप्रत्यक्ष आदि में कालान्तरवर्त्ती वस्तु का साक्षात्कार भी होता है। इसी से प्रमाण का प्रमेय के साथ अविनाभाव (नियत संबंध) सिद्ध होता है। अपनी समकालीन वस्तु के साथ ही प्रमाण का अविनाभाव संबंध होता हो ऐसा कोई नियम नहीं है, अपितु जिस किसी भी देश काल आदि से संबंधी जो भी पदार्थ प्रतिभासित होता है, उसकी उसी प्रकार के मिथ्यात्व की निबृत्ति करना प्रमाण का कार्य है। इससे बौद्धों का यह मत भी निरस्त हो जाता है कि—"स्मृति वाह्य पदार्थ विषयक नहीं होती" नष्ट पदार्थ कीं भी स्मृति हुआ करती है।

अथोच्येत, न तावत् संवित् प्रागभावः प्रत्यक्षावसेयः लिंगाद्यभावात्। न हि संवित् प्रागभावव्याप्तिमिहलिंगमुपलभ्यते, न चागमस्तद् विषयो दृष्टिचरः। अतस्तत्प्रागभावः प्रमाणाभावात् एव न सेत्स्यति, इति। यद्येवं स्वतस्सिद्धत्वविभवं परित्यज्य प्रमाणाभावेऽवरूढ़श्चेत् योग्यानुपलब्ध्यैवाभावः समर्थितः इत्युपशाम्यतु भवान्।

यदि कहो कि—संवित् का प्रागभाव, लिंग आदि के अभाव के कारण, प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा निरूपित नही हो सकता। न प्रागभाव में संवित् की व्याप्ति ही रहती है जिससे उसका लिंग उपलब्ध हो सके, और न उसके विषय में कोई शास्त्र वचन ही मिलता है। इसलिए संवित् का प्रागभाव, प्रमाणों के अभाव से सिद्ध नहीं होता [उत्तर] यदि ऐसा ही है कि आप अनुभूति की स्वतः सिद्धता को छोड़कर प्रमाणों के अभाव पर ही अड़ गये हैं तो प्रमाणों की अनुपलब्धि ही ऐसा प्रमाण है, जिससे अभाव का समर्थन हो जाता है, अतः आपका चुप रहना ही हितकर है।

किंच प्रत्यक्षज्ञानं स्वविषयं घटादिकं स्वसत्ताकाले संतं साधयत्तस्य न सर्वदा सत्तामवगमयत् दृश्यत इति घटादेः पूर्वोत्तरकाल सत्ता न प्रतीयते। तदप्रतीतिश्च संवेदनस्य कालपरिच्छिन्नतया प्रतीतेः। घटादिविषयमेव संवेदनं स्वयंकालानवच्छिन्नं प्रतीतं चेत्; संवेदन विषयो घटादिरपि कालानवच्छिन्नः प्रतीयतेति नित्यः स्यात्। नित्यं चेत् संवेदनं स्वतस्सिद्धं नित्यमित्येव प्रतीयेत, न च तथा प्रतीयते।

देखा जाता है, कि—प्रत्यक्ष ज्ञान के विषय घट आदि जब तक रहते है तभी तक उनका अस्तित्व रहता है, प्रत्यक्ष ज्ञान ही उस अस्तित्व का ज्ञापक होता है, फिर भी वह, उनकी सत्ता को सर्वकालीन नहीं बतलाता, इसी से घट आदि की अतीत और आगत सत्ता की प्रतीति नही होती। सवेदन (अनुभव) की कालपरिच्छिन्नता से ही उस प्रतीति का भान होता है [अर्थात् संवेदन कालान्तर में बदलता रहता है इसी से पदार्थों की अप्रतीति होती है अर्थात् घट बनने के पूर्व का अनुभव और घटध्वंस के बाद का अनुभव, घटस्थिति के अनुभव से भिन्न होता है, जिससे अभाव की प्रतीति होती है, अतः मनुष्य की प्रतीति घटनाओं के आधार पर समय-समय पर बदलती रहती है] घट आदि निषयक संवेदन यदि स्वयं ही, काल से अनवच्छिन्न हों, तो संवेदन के विषय घट आदि भी काल से अनवच्छिन्न प्रतीत हों, इस प्रकार नित्य हो जाएं। स्वतः सिद्ध संवेदन यदि नित्य होता तो, उसकी प्रतीति भी नित्य होती, पर वैसा होता नहीं [इससे सिद्ध होता है कि संवित् नित्य वस्तु नहीं है]

एवं अनुमानादि संविदोऽपि कालानवच्छिन्नाः प्रतीताश्चेत् स्वविषयानपि कालानवच्छिन्नान् प्रकाशयन्तीति, तेच सर्वेकालानवच्छिन्ना नित्याः स्युः, संविदनुरूपस्वरूपत्वात् विषयाणाम्। न च निर्विषया काचित् संविदस्ति, अनुपलब्धेः। विषय प्रकाशनतयैवोपलब्धेरेव हि संविदः स्वयम्प्रकाशिता समर्थिता। संविदो विषयप्रकाशनता

स्वभावविरहेसति स्वयंप्रकाशत्वासिद्धेः अनुभूतेरनुभावन्तराननुभाव्यत्वाच्च संविदस्तुच्छतयैव स्यात्। न च स्वापमदमूर्च्छादिषु सर्वविषयशून्या केवलैव संवित्परिस्फुरतीति वाच्यम्, योगानुपलब्धिपराहतत्वात्। तावपि दशास्वनुभूतिरनुभूता चेत्, तस्याः प्रबोध समयेऽनुसंधानं स्यात् न च तदस्ति।

इसी प्रकार अनुमान आदि जन्य संविद् भी यदि काल से अनवच्छिन्न प्रतीत होती तो अपने विषयों को भी काल से अनवच्छिन्न ही प्रकाशित करती, जिससे वे सारे ही विषय काल से अनवच्छिन्न (अवाध्य) नित्य होते, क्योंकि विषयों का स्वरूप संविद के अनुरूप ही होता है। कोई भी संवित् निर्विषयक नहीं होती; ऐसा प्रमाण भी नहीं मिलता। विषय प्रकाशन से ही उपलब्धि होती है तथा संविद् की स्वयम्प्रकाशिता सिद्ध होती है। संविद का विषय प्रकाशनता का स्वभाव यदि समाप्त हो जाय तो, उसकी स्वयं प्रकाशता ही असिद्ध हो जायगी। तथा अनुभूति के लिए एक दूसरी अनुभूति की कल्पना करनी पड़ेगी, जिससे संवित् एक तुच्छ वस्तु हो जायगी।

निद्रा, मद, मूर्च्छा आदि में सब विषयों की शून्यता रहती है, एक मात्र संवित् ही परिस्फुरित रहती है, ऐसा नहीं कह सकते, यह कथन तो योगानुपलब्धि से ही कट जाता है। उन दशाओं में यदि अनुभूति, होती तो, निद्राभंग होने पर उसका स्मरण रहता, पर ऐसा नहीं होता।

ननु अनुभूतस्य पदार्थस्य स्मरणनियमो न दृष्टिचरः अतः स्मरणाभावः कथं अनुभवाभावं साधयेत्? उच्यते—निखिलसंस्कार तिरस्कृतकरदेहविगमादिप्रबलहेतुविरहेप्यस्मरण नियमोऽनुभवाभावमेव साधयति, न केवल स्मरण नियमादनुभवाभावः। सुप्तोत्थितस्य इयन्तं कालं न किंचिदहमज्ञासिषमिति प्रत्यवमर्शेनैव सिद्धेः। न च सत्यप्यनुभवे तदस्मरणनियमो विषयावच्छेदविरहादहंकार-

विगमाद्वेति शक्यते वक्तुम्। अर्थान्तराननुभवस्यार्थान्तराभावस्य चानुभूतार्थान्तरास्मरण हेतुत्वाभावात्। तास्वपि दशासु अहमर्थोऽनुवर्त्तत इति न वक्ष्यते।

(शका) अनुभूत पदार्थो का स्मरण सदा रहे ही ऐसा तो कोई नियम है नही, और जिस वस्तु की स्मृति ही नही रहेगी, तो अनुभव हुआ ही नही, ऐसा निर्णय कैसे किया जा सकता है !

(उत्तर) निद्रा आदि अवस्थाओं मे देह आदि से असबद्ध होने के कारण सारे संस्कार तिरोहित हो जाते है, उससे भी विस्मृति होती है इससे भी अनुभव का अभाव सिद्ध होता है। केवल स्मरणाभाव के नियम से ही अनुभव का अभाव ज्ञात होता हो, ऐसी बात नही है अपितु "मुझे इतनी देर कुछ भी ज्ञात नही रहा" ऐसे सोकर उठे हुए व्यक्ति के कथन से भी अनुभव का अभाव सिद्ध होता है।

यह भी नही कह सकते कि—निद्रा आदि अवस्थाओं में अनुभव तो होता है, पर विषय निर्धारण के अभाव और अहंकार के विगम (प्रतीति न होने) से विस्मृति हो जाती है। अन्य वस्तु की अनुभूति का अभाव और अन्य वस्तु का विनाश कभी अन्य अनुभूत पदार्थ के विस्मरण का हेतु नहीं हो सकता। निद्रा आदि दशाओं में भी अहंकार रहता है, ऐसा आगे बतलावेंगे।

ननु—स्वापादिदशास्वपि सविशेषोऽनुभवोऽस्तीति पूर्वमुक्तम्। सत्यमुक्तम्, सत्वात्मानुभवः। स च विशेष एवेति स्थापयिष्यते। इह तु सकलविषयविरहिणी निराश्रया च संविद् निषिध्यते। केवलैव संविदात्मानुभव इति चेत् न, सा च साश्रयेतिहि उपपादयिष्यते। अतोऽनुभूतिः सती स्वयं स्वप्रागभावं न साधयति इति प्रागभावासिद्धिर्नशक्यते वक्तुम्। अनुभूतेरनुभाव्यत्वसंभवोपपादने नान्यतोऽप्यसिद्धिर्निरस्ता; तस्मात् न प्रागभावाद्यासिद्ध्या संविदोऽनुत्पत्तिरुपपत्तिमती।

यदि कहो कि—पहिले तो कहा था कि निद्रा आदि दशाओं में सविशेष अनुभव रहता है ? (उत्तर) ठीक है, कहा था, वह तो आत्मानुभव का प्रसंग था। उसमें तो सविशेष अनुभव होता ही है इस बात को तो आगे भी कहूँगा। यहाँ तो समस्त विषयों से रहित निराश्रित संवित् के निषेध का प्रसंग है। केवल संविद ही आत्मानुभव है, ऐसा नहीं है; आत्मानुभवरूप संवित् तो साश्रया है, इसका आगे उपपादन करूँगा।

अनुभूति स्वयं स्थित रहते हुए अपने प्रागभाव को सिद्ध नहीं कर सकती अतः अनुभूति का प्रागभाव सिद्ध नहीं होता ऐसा नहीं कह सकते। अनुभूति की अनुभाव्यता के उपपादन से भी तथा अन्य युक्तियों से भी अनुभूति की नित्यता की सिद्धि की बात निरस्त हो जाती है। प्रागभाव आदि की असिद्धि से संवित् की अनुत्पत्ति का समर्थन नहीं किया जा सकता।

यदप्यस्यानुत्पत्त्या विकारान्तरनिरसनम्, तदप्यनुपपन्न, प्रागभावे व्यभिचारात्। तस्य हि जन्माभावेऽपि विनाशोदृश्यते। भावेष्विति विशेषणे तर्ककुशलताऽविष्कृता भवति। तथा च भवदभिमताऽविद्यानुत्पन्नैव, विविधविकारास्पदं तत्त्वज्ञानोदयादन्तवती चेतितस्यामनैकान्त्यम्। तदविकाराः सर्वे मिथ्याभूता इति चेत्; किं भवतः परमार्थभूतोऽप्यस्ति विकारः ? येनैतद् विशेषणमर्थवद् भवति। न हि असावभ्युपगम्यते।

यद्यपि संविद् की अनुत्पत्ति की स्वीकृति से, संविद् में संभावित अन्यान्य विकारों का भय समाप्त हो जाता है, फिर भी अनुत्पत्ति की बात सिद्ध नहीं हो पाती, क्योंकि संविद् का प्रागभाव सिद्ध हो चुका है। इसके जन्म के अभाव को मान लेने पर भी, प्रत्यक्ष ज्ञात होने वाला इसका जो विनाश है, उसको अस्वीकार नहीं कर सकते। [जो वस्तु विनाशशील है, वह उत्पत्तिशील भी निश्चित है।]

यदि कहो कि, उक्त बात तो संविद् की नित्यता के विषय में भी कही जा सकती है; मेरी समझ में तो ऐसा नहीं आता, हाँ तर्क कुशलता

अवश्य लक्षित होती है। दूसरी बात ये है कि, आपकी अभिमत अविद्या जन्म रहित होते हुए भी अनेक विकारों वाली और तत्त्वज्ञान से नष्ट हो जाने वाली है, संविद् की नित्यता भी इसी से मिलती जुलती है क्या ? यदि कहें कि अविद्या के सारे विकार तो मिथ्या होते हैं; तो आपकी दृष्टि में कोई विकार सत्य भी हैं क्या ? जिससे आपका उक्त विशेषण सार्थक हो सके, सो इसे आप स्वीकार नहीं करेंगे।

यदपि, अनुभूतिरजत्वात् स्वस्मिन् विभागं न सहते इति, तदपिनोपपद्यते, अजस्यैवात्मनोदेहेन्द्रियादिभ्यो विभक्तत्वात् अनादित्वेन चाभ्युपगतायाअविद्याया आत्मनो व्यतिरेकस्य अवश्याश्रयणीयत्वात्। स विभागो मिथ्यारूप इति चेत्, जन्मप्रतिबद्धः परमार्थ विभागः किं क्वचिद् दृष्टः त्वया ? अविद्याया आत्मनः परमार्थतो विभागाभावे वस्तुतो हि अविद्यैवस्यादात्मा अबाधित प्रतिपत्तिसिद्ध दृश्यभेद समर्थनेन दर्शनभेदोऽपि समर्थित एव छेद्यभेदाच्छेदनभेदनवत्।

"अनुभूति अजन्मा होने के कारण अपने में भेद को सहन नहीं करती" आपका यह कथन भी सही नही है, क्योंकि—जन्मरहित परमात्मा भी देह इन्द्रियादि भागों में विभक्त होता है, अविद्या को अनादि मानकर उसकी परमात्मा से भिन्नता माननी ही पड़ेगी। यदि कहो कि—वह भेद तो काल्पनिक मिथ्या है तो जन्म से प्रतिबद्ध वास्तविक भेद की कहीं आपने देखा है क्या ? अविद्या से आत्मा का वास्तविक भेद न मानने से, वह अविद्या वस्तु ही आत्मा हो जायगी। प्रत्यक्ष सिद्ध दृश्य घट पट आदि भेदों के समर्थन से दर्शन भेद भी समर्थित ही है, जैसे कि—छेद्य वृक्ष आदि के भेदानुसार छेदन की क्रियायें भिन्न-भिन्न प्रकार की होती हैं।

यदपि—"नास्या दृशेद्‌शिस्वरूपाया दृश्यः कश्चिदपिधर्मोऽस्ति, दृश्यत्वादेवतेषां न दृशिधर्मत्वं" इति च। तदपि स्वाभ्युपगतैः प्रमाणसिद्धैः नित्यत्व स्वयंप्रकाशत्वादिधर्मैरुभयमनैकांतिकम्। न

च ते संवेदनमात्रम्, स्वरूपभेदात् । स्वसत्तयैव स्वाश्रयं प्रति कस्यचिद् विषयस्य प्रकाशनं हि संवेदनम् । स्वयं प्रकाशता तु स्वसत्तयैव स्वाश्रयाय प्रकाशमानता । प्रकाशश्च चिदचिदशेषपदार्थ साधारणं व्यवहारानुगुण्यम् ।

जो यह कहा कि—"अनुभूति स्वयं दृष्टि स्वरूप (ज्ञान स्वरूप) है इसके लिए कोई भी दृश्य धर्म नहीं है, तथा इसकी जो नित्यता स्वयं प्रकाशता आदि विशेषतायें हैं यदि उन्हें ही दृश्य कहा जाय तो वे भी उक्त मतानुसार दृष्टि स्वरूप अनुभूति से दृश्य नहीं हो सकतीं" आपकी यह उक्ति भी अनुभूति की स्वीकृत प्रमाण सिद्ध नित्यता और स्वयं प्रकाशता आदि धर्मों से अनिश्चित हो जाती है । नित्यता, स्वयं प्रकाशता आदि संवेदन ही हैं ऐसा भी नहीं कह सकते क्योंकि इनसे संवेदन का स्वरूप भेद है । अपनी सत्ता से अपने आश्रित पदार्थ में किसी विषय को प्रकाशित करना संवेदन है तथा अपनी सत्ता से ही अपने आश्रित पदार्थ को प्रकाशित करना स्वयं प्रकाशता है तथा प्रकाश जड़ चेतन सभी सामान्य पदार्थों के व्यवहार के अनुरूप होता है ।

सर्वकालवर्त्तमानत्वं हि नित्यत्वम् । एकत्वमेक संख्यावच्छेद इति । तेषां जडत्वादिभावरूपतायामपि तथाभूतैरपि चैतन्यधर्मभूतैः तैरनैकान्त्यमपरिहार्यम्, संविदि तु स्वरूपातिरेकेण जडत्वादि प्रत्यनीकत्वमित्यभावरूपोभावरूपो वा धर्मोनाभ्युपेतश्चेत्; तत्तन्निषेधोक्त्या किमपि नोक्तं भवेत् ।

सर्वकाल वर्त्तमानता ही नित्यता है एक संख्या से परिमित होना ही एकत्व है । इन सबका जड़ता आदि भाव रूप होते हुए भी ये चैतन्य के धर्म है; इस प्रकार चैतन्य धर्मता को प्राप्त इन सबकी एकता अनिवार्य हो जाती है । संवित् में तो, स्वरूप से भिन्न जड़ता आदि उक्त समस्त धर्म भाव रूप हों या अभाव रूप, यदि उनका संवित के साथ संबंध नहीं मानेंगे तो, उन सबकी अनुभूति धर्मता का प्रत्याख्यान करना कठिन होगा ।

अपि च—संवित् सिद्ध्यति वा न वा? सिद्ध्यति चेत् सधर्मता स्यात्। न चेत् तुच्छता गगनकुसुमादिवत्। सिद्धिरेव संविदिति चेत्, कस्य कं प्रति वक्तव्यम्, यदि न कस्यचित् कंचित् प्रति सा तर्हि न सिद्धिः। सिद्धिर्हि पुत्रत्वमिव कस्यचित् कंचित् प्रति भवति। आत्मनि इति चेत्, कोऽयमात्मा? ननु संविदेत्युक्तम्। सत्यमुक्तम् दुरुक्तंतत्। तथाहि, कस्यचित् पुरुषस्य किंचिदर्थजातं प्रति सिद्धिरूपतया तत्संबंधिनी सा संवित् स्वयं कथमिवात्मभावमनुभवेत्? एतदुक्तं भवति, अनुभूतिरिति स्वाश्रयं प्रति स्वसद्भावेनैव कस्यचित् वस्तुनोव्यवहानुगुण्यापादनस्वभावो ज्ञानावगति संविदाद्यपरनामा सकर्मकोऽनुभवितुरात्मनो धर्मविशेषो, घटमहं जानामीममर्थमवगच्छामि पटमहं संवेद्मीति सर्वेषामात्मसाक्षिकः प्रसिद्धः। एतत् स्वभावतया हि तस्याः स्वयंप्रकाशता भवताप्युपपादिता। अन्यसकर्मकस्य कर्तृधर्मविशेषस्य कर्मत्ववत् कर्तृत्वमपि दुर्घटमिति।

वह संवित् प्रमाण द्वारा सिद्ध होती है या नही? यदि होती है, तो वह सधर्मा है। यदि नहीं तो वह गगन कुसुम आदि की तरह तुच्छ काल्पनिक वस्तु है। यदि कहो कि सिद्धि ही संवित् है, तो किसके प्रति किसकी सिद्धि है? यदि वह किसी के प्रति नही है, तो वह सिद्धि नहीं है। सिद्धि तो पुत्रता की तरह, किसी की किसी के प्रति होती हैं। यदि कहो कि आत्मा में होती है, तो बतलाओ उस आत्मा का क्या स्वरूप है? यदि कहो कि सिद्धि ही संवित् का आत्मा है, तो ठीक ही कहा, उसी बात को पुनः दुहरा दिया। जरा विचारो तो, किसी पुरुष की किसी विषय की सिद्धि रूप, उससे सबंधिनी वह अनुभूति, स्वयं अपने भाव का अनुभव कैसे कर सकेगी? कथन यह है कि—अनुभूति अपने सद्भाव से अपनी आश्रित किसी वस्तु को व्यवहार योग्य कर देती है। ज्ञान, अवगति, सवित् आदि सब उसी के दूसरे नाम है, वह बिना कर्म के स्थिर नही रहती, इसलिए वह सकर्मक है, अनुभव कर्त्ता आत्मा का धर्म

विशेष ही अनुभूति है "मैं घट को जानता हूँ"—इस विषय का मैं ज्ञाता हूँ—"पट का अनुभव करता हूँ" इत्यादि सभी आत्माओं की प्रतीति के रूप में अनुभूति की प्रसिद्धि है आपभी इसके इस स्वभाव के कारण, इसकी स्वयं प्रकाशता का प्रतिपादन करते हैं। कर्तृगत धर्म विशेष, कर्मसापेक्ष अनुभूति, जैसे स्वयं कर्म नहीं हो सकती, वैसे ही इसमें कर्तृता भी असंभव है।

तथाहि, अस्यकर्त्तुः स्थिरत्वं कर्तृधर्मस्य संवेदनाख्यस्य सुख दुःखादेरिवोत्पत्तिस्थितिनिरोधाश्च प्रत्यक्षमीक्षन्ते। कर्तृस्थैर्यंतावत् स एवायमर्थः पूर्वंमयानुभूत इति प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्षसिद्धम्। अहं जानामि अहमज्ञासिषम्, ज्ञातुरेव ममेदानींज्ञानंनष्टमिति च संवित् उत्पत्त्यादयः प्रत्यक्षसिद्धा इति कुतस्तदैक्यम्। एवं क्षणभंगिन्याः संविदः आत्मत्वाभ्युपगमे पूर्वेद्युर्दृष्टमपरेद्युरिदमदर्शमिति प्रत्यभिज्ञा च न घटते, अन्येनानुभूतस्य न हि अन्येय प्रतिज्ञान संभवः।

तथा, संवित् का कर्त्ता स्थिर होता है, कर्त्ता के संवेदन नामक धर्म के सुख दुःख आदि की तरह, उत्पत्ति, स्थिति और विनाश प्रत्यक्ष दीखते हैं। कर्त्ता की स्थिरता "यह वही पदार्थ है जिसकी मैंने पहिले अनुभूति की थी इस प्रत्यभिज्ञा से प्रत्यक्ष सिद्ध है।" मैं जानता हूँ—"मैं इस विषय का ज्ञाता हूँ"—"यह वस्तु मेरी जानी हुई है, इस समय मैं इसे भूल रहा हूँ" ऐसी अनुभूतियों से अनुभूति की उत्पत्ति, स्थिति और विनाश प्रत्यक्ष सिद्ध है, इसलिए ज्ञाता और ज्ञान की एकता कैसे संभव है? ऐसी क्षणस्थायी संविद् को यदि आत्मा मान लिया जाय, तो पहिले दिन के दृष्ट पदार्थ की दूसरे दिन "मैंने इसे देखा था" ऐसी प्रतीति संभव नहीं हैं। अन्य की अनुभूत वस्तु की कोई अन्य व्यक्ति तो प्रत्यभिज्ञा कर नहीं सकता।

किं च अनुभूतेरात्मत्वाभ्युपगमे तस्या नित्यत्वेऽपि प्रतिसंधान असंभवस्तदवस्थः। प्रतिसंधानं हि पूर्वापरकाल स्थायिनमनुभवितार-मुपस्थापयति, नानुभूतिमात्रम्।

अहमेवेदं, पूर्वमप्यन्वभूवमिति। भवतोऽप्यनुभूतेर्नहि अनुभवितृत्वमिष्टम् अनुभूतिरनुभूतिमात्रमेव। संविन्नाम काचिन्निराश्रया निर्विषया वा अत्यंतानुलब्धेर्न संभवतीत्युक्तम्। उभयाभ्युपेता संविदेवात्मेत्युपलब्धि पराहतम्। अनुभूतिमात्रमेव परमार्थ इति निषकर्षक हेत्वाभासाश्च निराकृता:।

अनुभूति को आत्मा मानकर उसकी नित्यता हो भी जाय फिर भी उसमें प्रत्यभिज्ञा की असंभावना तो बनी ही रहेगी। प्रत्यभिज्ञा, अनुभव करने वाले की, पूर्व पर कालीन उपस्थिति बतलाती है; केवल अनुभूति की ही स्थिति नही बतलाती। "मैने इसे पहिले भी जाना था" ऐसी अनुभूति को अनुभविता कहना तो संभवत; आपको भी अभिप्रेत न होगा; अनुभूति केवल अनुभूति ही है। निराश्रय और निर्विषय संवित् कभी सभव नही है, उसकी ऐकातिक उपलब्धि नही होती। "आश्रय और विषय युक्त संविद ही आत्मा है" ऐसा सिद्धान्त प्रतीति सिद्ध भेदानुभव द्वारा पराभूत हो गया तथा "अनुभूति मात्र ही परमार्थ है" इस मत की स्थापना में उपस्थित किये जाने वाले गलत तर्क भी निराकृत हो गए।

ननु च—अहंजानामीत्यस्यस्मत्प्रत्यये योऽनिदमंश: प्रकाशैकरस: चित् पदार्थ: स आत्मा। तस्मिन् तद्बलनिर्भासिततया युष्मदर्थलक्षणोऽहं जानामीति सिद्ध्यन्नहमर्थ: चिन्मात्रातिरेकी युष्मदर्थ एव। नैतदेवं, अहंजानामि इति धर्मधर्मितया प्रत्यक्ष प्रतीति विरोधादेव।

(वाद) "मैं जानता हूँ" इस कथन में जो "अहं" रूप चैतन्यांश प्रकाशैकरस पदार्थ है वही आत्मा है।" मैं जानता हूँ "इस प्रतीति मैं जो अर्थ निहित है वह, उस चैतन्य आत्मा द्वारा ही समुद्भासित होता है, अत: "अहं" का तात्पर्य चिन्मात्र अखंड आत्मा ही है।

(विवाद) "मै जानता हूँ" इस प्रत्यभिज्ञा में, धर्म और धर्मी की प्रत्यक्ष भिन्न प्रतीति हो रही है इसी से आपकी उक्त बात कट जाती है।

किं च—अहमर्थो न चेदात्मा प्रत्यक्त्वं नात्मनो भवेत्। अहम्बुद्ध्या परागर्थात् प्रत्यगर्थोहि भिद्यते। निरस्ताऽखिल दुःखोऽह मनन्तानन्दभाक् स्वराट्। भवेयमिति मोक्षार्थी श्रवणादौ प्रवर्त्तते। अहमर्थ विनाशश्चेन्मोक्ष इत्यध्यवस्यति। अपसर्पेदसौ मोक्षकथा-प्रस्ताव गन्धतः। मयिनष्टेऽपि मत्तोऽन्या काचित्ज्ञप्तिरवस्थिता, इति प्राप्तयेयत्नः कस्यापि न भविष्यति। स्वसम्बन्धितयाह्यस्याः सत्ताविज्ञप्तितादि च, स्वसम्बन्ध वियोगेतुज्ञाप्तिरेव न सिद्ध्यति। छेत्तुश्छेद्यस्य चाभावे छेदनादेरसिद्धिवत् अतोऽहमर्थो ज्ञातैव प्रत्य-गात्मेति निश्चितम्। विज्ञातारमरे केन जानात्येवेति च श्रुतिः, एतद्योवेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति च स्मृतिः। नात्माश्रुतेरित्यारभ्य सूत्रकारोऽपि वक्ष्यति, ज्ञोऽत एवेत्यतोनात्मा ज्ञप्तिमात्रमितिस्थितम्।

अहं का अर्थ आत्मा नहीं है, तथा प्रत्यगात्मा परमात्मा नहीं हो सकता, अहं बुद्धि से एक दूसरी ही वस्तु की प्रतीति होती है, अहं के अर्थ से प्रत्यगात्मा का भिन्न अर्थ है। "मैं समस्त दुःखों से मुक्त हो गया, अनंत आनंद युक्त स्वच्छन्द हूँ" ऐसे मोक्ष की कामना वाला श्रवण आदि नवधा भक्ति में संलग्न होता है। "अहं अर्थ का विनाश ही मोक्ष है" ऐसे मोक्ष कथा के प्रस्ताव की गंध भी जहाँ हो, वहाँ से दूर ही भागना चाहिए। "अहंता" के नष्ट हो जाने पर भी यदि "अहं" से भिन्न किसी प्रकार की ज्ञप्ति होती है तो, ऐसी प्राप्ति के लिए प्रयास किसी में भी नहीं हो सकता। ज्ञान की सत्ता और विज्ञप्ति आदि सब जीव की सत्ता पर ही निर्भर है, यदि इन सबका जीव से संबंध विच्छेद हो जाय तो, ज्ञप्ति की सिद्धि नहीं हो सकती जैसे कि—वृक्ष और वृक्ष के काटने वाले के अभाव में काटना आदि कार्य नहीं हो सकते। इसलिए "अहं" अर्थ का ज्ञाता जीवात्मा ही निश्चित होता है। "विज्ञातारमरे केन जानाति एव" ऐसा श्रुति वचन तथा "एतद्योवेत्तितं प्राहुः क्षेत्रज्ञः" ऐसा गीता स्मृति का वचन उक्त कथन में प्रमाण है सूत्रकार भी "नात्माश्रुतेः" से लेकर "ज्ञोऽतएव" सूत्र तक, आत्मा ज्ञप्ति मात्र ही नहीं है, ऐसा निर्णय करते हैं।

अहं प्रत्यय सिद्धो हि अस्मदर्थः युष्मत प्रत्ययविषयो युष्मदर्थः। तत्राहं जानामीति सिद्धोज्ञाता युष्मदर्थं इति वचनं जननी मे बन्ध्या इतिवत् व्याहतार्थंच। न चासौज्ञाता अहमर्थो अन्याधीन प्रकाशः स्वयंप्रकाशत्वात्। चैतन्य स्वभावता हि स्वयं प्रकाशता। यः प्रकाश स्वभावः सो न अन्याधीन प्रकाशः दीपवत्। न हि दीपादेः स्वप्रभा-बलनिर्भासितत्वेनाप्रकाशत्वमन्याधीन प्रकाशत्वंच। किं तर्हि? दीपः प्रकाशस्वभावः स्वयमेव प्रकाशते। अन्यानपि प्रकाशयति स्वप्रभया।

"अहं" प्रत्यय की सिद्धि अस्मत् शब्द से तथा "त्वं" प्रत्यय की सिद्धि युष्मद् शब्द से होती है। मैं जानता हूँ" इस प्रतीति का ज्ञाता युष्मद्वाची को कहा जाय तो वह कथन "मेरी माता बन्ध्या है" के समान मूर्खतापूर्ण होगा। उक्त प्रतीति का ज्ञाता "अहं" वाची व्यक्ति उक्त प्रतीति में स्वयं प्रकाश है, इसलिए उसे उक्त प्रतीति में अन्य के द्वारा प्रकाशित नहीं कह सकते। व्यक्ति स्वभाव से चैतन्य है, इसलिए उसमें स्वयं प्रकाशता है। स्वयं प्रकाशता दीपक के समान स्वाभाविक और स्वायत्त होती है। दीप आदि अपनी प्रकाश शक्ति से ही उद्भासित होते है, दूसरे के प्रभाव से उनमें प्रकाश नही होता, अधिक क्या? वह स्वयं तो प्रकाशित होते ही हैं, अपनी प्रभा से अन्यों को भी प्रकाशित करते हैं।

एतदुक्तं भवति—यथैकमेव तेजोद्रव्यं प्रभा प्रभावद् रूपेण अवतिष्ठते। यद्यपि प्रभा प्रभावद् द्रव्यगुणभूता, तथापि तेजो द्रव्यमेव, न शौक्ल्यादिवद् गुणः। स्वाश्रयादन्यत्रापि वर्त्तमानत्वात् रूपवत्वाच्च शौक्ल्यादिधर्मं वैधर्म्यात् प्रकाशवत्वाच्च तेजोद्रव्यमेव नार्थान्तरम्। प्रकाशवत्वंच स्वस्वरूपस्यान्येषांच प्रकाशकत्वात्। अस्यास्तु गुणत्वव्यवहारो नित्यतदाश्रयत्वतच्छेषत्व निबंधनः। न चाश्रयावयवा एव विशीर्णाः प्रचरन्तः प्रभेत्युच्यन्ते, मणिद्युमणि प्रभृतीनां विनाश प्रसंगात्।

कथन यह है कि—जैसे एक ही ज्योति, प्रभा और प्रभावान होती है वैसे ही आत्मा चित्स्वरूप और चैतन्यता दोनों से संपन्न है। यद्यपि प्रभा की प्रभावत्ता उसका गुण है, फिर भी है वह ज्योति रूप ही, शुक्लता, पीतिमा आदि की तरह कोई प्रथक् गुण नहीं है। वह ज्योति अपने आश्रय दीप से दूर रहते हुए भी, अपने रूप में उद्भासित होती है, शुक्लता आदि गुणों की तरह न होकर, तेजोमय द्रव्य ही रहती है, कुछ और नहीं। स्वयं को और अपने स्वरूप से दूसरों को प्रकाशित करना ही उसकी प्रकाशता है। ज्योति को रूपवाली होने से रूप गुण संपन्न कहा जाता है। प्रभा की आश्रय दीप ज्योति के अवयव जो इधर-उधर फैलते हैं, उन्हें ही प्रभा कहते हों सो बात नही है, यदि ऐसा मानेगे तो मणि और सूर्य की तो सत्ता ही न रह जायगी।

दीपेऽप्यवयवि प्रतिपत्तिः कदाचिदपि न स्यात्, न हि विशरण-स्वभावावयवा दीपाश्चतुरंगुलमात्रं नियमेन पिंडीभूता ऊर्ध्वमुद्गम्य ततः पश्चाद् युगपदेव तिर्यगूर्ध्वमधश्चैकरूपा विशीर्णाः प्रचरन्तीति शक्यंवक्तुम्, अतः सप्रभाकाएवदीपाःप्रतिक्षणं उत्पन्ना विनश्यन्तीति पुष्कलकारणक्रमोपनिपातात् तद् विनाशे विनाशाच्चावगम्यते। प्रभायाः स्वाश्रयसमीपे प्रकाशाधिक्यम् औष्ण्याधिक्यम् इत्यादि उपलब्धि व्यवस्थापि अयमग्न्यादीनां औष्ण्यादिवत्, एवमात्मा चिद्रूप एव चैतन्यगुण इति, चिद्रूपता हि स्वयं प्रकाशता।

दीप की ज्योति में अवयव अवयवी की बात लागू नहीं हो सकती, और न इसके अवयव फैलने वाले हैं, ऐसा ही कह सकते हैं, क्योंकि दीप की चार अंगुल वाली ज्योति पहिले ऊपर उठकर प्रायः आड़ी तिरछी ऊपर नीचे होती हुई भी एक ही प्रकार की बनी रहती है। रुई तेल आदि वस्तुओं के संयोग से प्रकाशवान दीप, उन वस्तुओं की स्थिति से सत्तावान तथा उनके विनाश से विनष्ट होते देखे जाते हैं। अग्नि के सामीप्य में जैसी ऊष्मा की प्रतीति होती है, ज्योति भी अपने आश्रय दीप के निकट, वैसी ही ऊष्मा और प्रकाश देती है इसे स्वयं अनुभव करके जाना जा सकता है। इसी प्रकार आत्मा भी चिद्रूप होता हुआ ही चैतन्य गुणवाला है, उसकी चिद्रूपता ही स्वयं प्रकाशता है।

यथाहि श्रुतयः—"सयथां सैन्धवघनोऽनन्तरोऽवाह्यः कृत्स्नो रसघन एव, एवं वाअरेऽयमात्माऽनन्तरोऽवाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव"—विज्ञानघन एव"—अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिर्भवति" "न विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपोविद्येते"—"अथयोवेदेदं जिघ्राणीति स आत्मा—"कतम आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृदयान्तज्योतिः पुरुषः—"एष द्रष्टा श्रोता रसयिता घ्राता मंता बोद्धा कर्त्ता विज्ञानात्मा पुरुषः"—"विज्ञातारमरे केन विजानीयात्"—"जानात्येवायं पुरुषः" "न पश्यो मृत्युं पश्यति न रोगं नोत दुःखताम्"—"स उत्तमः पुरुषः" "नोपजनं स्मरन्निदं शरीरम्"—"एवमेवास्य परिद्रष्टुरिमाः षोडशकलाः पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छन्ति"—"तस्माद् वा एतस्माद् मनोमयादन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयः"—इत्याद्याः । वक्ष्यतिच "ज्ञोऽत एव" इति ।

श्रुतियाँ भी उक्त विषय का प्रतिपादन करती हैं—"जैसे सेंधे नमक की डली बाहर से भीतर तक रसघन है, वैसे ही यह आत्मा बाहर से भीतर तक प्रज्ञानघन (ज्योतिर्मय) है।" यह विज्ञान घन ही है। यह पुरुष स्वयं ज्योतिरूप होता है। इस विज्ञाता का विज्ञान कभी लुप्त नहीं होता। जो ऐसा अनुभव करता है कि सूंघ रहा हूँ वही आत्मा है। आत्मा कौन है? जो विज्ञानमय, प्राणों में स्थित, हृदयान्तज्योंति है। वह विज्ञान मय आत्मा ही, मनन करने वाला, कर्त्तव्य निर्द्धारक, स्वाद लेने वाला, सूंघने वाला और कर्त्ता है। अरे! उस विज्ञाता को और कैसे जानोगे। जो जानता है वही आत्मा है। जो उसे देख लेता है, वह मृत्यु को नहीं देखता और न रोग तथा दुःखों को भोगता है। वह उत्तम पुरुष है। उसे जानकर निकटस्थ इस शरीर का भी भान नहीं रहता। आत्मदर्शी पुरुष के आश्रित इस सोलह कला वाले पुरुष को प्राप्त कर तृप्त हो जाता है। इस मनोमय कोष का अन्तरवर्त्ती विज्ञानमय आत्मा है" इत्यादि। सूत्रकार भी "ज्ञोऽत एव" सूत्र में उक्त तथ्य की ही पुष्टि करते हैं।

अतः स्वयं प्रकाशोऽयमात्मा ज्ञातैव, न प्रकाशमात्रम्। प्रकाशत्वादेव कस्यचिदेव भवेत्प्रकाशः दीपादि प्रकाशवत् तस्मान्नात्मा भवितुमर्हति संवित्, संविदनुभूतिज्ञानादिशब्दाः संबन्धि शब्दा इति च शब्दार्थविदः, न हि लोक वेदयोर्जानाति इत्यादेरकर्मकस्याकर्तृकस्य च प्रयोगो दृष्टिचरः।

उक्त शास्त्र वाक्यों से ज्ञात होता है कि—स्वयं प्रकाशमय आत्मा केवल प्रकाश ही नहीं है, ज्ञाता भी है। प्रदीप आदि के प्रकाश की तरह, इसकी प्रकाशता भी अन्याधीन नहीं है, क्योंकि यह स्वयं प्रकाश है, इसलिए आत्मा संवित् नहीं हो सकता। शब्द वेत्ताओं का कथन है कि—संवित्, अनुभूति, ज्ञान आदि शब्द, किसी से संबंध रखने वाले शब्द हैं। लोक या वेद में कहीं भी "जानता है" इत्यादि पदों का कर्म रहित या कर्त्ता रहित प्रयोग नहीं देखा जाता।

यच्चोक्तम्—अजडत्वात् संविदेवात्मेति, तत्रेदं प्रष्टव्यम् अजडत्वमिति किमभिप्रेतम् ? स्वसत्ताप्रयुक्तप्रकाशत्वमिति चेत्, तथासति दीपादिष्वनैकान्त्यम्, संविदतिरिक्तप्रकाशधर्मानभ्युपगमेनासिद्धिर्विरोधश्च। अव्यभिचरितप्रकाशसत्ताकत्वमति सुखादिषु व्यभिचारान्निरस्तम्।

जो यह कहा कि—जड न होने से संवित् ही आत्मा है; उस पर प्रश्न यह है कि, अजडता से आपका क्या तात्पर्य है ? यदि कहें कि—स्वयं प्रकाशता ही अजडता है, सो तो दीप आदि अनेकों में विद्यमान है। जब तक संवित् से भिन्न, प्रकाश नामक किसी धर्म विशेष को नहीं मानोगे, तब तक तुम्हारा अभिप्राय सिद्ध नहीं हो सकेगा अपितु विरोध ही होगा। यदि कहो कि जिसकी कभी भी प्रकाश रहित सत्ता नहीं होती, वही अजडता है, सो यह बात भी सुख दुःख आदि के विनाश से कट जाती है।

यदि उच्येत, सुखादिरव्यभिचरितप्रकाशो अपि अन्यस्मै प्रकाशमानतया घटादिवज्जडत्वेन अनात्मेति। ज्ञानंवा किं स्वस्मै

प्रकाशते ? तदपि हि अन्यस्यैवाहमर्थस्य ज्ञातुरवभासते, अहं सुखीतिवज्जानाम्यहमिति, अतः स्वस्मै प्रकाशमानत्वरूपजडत्वं संविदयसिद्धम्, तस्मात्स्वात्मानं प्रति स्वसत्तयैव सिध्यन्नजडोऽहमर्थं एवात्मा। ज्ञानस्यापि प्रकाशता तत्सम्बन्धायत्ता; तत्कृतमेव हि ज्ञानस्य सुखादेरिव स्वाश्रयचेतनंप्रतिप्रकटत्वं इतरंप्रत्यप्रकटत्वं च, अतो न ज्ञप्तिमात्रमात्मा अपितुज्ञातैवाहमर्थः।

यदि कहो कि—सुख आदि का निरन्तर होने वाला प्रकाश भी दूसरे से प्रकाशमान होने से, घट आदि की तरह जड़ है इसलिए वे अनातम तन्व है। मै पूछता हूँ कि—ज्ञान क्या स्वतः प्रकाशित होता है ? "मै सुखी हूँ" की तरह "मै जानता हूँ" ऐसी ज्ञानात्मक प्रतीति भी, "अहं" पद से विख्यात ज्ञाता द्वारा ही उद्भासित होती है। इसलिए स्वतः प्रकाशता ही संवित् की अजडता है, यह बात असिद्ध हो जाती है। अपनी सत्ता से अपने में स्वयं सिद्ध "अहं" पद वाच्य आत्मा ही अजड है। ज्ञान की प्रकाशता भी उसी से संबद्ध होने से, उसी के अधीन है। इसीलिए ज्ञान, सुख आदि की तरह, अपने आश्रय चेतन आत्मा के समक्ष व्यक्त तथा अन्यों के समक्ष अव्यक्त रहता है। इससे सिद्ध होता है कि ज्ञान ही आत्मा नही है, अपितु ज्ञान करने वाला "अहं" वाच्य ज्ञाता, आत्मा है।

अथ यदुक्तम्—"अनुभूतिः परमार्थतो निर्विषया निराश्रया च सती भ्रान्त्या ज्ञातृतयाऽवभासते, रजततयेवशुक्तिर्निरधिष्ठान भ्रमानुपपत्तेः" इति। तदयुक्तम्—तथा सत्यनुभवसामानाधिकरण्येनानुभविताऽहमर्थः प्रतीयेत, अनुभूतिरहमिति पुरोऽवस्थित भास्वर द्रव्याकारतया रजतादिरिव अत्रतु पृथगवभासमानैवेयमनुभूतिरर्थान्तरमहमर्थं विशिनष्टि, दंड इव देवदत्तं, तथा हि अनुभवाम्यमहमिति प्रतीतिः, तदेवमस्मदर्थमनुभूतिविशिष्टं प्रकाशयन्ननुभवाम्यहमिति प्रत्ययो दडमात्रे दंडी देवदत्त इति प्रत्ययवद् विशेषणभूतानुभूतिमात्रावलंबनः कथमिव प्रतिज्ञायेत ?

और जो यह कहा कि--"सीप जैसे भ्रांतिवश रजत रूप में प्रतीत होती है, निर्विशेष निराश्रित अनुभूति भी, उसी प्रकार ज्ञाता रूप से अवभासित होती है।" यह कथन भी असंगत है—ऐसा होने से, सामने पड़ी हुई समुज्वल सीप में जैसे रजत की अभेद प्रतीति होती है, उसी प्रकार "अहं" पद वाच्य अनुभावक और अनुभूति दोनों एक प्रतीत होंगे, अतः अनुभावक भ्रांतिवश यह भी कह सकता है कि "मैं अनुभूति हूँ।" "अहं" से पृथक् अवभासमान होने से, अनुभूति "अहं" से निश्चित ही भिन्न है। जैसे कि "दंडी देवदत्तः" कहने से देवदत्त और उसके दंड की प्रथकता स्पष्ट भिन्न प्रतीत होती है, वैसे ही 'मैं अनुभव करता हूँ" ऐसी प्रतीति होती है। "मैं अनुभव करता हूँ" इस कथन में अनुभूति, "अहं" पदवाच्य आत्मा की विशेष्य, ज्ञात होती है। ऐसी अनुभूति "अहं" पद वाच्य आत्मा के विशेषण के रूप से कैसे ज्ञात हो सकती है?

यदप्युक्तम्---"स्थूलोऽहमित्यादि देहात्माभिमानवत् एव ज्ञातृत्व प्रतिभासमानात् ज्ञातृत्वमपि मिथ्येति।" तदयुक्तम्---आत्मतया अभिमतया अनुभूतेरपि मिथ्यात्वं स्यात् तद्वत एव प्रतीतेः सकलेतरोपमर्दिततत्वज्ञानाबाधितत्वेनानुभूतेर्नमिथ्यात्वमिति चेत् हन्तैवं सति तदबाधादेव ज्ञातृत्वमपि न मिथ्या।

और जो यह कहा कि—"मैं मोटा हूँ" इत्यादि भान जैसे देहात्माभिमानी व्यक्ति मे ज्ञातृत्वरूप से प्रतिभासित होता है, वैसे ही ज्ञातृता भी मिथ्या है।" यह कथन भी असंगत है—यदि ऐसा कहोगे तो तुम्हारे द्वारा आत्मा रूप से मानी हुई अनुभूति भी मिथ्या हो जायगी, और उसकी प्रतीति भी मिथ्या हो जायगी। यदि कहो कि---समस्त दोषों को नष्ट करने वाले तत्त्वज्ञान से अनुभूति बाधित नहीं होती इसलिए वह मिथ्या नहीं है; यदि ऐसी बात है तो, तत्त्वज्ञान से बाधित न होने वाली ज्ञातृता भी मिथ्या नहीं है।

यदप्युक्तम्—"अविक्रियस्यात्मनो ज्ञानक्रियाकर्तृत्वरूपे ज्ञातृत्वं न संभवति, अतो ज्ञातृत्वं विक्रियात्मकं जडे विकारास्पदाव्यक्त परिणामाहंकारग्रन्थिस्थमिति न ज्ञातृत्वमात्मनः अपितु अन्तःकरण

रूपस्याहंकारस्य, कर्तृत्वादिर्हि रूपादिवत् दृश्यधर्मः कर्तृत्वेऽहंप्रत्यय गोचरत्वे चात्मानोभ्युपगम्यमाने देहस्येवानात्मत्वपराक्त्वजडत्वादि-प्रसंगश्चेति ।"

नैतदुपपद्यते—देहस्येवाचेतनत्वप्रकृतिपरिणामत्वदृश्यत्वपराक्त्वपरार्थत्वादि योगादन्तःकरणरूपस्याहंकारस्य, चेतना साधारण स्वभावत्वाच्च ज्ञातृत्वस्य ।

जो यह कहा कि—"निर्विकार आत्मा की, ज्ञानक्रिया कर्तृत्व रूप ज्ञातृता नहीं हो सकती । वह ज्ञातृता, विक्रियात्मक जड़ विकारों वाली, प्रकृति की परिणति अहंकार ग्रंथि में स्थित रहती है, ज्ञातृता आत्मा का धर्म नहीं है । अपितु अन्तःकरण रूप अहंकार की कर्तृता आदि भी, रूप रस आदि की तरह दृश्य धर्म है । आत्मा में कर्तृत्व धर्म और अहं बुद्धि की विषयता मान ली जाय तो, देह की तरह उसमें भी अनात्मता, वाह्यदार्थता और जडता आदि दोष घटित हो जावेंगे ।"

तुम्हारा यह कथन भी सुसंगत नहीं है—देह की तरह जडता प्रकृति परिणामता, दृश्यता, वाह्यपदार्थता आदि अन्तःकरण रूप अहंकार के धर्म हैं तथा ज्ञातृता आदि भाव चेतन के असाधारण स्वाभाविक धर्म है ।

एतदुक्तंभवति—यथा देहादिः दृश्यत्वपराक्त्वादिहेतुभिः तत् प्रत्यनीकद्रष्टृत्वप्रत्यक्त्वादेर्विविच्यते, एवमन्तःकरणरूपाऽहंकारोऽपितद्द्रष्यत्वादेव तैरेवहेतुभिस्तस्माद् विविच्यत इति । अतोविरोधादेव न ज्ञातृत्वमहंकारस्य, दृशित्ववत् । यथा दृशित्वं तत्कर्मणोऽहंकारस्य नाभ्युपगम्यते, तथा ज्ञातृत्वमपि न तत्कर्मणोऽभ्युपगन्तव्यम् । न च ज्ञातृत्वं विक्रियात्मकं ज्ञातृत्वं हि ज्ञानगुणाश्रयत्वम् । ज्ञानंचास्य नित्यस्य स्वाभाविक धर्मत्वेन नित्यम् । नित्यत्वंचात्मनो "नात्माश्रुतेः" इत्यादिषु, वक्ष्यति "ज्ञोऽतएव" इत्यत्र ज्ञ इति व्यपदेशेन ज्ञानाश्रयत्वंच

स्वाभाविकमपि वक्ष्यति । अस्य ज्ञानस्वरूपस्यैव मणिप्रभृतीनां प्रभाश्रयत्वमिव ज्ञानाश्रयत्वमपि अविरुद्धमित्युक्तम् । स्वयमपरिच्छिन्नमेव ज्ञानं संकोचविकासार्हमित्युपपादयिष्यामः ।

कथन यह है कि—देह आदि जैसे दृश्यता परार्थता आदि कारणों से विपरीत, दृष्टता आदि धर्मों से विवेचित होते हैं वैसे ही अन्तःकरण रूप अहंकार भी दृश्यता, अचेतनता, परिणामता आदि से उन्हीं कारणों से विवेचित हो सकता है। दृश्यता और दृष्टता की तरह, ज्ञातृता और अहंकार की भी एकता नहीं है। जैसे दृश्यता (ज्ञान) अपने कर्म अहंकार का धर्म नहीं हो सकता वैसे ही ज्ञातृता भी अपने कर्म का धर्म नहीं हो सकता। और न ज्ञातृता विकारात्मक ही है, अपितु ज्ञान गुणाश्रयता ही ज्ञातृता है। इस नित्यज्ञातृता का, ज्ञान स्वाभाविक धर्म है, इसलिए वह भी नित्य है। आत्मा की नित्यता "नात्माश्रुतेः" इत्यादि में तथा "ज्ञोऽतएव" में ज्ञ के उल्लेख से आत्मा की स्वाभाविक ज्ञान गुणाश्रयता सूत्रकार ने भी बतलाई है। इसकी ज्ञान स्वरूपता मणि आदि की स्वाभाविक प्रभा की तरह अविरुद्ध और स्वाभाविक है। ज्ञान स्वयं निस्सीम होते हुए भी संकोच और विकासशील है, इस तथ्य का उपपादन आगे करूँगा।

अतः क्षेत्रज्ञावस्थायां कर्मणा संकुचित स्वरूपंतत्तत्कर्मानुगुणतरतमभावेनवर्त्तते, तच्चेन्द्रियद्वारेण व्यवस्थितम्, तमिममिंद्रियद्वारा ज्ञानप्रसरमपेक्ष्योदयास्तमयव्यपदेशः प्रवर्त्तते ज्ञानप्रसरे तु कर्तृत्वमस्त्येव । तच्च न स्वाभाविकम्, अपितु कर्मकृतम् इति अविक्रियस्वरूप एवात्मा । एवंरूप विक्रियात्मकंज्ञातृत्वं ज्ञानस्वरूपस्यात्मन एवेति न कदाचिदपि जडस्याहंकारस्य ज्ञातृत्व संभवः ।

क्षेत्रज्ञ (जीव) की अवस्था में ज्ञान यथायोग्य कर्म के अनुसार तारतम्य से रहता है, यह तारतम्य इन्द्रिय द्वारा ही प्रकट होता है, इन्द्रियों में जो ज्ञान की वृद्धि और क्षीणता होती है वह किसी चेतन वस्तु की अपेक्षा रखती है, इससे सिद्ध होता है कि—ज्ञान के प्रसार में आत्मा

की कर्तृता निश्चित है, पर वह कर्तृता आत्मा का स्वाभाविक धर्म नहीं है, अपितु कर्मानुसार उसके साथ संलग्न है, आत्मा तो निर्विकार ही है। उक्त प्रकार की विकारात्मक ज्ञातृता ज्ञानस्वरूप आत्मा की ही है, जड अहंकार की ज्ञातृता कभी भी संभव नहीं है।

जडस्वरूपस्याप्यहंकारस्य चित्संनिधाने न तच्छायापत्या तत्संभव इति चेत्, केयं चिच्छायापत्तिः? किमहंकारच्छायापत्तिः संविदः? उत संविच्छायापत्तिरहंकारस्य? य तावत् संविदः, संविदि ज्ञातृत्वानभ्युपगमात्। नाप्यहंकारस्य उक्तरीत्या तस्य जडस्य ज्ञातृत्वायोगात् द्वयोरप्यचाक्षुषत्वाच्च न हि अचाक्षुषाणां छाया दृष्टा। अथ-अग्नि संपर्कात् अयः पिंड औष्ण्यवत् चित् संपर्कात् ज्ञातृत्वोपलब्धिरिति। नैतत् संविदि वास्तव ज्ञातृत्वानभ्युपगमादेव तत्संपर्कादहंकारे ज्ञातृत्वं तदुपलब्धिर्वा। अहंकारस्यतु अचेतनस्य ज्ञातृत्वासंभवादेव सुतरां न तत्संपर्कात् संविदि ज्ञातृत्वं तदुपलब्धिर्वा।

यदि कहो कि—जड स्वरूप अहंकार का चित् से संपर्क होने से चित् की छाया पड़ने से अहंकार में ज्ञातृता हो सकती है, तो विचारना होगा कि यह चित् छाया किसकी है? अहंकार की छाया संवित् पर पड़ती है, या संवित् की छाया अहंकार पर पड़ती है? संवित् की तो हो नहीं सकती, क्योंकि संवित् में ज्ञातृता आपको ही स्वीकार नहीं है। अहंकार की छाया भी संभव नहीं है, क्योंकि पूर्वोक्त नियमानुसार जड़ अहंकार का ज्ञातृता से कोई सम्बन्ध नहीं है। दोनों ही अप्रत्यक्ष वस्तु है, अप्रत्यक्ष वस्तु की छाया पड़ती देखी नहीं जाती। अग्नि संपर्कित लोहे की उष्णता की तरह, चित् संपर्क से ज्ञातृता की उपलब्धि होती हो, सो भी नहीं है; जब संवित् में ही वास्तविक ज्ञातृता का अभाव है तो उसके संपर्क से अहंकार में ज्ञातृता की उपलब्धि होगी ही कैसे? जड़ अहंकार में तो ज्ञातृता असंभव ही है, इसलिए उसके संपर्क से संवित् की ज्ञातृता हो, इसका कोई प्रश्न ही नहीं है।

तदप्युक्तम्—"उभयत्र न वस्तुतो ज्ञातृत्वमस्ति । अहंकारस्त्वनुभूतेरभिव्यंजकः स्वात्मस्थामेवानुभूतिमभिव्यनक्ति, आदर्शादिवत् इति । "तदयुक्तम्—आत्मनः स्वयं ज्योतिषो जडस्वरूपाहंकाराभिव्यंग्यत्वायोगात् । तदुक्तम्—"शान्तांगार इवादित्यमहंकारो जडात्मकः, स्वयंज्योतिषमात्मानं व्यनक्तीति न युक्तिमत् ।" स्वयंप्रकाशानुभवाधीन सिद्धयो हि सर्वेपदार्थाः । तत्र तदायत्तप्रकाशोऽचिदहंकारोऽनुदितानस्तमितस्वरूप प्रकाशमशेषार्थसिद्धिहेतुभूतमनुभवमभिव्यनक्ति इति आत्मविदः परिहसंति ।

उस पर जो कहो कि—"दोनों मे वास्तविक ज्ञातृता नहीं है । अहंकार तो स्वयं अनुभूति का अभिव्यंजक है, जो कि दर्पण आदि की तरह अपने में ही अनुभूति को अभिव्यक्त करता है ।"

यह भी नितांत असंगत बात है—स्वयं प्रकाश आत्मा, जड स्वरूप अहंकार से कभी अभिव्यंजित नहीं हो सकता । जैसा कि कहा भी है—"अग्निरहित अंगारे की तरह जड अहंकार, सूर्य की तरह स्वयं प्रकाश आत्मा को व्यंजित करता है, यह बात युक्ति संगत नहीं है ।" सारे पदार्थ स्वयं प्रकाश अनुभव के अधीन सिद्ध हैं ' उसका वह स्वाधीन प्रकाश उदय अस्त रहित जड अहंकार से अभिव्यक्त होता है. इस बात को सुनकर, आत्मवेत्ता लोग हंसते हैं ।

किं च—अहंकारानुभवयोः स्वभावविरोधात् अनुभूतेरननुभूतित्व प्रसंगाच्च नव्यङ्क्तृ व्यंग्यभावः यथोक्तम्—

"व्यङ्क्तृव्यंग्यत्वमन्योन्यं न चस्यात् प्रातिकूल्यतः ।
व्यंग्यत्वे अननुभूतित्वंमात्मनि स्यात् यथा घटः ॥" इति

न च रविकरनिकराणां स्वाभिव्यंग्यकरतलाभिव्यंग्यत्ववत् संविदभिव्यंग्याहंकाराभिव्यंग्यत्वं संविदस्साधीयः, तथापि रविकरनिकराणां करतलाभिव्यंग्यत्वाभावात्, करतलप्रतिहतगतयो हि

रश्मयो बहुला: स्वयमेव स्फुटतरमुपलभंते, इति तद्वाहुल्यमात्रहेतुत्वात् करतलस्य नाभिव्यंजकत्वम् ।

अहंकार और अनुभव के स्वाभाविक विरोध तथा व्यंग्य होने पर अनुभूति, अनुभूति न रह जायगी, इन दोनों ही बातों से सिद्ध होता है कि—दोनों में व्यंजक व्यंग्य भाव नहीं है। जैसा कि कहा भी गया है—'स्वाभाविक विरोध तथा वैलक्षण्य होने से दोनों में परस्पर व्यंग्य व्यंजक भाव नहीं है, यदि व्यंग्य भाव होगा तो, घट की तरह, आत्मा में अनुभूति का अभाव हो जायगा।"

सूर्य किरणें जैसे करतल को अभिव्यक्त करके, स्वयं भी उससे अभिव्यक्त होती है, उसी प्रकार संविद् भी अहंकार को अभिव्यक्त करके उससे अभिव्यक्त हो, ऐसा भी संभव नहीं है, क्योंकि—सूर्य रश्मियां करतल से व्यंजित नहीं होतीं, अपितु करतल में प्रतिहत वे रश्मियां, इधर उधर फैलकर अधिक स्पष्ट रूप से प्रत्यक्ष दीखने लगती हैं, उनकी विस्तृति के आधार पर ही, करतल को उनकी अभिव्यक्ति का कारण नहीं कहा जा सकता।

किं च-अस्य संवित् स्वरूपस्यात्मनोऽहंकारनिर्वर्त्याभिव्यक्ति: किं रूपा ? न तावदुत्पत्ति:, स्वस्सिद्धतयाअनन्योत्पद्यत्वाभ्युपगमात् नापि तत्प्रकाशनम्, तस्या अनुभवान्तराननुभाव्यत्वात्, ततएव च न तदनुभवसाधनानुग्रह:। स हि द्विधाज्ञेयस्येन्द्रिसंबंधहेतुत्वेनवा, यथा जाति निजमुखादिग्रहणे व्यक्ति दर्पणादीनां नयनादीन्द्रिय संबंधहेतुत्वेन, बोद्धृगतकल्मषापनयनेन वा, यथा परतत्त्वावबोधन, साधनस्य शास्त्रस्य शमदमादिना। यथोक्तम्—"करणानामभूमित्वान्न तत्संबंध हेतुता" इति।

इस संवित् स्वरूप आत्मा की अहंकार द्वारा जो अभिव्यक्ति होती है, उसका क्या रूप है? वह अभिव्यक्ति, उत्पत्ति रूप है, ऐसा तो कह नहीं सकते, क्योंकि, स्वयंसिद्धता के आधार पर उसकी किसी अन्य के

द्वारा उत्पत्ति नही हो सकती, ऐसा निर्णय कर चुके है। वह अभिव्यक्ति, प्रकाश रूप भी नही हो सकती, क्योकि—संवित् स्वय प्रकाश है, उसे प्रकाश मे किसी अन्य की अपेक्षा नही होती। इससे सिद्ध होता है कि—ज्ञानानुभूति मे, अहकार द्वारा अभिव्यक्ति की सहायता अपेक्षित नही है। सहायता दो ही प्रकार से हो सकती है (१) ज्ञेय की, इन्द्रिय सबधी कारणो से होने वाली, जैसे कि—मनुष्य आदि जाति के जानने के लिए, उस जाति के साथ चाक्षुष सबध वाले व्यक्ति द्वारा दी गई अथवा अपनी आकृति की जानकारी मे दर्पण की सहायता, (२) ज्ञाता के (हृदयगत) दोषों के अपनयन द्वारा दी जाने वाली, जैसे कि—परतत्त्व परमेश्वर को बतलाने वाले शास्त्रो से सम्मत, शम दम आदि उपायो द्वारा दी जाने वाली सहायता। जैसा कि—कहा गया है—"वह अधोक्षज है (इन्द्रिय गम्य नही है) इसलिए इन्द्रियो की उससे कोई सबध हेतुता नही है।"

किंच—अनुभूतेरनुभाव्यत्वाभ्युपगमेऽप्यहमर्थेन न तदनुभव साधनानुग्रहः सुवचः, स हि अनुभाव्यानुभवोत्पत्तिप्रतिबंधनिरसनेन भवेत्। यथा रूपादिग्रहणोत्पत्तिनिरोधितमसनिरसनेन चक्षुषो दीपादिना। न चेह तथाविधं निरसनीयं संभाव्यते। न तावत्संविदाऽत्मगतं तज्ज्ञानोत्पत्तिनिरोधि किंचिदप्यहंकारापनेयमस्ति। अस्तिहि अज्ञानमिति चेत्, न अज्ञानस्याहंकारापनोद्यत्व अनभ्युपगमात्। ज्ञानमेव हि अज्ञानस्य निवर्त्तकम्।

अनुभूति की अनुभाव्यता मान लेने पर भी, अहकार को, अनुभूति का सहयोगी साधक नही कहा जा सकता। ऐसा तो तभी सभव है, जब कि—अनुभाव्य के, अनुभवोत्पत्ति के अन्य प्रतिबन्धकों का, निराकरण कर दिया जाय। जैसे कि—प्रदीप आदि का आलोक, रूप आदि प्रत्यक्ष के विरोधी घने अधकार का निराकरण कर, नेत्रों का सहायक होता है। अनुभूति की अभिव्यक्ति में उस प्रकार के निवारण की संभावना ही नहीं है, अर्थात् ज्ञानस्वरूप आत्मा की ज्ञान प्रतिबन्धक ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जिसे अहंकार दूर कर सके यदि कहो कि—अज्ञान, ज्ञान का प्रतिबंधक है; सो अज्ञान का निराकरण, अहंकार से हो नहीं सकता।

ज्ञान ही अज्ञान का निवर्त्तक हो सकता है, अज्ञान, ज्ञान का निवर्त्तक नहीं है।

न च संविदाश्रयत्वमज्ञानस्य सम्भवति, ज्ञानसमानाश्रयत्वात्तत्समानविषयत्वाच्च ज्ञातृभाव विषयभाव विरहिते, ज्ञानमात्रेसाक्षिणि नाज्ञानं भवितुमर्हति। यथा ज्ञानाश्रयत्वप्रसक्तिशून्यत्वेन घटादेर्नाज्ञानाश्रयत्वम् तथा ज्ञानमात्रेऽपि ज्ञानाश्रत्वाभावेन नाज्ञानाश्रयत्वं स्यात्। संविदोऽज्ञानाश्रयत्वाभ्युपगमेऽपि आत्मतयाऽभ्युपगतायास्तस्याज्ञानविषयत्वाभावेन ज्ञानेन न तद्गता ज्ञान निवृत्तिः। ज्ञानं हि स्वविषय एवाज्ञानं निवर्त्तयति, यथा रज्ज्वादौ, अतो न केनापि कदाचित्संविदाश्रयमज्ञानमुच्छिद्येत्। अस्य च सदसदनिर्वचनीयस्याज्ञानस्य स्वरूपमेव दुर्निरूपमित्युपरिष्टाद् वक्ष्यते। ज्ञान प्रागभाव रूपस्यचाज्ञानस्य ज्ञानोत्पत्ति विरोधित्वाभावेन न तन्निरसनेन तज्ज्ञानसाधनानुग्रहः अतो न केनापि प्रकारेण अहंकारेणानुभूतेरभिव्यक्तिः।

और न; संविद्, अज्ञान का आश्रय हो सकता है, क्योंकि— अज्ञान के आश्रय और विषय, ज्ञान के समान ही होते हैं। ज्ञातृता और विषयभाव रहित, साक्षि स्वरूप शुद्ध ज्ञान में, अज्ञान का प्रवेश हो ही नहीं सकता। जैसे ज्ञानाश्रयता की संभावना से शून्य घट आदि में अज्ञान का आश्रय नहीं होता, वैसे ही ज्ञानाश्रय की संभावना से रहित अज्ञान के आश्रय में, ज्ञान की संभावना भी नहीं है। संविद् को अज्ञान का आश्रय मान भी लें, पर संवित् को ही जब आत्मा मान चुके हो, इस लिए संवित् कभी ज्ञान का विषय (ज्ञेय) तो हो नहीं पावेगा, जिसके फलस्वरूप, संवित् के आश्रित अज्ञान की निवृत्ति का होना कठिन हो जायगा (क्योंकि—ज्ञेय वस्तु ही, स्वाश्रित भ्रांति रूप अज्ञान की निवारक होती है) ज्ञान ही स्वविषयक अज्ञान की निवृत्ति करता है, जैसे कि— रज्जु में हुई सर्प की भ्रांति की निवृत्ति स्वतः ज्ञान से ही होती है। इस प्रकार अज्ञान को ज्ञानाश्रित मान लेने पर, कभी भी, किसी उपाय से ज्ञानाश्रित उस अज्ञान की निवृत्ति न हो सकेगी। सद् असद् अनिर्वच-

नीय अज्ञान के स्वरूप का निरूपण दुर्बोध है, इसे आगे बतलावेंगे। ज्ञान के प्रागभाव रूप अज्ञान को ज्ञानोत्पत्ति का प्रतिबंधक नही कह सकते, इसलिए अज्ञान द्वारा ज्ञान का निराकरण भी साध्य नही है। इसलिए किसी भी प्रकार अहंकार को, अनुभूति का अभिव्यजक नही कह सकते।

न च स्वाश्रयतयाभिव्यंग्याभिव्यंजनमभिव्यंजकानां स्वभावः, प्रदीपादिष्वदर्शनात्। यथावस्थितपदार्थ प्रतीत्यनुगुणस्वाभाव्याच्च ज्ञानतत्साधनयोरनुग्राहकस्य च। तच्च स्वत. प्रामाण्य न्यायसिद्धम्।

यह भी नही कह सकते कि—अभिव्यजक पदार्थो का यह स्वाभाविक गुण है कि, वे, स्वाश्रित अभिव्यग्य वस्तु की ही अभिव्यक्ति करते है। प्रदीपादि मे तो ऐसा गुण देखा नही जाता। ज्ञान और ज्ञान की साधक अनुकूल वस्तुओ का तो ऐसा स्वाभाविक गुण होता है कि, वह, यथार्थवस्तु की प्रतीति मे सहायक होती है। यह, स्वतः प्रामाण्य की, न्यायसिद्धबात है।

न च दर्पणादि मुखादेरभिव्यंजकः, अपितु चाक्षुषतेजः प्रतिफलं न रूपदोष हेतुः, तद्दोषकृतश्च तत्रान्यथावभासः। अभिव्यंजकस्तु आलोकादिरेव।

और न दर्पण आदि, मुख आदि के अभिव्यजक है, अपितु चाक्षुष तेज ही उस अभिव्यक्ति का कारण है, यदि नेत्र की ज्योति मे किसी प्रकार की विकृति होती है, तो विपरीत अवभास होता है। मुखादि के अभिव्यंजक तो आलोक आदि ही है।

न चेह तथाऽहंकारेण संविदि स्वप्रकाशायां तादृशदोषोपपादनं संभवति। व्यक्तेस्तु जातिराकार इति तदाश्रयतया प्रतीतिः, नतु व्यक्ति व्यंग्यत्वात्। अतोऽन्त.करणभूताहंकारस्थतया संविदुपलब्धेर्वस्तुतो दोषतो वा न किंचिदिह कारणमिति, नाहंकारस्य ज्ञातृत्वं तथोपलब्धिर्वा। तस्मात्स्वत एव ज्ञातृतया सिद्धयन्नहमर्थ एव प्रत्यगात्मा, न ज्ञप्तिमात्रम्। अहम्भावविनिर्गमे तु ज्ञप्तेरपि न प्रत्यक्त्वसिद्धिः इत्युक्तम्।

स्वयं प्रकाश संविद् मे, अहंकार के द्वारा उस प्रकार के दोष का उपपादन संभव नही है। जाति या आकार व्यक्तिगत वस्तु है, जिससे उसकी तदाश्रित प्रतीति होती है, व्यक्ति द्वारा उसकी अभिव्यक्ति नही होती। इसी प्रकार अन्तःकरण भूत अहकार मे स्थित होने से संवित् की उपलब्धि, वस्तुगत या दोष हेतुक नही है, क्योकि—अहकार में स्वय ही ज्ञातृता और उस प्रकार की उपलब्धि का अभाव है। इसलिए स्वयं ज्ञातृरूप से प्रसिद्ध "अहं" पदवाच्य ही जीवात्मा है, "अहं" का अर्थ केवल ज्ञप्ति नही है। अह भाव के अभाव मे तो ज्ञप्ति की भी जीवात्मता सिद्ध नही हो सकती।

तमोगुणाभिभवात् परागर्थानुभवाभावाच्चाहमर्थस्य विविक्त स्फुट प्रतिभासाभावेऽप्याप्रबोधादहमित्येकाकारेणात्मनः स्फुरणात् सुषुप्तावपि नाहम्भावविगमः। भवदभिमता या अनुभूतेरपि तथैव प्रथेति वक्तव्यम्।

सुषुप्ति अवस्था मे तमोगुण से अभिभूत होने तथा किसी भी वाह्य पदार्थ की प्रतीत न होने से, अहभाव की सुस्पष्ट प्रतीति नही होती यह दूसरी बात है, पर अह का एकदम लोप ही हो जाता हो, ऐसा नही है, जागरण होने तक अह आकार वाली आत्मस्फूर्त्ति रहती है। तुम्हे भी स्वाभिमत (आत्मारूप से स्वीकृत) अनुभूति के ऐसे स्फुरण को स्वीकारना होगा।

न हि सुप्तोत्थितः कश्चिदहंभाववियुक्तार्थान्तर प्रत्यनीकाकारा ज्ञप्तिरहमज्ञानसाक्षितयाऽवतिष्ठत इत्येवंविधां स्वापसमकालानुभूति परामृशति। एवं हि सुप्तोत्थितस्य परामर्शः सुखमहं अस्वाप्समिति अनेन प्रत्यवमर्शेन तदानीमप्यहमर्थस्यैवात्मनः सुखित्वं ज्ञातृत्वं च ज्ञायते।

कोई भी व्यक्ति सोकर उठने पर ऐसा नहीं सोचता कि—"अहं-भाव या अन्य पदार्थों के सम्बन्ध से रहित हूं" अर्थात् ज्ञातृ ज्ञेय आदि विशेष भावों से रहित, ज्ञान स्वरूप वाला मैं, अज्ञान के साक्षी रूप से

सो रहा था। अपितु सोकर उठा हुआ व्यक्ति, यही कहता है कि—"मैं बडे सुख से सोया।" जागने वाले व्यक्ति की इस प्रतीति के आधार पर निश्चित होता है कि—निद्राकाल में भी अहं पदवाची आत्मा की सुख प्रतीति और ज्ञातृता विद्यमान रहती है।

न च वाच्यम्, यथेदानीं सुखंभवति, तथा तदानीमस्वाप्स-मित्येषाप्रतिपत्तिरिति, अतद्रूपत्वात्प्रतिपत्तेः। न चाहमर्थस्यात्मनोऽस्थिरत्वेन तदानीमहमर्थस्य सुखित्वानुसंधानानुपपत्तिः, यतः सुषुप्तिदशायां प्रागनुभूतंवस्तु सुप्तोत्थितो—"मयेदंकृतं मयेदमनुभूतमहमेतदवोचम्" इति परामृशति "एतावंतंकालं न किंचिदहमज्ञासिषम्" इति च परामृशतीति चेत्; ततः किम् ? न किंचिदिति-कृत्स्न प्रतिषेध इति चेत् न, नाहमवेदिषमितिवेदितुरहमर्थस्यैवानुवृत्तेः वेद्यविषयो हि स प्रतिषेधः। न किंचिदिति निषेधस्य कृत्स्न विषयत्वे भवदभिमतानुभूतिरपि प्रतिषिद्धास्यात्। सुसुप्तिसमयेत्वनुसंधीय मानमहमर्थमात्मानं ज्ञातारमहमिति परामृश्य न किंचिदवेदिषमिति वेदने तस्य प्रतिषिध्यमाने तस्मिन काले निषिध्यमानाया वित्तेः सिद्धिमनुवर्त्तमानस्य ज्ञातुरहमर्थस्य चासिद्धिमनेनैव "न किंचिदहमवेदिषम्" इति परामर्शेन साधयंस्तमिममर्थ देवानामेव साधयतु।

यह नहीं कह सकते कि—जागरित अवस्था में जैसा सुख होता है, वैसा निद्रा अवस्था में भी हुआ होगा, ऐसी अनुभूति मात्र होती है (स्मृति नही) सो यह प्रतीति का स्वरूप नही है, (स्मृति का ही है) और न यही कह सकते हैं कि—अहं पदार्थ आत्मा ही जब क्षणभगुर है, तब जागने के बाद उसे सुख की स्मृति हो ही कैसे सकती है ? सो सोकर उठा हुआ व्यक्ति सोने के पूर्व जिन वस्तुओं की अनुभूति किये रहता है, उन्हें ही "मैंने ही अमुक कार्य किया था—मैंने ऐसा अनुभव किया था—मैंने ही अमुक बात कही थी" विचार करता है। यदि कहो कि—"मैंने अब तक कुछ भी नहीं जाना" ऐसा परामर्श भी तो करता है तो क्या इस परामर्श से उक्त परामर्श की बात कट जायगी ? यदि कहो कि "मैंने अब

तक कुछ भी नहीं जाना" इस परामर्श का तात्पर्य "कुछ नही जानता" ऐसा निषेधात्मक है, सो बात नही है, अपितु उक्त परामर्श करने वाला ज्ञाता, अहं पदार्थ की ही अनुवृत्ति है, इसलिए उक्त परामर्श केवल ज्ञेय विषयक ही है, सर्वविषयक नही। सर्वविषयक मानने से तो तुम्हारी अभिमत अनुभूति का ही प्रतिषेध हो जायगा। अर्थात् सुषुप्ति के समय ज्ञाता आत्मा को अहं पद वाची मानकर "मैने कुछ नही जाना" इस परामर्श से यदि उसी अह पदार्थ का प्रतिषेध स्वीकारोगे तो तुम्हारे स्वाभिमत निराकृत ज्ञान के अनुगत अनुभूति स्वरूप आत्मा का भी प्रतिषेध हो जायगा आपका उक्त कथन तो (मिट्टी के) देवताओ के समक्ष ही शोभित हो सकता है (जो कि—उत्तर नही दे सकते)

मामप्यहं न ज्ञातवानित्यहमर्थस्यापि तदानीमननुसंधानं प्रतीयत इति चेत्, स्वानुभवस्ववचनयोर्विरोधमपि न जानंति भवन्तः। अहं मा न ज्ञातवानितिर्हि अनुभववचने। मामिति किं निषिध्यत इति चेत्, साधुपृष्टं भवता। तदुच्यते-अहमर्थस्य ज्ञातुरनुवृत्तेर्न स्वरूपं निषिध्यते, अपि तु प्रबोध समयेऽनुसंधीयमानस्य अहमर्थस्य वर्णाश्रमादि विशिष्टता। अहं मां न ज्ञातवानित्युक्ते विषयोविवेचनीयः। जागरितावस्थानुसंहितजात्यादिविशिष्टो अस्मदर्थो मामित्यंशस्य विषयः। स्वाप्ययावस्थाप्रसिद्धाविशदस्वानुभवैकतानश्चाहमर्थोऽहमित्यंशस्य विषयः। अत्र सुप्तोऽहं ईदृशोऽहमिति च मामपि न ज्ञातवानहमित्येव खल्वनुभवप्रकारः।

यदि कहो कि—सुषुप्ति के समय "अपने को भी मै नही जान सका" इस कथन मे तो अह पदार्थ आत्मा की प्रतीति का अभाव भी प्रतीति होता है? (उत्तर) वाह! आप अपने अनुभव और उक्ति के विरोध को भी नही समझते, "मै अपने को भी न जान सका" इस कथन में अनुभव और उसकी अभिव्यजक उक्ति ही है (अर्थात् यदि अहं पदार्थ आत्मा न होता तो "न जान सका" ऐसी अनुभूति की बात कैसे कहता) यदि कहो कि—फिर "माम्" से किसका निषेध किया गया है? (उत्तर) यह तो आपने अच्छा प्रश्न किया? सुनिये—सुषुप्ति दशा में अहं पद

वाच्य ज्ञाता की अनुवृत्ति रहती है, इसलिए उसके स्वरूप का निषेध नहीं हो सकता, अपितु जागरित दशा में वर्णाश्रम आदि विशेष धर्मों की जो प्रतीति होती है, सुषुप्ति में उन्हीं का अभाव हो जाता है। "मैं स्वयं को न जान सका" इस उक्ति का विषय विवेचनीय है। जागरितावस्था में अनुभूत जाति वर्णाश्रम आदि धर्म युक्त अहं पदवाच्य आत्मा ही "माम्" अंश का विषय है, तथा निद्रावस्था में प्रसिद्ध अस्फुट अनुभवमात्रगम्य "अहं" पदार्थ ही "अहं" अंश का विषय है। इसलिए उक्त उक्ति में "मैं सोया", मैं ऐसा हूँ, "मुझे भी भान न हुआ" इतने प्रकार के अनुभव निहित है।

किंच सुषुप्तावात्माऽज्ञानसाधित्वेनास्त इति हि भवदीया प्रक्रिया। साक्षित्वंच साक्षाज्ज्ञातृत्वमेव। न हि अजानतः साक्षित्वम्। ज्ञातैव हि लोकवेदयोः साक्षीति व्यपदिश्यते, न ज्ञानमात्रम्। स्मरति च भगवान् पाणिनिः "साक्षाद्दृष्टरि संज्ञायाम्" इति साक्षाज्ज्ञातर्येव साक्षिशब्दम्। स चायं साक्षी जानामीति प्रतीयमनोऽस्मदर्थ एवेति कुतस्तानीमहमर्थो न प्रतीयेत। आत्मने स्वयमवभासमानो अहमित्येवावभासत इति स्वाप्याद्यवस्थास्वप्यात्मा प्रकाशमानो अहमित्येवावभासत इति सिद्धम्।

आत्मा सुप्तावस्था में अज्ञान के साक्षी के रूप में रहता है ऐसा आपको अभिमत है। साक्षात् ज्ञातृत्व ही साक्षित्व है, अज्ञातवस्तु का साक्षित्व संभव नहीं है। ज्ञातवस्तु को ही लोक और वेद में साक्षी कहा जाता है, केवल ज्ञान को साक्षी नहीं कहते। जैसा कि भगवान पाणिनि "साक्षाद् दृष्टिरि संज्ञायाम्" सूत्र में साक्षात् दृष्टा की साक्षी का ही निर्देश करते हैं। "मैं जानता हूँ" ऐसी प्रतीति रूप साक्षी अस्मत् पदार्थ (आत्मा) के अतिरिक्त किसी और की नही है, इसलिए सुप्तावस्था में "अहं" अर्थ की प्रतीति क्यों न होगी? स्वयं प्रकाशमान आत्मा "अहं" रूप में ही अवभासित होता है, सुषुप्ति आदि अवस्थाओं में, सोने वाला आत्मा, प्रकाशमान "अहं" के रूप में ही अवभासित होता है।

यत्तु मोक्षदशायां अहमर्थो नानुवर्त्तते इति, तदपेशलम्। तथा सत्यात्मनाशएवापवर्गः प्रकारान्तरेण प्रतिज्ञातः स्यात्। न च

अहमर्थो धर्ममात्रम्, येन तद्विगमेप्यविद्यानिवृताविव स्वरूपमवतिष्ठेत। प्रत्युत स्वरूपमेवाहमर्थ आत्मनः ज्ञानं तु तस्य धर्मः, "अहं जानामि, ज्ञानं मे जातम्" इति चाहमर्थधर्मतया ज्ञानप्रतीतिरेव।

मोक्षदशा में अहं अर्थ की अनुवृत्ति नहीं होती; यह भी रुखाई की बात है। ऐसा कहना तो प्रकारान्तर से आत्मविनाश को ही मोक्ष मानना है। अहं अर्थ केवल धर्म ही नहीं है जो, अविद्या की तरह, अहंभाव के अपगम हो जाने पर भी, आत्मा के शुद्ध स्वरूप में स्थित रहा आवे; अपितु अहं पदार्थ आत्मा का ही स्वरूप है, ज्ञान ही उसका धर्म है। "मैं जानता हूँ" मुझे ज्ञान हो गया" इत्यादि प्रतीतियाँ, अहं अर्थ आत्मा के धर्म स्वरूप ज्ञान की ही हैं।

अपि च यः परमार्थतो भ्रान्त्या वाऽध्यात्मिकादि दुःखैर्दुःखितया स्वात्मानमनुसंधत्ते "अहं दुःखी" इति। सर्वमतेद् दुःखजातमपुनर्भवमपोह्य "कथमहमनाकुलः स्वस्थो भवेयम्" इति उत्पन्नमोक्षरागः स एव तत्साधने प्रवर्त्तते। स साधनानुष्ठानेन "यदि अहमेव न भविष्यामि" इत्यवगच्छेत्, अपसर्पेदेवासौ मोक्षकथा प्रस्तावात्। ततश्चाधिकारिविरहादेव सर्वं मोक्षशास्त्रमप्रमाणंस्यात्।

तदहमुपलक्षितं प्रकाशमात्रमपवर्गेऽवतिष्ठत इति चेत्; किमनेन ? मयिनष्टेऽपि किमपि प्रकाशमात्रमपवर्गेऽवतिष्ठत इतिमत्वा न हि कश्चित् बुद्धिपूर्वकारी प्रयतते। अतोऽहमर्थस्यैव ज्ञातृतया सिध्यतः प्रत्यगात्मत्वम्। स च प्रत्यगात्मा मुक्तावप्यहमित्येव प्रकाशते स्वस्मै प्रकाशमानत्वात्, यो यः स्वस्मै प्रकाशते स सर्वोऽहमित्येव प्रकाशते, यथा तथावभासमानत्वेनोभयवादि सम्मत संसार्य्यात्मा। यः पुनरहमिति न चकास्ति, नासौ स्वस्मै प्रकाशते, यथा घटादिः। स्वस्मै प्रकाशते चायं मुक्तात्मा, तस्मादहमित्येव प्रकाशते।

यथार्थ में या भ्रांतिवश जो लोग आध्यात्मिक आदि दुःखों से कातर होकर "मैं दुःखी हूँ" ऐसा अनुभव करते है, वे लोग पुनः ये दुःख प्राप्त न हों, कैसे इन दुःखों का नाश कर सकूँ, ऐसा विचार कर मुक्त होने के लिए, मोक्ष प्राप्ति के साधनों में संलग्न होते हैं। उन साधनानुष्ठानों से यदि उन्हें यह प्रतीति होने लगे कि "मैं ही समाप्त हो जाऊँगा" तो वे लोग ऐसे मोक्ष की बात को सुनकर ही भाग खड़े होंगे इस तरह कोई मोक्ष का अधिकारी दृष्टिगत ही न होगा, सारे मोक्ष के उपदेशक शास्त्र जहाँ के तहाँ रक्खे रह जावेंगे।

यदि कहो कि—मोक्षदशा में (अहं के नष्ट हो जाने पर भी) अहंकारोपलक्षित आत्म प्रकाश विद्यमान रहता है। तो इससे क्या होता है ? मैं नष्ट होकर केवल प्रकाशमान रह जाऊँगा, ऐसा जानकर भी कोई बुद्धिमान मोक्ष मार्ग की ओर उन्मुख नहीं हो सकता। इसलिए मानना होगा कि—ज्ञाता रूप से प्रसिद्ध अहं पदार्थ, जीवात्मा ही है। जो कि मुक्ति दशा में भी "अहं" रूप से प्रकाशित रहता है, क्योंकि वह स्वयं प्रकाश है, जो जो वस्तुएं स्वयं प्रकाश होती हैं वे सब अहं से ही प्रकाशित होती हैं, जैसे कि संसारी आत्मा "अहं" आकार में ही अवभासित होता है, यह बात तो हम आप दोनों को ही स्वीकार्य है। जो अहं रूप से प्रकाशित नही होते, वे स्वप्रकाश नही हैं, जैसे कि घट आदि जड़ पदार्थ। मुक्तात्मा स्वप्रकाश है, इसका प्रकाश अहं रूप में ही प्रकाशित रहता है।

न चाहमिति प्रकाशमानत्वेन तस्याज्ञत्व संसारित्यादि प्रसङ्गः। मोक्षविरोधात् अज्ञत्वाद्यहेतुत्वाच्चाहम्प्रत्ययस्य। अज्ञानंनाम स्वरूपाज्ञानमन्यथाज्ञानं विपरीत ज्ञानं वा। अहमित्येवात्मनः स्वरूपमिति स्वरूप ज्ञानरूपोऽहंप्रत्ययो नाज्ञत्वमापादयति, कुतः संसारित्वं, अपितु तद् विरोधित्वात् नाशयत्येव।

अहंरूप से प्रकाशमान रहने से (मुक्तात्मा में) संसारी आत्माओं की सी अज्ञता हो सकती है, ऐसा संशय भी नही कर सकते। मोक्षदशा स्वयं ही अज्ञता की विरोधी स्थिति है (जब तक अज्ञता है तब तक मोक्ष

नहीं हो सकता, मोक्ष की स्थिति में अज्ञता संभव नहीं है) तथा अहं प्रत्यय अज्ञता का हेतु भी नहीं है। स्वरूप का अज्ञान, अन्यथा या विपरीत ज्ञान ही अज्ञान है। अहं प्रत्यय आत्मा का ही स्वरूप है ऐसा स्वरूप-ज्ञान रूपी अहं प्रत्यय, अज्ञानता को प्राप्त नहीं हो सकता, उसमें संसारी-पन कैसे संभव है, अपितु उसका विरोधी होने से वह सांसारिकता का नाश ही करता है।

ब्रह्मात्मभावापरोक्ष्यनिर्धूतनिरवशेषाविद्यानामपि वामदेवादीनामहमित्येवात्मानुभवदर्शनाच्च। श्रूयते हि—"तद्वैतत्पश्यत् ऋषिर्वामदेवः प्रतिपेदे अहं मनुरभवं सूर्यश्च" इति "अहमेकः प्रथममासं वर्त्तामि च भविष्यामि च" इत्यादि। सकलेतराज्ञानविरोधिनः सच्छब्दप्रत्ययमात्रभाजः परस्य ब्रह्मणो व्यवहारोऽप्यमेव—"हंताहमिमास्त्रिस्रो देवताः—"बहुस्यां प्रजायेय"—स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति"; तथा "यस्माच्क्षरमतीतोऽमक्षरादपि चोत्तमः, अतोऽस्मि लोक वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः"—अहमात्मा गुडाकेश—"नत्वेवाहं जातुनासम्"—अहंकृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा "अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते"—"तेषामहं समुद्धर्त्ता मृत्यु संसार सागरात्"—"अहंबीजप्रदः पिता"—"वेदाहंसमतीतानि" इत्यादिषु।

ब्रह्मात्मभाव की प्राप्ति से जिनकी अविद्या निर्मूल हो चुकी थी, ऐसे वामदेव आदि का भी "अहंकार" युक्त अनुभव पाया गया। श्रुति में कहा है कि—"उन वामदेव ऋषि ने तत्त्व दर्शन करके विचार किया कि, मैं ही मनु और सूर्य हुआ था "तथा" मैं ही पहिले था, इस समय हूँ और भविष्य में भी रहूँगा" इत्यादि।

अन्यान्य सभी अज्ञानों के विरोधी "सत्" शब्द प्रत्यय से ही ज्ञात परब्रह्म के लिए भी ऐसा ही व्यवहार किया गया है—जैसे—"मैं ही इन तीनों देवताओं का रूप लूं—मैं बहुत होकर जन्म लें—"उसने सोचा

कि—मैं लोकों का सर्जन करूँ"—"क्षर से अतीत और अक्षर स उत्तम होने से ही मैं लोक और वेद में पुरुषोत्तम नाम से प्रसिद्ध हूँ"—"गुडाकेश ! मै ही आत्मा हूँ"—ऐसा नहीं है कि—मैं कभी नही था"—"मैं ही समस्त जगत का प्रभव और प्रलय स्थान हूँ"—"मैं ही सबका प्रभव हूँ मुझसे सबका प्रवर्त्तन होता है"—"मैं ही सबको मृत्यु रूपी संसार सागर से पार करने वाला हूँ"—"मैं ही बीज प्रदान करने वाला पिता हूँ"—मैं सभी प्रतीतों का ज्ञाता हूँ" इत्यादि ।

यद्यहमित्येवात्मनःस्वरूपम्, कथंतर्हि अहंकारस्य क्षेत्रान्तर्भावो भगवतोपदिश्यते—"महाभूतान्यहंकारोबुद्धिरव्यक्तमेव च" इति ।

(संशय)—यदि अहं ही आत्मा का स्वरूप है, तो भगवान ने अहंकार का क्षेत्रान्तर भाव क्यों बतलाया ?"—महाभूत, अहंकार, बुद्धि और मन" इत्यादि ।

उच्यते—स्वरूपोपदेशेषुसर्वेष्वहमित्येवोपदेशात् तथैवात्म स्वरूपपतिपत्तेश्च अहमित्येव प्रत्यगात्मनः स्वरूपम् । अव्यक्त परिणामभेदस्याहंकारस्य क्षेत्रान्तरभावो भगवतैवोपदिश्यते । स तु नात्मनि देहेऽहंभावकरण हेतुत्वेन अहंकार इत्युच्यते । अस्यतु अहंकार शब्दस्य अभूततद्भावेऽर्थेच्विप्रत्ययमुत्पाद्य व्युत्पत्तिर्द्रष्टव्या । अयमेव तु अहंकारः, उत्कृष्टजनावमानहेतुर्गर्वापरनामा शास्त्रेषु बहुशो हेयतया प्रतिपाद्यते ।

(समाधान)—जहाँ जहाँ भी आत्मा के स्वरूप का उपदेश है, वहाँ सभी जगह, अहं रूप से ही आत्मा का निर्देश किया गया है, उसी प्रकार जीवात्मा के स्वरूप के विश्लेषण में जीवात्मा का भी "अहं" स्वरूप बतलाया गया है । अव्यक्त (प्रकृति) के परिणाम विशेष अहंकार का क्षेत्रान्तर भाव भगवान ने ही बतलाया है । अनात्म देह में अहंभाव

का उत्पादक होने से उसे अहंकार कहते है, अहंकार शब्द, अभूततद्भाव अर्थ मे "च्वि" प्रत्यय के सयोग से निष्पन्न बतलाया गया है। यह अहंकार ही श्रेष्ठ मनुष्यों के अपमान का हेतु, शास्त्रों में प्राय: गर्व के नाम से हेय रूप से दिखलाया गया है,

तस्मात् बाधकापेताऽहंबुद्धि: साक्षात् आत्मगोचरैव। शरीर-गोचरा तु अहं बुद्धि: अविद्यैव। यथोक्तं भगवता पराशरेण—"श्रूयतां चाप्यविद्यान्या: स्वरूपं कुलनन्दन! अनात्मन्यात्मबुद्धिर्या"—इति। यदि ज्ञप्तिमात्रमेवात्मा तदाऽनात्मन्यात्माभिमाने शरीरे ज्ञप्तिमात्र प्रतिभास: स्यात् न ज्ञातृत्व प्रतिभास:। तस्मात् ज्ञाताऽहमर्थ एवात्मा—यदुक्तम्—"अत: प्रत्यक्ष सिद्धत्वादुक्त न्यायागमान्वयात्, अविद्यायोगतश्चात्मा ज्ञाताऽहमितिभासते।"—"देहेन्द्रियमन. प्राणधीभ्योऽनन्य साधन. नित्यो व्यापी प्रतिक्षेत्रमात्मा भिन्न-स्त्वतस्सुखी।" इति अनन्यस्साधन. स्वप्रकाश:। व्यापी अति सूक्ष्मतया सर्वाचेतनांत. प्रवेशन स्वभाव:।

किसी भी समय जिसकी बाधा न हो सके ऐसी अहं बुद्धि निश्चित ही साक्षात् सबंध से आत्म विषयक है, तथा शरीर विषयक अहं बुद्धि अविद्या है। जैसा कि भगवान पराशर ने कहा है—"अनात्म मे जो आत्म बुद्धि होती है, उस अविद्या के स्वरूप को सुनो।" यदि आत्मा ज्ञप्ति मात्र ही है तो, अनात्म शरीर मे आत्माभिमान के समय केवल ज्ञप्ति की ही प्रतीति होनी चाहिए, ज्ञातृता की प्रतीति नही होनी चाहिए, सो तो होती नही, इससे निश्चय होता है कि—"अहं" पदवाच्य ही ज्ञाता आत्मा है। जैसा कि कहते भी है—"प्रत्यक्ष, न्याय (युक्ति) और शास्त्र प्रमाण के अनुसार तथा अविद्यावश, ज्ञाता आत्मा, अहं रूप में ही भासित होता है"—"देह, इन्द्रिय, मन, प्राण और बुद्धि से पृथक् अनन्य साधन, नित्य और व्यापी आत्मा प्रतिदेह मे भिन्न, स्वभाव से सुखी है।" यहाँ अनन्य साधन शब्द स्वप्रकाश अर्थ का बोधक है। अतिसूक्ष्म रूप से समस्त जड़ पदार्थो मे जो अनुस्यूत है उसे व्यापी कहते है।

यदुक्तम्–"दोषमूलत्वेनान्यथासिद्धिसंभावनया, सकलभेदावलंबिप्रत्यक्षस्य शास्त्रबाध्यत्वम्" इति । कोऽयं दोषवक्तव्यम्, यन्मूलतया प्रत्यक्षस्यान्यथासिद्धिः ? अनादिभेदवासनैव हि दोष इति चेत्; भेदवासनाया. तिमिरादिवत् यथावस्थितवस्तु विपरीतज्ञानहेतुत्वं किमन्यत्र ज्ञातपूर्वम् ? अनेनैवशास्त्र विरोधेन ज्ञास्यत इतिचेत्; न अन्योन्याश्रयणात्, शास्त्रस्यनिरस्तनिखिलविशेषवस्तुबोधित्व निश्चये सति भेदवासनाया. दोषत्वनिश्चय, भेदवासनायाः दोषत्व निश्चिते गति शास्त्रस्यनिरस्तनिखिलविशेषवस्तुबोधित्व निश्चय इति । किंच यदि भेदवासनामूलत्वेन प्रत्यक्षस्य विपरीतार्थत्वं शास्त्रमपि तन्मूलत्वेन तथैव स्यात् ।

जो यह कहा कि—"दोषमूलक, भ्रम, आशंकापूर्ण, भेदावलंबी समस्त प्रत्यक्ष, शास्त्रबाध्य हैं" तो बतलाइये कि वे दोष कौन से है जिनसे प्रत्यक्ष की भ्रातता संभावित होती है ? यदि कहें कि, अनादिभेदवासना ही वह दोष है; ऐसा मानने से तो, नेत्रों के तिमिर आदि दोनों की तरह, भेदवासना भी, प्रकृति वस्तु से विपरीत भान कराने वाली हो जायगी। आपने ऐसी वासना कहीं देखी भी है क्या ? यदि कहो कि—शास्त्र विरोध से ही ऐसी वासना का ज्ञान होता है; सो बात नहीं है, क्योंकि शास्त्र का उससे अन्योन्याश्रय संबंध है । शास्त्र, समस्त विशेषताओं से रहित वस्तु के प्रतिपादक हैं', ऐसा निश्चित होने से भेदवासना दोषपूर्ण निश्चित हो जाती है, तथा भेदवासना की दोषपूर्णता निश्चित होने से, शास्त्र की समस्त विशेषताओं से रहित, वस्तु प्रतिपादकता निश्चित हो जाती है। यदि भेदवासनामूलक होने से ही प्रत्यक्ष की विपरीतार्थता होती है तब तो शास्त्र भी, तन्मूलक होने से वैसे ही सिद्ध हो जावेंगे ।

अथोच्येत–दोषमूलत्वेऽपि शास्त्रस्य प्रत्यक्षावगत सकलभेदनिरसनज्ञान हेतुत्वेन परत्वात्ततप्रत्यक्षस्य बाधकम् इति । तन्न दोषमूलत्वेज्ञाते सति परत्वमकिंचित्करम् । रज्जुसर्पज्ञाननिमित्त भयेसति भ्रांतोऽयमिति परिज्ञातेन केनचित् "नायं सर्पो मा भैषीः"

इत्युक्तेऽपि भयानिवृत्तिदर्शनात्। शास्त्रस्य च दोषमूलत्वं श्रवणवेलायामेव ज्ञातम्। श्रवणावगतनिखिलभेदोपमर्दिब्रह्मात्मैकत्व विज्ञानाभ्यासरूपत्वात् मननादे.।

जो यह कहो कि—शास्त्र दोषमूलक होते हुए भी, प्रत्यक्ष दृष्ट समस्त भेदों का निवारक ज्ञान उत्पन्न करते है; सो तो हो नहीं सकता, क्योंकि दोषमूलकता के निश्चित हो जाने पर उसका परत्व बल अकिंचित्कर हो जाता है। जैसे कि—रज्जु में सर्प की भ्रांति होने पर, किसी के द्वारा कहा जाय कि "यह सर्प नही है मत डरो" इतना कहने पर भी भय दूर नही होता। शास्त्र की दोषमूलकता तो श्रवण के समय ही ज्ञात होती है। शास्त्र श्रवण के बाद संपूर्ण भेदों के उन्मूलक ब्रह्मात्मैकत्व ज्ञान के पुनः पुनः अनुशीलन रूप मनन आदि की व्यवस्था ही उक्त बात की पुष्टि करती है।

अपि च इदं शास्त्रम्, एतच्चासंभाव्यमानदोषम्; प्रत्यक्षंतु संभाव्यमान दोषमिति केनावगतं त्वया? नतावत् स्वतःसिद्धा निधूतनिखिलविशेषानुभूतिरिममर्थमवगमयति, तस्याः सर्वविषय विरक्तत्वात् शास्त्रपक्षपात विरहाच्च। नाप्यैन्द्रिकियंप्रत्यक्षं, दोष मूलत्वेन विपरीतार्थत्वात्। तन्मूलत्वादेव नान्यान्यपि प्रमाणानि। अतः स्वपक्ष साधन प्रमाणानभ्युपगमात् न स्वाभिमतार्थ सिद्धिः

ये शास्त्र, दोषों की संभावना से रहित हैं तथा प्रत्यक्ष प्रमाण में दोष संभाव्य है; यह बात तुम्हें कहाँ से ज्ञात हुई? स्वयं सिद्ध निर्विशेष अनुभूति तो उक्त अर्थ बतला नहीं सकती, क्योंकि वह समस्तविषयों से विरक्त है, तथा उसे शास्त्र का कोई पक्षपात भी नहीं है। किसी इन्द्रिय से उक्त बात जानी हो ऐसा भी संभव नहीं है, क्योंकि जब प्रत्यक्ष ज्ञान दोषमूलक ही है, उसकी तो विपरीत ही प्रतीति होगी। अनुमान आदि अन्यान्य प्रमाण सब प्रत्यक्ष सापेक्ष ही होते हैं, अतः उनसे भी जानना कठिन है। तुम्हें अपने उक्त मत के साधन में कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है, इसलिए तुम्हारे अभिमत की सिद्धि नही हो सकती।

ननु व्यावहारिक प्रमाणप्रमेयव्यवहारो अस्माकमपि अस्ति एव; कोऽयं व्यावहारिको नाम ? आपात् प्रतीतिसिद्धो युक्तिभिर्निरूपितो न तथावस्थित इति चेत्; किंतेन प्रयोजनं ? प्रमाणतया प्रतिपन्नेऽपि यौक्तिकबाधादेव प्रमाणकार्याभावात् । अथोच्येत- शास्त्र-प्रत्यक्षयोः द्वयोरप्यविद्यामूलत्वेनऽपि प्रत्यक्षविषयस्य शास्त्रेण बाधोदृश्यते; शास्त्रविषयस्य सदद्वितोयब्रह्मणः पश्चात्तनबाधादर्शनेन निर्विशेषानुभूतिमानं ब्रह्मैव परमार्थः इति । तदयुक्तम् अबाधितस्यापि दोषमूलस्यापारमार्थ्यंनिश्चयात् ।

आपके मत में व्यावहारिक प्रमाण प्रमेयभाव तो स्वीकृत ही है, तो आप का वह व्यावहारिक स्वरूप क्या है ? यदि कहें कि—हर प्रकार से प्रतीतिसिद्ध, युक्तियों से जो भलीभाँति निरूपित न हो सके। वाह ! ऐसी वस्तु का प्रयोजन ही क्या है ? जो वस्तु प्रमाण से सिद्ध हो जाय, फिर भी युक्तियों से सिद्ध न हो सके, वस्तुतः वो प्रमाणित नही मानी जायगी। यदि कहें कि—"शास्त्र और प्रत्यक्ष दोनों के अविद्यामूलक होते हुए भी, प्रत्यक्ष विषय का शास्त्र से बाध दिखलाई देता है। शास्त्र विषय के प्रतिपाद्य सत् स्वरूप अद्वितीय ब्रह्म के विषय मे कोई बाधा नही दीखती, इसलिए निर्विशेष अनुभूतिमान ब्रह्म ही परमार्थ है ऐसा निश्चित होता है। "आपका यह कथन भी असंगत है—जो दोषप्रसूत वस्तु है, वह निर्बाध होते हुए भी अपरमार्थ ही मानी जाती है।

एतदुक्तं भवति—यथा सकलेतरकाचादिदोष रहित पुरुषांतरागोचरगिरिगुहासु वसतः तैमरिकजनस्याज्ञातस्वतिमिरस्य सर्वस्य तिमिरदोषाविशेषेण द्विचन्द्रज्ञानमविशिष्टं जायते। न तत्र बाधक प्रत्ययोऽस्तीति न, तन्मिथ्या न भवतीति, तद्विषय भूतं द्विचंद्रत्वमपि मिथ्यैव। दोषो हि, अयथार्थज्ञानहेतुः। तथा ब्रह्मज्ञानं अविद्या मूलत्वेन बाधतज्ज्ञानरहितमपि स्वविषयेण ब्रह्मणा सह मिथ्यैव इति। भवंति चात्र प्रयोगाः :—"विवाध्यासितं ब्रह्ममिथ्या

अविद्यावत् उत्पन्न ज्ञानविषयत्वात् प्रपंचवत् "ब्रह्मज्ञानविषयत्वात् प्रपंचवत्" ! ब्रह्ममिथ्या असत्यहेतुजन्य ज्ञान विषयत्वात् प्रपंचवदेव।

कथन यह है कि--जैसे, समस्त नेत्र रोग विहीन, पर्वत गुहावासी कोई व्यक्ति, गुहा के घोर अंधकार में निरन्तर रहने के कारण तिमिर रोग (रतौंधी) से ग्रस्त हो जाता है; पर अपने उस रोग को नहीं जान पाता उसके लिए वह सामान्य सी बात है; उस व्यक्ति को दो चन्द्र दिखलाई देते है, उसके लिए उस जानकारी में वहाँ कोई बाधक ज्ञान भी नहीं है (क्योंकि उसे गुहा के अतिरिक्त बाहर का कुछ भी ज्ञान नहीं होता) इसलिए वह अपने द्विचन्द्र ज्ञान को मिथ्या नहीं मानता; पर उसका वह ज्ञान है तो मिथ्या ही। दोष तो तभी हो, जब कि वह अयथार्थ ज्ञान हेतुक हो। इसी प्रकार ब्रह्मज्ञान अविद्या मूलक होने से बाधक के न रहते हुए भी ब्रह्म ज्ञान सहित मिथ्या ही है। ऐसे प्रयोग भी किये जाते हैं—"ब्रह्म, मिथ्या ज्ञान का विषय होने के कारण, प्रपंचमय जगत की तरह मिथ्या है—"जो विवादास्पद है वह ब्रह्म मिथ्या है"--"असत्य के हेतु शास्त्र ज्ञान का विषय होने के कारण, प्रपंचमय जगत की तरह, ब्रह्म मिथ्या है।" (इत्यादि चार्वाक, जैन, बौद्ध आदि कहते हैं)।

न च वाच्यं स्वाप्नस्य हस्त्यादिविज्ञानस्यासत्यस्य परमार्थ शुभाशुभप्रतिपत्ति हेतु भाववदविद्यामूलत्वेनासत्यस्यातिशास्त्रस्य परमार्थभूतब्रह्मविषयप्रतिपत्तिहेतुभावो न विरुद्धः इति। स्वप्नज्ञानस्यासत्यत्वाभावात्। तत्र हि विषयाणामेव मिथ्यात्वम् तेषामेव हि बाधोदृश्यंते, न ज्ञानस्य, न हि मया स्वप्नवेलायामनुभूत ज्ञानमपि न विद्यत इति, कस्यचिदपि प्रत्ययो जायते। दर्शनं तु विद्यते, अर्था न संतीति हि बाधक प्रत्ययः। मायाविनो मंत्रौषधादिप्रभवं मायामयं ज्ञानं सत्यमेवप्रीतिर्भयस्य च हेतुः। तत्रापि ज्ञानस्य अबाधितत्वात् विषयेन्द्रियादि दोषजन्यं रज्ज्वादौ सर्पादिविज्ञानं सत्यमेव, भयादि हेतुः। सत्येवादष्टेऽपि स्वात्मनि सर्पसन्निधानात् दष्ट बुद्धिः सत्यैव

शंकाविषबुद्धिर्मरण हेतुभूता । वस्तुभूत एव जलादौ मुखादि प्रतिभासो वस्तुभूत मुखगत विशेष निश्चय हेतुः । एषां संवेदनानां उत्पत्तिमत्वात् अर्थक्रियाकारित्वाच्च सत्यत्वमवसीयते । हस्त्यादीनां अभावेऽपिकथं तद्बुद्धयः सत्याभवंतीति चेत् नैतत् बुद्धीनां सालम्बनत्वमात्र नियमात् ।

यह नहीं कह सकते कि--"स्वप्न में द्रष्ट, हस्ति आदि ज्ञान, असत्य होते हुए भी, शुभाशुभ वास्तविक फलदायी होते हैं, उसी प्रकार अविद्या मूलक असत्य होते हुए भी, शास्त्र का ब्रह्मविषयक फल वास्तविक ही होता है । "स्वाप्न ज्ञान असत्य नहीं होता, अपितु स्वप्न में देखे गए पदार्थ ही मिथ्या होते हैं क्योंकि जागने पर वे दीखते नहीं ऐसा तो कोई नहीं कह सकता कि, स्वप्न में मुझे प्रतीति नहीं हुई । स्वप्न में दीखता तो निश्चय ही है, पर स्वप्नदृष्ट विषय नहीं होते यही बाधकता है । मायावी (जादूगर) मंत्र और औषधि के प्रभाव से जो चमत्कार दिखलाता है, वह प्रीति और भयोत्पादक होता है, वह ज्ञान भी सत्य है क्योंकि वह ज्ञान भी अबाधित होता है । विषय और इन्द्रियादि जन्य रस्सी में होने वाली सर्प प्रतीति भी भयोत्पादक होने के कारण सत्य ही है, उस रस्सी रूपी सर्प से दंशित न होते हुए भी, दंशन का भय तो होता ही है, क्योंकि--उसमें मरण के हेतु विष की शंका रहती है । जल दर्पण आदि में मुख आदि का जो प्रतिबिम्ब दीखता है, वह मुखगत वास्तविकता का निर्णायक होता है । इस प्रकार की प्रतीतियों में उत्पत्तिशीलता और कार्य संपादन शक्ति होने से सत्यता निश्चित होती है । यदि कहो कि--"स्वप्न दृष्ट हस्ति आदि जब रहते नहीं तो तद्विषयक बुद्धि ही कैसे सत्य हो सकती है ?" बुद्धि को तो एक अवलम्बन चाहिए, वह तो वस्तु के प्रतिभासित होने मात्र से उस पर आधारित हो जाती है ।

अर्थस्य प्रतिभासमानत्वमेव हि आलम्बनत्वेऽपेक्षितम्, प्रतिभासमानता च अस्त्येव दोषवशात् । सतु बाधितोऽसत्य इत्यवसीयते अबाधिता हिं बुद्धिः सत्यैवेत्युक्तम् ।

हस्ति आदि विषय की प्रतीति होती तो है ही, क्योंकि वह आलम्बन सापेक्ष होती है, इसलिए उसकी प्रतिभासमानता होती है । जागने पर

उस प्रतीतिगत वस्तु की असत्यता ज्ञात हो जाती है, पर उस प्रतीति बुद्धि का तो बाध होता नहीं, इसलिए उसे तो सत्य ही कहना होगा।

रेखयावर्णप्रतिपत्तावपि नासत्यात्सत्यबुद्धिः, रेखायास्सत्यत्वात् ननु वर्णात्मनाप्रतिपन्नारेखा वर्णबुद्धिहेतुः, वर्णात्मतात्वसत्या। मैवम् वर्णात्मताया असत्याया उपायत्वायोगात्। असतो निरूपाख्यस्य हि उपायत्वं न दृष्टमनुपपन्नं च। अथतस्या वर्णबुद्धेरुपायत्वं एवंतर्हि असत्यात् सत्यबुद्धिर्नस्यात् बुद्धेः सत्यत्वादेव। उपायोपेययोरेकत्वप्रसंगश्च उभयोर्वणबुद्धित्वाविशेषात्। रेखाया अविद्यमानवर्णात्मनोपायत्वे चैकस्यामेव रेखायामविद्यमानसर्ववर्णात्मकत्वस्य सुलभत्वादेकरेखादर्शनात्सर्ववर्णप्रतिपत्तिस्स्यात्।

रेखाओं से जो वर्ण बनते हैं उनमें भी सत्यता की ही प्रतीति होती है असत्यता से सत्य बुद्धि नहीं होती, क्योंकि रेखायें तो सत्य हैं हीं। रेखा वर्ण का स्वरूप मानकर ही रेखा में वर्णबुद्धि होती है, वस्तुतः रेखा तो वर्ण है नहीं ऐसा संशय भी नहीं करना चाहिए, क्योंकि—यदि रेखा की वर्णात्मकता को असत्य मान लेगें तो, वह वर्ण बोध की उपाय नहीं रह जायगी असत् वस्तु की निरूपण शक्ति और उपायता कहीं भी देखी नहीं जाती और न होती ही है। यदि रेखा में होने वाली वर्णबुद्धि को ही वर्ण बोध का उपाय मान लें तो, बुद्धि तो सत्य ही है, फिर असत्य से सत्य बुद्धि हो रही है, ऐसा नहीं कह सकते। साथ ही रेखा और वर्ण दोनों में ही वर्णबुद्धिता मानने से, उपाय और उपेय दोनों एक हो जावेंगे। रेखा यदि वस्तुतः वर्णात्मक न होकर केवल उपाय मात्र ही हैं तो, प्रत्येक रेखा से, सारी वर्णमाला का सरलता से ज्ञान हो जाना चाहिए, तथा एक ही रेखा को देखने से वर्णमाला की प्रतीति हो जाती चाहिए। सो तो होती नहीं।

अर्थपिडविशेषे देवदत्तादिशब्द संकेतवत् चक्षुग्राह्यरेखाविशेषे श्रोत्रग्राह्यवर्णविशेषोसंकेतवशाद् रेखाविशेष वर्णविशेष बुद्धि हेतुरिति। हन्त तर्हि सत्यादेव सत्यप्रतिपत्तिः रेखायाः संकेत

स्य च सत्यसत्वात्। रेखागवयावपि सत्यगवयबुद्धिः सादृश्यनिबंधना सादृश्यं च सत्यमेव।

यदि कहो कि—पिंडविशेष मे जैसे देवदत्त आदि शब्द का संकेत किया जाता है वैसे ही चक्षुर्ग्राह्य रेखा विशेष में श्रोत्र ग्राह्यवर्ण विशेष के संकेत से, रेखा विशेष मे वर्ण विशेष की बुद्धि होती है। ठीक है, यह तो सत्य से ही सत्य की प्रतीति हुई, क्योकि रेखा और सकेत दोनो ही सत्य है। रेखा (चित्रित) गाय में भी, सत्य गाय की बुद्धि, सादृश्य के कारण होती है, सादृश्य तो सत्य है ही।

न चैकरूपस्य शब्दस्य नादविशेषेणार्थ भेदबुद्धि हेतुत्वेऽप्यसत्यास्सत्यप्रतिपत्तिः नानानादाभिव्यक्तस्यैकस्यैव शब्दस्य तत्तन्नादाभिव्यंग्यस्वरूपेणार्थविशेषैः सह संबंधग्रहणवशात् अर्थभेदबुद्धि उत्पत्ति हेतुत्वात्। शब्दस्यैकरूपत्वमपि न साधीयः, गकारादेर्बोधकस्यैव श्रोत्राग्राह्यत्वेन शब्दत्वात्। अतोऽसत्यात् शास्त्रात् सत्यब्रह्म विषय प्रतिपत्तिर्दुरुपपादा।

एक आकार के शब्द की, उच्चारण के भेद से विभिन्न अर्थगत भेद बुद्धि होती है, इसलिए असत्य से सत्य बुद्धि होती हो सो भी नही है, क्योंकि—एक ही शब्द अनेकों ध्वनियों के अनुसार अभिव्यक्त होकर उन ध्वनियों में अभिव्यंजित होकर भिन्न-भिन्न अर्थो से संबध, भिन्न-भिन्न विषयों की प्रतीति कराता है। अर्थ बोधक ग आदि वर्ण जब श्रवणेन्द्रिय ग्राह्य होते हैं, तभी शब्द कहलाते हैं, इसलिए विभिन्न वर्णमय शब्दों की एक रूपता भी युक्ति संगत नही है। उक्त दृष्टान्तों से सिद्ध होता है कि—असत्य शास्त्र से सत्य स्वरूप ब्रह्म की सिद्धि करना कठिन है।

ननु न शास्त्रस्य गगनकुसुमवत् असत्यत्वम्। प्रागद्वैतज्ञानात् सद्बुद्धिबोध्यत्वात्। उत्पन्ने तत्त्वज्ञाने हि असत्यत्वं शास्त्रस्य। न तदा शास्त्रं निरस्तनिखिलभेदचिन्मात्रब्रह्मज्ञानोपायः। यदोपायः

तदा अस्त्येव शास्त्रम् अस्तीति बुद्धेः। नैवम्, असति शास्त्रे, अस्ति शास्त्रमिति बुद्धेर्मिथ्यात्वात्। ततः किम्? इदं ततः मिथ्या भूत शास्त्रजन्यज्ञानस्य मिथ्यात्वेन तद्विषयस्यापि ब्रह्मणो मिथ्यात्वम्, यथा धूमबुद्धयाग्रहीत वाष्पजन्याग्निज्ञानस्य मिथ्यात्वेन तद् विषयस्याग्नेरपि मिथ्यात्वम्। पश्चात्तनबाधादर्शनंचासिद्धम्, शून्यमेव तत्त्वमिति वाक्येन तस्यापि बाधदर्शनात्। तत्तु भ्रांतिमूलमिति-चेत् एतदपि भ्रांतिमूलम् इति त्वयंवोक्तम्। पाश्चात्यबाधा दर्शनं तु तस्यैवेत्यलमप्रतिष्ठित कुतर्कपरिहसनेन।

अद्वैत ज्ञान के पूर्व शास्त्र यदि सद्बुद्धि बोधक हैं; तो उन शास्त्रों को गगनकुसुम की तरह मिथ्या तो कह नहीं सकते? तत्व ज्ञान के उत्पन्न हो जाने पर ही शास्त्र की असत्यता होती है। उस स्थिति में शास्त्र, चिन्मय अद्वैत ब्रह्म, विषयक ज्ञानोत्पादन में सहायक भी नहीं होते। जिस समय वे ब्रह्म प्राप्ति के साधन रहते हैं उस समय तो शास्त्र सत्य ही हैं, तब तक तो उनकी सत्ता व्याहत होती नहीं।

(वादी) उक्त बात ठीक नहीं है शास्त्र को असत्य मानने से' शास्त्र में जो सत्यता की बुद्धि है, वह भी मिथ्या हो जायगी (प्रतिवादी) तो उससे क्या होगा? (वादी) फिर इस मिथ्या शास्त्र-जन्य ज्ञान का मिथ्यात्व सिद्ध होने से, ज्ञान का विषय ब्रह्म भी मिथ्या हो जायगा। जैसे कि कोई जलीयवाष्प को देखकर धुआँ समझ कर अग्नि का अनुमान करे, वह तो उसका मिथ्या ज्ञान ही होगा तथा उस धुआँ का विषय अनुमित अग्नि भी मिथ्या होगी। तथा परवर्त्ती किसी ज्ञान के द्वारा बाधित न होने से शास्त्र प्रतिपादित ब्रह्म सत्य है; यह कथन भी प्रमाण सिद्ध नहीं है, क्योंकि "शून्य ही एक मात्र सत्य है" यह वाक्य ही उसका बाधक है। यदि कहो कि यह वाक्य भ्रांति मूलक है, तो शास्त्र को भी तो भ्रांतिमूलक तुम्हीं ने कहा है। उक्त शून्यवादी वाक्य का परवर्ती कोई बाधक प्रमाण नहीं है। अस्तु अब अधिक, अव्यवस्थित कुतर्क रूपी परिहास से क्या होगा? सही मार्ग पर आना चाहिए।

यदुक्तं - वेदांतवाक्यानि निर्विशेषज्ञानैकरसवस्तुमात्र प्रतिपादनपराणि "सदेव सौम्येदमग्र आसीत्" इत्येवमादीनि।

तदयुक्तम् - एक विज्ञानसर्वविज्ञानप्रतिज्ञोपपादनमुखेन सत् शब्दवाच्यस्य परस्य ब्रह्मणो जगदुपादानत्वं जगन्निमित्तत्वं, सर्वज्ञता, सर्वशक्तियोग, सत्यसंकल्पत्वं, सर्वान्तरत्वम्, सर्वाधारत्वं, सर्वनियमनम् इत्यादि अनेक कल्याणगुण विशिष्टतां कृत्स्नस्य जगतस्तदात्मकतां प्रतिपाद्य, एवंभूत ब्रह्मात्मकस्त्वमसीतिश्वेतकेतुं प्रत्युपदेशाय प्रवृत्तत्वात्प्रकरणस्य । प्रपंचितश्चायमर्थो वेदार्थ संग्रहे, अत्रप्यारम्भणाधिकरणो निपुणतरमुपपादयिष्यते ।

"सदेव सौम्यमिदमग्र आसीत" इत्यादि वेदांत वाक्य निर्विशेष ज्ञानैकरस वस्तु के ही प्रतिपादक हैं। यह कथन भी भ्रामक है— एक के ज्ञान से सभी का ज्ञान हो जाता है इस प्रतिज्ञा के आधार पर सत् पदवाच्य परब्रह्म की जगत् उपादानता, जगत् निमित्तता, सर्वज्ञता, सर्वशक्ति योगता, सत्य संकल्पता, सर्वान्तरयामिता, सर्वनियामकता सर्वाधारता आदि अनेक कल्याणमय विशिष्ट गुणों और उनकी सर्व जगदात्मकता का प्रतिपादन करके, ऐसा परब्रह्म "तू है" इस प्रकार श्वेतकेतु को तत्वोपदेश देने के लिए उक्त प्रकरण प्रस्तुत है। अपने वेदार्थ संग्रह में इसका विस्तृत विवेचन किया है। इस वेदांत सूत्र के आरम्भाधिकरण में भी दृढ़ता के साथ प्रतिपादन करूँगा।

"अथ परा यथा तदक्षरम्" इत्यत्रापि प्राकृतान् हेयगुणान् प्रतिषिध्य नित्यत्व विभुत्व सूक्ष्मत्व सर्वगतत्वाव्ययत्वभूतयोनित्वसार्वज्ञादि कल्याणगुणयोग. परस्यब्रह्मणः प्रतिपादितः ।

"अब पराविद्या का वर्णन करेंगे जिससे अक्षर ब्रह्म की प्राप्ति होती है" इस श्रुति में प्रकृति संभूत हेयगुणों का निराकरण करके, परब्रह्म की नित्यता, व्यापकता, सूक्ष्मता, सार्वजनीनता, निर्विकारता, सर्वभूतकारणता, और सर्वज्ञता आदि कल्याण गुणों का प्रतिपादन किया गया है।

"सत्यंज्ञानमनन्तंब्रह्म" इत्यत्रापि सामानाधिकरण्यस्यानेक विशेषणविशिष्टैकार्थाभिधानव्युत्पत्त्या न निर्विशेषवस्तु सिद्धिः

प्रवृत्ति निवृत्तिभेदनैकार्थं वृत्तित्वं सामानाधिकरण्यम्। तत्र सत्यं ज्ञानादिपदमुख्यार्थैर्गुणैस्तत्तदगुणविरोध्याकार प्रत्यनीकाकारैर्वैक-स्मिन्नेवार्थे पदानां प्रवृत्तौ निमित्तभेदोऽवश्याश्रणीयः। इयांस्तु विशेषः एकस्मिन्, पक्षे पदानां मुख्यार्थता, अपरस्मिश्च तेषां लक्षणा। न च अज्ञानादीनां प्रत्यनीकता वस्तुस्वरूपमेव, एकेनैव पदेन स्वरूपं प्रतिपन्नमिति पदान्तरप्रयोगवैयर्थ्यात्। तथा सति सामानधिकरण्यासिद्धश्च, एकस्मिन् वस्तुनि वर्त्तमामानां पदानां निमित्तभेदानाश्रयणात्। न च एकस्यैवार्थस्य विशेषणभेदेन विशिष्टताभेदादनेकार्थत्वं पदानां सामानाधिकरण्यविरोधि, एक स्यैववस्तुनो अनेकविशेषणविशिष्टता प्रतिपादन परत्वात्सामाना-धिकरण्यस्य "भिन्न प्रवृत्तिनिमित्तानां शब्दानामेकस्मिन्नर्थे वृत्तिः सामानाधिकरण्यम्" इतिहिशाब्दिकाः।

"ब्रह्म सत्य ज्ञान अनन्त स्वरूप है" इस श्रुति में भी ब्रह्म के साथ सत्य आदि पदों का सामानाधिकरण्य (विशेषण विशेष्यभाव का अभेद) होने से ब्रह्म की निर्विशेषता सिद्ध नहीं होती। अनेक गुण युक्त एक वस्तु का प्रतिपादन करना ही, सामानाधिकरण्य का कार्य है। विभिन्न अर्थों में प्रयोज्य शब्दों की एकार्थपरता को ही सामानाधिकरण्य कहते हैं। इसलिए सत्य ज्ञान आदि शब्दों का मुख्यार्थ, सत्यता आदि गुण रूप हो, अथवा उसके विरोधी गुण के आकारवाला हो, इन दोनों में से किसी भी एक अर्थ के ज्ञापक होने से, पदों की प्रवृत्ति, भिन्न निमित्तक स्वीकारनी होगी। यही एक विशेषता होगी कि, पदों का पहिला अर्थ मुख्य तथा दूसरा अर्थ लाक्षणिक होगा। यह भी नहीं कहा जा सकता कि सत्य आदि पदों का, अज्ञान आदिविपरीत अर्थ ही वस्तु (ब्रह्म) का स्वरूप है। क्योंकि एक ही पद से जब स्वरूप सिद्ध हो जाता है तो अन्य पदों का प्रयोग करना व्यर्थ है। उक्त बात मानने से तो सामानाधिकरण्य असिद्ध हो जायगा, क्योंकि एक वस्तु में वर्त्तमान पदों का निमित्त भेद न होगा (सामानाधिकरण्य में निमित्त भेद आवश्यक है) यदि कहो कि-विशेषण के भेदानुसार एक ही वस्तु का गुणगत भेद तो रहेगा ही; इससे तो

विशिष्ट पदों की एकार्थता स्वीकारने वाले सामानाधिकरण्य से विरोध होगा, एक ही वस्तु के अनेक विशेषणों वाली विशिष्टता का प्रतिपादन करने वाला सामानाधिकरण्य होता है, ऐसा-वैय्याकरणों का भी मत है कि "भिन्न प्रवृत्ति निमित्तक शब्दों की एक अर्थ में योजना करना सामानाधिकरण्य का कार्य है।"

यदुक्तम्- "एकमेवाद्वितोयम्" इत्यत्र अद्वितोयपदं गुणतोऽपि सद्वितीयतां न सहते, अतः सर्वशाखाप्रत्ययन्यायेन कारणवाक्यानां अद्वितीय वस्तु प्रतिपादनपरत्वमभ्युपगमनीयम् कारणतयोपलक्षितस्याद्वितीयस्य ब्रह्मणोलक्षणमिदमुच्यते "सत्यं ज्ञानमन्तं ब्रह्म" इति। अतो लिलक्षयिषितंब्रह्म निर्गुणमेव, अन्यथा निर्गुणं निरंजनं इत्यादिभिर्विरोधश्च इति। तदनुपपन्न-जगदुपादानस्यब्रह्मणः स्वव्यतिरिक्ताधिष्ठात्रन्तरनिवारणेन विचित्र शक्तियोग प्रतिपादन परत्वात् अद्वितीय पदस्य तथैव विचित्रशक्तियोगमेवावगमयति "तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत" इत्यादि।

जो यह कहा कि—"एकमेवाद्वितीयं" इस वाक्य में प्रयुक्त अद्वितीय पद, किसी भी गुण से ब्रह्म की द्वैतता नहीं स्वीकारता, इसलिए" सर्वशाखा प्रत्यय न्याय" से अद्वितीय ब्रह्म के प्रतिपादन में ही समस्त वेदांत वाक्यों का तात्पर्य स्वीकारना चाहिए। कारण रूप से उल्लेख्य उस अद्वैत ब्रह्म को "सत्यंज्ञानमनन्तंब्रह्म" कहा गया है। उक्त लक्षण वाला ब्रह्म स्वरूप से निर्गुण ही हो सकता है, सगुण नहीं, यदि सगुण स्वीकारेगे तो, "निर्गुण निरंजन" इत्यादि निर्गुणता बोधक श्रुति के साथ विरुद्धता होगी। यह कथन भी असंगत है—अद्वितीय पद से ज्ञात होता है कि जगत के उपादान कारण ब्रह्म में ऐसी विचित्र अद्वितीय शक्ति है कि, उसे जगत के संचालन में किसी अन्य की सहायता अपेक्षित नहीं होती। ऐसी ही विचित्र शक्ति योग की बात इस श्रुति से पुष्ट होती है—"उसने विचार किया एक से अनेक हो जाऊँ" उसने फिर तेज की सृष्टि की" इत्यादि।

अविशेषेणाद्वितीयमित्युक्ते निमित्तान्तरमात्रनिषेधः कथं ज्ञायत इति चेत्, सिसृक्षोर्ब्रह्मण उपादानकरणत्वं "सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेव" इति प्रतिपादितम्। कार्योत्पत्तिस्वाभावेन वुद्धिस्थं निमित्तान्तरमिति तदेवाद्वितीयपदेन निषिध्यते इत्यवगम्यते। सर्वं निषेधे हि स्वाभ्युपगताः सिषाधयिषिता नित्यत्वादयश्च निषिद्धाः स्युः। सर्वशाखा प्रत्ययन्यायश्चात्र भवतो विपरीतफलः सर्वशाखासु कारणान्वयिनां सर्वज्ञत्वादीनां गुणानामत्रोपसंहार हेतुत्वात्। अतः कारणवाक्य स्वभावादपि "सत्यंज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इत्यनेन सविशेषमेव प्रतिपाद्यते, इति विज्ञायते

यदि कहो कि—सामान्य अद्वितीय पद से, निमित्तान्तर मात्र के निषेध का अर्थ कहाँ से ज्ञात कर लिया ? सो वह तो,सृष्टि करने के इच्छक ब्रह्म की उपादान कारणता के बोधक—"हे सौम्य ! यह जगत सृष्टि के पूर्व एक मात्र सद्ही था" इस वाक्य में प्रतिपादित तत्त्व से निश्चित हो जाता है। इस जगत् के निर्माण कार्य में ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कारण की संम्भावना का "अद्वितीय" पद से निषेध प्रतीत होता है। यदि "अद्वितीय" पद से सभी का निषेध स्वीकारेंगे तो नित्यता आदि जिन धर्मों का प्रतिपादन आवश्यक है, उनका भी निषेध हो जायगा। इस प्रसंग में सर्वशाखाप्रत्ययन्याय की चर्चा तो आपके विपरीत प्रतिफलित होगी क्यों कि आपको वेदों की समस्त शाखाओं में वर्णित जगत कारण के प्रतिपादक सर्वज्ञता आदि गुणों का यही उपसंहार करना पड़ेगा। इसलिए, कारणता का प्रतिपादक वाक्य स्वाभाविक रूप से "ब्रह्म सत्य ज्ञान अनंत स्वरूप है" ऐसा सविशेष का ही प्रतिपादन करता प्रतीत होता है।

न च निर्गुणवाक्य विरोधः, प्राकृतहेयगुणविषयत्वात् तेषां "निर्गुणं, निरंजनं, निष्कलं, निष्क्रियं, शान्तम्" इत्यादीनाम्। ज्ञान-मात्रस्वरूपवादिन्योऽपि श्रुतयो ब्रह्मणो ज्ञानस्वरूपतामभिदधति न तावता निर्विशेषज्ञानमात्रमेवतत्त्वम्, ज्ञातुरेव ज्ञान स्वरूपत्वात्।

ज्ञानस्वरूपस्यैव तस्य ज्ञानाश्रयत्वं मणिद्युमणिदीपादिवत् उक्तमेव इत्युक्तम् ।

ऐसा मानने से, ब्रह्म की निर्गुणता मानने वाले वाक्यों से किसी प्रकार की विरुद्धता भी नही होती । "निर्गुण, सपर्क रहित अखंड, क्रिया-हीन, शान्त" आदि वाक्य, प्राकृत हेय गुणो से राहित्य के सूचक है । ज्ञानमात्र स्वरूप की प्रतिपादक श्रुतियाँ भी ब्रह्म की ज्ञानस्वरूपता को बतलाती है । वह जो ज्ञान स्वरूपता है, वह केवल निर्विशेष ज्ञान सूचक नहीं है, अपितु ज्ञाता की ही ज्ञानस्वरूपता की सूचक है । ज्ञान स्वरूप उस ब्रह्म की ज्ञान स्वरूपता, मणि, सूर्य प्रदीप आदि की तरह (प्रकाश गुण विशिष्ट) मानना ही सुसगत है, ऐसा पहले कह भी चुके है ।

ज्ञातृत्वमेव हि सर्वश्रुतयोवदंति- यः सर्वज्ञः सर्ववित्-तदैक्षत-' सेयंदेवतैक्षत–सईक्षतिलोकान्नु सृज इति नित्योनित्यानां चेतनश्चेतसानां एको बहूनायो विदधाति कामान् ज्ञाज्ञौद्वावजावीशनीशौ– तमीश्वराणां परमंमहेश्वरं तं देवतानां परमं च दैवतम् पतिपतीनां परमं परस्तात् विदामदेवं भुवनेश मीड्यम् नतस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते, परास्य शक्तिर्विविधैश्च श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च–एष आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः ।" इत्याद्याः श्रुतयः ज्ञातृत्व प्रमुखान् कल्याणगुणान् ज्ञानस्वरूपस्यैव ब्रह्मणः स्वाभाविकान्वदंति, समस्त हेय रहितांच । निर्गुणवाक्यानां सगुण वाक्याना च, विषयमपहत-पाप्मेत्याद्यपिपास इत्यन्तेन हेयगुणान् प्रतिषिध्य 'सत्यकामः सत्य संकल्प" इति ब्रह्मणः कल्याणगुणान् विधतीयं श्रुतिरेव विविनक्तीति सगुणनिर्गुणवाक्ययोर्विरोधाभावादन्यतरस्य मिथ्याविषयताश्रयण-मपि नाशंकनीयम् ।

ब्रह्म की ज्ञातृता तो सभी श्रुतियाँ बतलाती हैं।" जो सर्वज्ञ और सर्वविद है—उसने विचारा—उस देवता ने विचारा—उसने विचार किया कि लोकों की सृष्टि करूँ—जो नित्यों का नित्य चेतनों का चेतन है वह अकेला अनेकों की कामना पूर्ण करता है—ज्ञाता और अज्ञाता वो अजन्मा, ईश और अनीश हैं—ईश्वरों के ईश्वर देवताओं के परम देवता, पतियों के परम पति, उन भुवनेश्वर स्तवनीय देव की आराधना करते हैं—उसका कोई कार्य कारण नहीं हैं, न उससे कोई अधिक है, और न समान है, उसकी पराशक्ति स्वाभाविकी, ज्ञान, बल, क्रिया आदि अनेक प्रकार की सुनी जाती है—वह आत्मा निष्पाप अजर, अमर, अशोक, भूख-प्यास रहित, सत्यकाम, सत्य संकल्प है।" इत्यादि श्रुतियाँ ज्ञान स्वरूप ब्रह्म के स्वाभाविक ज्ञातृता आदि गुणों का प्रतिपादन करती है तथा उसे समस्त हेय गुणों से रहित बतलाती है। निर्गुण वाक्य और सगुण वाक्य के विषय की प्रतिपादिका "अपहतपाप्मता से अपिपासः" तक हीन गुणों का प्रतिषेध करके "सत्यकामः सत्यसंकल्पः" से कल्याणमय गुणों का एक साथ विवेचन करती हुई श्रुति, सगुण निर्गुण वाक्यों के विरोध का अभाव बतलाती है। इससे अन्य श्रुतियाँ मिथ्या प्रतिपादिका है, ऐसी शंका नही करनी चाहिए।

"भीषाऽस्माद्वातः पवते" इत्यादिना ब्रह्मगुणानारभ्य 'ते ये शतम्" इत्यनुक्रमेण क्षेत्रज्ञानन्दातिशयमुक्त्वा "यतोवाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्यमनसा सह आनन्दंब्रह्मणो विद्वान् "इति ब्रह्मणः कल्याणगुणानन्त्यमत्यादरेण वदतीयं श्रुतिः।

इसी प्रकार—"इसके भय से वायु चलती है" इत्यादि से ब्रह्म के गुणो को प्रारम्भ करके "उससे शतगुण" इस क्रम से क्षेत्रज्ञ की आनन्दातिशयिता को बतलाकर "जिसे न पाकर वाणी मन सहित लौट कर आ जाती है, उस आनन्द ब्रह्म को जानकर" इत्यादि से ब्रह्म के कल्याणमय अनन्तगुणों का बड़े आदर के साथ उक्त श्रुति उल्लेख करती है [यह आनन्द बल्ली श्रुति की चर्चा है]

"सोऽनुश्तो सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणाविपश्चिता" इति ब्रह्म वेदन फलमगमयद्वाक्यं परस्य विपश्चितो ब्रह्मणो गुणानन्त्यं ब्रवीति

विपश्चिता ब्रह्मणा सह सर्वान् कामान् समश्नुते। काम्यन्त इति कामाः कल्याणगुणाः। ब्रह्मणा सह तद्गुणान् सर्वाश्नुते। दहरविद्यायां "तस्मिन्यदन्तन्वेष्टव्यम्" इतिवद् गुणप्राधान्यं वक्तुं सह शब्दः। फलोपासनयोः प्रकारैक्यम्—"यथा, क्रतुरस्मिन् लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति" इति श्रुत्यैव सिद्धम्।

"ब्रह्मज्ञ पुरुष विशेषज्ञ ब्रह्म के साथ, समस्त काम्यफलों का भोग करता है" ब्रह्मज्ञानफल को बतलाने वाला यह वाक्य, परब्रह्म के अनन्त गुणों का प्रकाश करता है। ब्रह्मज्ञ, ब्रह्म के साथ सभी कामनाओं को भोगता है अर्थात् जिनकी कामना की जाय ऐसे कल्याणमय गुण ही काम्य हैं, ब्रह्म के साथ उन कल्याणमय गुणों को ही प्राप्त करता है। दहरविद्या में "उसमें जो अन्तर है, वह अन्वेषणीय है" कहे गये इस वाक्य की तरह, गुण प्राधान्य को बतलाने वाला सह शब्द है। फल और उपासना के प्रकार की एकता "इस लोक में पुरुष, जैसा प्रयास करता है, मरने पर भी वैसा ही होता है" इस श्रुति से ही सिद्ध है।

"यस्यामतं तस्यमतम्, अविज्ञातं विजानताम्"इति ब्रह्मणो ज्ञाना-विषयत्वं उक्तं चेत; "ब्रह्मविदाप्नोतिपरम्" —ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति, इति ज्ञानान् मोक्षोपदेशो न स्यात्। असन्नेव स भवति, असद् ब्रह्मेति वेदचेत् अस्ति ब्रह्मेति चेत्वेद, सन्तमेनं ततो विदुः" इति ब्रह्मविषय ज्ञानासद्भावसद्भावाभ्यामात्मनाशमात्मसत्तां च वदति। अतो ब्रह्म-विषय वेदन मेवापवर्गोपायं सर्वाः श्रुतयोविदधति। ज्ञानं चोपासना-त्मकम्। उपास्यं च ब्रह्म सगुणमित्युक्तम्। "यतोवाचो निवर्त्तन्ते, अप्राप्य मनसा सह" इति ब्रह्मणोऽनन्तस्यापरिच्छिन्न गुणस्य वाङ्मनसयो-रेतावदिति परिच्छेदायोग्यत्वश्रवणेन ब्रह्मैतावदिति ब्रह्मपरिच्छेदज्ञा-नवतां ब्रह्माविज्ञातममतम् इत्युक्तम्, अपरिछिन्नत्वाद् ब्रह्मणः। अन्यथा "यस्यामतं तस्य मतम्" "विज्ञातमविजानताम्" इति मतत्वविज्ञातत्व वचनं तत्रैव विरुद्ध्यते।

"जो यह विचार करते हैं कि—विचार से अतीत है, वेही उसे जानते हैं, विशेष रूप से जानने का दावा करने वाला कुछ भी नही जानता" इस वाक्य में ब्रह्मज्ञान की अविषयता कही गई है, यदि ऐसा मान लोगे तो "ब्रह्मवेत्ता परब्रह्म को प्राप्त करता है "ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म ही होता है" इत्यादि ज्ञानपरक उपदेश वाक्य व्यर्थ हो जायेंगे।

"जो ब्रह्म को अस्तित्वहीन मानता है, मानों वह स्वयं ही अपने अस्तित्व पर शका करता है, तथा जो उसका अस्तित्व स्वीकारता है, उसे ही वास्तविक ज्ञाता जानों" इस श्रुति में ब्रह्मविषयक ज्ञान के सद्भाव और अभाव से आत्मनाश और आत्मसत्ता की बात कही गई है। इससे स्पष्ट है कि ब्रह्मविषयक ज्ञान को ही मोक्ष के लिए सारी श्रुतियाँ स्वीकारती हैं। ज्ञान को उपासनात्मक तथा उपास्य को सगुण कहा जा चुका है।

"जिसको न पाकर मन सहित वाणी लौट आती है" इस श्रुति में ब्रह्म के अपरिमित अनन्त गुणों की निस्सीमता की अकथ्यता और अमननीयता बतलाकर, गुण और परिणाम से सीमित परिछिन्न मानने वाले लोगों को ब्रह्म तत्व से अज्ञात बतलाया गया है। ब्रह्म तो स्वभाव से ही अपरिच्छिन्न और अनन्त हैं। उक्त श्रुति का यदि ऐसा अर्थ नहीं मानेंगे तो, उसी जगह "यस्यामतं तस्यमतं विज्ञातमविजानताम्" इस वाक्यांश में जो मतता और विज्ञातता बतलाई गई है, वह प्रकरण विरुद्ध सिद्ध होगी।

यत्तु "न द्रष्टेर्दृष्टारं न मतेर्मन्तारम्" इति श्रुतिर्दृष्टेर्मते व्यतिरिक्तं द्रष्टारं मन्तारंच प्रतिषेधति इति तदागन्तुक चैतन्यगुणयोगितया ज्ञातुरज्ञान स्वरूपतां कुतर्क सिद्धां मत्वा न तथात्मानं पश्येः न मन्वीथाः, अपितु द्रष्टारं मंतारमप्यात्मानं दृष्टिमति रूपमेव पश्येरित्यमिदधाति इति परिहृतम्। अथवा दृष्टेर्दृष्टारं, मंतेर्मन्तार जीवात्मानं प्रतिषिध्य सर्वभूतान्तरात्मानं परमात्मानमेवोपास्येति वाक्यार्थः। अन्यथा "विज्ञातारमरे केन विजानीयात्" इत्यादि ज्ञातृत्व श्रुतिविरोधश्च।

और जो—"दृष्टि (अनुभूति) के साक्षी और मति (चिन्तन) के प्रकाशक को नहीं जानता"—इति श्रुति में अनुभूति और मनन के द्रष्टा

और प्रकाशक ब्रह्म के अतिरिक्त, किसी अन्य का निषेध किया गया है, उसका तात्पर्य ये है कि—जो कुतर्की आत्मा को स्वतः चैतन्य न मानकर, इन्द्रियों की विशेष चेष्टाओं से उसमें चैतन्यता मानते हैं, उनके मत में आत्मा चेतन होते हुए भी अचेतन है। ऐसी कुतर्क बुद्धि से जो, आत्मदर्शन और मनन करने की चेष्टा न करके अपनी दृष्टि और मति को ही द्रष्टा और मन्ता समझते हैं, उनका निराकरण किया गया है। दृष्टि के द्रष्टा, मति के प्रकाशक जीवात्मा का निराकरण करके, परमात्मा ही उपास्य हैं; यह तात्पर्य बतलाया गया है। उक्त श्रुति का यदि ऐसा अर्थ नहीं स्वीकारोगे तो "विज्ञाता को और किससे जानोगे ?" इस श्रुति में कही गई, परमात्मा की ज्ञातृता से विरुद्धता होगी।

"आनंदो ब्रह्म" इति आनंदमात्रमेव ब्रह्मस्वरूपं प्रतीयत इति यदुक्तम्, तत् ज्ञानाश्रयस्य ब्रह्मणो ज्ञानस्वरूपमिति वदतीति परिहृतम्। ज्ञानमेव हि अनुकूलमानंद इत्युच्यते।" विज्ञानमानन्दं ब्रह्म "इत्यानंदस्वरूपमेव ज्ञानं ब्रह्मेत्यर्थं,। अतएव भवतामेकरसता। अस्य ज्ञानस्वरूपस्यैव ज्ञातृत्वमपि श्रुतिशतसमधिगत इत्युक्तम्। तद्वदेव "स एको ब्रह्मण आनन्दः"—"आनन्दं ब्रह्मणोविद्वान्" इति व्यतिरेक-निर्देशाच्च नाऽनन्दमात्रंब्रह्म, अपित्वानन्दि। ज्ञातृत्वमेव हि आनंदित्वम्।

"ब्रह्म आनन्द स्वरूप है" यह श्रुति, आनन्दमात्र ही ब्रह्म के स्वरूप की प्रतिपादिका है ऐसा प्रतीत होता है; यह कथन तो ज्ञानाश्रय ब्रह्म को ज्ञान स्वरूप, बतलाने वाली श्रुतियों से ही कट जाता है। अनुकूल भाव को प्राप्त ज्ञान ही आनन्द नाम से कहा गया है। "विज्ञानमानंदं ब्रह्म" इस श्रुति का तात्पर्य है कि आनन्द स्वरूप विज्ञान ही ब्रह्म है। इससे आपका अभिमत एकरसता का सिद्धान्त भी संगत हो जाता है। इस ज्ञान स्वरूप की ज्ञातृता भी सैकड़ों श्रुतियों से ज्ञात है। उसी प्रकार "वह एक ब्रह्म आनन्द है" आनन्द ब्रह्म का ज्ञाता" इत्यादि आनन्द के व्यतिरेक के निर्देश से ज्ञात होता है कि, ब्रह्म केवल आनन्द स्वरूप ही नहीं हैं, अपितु आनंदी भी है। ज्ञातृता ही उसका आनन्दीपन है।

यदिदमुक्तम्---"यत्र हि द्वैतमिव भवति"-नेह नानाऽस्ति किंचन, मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इहनानेव पश्यति---"यत्रत्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत् केन कं पश्येत्" इतिभेदनिषेधो बहुधा दृश्यत इति; तत्कृत्स्नस्यजगतो ब्रह्मकार्यतया तदन्तर्यामिकतया च तदात्मकत्वेनैक्यात्, तत्प्रत्यनीक नानात्वं प्रतिषिध्यते। न पुनः "बहुस्यां प्रजायेय" इति बहुभवन संकल्पपूर्वकं ब्रह्मणो नानात्वं श्रुति सिद्धं प्रतिषिध्यत इति परिहृतम्। नानात्वनिषेधादियमपरमार्थं विषयेति चेत्; न प्रत्यक्षादि सकल प्रमाणानवगतं नानात्वं दुरारोहं ब्रह्मणः प्रतिपाद्य तदेव बाध्यत इत्युपहासास्पदमिदम्।

जो यह कहा कि—"जब द्वैतमत होता है"—"जगत में नानातत्व कुछ भी नहीं है, विभिन्नता देखने वाला बारबार मरता है"—"दृश्यमान सब कुछ ही जब आत्म स्वरूप है, तब किससे किसे देखोगे?" इत्यादि भेद निषेधक वाक्य देखे जाते हैं; सो सारा जगत ब्रह्म का कार्य है, ब्रह्म उन सब में अन्तर्यामी और तदात्मक है, इसलिए वह इस भाव से उससे अभिन्न है उक्तभाव से विपरीत जो भिन्नता का भाव है उसका प्रतिषेध उक्त श्रुतियाँ करती हैं। (समाधान) "बहुत होकर जन्म लूंगा" ऐसे ब्रह्म के संकल्प की बाहुल्यता परक भिन्नता का निषेध नहीं किया गया है। इस संकल्प श्रुति से ही उक्त प्रतिषेध की बात का निराकरण हो जाता है। यदि कहो कि अन्यान्य श्रुतियों में जहाँ कही भी ब्रह्म के नानात्व का प्रतिषेध किया गया है वह अपरमार्थ विषयक ही है, सो ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि श्रुतियाँ प्रत्यक्ष आदि सभी प्रमाणों से अज्ञात दुरूह भिन्नता वाले ब्रह्मण का प्रतिपादन करके, उसी का निषेध कर दें यह तो उपहासास्पद बात है।

"यदाहि एवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते अथतस्य भयं भवति" इति ब्रह्मणिनानात्वं पश्यतो भयप्राप्तिरिति यदुक्तम्, तदसत् "सर्वंखल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत" इति तन्नानात्वानुसंधानस्य शांति हेतुत्वोपदेशात्। तथा हि सर्वस्य जगतदुत्पत्तिस्थिति-

लयकर्मतया यदात्मकत्वानुसंधानेनात्र शान्तिर्विधोयते । अतो यथावस्थित देवतिर्यङ्मनुष्यस्थावरादिभेदभिन्नं जगत् ब्रह्मात्मकमिति अनुसंधानस्य शांति हेतुतया अभय प्राप्ति हेतुत्वेन न भय हेतुत्व प्रसंगः । एवं तर्हि "अथ तस्य भयंभवति" इति किमुच्यते ? इदं उच्यते—"यदाहि एवैष एतस्मिन्नदृष्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते । अथ सो भयं गतो भवति" इत्यभय प्राप्ति हेतुत्वेन ब्रह्मणि या प्रतिष्ठा अभिहिता, तस्या विच्छेदेभयं भवतीति । यथोक्तं महर्षिभिः—"यन्मुहूर्त्तंक्षणं वाऽपिवासुदेवो न चिन्त्यते, साहानिस्तन्महच्छिद्र साभ्रांतिस्सा च विक्रिया ।" इति । ब्रह्मणि प्रतिष्ठाया अन्तरमवकाशो विच्छेद एव ।

"साधक जब इस ब्रह्म में थोड़ा भेद करता है, तभी उसे भय होता है" इस श्रुति में, ब्रह्म में भेद देखने वाले व्यक्ति की जो भय प्राप्ति बतलाई गई है वह वास्तविक नहीं । है "यह सब कुछ ब्रह्म ही है, सब कुछ उसी से उत्पन्न होकर उसी में लीन हो जाता है । इसलिए उसकी शान्त भाव से उपासना करो" इस श्रुति में, उस ब्रह्म में जो विभिन्नता ढूढते हैं, उसकी शान्ति के लिए उपदेश दिया गया है । तथा, समस्त जगत की उत्पत्ति स्थिति और संहार कर्म उसी पर ब्रह्म के ही स्वरूप हैं, ऐसा अनु संधान करने से ही शान्ति मिलेगी ऐसा उक्त वाक्य का तात्पर्य है । इसलिए देव, पशु, मनुष्य स्थावरादि भेदों वाला समस्त जगत् ब्रह्मात्मक ही है, ऐसा अनुसंधान ही शांति का कारण बतलाया गया है, उसी से अभयता प्राप्ति होती है, भय प्राप्ति का तो प्रसंग ही नहीं है । यदि ऐसी ही बात है तो "अथ तस्य भयं भवति" ऐसा क्यों कहा ? ऐसी जिज्ञासा होती है—ऐसा कहने का तात्पर्य ये है कि—"यह साधक जब अदृश्य अनिर्वाच्य, स्वप्रतिष्ठ ब्रह्म में सर्वभय निवारक निष्ठा करता है, तब वह निर्भय हो जाता है" इस श्रुति में ब्रह्म निष्ठा का, भय शांति के उपाय के रूप से जो उपदेश दिया गया है, उसके विच्छेद से भय बतलाया गया है । जैसा कि महर्षि वेदव्यास ने कहा भी है—"जिस मुहूर्त्त या क्षण में वासुदेव का चिन्तन नहीं किया जाता, वही सबसे बड़ी क्षति अनिष्ट

प्राप्ति का मार्ग, भ्रांति और चित्त का विकार है"। वस्तुतः ब्रह्म प्रतिष्ठा से विलग होना ही विच्छेद है।

यदुक्तम्—"न स्थानतोऽपि" इति सर्वविशेषरहितं ब्रह्मेति च वक्ष्यतीति; तन्न सविशेषं ब्रह्मेत्येव हि तत्र वक्ष्यति। "मायामात्रं तु" इति च स्वप्नामध्यर्थानां जागरितावस्थानुभूत पदार्थवैधर्म्येण माया मात्रात्वमेवमुच्यत इति जागरितावस्थाऽनुभूतानामिव पारमार्थिकत्वमेव वक्ष्यति।

जो यह कहा कि—सूत्रकार "न स्थानतोऽपि" सूत्र में ब्रह्म को निर्विशेष ही सिद्ध करते है; सो बात नहीं है, वहाँ तो सविशेष ब्रह्म का ही प्रतिपादन किया गया है। तथा "मायामात्रं हि" इस सूत्र में स्वप्नदृष्ट विषयों को, जागरित अवस्थानुभूत पदार्थों से विपरीत होने के कारण मायामात्र बतलाते हैं, एवं जागरित अवस्थानुभूत विषयों की तरह होने से उनकी पारमार्थिकता वतलाते हैं।

स्मृतिपुराणयोरपि निर्विशेषज्ञानमात्रमेव परमार्थोऽन्यदपारमार्थिकमिति प्रतीयत इति यदभिहितं, तदसत्—"यो मामजमनादिं च वेत्ति लोक महेश्वरम्'—मत्स्थानि सर्वभूतानि नचाहं तेस्ववस्थितः—न च मत्स्थानिभूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्, भूतभृन्नच भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः"—"अहंकृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयः तथा'—मत्तः परतरं नान्यत् किंचिदस्ति धनंजय, मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव—"विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितोजगत्"—"उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः यो लोकत्रयमाविश्य विभर्त्त्यव्यय ईश्वरः"—"यस्मात्क्षरमतीतोऽहं अक्षरादपि चोत्तमः अतोऽस्मिंलोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः"—"ससर्वभूत प्रकृति विकारान् गुणादिदोषांश्च मुनेऽव्यतीतः अतीवसर्वावरणोऽखिलात्मा तेनास्तृतं यद् भुवनांतराले"—'समस्तकल्याण गुणात्मकोऽसौ स्वशक्तिलेशाद्धृत

भूतसर्गः इच्छागृहीताभिमतोरुदेहस्संसाधिताशेष जगद्धितोऽसौ"—तेजोबलैश्वर्यं महावबोध सुवीर्यशक्त्यादिगुणैकराशिः परः पराणां सकलानयत्र क्लेशादयस्संति परावरेशे"—'स ईश्वरो व्यक्तिसमष्टिरूपोऽव्यक्तरूपः प्रकट स्वरूपः सर्वेश्वरस्सर्वदृक्सर्ववेत्ता समस्त शक्तिः परमेश्वराख्यः"—"संज्ञायते येन तदस्तदोषं शुद्धं परं निर्मल मेकरूपम्, संदृष्यते वाऽप्यधिगम्यते वा तज्ज्ञानमज्ञानमतोऽन्यदुक्तम्'—शुद्धे महाविभूत्याख्ये परे ब्रह्मणि शब्दयते मैत्रेय भगवच्छब्द सर्वकारण कारणे"—"संभर्तेति तथा भर्त्ता भकारोऽर्थ द्वयान्वितः नेतागमयिता स्रष्टा गकारार्थः तथामुने"—"ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्ययशसश्श्रियः ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरिणा"—"वसंति तत्र भूतानि भूतात्मन्यखिलात्मनि, सच भूतेष्वशेषेषु वकारार्थस्ततोऽव्ययः"—"ज्ञानशक्तिबलैश्वर्यवीर्यतेजांस्यशेषतः, भगवच्छब्दवाच्यानिविना हेयैर्गुणादिभिः"—"एवमेव महाशब्दो मैत्रेय भगवानिति, परब्रह्म भूतस्य वासुदेवस्य नान्यगः"—"तत्रपूज्यपदार्थोक्तिपरिभाषा समन्वितः, शब्दोऽयंनोपचारेणअन्यत्र हिउपचारतः"—समस्तश्शक्तयश्चैतानृप यत्र प्रतिष्ठिताः तद्विश्वरूपवैरूप्यंरूपमन्यद्धरेर्महत्" समस्त शक्तिरूपाणि तत्करोतिजनेश्वर देवतिर्यङ् मनुष्याख्याचेष्टावंतिस्वलीलया जगतामुपकाराय न सा कर्मनिमित्तजा चेष्टातस्याप्रमेयस्य व्यापिन्य व्याहतात्मिका"—एवं प्रकारममलं नित्यं व्यापकमक्षयं समस्त हेयरहितं विष्णवाख्यं परमं पदम्" परः पराणां परमः परमाऽत्मात्मसंस्थितः रूपवर्णादिनिर्देश विशेषण विवर्जितः"— अपक्षय विनाशाभ्यां परिणामर्द्धिजन्मभिः। वर्जितश्शक्यतेवक्तुं यस्सदाऽस्तीतिकेवलम् — सर्वत्राऽसौ समस्तं च वसत्यत्रेति वैयतः ततस्सवासुदेवेति विद्वद्भिः परिपठ्यते"— तद् ब्रह्म परमं नित्यमजमक्षरमव्ययम् एक स्वरूपं च सदा हेयाभावाच्च निर्मलं"—तदेव सर्वमेवेतद्व्यक्ता·

व्यक्त स्वरूपवत् तथा पुरुषरुपेण च स्थितम्"—प्रकृतिर्या मयाऽख्याता व्यक्ताव्यक्त स्वरूपिणी पुरुषश्चाप्युभावेतौ लीयेते परमात्मनि"—परमात्मा च सर्वेषामाधारः परमेश्वरः विष्णुनामा स वेदेषु वेदांतेषु च गीयते"— द्वे रूपे ब्रह्मणस्तस्य मूर्त्तं चामूर्त्तमेव च, क्षराक्षरस्व रूपेते सर्वभूतेषु च स्थिते"—अक्षरं तत् परं ब्रह्म क्षरं सर्वमिदं-जगत् एकदेशस्थितस्याग्नेर्ज्योत्सना विस्तारिणी यथा परस्य ब्रह्म णश्शक्तिस्तथेदमखिलं जगत्"—'विष्णुशक्तिः पराप्रोक्ताक्षेत्रज्ञाख्या तथाऽपरा अविद्या कर्म संज्ञान्या तृतीया शक्तिरिष्यते"—यथा क्षेत्र ज्ञशक्तिस्सा वेष्टितानृप सर्वगा संसारतापानखिलान् अवाप्नोति अतिसंततान्"—तया तिरोहितत्वाच्च शक्तिः क्षेत्रज्ञसंज्ञिता सर्वभूतेषु भूपाल तारतम्येन वर्त्तते"—प्रधानं च पुमांश्चैव सर्वभूतात्मभूतया विष्णुशक्त्या महाबुद्धे वृतौ संश्रयधर्मिणौ"—तयोरसैव पृथग्भाव-कारणं संश्रस्य च यथासक्तं जलेवातो विभर्ति वाणिकाशतम्"—शक्तिस्साऽपितथा विष्णोः प्रधानपुरुषात्मनः"—तदेतदक्षयं नित्यं जगन्मुनिवराखिलम् अविर्भावतिरोभावजन्मनाश विकल्पवत्"। इत्यादिना परंब्रह्म स्वभावतएव निरस्तनिखिलदोषगंध समस्त कल्याण गुणात्मकं जगत्उत्पत्तिस्थितिसंहारान्तः प्रवेशनियमनादि-लीलं प्रतिपाद्य कृत्स्नस्य चिदचिद्वस्तुनः सर्वावस्थावस्थितस्य परमार्थिकस्यैव परस्य ब्रह्मणः शरीरतया रूपत्वम् शरीररूपतन्वः शक्तिविभूत्यादिशब्दैः तत्तच्छब्द सामानाधिकरण्येन चाभिधाय तद्विभूतिभूतस्य चिद्वस्तुनः स्वरूपेणवस्थितिमन्मिश्रतया क्षेत्र ज्ञरुपेण स्थितिं चोक्त्वा क्षेत्रज्ञावस्थायां पुण्यपापात्मककर्मरूपा अविद्यावेष्टित्वेन स्वाभाविकज्ञानरूपत्वाननुसंधानमचिद्रूपार्था कारतयाऽनुसंधानं च प्रतिपादितमिति परंब्रह्म सविशेषम् तद् विभू तिभूतं जगदपि पारमार्थिकमेवेति ज्ञयते।

स्मृति और पुराणों में भी निर्विशेष ज्ञान मात्र को ही परमार्थ तथा अन्य को अपारमार्थिक बतलाया गया है, यह कथन भी असत् है (निम्नांकित उदाहरणों से उक्त कथन का निराकरण हो जायेगा)

"जो लोग मुझे अजन्मा और अनादि जानते हैं—समस्त प्राणी मुझमें अवस्थित हैं, मैं उनमें अवस्थित हूँ—ऐश्वर्य योग से मुझमें स्थिति प्राणियों को देखो, जो कि मुझ भूतभावन, भूतरक्षक में विद्यमान है—मैं ही समस्त जगत की उत्पत्ति और प्रलय का कारण हूँ—मुझसे अधिक कुछ भी श्रेष्ठ नहीं है—जैसे मणियाँ सूत्र में ग्रथित रहती हैं वैसे सारा जगत मुझमें ग्रथित है—मैं एकांश से सारे जगत में व्याप्त हूँ—मैं श्रेष्ठ पुरुष परमात्मा नाम से प्रसिद्ध हूँ—मैं तीनों लोकों में प्रविष्ट होकर रक्षा करने वाला ईश्वर हूँ—क्षर और अक्षर से अतीत और उत्तम मैं लोक वेद में पुरुषोत्तम नाम वाला हूँ"

"सर्वभूत, अव्यक्त प्रकृति, प्राकृतविकारों तथा गुण दोषों से रहित, हर प्रकार के आवरणों से रहित, समस्त जगत के आत्मा वे ही, भुवनगत समस्त वस्तुओं के आवरण के रूप में स्थित हैं'—वे समस्त उत्कृष्ट गुणों से परिपूर्ण, अपने अंश से समस्त जगत की सृष्टि करने वाले स्वेच्छा से विराट रूप धारण करके समस्त जगत का कल्याण साधन करते हैं मानस तेज, शारीरिक बल अणिमादि ऐश्वर्य, समुन्नत ज्ञान, वीर्य एवं शक्ति आदि गुणों के वे ही एक मात्र आश्रय हैं—बुद्धि मन जीव आदि से परात्पर उन परमेश्वर में क्लेश आदि कोई दोष नहीं हैं—वे व्यष्टि और समष्टि व्यक्त और अव्यक्त से अवस्थित, सर्वेश्वर, सर्वदर्शी, सर्वज्ञ, सर्वशक्ति और परमेश्वर नाम से प्रसिद्ध हैं'—जिनके आश्रय से लोक ज्ञान पाता है, वह स्वभावतः निर्दोष, विशुद्ध, महत्, निर्मल और एक रूप हैं—वे दीखते हैं या प्रतीतिगम्य हैं (भक्त को दीखते हैं, ज्ञानी को उनकी प्रतीति होती है) ऐसा ज्ञान ही यथार्थ, बाकी सब कुछ अज्ञान है।

"सब कारणों के कारण, शुद्ध महाविभूति परब्रह्म के लिए भगवान शब्द का प्रयोग किया जाता है; इसमें भ के दो अर्थ हैं, संभर्त्ता (शासक) और भर्त्ता (धारक) ग के अर्थ है, नेता और प्रापक। सम्पूर्ण ऐश्वर्य (अणिमा, लघिमा, महिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशिता, वशिता और कामावसायिता) वीर्य (शक्ति)यश श्री (भाग्यसंपत ज्ञान, और वैराग्य इन

छः को भग कहते हैं। व का अर्थ है अव्यय और निर्विकार, ऐसे भगवत शब्द वाले वे सर्वभूतों के आत्मा, सर्वात्मक है, उन्हीं में सारे भूत स्थित है। हीन गुणों से रहित, समस्त ज्ञान-शक्ति-वल-ऐश्वर्य-वीर्य और तेज ये छः भगवत शब्द वाच्य है। ऐसे अत्युत्तम भगवान वासुदेव से भिन्न और कोई नहीं है। पूज्यार्थ बोधन में परिभाषित यह भगवत् शव्द उसी (वासुदेव) मे मुख्यभाव से प्रयुक्त होता है, अन्य जगत गौण रूप से होता है। पूर्वोक्त छः शक्तियाँ जिनमें प्रतिष्ठित है, वही हरि का, जगत्विलक्षण, अप्राकृत महत् रूप है। वे ही अपनी लीला के प्रभाव से देव, मनुष्य पशु पक्षी आदि की सृष्टि के लिए चेष्टावान होते है। जगत के उपकार के लिए उन अप्रमेय भगवान की जो सृष्टि लीला होती है, वह कर्म निमित्तक नहीं होती अपितु अयत्नभूत, व्यापक और अव्याहत होती है। विष्णु नामक परंपद ही निर्मल, नित्य, व्यापक अक्षर और हीनगुणों से रहित है। उत्तम ब्रह्मा आदि से अति उत्तम, स्व प्रतिष्ठ, रूप, वर्ण आदि गुणों से रहित परमात्मा, क्षय–नाश–परिणाम–वृद्धि और जन्म से रहित है। वे एकमात्र "अस्ति" शब्द से ही ज्ञेय है। सर्वव्यापक उनमें, समस्त वस्तुएं वास करती हैं, इसीलिए विद्वान उन्हें वासुदेव कहते है। उस परब्रह्म का स्वरूप, नित्य–अज–अक्षर–अव्यय–,सदाएक, हीन गुण रहित निर्मल है। वे स्थूल–सूक्ष्म स्वरूप, पुरुष रूप और काल में अवस्थान करते हैं।

"व्यक्त और अव्यक्त रूप जिन पुरुष प्रकृति की बात कही गई, वे दोनों ही परमात्मा में लीन हो जाते हैं। उन ब्रह्म के दो रूप, मूर्त्त और अमूर्त्त, क्षर और अक्षर नामसे प्रसिद्ध, प्राणिमात्र में अवस्थित हैं। वह पर ब्रह्म अक्षर और सारा जगत क्षर है। एक स्थान में स्थित अग्नि की ज्वाला जैसे विस्तृत हो जाती है वैसे ही परब्रह्म की शक्ति भी समस्त जगत के रूप में विस्तृत होती है। विष्णु पराशक्ति हैं तथा क्षेत्रज्ञ अपराशक्ति है, कर्म का प्रवर्त्तन करने वाली अविद्या शक्ति तृतीय है। क्षेत्रज्ञ शक्ति स्वभाव से सर्वगामिनी होने से अविद्यामय कर्म से वेष्टित होकर निरन्तर संसार के संतापों का भोग करती है। क्षेत्रज्ञ (जीव) शक्ति, अविद्या से आवृत होकर ज्ञान के तारतम्यानुसार सब भूतों में निवास करती है। प्रधान और पुरुष दोनो ही समस्त भूतों की आत्मा के रूप से स्थित, विष्णु शक्ति-द्वारा समावृत है। विष्णु

शक्ति के प्रभाव से ही दोनों संसार में प्रविष्ट होकर, परस्पर भिन्न-भाव से, उसके आश्रय में स्थित रहते हैं। वायु जैसे जल को अपने सपर्क से कणों के रूप में बिखेर देता हैं, उसी प्रकार विष्णु शक्ति भी, प्रधान - पुरुष और तदात्मक विष्णु शक्ति को भिन्न कर देती है। यह सारा जगत नित्य है, केवल आविर्भाव, तिरोभाव रूप जन्म और नाश वाला होता है।

इत्यादि वाक्य परब्रह्म को, स्वभाव से दोष रहित कल्याणमय गुणों वाला, जगत की सृष्टि स्थिति और संहार का कर्त्ता, अन्तर्यामी और नियन्ता बतलाकर – जिस किसी भी स्थिति में स्थित जगत की जड चेतन रूप पारमार्थिकता तथा परब्रह्म शरीररूपता को स्पष्ट करने के लिए शरीर रूप-तनु अंश और विभूति शब्दों की तत् शब्द से विशेषण विशेष्यभाव वाली सामानाधिकरण्यता का निरूपण कर—उस ब्रह्म की विभूति रूप चित् वस्तु की स्वरूपावस्थिति को' अचित् मिश्रित क्षेत्रज्ञ रूप से बतलाकर–क्षेत्रज्ञ अवस्था में पुण्यपामात्मक कर्म रूपा अविद्या से आवेष्टित उसकी स्वाभाविक ज्ञानरूपता और अचिन् रूपाकारता के अनुसंधान की बात कही गई है, जिससे परब्रह्म, सविशेष ही प्रतिपादित होता है तथा उसका विभूतिरूप जगत भी पारमार्थिक ज्ञात होता है।

"प्रत्यस्तमितभेदम्" इत्यत्र देवमनुष्यादिप्रकृतिपरिणाम विशेष संसृष्टस्याध्यात्मनस्वरूपं तद्गतभेदरहितत्वेन तद्भेद-वाचिदेवादिशब्दागोचरं ज्ञानसत्तैकलक्षणं स्वसंवेद्यं योगयुड्.मनसो न गोचर इत्युचत इति। अनेन न प्रपंचापलापः। कथमिद-मवगम्यत इति चेत्; तदुच्यते अस्मिन् प्रकरणेसंसारैकभेषजतया योगामभिधाय योगावयवान् प्रत्याहारपर्यन्तोश्चोक्त्वा धारणा-सिद्ध्यर्थं शुभाश्रयं वक्तुं परस्यब्रह्मणो विष्णोश्शक्ति शब्दाभिधेयं रूपद्वयं मूर्त्तमूर्त्त विभागेन प्रतिपाद्य, तृतीयशक्ति रूपकर्माख्या विद्यावेष्टितं अचिद्विशिष्टं क्षेत्रज्ञं मूर्त्ताख्यविभागं भावना त्रयान्वयादशुभमित्युक्त्वा, द्वितीयस्य कर्माख्या विद्याविरहिणोऽ-

हो सकते, क्योंकि—उनकी बोध शक्ति स्वतः सिद्ध नहीं होती, अन्य से लब्ध होती है। इसलिए स्वभावसिद्ध ज्ञानसंपन्न निर्मल ब्रह्म ही एक मात्र ध्येय है।" इत्यादि परब्रह्म विष्णु के स्वरूप को अपने से श्रेष्ठ ध्येय शुभाश्रय बतलाया गया है। इस वाक्य का प्रतिपाद्य भेद अप लाप (बकबास) नहीं प्रतीत होता।

"ज्ञानस्वरूपम्" इत्यत्रापि ज्ञानव्यतिरिक्तस्यार्थजातस्य कृत्स्नस्य न मिथ्यात्वं प्रतिपाद्यते, ज्ञानस्वरूपस्यात्मनो देवमनुष्यादि अर्थाकारेणावभासो भ्रांतिरित्येतावन्मात्र वचनात्। नहि शुक्तिकाया रजततयाऽवभासो भ्रांतिरित्युक्ते जगति कृत्स्नं रजतजातम् मिथ्या भवति। जगद्ब्रम्हणोः समामाधिकरण्येनैक्य प्रतीतेः, ब्रम्हणो. ज्ञान स्वरूपस्यार्थाकारता भ्रातिरित्युक्ते सति अर्थ जातस्य कृत्स्नस्य मिथ्या त्वमुक्त स्यादिति चेत्; तदसत् अस्मिन् शास्त्रे परस्यब्रम्हणोः विष्णो निरस्ताज्ञानादिनिखिलदोषगंधस्य समस्तकल्याणगुणात्मकस्य महा विभूतेः प्रतिपन्नतया तस्य भ्रांतिदर्शनासंभवात्। सामानाधिकरण्येनैक्य प्रतिपादनं च बाधासहम्, अविरुद्धं चेत्यनन्तरमेवोपपादा यिश्यते। अतोऽयमपि श्लोको नार्थस्वरूपस्य बाधकः।

"ज्ञानस्वरूपं" इस वाक्य में भी, ज्ञान से भिन्न सभी पदार्थों के मिथ्यात्व का प्रतिपादन नहीं किया गया है। ज्ञानमय आत्मा देव, मनुष्य आदि आकारो से अवभासित मात्र ही, है ऐसा समझना भ्रांति है। और न शुक्ति में होने वाली रजत भ्रांति के कारण जगत की सारी रजत राशि ही मिथ्या है। "रजत और ब्रह्म की सामानाधिकरण्य (विशेषण विशेष्य) भाव परक ऐक्य प्रतीति होने से ब्रह्म के ज्ञानस्वरूप की जडजगदाकारता रूप प्रतीति भी भ्रांति ही है, इसीलिए सारे ही जागतिक पदार्थों का मिथ्यात्व है।" तुम्हारा यह कथन भी मिथ्या है, क्योंकि—इस वेदान्त शास्त्र में अज्ञान आदि समस्त दोषों से रहित, कल्याणमय गुणोंवाले पर ब्रह्म विष्णु की महाभूति से प्रतिपन्न सारे जगत को बतलाया गया है, इसलिए उसमें मिथ्यात्व देखना सभव नहीं है (अर्थात् यह जगत महामा-

हिम विष्णु की शक्ति का विलासमात्र है ऐसे जगत को मिथ्या कैसे कह सकते हो ?) सामानाधिकरण्य परक ऐक्य प्रतीति की बात भी असंगत है, यदि तुम कहो कि,-नहीं अविरुद्ध है; तो हम इसका अभी सयुक्तिक उत्तर देंगे। पर "ज्ञानस्वरूपं" आदि श्लोक प्रभु के जागतिक रूप का बाधक नहीं सिद्ध होता।

तथाहि—"यतो वा इमानि भूतानि जायंते, येन जातानि जीवंति यत्प्रयंत्याभिसंविशंति, तद्विजिज्ञासस्व, तद्ब्रह्म" इति जगज्जन्मादिकारणं ब्रह्मेत्यवसिते सति; "इतिहास पुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत् बिभेत्यल्पश्रुतात् वेदो मामयं प्रतरिष्यति" इति शास्त्रे सार्थस्य इतिहास पुराणाभ्यामुपबृंहणं कार्यमिति विज्ञायते। उपबृंहण नाम विदितसकलवेदतदर्थानां स्वयोगमहिमसाक्षात्कृतवेदतत्वार्थानांवाक्यै: स्वावगतभेदवाक्यार्थ व्यक्तीकरणम्। सकल शाखागतस्य वाक्यार्थस्याल्पभागश्रवणात् दुखगमत्वेन तेन विना निश्चयायोगादुपबृहणं हि कार्यमेव।

तथा—"जिससे ये सारे भूत उत्पन्न होते हैं, जिससे जीवित रहते हैं, तथा मृत्यु के समय जिसमें प्रविष्ट होते हैं, उन्हीं को जानो, वही ब्रह्म है" इस श्रुति से जगत के जन्मादि के कारण, परब्रह्म हैं, ऐसा निश्चित हो जाने पर—"इतिहास और पुराणों से वेद का उपबृहंण करना चाहिए अल्पज्ञपुरुष मेरे तत्व को क्षत विक्षत कर देगा, इससे वेद सदा भयभीत रहता है" इस वाक्य से ज्ञात होता है कि—वेद के अर्थ का इतिहास और पुराण से उपबृहंण करना चाहिए। वेद और वेदार्थ से अवगत, योग महिमा से, वेद तत्व को साक्षात्कार करने वाले महापुरुषों के वाक्यों से अपने ज्ञात वेदार्थ को सुस्पष्ट कर लेना ही उपबृहंण है। वेद के एकांश मात्र के अध्ययन से, अनेकानेक वेद शाखाओं से संबद्ध वेद वाक्यों का अर्थ निर्णय करना संभव नहीं है, इसलिए उक्त प्रकार का वेदोपबृहंण आवश्यक है।

तत्र पुलस्त्य वशिष्ठ वरप्रदानलब्ध परदेवतापारमार्थ्य ज्ञानवतो भगवतः पराशरात् स्वावगत वेदार्थोपबृंहणामिच्छन्मैत्रेय:

परिप्रच्छ--"सोऽहमिच्छामि धर्मज्ञ श्रोतुंतत्त्वोयथा जगत् बभूवभू-यश्चयश्च यथा महाभाग भविष्यति। यन्मयं च जगद् ब्रम्हन् यतश्चैतच्चराचरम् लीनमासीद् यथा, लयमेष्यति यत्र च।" इत्यादिना।

पुलस्त्य और वशिष्ठ के प्रदत्त वर के प्रभाव से परमात्मा के पारमार्थिक तत्व के ज्ञाता भगवान पराशर से, अपने ज्ञात पदार्थ के उपबृंहण की इच्छा से मैत्रेय ने प्रश्न किया--"हे धर्मज्ञ ! यह जगत जैसे उत्पन्न होता है, भविष्य में जैसा रहता है, चराचरात्मक इस जगत का वह स्वरूप क्या है ? जिससे यह उत्पन्न होता है, जिसमें यह लीन होता है, वह रूप कौन सा है ? इस तत्व को आप से जानना चाहता हूँ।"

अत्र ब्रह्मस्वरूपविशेषतद्विभूतिभेद प्रकारतदाराधन स्वरूप फलविशेषाश्च पृष्टाः। ब्रह्मस्वरूपविशेष प्रश्नेषु यतश्चैतच्चराचरमिति निमित्तोपादानयोः पृष्टत्वात् यन्मयमित्यनेन सृष्टिस्थितिलयकर्मभूतं जगत् किमात्मकमिति पृष्टम्। तस्य चोत्तरं जगच्च स इति। इदं च तादात्म्य अन्तर्यामिरूपेणात्मतया व्याप्तिकृतम्। नतुव्याप्यव्यापकयोर्वस्तुऐक्यकृतम्। यन्मयमिति प्रश्नस्योत्तरत्वाज्जगच्च स इति सामानाधिकरण्यस्य यन्मयमिति मयडत्र न विकारार्थः, प्रथक् प्रश्नवैयर्थ्यात्। नापि प्राणमयादिवत् स्वार्थिकः, जगच्च स इत्युत्तरानुपपत्तेः तदाहि विष्णुरेवेति इत्युत्तरमभविष्यत्। अतः प्राचुतर्यार्थ एव। "तत्प्रकृतवचने मयट्" इति मयट्। कृत्स्नं च जगत्तच्छरीरतया तत्प्रचुरमेव। तस्मात् यन्मयं इत्यस्य प्रतिवचनं जगच्च स इति सामानाधिकरण्यं जगद्-ब्रह्मणोः शरीरात्मभावनिबन्धनमिति निश्चीयते। अन्यथा निर्विशेष वस्तु प्रतिपादन परे शास्त्रेऽभ्युपगम्यमाने सर्वाण्येतानि प्रश्न प्रति वचनानि च न संगच्छन्ते। तद् विवरणरूपं कृत्स्नं च शास्त्रं न

संगच्छन्ते। तथाहि सति प्रपंचभ्रमस्य किमधिष्ठानमित्येवं रूपस्यैकस्यप्रश्नस्य निर्विशेषज्ञानमात्रमित्येवंरूपमेकमेवोत्तरं स्यात्। जगद्ब्रह्मणोरेकद्रव्यत्वपरे च सामानाधिकरण्ये सत्यसंकल्पत्वादि कल्याणगुणैकतानता निखिलहेयप्रत्यनीकता च बाध्येत। सर्वाशुभास्पदं च ब्रह्म भवेत्।

यहाँ ब्रह्म का विशिष्ट स्वरूप, उनकी विभूति प्रकार भेद, तथा उनके आराधन स्वरूप, और उसके फल-विशेष को पूछा गया है। ब्रह्म के स्वरूप विषयक प्रश्न में "जिससे यह चराचर उत्पन्न होता है" ऐसी निमित्तऔर उपादान कारण विषयक जिज्ञासा की गई है, तथा "तन्मयः" पद से सृष्टि, स्थिति और लय के कर्मभूत इस जगत् के स्वरूप की जिज्ञासा की गई है। 'जगच्च सः" पद से उक्त जगत् संबंधी प्रश्न का उत्तर दिया गया है। जगत् की जो ब्रह्म से तादात्म्य उक्ति है, वह अन्तर्यामी रूप से आत्मा में ब्रह्म की व्याप्ति-परक है। व्याप्य व्यापक वस्तु की एकतापरक नहीं है। "यन्मयं" प्रश्न का उत्तर "जगच्च सः" सामानाधिकरण्य (विशेषण विशेष्य) भाव संबंधी है। "यन्मयं" पद में प्रयुक्त मयट् प्रत्यय विकारात्मक नहीं है। यदि ऐसा होता तो पृथक प्रश्न करना ही व्यर्थ होता। और न "प्राणमय" आदि की तरह, मयट् स्वार्थिक ही हैं। स्वार्थिक होता तो "जगच्च सः" उत्तर व्यर्थ हो जाता। स्वार्थिक मयट् में तो "यह जगत् विष्णु ही है" ऐसा उत्तर होता। इसलिए "तत्प्रकृतवचने-मयट्" सूत्र के अनुसार प्राचुर्य्यार्थक मयट् ही समीचीन प्रतीत होता है। सारा जगत् उसका शरीर है, इसलिए प्राचुर्य्य अर्थ ही संगत है। इस प्रकार "यन्मयं" इस प्रश्न का उत्तर "जगच्च सः" सामानाधिकरण्यपरक है जो कि जगत् और ब्रह्म के शरीरात्मभाव का द्योतक है, ऐसा निश्चित होता है। ऐसा अर्थ न मानकर, शास्त्र को निर्विशेष वस्तु-प्रतिपादन-परक मानेंगे तो, उक्त सारे ही प्रश्नोत्तर असंगत हो जायेंगे तथा उक्त विवरण प्रस्तुत करने वाला सारा शास्त्र असंगत हो जायगा। ऐसा मानने से यह प्रश्न भी उठ खड़ा होगा कि इस जगत् को जिसे भ्रांतपरिकल्पित मिथ्या कहते हो, उसका अधिष्ठान कौन है? यदि उसके उत्तर में कहो कि निर्विशेष ज्ञान की वस्तु ही अधिष्ठान है, तो फिर सामाना-

धिकरण्य द्वारा जगत् और ब्रह्म की एकद्रव्यता, सत्य संकल्प आदि गुणैकतानता, समस्त हेयप्रत्यनीकता आदि का बाध हो जायगा, तथा ब्रह्म, समस्त अशुभों का आस्पद हो जायगा।

आत्मशरीरभाव एवेदं सामानाधिकरण्यं मुख्यवृत्तमिति स्थाप्यते, अतो—"विष्णोःसकाशादुद्भूतं जगत्तत्रैव च स्थितम्, स्थितिसंयमकर्त्ताऽसौ जगतोऽस्य जगच्चसः।" इति संग्रहेणोक्तमर्थम् "परः पराणाम्" इत्यारम्यविस्तरेणवक्तुं परब्रह्मभूतं भगवन्तं विष्णुं स्वेनैव स्वरूपेणावस्थितम् "अविकाराय" इति श्लोकेन प्रथमं प्रणम्य तमेव हिरण्यगर्भस्वावतारशंकररूपत्रिमूर्तिप्रधानकाल-क्षेत्रज्ञसमष्टिव्यष्टिरूपेणावस्थितं च नमस्करोति। तत्र "ज्ञानस्वरूपं" इत्ययं श्लोकः क्षेत्रज्ञव्यष्ट्यात्मनाऽवस्थितस्य परमात्मनः स्वभावमाह। तस्मान्नात्र निर्विशेष वस्तु प्रतीतिः।

इस जगत् का और परमात्मा का आत्मशरीरभाव है, ऐसा ही, सामानाधिकरण्य से मुख्य तात्पर्य निकलता है, जैसा कि—"यह जगत् विष्णु से ही उत्पन्न होता है, वे ही स्थिति और संयम के कर्त्ता हैं, इसलिए वे ही जगत् स्वरूप हैं।" इस श्लोक में संक्षेपरूप से जो अर्थ है, उसे ही "परंपराणाम्" आदिश्लोक में विस्तृत रूप से कहने के अभिप्राय से, स्वरूपावस्थित परब्रह्मस्वरूप भगवान को "अधिकाराय" इत्यादि श्लोक में प्रणाम करके पुनः हिरण्यगर्भ शंकर, विष्णु, आदि त्रिमूर्तियों, प्रधान (प्रकृति) काल, क्षेत्रज्ञ (जीव) आदि समष्टि-रूप से अवस्थित उन्हीं को प्रणाम करते है। फिर "ज्ञानस्वरूपम्" इस श्लोक में व्यष्टि जीवात्मा के रूप से अवस्थित परमात्मा के स्वभाव का निरूपण किया गया है। इससे यहाँ निर्विशेष वस्तु की प्रतीति नही होती।

यदि निर्विशेष ज्ञानस्वरूपब्रह्माधिष्ठानभ्रमप्रतिपादनपरं शास्त्रं, तर्हि—"निर्गुणस्याप्रमेयस्य शुद्धस्याप्यमलात्मनः, कथंसर्गादिकर्तृत्वं ब्रह्मणोऽप्युपगम्यते "इति चोद्यम" शाक्यः सर्वभावना

अचिन्त्यज्ञानगोचराः, यतोऽतो ब्रह्मणस्तास्तु सर्गाद्याभाव-शक्तयः, भवंति तपतां श्रेष्ठ पावकस्य यथोष्णता" इति परिहारश्च न घटते ।

यदि शास्त्र को निर्विशेष ज्ञानस्वरूप ब्रह्माधिष्ठान प्रतिपादन परक मानते हैं तो—"निर्गुण, निरवच्छिन्न (असीम) विशुद्ध और विमल ब्रह्म को सृष्टि संहार कर्त्ता कैसे स्वीकारा जा सकता है"—ऐसी आपत्ति तथा—जैसे तेजीय वस्तुओं में श्रेष्ठ अग्नि की उष्णता स्वाभाविक होती है, वैसे ही ब्रह्म की सृष्टि संहार आदि अचिन्त्य शक्तियाँ भी बुद्धि अगोचर हैं।" ऐसा परिहार संगत न होगा।

तथाहि सति—"निर्गुणस्य ब्रह्मणः कथं सर्गादिकर्त्तृत्वं न ब्रह्मणः पारमार्थिकः सर्गः, अपितु भ्रांतिपरिकल्पितः इतिचोद्यपरिहरौ स्याताम्। उत्पत्त्यादिकार्यं सत्वादिगुणयुक्तापरिपूर्णकर्मवश्येषु दृष्टमिति, सत्वादिगुणरहितस्य परिपूर्णस्याकर्मवश्यकर्मसंबंधानर्हस्य कथंसर्गादिकर्त्तृत्वमभ्युपगम्यते इति चोद्यम्। दृष्टसकलविसजातीयस्य ब्रह्मणो यथोदितस्वभावस्यैव जलादिविसजातीयस्य अग्न्यादेरौष्ण्यादि-शक्तियोगवत् सर्वशक्तियोगो न विरुध्यत इति परिहारः।

ऐसी विषम आपत्ति और परिहार की स्थिति में स्वाभाविक प्रश्न होता है कि फिर-निर्गुण ब्रह्म की सर्गादिकर्त्तृता कैसी है? ब्रह्म की वास्तविक सृष्टि नहीं है अपितु भ्रांति परिकल्पित है। ऐसी आपत्ति और ऐसा परिहार संगत हो जाता है। उत्पत्ति आदि कार्य, सत्व रज, तम आदि गुण-युक्त अपूर्ण कर्मवश्य (कर्मलब्ध सुख दुःख अधीन) वस्तु का ही देखा जाता है, फिर सत्वादिगुण रहित, कर्मबंधन-रहित, परिपूर्ण ब्रह्म सर्गादि का कर्त्ता कैसे हो सकता है? इस शंका का परिहार किया जाता है कि जल आदि पदार्थों से भिन्न अग्नि की जैसे स्वाभाविक उष्णता होती है वैसे ही समस्त जगत् से विलक्षण, निर्गुण आदि स्वभाव संपन्न ब्रह्म का भी सर्वशक्ति संबंध विरुद्ध नहीं है।

"परमार्थस्त्वयमेवैकः" इत्याद्यपि न कृत्स्नस्यापारमार्थ्यं-वदति। अपितु कृत्स्नस्य तदात्मकतया तद्व्यतिरेकेणावस्थितस्य अपारमार्थ्यम्। तदेवोपपादयति—"तवैव महिमा येन व्याप्तमेतच्च-राचरम्" इति। येन त्वयेदम् चराचरं व्याप्तं, अतस्त्वदात्मकमेवेदं सर्वमिति त्वदन्यः कोऽपि नास्ति। अतः सर्वात्मकतया त्वमेवैकः परमार्थः। अत इदमुच्यते--तवैष महिमा, या सर्वव्याप्तिः इति। अन्यथा तवैषा भ्रांतिरिति वक्तव्यम्। जगतः पते त्वमित्यादीनां पदानां लक्षणा न स्यात्। लीलया महीमुद्धरतो भगवतो महावराह-स्य स्तुतिप्रकरणविरोधश्च। यतःकृत्स्नं जगत् ज्ञानात्मना त्वया-ऽऽत्मतया व्याप्तत्वेन तव मूर्त्तम्। तस्मात्त्वदात्मकत्वानुभवसाधन-योगविरहिण एतत् केवलदेवमनुष्यादिरूपमितिभ्रान्तिज्ञानेन पश्यन्ती-त्याह "यदेतद्दृश्यते" इति।

"एक मात्र आप ही परमार्थ हैं" इत्यादि श्लोक भी समस्त जगत् को असत्य नहीं बतलाता। अपितु समस्त जगत् ब्रह्मात्मक है, इस तादात्म्य भाव को छोड़ने से ही मिथ्या प्रतीति होती है इसी बात का उपपादन करता है। "हे प्रभु ! आप की ही महिमा समस्त चराचर में व्याप्त है"—अर्थात् आप से यह चराचर व्याप्त है। इसीलिए यह सब कुछ त्वदात्मक है। आपसे अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। सर्वात्मक होने से एक आप ही सत्य हैं। इसी लिए यह कहा गया कि-तुम्हारी ही यह महिमा है जिससे सब जगत् व्याप्त है। यदि श्लोक का उक्त तात्पर्य न होता तो; उक्त बात (तवैष सर्वव्याप्ति) के बजाय "तवैषा भ्रांति" (यह तुम्हारी भ्रांति) ही कहा जाता। 'जगत्पते त्वम्" इत्यादि पदों का लाक्षणिक अर्थ नहीं किया जा सकता, वैसा करने से, लीला ही लीला में पृथिवी को उठाने वाले भगवान महावाराह की स्तुति का सारा प्रकरण ही विरुद्ध सिद्ध होगा। "यदेतद् दृश्यते" का तात्पर्य है कि-सारा जगत् ज्ञानात्मक आप से, आत्मभाव रूप से व्याप्त है, अतएव आपका ही मूर्त्त रूप है, आपके त्वदात्मकभाव की अनुभूति का साधन एकमात्र भक्ति योग है। भक्ति

भाव हीन व्यक्ति ही इस जगत् को केवल देवमनुष्यादि रूप वाला देखते हैं। उनका ऐसा ज्ञान भ्रांति मात्र है।

न केवलं वस्तुतस्त्वदात्मकं जगदेव देवमनुष्याद्यात्मकमिति दर्शनमेव भ्रमः; ज्ञानाकाराणामात्मनां देवमनुष्याद्यर्थाकारत्व दर्शनमपि भ्रम इत्याह "ज्ञानस्वरूपमखिलम्" इति।

केवल ब्रह्मात्मक जगत् को देव मनुष्य आदि वाला जानना ही भ्रम नहीं है, अपितु देव मनुष्य आदि के ज्ञानात्मक आत्माओं को देव मनुष्य ही के आत्मा के रूप में देखना भी भ्रम है; इस भाव को "यह सब कुछ ज्ञान स्वरूप है" इस श्लोक में दिखलाया गया है।

ये पुनर्बुद्धिमन्तो ज्ञानस्वरूपात्मविदः सर्वस्य भगवदात्मकत्वानुभवसाधनयोग्यपरिशुद्धमनश्च, ते देव मनुष्यादिप्रकृतिपरिणामविशेषशरीररूपमिदम् अखिलं जगत् शरीरातिरिक्त ज्ञानस्वरूपात्मकं त्वच्छरीरं च पश्यन्ति इत्याह "ये तु ज्ञानविदः" इति। अन्यथा श्लोकानां पौनरुक्त्यं, पदानां लक्षणा, अर्थविरोधः, प्रकरणविरोधः, शास्त्रतात्पर्यविरोधश्च।

और जो लोग सद्बुद्धि, ज्ञानमय आत्मतत्त्व के ज्ञाता तथा जगत् को भगवद्भाव में देखने के लिए भक्ति योग की साधना में संलग्न और शुद्धचित्त हैं, वे प्राकृत परिणाम देव मनुष्य आदि शरीर रूप समस्त जगत् को ज्ञानस्वरूप परमात्मा के शरीर के रूप में ही दर्शन करते हैं— ऐसा "जो ज्ञानविद् हैं" इत्यादि श्लोक का तात्पर्य है। श्लोकों का अर्थ उक्त क्रम से न करने से, पुनरुक्त दोष, अर्थ-विरोध, प्रकरण-विरोध, तथा शास्त्रतात्पर्य-विरोध होगा, साथ ही पदों का लाक्षणिक अर्थ करना पड़ेगा।

"तस्यात्मपरदेहेषु सतोऽप्येकमयम्" इत्यत्र सर्वेष्वात्मसु ज्ञानैकाकारतया समानेषु सत्सु देवमनुष्यादि प्रकृतिपरिणाम विशेष

रूपपिण्डसंसर्गकृतमात्मसु देवाद्याकारेण द्वैतदर्शनमतथ्यं इत्युच्यते पिडगतमात्मगतमपि द्वैतं न प्रतिषिध्यते। देवमनुष्यादिविविध-विचित्रपिण्डेषु वर्त्तमानं सर्वमात्मवस्तु सममित्यर्थः। यत्रोक्तं भगवता "शुनिचैवश्वपाके च पंडिताः समदर्शिनः"–"निर्दोषं हि समम् ब्रह्म" इत्यादिषु; "तस्यात्मपरदेहेषु सतोऽपि" इति देहातिरिक्ते वस्तुनि स्वपरविभागस्योक्तत्वात्।

"वह दूसरे शरीरो मे आत्मरूप से व्याप्त होते हुए भी एक है" इस वाक्य का तात्पर्य है कि—सभी आत्माओं में ज्ञानैकाकार रूप से वह ब्रह्म समान भाव से व्याप्त है, फिर भी, प्राकृत परिणाम देव मनुष्य आदि विविध विचित्र देहो को जो लोग ब्रह्म से पृथक देखते हैं, वह उनका मिथ्या ज्ञान है। यहाँ पिण्डगत और आत्मगत भेद का प्रतिषेध नही किया गया है। देव मनुष्य आदि विविध विचित्र शरीरों में वर्त्तमान सभी आत्माए समान है, जैसा कि-भगवान कृष्ण ने गीता मे कहा भी है "आत्म तत्त्वज्ञ, कुत्ता और चाण्डाल में समदृष्टि रखते है" ब्रह्म निर्दोष और सर्वत्र समान है" इत्यादि। "तस्यात्मपरदेहेषुसतोऽपि" इस वाक्य मे देह से अतिरिक्त आत्म वस्तु मे स्व पर विभाग दिखलाया गया है।

"यद्यन्योऽस्तिपरः कोऽपि" इत्यत्रापि नात्मैक्यं प्रतीयते, यदि-मत्तः परः कोऽपि अन्यः इति एकस्मिन्नर्थे पर शब्दान्यशब्दयोः प्रयो-गायोगात् तत्र परशब्दः स्वव्यतिरिक्तात्मवचनः। अन्यशब्दः तस्यापि ज्ञानैकाकारत्वादन्याकारत्व प्रतिषेधार्थः। एतदुक्तंभवति–यदिमद्–व्यतिरिक्तःकोऽप्यात्मा मदाकारभूतज्ञानाकारादन्याकारोऽस्ति, तदा-ऽहमेवमाकारः, अयंच अन्यादृशाकारः, इति शक्यते व्यपदेष्टुम्, न चैवमस्ति; सर्वेषाम् ज्ञानैकाकारत्वेन समानत्वादेवेति।

"यदि कोई दूसरी अन्य वस्तु भी है" इस वाक्य से भी आत्मैक्य प्रतीति नहीं होती 'यदि मुझसे अतिरिक्त कोई अन्य है," इसकथन में

"अतिरिक्त" और "अन्य" शब्द का एक ही अर्थ में प्रयोग किया गया है, जिससे ज्ञात होता है कि "अतिरिक्त शब्द, अपने से भिन्न आत्मवाची है। "अन्य शब्द उस आत्मा का ज्ञानाकार रूप होने से, अन्याकारता (असमानता) का प्रतिषेधक है। कहने का तात्पर्य यह है कि—यदि मुझसे भिन्न कोई भी आत्मा मेरे आकार रूप ज्ञानाकार से भिन्न आकार का है तो, वहाँ कहा जायगा कि—"मैं इस आकार का" तथा "यह अन्य प्रकार के आकार का है।" सभी आत्माएं परमात्मा से अनुस्यूत ज्ञानाकार होने से समान आकार वाली हों, ऐसा भी नहीं है [ज्ञानैकाकार होते हुए भी भिन्न-भिन्न वासनाओं से अभिभूत होने के कारण आत्माओं में पार्थक्य का व्यवहार होता है]

"वेणुरंध्रविभेदेन" इत्यत्राप्याकारवैषम्यमात्मनां न स्वरूपकृतं अपितु देवादिपिण्डप्रवेशकृतमित्युपदिश्यते, नात्मैक्यम्। दृष्टान्ते चानेकरन्ध्र वर्त्तिनां वाय्वंशानां न स्वरूपैक्यम्, अपित्वाकार साम्यमेव। तेषांवायुत्वेनैकाकाराणां रन्ध्रभेदनिष्क्रमणकृतो हि षड्जादिसंज्ञाभेदः। एवमात्मना देवादि संज्ञाभेदः। यथा तैजसाप्यपार्थिवद्रव्यांश भूतानां पदार्थानां तत्तद्रव्यत्वे नैक्यमेव न स्वरूपैक्यम्, तथा वायवीयानामंशानामपि स्वरूपभेदोऽवर्जनीयः।

"वेणुरंध्र के भेद से" इस श्लोक में भी आत्माओं का आकार वैषम्य बतलाया गया है, स्वरूप वैषम्य नहीं। देव आदि पिंड विशेष में प्रवेश करने से भिन्नता बतलाई गई है, आत्मैक्य का उल्लेख नहीं है। दृष्टान्त रूप से प्रस्तुत वेणु के अनेक रन्ध्रवर्त्ती वायु के, अंशो की ध्वनि विषमता बतलाई गई है वायु के स्वरूप की विषमता का कोई प्रश्न ही नहीं है। एक ही वायु विभिन्न छिद्रों से विभिन्न ध्वनियों में प्रतिध्वनित होकर षड्ज आदि नामों से व्यवहार की जाती है। ऐसे ही देव मनुष्य आदि में प्रविष्ट आत्मा का नामपरक भेद है। जैसे, तैजस, जलीय, पार्थिव द्रव्यों के अंश (कण) भिन्न-भिन्न आकार के हैं एक से नहीं हैं, वैसे ही वायवीय अंश भी स्वरूपतः भिन्न हैं।

"सोऽहं सचत्वम्" इति सर्वात्मनां पूर्वोक्तं ज्ञानाकारत्वं तत् शब्देन परामृश्य तत्सामानाधिकरण्येनाहं त्वमित्यादीनामर्थानां ज्ञान-

मेवाकार इत्युपसंहरन् देवाद्याकार भेदेनाऽस्मसु भेदमोहं परित्यजेताह । अन्यथा देहातिरिक्त आत्मोपदेश्य--स्वरूपे अहं त्वं सर्वमेतदात्म स्वरुपमिति भेदनिर्देशो न घटते । अहं त्वमादिशब्दानां उपलक्ष्येण सर्वमेतदात्मस्वरूपमित्यनेन सामानाधिकरण्यादुपलक्षणत्वमपि न संगच्छते । सोऽपि यथोपदेशमकरोदित्याह "तत्याजभेदं परमार्थं दृष्टिः" इति । कुतश्चैष निर्णय इति चेत् देहात्मविवेकविषयत्वादुपदेशस्य । तच्च "पिण्डः पृथग्यतः पुंसश्शिरः पाण्यादिलक्षणः" इतिप्रक्रमात् ।

"वही मै वही तुम हो" इत्यादि वाक्य में भी तत (सः) शब्द द्वारा समस्त आत्माओं की ज्ञानाकारता का निर्देश करके पुनः ज्ञानाकार उस आत्मा के साथ अहं और त्वं पद का अभेद निर्देश करते हुए उपसंहार किया गया है, इसमें देवादि आकार भेद से आत्माओं में हुई भेद भ्रान्ति को छोड़ने का उपदेश दिया गया है । देहातिरिक्त आत्मा के उपदेश में "अहं त्वं सब कुछ आत्म स्वरूप है" ऐसा भेद संगत न होगा । यदि कहो कि श्लोक मे प्रयुक्त 'अहं त्वं' शब्द केवल उपलक्षण मात्र है, सो जब यह सारा जगत आत्म स्वरूप है, तो जगत और ब्रह्म में सामानाधिकरण्य होने से उपलक्षणता भी संगत नहीं होती । "वही मै वही तुम हो" इस उपदेश के अनुसार उसने भी वैसा ही किया "उसने परमार्थ दृष्टि प्राप्त कर द्वैत बुद्धि का परित्याग कर दिया" जो यह दिखलाया गया है, ऐसा निर्णय उसने किस आधार पर किया ? देहात्मविषयक उपदेश के आधार पर-जैसे कि—"हाथ पैर शिर आदि भेदों वाला शरीर आत्मा से भिन्न है, वैसे ही जगत और ब्रह्म का संबंध है ।"

"विभेद जनके ज्ञाने" इति नात्मस्वरूपैक्यपरम् । नापि जीव परयोः आत्मस्वरूपैक्यमुक्तरीत्या निषिद्धम् । जीवपरयोरपि स्वरूपैक्यम देहात्मनोरिव न संभवति । तथा च श्रुतिः—"द्वासुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते, तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्न्यो

अभिचाकशीति"—"ऋतं पिवन्तौ सुकृतस्यलोके गुहांप्रविष्टौ परमे पराध्र्ये, छाया तपौ ब्रह्मविदो वदंति पंचाग्नयो येच त्रिणाचिकेता:" —"अन्त: प्रविष्ट: शास्ता जनानां सर्वात्मा" इत्याद्या:। अस्मिन्नपि शास्त्रे "ससर्वंभूतं प्रकृतिं विकारान् गुणादि दोषश्च मुने व्यतीत:, अतीतसर्वावरणोऽखिलात्मा तेनाऽस्तृतं यद्भुवनान्तराले" —"समस्त कल्याण गुणात्मकोऽसौ"—"पर: पराणां सकला न यत्र क्लेशादयस्संति परावरेशे"—"अविद्या कर्म संज्ञाऽन्या तृतीया शक्तिरिष्यते, ययाक्षेत्रज्ञ शक्तिस्सा वेष्टिता नृप सर्वगा" इति भेदव्यपदेशात्। "उभयेऽपि हि भेदेनैनमधीयते"—"भेदव्यपदेशाच्चान्य:" —"अधिकंतुभेद निर्देशात्" इत्यादिसूत्रेषु च। "य आत्मनि तिष्ठन् नात्मनोऽन्तरो यमात्मा नवेद, यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति "प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्त:"—"प्राज्ञेनात्मनाऽन्वारूढ:" इत्यादिभि: उभयोरन्योन्यप्रत्यनीकाकारेण स्वरूप निर्णयात्।

"विभेदजनके ज्ञाने" इत्यादि वाक्य भी जीवात्मा-परमात्मा की स्वरूपगत एकता का प्रतिपादक नहीं है। और न जीवात्मा-परमात्मा की स्वरूपगत एकता का उक्त कथनानुसार निषेध ही होता है। जीवात्मा परमात्मा की स्वरूपगत एकता देह और आत्मा की तरह नहीं हो सकती। श्रुति का भी उक्त मत है—"दो पक्षी एक वृक्ष पर बैठे हैं, जो कि सहचर सखा हैं, उनमें से एक (जीव) परिपक्व (भोग के उपयुक्त) पिप्पल (कर्म) फल का भोग करता है, और दूसरा (परमात्मा) भोग नहीं करता केवल देखता (साक्षी) मात्र है।" ब्रह्मविद और पंचाग्नि साधक लोग तथा तीन बार नाचिकेताग्नि का चयन करने वालों ने कहा है कि-इस लोक (देह) में पुण्य फल भोक्ता छाया और आतप के समान दो स्वरूप (जीवात्मा और परमात्मा) बुद्धि रूप उत्तम गुहा में स्थित हैं। "वह सर्वात्मक सभी के अन्त:करण में स्थित होकर शासन करता है।" इत्यादि। और शास्त्र (विष्णुपुराण) में भी इसी प्रकार का उपदेश है—"वह (परमात्मा) समस्त भूतों के उपादान प्रकृति और उसके

विकारों एवं हर प्रकार के गुण दोषों से रहित, सभी प्रकार के ज्ञानावरणों से रहित, समस्त भूतों के आत्मा हैं, भुवन के अन्तराल में जो कुछ भी है वह उन्हीं से व्याप्त है। वे सब प्रकार के मंगलमय गुणों से पूर्ण, श्रेष्ठ से भी श्रेष्ठतर हैं। वे सर्वेश्वर क्लेश आदि दोषों से रहित हैं। भगवान की कर्म नामक एक तीसरी अविद्या शक्ति है, जिससे सर्वगत क्षेत्रज्ञ (तटस्थ जीव) शक्ति वेष्टित है। "इत्यादि श्लोकों में परस्पर भेद का निर्देश किया गया है। "उभयेऽपि हि भेदे नैनमधीयते" "भेदव्यपदेशाच्चान्यः" "अधिकन्तु भेदनिर्देशात्" आदि सूत्रों में सूत्रकार भी उक्त कथन की पुष्टि करते हैं। "जो आत्मा में स्थित होकर संयम करते हैं, जीवात्मा जिन्हे नहीं जानता, आत्मा ही जिनका शरीर है"—"प्राज्ञ परमात्मा से संसक्त होकर"—"प्राज्ञ परमात्मा से अधिष्ठित होकर" इत्यादि श्रुतियाँ, जीवात्मा और परमात्मा के परस्पर विलक्षण रूप का निरूपण करतीं हैं।

नापि साधनानुष्ठानेन निर्मुक्ताविद्यस्यपरेण स्वरूपैक्य संभवः अविद्याश्रयत्वयोग्यस्य तदनर्हत्वासंभवात्। यथोक्तम्—"परमात्मात्मनोर्योगः परमार्थ इतीष्यते, मिथ्यैतदन्यद्द्रव्यं हि नैति तद्द्रव्यतां यतः" इति। मुक्तस्य तु तद्धर्मतापत्तिरेवेति भगवद्गीतासूक्तम्—"इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम् साधर्म्यमागताः, सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथयन्ति च।" इति इहापि—"आत्मभावं नयत्येनं तद्ब्रह्मध्यायिनं मुने, विकार्यमात्मनः शक्त्या लोहमाकर्षको यथा।" इति।

साधन विशेष के अनुष्ठान द्वारा, अविद्या के क्षय हो जाने के बाद भी जीवात्मा की परमात्मा के साथ एकता संम्भव नहीं है, क्यों कि—अविद्याश्रित जीव की अविद्या से बचे रहने की क्षमता नहीं हैं। जैसा कि कहते हैं—"परमात्मा और जीवात्मा की एकता को सत्य कहना, मिथ्या भ्रम है, क्यों कि—एक द्रव्य कभी दूसरा द्रव्य नही हो सकता।" मुक्तात्मा को भगवान के समान गुण ही प्राप्त होते हैं, ऐसा भगवद्गीता में कहा गया है—"ज्ञान का आश्रय लेकर जो मेरे समान गुणों को प्राप्त करते हैं, वे सृष्ठि में जन्म नहीं पाते और प्रलय में दुःखी नहीं होते।"

विष्णुपुराण में भी जैसे—"जैसे अग्नि लोहे के विकारों को समाप्त कर देती है, उसी प्रकार, परमात्मा भी अपने ध्यान करने वालों को आकृष्ट कर आत्मभाव प्रदान करते हैं।"

आत्मभावम् आत्मनस्स्वभावम्। नहि आकर्षकस्वरूपापत्तिः आकृष्यमाणस्य। वक्ष्यति च "जगद्व्यापारवर्ज प्रकरणादसन्निहितत्वाच्च"—"भोगमात्रसाम्यलिंगाच्च"— "भुक्तोपसृप्यव्यपदेशाच्च" इति। वृत्तिरपि—"जगद्व्यापारवर्जं समानो ज्योतिषा" इति। द्रविडभाष्यकारश्च—"देवता सायुज्यादशरीरस्यापि देवतावत्सर्वार्थसिद्धस्स्यात्"। इत्याह—श्रुतयश्च—"यःइहात्मानमनुविद्य व्रजन्त्येतांश्च सत्यान् कामांस्तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति "—"ब्रह्मविदाप्नोतिपरम्"—"सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सहब्रह्मणा विपश्चिता"——"एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रम्य, इमान् लोकान् कामान्नीकामरूप्यनुसंचरन्"—"सतत्रपर्येति"—"रसो वै सः; रसह्येवायं लब्ध्वाऽनंदीभवति "यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रे अस्तंगच्छन्ति नामरूपे विहाय, तथा विद्वान् नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्"—"तदा विद्वान् पुण्यपापे विहाय निरंजनः परमं साम्यमुपैति" इत्याद्याः।

'आत्मभावम्' का तात्पर्य है, आत्मा का स्वभाव। आकृष्ट होने वाली वस्तु आकर्षक के स्वरूप को प्राप्ति नहीं कर पाती। जैसा कि—सूत्रकार—"जगद्व्यापारवर्ज, भोगमात्र साम्य मुक्तोपसृप्य०" इत्यादि सूत्रों में उक्त तथ्य का ही प्रतिपादन करते हैं। "जगत् रचना की क्षमता न होने से जीवात्मा की ज्योति ही परमात्मा के समान होती है" ऐसी वृत्ति भी है। द्रविडभाष्यकार भी कहते हैं—"भगवत् सायुज्य प्राप्त मुक्तात्मा भी भगवान् के समान सर्वार्थ सिद्धि प्राप्त करते हैं।" श्रुतियां भी उक्त वस्तु की पुष्टि करती हैं जैसे—"जो परमात्मा के ऐसे स्वरूप तथा सत्य कामनाओं को जानकर, इस लोक से प्रयाण करते हैं, उनकी समस्त

लोकों में अप्रतिहत गति होती है।" ब्रह्मवेत्ता परमात्मा को प्राप्त करते हैं—"वह परमात्मा के साथ समस्त कामनाओं को भोगता है।" इस आनन्दमय परमात्मा को प्राप्त कर सभी प्रकार के काम्यफलों का भोग करता है। "परमात्मा रस स्वरूप है, उस रस का आस्वाद कर जीवात्मा आनंदित होता है।" मुक्तपुरुष वहाँ जाता है। "नदियाँ जैसे समुद्र में मिलने पर अपने नाम रूप का परित्याग कर देती है, वैसे ही जीवात्मा भी अपने नाम रूप से छुटकर उस परात्पर दिव्य पुरुष को प्राप्त करता है।" ब्रह्मज्ञ पुरुष पुण्य पाप से छुट कर निरंजन परमात्मा की समता प्राप्त करता है।" इत्यादि।

पराविद्यासु सर्वासु सगुणमेव ब्रह्मोपास्यम्। फलं चैकरूपमेव। अतो विद्याविकल्प इति सूत्रकारेणैव—"आनन्दादयः प्रधानस्य" "विकल्पोऽविशिष्ट फलत्वात्" इत्यादिषूक्तम्। वाक्यकारेण च सगुणस्यैवोपास्यत्वं विद्याविकल्पश्चोक्तः "युक्तं तद् गुणकोपासनात्" इति। भाष्यकृता व्याख्यातं च "यद्यपि सच्चितः" इत्यादिना। "ब्रह्मवेद ब्रह्मैवभवति" इत्यत्रापि—"नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरूषमुपैतिदिव्यम्"—"निरंजनः परमं साम्यमुपैति"—"परंज्योतिरूपसंपद्य स्वेनरूपेणाभिनिष्पद्यते" इत्यादिभिरैकार्थ्यात् प्राकृतनाम रूपाभ्यां विनिर्मुक्तस्य निरस्ततत्कृत्भेदस्य ज्ञानैकाकारतया ब्रह्मप्रकारतोच्यते। प्रकारैक्ये च तत्वव्यवहारो मुख्यएव, यथा सेयं गौरिति।

सभी ब्रह्मविद्याओं में सगुणब्रह्म को ही उपास्य तथा ब्रह्मसारूप्यता को मोक्ष बतलाया गया है। विद्याओं की समान प्रणाली का "आनन्दादयः प्रधानस्य" बिकल्पोऽविशिष्ट फलत्वात् "सूत्रों में सूत्रकार प्रतिपादन करते हैं। वाक्यकार भी सगुण की उपास्यता तथा विद्याओं की समानता का प्रतिपादन" युक्तं तद्गुणकोपासनात्" कह कर करते हैं। "यद्यपि सच्चितः" इत्यादि में भाष्यकार भी उक्त तथ्य की ही पुष्टि करते हैं। "ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म ही होता है", नामरूप से विमुक्त परात्पर दिव्य पुरुष

को प्राप्त करता है,"निरंजन की समता प्राप्त करता है", परमात्मा की ज्योति से संपन्न अपने वास्तविक स्वरूप से निष्पन्न होता है,"इत्यादि श्रुतियाँ भी प्राकृत लौकिक, नामरूप के लोप तथा नामरूप जन्य भेद दृष्टि के लुप्त हो जाने पर जो एकाकार ज्ञान होता है, इतने अंशमात्र में ही, जीवात्मा परमात्मा की एकता का प्रतिपादन करती हैं। एक ही प्रकार की वस्तु में जो एकता का व्यवहार होता है, वह मुख्यता परक ही होता है, जैसे कि—"यह वही गौ है।"

अत्रापि—"विज्ञानं प्रापकं प्राप्ये परे ब्रह्मणि पार्थिव, प्रापणीयस्तथैवात्मा प्रक्षीणशेषभावनः" इति। परब्रह्मध्यानादात्मा परब्रह्मवत् प्रक्षीणश्शेषभावनः कर्मभावना, ब्रह्मभावना,उभयभावना, इति भावनात्रय रहितः। प्रापणीय इत्यभिधाय—"क्षेत्रज्ञः करणी ज्ञानं करणं तस्य वै द्विज, निष्पाद्य मुक्तिकार्यं हि कृतकृत्यं निवर्त्तयेत्" इति करणस्य परब्रह्मध्यानरूपस्य प्रक्षीणाशेषभावनात्मस्वरूप प्राप्त्या कृतकृत्यत्वेन निवृत्ति वचनात् सिद्धि अनुष्ठेयम् इत्युक्त्वा—"तद्भावभावमापन्नः तदाऽसौ परमात्मना भवत्यभेदोभेदश्च तस्याज्ञानकृतोभवेत्।" इति मुक्तस्य स्वरूपमाह। तद्भावः ब्रह्मणोभावः स्वभावः। नतु स्वरूपैक्यम्, तद्भावभावमापन्न इति द्वितीयभावशब्दानन्वयात् पूर्वोक्तार्थं विरोधाच्च। यद् ब्रह्मणः प्रक्षीणाशेषभावनत्वं तदापत्तिस्तद् भावभावापत्तिः। यदैवमापन्नस्तदाऽसौ परमात्मा अभेदी भवति, भेदरहितो भवति। ज्ञानैकाकारतया परमात्मनैक प्रकारस्यास्य तस्माद् भेदो देवादिरूपः।तदन्वयोऽस्य कर्मरूपाज्ञानमूलः। न स्वरूपकृतः, सतु देवादिभेदः परब्रह्मध्यानेन मूलभूताज्ञानरूपे कर्मणि विनष्टे हेत्वभावात् निवर्त्तते इति अभेदी भवति। यथोक्तम्—"एक स्वरूपभेदस्तु वाह्य कर्म प्रवृत्तिजः देवादिभेदेऽपध्वस्ते नास्तिएवावरणोहि सः। इति।

विष्णुपुराण में भी जैसे—"परब्रह्म ही जीव के लिए एकमात्र प्राप्य है, विज्ञान ही एकमात्र प्रापक (प्राप्ति का उपाय) है तथा समस्त

भावनाओं से रहित आत्मा भी उसी प्रकार प्रापणीय है।' परब्रह्म के ध्यान से जीवात्मा परब्रह्म के समान समस्त भावनाओं से शून्य हो जाता है। भावनाये तीन प्रकार की है, कर्मभावना (शुभाशुभ संस्कार) ब्रह्म भावना तथा कमब्रह्म उभयभावना। इन तीनो प्रकार की भावनाओं से रहित होना ही अभिधेय है। ऐसी स्थिति की प्राप्ति को बतलाकर "क्षेत्रज्ञ जीवात्मा करणी (उपासक) तथा उपासना करण (उपास) है, इसके द्वारा मुक्ति कार्य का सपादन कर कृतकृत्य होना चाहिए।" इस वाक्य मे परब्रह्म ध्यान रूप करण से पूर्वोक्त भावनात्रय रहित आत्म-स्वरूप प्राप्ति की कृतार्थता बतलाई गई है। सिद्ध किया गया है कि—जब तक फल सिद्धि न हो जाय तब तक अनुष्ठान अवश्य करना चाहिए।

इसके बाद—"तद्भाव को प्राप्त यह उपासक, परमात्मा के साथ अभिन्न हो जाता है, उस स्थिति मे अज्ञान कृत भेद भी रहता है।" इस वाक्य मे मुक्तात्मा का स्वरूप बतलाया गया है तद्भाव का तात्पर्य है, ब्रह्म का भाव अर्थात् स्वभाव। तद्भाव का तात्पर्य स्वरूपैक्य नहीं है। "तद्भावभावभापन्नः" इस वाक्य में द्वितीय भाव शब्द का उक्त प्रकार का अन्वय नही करेंगे तो पूर्वोक्त अर्थ से विरुद्ध होगा। ब्रह्म की जैसी समस्त भावना रहित स्थिति रहती है वैसे ही मोक्षावस्था में जीवात्मा की भी हो जाती है, यही तद्भावभावापत्ति का तात्पर्य है। जीवात्मा उस स्थिति को प्राप्त कर ही परमात्मा के साथ अभिन्न हो पाता है, अर्थात् भेद भाव रहित हो जाता है। मुक्तपुरुष एक मात्र ज्ञानमय आकार प्राप्त कर ही परमात्मा के आकार का होता है, फिर भी देव मनुष्यादि रूप से उसका भेद रहता है उसकी यह भेदावस्था कर्ममय अज्ञान जन्य होती है, स्वरूपतः नहीं होती। जिस समय परब्रह्म के ध्यान से, भेद-कारक अज्ञानरूपी कर्म विनष्ट हो जाता है, उस समय कारण के अभाव से, कार्यरूप देव आदि भेद भी लुप्त हो जाते हैं। वही अभेदरूपता की स्थिति होती है। जैसा कि कहते हैं—"आत्मा स्वरूपतः एक है, केवल वाह्य देहादिकृत कर्ममय आवरण से आवृत्त होने से उसका भेद होता है, देवादि भेदों के नष्ट हो जाने पर आभ्यन्तर आवरण भी नष्ट हो जाता है।"

एतदेव विवृणोति—"विभेदजनकेऽज्ञाने नाशमात्यतिकं गते, आत्मनो ब्रह्मणोभेदमसंतं कः करिष्यति "इति। विभेदः विविधो

भेद:, देवतिर्यङ्मनुष्यस्थावरात्मक: । यथोक्त: शौनकेनापि—"चतुर्विधोऽपिभेदोऽयं मिथ्याज्ञाननिबन्धन: "इति । आत्मनि ज्ञान रूपे देवादिरूपविविधभेदहेतुभूतकर्मांख्याऽज्ञाने परब्रह्म ध्यानेनात्यंतिक नाशं गते सति हेत्वभावात् असन्तं परस्मात् ब्रह्मण आत्मनो देवादिरूपभेदं क: करिष्यति इत्यर्थ: । "अविद्या कर्मसंज्ञाऽन्या "इति हि अत्रैवोक्तम् ।

उक्त तथ्य का ही विवेचन करते हुए कहते है—"विभेद जनक अज्ञान के एक दम नष्ट हो जाने पर, आत्मा ब्रह्म के असत् भेद को कौन कर सकेगा। "विभेद का तात्पर्य है देव पशु मनुष्य स्थावरादि विविध भेद। जैसा कि शौनक ने भी कहा है– "स्थावर आदि चार प्रकार के भेद, मिथ्या ज्ञान से होते है। "अर्थात् ज्ञान रूप आत्मा में देवादि रूप विविध भेदों के कारणरूपी कर्म नामक अज्ञान के, परब्रह्म की ध्यान रूपी उपासना से एकदम नष्ट होने पर, कारण के अभाव में परमात्मा और जीवात्मा के देवादि रूप भेद को करने वाला कौन शेष रह जाता है। यहीं पर कहा भी गया है—"कर्म नामक अविद्या भेद रूपा है"।

"क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि" इत्यादिना अन्तर्यामिरूपेण सर्वस्यात्मतयैक्याभिधानमन्यथा "क्षर: सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते, उत्तम: पुरुषस्त्वन्य: "इत्यादिनिर्विरोध: । अन्तर्यामिरूपेण सर्वेषामात्मत्वं तत्रैव भगवताऽभिहितम्—"ईश्वरस्सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति" सर्वस्य चाहं हृदिसंन्निविष्ट. "इति च । "अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थित: "इति च तदेवोच्यते । भूतशब्दोहि आत्मपर्यन्तदेहवचन: । यत: सर्वेषामयमात्मा तत एव सर्वेषा तच्छरीरतया पृथगवस्थानं प्रतिषिध्यते– 'न तदस्ति विनायत्स्यात् "इति, भगवद्विभूत्युपसंहारश्चायमिति तथैवाभ्युपगन्तव्यम् । तत इदमुच्यते —"यद्यद्विभूतिमत्सत्वं श्रीमदूर्जितमेव वा तत्तदेवावगच्छत्वं मम तेजोंऽशसंभवम् "विष्टम्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो

जगत्" इति । अतः शास्त्रेषु न निर्विशेष वस्तुप्रतिपादनमस्ति । नाप्यर्थजातस्य भ्रांतत्वप्रतिपादनम् । नापि चिदचिदीश्वराणां स्वरूपभेद निषेधः ।

"क्षेत्रज्ञ भी मुझे ही जानो" इस भगवद् वाक्य में अन्तर्यामी रूप से परमात्मा के सर्वात्म भाव ऐक्य को बतलाया गया है; यदि ऐसा नहीं मानेंगे तो,"सभी भूतों को क्षर, कूटस्थ आत्मा को अक्षर तथा इनसे भिन्न श्रेष्ठ उत्तम पुरुषोत्तम है "इत्यादि वाक्य से विरुद्ध होगा। अन्तर्यामी रूप से सभी की आत्मता को गीता मे स्वयं भगवान् ने स्वीकारा है— "अर्जुन ! समस्त प्राणियो के अन्तः करण में ईश्वर विराजमान है "सभी के अन्तः करणों में, मै प्रविष्ट हूँ "इत्यादि ।" गुडाकेश! समस्त प्राणियो के अन्तःकरण में स्थित मैं आत्मा हूँ" इत्यादि में भी वही बात कही गई है । भूत शब्द आत्मा के देह तक सभी का द्योतक है । जैसे परमात्मा सभी के अन्तर्यामी आत्मा है, उसी प्रकार सारा ही भूतवर्ग उनका शरीर स्थानीय है ,इसलिए समस्त भूतों से उनकी पृथक्ता का निषेध किया गया है । "जगत में ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जिसे परमात्मा से भिन्न कहा जा सके" यह भगवद् विभूति के उपसंहार का वाक्य है, अतः इसे ही प्रकरण का तात्पर्य मानना चाहिए । इस पर ही कहा गया कि—"जो जो विभूतिमान तथा अलौकिक प्रभा संपन्न हैं ,उन्हें मेरे तेजांश से ही प्रकट समझो, एक अंश से मै ही सारे जगत मे व्याप्त हूँ ।" इत्यादि से ज्ञात होता है कि— शास्त्रों में निर्विशेष वस्तु का प्रतिपादन नही है और न समस्त जागतिक विषयों के मिथ्यात्व का प्रतिपादन है ' जड चेतन ईश्वरीय विभूतियों के स्वरूप भेद का भी निषेध नही है ।

यदप्युच्यते—निर्विशेषे स्वयंप्रकाशे वस्तुनि दोषपरिकल्पितमीशेशितव्याद्यनन्तविकल्पं सर्वं जगत् । दोषश्च स्वरूपतिरोधान विविधविचित्र विक्षेपकारी सदसदनिर्वचनीयाऽनाद्यविद्या । सा च अवश्याभ्युपगमनीया; "अनृतेन हि प्रत्यूढाः "इत्यादिभिः श्रुतिभिः, ब्रह्मणस्तत्वमस्यादिवाक्यसामानाधिकरण्यावगतजीवैक्यानुपपत्त्या च सा तु न सती, भ्रांतिबाधयोरयोगात् । नाप्यसती, ख्यातिबाधयोश्चा-

योगात्। अतः कोटिद्वयविनिर्मुक्तेयमविद्येति तत्त्वविदः इति तदयुक्तम्।

(वाद) इसपर भी यह कहते हैं कि—"निर्विशेष स्वयं प्रकाश ईश्वर ही एक मात्र शासन कर्त्ता है तथा समस्त जगत उनका शास्य है 'ऐसा मानना दोष परिकल्पित है। स्वरूप को ढंकने वाली—विविध विचित्र विक्षेपों को करने वाली, सद् असद् कुछ भी न कह सकने योग्य, अनादि अविद्या ही दोष है। "अनृतेन ही प्रत्यूढाः "इत्यादि श्रुति के अनुसार उक्त प्रकार की अविद्या का अस्तित्व स्वीकारना पड़ेगा, अस्वीकार करने से तत्वमसि "इत्यादि वाक्य से जो जीव ब्रह्म की एकता की प्रतीति होती है, वह संगत न हो सकेगी। वह अविद्या सत् पदार्थ भी नहीं है, उसे सत् मानने से उसकी भ्रांतिजनकता और ज्ञानाबाध्यता संभव नहीं होगी। अविद्या असत् भी नहीं है, असत् मानने से उसकी सामयिकी प्रतीति और बाधा नहीं हो सकेगी। इसलिए तत्त्वविदों ने इसे सद् असद् कोटियों से विलक्षण अविद्या कहा है। इसलिए तुम्हारा उपर्युक्त शास्य शासन वाला कथन असंगत है।

(प्रतिवाद) सा हि किमाश्रित्य भ्रमं जनयति ? न तावज्जीवमाश्रित्यअविद्या परिकल्पितत्वात् जीवभावस्य। नापि ब्रह्माश्रित्य तस्य स्वयंप्रकाश ज्ञानस्वरूपत्वेनाविद्याविरोधित्वात्। सा हि ज्ञानबाध्याऽभिमता। "ज्ञानरूपं परंब्रह्म तन्निवर्त्यं मृषात्मकम्, अज्ञानंचेत् तिरस्कुर्यात् कः प्रभुः तन्निवर्त्तने"—ज्ञानं ब्रह्मेति चेत् ज्ञानमज्ञानस्य निवर्त्तकम्, ब्रह्मवत् तत्प्रकाशत्वात् अपि हि अनिवर्त्तकम्"—"ज्ञानं ब्रह्मेति विज्ञानमस्ति चेत्स्यात्प्रमेयता, ब्रह्मणोऽननुभूतित्वं त्वदुक्त्यैव प्रसज्यते"।

ज्ञानस्वरूपं ब्रह्मेति ज्ञानंतस्या अविद्यायाः बाधकम्,। न स्वरूपभूतं ज्ञानमिति चेत्,न, उभयोरपि ब्रह्मस्वरूप प्रकाशत्वे सत्यन्यतरस्याविद्याविरोधित्वं अन्यतरस्यनेति विशेषानवगमात्।

(प्रतिवाद) वह अविद्या किसके आश्रय से भ्रमोत्पादन करती है? जीव के आश्रय से तो कर नहीं सकती, क्यों कि जीव भाव स्वयं ही अविद्या परिकल्पित है। ब्रह्म के आश्रय से भी नहीं कर सकती, क्यों कि वह स्वयंप्रकाश और ज्ञानस्वरूप है, जो कि अविद्या विरोधी रूप है। वह तो ज्ञान बाध्या ही मानी गई है।

"परब्रह्म ज्ञानस्वरूप हैं, मिथ्यात्मक ज्ञान उनसे निवर्त्य है, अज्ञान यदि ज्ञानमय ब्रह्म को ही आवृत कर लेगा तो उसका निवारण करने में कौन समर्थ है? यदि ज्ञान ही ब्रह्म है, और वही अज्ञान का निवर्त्तक है, सो ऐसा ज्ञान भी अज्ञान का निवारक नहीं हो सकता क्यों कि, वह भी ब्रह्म की तरह, उसके प्रकाश से प्रकाशित है। यदि कहो कि—ब्रह्म ज्ञान स्वरूप है, ऐसा विशेष ज्ञान होने मात्र से अज्ञान नष्ट हो जायगा, सो ऐसा मानने से ब्रह्म प्रमेय हो जायगा तथा तुम्हारे ही कथन से तुम्हारी अभिमत ब्रह्म की अनुभूतिता बाधित हो जायगी।"

यदि कहो कि—ब्रह्म ज्ञान स्वरूप है, ऐसा ज्ञान ही उस अविद्या का बाधक है, ब्रह्म का स्वरूपगत ज्ञान अविद्या निवर्त्तक नहीं है, सो ऐसा कहना भी उपयुक्त न होगा क्यों कि—दोनों ही प्रकार के ज्ञान ब्रह्म के स्वरूप से प्रकाशित होने के कारण प्रकाश स्वरूप हैं, इसलिए उनमें एक अविद्या का विरोधी हो और दूसरा अविरोधी, यह कैसे संभव है।

एतदुक्तं भवति—ज्ञानस्वरूपं ब्रह्मेत्यनेनज्ञानेनब्रह्मणि यस्स्वभावोऽवगम्यते, स ब्रह्मणः स्वयं प्रकाशत्वेन स्वयमेव प्रकाशते, इति अविद्या विरोधित्वेन कश्चिद् विशेषस्वरूपस्तद्विषयज्ञानयोः इति किंच अनुभवस्वरूपस्यब्रह्मणोऽनुभवान्तराननुभाव्यत्वेम भवतो न तद्विषयं ज्ञानमस्ति। अतो ज्ञानमज्ञान विरोधि चेत् स्वयमेव विरोधि भवतीति, नास्या ब्रह्माश्रयत्व संभवः। शुक्त्यादयस्तु स्वयाथात्म्यप्रकाशे स्वयमसमर्थास्तु अज्ञानाविरोधिनः तन्निवर्त्तने च ज्ञानान्तरमपेक्षन्ते। ब्रह्म तु स्वानुभवसिद्धस्वयाथात्म्यमिति स्वाज्ञानविरोध्येव। तत एव निवर्त्तकान्तरं च नापेक्षते। अथोच्येत

ब्रह्मव्यतिरिक्तस्य मिथ्यात्वज्ञानमज्ञान विरोधि इति। न इदं ब्रह्मव्यतिरिक्तंमिथ्यात्वज्ञानं किं ब्रह्म याथात्म्य ज्ञान विरोधि ? उत् प्रपंच सत्यत्वरूपाज्ञानविरोधीति विवेचनीयम् न तावत्ब्रह्म-याथात्म्यज्ञानविरोधि अतद्विषयत्वात्, ज्ञानाज्ञानयोरेकविषयत्वेन हि विरोधः। प्रपंच मिथ्यात्वज्ञानं तत् सत्यस्वरूपा ज्ञानेन विरुध्यते। तेन प्रपचसत्यत्वरूपाज्ञानमेव बाधितमिति ब्रह्मस्वरूपाज्ञानं तिष्ठत्येव। ब्रह्मस्वरूपाज्ञानं नाम तस्य सद्वितीयत्वमेव। तत्तु तद् व्यतिरिक्तस्य मिथ्यात्वज्ञानेन निवृत्तम्। स्वरूपंतु स्वानुभवसिद्धमिति चेन्न, ब्रह्मणोऽद्वितीयत्वं स्वरूपं स्वानुभवसिद्धमिति तद्विरोधि सद्वितीय-त्वरूपाज्ञानं न बाधश्च न स्याताम्। अद्वितीयत्वंधर्मं इति चेन्न, अनुभवस्वरूपस्य ब्रह्मणोऽनुभाव्यधर्मं विरहस्य भवतैव प्रतिपा-दित्वात् अतोज्ञानस्वरूपस्य ब्रह्मणो विरोधादेव ना ज्ञानाश्रयत्वं।

कथन यह है कि—"ज्ञान स्वरूप ब्रह्म" ऐसे ज्ञान से ब्रह्म स्वभाव की जो प्रतीति होती है, वह ब्रह्म के स्वयं प्रकाश होने से स्वतः ही प्रकाशित होता है, उसका माहात्म्यज्ञान ही अविद्या का निवारक हो, यह कोई आवश्यक बात नहीं है। बात दोनों ही एक हैं, स्वरूप ज्ञान और माहात्म्य ज्ञान दोनों ही समान वस्तु हैं। और तुम्हारे मतानुसार ब्रह्म स्वयं ही अनुभव स्वरूप है, उसके लिए किसी दूसरे अनुभव की अपेक्षा नहीं है, इसलिए तद्विषयक कोई ज्ञान नाम की वस्तु भी नहीं है ज्ञान को यदि स्वभावतः अज्ञान का विरोधी कहा जाय तो, वह स्वयं ही विरोधी हो जायगा, फिर भी उस अविद्या की ब्रह्माश्रयता संभव नहीं है। शुक्ति आदि अपनी वास्तविकता की प्रतीति कराने में स्वयं असमर्थ हैं, अज्ञान स्वरूप शुक्ति आदि को उस अज्ञान की निवृत्ति के लिए किसी अन्य ज्ञान की अपेक्षा होती है। ब्रह्म तो स्वानुभव सिद्ध है, उसे अपने वास्तविक स्वरूप का स्वयमेव ज्ञान है, इसलिए वह स्वयं ही अज्ञान का विरोधी है। तभी उसे किसी अन्य निवर्त्तक ज्ञान की अपेक्षा नहीं है। इस पर यदि यह कहो कि—ब्रह्म के अतिरिक्त पदार्थ के मिथ्यात्व का ज्ञान ही अज्ञान का विरोधी है, सो बात भी ठीक नहीं है—जिसे तुम

अन्य पदार्थ के मिथ्यात्व का ज्ञान बतला रहे हो, क्या वह ब्रह्म से यथार्थ ज्ञान का विरोधी है ? अथवा जगत सत्यता रूप अज्ञान का विरोधी है ? इस विषय पर विवेचन करना होगा। ब्रह्म के यथार्थ ज्ञान का विरोधी तो हो नही सकता, क्यों कि—अज्ञान का ब्रह्मविषयक होना संभव नही है। ज्ञान और अज्ञान एकविषयक होते भी नहीं। प्रपंचमय जगत की मिथ्यात्व की प्रतीति, उसकी सत्यस्वरूपा प्रतीति से स्वयं ही विरुद्ध है। इससे प्रपंचमय की सत्यता रूप प्रतीति का बाध हो जाता है, जगत की सत्यता की प्रतीति का बाध ब्रह्म के स्वरूप का बाध है, अद्वैत ब्रह्म में द्वैतभाव भावना ही तो ब्रह्म के स्वरूप से संबंधी अज्ञान है, इस प्रकार जगत की सत्यता की प्रतीति के बाध का तात्पर्य है ब्रह्म जगत के अद्वैत स्वरूप का बाध, ऐसे बाध को स्वीकारने का तात्पर्य है कि ब्रह्म में अज्ञान की स्वीकृति। अद्वैत ब्रह्म में जो द्वैतभाव है, वह ब्रह्म से भिन्न किसी वस्तु के मिथ्यात्व मानने से ही निवृत्त हो सकता है, ब्रह्म संबंधी वस्तु के मिथ्यात्व की स्वीकृति तो द्वैतभाव की ही स्वीकृति है। ब्रह्म का स्वरूप ही केवल स्वानुभव सिद्ध है, ऐसा नही कहा जा सकता। ब्रह्म से अभिन्न जगत का स्वरूप भी स्वानुभव सिद्ध है। ऐसा मानने से, ब्रह्म के अद्वैत ज्ञान के विरोधी द्वैतरूपी अज्ञान और उस अज्ञान के बाध का प्रश्न ही नही रह जाता। यदि कहें कि—द्वैतभाव ब्रह्म का धर्म है, सो कहना तो आपके इस कथन "अनुभव स्वरूप ब्रह्म अनुभाव्य नहीं हो सकता" के सर्वथा विपरीत होगा। इसलिए अज्ञान का विरोधी ब्रह्म कभी अज्ञान का आश्रय नहीं हो सकता।

तिरोधान किं च अविद्यया प्रकाशैकस्वरूपं ब्रह्म तिरोहितमिति वदता, स्वरूपनाश एवोक्त. स्यात्, प्रकाश तिरोधानं नाम, प्रकाशोत्पत्ति प्रतिबन्धो विद्यमानस्य विनाशो वा। प्रकाशस्यानुत्पाद्यत्वाभ्युपगमेन प्रकाश तिरोधानं प्रकाश नाश एव।

प्रकाशैक स्वरूप ब्रह्म को अविद्या से तिरोहित कहना, ब्रह्म का स्वरूप नाश ही मानना है। प्रकाशोत्पत्ति का प्रतिबन्ध ही प्रकाश का तिरोधान है, अथवा उसके अस्तित्व का विनाश है। प्रकाश की अनुत्पाद्यता तो हो नहीं सकती, इसलिए प्रकाश के तिरोधान का तात्पर्य, प्रकाश नाश ही कहना होगा।

अपि च निर्विषया निराश्रया स्वप्रकाशेयमनुभूतिः स्वाश्रयदोषवशात् अनंताश्रयमनन्तविषयमात्मानमनुभवतीयत्यत्र किमयं स्वाश्रयदोषः परमार्थ भूत.? उत् अपरमार्थभूत इति विवेचनीयम्। न तावत् परमार्थः, अनभ्युपगमात्। नाप्यपरमार्थः, तथा सति हि द्रष्टृत्वेन वा, दृश्यत्वेन वा, दृशित्वेनवाऽभ्युपगमनीयः। न तावद्दृशिः, दृशिस्वरूपाभेदानभ्युपगमात्, भ्रमाधिष्ठानभूतायास्तु साक्षात् दृशेर्माध्यमिक पक्ष प्रसंगेनापारमार्थ्यानभ्युपगमाच्च। द्रष्टृ दृष्ययोस्तदवच्छिन्नाया दृशेश्च काल्पनिकत्वेन मूलदोषान्तराऽपेक्षयाऽनवस्था स्यात्। अथैतत्परिजिहीर्षया परमार्थसत्यनुभूतिरेव ब्रह्मरूपा दोष इति चेत्, ब्रह्मैव चेद्दोषः प्रपंचदर्शनस्यैव तन्मूलं स्यात्। कि प्रपंचतुल्याऽविद्यान्तर परिकल्पनेन? ब्रह्मणो दोषत्वे सति तस्य नित्यत्वेनानिर्मोक्षश्च स्यात्। अतो यावद्ब्रह्म व्यतिरिक्त पारमार्थिक दोषानभ्युपगमः, न तावद् भ्रांतिरूपपादिता भवति।

निर्विषय और निराश्रय स्वप्रकाश अनुभूति, अपने आश्रय दोष से, अनंत आश्रय, अनंत विषयों का स्वयं अनुभव करती है इस कथन में जो आश्रय दोष की बात है, वह आश्रय दोष परमार्थिक है, या अपारमार्थिक यह विवेचनीय विषय है। पारमार्थिक तो हो नहीं सकता क्योंकि-दोष की सत्यता संभव नहीं है। अपारमार्थिक भी नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने में प्रश्न होता है कि, वह दोष द्रष्टा है, दृश्य है, या दृशि (ज्ञान) है? दृशि तो हो नहीं सकता क्यों कि उसमें भेद की सम्भावना नहीं है। यदि भ्रांति के आश्रय भूत दृशि (ज्ञान) के भेद स्वीकार लिए जायें तो, वह बौद्धमद की बात हो जायगी, जिससे उसकी अयथार्थता नहीं मानी जा सकती। द्रष्टा, दृश्य और दृशि जब काल्पनिक हैं, तो उसका मूलभूत कोई दोष अवश्य होना चाहिए, तथा उस मूल दोष का भी कोई मूल दोष होना चाहिए, ऐसी अनवस्था होती है। इस अनवस्था के निवारण के लिए यदि ब्रह्मरूप सत्य अनुभूति को ही दोष माना जाय तो वह ब्रह्म ही दोष हुआ, फिर प्रपंचमय सारे जगत के लिए, जो कि ब्रह्ममूलक ही है,

किसी अन्य अविद्या नाम दोष की कल्पना की आवश्यकता ही क्या है ? ब्रह्म की दोषता सिद्ध हो जाने से, उसकी स्वाभाविक नित्यता के कारण दोष से कभी मोक्ष तो हो न सकेगा। इसलिए जब तक ब्रह्म से भिन्न किसी दोष नामक वस्तु को नहीं माना जाया, तब तक जगत को मिथ्या या भ्रान्त नहीं कहा जा सकता।

अनिर्वचनीयत्वं च किमभिप्रेतम् ? सदसद्विलक्षणत्वमिति चेत्, तथाविधस्य वस्तुनः प्रमाणशून्यत्वेन अनिर्वचनीयतैव स्यात्। एतदुक्तं भवति—सर्वं हि वस्तुना तं प्रतीतिव्यवस्थाप्यम्। सर्वा च प्रतीतिः सदसदाकारा। सदसदाकारायास्तु प्रतीतेः सदसद् विलक्षणं विषय इत्युभ्युपगम्यमाने सर्वं सर्वं प्रतीतेर्विषयस्यात्—इति।

अनिर्वचनीयता से तुम्हारा क्या तात्पर्य है ? सद्असद् विलक्षणता को मानते हो तो, ऐसी वस्तु का कोई प्रमाण नहीं मिलता इसलिए वह अनिर्वचनीय तो है ही। कथन यह है कि-सारी वस्तुएं प्रतीति के आधार पर निर्धारित होती हैं, सारी वस्तुएं सद् या असद् रूप में ही होती हैं। सद् असद् आकार वाली यदि सद् असद् विलक्षण वस्तु को ही प्रमाणित करने लगेगी तो कोई भी वस्तु प्रतीति का विषय ही न रह जायगी।

अथस्यात्—वस्तुस्वरूपतिरोधानकरमान्तरवाह्यरूपविविधाध्या सोपादानं सदसदनिर्वचनीयमविद्यानादिपदवाच्यंवस्तुयाथात्म्य ज्ञान निर्वर्त्यं ज्ञानप्रागभावातिरेकेण भावरूपमेव किंचिद् वस्तु प्रत्यक्षानुमानाभ्यां प्रतीयते। तदुपहितब्रह्मोपादानश्चाविकारे स्व-प्रकाशचिन्मात्रवपुषि तेनैवतिरोहित स्वरूपे प्रत्यगात्मन्यहंकार ज्ञान-ज्ञेय विभागरूपोऽध्यासः। तस्यैवावस्थारूपेणाध्यासरूपे जगति ज्ञानबाध्य सर्परजतादिवस्तु तत्तज्ज्ञानरूपाध्यासोऽपि जायते। कृत्स्न-स्यमिथ्यारूपस्य तदुपादनत्वं च मिथ्याभूतस्यार्थस्य मिथ्याभूतमेव कारणं भवितुमर्हतीति हेतुबलादवगम्यते। कारणाज्ञानविषयं प्रत्यक्षं तावत् "अहमज्ञो मामन्यं च न जानामि" इत्यपरोक्षावभासः।

अयं तु न ज्ञान प्रागभावविषयः सहि षष्ठप्रमाणगोचरः। अयन्तु "अहं सुखी" इतिवदपरोक्षः। अभावस्य प्रत्यक्षत्वाभ्युपगमेऽप्ययमनुभवो नात्मज्ञानाभावविषयः। अनुभववेलायामपि ज्ञानस्य विद्यमानत्वात् अविद्यमानत्वे ज्ञानाभावप्रतीत्यनुपपत्तेश्च।

(पूर्वपक्षतर्क–) बात यह है कि--समस्त वस्तुओं का स्वरूपावरक, वाह्य अभ्यन्तर विविध अध्यासों का उपादान, सदसद् अनिर्वचनीय वस्तु के यथार्थ ज्ञान का निवर्त्तक, कोई एक भाव पदार्थ तो, प्रत्यक्ष और अनुमान द्वारा भी सिद्ध हो सकता है, जो कि-- प्रागभाव से भिन्न, अविद्या और अज्ञान आदि नामों से प्रसिद्ध है. निर्विकार स्वप्रकाश चिन्मयब्रह्म ही जब उक्त अविद्या से आवृत होता है। तभी उस अनुपहित (अज्ञानावृत) वस्तु में "मैं और मेरा" ऐसा अहंकार और ज्ञानज्ञेय आदि विभाग रूप अध्यास होता है। यही अध्यास अवस्था विशेष में अध्यासमय जगत् तथा ज्ञान बाध्य सर्प, रजत आदि वस्तु जन्य' अध्यास के रूप में होता है। समस्त मिथ्या रूपों की उपादानता भी मिथ्या होगी तथा मिथ्या रूप पदार्थों का मिथ्यारूप कारण होगा, ऐसा हेतुबल से ज्ञात होता है। "मैं अज्ञ अपने को और अन्यों को नहीं जानता" इत्यादि रूप से अज्ञान की जो प्रतीति होती है, उसका एक मात्र कारण अज्ञान ही है, प्रागभाव नहीं है। अभाव मात्र, अनुपलब्धि नामक छठे प्रमाण का विषय होता है, प्रत्यक्ष प्रमाण का नहीं। "मैं अज्ञ" इत्यादि ज्ञान "मैं सुखी" इत्यादि ज्ञान की तरह प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय होता है। अभाव को प्रत्यक्ष प्रमाण गम्य मनाने से "मैं अज्ञ" इत्यादि अनुभव कभी आत्मगत ज्ञानाभाव का विषय नहीं हो सकता, क्योंकि--अज्ञता की प्रतीति के समय भी आत्मज्ञान विद्यमान रहता है। अन्यथा आत्मा को अपनी अज्ञता की प्रतीति नहीं हो सकती।

एतदुक्तं भवति--"अहमज्ञ" इत्यस्मिन्ननुभवे अहमित्यात्मनोऽभावधर्मितया ज्ञानस्य च प्रतियोगितयाऽवगतिरस्तिवान वा? अस्ति चेद्विरोधादेव न ज्ञानानुभवसंभवः। न चेद् धर्मिप्रतियोगिज्ञानसव्यपेक्षो ज्ञानाभावानुभवः सुतरां न संभवति। ज्ञानाभाव-

स्यानुमेयत्वे अभावाख्यप्रमाणविषयत्वे चेयमनुपपत्तिः समाना। अस्याज्ञानस्यभावरूपत्वे धर्मिप्रतियोगिज्ञान सद्भावेऽपि विरोधाभावादयमनुभवो भावरूपाज्ञान विषय एवाभ्युपगंतव्य इति।

कथन यह है कि—"मैं अज्ञ हूं" इस प्रकार की प्रतीति में "अहं" संज्ञक आत्मा और उसके (अहं) के अभावधर्मीज्ञान की प्रतियोगी के रूप ने अवगति होती है या नही ? यह विचारणीय प्रश्न है। यदि वैसा ज्ञान रहता है, तो अभावात्मक और भावात्मक ज्ञान की सहस्थिति से ऐसा होना संभव नहीं है। यदि नहीं रहता, तब भी उस अभावात्मक ज्ञान की अवगति सभव नही है, क्योंकि—अभाव की प्रतीति का सामान्य नियम है कि—जिसका अभाव जानना है तो उसके प्रतियोगी की जानकारी आवश्यक है, बिना प्रतियोगी ज्ञान के अभाव का ज्ञान होता है, न हो सकता है। अभावात्मक ज्ञान चाहे अनुभव विषयक हो या अनुपलब्धि प्रमाण विषयक हो दोनों में ही उक्त असंगति समान रूप से होती है। इस अज्ञान को भावरूप मानने पर धर्मि प्रतियोगी ज्ञान की स्थिति में भी "मैं अज्ञान हूं" ऐसी प्रतीति असंगत नहीं होती, क्योंकि—इसमें परस्पर कोई विरोध नहीं रहता, इसलिए उक्त प्रकार की प्रतीति (मैं अज्ञ हूं) को भाव रूप अज्ञान विषयक ही मानना चाहिए।

ननु च—भावरूपमप्यज्ञानं वस्तुयाथात्म्यावभासरूपेण साक्षि चैतन्येन विरुध्यते ? मैवम्—साक्षिचैतन्यं न वस्तुयाथात्म्यविषयं अपितु अज्ञानविषयम् अन्यथामिथ्यार्थावभासानुपपत्तेः। नहि अज्ञान विषयेण ज्ञानेनाज्ञानं निवर्त्यते, इति न विरोधः ननु चेदं भावरूपमप्यज्ञानं विषयविशेषव्यावृत्तमेव साक्षिचैतन्यस्य विषयो भवति। स विषयः प्रमाणानधीन सिद्धिरिति कथमिव साक्षि चैतन्येन अस्मदर्थव्यावृत्तमज्ञानं विषयी क्रियते ? नैष दोषः, सर्वमेववस्तुजातं ज्ञाततया अज्ञाततया वा साक्षि चैतन्यस्य विषयभूतम् तत्र जडत्वेज्ञाततया सिध्यते एव, प्रमाणव्यवधानापेक्षा। अजडस्य तु प्रत्यग्वस्तुनः स्वयं सिध्यतो न प्रमाणव्यवधानापेक्षेति, सदैवा-

ज्ञानस्य व्यावर्त्तकत्वेनावभासो युज्यते। तस्मात् न्यायोपवृंहितेन प्रत्यक्षेण भावरूपमेवाज्ञानं प्रतीयते। तदिदं भावरूपमज्ञानं अनुमानेनापि सिध्यति। विवादाध्यसितं प्रमाणज्ञानं स्वप्रागभाव-व्यतिरिक्त स्वविषयावरण स्वनिवर्त्यं स्वदेशगतस्तु अन्तरपूर्वकम्, अप्रकाशितार्थं प्रकाशकत्वात्, अन्धकारे प्रथमोत्पन्न प्रदीपप्रभा-वत् इति।

वस्तु के यथार्थ स्वभाव को प्रकाशित करने वाले साक्षी चैतन्य (अनुभविता जीवात्मा) से, भावरूप अज्ञान की विरुद्धता हो गयी? ऐसा संशय नहीं करना चाहिए, वस्तु का यथार्थ स्वभाव प्रकाशन साक्षी चैत-न्य का विषय नही है, अपितु उसका विषय तो अज्ञान प्रकाशन है' अन्यथा वह मिथ्यार्थविभास न कर सकता। अज्ञान (असत्यवस्तु) विषयक अवभास से अज्ञान का निवारण तो हो नही सकता, इसलिए चैतन्य के साथ अज्ञान का विरोध भी नहीं है।

"मै अज्ञ हूँ" इस प्रतीति में "अहं" पदार्थ आत्मा के साथ अज्ञान की भी प्रतीति होती है। स्वयं सिद्ध स्वय प्रकाश आत्मा जब किसी भी प्रमाण के अधीन नहीं है, ऐसा साक्षी चैतन्य आत्मा "अहं" पदार्थ को छोड़कर केवल अज्ञान को ही अपना विषय कैसे करता है? ऐसी आपत्ति भी नही की जा सकती क्योंकि—सभी ज्ञात अज्ञात वस्तुएं साक्षी चैतन्य की प्रतीति की विषय हैं। जडरूप से ज्ञात होने वाली वस्तुओं में प्रमाण अपेक्षित होते हैं। अजड वस्तुएं स्वयं सिद्ध स्वयं प्रकाश होने से, प्रमाणों की अपेक्षा नहीं रखतीं, वो सब तो अज्ञान से भिन्न हैं इसलिए सदा अवभासित हो सकती हैं। इस प्रकार युक्ति सिद्ध प्रत्यक्ष प्रमाण से अज्ञान की भावरूप प्रतीति सिद्ध होती है।

अज्ञान पदार्थ भावरूप है, अभावरूप नहीं, यह बात अनुमान से भी प्रमाणित है। प्रमाण समुत्पादित ज्ञान द्वारा अज्ञात विषय प्रकाशित हुआ करता है, ज्ञानोत्पत्ति के पूर्व, उसके प्रागभाव से भिन्न उसके प्रकाश विषय की आवरक वस्तु स्वयं उसके द्वारा ही निवार्य होती है (अर्थात्—ज्ञानोत्पत्ति के पूर्व किसी एक ऐसी वस्तु की स्थिति माननी पड़ेगी जो

उस ज्ञानको आवृत किये रहती हैं। जिसे कि ज्ञान निवारण कर सके, आत्मा से समुत्पन्न यह ज्ञान आत्मा के आश्रित तो रहता ही है, इसलिए आवृत करने वाली वस्तु को ज्ञान का प्रागभाव नहीं कह सकते, अर्थात् ज्ञान की स्थिति नित्य है, उसका प्रागभाव होता नहीं, इसलिए उत्पत्ति के पूर्व वह किसी वस्तु से आवृत रहता है, अभावरूप नहीं रहता) उत्पत्ति के पूर्व वह ज्ञान, अन्धकार में प्रथमोत्पन्न प्रदीपप्रभा की तरह सदा आत्मा के आश्रित विद्यमान रहता है।

आलोकाभावमात्रं वा रूपं दर्शनाभावमात्रं वा तमो न द्रव्यान्तरम्, तत्कथं भावरूपाज्ञान साधने निदर्शनतयोपन्यस्यते ? इति चेत् उच्यते–बहुलत्वविरलत्वाद्यवस्थायोगेन रूपवत्तया चोपलब्धेर्द्रव्यान्तरमेव तम इति निरवद्यम्, इति।

(मशय) यदि कहो कि—आलोक का अभाव या रूप के दर्शन का अभाव ही तो अन्धकार है, अन्धकार कोई वस्तु नही है इसलिए उसे भाव-रूप अज्ञान की सिद्धि के लिए द्रष्टान्तरूप से उपस्थित कर रहे है ?

(समाधान) हल्के और घने तथा काले रूप से उस अन्धकार की उपलब्धि होती है, इसलिए अन्धकार नाम की कोई वस्तु अवश्य है।

अत्रोच्यते–"अहमज्ञो मामन्यंच न जानामि" इत्यत्रोपपत्ति-सहितेन केवलेन च प्रत्यक्षेण न भावरूपमज्ञानं प्रतीयते। वस्तु-ज्ञान प्रागभावविषयत्वे विरोध उक्त., सहि भावरूपाज्ञानेऽपि तुल्यः। विषयत्वेनाश्रयत्वेन चाज्ञानस्य व्यावर्त्तकया प्रत्यगर्थः प्रतिपन्नो वा अप्रतिपन्नो वा ? प्रतिपन्नश्चेत् तस्वरूपज्ञान निवर्त्यं तद ज्ञानं तस्मिन् प्रति न्ने कथमिव तिष्ठति। अप्रतिपन्नश्चेत–व्यावर्त्त-काश्रय विषय ज्ञान शून्यमज्ञानं कथमनुभूयेत ?

(पूर्वपक्ष के उक्त तर्क का समाधान)—

"मैं अज्ञ अपने को तथा अन्यों को नही जानता" ऐसी जो अज्ञान की प्रतीति होती है, युक्ति या प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा उसे भाव रूप से

प्रमाणित नही किया जा सकता। अज्ञान को ज्ञान का प्रागभाव बतलाने वाले सिद्धान्त में जो असंगति बतलाई गई है वह तो भाव रूप अज्ञान में भी रहेगी। आत्मा यदि अज्ञान का विषय या आश्रय है तो आश्रित अज्ञान, विशेष्य और आत्मा विशेषण होगा फिर बतलाओ कि—"अहं-अज्ञ" कहने में आत्मा की प्रतीति रहती है या नहीं? यदि रहती है तो आत्मज्ञान से नष्ट होने वाला वह अज्ञान आत्मा का आश्रित कैसे हो सकता है? यदि नहीं रहती तो किस विषय का अज्ञान कब हुआ, इसका भान न होने से अज्ञान की प्रतीति होगी कैसे?

अथ—विशदस्वरूपावभासोऽज्ञानविरोधी, अविशदस्वरूपं तु प्रतीयते, इत्याश्रयविषयज्ञाने सत्यपि नाज्ञानानुभव विरोधः इति। हन्त तर्हि ज्ञान प्रागभावोऽपि विशदस्वरूप विषयः। आश्रय-प्रतियोगि ज्ञानंतु अविशदस्वरूपविषयमिति न कश्चिद् विशषोऽन्य-त्राभिनिवेशात्। भावरूपस्याज्ञानस्यापि हि अज्ञानमिति सिध्यतः प्रागभावसिद्धाविव सापेक्षत्वमस्त्येव। तथाहि—अज्ञानमिति ज्ञाना-भावः, तदन्यः, तद्विरोधी वा? त्रयाणामपि तत् स्वरूपज्ञानापेक्षाऽ-वश्याश्रयणीया। यद्यपि तमः स्वरूपप्रतिपत्तौ प्रकाशापेक्षा न विद्यते तथाऽपि प्रकाशविरोधीत्यनेनाकारेण प्रतिपत्तौ प्रकाश प्रतिपत्ति अपेक्षाऽस्त्येव। भवदभिमताज्ञानं न कदाचित् स्वरूपेण सिध्यति अपितु अज्ञानमित्येव। तथा सति ज्ञानाभाववत् तदपेक्षत्वं समानम् ज्ञानप्रागभावस्तु भवताऽप्यभ्युपगम्यते। प्रतीयते चेत्युभ-याभ्युपेतो ज्ञान प्रागभाव एव "अहमज्ञो मामन्यं च जानामि', इत्यनुभूयते इति अभ्युपगन्तव्यम्।

यदि कहो कि—आत्म विषयक कोई विशेषज्ञान ही अज्ञान की निवर्त्तक हो, ऐसा कोई आवश्यक नहीं है, अपितु आत्मा का यथार्थ विशुद्ध स्वरूप विषयक ज्ञान ही उस अज्ञान का निवर्त्तक है। "मैं अज्ञ" में जो प्रतीति होती है, आश्रय और विषय रूप से होने वाली वह प्रतीति विशुद्ध

निर्मल आत्मा की नहीं होती अपितु अज्ञान कलुषित होती है। इसलिए अज्ञान के साथ उसका कोई विरोध नही है।

(उत्तर) बहुत अच्छे; यदि ऐसी ही बात है, तो ज्ञान का प्रागभाव अज्ञान, विशुद्ध आत्म स्वरूप विषयक होगा, तथा आश्रय और विषय रूप से होने वाला आत्मज्ञान, विशुद्ध आत्म विषयक न होगा, इसलिए उक्त प्रकार के आत्मज्ञान की स्थिति में भी प्रागभाव रूपी अज्ञान बना रहेगा। आपके इस कथन में तो सिवा अज्ञान भाव सिद्धि की चेष्टा के, कोई और विशेष बात समझ में नहीं आती, अज्ञान को यदि भावस्वरूप मान भी ले, तब भी वह कहलायेगा तो अज्ञान ही, प्रागभाव की तरह, उसमें भी पूर्वोक्त सापेक्षता तो रहेगी ही।

जरा सोचिये—अज्ञान है क्या वस्तु? क्या वह ज्ञान का अभाव है, या ज्ञान विरोधी अज्ञान है, या ज्ञान से भिन्न कोई वस्तु विशेष है? इन तीनों की जानकारी के पहिले ज्ञान के स्वरूप की जानकारी आवश्यक है। यद्यपि अन्धकार के स्वरूप की प्रतीति में प्रकाश ज्ञान की अपेक्षा नहीं रहती, फिर भी अन्धकार को जब प्रकाश के विरोधी रूप में जानने की इच्छा होती है तब प्रकाश की प्रतीति की अपेक्षा होती है। आपका अभिप्रेत "अज्ञान" कभी भी स्वरूप से तो प्रतीत होता नहीं, केवल "अज्ञान" इस नाम से ही ज्ञात होता है इस प्रकार ज्ञानाभाव की तरह सापेक्षता इसमे भी रहती है इसलिए ज्ञान का प्रागभाव तो आप भी मानते है ऐसा लगता है। "मैं अज्ञ" इत्यादि प्रतीति में उभय संमत प्रागभाव स्वीकारना ही संगत है।

नित्यमुक्तस्वप्रकाश चैतन्यैकस्वरूपस्यब्रह्मणोऽज्ञानानुभवश्च न संभवति स्वानुभवस्वरूपत्वात्। स्वानुभवस्वरूपमपि तिरोहितस्वरूपमज्ञानमनुभवतीति चेत्, किमिदं तिरोहित स्वरूपत्वम्? अप्रकाशितस्वरूपत्वमिति चेत्, स्वानुभवस्वरूपस्य कथम् प्रकाशित स्वरूपत्वम्? स्वानुभवस्वरूपस्याप्यन्यतोऽप्रकाशित स्वरूपमापद्यत इति चेत्, एवं तर्हि प्रकाशाख्यधर्मानभ्युपगमेन प्रकाशस्यैव स्वरूपत्वादन्यतः स्वरूपनाश एव स्यात् इति पूर्वमेवमोक्तम्।

किंच-ब्रह्मस्वरूपतिरोधानहेतुभूतमेतदज्ञानं स्वयमनुभूतं सत् ब्रह्मतिरस्करोति, ब्रह्मतिरस्कृत्य स्वयं तदनुभवविषयो भवतीत्यन्योन्याश्रयणम् ।

नित्य मुक्त, एकमात्र स्वप्रकाश चैतन्य स्वरूप ब्रह्म में तो अज्ञानानुभव हो नही सकता, क्योंकि—वह स्वयं अनुभवस्वरूप है। यदि कहो कि-स्वानुभवस्वरूप भी, तिरोहित स्वरूप अज्ञान का अनुभव करता है। तो वह तिरोहित स्वरूपता क्या है, यदि कहो कि—अप्रकाशित स्वरूपता ही तिरोहित रूपता है। तो स्वानुभव स्वरूप वस्तु तिरोहित स्वरूप कैसे हो सकती है ? स्वानुभव स्वरूप होते हुए भी, अन्य से आवृत होने से तिरोहित स्वरूपता होती है, इस कथन का तात्पर्य तो यह हुआ कि स्वानुभस्वरूप प्रकाश ही किसी अन्य से आवृत होकर तिरोहित होता है अर्थात् उस प्रकाश के स्वरूप का नाश होता है, ऐसा तो पहिले भी कह चुके हैं।

उक्त तर्क से तो यह तात्पर्य हुआ कि--ब्रह्म के स्वरूप को तिरोहित करने वाला अज्ञान स्वयं अनुभूत होकर ही, ब्रह्म को तिरोहित करता है, उसे तिरोहित करके, स्वयं उस ब्रह्म के अनुभव का विषय हो जाता है। इस प्रकार वे दोनों परस्पर एक दूसरे पर आश्रित हैं।

अनुभूतमेव तिरस्करोति, चेत्, यद्यतिरोहितस्वरूपमेव ब्रह्माज्ञानमनुभवति, तदा तिरोधानकल्पना निष्प्रयोजना स्यात् अज्ञान स्वरूपकल्पना च। ब्रह्मणोऽज्ञानदर्शनवत् अज्ञान कार्यतयाऽभिमत प्रपंचदर्शनस्यापि संभवात् ।

यदि कहो कि—अनुभूत होकर तिरस्कृत करता है, तब तो इसका तात्पर्य यह हुआ कि अतिरोहित स्वरूप ब्रह्म अज्ञान का अनुभव करता है; यदि ऐसी बात है, तो फिर तिरोधान की कल्पना व्यर्थ ही की, तथा अज्ञान के स्वरूप की कल्पना भी। ऐसा निश्चित होने से, ब्रह्म के अज्ञान अनुभव की तरह, अज्ञान का कार्यरूप प्रपंचमय सारा जगत भी सहज अनुभूति का विषय सिद्ध होता है।

किं च—ब्रह्मणोऽज्ञानानुभवः किं स्वतोऽन्यतो वा ? स्वतश्चेत् अज्ञानानुभवस्य स्वरूपप्रयुक्तत्वेनानिर्मोक्षस्स्यात् । अनुभूति स्वरूपस्य ब्रह्मणोऽज्ञानानुभव स्वरूपत्वेन मिथ्या रजतबाधक ज्ञानेन रजतानुभवस्यापि, निवृत्तिवत निवर्त्तक ज्ञानेनाज्ञानानुभूतिरूप ब्रह्म स्वरूपनिवृत्तिर्वा । अन्यतश्चेत् किं तदन्यत् ? अज्ञानान्तरमितिचेत् अनवस्था स्यात् ब्रह्म तिरस्कृत्यैव स्वयमनुभवविषयो भवतीति तथा सतीदमज्ञानं काचादिवत् स्वसत्तया ब्रह्मतिरस्करोति, इति ज्ञानबाध्यत्वं अज्ञानस्य न स्यात् ।

यह बतावें कि—ब्रह्म की उक्त अज्ञानानुभूति स्वतः होती है या दूसरे के द्वारा होती है ? यदि स्वतः होती है तो वह सदा होती रहेगी कभी छूटेगी ही नही जिसके फलस्वरूप, अज्ञानानुभव स्वरूप से प्रतीत होने वाला वह ब्रह्म शुक्ति रजत की तरह, अज्ञान निवर्त्तक तत्वज्ञान के द्वारा अज्ञान के साथ ही साथ तदनुभवरूप होने से स्वरूपतः समाप्त हो जायगा । यदि कहो कि नहीं उसकी वह अज्ञानानुभूति परतः होती है, तो वह परवस्तु क्या है ? यदि वह अज्ञान से भिन्न कोई और दूसरा अज्ञान है, तो फिर अनवस्था दोष उपस्थित होगा (अज्ञान के लिए अज्ञानों की ही कल्पना करते रह जाओगे) यदि कहो कि—अज्ञान ब्रह्म को आवृत करने के बाद अनुभूत होता है, तो काच आदि नेत्र रोगों की तरह जो कि—नेत्रों को आवृत कर दर्शन शक्ति समाप्त कर प्रतीत होते हैं, वैसे ही यह भी हुआ । ऐसा अज्ञान तो, तत्त्वज्ञान के द्वारा हटाया नहीं जा सकता ।

अथेदमज्ञानं स्वयमनादि ब्रह्मणः स्वसाक्षित्वं ब्रह्मस्वरूपतिरस्कृतिं च युगपदेव करोति, अतो नानवस्थादयो दोषा इति नैतत् । स्वानुभवस्वरूपस्य ब्रह्मणः स्वरूपतिरस्कृतिमंतरेण साक्षित्वापादनायोगात् । हेत्वंतरेण तिरस्कृतमिति चेत् तर्हि अस्यानादित्वं मपास्तम् । अनवस्था च पूर्वोक्ता । अतिरस्कृत स्वरूपस्यैव साक्षित्वापादेन ब्रह्मणः स्वानुभवैकतानता न स्यात् ।

यह अज्ञान स्वयं अनादि है अतः ब्रह्म की स्वयं प्रकाशता और ब्रह्म-स्वरूपतिरस्कृति दोनों को एक साथ करता है, इसलिए अनवस्था आदि दोष नहीं हो सकते; ऐसा कथन भी असंगत है। स्वानुभवस्वरूप ब्रह्म की स्वरूप तिरस्कृति के बाद उसकी स्वयं प्रकाशता की संभावना की बात एक कल्पना मात्र है। यदि कहो कि—अज्ञान के अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु से ब्रह्मस्वरूप की तिरस्कृति होती है; तो अज्ञान की अनादिता की बात कट जाती है और वही पूर्वोक्त अनवस्था दोष आ जाता है। ब्रह्म के अनावृत स्वरूप की ही अज्ञान साक्षिता मानते हो तो, ब्रह्म की अनुभवैकरूपता समाप्त हो जाती है

अपि च—अविद्यया ब्रह्मणि तिरोहिते तद्ब्रह्म न किंचिदपि प्रकाशते ? उत् किंचित् प्रकाशते ? पूर्वस्मिन्कल्पे प्रकाशमात्र स्वरूपस्य ब्रह्मणोऽप्रकाशे तुच्छतापत्तिरसकृदुक्ता। उत्तरस्मिन् कल्पे सच्चिदानंदैकरसे ब्रह्मणि कोऽयमंशस्तिरस्कृते, को वा प्रकाशते ? निरंशे निर्विशेषे प्रकाशमात्रे वस्तुन्याकारद्वयासंभवेन तिरस्कारः प्रकाशश्च युगपत् न संगच्छेते। अथ सच्चिदानंदैकरसंब्रह्म अविद्यया तिरोहितस्वरूपमविशदमिवलक्ष्यत इति प्रकाशमात्र स्वरूपस्य विशदताऽविशदता वा किं रूपा। एतदुक्तं भवति यस्सांश विशेषः प्रकाशविषयः तस्य सकलावभासो विशदावभासः। कतिपय विशेषरहितावभासश्चाविशदाभासः। तत्र च आकारोऽप्रतिपन्नस्तस्मिन्नंशे प्रकाशाभावादेव प्रकाशावैशद्यं न विद्यते। यच्चांशः प्रतिपन्नस्तस्मिन्नंशे तद्विषय प्रकाशो विशद एव। अतः सर्वत्र प्रकाशांशे अवैशद्यं न संभवति। विषयेऽपि स्वरूपे प्रतीयमाने तद्गत कतिपय विशेषाप्रतीतिरेवावैशद्यम्। तस्मादविषयं निर्विशेषे प्रकाशमात्रे ब्रह्मणि स्वरूपे प्रकाशमाने तद्गत कतिपय विशेषाप्रतीतिरूपावैशद्यं नानाज्ञानकार्यं न संभवति।

एक बात और विचारणीय है—अविद्या से तिरोहित ब्रह्म में कुछ प्रकाश रहता है या नहीं ? यदि नहीं रहता तो एक मात्र प्रकाश स्वरूप

ब्रह्म में फिर रही क्या जाता है, वह तो एक तुच्छ वस्तु रह जायगा। यदि प्रकाश रहता है, तो सच्चिदानंदैकरस ब्रह्म में कौन सा अंश छिपा रहता है, और कौन सा प्रकाशित रहता है? अखंड निर्विशेष प्रकाश-मात्र ब्रह्म में आवरण और प्रकाश ये दो वस्तुएं एक साथ नहीं रह सकतीं यदि सच्चिदानन्द ब्रह्म अविद्या से आवृत होकर मलिन दीखता है तो, एक मात्र प्रकाश स्वरूप उसमें विशदता और मलिनता कैसी?

कहने का तात्पर्य यह है कि—जो वस्तु अंशयुक्त, सविशेष, अन्य प्रकाश होती है, वही पूर्ण या अपूर्ण प्रकाश वाली हो सकती है। विशेष प्रकाश से रहित, सूक्ष्म अविशद प्रकाश भी उसी का हो सकता है। उसका जो अंश अविकसित है, उसी में प्रकाश का अभाव होने से प्रकाश की विशदता नहीं रहती और जो अंश विकसित है, उसमें उसका विशद प्रकाश रहता है। इस प्रकार सभी जगह प्रकाशांश का वैशद्य संभव नहीं है। जो वस्तु स्वरूप से प्रतीति का विषय होती है, उसका जो अंश प्रतीतिगम्य नहीं होता, उसी के प्रकाश को अविशद कहा जा सकता है। इन्द्रियों का अविषय, निर्विशेष प्रकाशमात्र ब्रह्म जब स्वयं प्रकाश है तो उसके किसी विशेष अंश की अप्रतीतिजन्य अविशदता का कोई प्रश्न ही नहीं उठता (अज्ञान जन्य आवरण उसमें संभव ही नहीं है)

अपि च—इदमविद्याकार्यमवैशद्यं तत्वज्ञानोदयान्निवर्त्तते न वा? अनिवृत्तावपवर्गाभावः। निवृत्तौ च वस्तु किं रूपमिति विवेचनीयम् विशद्स्वरूपमिति चेत् तद्विशद स्वरूपं प्रागस्ति न वा? अस्ति चेत्, अविद्याकार्यमवैशद्यम् तन्निवृत्तिश्च न स्याताम् नोचेत् मोक्षस्य कार्यतया अनित्यता स्यात्।

एक बात और भी है कि—यह अविद्या जन्य अविशदता, तत्वज्ञान से निवृत्त होती है या नहीं? यदि नहीं होती तो मोक्ष नहीं हो सकता यदि होती है, तो उस वस्तु का क्या स्वरूप होता है यह विवेचनीय है। यदि वह निवृत्त वस्तु विशद होती है तो निवृत्ति के पूर्व वह विशद थी या नहीं? यदि थी तो, अविद्या का कार्य अविशदता और उसकी निवृत्ति ये दोनों ही होना असंभव है, इनका तो प्रश्न ही नहीं उठता। यदि नहीं

था ता, उसे मोक्ष का काय माना जायगा, अतएव वह अनित्य है यह भी निश्चित है।

अस्याज्ञानस्याश्रयनिरूपणादेवासंभवः पूर्वमेवोक्तः। अपि च—अपरमार्थदोषमूलवादिना निरधिष्ठानभ्रमासंभवोऽपि दुरुपपादः भ्रम हेतुभूतदोष दोषाश्रयत्ववदाधिष्ठानापरमार्थ्यऽपिभ्रमोपपत्तेः। ततश्च सर्वशून्यत्वेमेव स्यात्।

इस अज्ञान के आश्रय का निरूपण करना ही जब असंभव है, तो अज्ञान की कल्पना भी असम्भव ही है, यह प्रथम ही कह चुके हैं। तथा जो लोग, भ्रम के मूल दोष को अपारमार्थिक मानते हैं, वह भी, असंगत है, क्योंकि—निराश्रित असत्य वस्तु पर भ्रम कभी आधारित रही नहीं सकता। भ्रम का मूल कारण दोष ही यदि असत्यस्वरूप दोषान्तर पर आश्रित होगा और असत्य अधिष्ठान में ही जब भ्रम होगा तो सब कुछ शून्य हो जायगा (यही तो बौद्धों का सर्वशून्यवाद का सिद्धान्त है)

यदुक्तमनुमानेनापि भावरूपमज्ञानं सिध्यतीति, तदयुक्तम्, अनुमानासंभवात्। ननूक्तमनुमानम ? सत्यमुक्तम्, दुरुक्तं तु तत्, अज्ञानेऽप्यनभिमताज्ञानान्तरसाधनेन विरुद्धत्वाद् हेतोः। तत्राज्ञानान्तरा साधने हेतोरनैकान्त्यम्। साधने च तदज्ञानमज्ञानसाक्षित्वं निवारयति। ततश्चाज्ञान कल्पना निष्फला स्यात्।

जो यह कहा कि—अनुमान से भी भावरूप अज्ञान की सिद्धि होती है, यह कथन असंगत है—ऐसा अनुमान कभी नहीं हो सकता। यदि कहो कि—उक्त बात भी अनुमान ही तो है ? ठीक कहते हो, अनुमान का अनुमान करना भी युक्ति विरुद्ध ही है। अज्ञान में अज्ञानान्तर की कल्पना तो आपको भी अभिमत नहीं है। अज्ञानान्तर के साधन में अनेक हेतु हैं, और उस साधन में, अज्ञान साक्षिता की निवृत्ति हो जाती है, जिससे अज्ञान की कल्पना ही निष्फल हो जाती है।

दृष्टान्तश्च साधन विकलः, दीपप्रभायाअप्रकाशितार्थप्रकाशत्वाभावात्। सर्वत्र ज्ञानस्यैव हि प्रकाशत्वम्। सत्यपि दीपे ज्ञानेन

विना विषयप्रकाशाभावात्। इन्द्रियाणामपि ज्ञानोत्पत्ति हेतुत्वमेव न प्रकाशकत्वम्। प्रदीपप्रभायास्तु चक्षुरिन्द्रियस्य ज्ञानमुत्पादयतो-विरोधि तमोनिरसनद्वारेणोपकारकत्वमात्रमेव। प्रकाशकज्ञानोत्पत्तौ व्याप्रियमाण चक्षुरिन्द्रियोपकारक हेतुत्वमपेक्ष्य दीपस्य प्रकाशकत्व व्यवहारः।

पूर्वोक्त प्रदीप दृष्टान्त भी अज्ञान के अस्तित्व के विपरीत सिद्ध होता है। प्रदीप प्रभा कभी अप्रकाशित वस्तु को प्रकाशित नही कर सकती, ज्ञात वस्तु का प्रकाश ही उससे संभव है। दीप के रहते हुए भी, वस्तु ज्ञान के बिना, उस वस्तु का प्रकाश नही होता। इन्द्रियां भी ज्ञानोत्पत्ति का ही कारण होती है, प्रकाशक तो वो भी नही होती। दीप प्रभा केवल चाक्षुष ज्ञान के प्रतिबंधक अधकार को ही दूर करती है, इस प्रकार वह चक्षुष ज्ञान की उपकारक मात्र है। वस्तु प्रकाशक ज्ञान के समुत्पादन में चक्षुरिद्रिय ही कार्य करती है, दीप की प्रभा स्थानगत अंधकार का निवारण कर साहाय्य प्रदान करती है, इसलिए व्यवहार में प्रभा को प्रकाशक कहा जाता है।

नास्माभिर्ज्ञानतुल्यप्रकाशकत्वाभ्युपगमेन दीपप्रभा निदर्शिता, अपितु ज्ञानस्यैव स्वविषयावरणनिरसनपूर्वकप्रकाशकत्व-मंगीकृत्येति चेन्न, नहि विरोधि निरसनमात्रं प्रकाशकत्वम अपित्वर्थपरिच्छेदः। व्यवहारयोग्यतापादानमिति यावत्। तत्तु ज्ञानस्यैव। यदि उपकारकाणामपि अप्रकाशितार्थं प्रकाशकत्वमंगीकृतम्, तर्हि इन्द्रियाणामुपकारकतमत्वेनाप्रकाशितार्थप्रकाशक-त्वमंगीकरणीयम्। तथासति तेषां स्वनिवर्त्यवस्त्वन्तरपूर्वकत्वाभावाद्धेतोरनैकांत्यमित्यलमनेन।

यदि कहो कि–प्रदीप प्रभा का ज्ञान के रूप से दृष्टान्त नहीं दिया गया है, अपितु ज्ञान अपने आवरण का विनाश कर विषयों को प्रकाशित करता है, केवल उतने भावमात्र के लिए ही, उसका दृष्टान्त है। सो

केवल ज्ञान प्रतिबन्धक के निवारण को ही प्रकाशता नहीं कहते अपितु जिस वस्तु का जो स्वरूप हो उसका निरूपण करते हुए लोक व्यवहारोपयोगी बनाने का नाम प्रकाशता है। ऐसी प्रकाशता ज्ञान के अतिरिक्त किसी में नहीं है। यदि ज्ञानोपकारक विषयों को भी अप्रकाशित विषयों का प्रकाशक मानेंगे तो ज्ञानोत्पत्ति की प्रधान साधन इन्द्रियों को भी अप्रकाशित वस्तुओं का प्रकाशक मानना पड़ेगा, जिसके फलस्वरूप तुम्हारा अभिमत अनैकान्त्य का सिद्धान्त दूषित हो जायगा, क्योंकि इन्द्रियों के कार्य के पूर्व कार्य निवारक कोई नहीं होता। अस्तु अब इस प्रसंग को यहीं समाप्त करते हैं।

प्रतिप्रयोगाश्च विवादाध्यसितमज्ञानं न ज्ञानमात्रब्रह्माश्रयम्, अज्ञानत्वात्; शुक्तिकादि अज्ञानवत्। ज्ञानाश्रयं हि तत् विवादाध्यसितमज्ञानं न ज्ञानमात्रब्रह्मावरणम्, अज्ञानत्वात् शुक्तिकादि अज्ञानवत्। विषयावरणं हि तत् विवादाध्यसितमज्ञानं न ज्ञाननिवर्त्यम्। ज्ञानविषयानावरणत्वात्, यत्, ज्ञाननिवर्त्यम् अज्ञानं तत् ज्ञानविषयावरणम्। यथा शुक्तिकादि अज्ञानम्। ब्रह्म न अज्ञानास्पदं ज्ञातृत्वविरहात् धरादिवत्। ब्रह्म न अज्ञानावरणं ज्ञान अविषयत्वात्। यदि अज्ञानावरणं तर्हि तद् ज्ञानविषयभूतम्, यथा शुक्तिकादि। ब्रह्म न ज्ञान निवर्त्याज्ञानम् ज्ञान अविषयत्वात्। यत् ज्ञान निवर्त्याज्ञानं तद् ज्ञानविषयभूतं यथा शुक्तिकादि। विवादाध्यसितं प्रमाणज्ञानं स्वप्रागभावातिरिक्त अज्ञानपूर्वकं न भवति प्रमाणज्ञानत्वात्, भवदभिमताज्ञानसाधन प्रमाणज्ञानवत्।

अज्ञान की भावरूपता के साधन के लिए जैसा अनुमान किया गया, उसके प्रतिकूल भी अनुमान किया जा सकता है जैसे कि—विवादास्पद अज्ञान कभी शुद्ध ज्ञान ब्रह्म का आश्रय नहीं हो सकता, क्योंकि वह शुक्ति आदि अज्ञान की तरह मिथ्या अज्ञान है। जो कि—भ्रांत ज्ञान के आश्रय में रहता है। विवादास्पद अज्ञान, ज्ञान का आवरण भी नहीं हो सकता, क्योंकि वह शुक्ति अज्ञान की तरह मिथ्या है, जो

वि-विषय (शुक्ति) का ही आवरण कर सकता है। विवादास्पद अज्ञान, ज्ञान से निवर्त्य भी नहीं है, क्योंकि वह ज्ञान के विषय (ज्ञेय) का आवरण नही करता। जो अज्ञान, ज्ञान द्वारा निवर्त्य होता है, वह ज्ञान के विषय का आवरक होता है, जैसे शुक्ति आदि का अज्ञान। घट आदि पदार्थों में जैसे ज्ञातृता नहीं रहती, वैसे ही ब्रह्म में भी ज्ञातृता का अभाव है, इसलिये वह अज्ञान का आश्रय नहीं हो सकता। अज्ञान कभी ब्रह्म को आवृत नहीं कर सकता, क्योंकि वह ज्ञान का विषय (ज्ञेय) नहीं है। जो अज्ञान से आवृत होता है, वह निश्चित ही ज्ञान का विषय होता है जैसे कि–शुक्ति। ब्रह्मविषयक अज्ञान ज्ञान से निवर्त्य नहीं है, क्योंकि वह ज्ञान का विषय नहीं है जो अज्ञान, ज्ञान से निवर्त्य होता है, वह निश्चित ही ज्ञान का विषय होता है जैसे कि शुक्ति। विवादास्पद प्रमाणरूप ज्ञान कभी अपने प्रागभाव के अतिरिक्त, अज्ञानपूर्वक नहीं हो सकता, क्यों कि वह, आपके अभिमत अज्ञान साधक, प्रमाण ज्ञान की तरह, प्रमाण जन्य होता है।

ज्ञानं न वस्तुनो विनाशकम्, शक्तिविशेषोपबृंहेण विरहे सति ज्ञानत्वात्। यद्वस्तुनो विनाशकं तत् शक्ति विशेषोपबृंहितं ज्ञानमज्ञानं च दृष्टम्, यथेश्वरयोगिप्रभृतिज्ञानं, यथा च मुद्गरादि। भावरूपमज्ञानं न ज्ञानविनाश्यम्, भावरूपत्वात् घटादिवदिति। अथोच्येत-बाधक ज्ञानेन पूर्वज्ञानोत्पन्नानां भयादीनां विनाशो दृश्यते इति। नैवम् नहि ज्ञानेन तेषां विनाशः क्षणिकत्वेन तेषां स्वयमेव विनाशात्। कारणनिर्वृत्या च पश्चादनुत्पत्तेः। क्षणिकत्वं च तेषां ज्ञानवदुत्पत्तिकारणसन्निधानएवोपलब्धेः अन्यथाऽनुपलब्धेश्चावगम्यते। अक्षणिकत्वे च भयादीनां भयादि हेतुभूतज्ञानसन्ततावविशेषेण सर्वेषां ज्ञानानां भयादुत्पत्ति हेतुत्वेनानेकभयोपलब्धि प्रसंगाच्च।

ज्ञान स्वभावतः किसी वस्तु का विनाशक नहीं होता, क्यों कि–वह अन्यशक्ति की सहायता से रहित स्वतः सिद्ध है। जिससे वस्तु का

विनाश होता है, वह चाहे ज्ञान हो या अज्ञान, निश्चित ही वह शक्ति विशेष से उपवृंहित (बलप्राप्त) होता है, जैसे ईश्वर और योगियों का ज्ञान या मुद्गर आदि। भाव पदार्थ घट आदि जैसे ज्ञान से विनाश्य नहीं हैं, वैसे ही भावरूप अज्ञान भी, ज्ञान से विनाश्य नहीं है। यदि कहो कि–बाधक ज्ञान की उपस्थिति में, बाधक ज्ञान की उत्पत्ति पूर्व के भ्रम जन्य भय कम्पन आदि का विनाश देखा जाता है; सो ऐसी बात नहीं है कि ज्ञान से भय आदि का विनाश होता है अपितु भय आदि तो क्षणिक होते हैं, वे स्वतः ही विनष्ट हो जाते हैं, भय के कारण की निवृत्ति हो जाने पर फिर भय आदि की उत्पति होती ही नही। ज्ञान की तरह भय आदि भी, उत्पत्ति के कारण की स्थिति में ही रहते हैं, अनुपस्थिति में नही, इसलिए उनकी क्षणिकता सहज ही अवगत हो जाती है। भय आदि को यदि क्षणिक नही मानेंगे तो भय आदि का कारण मिथ्या ज्ञान जब धारावाहिक रूप से चलता रहता है, तो सभी ज्ञानों को भय आदि का हेतु मानना होगा, जिससे अनेक भय उपस्थित हो जावेंगे।

स्वप्रागभावव्यतिरिक्तवस्त्वन्तरपूर्वकमिति व्यर्थविशेषणोपादानेन प्रयोगकुशलाचाविष्कृता। अतोऽनुमानेनापि न भावरूपाज्ञान सिद्धि.। श्रुतितदर्थापत्तिभ्यामज्ञानासिद्धिरनन्तरमेव वक्ष्येत। मिथ्यार्थस्य हि मिथ्यैवोपादानं भवितुमर्हतीत्येतदपि "न विलक्षणत्वात् इत्यधिकरणन्यायेन परिह्रियते। अतोऽनिर्वचनीयाज्ञानविषया न काचिदपि प्रतीतिरस्ति। प्रतीतिभ्रांतिबाधैरपि न तथाऽभ्युपगमनीयम्। प्रतीयमानमेव हि प्रतीतिभ्रांति बाधविषयः। आभिः प्रतीतिभिः प्रतीत्यंतरेण चानुपलब्धामासां विषय इति न युज्यते कल्पयितुम्।

भय को क्षणिक न मानने से अज्ञान के लिए किया गया "स्व प्रागभाव वस्त्वन्तर पूर्वक" यह विशेषण व्यर्थ हो जायगा, केवल प्रयोग कुशलता का नमूना मात्र रह जायगा इससे सिद्ध होता है कि, अनुमान से अज्ञान के अस्तित्व की सिद्धि नहीं हो सकती। श्रुति और अर्थापत्ति प्रमाण भी उसे सिद्ध नहीं कर सकते, इसे आगे बतलावेंगे। मिथ्या पदार्थ

के उपादान भी मिथ्या होते है, इस कथन को भी "न विलक्षणत्वात्" सूत्र के अनुसार परिष्कृत करेगे अनिर्वचनीय अज्ञान की प्रतीति किसी भी प्रकार नही हो सकती । केवल प्रतीति या भ्रांति की बाधा से भी अज्ञान को स्वीकारा नही जा सकता क्यों कि जो वस्तु, प्रतीति या भ्रांति की बाधा के योग्य होती है, वह प्रतीयमान और विशेषोल्लेखनीय होती है। प्रतीति, भ्राति या और भी किसी भी प्रकार की प्रतीति से, किसी ऐसी वस्तु की कल्पना नही की जा सकती जिसके प्रकाश की उपलब्धि न होती हो ।

शुक्त्यादिषु रजतादि प्रतोतेः, प्रतीतिकालेऽपि तन्नास्तीति बाधेन चान्यस्यान्यथामानायोगाश्च सदसदनिर्वचनीयमपूर्वमेवेदं रजतं दोषवशात् प्रतीयत इति, कल्पनीयमितिचेन्न, तत्कल्पनायमपि अन्यस्य अन्यथा भानस्य अवर्जनीयत्वात् अन्यथाभानाभ्युमगमादेव ख्यातिप्रवृत्तिबाधभ्रमत्वानां उपपत्तेरत्यन्तापरिद्रष्टाकारणकवस्तु कल्पनायोगात् कल्प्यमानं हि इदमनिर्वचनीयम् । न तावदनिर्वनीय मिति प्रतीयते, अपितु परमार्थ रजतमित्येव । अनिर्वचनीयमित्येव चेत्, भ्रांतिबाधयोः प्रवृत्तेरप्यसंभवः । अतोऽन्यस्यान्यथाभानविरहे प्रतीतिवृत्तिबाधाभ्रमत्वानामनुपपत्तेस्तस्यापरिहार्यत्वाच्च, शुक्त्या-दिरेव रजताद्याकारेण अवभासते, इति भवताभ्युपगंतव्यम् ।

शुक्ति आदि में रजत आदि की प्रतोति के समय ही "यह वह नहीं है" ऐसा बाधक ज्ञान हो जाता है, क्योकि–अन्य वस्तु का अन्य वस्तु में अन्य प्रकार का ज्ञान हुआ नहीं करता । सद् असद् अनिर्वचनीय अपूर्व को, रजत माना जाता हो अथवा रजत के रूप में इसकी कल्पना की जाती हो, सो बात नही है; अनिर्वचनीय कल्पना में भी अन्य वस्तु में अन्यथा ज्ञान अनिवार्य होता है; अन्यथा ज्ञान के स्वीकारने से ही, ख्याति, प्रवृत्ति, बाध, भ्रम आदि की उपपत्ति होती है, जिससे नितान्त अदृष्ट वस्तु की कल्पना होती है जिसके फलस्वरूप ही यह कल्पित अनिर्वचनीयता होती है। उस समय वह अनिर्वचनीय रूप से प्रतीत नही होती अपितु वास्तविक रजत के रूप में ही उसकी प्रतीति होती है। यदि

अनिर्वचनीय प्रतीति हो तो, भ्रांति और बाधा का प्रश्न ही नहीं उठता। भ्रमस्थल में अन्यथा भान न होने से तथा प्रतीति, वृत्ति, बाधा, भ्रम आदि की अनुपपत्ति से अनिवार्य शुक्ति ही, रजत की आकृति में अवभासित होती है, यह तो आपको भी मानना पड़ेगा।

ख्यात्यन्तरवादिनां च सुदूरमपि गत्वाऽन्यथावभासोऽवश्याश्रणीयः, असत्ख्याति पक्षे सदात्मना, आत्मख्यातिपक्षे अर्थात्मना, अख्यातिपक्षेऽपि अन्यविशेषणं अन्यविशेषणत्वेन, ज्ञानद्वयमेकत्वेन च, विषयासद्भावपक्षेऽपि विद्यमानत्वेन।

अन्यान्य ख्याति वादियों को भी अनेक तर्कवितर्कों के बाद अन्त में अन्यथावभास (अन्यथा ख्याति) का आश्रय लेना पड़ता है। वह अवभास असत् ख्याति के पक्ष में सत् स्वरूप, आत्म ख्याति के पक्ष में ज्ञेय पदार्थं स्वरूप, अख्याति के पक्ष में भी अन्यविशेषण का अन्यविशेषण के रूप तथा दो ज्ञानों की एकता के रूप, एवं ज्ञेयविषय का अस्तित्व न स्वीकारने वालों के पक्ष में ज्ञेयवस्तु की विद्यमानता के रूप से होता है।

किंच अनिर्वचनीयमपूर्वरजतमत्रजातमिति वदता तस्य जन्मकारणं वक्तव्यम्, न तावत् प्रतीतिः, तस्यास्तद् विषयत्वेन तदुत्पत्तेः प्रागात्मलाभायोगात्। निर्विषया जाता तदुत्पाद्य तदेव विषयी करोतीति महतामिदमुपपादनम्। अर्थेन्द्रियादिगतो दोषः, तन्न तस्य पुरुषाश्रयत्वेनार्थगतकार्यस्योत्पादकत्वायोगात्। नापीन्द्रियाणि तेषां ज्ञानकारणत्वात्। नापि दुष्टानीन्द्रियाणि, तेषामपि स्वकार्यभूते ज्ञान एवहि विशेषकरत्वम्, अनादिमिथ्याज्ञानोपादानत्वं तु पूर्वमेव निरस्तम्।

जो लोग "अनिर्वचनीयमपूर्वरजतमत्र जातम्" ऐसा कहते हैं उन्हें वैसी रजतोत्पत्ति का कारण बतलाना होगा। वे रजत की प्रतीति को तो रजतोत्पादक कही नहीं सकते, क्योंकि—उत्पत्ति की पूर्व उसकी प्रतीति संभव नहीं है। प्रतीति पहले निर्विषयक होती है, बाद में रजतोत्पत्ति करके उस रजत को अपना विषय बनाती है ऐसा तो बड़े लोग ही कह

सकते है। चक्षु आदि इन्द्रियगत दोष, रजतोत्पादक हों, ऐसा भी समझ में नहीं आता, क्योंकि वह द्रष्टा पुरुष के आश्रय से ही हो सकता है, किसी वस्तु में किसी अन्य वस्तु को पैदा कर देने की सामर्थ्य दृष्टा पुरुष में तो होती नहीं। केवल इन्द्रियों में भी ऐसी सामर्थ्य नहीं है, वे तो केवल ज्ञानोत्पादक ही होती है। विकृत इन्द्रियाँ भी नई वस्तु पैदा नहीं कर सकती, वे तो अपने कार्य (ज्ञान) में ही वैचित्र्य प्रतीति कराती हैं। अनादिमिथ्या ज्ञान तो ऐसे उत्पादन का उपादान हो नहीं सकता, ऐसा पहिले भी कह चुके हैं।

किंच—अपूर्वमनिर्वचनीयमिदंवस्तुजातं रजतादिबुद्धि शब्दाभ्यां कथमिव विषयी क्रियते, न घटादि बुद्धिशब्दाभ्याम्? रजतादिसादृश्यादिति चेत् तर्हि तत्सदृशमित्येवप्रतीति शब्दौस्याताम्। रजतादिजातियोगादिति चेत्, सा किं परमार्थ,भूता अपरमार्थभूता वा? न तावत् परमार्थभूता, तस्या अपरमार्थान्वयायोगात्। नाप्यपरमार्थभूता, परमार्थान्वयायोगात्। अपरमार्थे परमार्थबुद्धि शब्दयो र्निवार्हकत्वायोगाच्चेत्यलमपरिणत कुतर्क निरसनेन।

एकबात और है – जब जागतिक सभी वस्तुएं अनिर्वचनीय हैं तो सीप मे रजत शब्द का ही प्रयोग क्यों किया जाता है तथा रजत प्रतीति ही क्यों होती है सीप को घट, प्याला आदि क्यों नहीं कहा जाता, घट क्यों नहीं समझा जाता? यदि कहो कि – रजत आदि के सादृश्य से ऐसा होता है; तो यह कहना चाहिए कि "यह उसके समान है" यदि रजत आदि जाति के योग से उक्त प्रकार की प्रतीति होती है, तो वह वास्तविक होती है या अवास्तविक? वास्तविक तो हो नहीं सकती क्योंकि – उसे असत्य नहीं कहा जा सकता। अवास्तविक भी नहीं हो सकती, क्योकि – उसे फिर सत्य नहीं कहा जा सकता। अयथार्थ वस्तु में यथार्थ साधन की क्षमता भी नहीं होती। अस्तु तत्वहीन कुतर्कों के निराकरण से अब विरत होते हैं।

अथवा—यथार्थ सर्वविज्ञानमिति वेदविदांमतम्, श्रुतिस्मृतिभ्यः सर्वस्य सर्वात्मत्वप्रतीतिः। बहुस्यामिति संकल्प पूर्वसृष्ट्-

यादि उपक्रमे, तासां त्रिवृतमेकैकामिति श्रुत्यैव चोदितम्। त्रिवृतकरणमेवंहि प्रत्येक्षेणोपलभ्यते, यदग्नेरोहितं रूपं तेजसस्तदपामपि शुक्लं कृष्णं पृथिव्याश्चेत् अग्नावेव त्रिरूपता, श्रुत्यैव दर्शितातस्मात् सर्वे सर्वत्र संगताः पुराणे चैवमेवोक्तं वैष्णवे सृष्ट्युपक्रमे। नानावीर्याः प्रथग्भूतास्ततस्ते संहतिं बिना, नाशक्नुवन् प्रजास्सृष्टुमसमागम्य कृत्स्नशः। समेत्यान्योन्यसयोगं परस्पर समाश्रयः, "महदाद्या विशेषान्ता हि अण्डम्" इत्यादिना ततः। सूत्रकारोऽपिभूतानां त्रिरूपत्वं तथाऽवदत्, "त्र्यात्मकत्वात्तु भूयस्त्वात्" इति तेनाभिधाभिदा। सोमाभावे च पूतीक ग्रहणं श्रुति चोदितम्, सोमावयवसद्भावाद् इति न्यायविदो विदुः। ब्रीह्यभावे च नीवार ग्रहणं ब्रीहिभावतः; तदेव सदृशं तस्य, यत्तद्द्रव्यैकदेशभाक्। शुक्त्यादौ रजतादेश्च भावः श्रुत्यैव बोधितः रूप्यशुक्त्यादि निर्देशभेदो भूयस्त्वहेतुकः। रूप्यादिसदृशश्चायं शुक्त्यादिरुपलभ्यते, अतस्तस्यात्र सद्भावः प्रतीतिरपि निश्चितः। कदाचिच्चक्षुरादेस्तु दोषाच्छुक्त्यंशवर्जितः, रजतांशो गृहीतोऽतो रजतार्थी प्रवर्त्तते। दोषहानौतु शुक्त्यंशे गृहीते तन्निवर्त्तते, अतोयथार्थं रूप्यादिविज्ञानं शुक्तिकादिषु। बाध्यबाधकभावोऽपि भूयस्त्वेनोपपद्यते, शुक्तिभूयस्त्ववैकल्यसाकल्य ग्रहरूपतः। नातो मिथ्यार्थं सत्यार्थंविषयत्वनिबन्धनः एवं सर्वस्य सर्वत्वे व्यवहार व्यवस्थितिः।

वेदवेत्ता विद्वानों (बोधायन, नाथमुनि, यामुनाचार्य और द्रविडाचार्य) का मत है कि—श्रुति स्मृति शास्त्रानुसार सभी वस्तुएं ब्रह्मात्मक होने से यथार्थ सत्य हैं। सृष्टि के उपक्रम में सृष्टा ने जो "बहुस्यां" और "तासांत्रिवृतमेकैकाम्" का संकल्प किया था उसी से जगत् की ब्रह्मात्मकता की पुष्टि होती है। त्रिवृत्करण और परस्पर मिश्रण का भाव प्रत्यक्ष दीखता है, अग्नि की रक्तिमा, जल की शुभ्रता तथा पृथिवी की

स्यामता उसी के उदाहरण हैं। इसी प्रकार एक ही अग्नि में भी तीन रूप देखें जाते है। श्रुति ने बतलाया है, कि सारे भूत सभी में मिश्रित है। विष्णु पुराण के सृष्टि प्रकरण मे भी बतलाया गया कि विभिन्न शक्ति वाले भूत बिना एक साथ मिले प्रजा की सृष्टि करने मे असमर्थ है। सारे ही भूत परस्पर मिलकर एक दूसरे के आश्रय से, महत्तत्व से लेकर अंतिम स्थूल ब्रह्माण्ड तक की सृष्टि करते है। "त्र्यात्मकत्वात्तु भूयस्त्वाद्" सूत्र में सूत्रकार भी इसी तथ्य की पुष्टि करते हैं।

वेदों में सोमलता के अभाव में पुतीक ग्रहण का विधान बतलाया गया है, मीमांसको का मत है कि, पुतीक में सोमलता अंश विद्यमान है इसीलिए उसके ग्रहण का विधान है। इसी प्रकार ब्रीहि के अभाव में, ब्रीहि अश युक्त नीवार के ग्रहण का विधान है।

शुक्ति आदि पदार्थ मे जो रजत आदि का भ्रम होता है, वह भी रजतांश के सद्भाव के कारण ही है, यह श्रुतिसम्मत विचार है। बाहुल्य के कारण रजत की, शुक्ति से पृथक प्रतीति होती है। शुक्ति में जो रजत की सदृशता दीखती है, उससे ही शुक्ति मे रजताश का सद्भाव निश्चित होता है। कभी चक्षु इन्द्रिय के दोष के कारण शुक्ति का शुक्तिभाव तिरोहित हो जाता है, चक्षु केवल रजतांश को ग्रहण करते है, जिसके फलस्वरूप हम उस वस्तु को प्राप्त करने के लिए उद्यत होते हैं। उक्त दृष्टि दोष के नष्ट हो जाने पर शुक्ति का शुक्तितत्व सुस्पष्ट परिलक्षित होने लगना है, तब हताश होकर लौट आते है। इस प्रकार रजत की होने वाली प्रतीति यथार्थ ही है, केवल शुक्ति अंश के आधिक्य के कारण बाध्य बाधक व्यवस्था होती है। जब शुक्ति के लघु अंश रजतभाव का ग्रहण होता है उसे ही भ्रम कहना चाहिए, जब उसके बहुलांश का ग्रहण होता है, उसे सत्य कहते है, प्रथम ज्ञान बाध्य और द्वितीय ज्ञान बाधक है। मिथ्या या असत्य की प्रतीति से बाध्य बाधक भाव होता हो सो बात नहीं है। हर वस्तु हर में मिश्रित है ऐसी व्यवहार की व्यवस्था करना समीचीन है।

स्वप्ने च प्राणिनां पुण्यपापानुगुणं भगवतैव तत्तत्पुरुषमात्रा- नुभाव्याः तत्तत्कालावसानाः तथाभूताश्चार्थाः सृज्यन्ते तथा हि श्रुति स्वप्न विषय "न तत्र रथाःन रथयोगाः न पंथानो भवंति,

अथ रथान् रथयोगात्पथः सृजते । न तत्राऽनंदा मुदः प्रमुदो भवंति, अथानन्दान्मुदः प्रमुदः सृजते । न तत्र वेशान्ताः पुष्करिण्यः स्रवंत्यो भवंति, अथ वेशांतान् पुष्करिण्यः स्रवन्त्यः सृजते । सहि कर्त्ता" इति यद्यपि सकलेतरपुरुषानुभाव्यतया तदानीं न भवंति, तथाऽपि तत्तत्पुरुषमात्रानुभाव्यतया तथाविधानर्थान् ईश्वरः सृजति, सहि कर्त्ता। तस्य संकल्पस्याश्चर्यशक्तेस्तथाविधं कर्त्तृत्वं संभवतीत्यर्थः।

स्वप्नावस्था में जगत्पति भगवान ही प्राणियों के पुण्यपाप के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति के भोगोपयोगी विषयों और तात्कालिक पदार्थों की सृष्टि करते हैं। वैसी ही स्वप्न विषयक श्रुति भी है—"न वहाँ रथ, न घोड़ा, न मार्ग ही रहता है, रथ घोड़े आदि की सृष्टि करते है, वहाँ आनन्द, मोद, प्रमोद नहीं रहता, आनन्द आदि की सृष्टि करते हैं, वहाँ तालाब, तलैया, बावली नहीं होते, तालाब आदि की सृष्टि करते है, वही संसार के कर्त्ता हैं।" यद्यपि मनुष्य के सारे ही अनुभाव्य पदार्थ उस समय नहीं रहते, परन्तु पुरुष की अर्हतानुसार अनुभाव्य पदार्थों को जो सृष्टि करते है, वही जगत के स्वामी हैं, वे ही सत्यसंकल्प, अनन्त-शक्ति सम्पन्न है, उन्हीं से ऐसी आश्चर्यमयी क्रिया संभव भी है।

य एष सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म, तदेवामृतमुच्यते, तस्मिंल्लोकाश्श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन" इति च। सूत्रकारोऽपि "संध्ये सृष्टिराह हि"— "निर्मातारं चैके पुत्रादयश्च" इति सूत्रद्वयेन स्वाप्नेष्वर्थेषु जीवस्य स्रष्टृत्वमाशंक्य, "मायामात्रं तु कार्त्स्न्येनानभिव्यक्त स्वरूपत्वात्" इत्यादिना न जीवस्य संकल्पमात्रेण स्रष्टृत्वमुत्पद्यते। जीवस्य स्वाभाविकसत्यसंकल्पत्वादेः कृत्स्नस्य संसारदशायामनभिव्यक्त स्वरूपत्वात्, ईश्वरस्यैव तत्तद् पुरुष मात्रानुभाव्यतया आश्चर्य भूता सृष्टिरयम्। "तस्मिल्लोकाश्श्रितास्सर्वे तदुनात्येति कश्चन्" इति परमात्मैव तत्र स्रष्टेत्यवगम्यते, इति परिहरति। अपवल्ग्वादिषु

शयानस्य स्वप्नसदृशः स्वदेहेनैव देशान्तरगमनराज्याभिषेकशिरश्छेदादयस्च पुण्यपापफलभूताश्शयान देहसरूपसंस्थान देहान्तर स्रष्ट्योपपद्यंते।

"मनुष्य के सोने पर वह जागता हुआ, पर्याप्त रूप से काम्यपदार्थों का निर्माण करता है, वही शुक्र, वही ब्रह्म, वही अमृत है, साराजगत उसी के आश्रित है, कोई भी उसे अतिक्रमण नही कर सकता।" इत्यादि भी उक्तमत की ही पुष्टि करते हैं। सूत्रकार भी "संध्ये सृष्टिराहहि" निर्मातारंपुत्रादयश्चैके" इत्यादि दो सूत्रों से स्वप्न पदार्थो की सृष्टि में जीव विषयक आशंका करके—"मायामात्र" इत्यादि सूत्र से जीव की संकल्प रहित सृष्टि क्रिया का निराकरण करते है। संसार दशा में जीव की सत्य संकलपता आदि विशेषतायें जब अव्यक्त रहती है, तब स्वप्न सृष्टि कैसे संभव है यह आश्चर्यमयी सृष्टि तो सत्य सकल्प ईश्वर की ही कृति है "सारे लोक इसी के आश्रित रहते है, इसका अतिक्रमण नहीं कर सकते इस वाक्य से स्वप्न सृष्टि परमात्मा की ही निश्चित होती है। इस दृष्टान्त से सूत्रकार जीव संबंधी आशका का समाधान करते हैं घर में सोया हुआ व्यक्ति, देशांतरगमन, राज्याभिषेक, शिरच्छेदन आदि विचित्रताओं की प्रतीति करता है। पाप पुण्य के फल भोग के लिए, तात्कालिक एक विशेष निर्मित देह से सारी क्रियायें होती हैं।

पीतशंखादौ तु नयनवर्तिपित्तद्रव्यसंभिन्ना नायनरश्मयः शंखादिभिः संयुज्यन्ते। तत्र पित्तगत पीतिमाभिभूतः शंखगत शुल्किमा न गृह्यते। अतः सुवर्णानुलिप्तशंखवत् पीतः शंख इति प्रतीयते। पित्त द्रव्यं तद्गत पीतिमा चातिसौक्ष्म्यात् पार्श्वस्थैः न गृह्यते। पित्तोपहतेन तु स्वनयन निष्क्रान्ततयाऽतिसमीप्यात् सूक्ष्मपि गृह्यते। तद् ग्रहण जनितसंस्कार सचिव नायनरश्मिभिः दूरस्थमपि गृह्यते।

पीतशंख की जो प्रतीति होती है, उसमें नयनगत पित्त से नयन रश्मियाँ मिश्रित हो जाती हैं, जिसके फलस्वरूप श्वेतशंख पीला दीखता है, वहाँ पित्तजन्य पीतिमा से अभिभूत शखगत शुल्किमा की प्रतीति नहीं हो पाती। इसलिए सुवर्ण रंजित शंख सा वह शंख पीला दीखता है।

अतिसूक्ष्म नयनगत पित्तजन्य पीतिमा निकटस्थ व्यक्ति को भी नही दीखती, परतु पित्ताक्रान्त व्यक्ति को वह अति निकट से परिलक्षित हो जाती है, क्योंकि उसके नेत्रों से ही वह सदा निकलती रहती है। इसी प्रकार दूरस्थ शंख भी नयन की पीत रश्मियों के द्वारा पीला अवभासित होता है।

जपाकुसुम समीपवर्तिस्फटिकमणिरपितत्प्रभाभिभूततया रक्त इति गृह्यते। जपाकुसुमप्रभाविततापिस्वच्छद्रव्य संयुक्ततया स्फुटतरमुपलभ्यते, इत्युपलब्धिव्यवस्थाप्यमिदम्।

मरीचिका जलज्ञानेऽपि तेजः पृथिव्योरप्यम्बुनो विद्यमानत्वात् इन्द्रियदोषेण तेजः पृथिव्योरग्रहणादृष्टवशाच्चाम्बुनोग्रहणाद्यथार्थत्वम्।

अलातचक्रेऽप्यलातस्यद्रुततरगमनेन सर्वदेशसंयोगादंतरालाग्रहणात्तथा प्रतीतिरुपपद्यते। चक्रप्रतीतावप्यन्तरालाग्रहणपूर्वकतत्तद्देशसंयुक्ततत्तद्वस्तु ग्रहणमेव। क्वचिदंतरालाभावात् अन्तरालाग्रहणम् क्वचिच्छैघ्र्यादग्रहणमिति विशेषः। अतस्तदपि यथार्थम्।

दर्पणादिषु निजमुखादि प्रतीतिरपि यथार्था। दर्पणादि प्रतिहतगतयो हि नायनरश्मयो दर्पणादिदेशग्रहणपूर्वकं निजमुखादिग्रह्यंति तत्रापि अतिशैघ्र्यादन्तरालाग्रहणात्तथा प्रतीतिः।

जपाकुसुम की निकस्थ स्फटिकमणि, उसकी कांति से अभिभूत होकर रक्तवर्ण की दिखलाई देती है। जपाकुसुम की प्रभा चारों ओर फैलती हुई, स्वच्छ द्रव्य से मिश्रित होकर स्पष्ट रूप से देखी जाती है, इसकी प्रतीति का यही स्वरूप है, जो कि यथार्थ है।

मरीचिका में जो जल की प्रतीति होती है, वह भी तेज और पृथ्वी में जो जलीय अंश है उसी का भान होने से होती है, इन्द्रियगत दोष के कारण उस समय पृथ्वी और तेजीय अशों की प्रतीति नहीं हो पाती इसलिए यह ज्ञान भी यथार्थ है।

अलातचक्र की जो चक्राकार प्रतीति होती है, उससे मध्यवर्ती अवकाश की प्रतीत न होने का कारण, चक्र की तेज चाल है, इसलिए चक्राकार प्रतीति भी असत्य नहीं है।

दर्पण, जल आदि में अपने मुख आदि की प्रतीति भी यथार्थ है। दर्पण पर पड़ने वाली नयन रश्मियों के प्रकाश से मुखाकृति की प्रतीति होती है; मुख और दर्पण के मध्यवर्ती अन्तराल और रश्मियों के त्वरित विक्षेप के कारण कभी-कभी वैसी प्रतीति नहीं भी होती।

दिङ्मोहे अपिदिगन्तरस्यास्यां दिशि विद्यमानत्वात् अदृष्टवशेनैतद्दिगंश वियुक्तो दिगन्तरांशो गृह्यते । अतो दिगन्तरप्रतीतिर्यथार्थैव।

द्विचन्द्रज्ञानादावपि अंगुल्यवष्टम्भ तिमिरादिभिः नायनतेजोगतिभेदेन सामाग्री भेदात् सामग्रीद्वयमन्योन्यानिरपेक्षं चन्द्रग्रहण द्वयहेतुर्भवति। तत्रैका सामग्री स्वदेशविशिष्ट चन्द्रं ग्रहणाति द्वितीयातु किंचित् वक्रगतिश्चन्द्र समीपदेशग्रहणपूर्वकं चन्द्रं स्वदेश वियुक्तं गृहणाति। अतः सामग्रीद्वयेन युगपद्देशद्वयविशिष्ट चन्द्र ग्रहणे ग्रहणभेदेन ग्राह्याकारभेदादेकत्वग्रहणाभावाच्च द्वौ चन्द्राविति भवति प्रतीतिविशेषः। देशान्तरस्य तद्विशेषणत्वं, देशान्तरस्य च, अगृहीत स्वदेशचंद्रस्य च निरन्तर ग्रहणेन भवति। तत्र सामग्री द्वित्वं पारमार्थिकम्। तेन देशद्वयविशिष्ट चन्द्रग्रहणद्वयं च पारमार्थिकं। ग्रहणद्वित्वेन चन्द्रस्यैव ग्राह्याकार द्वित्वं च पारमार्थिकम्। तत्रविशेषणद्वयविशिष्ट चन्द्रग्रहणद्वयस्यैक एव चन्द्रोग्राह्य इति ग्रहणे प्रतिज्ञानवत् केवल चक्षुः सामर्थ्याभावात् चाक्षुषज्ञानं तथैवावतिष्ठते। द्वयोश्चक्षुषोरेक सामग्रयन्तर्भावेऽपि तिमिरादिदोषभिन्नं चाक्षुषं तेजः सामग्रीद्वयं भवति इति कार्यकल्प्यम्। अपगते

तु दोषे स्वदेशविशिष्टस्य चन्द्रस्यैकग्रहण वेद्यत्वादेकश्चन्द्रः इति भवति प्रत्ययः। दोषकृतं तु सामग्री द्वित्व तत्कृत ग्रहणद्वित्वं; तत्कृतं ग्राह्याकार द्वित्वं चेति निरवद्यम्।

दिग्भ्रम में भी, भ्रांत दिशा का, अन्यान्य दिशाओं से संबंध होने के कारण, केवल मात्र एक ही दिशा का जो ज्ञान होता है, वह भी यथार्थ ही है, क्योंकि ठीक से न देख पाने के कारण गन्तव्य दिशा की ओर न जाकर दूसरी दिशा की ओर भटकना हो जाता है।

आँख पर अंगुली रखने से चाक्षुष रश्मियाँ दो भागों में विभक्त हो जाती हैं, जिससे दो चन्द्रो का भान होता है, रश्मियों का एक भाग तो ठीक चन्द्रमा के सामने पड़ता है, दूसरा भाग तिरछा होकर कुछ दूर दूसरे चन्द्र को देखता है, इस प्रकार दो चन्द्रों की प्रतीति होती है। नेत्र रश्मियाँ हैं तो सत्य ही, इसलिए उनके द्वारा स्वतंत्र रूप से जो दो चन्द्र देखे जाते हैं, वह प्रतीति भी यथार्थ ही है प्रत्यभिज्ञा में केवल नेत्र ही ज्ञान के साधन नहीं होते, अपितु पूर्व संस्कार भी अपेक्षित होता है। दो चन्द्रों की भिन्न प्रतीति करते हुए भी, जो एक चन्द्र का निश्चित ज्ञान बना रहता है, वह पूर्वसंस्कारजन्य ही रहता है। दोनों नेत्र एक ही कार्य करते है, फिर भी चाक्षुष तेज में तिमिरादि (रोगविशेष) के दोष से त्रों के कार्य में विभिन्नता आ जाने के कारण भी दो चन्द्रों की प्रतीति होती है, दोष के ज्ञान हो जाने पर सही अवगति होती है, तब दो के बजाय एक ही चन्द्र प्रतीत होने लगता है। दोष के कारण ही, साधन में द्वैत होता है, साधन द्वैत से ज्ञान में द्वैत होता है और उनके अनुसार चन्द्र दो प्रतीत होते हैं। इनसे ज्ञात होता है, कि उक्त द्वैत प्रतीति यथार्थ है।

अतः सर्वविज्ञानजातं यथार्थमिति सिद्धम्। ख्यात्यंतराणां दूषणानि तैस्तैर्वादिभिरेव प्रपंचितानीति न तत्र यत्नः क्रियते। अथवा किमनेन बहुनोपपादनप्रकारेण। प्रत्यक्षानुमानागमाख्यं प्रमाणजातमागम्यं च निरस्तनिखिलदोषगंधमनवधिकातिशयसंख्येयकल्याणगुणगणं सर्वज्ञं सत्यसंकल्पं परंब्रह्माप्युपगच्छतां किं न सेत्स्यति। किं नोपपद्यते। भगवताहि परेणब्रह्मणा क्षेत्रज्ञपुण्य-

प.पानुगु तद् ध्यत्वायाखिल ज त् सृजता सुखदु.खोऽपेक्षाफलानु-भवानुभाव्याः पदार्था. सर्वसाधारणानु भव विषयाः, केचन् तत्पुरुष-मात्रानुभवविषयाः तत्तत्कालावसानाः तथातथाऽनुभाव्याः सृज्यन्ते। तत्र बाध्यबाधकभावः सर्वानुभवविषयतया तद्रहिततया चोपपद्-यत इति सर्वं समंजसम्।

उक्त द्रष्टान्तों से सिद्ध हो चुका कि प्रतीयमान समस्त जगत यथार्थ है। ख्यातियों में जो दोष है, वे स्वयं ख्यातिवादियों द्वारा परस्पर निरा-कृत हो चुके है, उसके लिए हमनें प्रयास नही किया। बहुत अधिक समर्थन की चेष्टा से कोई विशेष लाभ भी नही है। जो लोग, प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम (शास्त्र) प्रमाण मानते है तथा समस्त दोषों से रहित—, न्यूनाधिक भावरहित—असंख्य कल्याणमयगुण विभूषित—सत्य-संकल्प—सर्वज्ञ- आदि गुण विशिष्ट परब्रह्म का अस्तित्व भी स्वीकारते हैं, उनकी दृष्टि में तो कुछ भी परिहार्य और असंगत नहीं है। परब्रह्म भगवान—जीव के पाप पुण्य के अनुसार, सुख दुःखों से अपेक्षित फलवाले जिन जीवोपभोग्य पदार्थों का सर्जन करते हैं; उनमें कुछ सर्वसाधारण के अनुभव के योग्य, कुछ व्यक्ति विशेष के अनुभव के योग्य, एवं कुछ विशेष समय में अनुभव योग्य होते हैं। वे सृष्ट पदार्थ परस्पर बाध्य बाधक भाव से सर्वानुभूतविषयक और व्यक्ति विशेष के अनुभव विषयक होने से उपपन्न और सुसंगत होते हैं।

यत् पुनः सदसदनिर्वचनीयमज्ञानं श्रुतिसिद्धमिति, तदसत्। "अनृतेन हि प्रत्यूढाः" इत्यादिष्वनृतशब्दस्यानिर्वचनीयानभिधा-यित्वात्। ऋतेतरविषयो हि अनृत शब्दः। ऋतमिति कर्म वाचि। "ऋतं पिबन्तौ" इति वचनात्। ऋतं कर्मफलाभिसंधिरहितं, परं पुरुषाराधानवेषं तत्प्राप्तिफलम्। अत्र तद्व्यतिरिक्तं संसारिकफलं कर्मानृतं ब्रह्म प्राप्ति विरोधि" एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्ति अनृतेन हि प्रत्यूढाः" इति वचनात्।

और जो—सदसद् अनिर्वचनीय अज्ञान को श्रुति संम्मत बतलाया, वह भी असंगत बात है। "अनृतेन हि प्रत्यूढा." वाक्य में प्रयुक्त "अनृत"

शब्द अनिर्वचनीयता का बोधक नहीं हैं। "अनृत" शब्द तो "ऋत" से अतिरिक्त विषय का बोधक है। "ऋत" शब्द कर्मवाची है, "ऋतं-पिबन्तौ" वाक्य से इस अर्थ की प्रतीति होती है "ऋत" अर्थात् कर्मफल की अभिसंधि (शर्त) रहित, भगवत् प्राप्ति साधक, भगवदाराधन रूप कर्म भी "ऋत" शब्द का वाच्यार्थ है। उससे भिन्न, सकाम सांसारिक फल वाला कर्म "अनृत" है, जो कि--ब्रह्मप्राप्ति में बाधक है। "इस ब्रह्मलोक को प्राप्त नहीं करते, जो कि--अनृत (सकाम कर्म) से आवृत हैं "इस वाक्य से उक्त अर्थ की ही प्रतीति होती है।

"नासदासीन्नोसदासीत्" इत्यत्रापि सदसच्छब्दो चिदचिद् व्यष्टि विषयौ। उत्पत्तिवेलायां सत्त्यच्छब्दाभिहितयोश्चिदचिद् व्यष्टिभूतयोः वस्तुनोऽपि अकाले अचित्समष्टिभूते तमः शब्दाभि-धेये वस्तुनि प्रलय प्रतिपादनपरत्वात् अस्य वाक्यस्य। नात्र कस्यचित् सदसदनिर्वचनीयतोच्यते, सद्सतोः कालविशेषे असद-भावमात्र वचनात्। अत्रतमः शब्दाभिहितस्य अचित्समष्टित्वं श्रुत्यन्तरादवगम्यते– "अव्यक्तमक्षरेलीयते, अक्षरं तमसि लीयते" इति। सत्यम् तमः शब्देनाचित् समष्टिरूपायाः प्रकृतेः सूक्ष्मावस्थो-च्यते। तस्यास्तु "मायांतु प्रकृतिं विद्यात्" इति मायाशब्देनाभिधा-नादनिर्वचनीयत्वमिति चेत्, नैतदेवम्, मायाशब्दस्यानिर्वचनीयवा-चित्वं न दृष्टं इति। मायाशब्दस्य मिथ्यापर्यायित्वेनानिर्वचनीयवा-चित्वमिति चेत्, तदपि नास्त्ति, नहि सर्वत्र मायाशब्दो मिथ्या विषयः। आसुरराक्षसशास्त्रादिषु सत्येष्वेव मायाशब्द प्रयोगात्। यथोक्तम्---"तेन मायासहस्रं तच्छम्बरस्याऽशुगामिना, बालस्य रक्षतादेहमैकैकश्येनसूदितम्" इति। अतोमायाशब्दो विचित्रा-र्थसर्गकराभिधायी। प्रकृतेश्च मायाशब्दाभिधानं विचित्रार्थ सर्गकरत्वादेव। अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्तस्मिंश्चान्यो मायया सन्निरुद्धः "इति मायाशब्दवाच्यायाः प्रकृतेर्विचित्रार्थसर्गकरत्वं

दर्शयति। परं पुरुषस्य च तद्वत्तामात्रेण मायित्वमुच्यते, नाज्ञत्वेन जीवस्यैव हि मायया निरोधः श्रूयते। "तस्मिश्चान्यो मायया सन्निरुद्धः" इति, "अनादिमायया सुप्तोयदा जीवः प्रबुध्यते" इति च। "इन्द्रोमायाभिः पुरुरूप ईयते" इत्यत्रापि विचित्राः शक्तयोऽभिधीयन्ते। अत एवहि "भूरित्वष्टेव राजति" इत्युच्यते, नाऽसि "मिथ्याभिभूतः कश्चिद्विराजते"। "मम माया दुरत्यया" इत्यत्रापि गुणमयीति वचनात् सैव त्रिगुणात्मिका प्रकृतिः उच्यते इति। न श्रुतिभिः सदसदनिर्वचनीय अज्ञान प्रतिपादनम्।

"सृष्टि से पूर्व सद् भी नही था, असद् भी नही था" इस वाक्य में सद् असद् शब्द, चेतन-जड व्यष्टि बोधक है। उत्पत्ति के समय "सत्" और 'त्यत्" शब्द से व्यष्टि रूप, जडचेतन वस्तु का निरूपण, किया गया है, वह प्रलय के समय "अचित् रूप समष्टि "तम" शब्द वाक्य प्रकृति में लीन हो जाती हैं, यही उक्त वाक्य का तात्पर्य है। इस वाक्य में सद्असद् अनिर्वचनीयता की कोई चर्चा नही है। सद् और असद् वस्तु किसी काल विशेष मे रहती ही नहीं, यही बतलाया गया है। "तम" शब्द वाक्य, अचित् समष्टि अर्थ, एक दूसरी श्रुति में इस प्रकार बतलाया गया है- "अव्यक्त अक्षर में लीन हो जाता है, अक्षर तम में लीन हो जाता है, तम परमात्मा से एकीभूत हो जाता है" इत्यादि।

यदि कहो कि—"तम" शब्द से अचित् समिष्ट रूप प्रकृति की सूक्ष्मावस्था बतलाई गई है, यह बात तो यथार्थ है, परन्तु "मायां तु प्रकृतिं विद्यात्" इस वाक्य से "माया" शब्द वाक्य अनिर्वचनीय ही ज्ञात होता है। "यह कथन असंगत है, क्योंकि—माया शब्द की अनिर्वचनीयता का कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता। यदि कहो कि—माया शब्द मिथ्या का पर्यायवाची है, इसलिए अनिर्वचनीय है, सो भी नहीं हो सकता - सभी जगह माया शब्द मिथ्या बोधक नहीं है, असुर, राक्षस, शस्त्र आदि में भी माया शब्द का प्रयोग देखा जाता है - जैसे कि— "शीघ्रगामी सुदर्शन द्वारा प्रह्लाद की देह रक्षा के लिए, शंबरासुर के हजारों माया (असुर) एक एक करके नष्ट कर दिये गए"। इससे ज्ञात

होता है कि—आश्चर्य कर वस्तु सृष्टि "माया" शब्द वाच्यार्थ है, मिथ्या वस्तु नहीं। विचित्र सृष्टि कारिणी प्रकृति के लिये प्रायः माया शब्द का प्रयोग किया गया है।

"मायी परमेश्वर इसी के द्वारा जगत की सृष्टि करता है, तथा जीव इससे आबद्ध है" इस वाक्य से माया शब्द वाच्य प्रकृति की विचित्र सृष्टि कारिता प्रतीत होती है। परमपुरुष परमात्मा माया संबद्ध होने से मायी कहे गये है, अज्ञ होने से उन्हें मायी नहीं कहा गया है। जीव में, माया शक्ति का संकोच बतलाया है। "तस्मिंश्चान्यो—" "अनादि माया सुप्तो—" 'इन्द्रोमायाभि०' इत्यादि वाक्यो में माया शब्द परमेश्वर की शक्ति वैचित्र्य का ही वाचक है। इसीलिए परमेश्वर को भूरित्वष्टैव राजति" कहा गया है, यदि माया शब्द मिथ्यावाची होता तो उक्त वाक्य के स्थान पर "मिथ्याभूतः कश्चित् विराजते" कहा जाता। मम माया दुरत्यया" इस गीता वाक्य में भी "गुणमयी" पद से उसी त्रिगुणात्मिका प्रकृति का उल्लेख किया गया है। इस से ज्ञात होता है कि—कोई भी श्रुति सदसद् अनिर्वचनीया माया का समर्थन नही करती।

नाप्यैक्योपदेशानुपपत्त्या; नहि "तत्त्वमसि" इति जीवपरयोरैक्योपदेशे सति सर्वज्ञेसत्यसंकल्पेसकलजगत्सर्गस्थितिविनाश हेतुभूते तच्छब्दावगते प्रकृतेब्रह्मणि, विरुद्धज्ञानपरिकल्पनाहेतु भूता कादाचिदप्यनुपपत्तिर्दृश्यते। ऐक्योपदेशस्तु "त्वं" शब्देनापि जीव शरीरकस्य ब्रह्मणएवाभिधानादुपपन्नतरः। "अनेन जोवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपेव्याकरवाणि" इति सर्वस्य वस्तुनः परमात्मपर्यन्तस्यैव हि नामरूपभाक्त्वमुक्तम्। अतो न ब्रह्माज्ञान परिकल्पनम्। इतिहासपुराणयोरपि न ब्रह्मज्ञानवादः क्वचिदपि दृश्यते।

श्रुति प्रतिपाद्य ऐक्योपदेश से भी ब्रह्माज्ञान कल्पना समझ में नहीं आती। "तत्त्वमसि" जीव परमात्मा के ऐक्योपदेश के प्रसंग में सर्वज्ञ, सत्य संकल्प, जगत् की सृष्टि स्थिति संहार के कारण परब्रह्म ही "तत्" शब्द वाच्य है, "त्वं" पद भी जीवशरीरीब्रह्म का ही वाचक है। इसलिए ब्रह्माज्ञान की कल्पना समझ में नहीं आती। "इसजीव में प्रवेश

कर नामरूप की अभिव्यक्ति करूँ" इस श्रुति में परमात्मा पर्यन्त समस्त वस्तुओं को नामरूपात्मक बतलाया गया है इसलिए ब्रह्म में अज्ञान कल्पना निष्प्रयोजन सिद्ध होती है। इतिहास पुराण में भी ब्रह्मज्ञानवाद की कहीं चर्चा नही है।

ननु—"ज्योतींषिविष्णु:" इति ब्रह्मैकमेव न त्वमिति प्रतिज्ञाय "ज्ञानस्वरूपो भगवन्यतोऽसौ" इति शैलाब्धिधरादिभेद भिन्नस्य जगतो ज्ञानैकस्वरूपब्रह्माज्ञानविजृम्भितत्वमभिधाय "यदा तु शुद्धं निजरूपस्यैव ब्रह्मण: स्वस्वरूपावस्थितिवेलायां वस्तुभेदाभावदर्शनेनाज्ञान "विजृंभितत्वमेव स्थिरीकृत्य" वस्त्वस्ति कि ? "महीघटत्वम्" इति श्लोकद्वयेन जगदुपलब्धि प्रकारेणापि "वस्तुभेदानाम "सत्यत्वमुपपाद्यतस्मात् विज्ञानमृते" इति प्रतिज्ञातं ब्रह्मव्यतिरिक्त स्यासत्यत्वमुपसंहृत्य "विज्ञानमेक" इति ज्ञानस्वरूपे ब्रह्मणि भेददर्शननिमित्ताज्ञानमूलं निजकर्मैवेति स्फुटीकृत्य 'ज्ञानं विशुद्धम्" इति ज्ञानस्वरूपस्य ब्रह्मण: स्वरूपं विशोध्य "सद्भाव एवं भवतो मयोक्त:" इति ज्ञानस्वरूपस्य ब्रह्मण: एव सत्यत्वं नान्यस्य, अन्यस्यचासत्यत्वमेव, तस्य भुवनादे: सत्यत्वं व्यावहारिकमिति, तत्त्वं तवोपदिष्टमिति हि उपदेशो दृश्यते।

(शका) विष्णु पुराण मे "विष्णु ज्योति स्वरूप है" इत्यादि श्लोक से ब्रह्म को ही एक मात्र तत्त्व बतला कर—"भगवान ज्ञान स्वरूप है" इत्यादि श्लोक मे, शैल समुद्र पृथिवी आदि भेदवाले जगत को ज्ञानमयब्रह्म के अज्ञान से उत्पन्न बतलाकर—"ब्रह्म जब विशुद्ध स्वरूप प्राप्त करता है" इत्यादि श्लोक से ज्ञान स्वरूप ब्रह्म की अपनी स्वरूपावास्थिति वस्तु भेद का अभाव बतलाकर—अज्ञान जन्यता की पुष्टि की गई है फिर बाद में "यथार्थ वस्तु क्या है ?"—"पहिले पृथिवी फिर घट होता है" इत्यादि श्लोक से विभिन्न वस्तु पूर्णजगत की असत्यता का समर्थन करते हुए "विज्ञान से भिन्न कुछ नही है" इस पूर्व प्रतिज्ञात ब्रह्म भिन्न जगत की असत्यता का उपसंहार किया गया है। "विज्ञान ही एकमात्र सत्य है" इसमे ज्ञानस्वरूप ब्रह्म मे भेद दृष्टि करने वाला, अज्ञान मूलक ब्रह्म का

अपना कर्म ही बतलाया गया है, फिर बाद में "विशुद्ध ज्ञान स्वरूप ब्रह्म के विशुद्ध स्वरूप का निर्देश किया गया है। "मैंने इस प्रकार सद्भाव का निरूपण किया" इत्यादि श्लोकों का तात्पर्य है कि—"ज्ञानस्वरूप ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है, बाकी सब मिथ्या है, भुवन आदि समस्त पदार्थों की व्यावहारिक सत्यता है, मैंने तत्त्व की बात तुम्हें बतलादी" ऐसा उपदेश प्रतीत होता है।

नैतदेवम्— अत्र भुवनकोषस्य विस्तीर्णं स्वरूपमुक्त्वा पूर्व-मुक्तं रूपान्तरम् संक्षेपतः "श्रूयतामित्यारभ्याभिधीयते। चिदचिद् मिश्रे जगति चिदंशो वाङ्मनसागोचरस्वसंवेद्य स्वरूपभेदो ज्ञानैक्याकारतयाअस्पृष्टप्राकृतभेदो विनाशीति नास्तिशब्दाभि-धेयः। उभयंतु परब्रह्मरूप वासुदेव शरीरतया तदात्मकामित्येतद्-रूपं संक्षेपेणरत्राभिहितम्।

(समाधान) बात ऐसी नहीं है—उक्त प्रकरण में भुवनकोष का विस्तृत स्वरूप बतलाकर, "श्रूयताम्" से उक्त वस्तु का सूक्ष्म रूप संक्षेप रूप से बतलाया गया है उसमें बतलाता गया कि—यह जगत् जडचेतनमय है; इसका चैतन्यांश—वाङ्मनसगोचर, केवल आत्मवेद्य, विविध भागों-वाला, ज्ञानाकार, अविनाशी. "अस्ति" शब्द वाच्य है। जीव के कर्मफल से विविध भेदों और आकारों में परिणत जड अंश, विनाशशील "नास्ति" पदवाच्य है दोनों ही परब्रह्म वासुदेव के शरीर, तदात्मक हैं, ऐसा ही संक्षिप्तरूप से स्वरूप का विवेचन किया गया है।

तथापि—"यदम्बु वैष्णवः कायस्ततोविप्रवसुंधरा, पद्माकारा समुद्भूता पर्वताब्ध्यादिसंयुता।" इत्यम्बुने विष्णोः शरीरत्वेन अम्बुपरिणामभूतं ब्रह्माण्डमपि विष्णोः कायः, तस्य च विष्णुरा-त्मेति सकल श्रुतिगततादात्म्योपदेशोपबृंहणरूपस्य सामानाधिकर-ण्यस्य "ज्योतींषिविष्णुः" इत्यारभ्य वक्ष्यमाणस्य शरीरात्मभाव एव निबंधनमित्याहुः। अस्मिन् शास्त्रे पूर्वमपि एतदसकृदुक्तम्— "तानि सर्वाणि तद्वपुः"—"सत्सर्वं वै हरेस्तनुः"— "स एव

सर्वभूतात्मा विश्वरूपोयतोऽव्यय." इति । तदिदंशरीरात्म भावयत्तं तादात्म्यं सामानाधिकरण्येन व्यपदिश्यते 'ज्योतींषि विष्णुः" इति ।

उक्त तथ्य को ही अन्य श्लोक में बतलाते हैं—"विष्णु के शरीर रूप जल से शैल, सागर आदि युक्त पद्माकार वसुंधरा उत्पन्न हुई" इसमे जल को, विष्णु के शरीररूप से बतलाकर जल के परिणाम रूप इस जगत को भी उनका शरीर स्थानीय कहा गया है। अन्यान्य श्रुतियों मे भी विष्णु को ब्रह्माण्ड की आत्मा बतलाकर ब्रह्माण्ड और विष्णु का सामानाधिकरण्य अभेद बतलाया गया है। ऐसा शरीरात्मभाव ही "ज्योतींषि विष्णुः" से बतलाया गया है। इस शास्त्र में "वह सब उन्ही का शरीर है"—वह सब हरि का तनु है—वह विश्वरूप अव्यय, सभी भूतो के आत्मा हैं।" इत्यादि वाक्यो से यहीबात कईबार कही गई है। शरीरात्मभाव तादात्म्य ही "ज्योतींषि विष्णुः" मे सामान्याधिकरण रूप से कहा गया है।

अनास्त्यात्मकनास्त्यात्मक च जगदन्तर्गतवस्तु विष्णोः कायतया विष्ण्वात्मकमित्युक्तम्। इदमस्त्यात्मक, इदंनास्त्यात्मकं, अस्य च नास्त्यात्मकत्वे हेतुरयमित्याह 'ज्ञानस्वरूपो भगवान्यतोऽसौ"—इति अशेषक्षेत्रज्ञात्मनाऽवस्थितस्य भगवतो ज्ञानमेव स्वाभाविकं रूपम्। नदेवमनुष्यादि वस्तुरूपम्। यदेवं, तदेवाचित् रूप देवमनुष्यशैलाब्धिधरादयश्च तद्विज्ञान विजृम्भिता; तस्य ज्ञानैकाकारस्य सतो देवाद्याकारेण स्वात्मवैविध्यानुसंधान मूलाः देवाद्याकारानुसंधानमूलकर्ममूला इत्यर्थः। यतश्चाचिद्वस्तु क्षेत्रज्ञकर्मानुगुणपरिणामास्पदं, ततस्तन्नास्ति शब्दाभिधेयम्। इतरदस्ति शब्दाभिधेयमित्यर्थादुक्तं भवति। तदेव विवृणोति—'यदा तु शुद्धं निजरूपि" इति। यदैतद् ज्ञानैक्याकारमात्मवस्तु देवाद्याकारेण स्वात्मनि वैविध्यानुसंधानमूलं सर्वकर्मक्षयाद् निर्दोषं परिशुद्धं निजरूपि भवति, तदा देवाद्याकारेणैकीकृत्यात्मकल्पनामूल कर्मफलभूतास्तद्भोगार्थाः वस्तुषु वस्तुभेदाः न भवति।

इस जगत में अस्त्यात्म ओर नास्त्यात्मक वस्तुएं विष्णु की शरीर स्थानीय होने से विष्ण्वात्मक कही गई है। सत् और असत् दोनो में, असत् रूप का कारण इस प्रकार बतलाया एया है--"ज्ञान स्वरूप भगवान इस जगत् में व्याप्त है।" इस वाक्य में बतलाया गया कि--समस्त जीवों में स्थित भगवान का ज्ञानमय रूप ही स्वाभाविक है, देव मनुष्य आदि वस्तु रूप स्वाभाविक नही है। जड देव मनुष्य शैल समुद्र आदि भेद उन्ही के ज्ञान (इच्छा) से स्वयंभूत है, अर्थात् एकमात्र ज्ञानस्वरूप भगवान की जो विविध वैचित्र्य जनक, देव, मनुष्य, शैल, समुद्र आदि आकार स्मारक कर्मराशि है, वही विचित्रता की प्रतीति कराने वाली है। अचिद् वस्तुएं. जीवो के कर्मानुरूप परिणामवाली है, इसलिए "नास्ति" पद वाच्य है। इससे भिन्न चिद् वस्तु "अस्ति" पद वाच्य है यह भी इसी से ज्ञात होता है। यही बात "यदा तु शुद्ध निजरूपि" इत्यादि में विस्तृत रूप से वर्णित है। एकमात्र ज्ञानस्वरूप आत्मा मे जो देव मनुष्य आदि रूप से विविध वैचित्य आरोपित होता है, उसका एकमात्र कारण कर्म ही है, उन समस्त कर्मों के क्षीण हो जाने पर, जीवात्मा अपने निर्दोष वास्तविक स्वरूप को प्राप्त करता है। उस स्थिति मे, देव आदि रूप में आत्मभाव की कल्पना की मूलकारण कर्मराशि विनष्ट हो जाती है तथा कर्मफलानुयायी भोगप्रद वस्तुभेद भी नही रह जाते।

ये देवादिषुवस्तुष्वात्मतयाभिमतेषु भोग्यभूता देवमनुष्यशैलाब्धिधरादिवस्तुभेदाः, ते तन्मूलभूतकर्मसु विनष्टेषु न भवंति इति अचिद् वस्तुनः कादाचित्कावस्थाविशेषयोगितया नास्तिशब्दाभिधेयत्वं, इतरस्य सर्वदा निजसिद्धज्ञानैक्याकारत्वेन अस्तिशब्दाभिधेयमित्यर्थः। प्रतिक्षणमन्यथाभूततया कादाचित्कावस्था योगिनोऽचिद्वस्तुनो नास्तिशब्दाभिधेयत्वमेवेत्याह—"वस्त्वस्ति किम् ?" इति। अस्ति शब्दाभिधेयो हि आदिमध्यपर्यन्तहीनः सततैकरूपः पदार्थः तस्य कदाचिदपि नास्ति बुद्ध्यनर्हत्वात्। अचिद्वस्तु किंचिद् क्वचिदपि तथाभूतं न दृष्टचंर।

देव आदि वस्तुओ में जो आत्मभाव से अभिमत, देव-मनुष्य, शैल-समुद्र-पृथिवी आदि वस्तु भेद है, वे अपने मूल भूत कर्म के विनष्ट हो जाने पर समाप्त हो जाते है। जड़ वस्तु की यह भेद स्थिति सीमित काल वाली होती है, इसीलिए उसे "नास्ति" शब्द से कहा गया है। चिद् वस्तु स्वतः सिद्ध, ज्ञानस्वरूप, सदाविद्यमान रहने वाली होने से "अस्ति" शब्द वाच्य है। प्रतिक्षण में परिवर्त्तनशील, अनियमित स्थिति वाली अचिद् वस्तु की नास्ति शब्द वाच्यता "वस्त्वस्ति किम् ?" इत्यादि श्लोक मे वर्णित है। "आदिमध्यान्तरहित सदा एकसी रहने वाली "अस्ति" शब्द वाच्य वस्तु में, कभी भी "नास्ति" बुद्धि नहीं हो सकती। इसके विपरीत अचिद् वस्तु कही, कभी उक्त रूप में हो नही सकती।

ततः किमित्यत्राह ? "यच्चान्यथात्वमिति" यद्वस्तु प्रतिक्षण अन्यथात्वं याति, तदुत्तरोत्तरावस्था प्राप्त्या पूर्वपूर्वावस्थां जहातीति तस्यपूर्वावस्थस्योत्तरावस्थायां न प्रतिसंधानमस्ति। अतः सर्वदा तस्य नास्तिशब्दाभिधेयत्वमिति। तथाहि उपलभ्यत इत्याह—"मही घटत्वम्" इति। स्वकर्मणादेव मनुष्यत्वादिभावेन स्तिमितात्मनिश्चयैः स्वभोग्यभूतमचिद्वस्तु प्रतिक्षणमन्यन्थाभूतमालक्ष्यते अनुभूयत इत्यर्थः। एवं सति किमप्यचिद्वस्तु अस्तिशब्दार्हमादिमध्यमन्तहीनं सततैक रूपमालक्षितमस्ति किं ? न हि अस्तीति अभिप्रायः। यस्मादेवं तस्मात् ज्ञानस्वरूपमात्मव्यतिरिक्तमचिद्वस्तु कदाचित्क्वचित् केवलास्ति शब्दवाच्यं न भवतीत्याह "तस्मान्नविज्ञानमृते" इति। आत्मा तु सर्वत्र ज्ञानैकाकारतया देवादिभेद प्रत्यनीक स्वरूपोऽपि देवादिशरीर प्रवेश हेतुभूत स्वकृत विविध कर्ममूल देवादिभेदभिन्नात्मबुद्धिभिः तेनतेन रूपेण बहुधाऽनुसंहित इति, तद्भेदानुसंधानं नात्मस्वरूप प्रयुक्तमित्याह "विज्ञानमेकमिति"।

यदि कहो कि, उससे क्या होता है ? (उत्तर) अन्यथात्व होता है, अर्थात्—जो वस्तु प्रतिक्षण परिवर्त्तित होती रहती है, वह उत्तरोत्तर अवस्था को प्राप्त करती हुई पूर्वावस्थाओं को छोड़ती जाती है उसकी

उन पूर्वावस्थाओं का उत्तरोत्तरावस्थाओं में स्मरण नहीं रहता इसलिए उसके लिए सदा "नास्ति" शब्द का प्रयोग होता है। "पृथिवी घटरूपता करती है" इत्यादि श्लोक में उक्त उपलब्धि की बात ही कही गई है। जो लोग अपने कर्म के अनुसार देह मनुष्यादि देह प्राप्त करके निश्चित आत्म-स्वरूप का असंदिग्ध रूप से साक्षात्कार करते हैं, वे ही अपनी भोग्य वस्तुओं को प्रतिक्षण परिवर्तनशील देख पाते हैं, अर्थात् अनुभव करते हैं। इस प्रकार कभी भी अचित् वस्तु "अस्ति" शब्द वाच्य, आदि मध्य अन्तहीन, सदा एक रूप देखी गई है क्या ? तो यही कहना होगा कि वह वस्तु ऐसी है ही नहीं तो देखी कैसे जा सकती है। इससे यह मत स्थिर होता है कि–ज्ञानस्वरूप आत्मा से भिन्न, कोई भी अचिद् वस्तु, कभी किसी भी स्थिति में, "अस्ति" शब्द से उल्लेख्य नहीं है, न हो सकती है। यही बात "तस्मान्न विज्ञानमृते" श्लोक में कही गई है। आत्मा स्वरूपतः एकमात्र ज्ञानस्वरूप होने से, देवादिभेदों से रहित होते हुए भी, देवादिशरीर में प्रविष्ट होने के मूलकारण विविध कर्मों से ही, देवादि रूप विभिन्न भेद बुद्धि वाला होता है, उस भेद बुद्धि से ही आत्मा में भेद प्रतीति होती है, जो कि स्वाभाविक नहीं होती; यही सब "विज्ञानमेकं" श्लोक में बतलाया गया है।

आत्मस्वरूपं तु कर्मरहितं, तत एव मलरूपप्रकृतिस्पर्शरहितम्। ततश्च तत्प्रयुक्त शोकमोहलोभाद्यशेषहेयगुणासंगि, उपचयापचया-नर्हतयैकम्, तत एव सदैकरूपम्। तच्चवासुदेवशरीरमिति तदात्मकं, अतदात्मकस्य कस्यचिदप्यभावादित्याह "ज्ञानं विशुद्धम" इति। चिदंशः सदैकरूपतया सर्वदाऽस्ति शब्द वाच्यः। अचिदंशस्तु क्षण-प[रि]णामित्वेन सर्वदानाशगर्भ इति, सर्वदा नास्ति शब्दाभिधेयः, एवं रूपच्चिदचिदात्मकं जगद्वासुदेवशरीरं तदात्मकमिति जगद्या-थात्म्यं सम्यगुक्तमित्याह—"सद्भाव एवं" इति। अत्र "सत्यम् असत्यम्" इति "यदस्ति यत्रास्ति" इति प्रक्रान्तस्योपसंहारः। एतत् ज्ञानैकाकारतया समम्, अशब्दगोचरस्वरूपभेदमेवाचिन्मिश्र भुवनाश्रितं देवमनुष्यादि रूपेण सम्यग्व्यवहार्हभेदं यद्वर्त्तते, तत्र

हेतुः कर्मैवेति उक्तमित्याह—"एतत्तु यत्" इति । तदेव विवृणोति —"यज्ञः पशुः" इति, जगद्याथात्म्य ज्ञानप्रयोजनं मोक्षोपाययतनमित्याह "यच्चैतत्" इति ।

आत्मा का स्वरूप कर्म रहित है, इसलिए वह मलरूप प्रकृति के स्पर्श से भी रहित है; कर्म और प्रकृति से अस्पृष्ट होने से ही वह, शोक-मोह-लोभ आदि निकृष्ट गुणों के संपर्क से रहित, उपचय अपचय आदि अवस्थाओं से रहित, सदा एक रूप रहता है । ऐसा आत्मा ही, वासुदेव का शरीर स्थानीय होने से वासुदेवात्मक है, जगत् में वासुदेव से भिन्न कुछ भी नही है, यही तथ्य "ज्ञानंविशुद्धं" वाक्य में निहित है ।

चिदंश सदा एक रूप होने से, सदा "अस्ति" शब्द वाच्य है । अचिदंश, क्षणभंगुर होने से नाशवान होने से "नास्ति" शब्दाभिधेय है । ऐसा जडचेतनमय यह साराजगत वासुदेव का शरीर स्थानीय तदात्मक है; यही जगत का यथार्थ तत्त्व है । "सद्भाव एवम्" वाक्य में यही बात बतलाई गई है । यहाँ "सत्यम् असत्यम्" इत्यादि पद, पूर्वोक्त "यदस्ति यत्रास्ति" पदों के उपसंहार ही है ।

चैतन्य ज्ञानाकार अशब्द, अगोचर स्वरूप से मिलकर, यह जडमय जगत, भुवनाश्रित देव-मनुष्यादि रूपों से व्यवहार्य भेदों वाला होता है, इस मिश्रण का हेतु भी कर्म ही है-यही बात "एतत्तुयत्" वाक्य में बतलाई गई है । इसी का विवेचन "यज्ञःपशुः" इत्यादि में किया गया है । जगत के यथार्थ तत्त्व को जानकर, मोक्ष प्राप्ति के लिए प्रयास करना चाहिए "यच्चैतत्" वाक्य इसी को बतलाता है ।

अत्र निर्विशेषपरेब्रह्मणि तदाश्रये सदसदनिर्वचनीयं चाज्ञाने, जगतस्तत्कल्पितत्वे वाऽनुगुणं किंचिदपि पदं न दृश्यते अस्ति नास्ति शब्दाभिधेयं चिदचिदात्मकं कृत्स्नंजगत् परमस्यपरेशस्यपरस्यै-ब्रह्मणोः विष्णोः कायत्वेन तदात्मकम् । ज्ञानैकाकारस्यात्मनो-देवादिविविधाकारानुभवेऽचित्परिणामे च हेतुर्वस्तुयाथात्म्यज्ञान-

विरोधि क्षेत्रज्ञानां कर्मैवेति प्रतिपादनात् अस्तिनास्तिसत्यासत्यं शब्दानां च सदसदनिर्वचनीयवस्त्वभिधानासामर्थ्याच्च नास्त्यसत्य शब्दावस्तिसत्यशब्द विरोधिनौ। अतश्च ताभ्यां असत्वं हि प्रतीयते, नानिर्वचनीयत्वम्।

उक्त प्रसंग में एक भी ऐसा पद नहीं है, जिससे परब्रह्म का निर्विशेष रूप, उसमें सदअसदनिर्वचनीय अज्ञान की सत्ता जगत की मिथ्यात्व आदि की कल्पना की गई हो, अपितु इसमें तो स्पष्ट कहा गया कि-अस्ति—नास्ति शब्दों से प्रतिपादित जडचेतन सारा जगत, परात्पर परमेश्वर ब्रह्म विष्णु का शरीर एवं स्वरूप है। ज्ञान स्वरूप आत्मा की देव मनुष्य आदि आकारों की प्रतीति और अचित् परिणाम भी, वस्तु के यथार्थ ज्ञान के विरोधी, जीव के शुभाशुभ कर्म ही हैं। अस्ति–नास्ति, सत्य-असत्य आदि शब्दों में भी सद्-असद् अनिर्वचनीय वस्तु के बोधन का सामर्थ्य नहीं है। नास्ति और असत्य शब्द केवल, अस्ति और सत्य शब्दों का विरुद्धार्थ मात्र प्रकाशन करते हैं। इन दो शब्दों से असत्ता मात्र प्रतीत होती है, अनिर्वचनीयता नहीं।

अत्र चाचिद्वस्तुनि नास्त्यसत्यशब्दौ न तुच्छत्वमिथ्यात्वपरौ प्रयुक्तौ, अपितु विनाशित्वपरौ। "वस्त्वस्ति किम्" महीघटत्वम् "इत्यत्रापि विनाशित्वमेव हि उपपादितम्, न निष्प्रमाणकत्वम्, ज्ञानवाध्यत्वंवा। एकेनाकारेणैकस्मिन् कालेऽनुभूतस्य कालान्तरे-परिणामविशेषेणान्यथोपलब्ध्वा नास्ति त्वोपपादनात्। तुच्छत्वं हि प्रमाणसंबंधानर्हत्वम्। बाधोऽपि यद्देशकालादिसंबंधितया नातस्तीत्युपलब्धिः, न तु कालान्तरे, अनुभूतस्य कालान्तरे परिणामादिना नास्तित्युपलब्धिः कालभेदेन विरोधाभावात्। अतो न मिथ्यात्वम्।

इस प्रसंग में, अचिद् वस्तु के लिए प्रयुक्त नास्ति और असत्य शब्द तुच्छता और मिथ्यात्व के द्योतक नहीं है अपितु विनाशता के वाचक हैं। "वस्त्वस्ति किम्'–मही घटत्वम् वाक्य भी, जड पदार्थ की ध्वंशशीलता के ही प्रतिपादक हैं। निष्प्रमाणकता या ज्ञान वाध्यता के नहीं।

एक समय मे जो वस्तु जिस प्रकार की दीखती है वही वस्तु विकारशील होने से कालान्तर में दूसरे प्रकार की दीखती है, इसी अन्यथा भाव को, उक्त प्रसंग मे नास्ति शब्द से कहा गया है। किसी भी प्रमाण से सिद्ध न होनी वाली वस्तुस्थिति को तुच्छता, तथा जो वस्तु जिस स्थान और काल में अस्ति बोधक हो वही वस्तु उसी स्थान में नास्ति बोधक हो जाय, उसे वाध्य कहते है। परिणामादि द्वारा जो कालान्तर में नास्ति बोधक होती है उसे बाध नहीं कहते, क्यों कि-विभिन्न काल में एक ही वस्तु के अस्तित्व और नास्तित्व में किसी प्रकार का विरोध नही होता। इसलिए उक्त वाक्य से भी अचिद् वस्तु का मिथ्यात्व सिद्ध नही होता।

एतदुक्तं भवति—ज्ञानस्वरूपमात्मवस्तु आदिमध्यपर्यन्तहीनं सष्टतैकस्वरूपमिति स्वत एव सदास्तिशब्दवाच्यम्। अचेतनं तु क्षेत्रज्ञ भोग्यभूतं तत्कर्मानुगुणपरिणामि विनाशीति सर्वदा नास्त्यर्थ-गर्भमिति नास्त्यसत्यशब्दाभिधेयम्, इति। यथोक्तं—"यत्तु कालान्तरेणापिनान्यसंज्ञामुपैति वै, परिणामादिसंभूतां तद्वस्तु नृप तच्च किम्। अनाशीपरमार्थश्च प्राज्ञैरभ्युपगम्यते, तत्तुनास्ति न संदेहोनाशिद्रव्योपपादितम्।"

कथन यह है कि-ज्ञानस्वरूप आत्मा, आदि मध्य अन्त रहित, सदा एक रूप में रहने वाला होने से "अस्ति" शब्द वाच्य है। जड पदार्थ, क्षेत्रज्ञ जीव के कर्मानुसार उसी के भोग के लिए, नामरूप से परिणत, विनाशोन्मुख होने से नकारात्मक ही हैं, इसीलिए उन्हें नास्ति और असत्य शब्दों से उल्लेख किया जाता है। जैसा कि कहा भी है—"जो कालान्तर में भी, परिणाम आदि जन्य नामान्तर को प्राप्त नहीं होते वे ही वास्तविक सत्य हैं, पर जगत में कोई ऐसी वस्तु है क्या? महात्मा लोग अविनाशी वस्तु को ही परमार्थ मानते हैं, जड़ पदार्थ में ऐसी कोई वस्तु नहीं है जिसे अविनाशी कहा जा सके, इसलिए ऐसी कोई भी वस्तु परमार्थ नामक, इस जगत में नहीं है यह नि:संशय बात है।"

देशकालकर्मविशेषापेक्षया अस्तित्वनास्तित्वयोगिनिवस्तुनि केवलास्ति बुद्धि बोध्यत्वमपरमार्थ इत्युक्तम्। आत्मन एव केवला-

स्ति बुद्धि बोध्यत्वमिति स परमार्थ इत्युक्तम्। श्रोतुश्च मैत्रेयस्य—"विष्णवाधारं यथा चैतत् त्रैलोक्यं समवस्थितं परमार्थश्च मे प्रोक्तो यथाज्ञानं प्रधानतः।" इत्यनुभाषणाच्च, "ज्योतोषि विष्णु" इत्यादि सामानाधिकरण्यस्याऽत्मशरीरभाव एव निबंधनम्। चिदचिद् वस्तुनोश्चास्तिनास्ति शब्दप्रयोग निबन्धनम् ज्ञानस्यकर्म निमित्त स्वाभाविक रूपत्वेन न प्राधान्यम्, अचिद्वस्तुनश्च तत्कर्मनिमित्त परिणामित्वेनाप्राधान्यमिति प्रतीयते।

देश काल या क्रिया विशेष में जिसके अस्तित्व और नास्तित्व का का व्यवहार होता है, वह केवल "अस्ति" बुद्धि के साथ-साथ परमार्थ भी है। श्रोता मैत्रेय ने उपदेश श्रवण के बाद कहा कि-यह सारी त्रिलोकी भगवान विष्णु में स्थित है हमारी बुद्धि के अनुसार जगत् की यही परमार्थता आपने कही। " इस वाक्य से ज्ञात होता है कि—ज्योति और विष्णु का जो अभेद दिखलाया गया है उसमें शरीर शरीरी संबंध ही निहित है। चित् और जड वस्तु में जो अस्ति नास्ति शब्द का प्रयोग होता है, उसमें अकर्मनिमित्तक ज्ञान के वास्तविक रूप का चिन्तन ही कारण है। अचित् वस्तु, ज्ञान साध्यकर्म का ही परिणाम है, इसलिए ज्ञान की अपेक्षा उसकी अप्रधानता प्रतीत होती है।

यदुक्तं — निर्विशेषब्रह्मविज्ञानादेवाविद्यानिवृत्ति वदंति श्रुतयः इति। तदसत्—"वेदाहमेतं पुरुषं महान्तं, आदित्यवर्णं-तमसः परस्तात्—तमेवविद्वानमृत इह भवति—नान्यःपंथा विद्यतेऽयनाय", सर्वे निमेषा जज्ञिरे विद्युतः पुरुषादधि, "न तस्येशे कश्चन् तस्यनाम महद्यश.", य एनं विदुरमृतास्तेभवंति "इत्याद्यनेक वाक्यविरोधात्। ब्रह्मणः सविशेषत्वादेव सर्वाण्यपि वाक्यानि सविशेषज्ञानादेव मोक्षं वदंति। शोधक वाक्यान्यपि सविशेषमेव ब्रह्मप्रदिपादयंतीत्युक्तम्।

जो यह कहा कि—"निर्विशेष ब्रह्म ज्ञान से ही अविद्या की निवृत्ति का श्रुतियों में उपदेश है", सो असंगत बात है—"आदित्यवर्ण सूर्य की

तरह स्वप्रकाश, अज्ञानान्धकार से अतीत उस महान् पुरुष को जानकर यहीं अमरता मिलती है, उसके पास पहुँचने का कोई दूसरा मार्ग नहीं है"—"विद्युत के समान प्रकाशमान उस पुरुष से समस्त निमेष उत्पन्न हुए हैं" उसका शासक कोई नहीं है, उसका नाम ही महान यश है—" जो इसे जानता है, वह मुक्त हो जाता है।" इत्यादि अनेक श्रुतियों में निर्विशेष के विपरीत वर्णन मिलता है। परब्रह्म को सविशेष मानकर ही समस्त वाक्य सविशेष ब्रह्म ज्ञान से मोक्ष बतलाते हैं। जीव के अज्ञान को दूर करने वाले शोधक (सत्यं ज्ञानमनंतं ब्रह्म आदि) वाक्य भी सविशेष ब्रह्म का ही प्रतिपादन करते हैं, ऐसा पहिले भी कह चुके हैं।

तत्वमस्यादि वाक्येषु सामानाधिकरण्यं न निर्विशेषवस्त्वैक्यपरम्, तत्त्वंपदयोः सविशेषब्रह्माभिधायित्वात्। तत्पदंहि सर्वज्ञं सत्य संकल्पं जगत् कारणं ब्रह्म परामृशति—"तदैक्षत् बहुस्याम्" इत्यादिषु तस्यैव प्रकृतत्वात्। तत् सामानाधिकरणं त्वं पदं च अचिद्विशिष्टजीवशरीरकंब्रह्म प्रतिपादयति, प्रकारद्वयावस्थितैकवस्तुपरत्वात् सामानाधिकरण्यस्य। प्रकारद्वय परित्यागे प्रवृत्ति निवृत्त भेदासंभवेन सामानाधिकरण्यमेव परित्यक्तं स्यात्, द्वयोः पदयोः लक्षणा च। "सोऽयंदेवदत्तः" इत्यत्रापि न लक्षणा, भूतवर्त्तमानकालसंबंधितयैक्यप्रतीत्यविरोधात्। देशभेदविरोधश्च कालभेदेन परिहृतः "तदैक्षत बहुस्यां इत्युपक्रम विरोधश्च। एक विज्ञानेन सर्वविज्ञान प्रतिज्ञानं च न घटते। ज्ञानस्वरूपस्य निरस्तनिखिलदोषस्य सर्वज्ञस्य समस्तकल्याणगुणात्मकस्य अज्ञानं तत्कार्यानन्तांपुरुषार्थाश्रियत्वं च न भवति। वाधार्थत्वे च सामानाधिकरण्यस्य त्वंतत्पदयोरधिष्ठान लक्षणा निवृत्तिलक्षणा चेति लक्षणादयस्त एव दोषा।

"तत्त्वमसि" आदि वाक्य में निर्विशेष वस्त्वैक परक सामानाधिकरण्य (एकता) नहीं है क्यों कि तत् त्वं पद सविशेष ब्रह्म वाचक हैं। "तत" पद सर्वज्ञ सत्य संकल्प, जगत कारण परब्रह्म का द्योतक है। "तदैक्षत्

बहुस्यां इत्यादि उसी की प्रकृति के वाचक हैं। "तत्" का सामानाधिकरण्य "त्वं" पद भी अचित् विशिष्ट जीव शरीरी ब्रह्म का प्रतिपादक है। विभिन्न प्रकार के दो पदार्थों की एकार्थ बोधकता को ही सामानाधिकरण्य कहते हैं। तत् और त्वं पद में यदि प्रकार गत भेद नहीं मानेंगे तो, प्रवृत्ति निमित्तकता न होगी और भी सामानाधिकरण्य भी छोड़ना होगा, तथा दोनों पदों में लक्षणा (गौणार्थ) करनी पड़ेगी। "यह वही देवदत्त है" इस सुस्पष्ट वाक्य में भी लक्षणा नहीं की जाती, क्यों कि भूत और वर्त्तमान काल में प्रतीतित एक ही व्यक्ति तो है, वह भिन्न स्थान में स्थित देखा गया, पर एक ही समय में तो नहीं देखा गया, जिससे संशय हो सके। विभिन्न काल में दृष्ट होने से, संशय हो ही नहीं सकता। "तत्" पद का यदि निर्विशेष अर्थ करेंगे तो "तदैक्षत बहुस्यां" इस उपक्रम श्रुति से विरुद्धता होगी। एक विज्ञान से सर्व विज्ञान वाली प्रतिज्ञा भी संगत न होगी। समस्त दोष रहित, कल्याण गुण संपन्न, सर्वज्ञ ज्ञान स्वरूप ब्रह्म में अज्ञान और अज्ञान जन्य दोष भी संलग्न होंगे। यदि कहो कि—तत् त्वं पदों का सामानाधिकरण्य, एकत्व बोधक नहीं, बाधार्थक है; तो तत् त्वं पद के सर्वाधिष्ठान भूत परब्रह्म और जीव के, जीव भाव की निवृत्ति के लिए लक्षणा करनी पड़ेगी, तथा सामानाधिकरण्य के कथित नियम का भी उल्लंघन होगा, साथ ही प्रकरण विरोध आदि दोष होंगे।

इयांस्तु विशेषः—नेदं रजतमितिवदप्रतिपन्नस्यैव बाधस्यागत्या परिकल्पनम्, तत्पदेनाधिष्ठानातिरेकिधर्मानुपस्थापनेन बाधानुपत्तिश्च। अधिष्ठानंतु प्राक्तिरोहितस्वरूपं तत्पदेनोपस्थाप्यत इति चेन्न, प्रागाधिष्ठानाप्रकाशे तदाश्रय भ्रमबाधयोरसंभवात्। भ्रमाश्रयमधिष्ठानमतिरोहितमिति चेत्, तदेवाधिष्ठान स्वरूपं भ्रमविरोधोति तत्प्रकाशे सुतरां न तदाश्रय भ्रमबाधौ। अतोऽधिष्ठानातिरेकि परमार्थिकधर्मतत्तिरोधानानभ्युपगमे भ्रांतिबाधौ दुरुपपादौ। अधिष्ठाने हि पुरुषमात्राकारे प्रतीयमाने तदतिरेकिणि पारमार्थिके राजत्वे तिरोहिते सत्येव व्याधात्वभ्रमः। राजत्वोपदेशेन च तन्निवृत्तिर्भवति, नाधिष्ठानमात्रोपदेशेन, तस्य प्रकाशमानत्वेनानुपदेश्यत्वात् भ्रमानुपमर्दित्वाच्च।

एक विशेषता यह होगी कि–"यह रजत नही है" इस बाध्य प्रतीति की तरह तत् त्वं पदों मे किसी प्रकार की बाधा न होते हुए भी (अपने मत के प्रतिपादन के लिए) जबरन बाधा की परिकल्पना करनी पड़ेगी। तत् पद से जिस चैतन्याधिष्ठान की प्रतीति होती है, उसमें उससे भिन्न धर्म की उपस्थापना करने से बाधा उतपन्न भी नही होती।

यदि कहो कि–चैतन्याधिष्ठान के प्रथम अज्ञान तिरोहित रहता है, बाद मे तत् पद से वह प्रकट हो जाता है; सो ऐसा नही है, बाधा के पूर्व यदि अधिष्ठान प्रकाशित न रहेगा तो, आधार रहित भ्रम और बाधा दोनों हो नही सकते। यदि कहो कि भ्रमाश्रय अधिष्ठान अतिरोहित रहता है (केवल बाधा का आश्रय ही आवृत रहता है) सो भी असभव है, जब अधिष्ठान का स्वरूप ही भ्रम का विरोधी है तो वह अधिष्ठान के प्रकाशित स्वरूप के समक्ष टिक भी कैसे सकता है। इससे सिद्ध होता है, कि भ्रम और बाधा अधिष्ठान आश्रित नही हो सकते। उक्त वाक्य में अधिष्ठान के अतिरिक्त किसी पारमार्थिक धर्म और उस धर्म के तिरोधान को माने बिना भ्रम और बाधा का उपपादन करना सहज नही है। पुरुष आकार वाले अधिष्ठान से भिन्न वास्तविक राजत्व के छिपे रहने पर ही बाध्यत्व भ्रम होता है। राजत्व के उपदेश से ही उस भ्रम को निवृत्ति होतो है। केवल अधिष्ठान मात्र के उपदेश से नही होती क्योकि–अधिष्ठान तो प्रकाशित रहता ही है, उसके उपदेश की अपेक्षा ही क्या' है उससे भ्रम की निवृत्ति हो भी नही सकती।

जीवशरीर जगत्कारण ब्रह्मपरत्वे मुख्यवृत्तं पदद्वयं,प्रकार द्वयविशिष्टैकवस्तुप्रतिपादनेन सामानाधिकरण्य च सिद्धम्। निरस्त निखिलदोषस्यसमस्तकल्याणगुणात्मकस्य ब्रह्मणो जीवांतर्यामित्व-मप्यैश्वर्यमपरं प्रतिपादितं भवति। उपक्रमानुकूलता च। एक-विज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञोपपत्तिश्च, सूक्ष्मचिद्वस्तुशरीरस्यैव ब्रह्मणः स्थूलचिदचिद्वस्तुशरीरत्वेन कार्यत्वात् "तमीश्वराणां परममहेश्वरम्" पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयतो" अपहत पाप्मा... सत्यकामसत्यसंकल्पः" इत्यादि श्रुत्यंतरा विरोधश्च।

जीव शरीरी, जगत के कारण परब्रह्म के मुख्यार्थ बोधक "तत्" और "त्वं" दो पद हैं, एक ही विशिष्ट वस्तु दो प्रकारों से कही गई है, यही इसका सिद्ध सामानाधिकरण्य है। समस्त दोष रहित कल्याणगुणाकर परब्रह्म की जीवान्तर्यामिता भी एक ऐश्वर्य है, उसका भी प्रतिपादन किया गया है ऐसा मानने से ही उक्त प्रसंग का उपक्रम अनुकूल हो सकता है तथा एक विज्ञान से सर्व विज्ञान की प्रतिज्ञा भी सगत हो सकती है। सूक्ष्म जड़ चेतन वस्तु जैसे ब्रह्म का शरीर है स्थूल, जड़, चेतन भी उसी प्रकार ब्रह्म का शरीर है, क्योंकि स्थूल, सूक्ष्म वस्तु का ही कार्य रूप है। "ईश्वर सर्वश्रेष्ठ महेश्वर हैं" "परब्रह्म की अनेक शक्तियां प्रसिद्ध हैं, वह निष्पाप, सत्यकाम, सत्यसंकल्प है" इत्यादि श्रुतियाँ भी उक्त मान्यता से अविरुद्ध हैं।

"तत्त्वमसि" इत्यत्रोद्देश्योपादेयविभागः कथमितिचेत् नात्र-किंचिदुद्दिश्य किमपि विधीयते,"ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्" इत्यनेनैव प्राप्तत्वात्। अप्राप्ते हि शास्त्रमर्थवत्। इदं सर्वमिति सजीवं जगन्निर्दिश्य ऐतदात्यमिति तस्यैषआत्मेति तत्र प्रतिपादित तत्र च हेतुरुक्तः—"सन्मूलास्सौम्येमास्सर्वाः प्रजास्सदायतनास्सत्प्रतिष्ठाः" इति,"सर्वं खल्विदंब्रह्म तज्जलानितिशान्तः" इतिवत्।

यदि कहो कि-ऐसा मानने से "तत्त्वमसि" में उद्देश्य, विधेय का विभाग कैसे होगा? सो यहाँ किसी के उद्देश्य से किसी की विधि नहीं की गई है, "यह सब कुछ आत्म्य है" इस वाक्य से उक्त बात की पुष्टि होती है। अप्राप्त विषय का प्रतिपादन करना ही शास्त्र का प्रयोजन होता है। "इदं शरीरम्" से सजीव जगत का निर्देश करके "ऐतदात्म्यं" से ब्रह्म को उसका आत्मा बतलाया गया है। "यह सब कुछ ब्रह्म स्वरूप है, सब कुछ उसी से उत्पन्न, स्थित और बिलीन है, उसी की शांतभाव से उपासना करो" इस वाक्य में जैसे—साधक के शाँतभाव अवलंबन के लिए, ब्रह्म का सर्वमय भाव हेतु रूप से बतलाया गया है, वैसे ही वहीं—"हे सौम्य! सद् ब्रह्म ही समस्त जायमान पदार्थों का मूल आश्रय और विलय स्थान है" इस वाक्य से हेतु द्वारा पूर्व विहित ब्रह्मात्मभाव का समर्थन किया गया है।

तथा श्रुत्यंतराणि च ब्रह्मणस्तद्व्यतिरिक्तस्य चिदचिद्वस्तुनश्च शरीरात्मभावमेवतादात्म्यं वदंति—"अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानांसर्वात्मा—"यः पृथिव्यांतिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवी अन्तरो यमयति स त आत्मा ऽन्तर्याम्यमृतः"—"य आत्मनि तिष्ठन् नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्य आत्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति स त आत्मा अंतर्याम्यमृतः"—"यः पृथिवीमन्तरे संचरन्" इत्यारभ्य यस्यमृत्युः शरीरम्, यं मृत्युर्नवेद, एष सर्व भूतान्तरात्माऽपहतपाप्मा दिव्यो देव एको नारायणः" तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्, तदनुप्रविश्य सच्चत्यच्चाभवत् इत्यादीनि ।

तथा अन्य श्रुतियाँ भी ब्रह्मातिरिक्त चित्जडात्मक वस्तु के साथ ब्रह्म का शरीर शरीरी भाव रूप तादात्म्य बतलाती है—"सर्वात्मा परमेश्वर अंतर्यामी रूप से जगत् का शासन करते हैं—"जो पृथिवी में स्थित पृथिवी से भिन्न है, जिन्हे पृथिवी नहीं जानती, पृथिवी ही जिनका शरीर है; जो अंतर्यामी रूप से पृथिवी का सयमन करते है, वही अमृत अंतर्यामी तेरे आत्मा है। "जो आत्मा में स्थित आत्मा से भिन्न हैं, आत्मा जिन्हे नहीं जानता, आत्मा जिनका शरीर है, जो अंतर्यामी होकर आत्मा का संयमन करते है, वही अमृत अंतर्यामी तेरे आत्मा हैं, जो कि पृथिवी में संचरण करते हैं"—यहाँ से प्रारम्भ करके—"मृत्यु जिनका शरीर है, मृत्यु जिन्हे नहीं जानता, वह अंतर्यामी निष्पाप दिव्य देव एक मात्र नारायण हैं"—"वह भूतों की सृष्टि करके उनमें प्रविष्ट हो गए तथा कार्य कारण रूप से प्रकट हुए', इत्यादि।

अत्रापि "अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि" इति ब्रह्मात्मकजीवानुप्रवेशेनैव सर्वेषां वस्तुत्वं शब्दवाच्यत्वं च प्रतिपादितम् । "तदनु प्रविश्य सच्च त्यच्चाभवत्' इत्यनेनैकाथ्यज्जीवस्यापि ब्रह्मात्मकत्वं ब्रह्मानुप्रवेशादेवेत्यवगम्यते । अतिश्चिदचिदात्मकस्यसर्वस्यवस्तुजातस्यब्रह्मतादात्म्यमात्मशरीरभावादेवेत्व-

वगम्यते । तस्मात् ब्रह्मव्यतिरिक्तस्यकृत्स्नस्यतच्छरीरत्वेनैव वस्तुत्वात्तस्य प्रतिपादकोऽपि शब्दस्तत्पर्यन्तमेव स्वार्थमभिदधाति। अत: सर्वशब्दानां लोकव्युत्पत्यवगत तत्तत्पदार्थविशिष्ट ब्रह्माभिधायित्वसिद्धमिति "ऐतदात्म्यमिदं सर्वं" इति प्रतिज्ञातार्थस्य "तत्त्वमसि" इति सामानाधिकरण्येन विशेष उपसंहार: ।

यहाँ भी—"इस जीव में आत्मरूप से प्रविष्ट होकर नाम और रूप का विस्तार करूँ" इस वाक्य में ब्रह्मात्मक जीव के अन्त: करण के प्रवेश से ही सभी वस्तुओं का अस्तित्व तथा शब्दवाच्यता बतलाई गई है। "सत् च त्यत् च अभवत्" इस श्रुति के साथ उक्त श्रुति का अर्थसाम्य, इसी अर्थ में होता है। जीव में ब्रह्म के अनुप्रवेश से ज्ञात होता है कि—जीव ब्रह्मात्मक है। तथा यह भी ज्ञात होता है कि—चित् जड सब कुछ ब्रह्म का शरीर है एवं ब्रह्म उन सब का आत्मा है, इस शरीरात्मभाव से ही उनका तादात्म्य प्रतीत होता है। ब्रह्म से भिन्न सब कुछ उसका शरीर है, इसीलिए उनकी सत्ता है उनके प्रतिपादक वाक्य उक्त अर्थ के ही प्रतिपादक हैं, ऐसा मानना चाहिए। लौकिक व्यवहारानुयायी व्युत्पति के अनुसार लौकिक पदार्थ बोधक शब्द तद्विशिष्ट ब्रह्म के ही प्रतिपादक होंगे। "ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्" श्रुति से जो अर्थ प्रतिज्ञात होता हैं, "तत्त्वमसि "वाक्य में सामानाधिकरण्य रूप विशेषण-विशेष्य भाव से उसी का उपसंहार हुआ है।

अतोनिर्विशेषवस्त्वैक्यवादिनो, भेदाभेद वादिन केवल भेद वादिनश्च वैयधिकरण्येन सामानाधिकरण्येन च ब्रह्मात्मभावोपदेशा: सर्वे परित्यक्ता: स्यु: । एकस्मिन् वस्तुनि कस्य तादात्म्यमुपदिश्यते ? तस्यैवेति चेत्, 'तत्स्व वाक्यैनैवावगतमिति न तादात्म्योपदेशावसेयमस्ति किंचित् । कल्पित निरसनमिति चेत्, तत्तु न सामानाधिकरण्यतादात्म्योपदेशावसेयमित्युक्तम् । सामानाधिकरण्यं तु ब्रह्मणि प्रकारद्वयप्रतिपादनेन विरोधमेवाऽवहेत । भेदाभेदवादे तु ब्रह्मण्ये-

वोपाधिसंसर्गात् तत्प्रयुक्ता जीवगतादोषा ब्रह्मण्येव प्रादुःष्यु-रिति निरस्तनिखिलदोषकल्याणगुणात्मकब्रह्मात्मभावोपदेशा हि विरोधादेव परित्यक्तास्स्यु: । स्वाभाविक भेदाभेदवादेऽपि ब्रह्मणस्स्वत एव जीवभावाभ्युपगमात् गुणवद्दोषाश्च स्वाभाविका भवेयुरिति निर्दोषब्रह्मतादात्म्योपदेशो विरुद्ध एव । केवल भेदवादिनां चात्यन्तभिन्नयो: केनापि प्रकारेणैक्यासंभवादेव ब्रह्मात्मभावोपदेशा न संभवंतीति सर्वंवेदांत परित्यागस्स्यात् ।

स्वयं श्रुति ने ही जब, ब्रह्म को शरीरी तथा जगत को उसका शरीर बतलाया है, तब चाहे सामानाधिकरण्यभाव से हों या वैयधिकरण्य भाव से हो, सारे ही ब्रह्मात्मभाव के उपदेश, निर्विशेषवस्त्वैक्यवादी, भेदाभेदवादी और केवल भेदवादी, इन सभी के लिए त्याज्य है (अर्थात् तीनों ही वाद उन उपदेश वाक्यों का सामंजस्य नही कर पाते)

जरा विचार करें–एक ही (अद्वैत) वस्तु मे किसके तादात्म्य की बात कही जा सकती है ? यदि उसी एक के ही तादात्म्य को मानें सो तो ब्रह्म के स्वरूप बोधक "सत्यं ज्ञानमनंत ब्रह्म "इत्यादि वाक्यो से ही ज्ञात है, पुनः तादात्म्योपदेश फिर निष्प्रयोजन सिद्ध होगा । अज्ञानकल्पित भेद के निराकरण के लिए तादाम्योपदेश किया गया है, ऐसा भी नही कह सकते, क्योंकि–सामानाधिकरण्य या तादात्म्योपदेश से कल्पित भेद का निराकरण संभव नही है । सामानाधिकरण्य तो ब्रह्म संभाव्य दो प्रकार के प्रतिपादन संबंधी विरोध का परिहार करता है ।

जो भेदाभेदवादी ब्रह्म में उपाधिसंबंध बतलाते है और उस उपाधि से ही जीव में जीवत्व की उपस्थिति स्वीकारते है तब तादात्म्य संबंध मानने से जीवगत कामादि दोष भी ब्रह्म में संक्रामित होंगे । समस्त दोष रहित कल्याण गुणात्मक ब्रह्मात्म भावोपदेश उक्त (औपाधिकभेदाभेद वाद) मत से विरुद्ध ही पड़ते हैं । अतएव उक्त मत से परित्यक्त है ।

जो भेदाभेदवादी, ब्रह्म के जीवभाव को स्वाभाविक मानते है, तो मानो वे जीवगत गुण और दोष दोनों को ही स्वाभाविक मानते

है, ऐसे सदोष जीव के साथ, निर्दोष ब्रह्म का तादात्म्योपदेश सर्वथा विरुद्ध है।

जो केवल भेदवादी हैं, उनके मत से तो अत्यंत भिन्न तत्व जीव और ब्रह्म के तादात्म्य का कोई प्रश्न ही नहीं हैं, उसमें तो ब्रह्मात्मभावोपदेश संभव ही नही है। अतएव तादात्म्यभाव संबंधी सारे ही वेदात वाक्य इन लोगों के मत से परित्यक्त हैं।

निखिलोपनिषत्प्रसिद्धं कृत्स्नस्यब्रह्मशरीरभावमातिष्ठमानैः कृत्स्नस्य ब्रह्मात्मभावोपदेशास्सर्वे सम्यगुपपादिता भवति। जातिगुणयोरिव द्रव्याणामपि शरीरभावेन विशेषणत्वेन "गौरश्वो-मनुष्योदेवोजातः पुरुषः कर्मभि." इति सामानाधिकरण्यं लोक-वेदयोमुख्यमेव दृष्टचरम्। जातिगुणयोरपि द्रव्यप्रकारत्वमेव "षण्डो गौ" शुक्लः पट." इति सामानाधिकरण्यनिबन्धनम्-मनुष्यत्वादिर्विशिष्टपिण्डानामप्यात्मनः प्रकारतयैव पदार्थत्वात् "मनुष्यः पुरुषः षण्डो योषिदात्मजात." इति सामानाधिकरण्यं सर्वत्रानुगतमिति प्रकारत्वमेव सामानाधिकरण्यनिबंधनम्, न परस्परव्यावृत्ता जात्यादयः। स्वनिष्ठानामेव हि द्रव्याणां कदाचित् क्वचिद् द्रव्यविशेषणत्वे मत्वर्थीय प्रत्ययोद्रष्टः "दण्डी कुण्डली" इति, न पृथक् प्रतिपत्तिस्थित्यनर्हाणां द्रव्याणां, तेषां विशेषणत्वं सामानाधिकरण्यावसेयमेव।

जो लोग सभी उपनिषदों में प्रसिद्ध समस्त वस्तुओं को ब्रह्म का शरीर मानते हैं, उनके मत में ब्रह्मात्मभावोपदेश सही रूप में संगत होते हैं। मनुष्य आदि जाति और शुक्लता आदि गुण जैसे विशेषण हैं, वैसे ही सारे पदार्थ शरीर रूप से आत्मा के विशेषण हो सकते है। "कर्मानुसार आत्मा, गाय घोड़ा, देव, मनुष्य आदि रूपों से होता है" ऐसा सामानाधिकरण्यघटित प्रयोग, लोक व्यवहार और वेद प्रयोग, सभी जगह मुख्य रूप से प्रयुक्त होता है "साँड़ गाय" "श्वेत वस्त्र" इत्यादि में जो

षंडत्व जाति और शुक्लतागुण, गो और वस्त्र के विशेषण रूप से प्रयुक्त होते हैं वह भी समानाधिकरण्य के नियम से ही होते हैं। मनुष्य आदि जाति विशिष्ट देह पिण्ड भी आत्मा के प्रकार या विशेषण ही हैं। "आत्मा मनुष्य पुरुष षण्ड और स्त्री रूप से हुआ" इत्यादि वाक्यों में किया गया आत्मा और देह पिण्ड का सामानाधिकरण्य व्यवहार, प्रकार रूपी सामानाधिकरण्य संबंधी है। परस्परव्यावृत जातिगुण संबंधी नहीं है। कहीं कही समस्त द्रव्य विशेषण रूप से अन्य द्रव्य के आश्रित होकर मत्वर्थीय प्रत्यय के सहयोग से प्रयुक्त होते हैं, जैसे कि—"दण्डी कुण्डली" इत्यादि। स्वतंत्रभाव से अवस्थित स्वतंत्रभाव से विभिन्न आकारों में प्रतीत द्रव्यों की विशेषणता सामानाधिरण्य से ही व्यवस्थापित होती है।

यदि "गौरश्वो मनुष्यो देवः पुरुषो योषित षण्ड आत्मा कर्मभिः जातः "इत्यत्र "षण्डो मुण्डो गौः शुक्ल पटः "कृष्ण पटः "इति जाति गुणवदात्मप्रकारत्वं मनुष्यादिशरीराणामिष्यते, तर्हि जाति व्यक्त्योरिव प्रकारप्रकारिणोः शरीरात्मनोरपि नियमेम सह प्रतिपत्तिः स्यात्, न चैवं दृश्यते। नहि नियमेन गोत्वादिवदात्माश्रयत येवाऽत्मना सह मनुष्यादिशरीरं पश्यंति। अतो "मनुष्य आत्मा" इति सामानाधिकरण्यं लाक्षणिकमेव। नैतदेवम्, मनुष्यादि शरीराणां अपि आत्मैकाश्रयत्वम्, तदेक प्रयोजनत्वं, तत्प्रकारत्वं च जात्यादि तुल्यम्। आत्मैकाश्रयत्वं आत्मविश्लेषे शरीरस्य विनाशादवगम्यते। आत्मैकप्रयोजनत्वं च तत्कर्मफल भोगार्थं तयैव सद्भावात्। तत्प्रकारत्वमपि "देवो मनुष्यः" इत्यात्म विशेषणतयैत प्रतीतेः। एतदेव हि गवादि शब्दानां व्यक्ति पर्यन्तत्वे हेतुः। एतस्स्वभावविरहादेव दंडकुंडलादीनां विशेषणत्वे "दंडी कुंडली" इति मत्वर्थीय प्रत्ययः। देवमनुष्यादि पिंडानामात्मैकाश्रयत्वतदेकप्रयोजनत्वतत्प्रकारत्व स्वभावात् "देवो मनुष्य आत्मा" इति लोकवेदयोः सामानाधिकरण्येन व्यवहारः जातिव्यक्त्योर्नियमेन सह प्रतीतिरुभयोश्चाक्षुषत्वात्। आत्मनस्त्वचक्षुषत्वा-

च्चक्षुषा शरीरग्रहणवेलायामात्मान गृह्यते । पृथग्ग्रहण योग्यस्य प्रकारतैकस्वरूपत्वं दुर्घटमिति मा वोचः जात्यादिवत् तदेकाश्रयत्व-तदेकप्रयोजनत्वतद्विशेषणत्वैः शरीरस्यापि तत्प्रकारतैक स्वभाव-त्वावगमात् । सहोपलम्भनियमस्त्वेकसामग्रीवेद्यत्वनिबंधन इत्युक्तम् । यथा चक्षुषा पृथिव्यादेगंधरसादिसंबंधित्वं स्वाभा-विकमपि न गृह्यते, एवं चक्षुषा गृह्यमाणं शरीरात्मप्रकारतैक-स्वभावमपि न तया गृह्यते आत्मग्रहणे चक्षुषः सामर्थ्याभावात् नैतावताशरीरस्य तत् प्रकारत्वस्वभावविरहः । तत्प्रकारतैकस्व-भावत्वमेव सामानाधिकरण्य निबन्धनं, आत्मप्रकारतया प्रतिपादन समर्थस्तु शब्दस्तहैव प्रकारतया प्रतिपादयति ।

आशंका होती है कि— 'गो, अश्व, मनुष्य, देव, स्त्री, पुरुष, षण्ड आदि आत्मा कर्मो से होते हैं'' इस वाक्य में ''षण्ड मुण्ड गाय'' शुक्ल पट ''कृष्ण पट'' आदि जाति गुण की तरह, यदि मनुष्य आदि शरीर की प्रकारता मानी जाय तो, विशेषण–विशेष्य भावापन्न मनुष्यत्व आदि जाति और मनुष्य आदि व्यक्ति की तरह, प्रकार शरीर और प्रकारी आत्मा की सह प्रतिपत्ति (एक साथ प्रतीति) होने लगेगी । जो कि कहीं भी दृष्टिगत नहीं होती । गोत्व आदि जाति विशिष्ट रूप में जैसे-गो आदि के शरीर का व्यवहार होता है, वैसे मनुष्य आदि के शरीर को कोई, कभी आत्मनिष्ठ मानकर आत्मा से अभिन्न रूप से व्यवहार नहीं करता । इसलिए 'मनुष्य आत्मा है'' ऐसा सामानाधिकरण्य (आत्मा शरीर का अभेद व्यवहार) लाक्षणिक (गौण) है ।

(समाधान) यह बात ऐसी नहीं है; जाति और गुण की तरह मनुष्यादि शरीर भी एकमात्र आत्माश्रित, आत्मप्रयोजनीय और आत्मा के प्रकार मात्र हैं । मनुष्यादि शरीर आत्माश्रित हैं, ऐसा, आत्मा के विश्लेष होने पर शरीर के विनाश से ज्ञात होता है । आत्मकृति विशेष कर्मों के भोग के लिए ही शरीर की सृष्टि या अस्तित्व होता है, यही शरीर की आत्मैक प्रयोजनीयता है । देव मनुष्य आदि आत्मा के विशेषणों से शरीर की प्रकारता प्रतीत होती है । गो आदि शब्द केवल आत्मा के ही बोधक नहीं; व्यक्ति बोधक भी हैं । इसमें उक्त तीनों ही हेतु हैं ।

ऐसा सम्बन्ध न होने से, दंड कुंडल आदि पद, विशेषण होते हुए भी, मत्वर्थीय प्रत्यय के योग से दंडी कुंडली रूप विशेषण-विशेष्य भाव के प्रयोग बनते हैं। देव मनुष्य आदि के शरीर स्वभावत: आत्मा के आश्रित, आत्मा के प्रयोजन से प्रयोजित, तथा आत्मा के ही प्रकार होते हैं, इसीलिये लोक और वेद में देवात्मा, मनुष्य आत्मा आदि सामानाधिरण्य प्रयोग होते है। जाति और व्यक्ति (देह) दोनों का ही चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है, इसीलिए सदा दोनों की एक साथ प्रतीति होती है। आत्मा का चाक्षुष प्रत्यक्ष होता नहीं, शरीर का ही एकमात्र प्रत्यक्ष होता है (इसीलिए दोनों की सदा पृथक् प्रतीति होती है) पृथक् प्रतीतिगम्य पदार्थों की प्रकारता संभव नहीं होती, ये नहीं कहा जा सकता, क्योंकि— एकमात्र आत्मा के आश्रित एवं प्रयोजन साधक तथा आत्मा के विशेषण जात्यादि की तरह, शरीर भी आत्मा का स्वाभाविक प्रकार प्रतीत होता है। जहाँ दो का प्रत्यक्ष एक ही कारण से होता है, वहाँ सहोपलम्भ का नियम (एक साथ प्रतीति) होता है ऐसा पहले भी कह चुके है। जैसे कि पृथिवी के स्वाभाविक गुण, गंध आदि का, पृथिवी के प्रत्यक्ष काल में, चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता; वैसे ही शरीर आत्मा का विशेषण है, पर शरीर के प्रत्यक्ष के समय, आत्मा का प्रत्यक्ष नहीं होता, क्योंकि-नेत्रों में आत्मा के प्रत्यक्ष का अभाव है। एक साथ प्रतीति न होने मात्र से, शरीर की स्वाभाविक आत्म प्रकारता का अभाव नहीं हो सकता। आत्म विशेषण होने से ही, शरीर आत्मा का अभेद व्यवहार होता है; शब्द ही शरीर की आत्मविशेषणता का प्रतिपादन करने में समर्थ है, शब्द ही शरीर को आत्मा का प्रकार बतलाता है।

ननु च शाब्देऽपि व्यवहारे शरीरशब्देनशरीरमात्रं गृह्यत इति नात्मपर्यन्तता शरीर शब्दस्य। नैवम् आत्मप्रकार भूतस्यैव शरीरस्य पदार्थविवेक पदर्शनाय निरूपणान्निष्कर्षशब्दोऽयम्, यथा "गोत्वं शुक्लत्वमाकृतिर्गुण:" इत्यादि शब्दा:।

(शंका) शब्द व्यवहार में तो शरीर शब्द से केवल देह मात्र का ही बोध होता है, शरीर शब्द का आत्मापर्यन्त बोध तो होता नहीं ?

(समाधान) नहीं; शरीर आत्मा का विशेषण है इसीलिये पदार्थ कहलाता है (आत्मा के बिना शरीर का कोई अस्तित्व ही नहीं रहता)

"शरीर" शब्द आत्मा का ही निष्कर्ष (परिचायक) है, जैसे कि—गोत्व शुक्लता आदि आकृति गुण वाचक शब्द हैं।

अतो गवादि शब्दवद्देवमनुष्यादिशब्दा आत्मपर्यन्ताः एवं देवमनुष्यादि पिंडविशिष्टानां जीवानां परमात्मशरीरतया तत्प्रकारत्वात् जीवात्मवाचिनः शब्दाः परमात्मपर्यन्ताः। अतः परस्य ब्रह्मणः प्रकारतयैव चिदचिद्वस्तुनः पदार्थत्वमिति तत्सामानाधिकरण्येन प्रयोगः। अयमर्थो वेदार्थसंग्रहे समर्थितः। इदमेव शरीरात्मभाव लक्षणं तादात्म्यं "आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयंति च" इति वक्ष्यति; "आत्मेत्येव तु गृह्णीयात्" इति च वाक्यकारः।

गो आदि शब्द की तरह देव मनुष्य आदि शब्द आत्मापर्यन्त अर्थ के वाचक हैं। ऐसे ही देव मनुष्य आदि पिण्ड विशिष्ट जीव, परमात्मा के शरीर होने से, उन्हीं के प्रकार हैं इसलिए जीवात्मा वाची शब्द परमात्मा पर्यन्त अर्थ के वाचक हैं परब्रह्म के प्रकार होने से ही चिद् अचिद् वस्तुओं की पदार्थता है, इसीलिए उनका परमात्मा के साथ सामानाधिकरण्य (अभेद सम्बन्ध) भाव से प्रयोग होता है। इस विषय का हमने अपने वेदार्थ संग्रह में समर्थन किया है। इसी शरीरात्मभाव लक्षण तादात्म्य को सूत्रकार "आत्मेति तूपगच्छंति ग्राहयंति च" सूत्र में बतलाते हैं, "आत्मेत्येवतु ग्रह्णीयात्" ऐसा वाक्यकार का भी कथन है।

अत्रेदं तत्त्वम्-अचिद् वस्तुनः, चिद वस्तुनः परस्य च ब्रह्मणो, भोग्यत्वेन, भोक्तृत्वेन, चेशितृत्वेन च स्वरूप विवेकमाहुः काश्चन श्रुतयः "अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्तस्मिंश्चान्यो मायया सन्निरुद्ध." "मायां तु प्रकृतिं विद्धि मायिनं तु महेश्वरम्" "क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मा नावीशते देव एकः", अमृताक्षरं हर इति भोक्ता निर्दिश्यते, प्रधानमात्मनो भोग्यत्वेन, हरतीति हरः। "स कारणं कारणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः", प्रधानं क्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः", पतिं विश्वस्यात्मेश्वरं शाश्वतं शिवमच्युतं"; ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशौ"; नित्यो नित्यानां चेतनः चेतनानां एको

बहूना यो विदधाति कामान् ", भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा", तयोरन्य: पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति", पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति", अजामेकां लोहित शुल्क कृष्णां वह् वीं प्रजां जनयंतीं सरूपाम् अजोह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यो", "समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नो अनीशया शोचति मुह्यमान:। जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानं इति वीतशोक:" इत्याद्या:।

यहाँ तत्त्व ये है कि—जगत् में तीन पदार्थ हैं, अचित् (जड़) चित् (जीव) और परब्रह्म। जो कि क्रमश: भोग्य भोक्ता और परिचालक (ईश्वर) है। ऐसा कुछ श्रुतियों ने स्वरूप विभाग किया है—"मायाधीश इसको लेकर ही जगत की सृष्टि करते है, इस जगत में दूसरा आत्मा जीव, माया से सान्निरुद्ध (मायाधीन) है। माया को प्रकृति तथा मायी को महेश्वर जानो। क्षर सब माया है, अक्षर अमृत है एक देव क्षर अक्षर का शासन करते हैं। "अमृताक्षरं हर:" में भोक्ता (जीव) का निर्देश है; जो अपने लिए प्रधान भोग्य माया को हरण अर्थात् आयत्त करता है, वही हर है"

वह सबका कारण, देह इन्द्रिय आदि के अधिपति जीव का भी अधिपति है, इसका कोई भी जनक और स्वामी नहीं है। वह प्रधान (माया) क्षेत्रज्ञ (जीव) और गुणों का स्वामी है। वह विश्वपति, आत्मा का ईश्वर, नित्य एक रूप, कल्याणमय और अच्युत है। दो अजन्मा हैं, उसमें एक ज्ञ (परमात्मा) दूसरा अज्ञ (जीव) है, एक ईश दूसरा अनीश है। जो नित्यों का नित्य, चेतनों का चेतन, अकेला ही अनेक कामनाओं का बिधान करता है। भोक्ता (जीव) भोग्य जगत प्रेरिता ईश्वर को जानकर ही। उन दोनों में एक सुस्वादु कर्मफल का आस्वाद करता है, दूसरा आस्वाद न करके केवल देखता ही है। जीव अपने से पृथक् और प्रेरक ईश्वर का मनन करके एवं उसका अनुग्रह प्राप्त कर अमृतत्व प्राप्त करता है। अपने अनुरूप अनेक प्रकार की सृष्टि करने वाली, लाल श्वेत, कृष्ण वर्णवाली, जन्म रहित प्रकृति का एक अज (जीव) प्रीति पूर्वक अनुसरण करता है, दूसरा अज (मुक्तात्मा) यथोपयुक्त इसका भोग करके परित्याग कर देता है। जीव, परमात्मा के साथ देह रूप एक ही वृक्ष पर

अवस्थित मोहित होकर शोक दुःख का भोग करता है। भक्तियुक्त जीव जब अन्य परमात्मा का दर्शन करता है, तब वीत शोक होकर उसकी महिमा को प्राप्त करता है।" इत्यादि।

स्मृतावपि—"अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा। अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे परां, जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्। सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यांति ममिकाम्, कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम्। प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः, भूतग्राममिमंकृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात्। मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् हेतुनाऽनेन कौन्तेय जगद् हि परिवर्त्तते। प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्धयनादी उभावपि। ममयोनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्, संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत।" इति।

जगद् योनिभूतं महत् ब्रह्म मदीयं प्रकृत्याख्यं भूतसूक्ष्मं अचिद् वस्तु यत्, तस्मिंश्चेताख्यं गर्भं यत् संयोजयामि ततो मत्कृतात् चिदचिद् संसर्गात् देवादि स्थावरान्तानामचिन्मिश्राणां सर्वभूतानां संभवो भवतीत्यर्थः।

स्मृति में भी ऐसा उल्लेख है—"पंच महाभूत मन, बुद्धि, अहंकार आदि आठ विभागों में विभक्त प्रकृति को मेरी अपरा (बहिरंग) प्रकृति समझो। इस प्रकृति से भिन्न मेरी एक परा प्रकृति भी है जो कि जीव स्वरूपा है. उसी से यह जगत विधृत है। प्रलय के समय समस्त भूत मेरी प्रकृति में लीन हो जाते हैं, सृष्टि के आदि में मैं उसे पुनः प्रकट कर देता हूँ। अपनी प्रकृति की सहायता से पुनः पुनः सृष्टि करता हूं, यह सारे भूत समुदाय प्रकृति के वशीभूत रहते हैं। मेरी अध्यक्षता में यह प्रकृति जड़ चेतन सारे जगत का प्रसव करती है. इसी से जगत् का परिचालन होता रहता है। प्रकृति और पुरुष दोनों को ही अनादि समझो। अपने अभिव्यक्ति स्थान महद् ब्रह्म (व्यापक प्रकृति) में मैं गर्भ स्थापन करता हूँ, उसीसे समस्त भूतों की उत्पत्ति होती है।" इत्यादि

अर्थात् मेरी प्रकृति नामक भूतसूक्ष्म रूप जो जड़ वस्तु है, उसीमें मैं चेतनात्मक गर्भ संयोजन करता हूं, मेरे द्वारा सृष्ट चेतन, अचेतन के संसर्ग से देव से स्थावर तक जड़ चेतन समन्वित समस्त भूतों की सृष्टि होती है।

एवं भोक्तृभोग्यरूपेणावस्थितयोः सर्वावस्थावस्थितयोः चिदचितोः परमपुरुष शरीरतया तन्नियाम्यत्वेन तदप्रथक् स्थिति परंपुरुषस्य चात्मत्वमाहुः काश्चन श्रुतयः—"यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अंतरो यं पृथिवीं न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवी मंतरो यमयति "इत्यारभ्य" य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति स त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः "इति। तथा—"यः पृथिवीमन्तरे संचरन्यस्य पृथिवी शरीरं यं पृथिवी न वेद 'इत्यारभ्य" योऽक्षरमंतरे संचरन्यस्याक्षरं शरीरं यमक्षरं न वेद, यो मृत्युमन्तरे संचरन्यस्य मृत्युः शरीरं य मृत्युर्न वेद एष सर्वभूतान्तरात्माऽपहतपाप्मा दिव्योदेव एको नारायणः" अत्र मृत्यु शब्देन तमः शब्द वाच्यं सूक्ष्मावस्थं अचिद्वस्त्वभिधीयते। अस्यामेवोपनिषदि—"अव्यक्तमक्षरे लीयते, अक्षरं तमसिलीयते" इतिवचनात्। "अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा" इति च।

चेतन जीव भोक्ता और अचेतन वस्तु भोग्य है, इस प्रकार भोक्ता भोग्य रूप से अवस्थित सभी अवस्थाओं में सदा एक से स्थित चित् और अचित् परम पुरुष भगवान के ही शरीर हैं और उसी के द्वारा परिचालित हैं, इनमें पृथक् रूप से स्थित रहने का सामर्थ्य भी नहीं है, इसीलिए श्रुतियां परमपुरुष को आत्मा रूप से निर्देश करती हैं—"जो पृथिवी में रह कर भी पृथिवी से भिन्न है, जिसे पृथिवी नहीं जानती, पृथिवी ही जिसका शरीर है, जो अन्तर्यामी रूप से उसका संयमन करता है।" यहाँ से प्रारम्भ करके—"जो आत्मा में स्थित भी उससे पृथक है, आत्मा जिसे नहीं जानता आत्मा ही जिसका शरीर है, जो अन्तर्यामी होकर आत्मा

का संयमन करता है वही तेरा अन्तर्यामी अमृत आत्मा है।" तथा —"जो पृथिवी के अन्दर विचरण करता है, पृथिवी जिसका शरीर है, पृथिवी उसे नहीं जानती" यहाँ से प्रारंभ करके—"जो मृत्यु में विचरण करता है, मृत्यु जिसका शरीर है, मृत्यु जिसे नहीं जानता, वही समस्त भूतों के अंतरात्मा निष्पाप दिव्य देव एक नारायण हैं।" यहाँ तक। इस प्रसंग में मृत्यु शब्द तमः शब्द वाच्य सूक्ष्मावस्थापन्न अचित् वस्तु का वाचक है; उक्त उपनिषद् में ही इसे तम शब्द वाच्य कहा गया है—"अव्यक्त अक्षर में लीन होता है, अक्षर तम में लीन होता है," वह सभी का शासक अन्तर्यामी आत्मा है" इत्यादि।

एवं सर्वावस्थावस्थितचिदचिद्वस्तुशरीरतया तत्प्रकारः परमपुरुष एव कार्यावस्थकारणावस्थजगद्रूपेणावस्थित इति इममर्थं ज्ञापयितुं काश्चन श्रुतयः कार्यावस्थंकारणावस्थं च जगत् स एवेत्याहुः—"सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत्" इत्यारभ्य "सन्मूलाः सोम्य इमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः, ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो" इति। तथा "सोऽकामयत, बहुस्यां प्रजायेयेति, स तपोऽतप्यत, स तपस्तप्त्वा इदंसर्वमसृजत" इत्यारभ्य—"सत्यं चानृतं च सत्यमभवत्" इत्याद्याः।

इस प्रकार सभी अवस्थाओं में अवस्थित चिद् अचिद् सारे ही पदार्थ उसी परमपुरुष के शरीर होने से उसी के प्रकार हैं। कारणावस्थ और कार्यावस्थ समस्त चेतन अचेतन जगत में वह परमात्मा ही स्थित रहता है, इसलिए कुछ श्रुतियाँ जगत की कारणावस्था और कार्यावस्था को परमात्मा की ही अवस्था बतलाती है—"हे सौम्य! यह सब सृष्टि के पूर्व एक अद्वितीय सत् ही था, उसने इच्छा की, अनेक रूपों में प्रकट हो जाऊँ, उसने तेज की सृष्टि की" यहाँ से प्रारम्भ करके—"हे सौम्य! सद्ब्रह्म ही समस्त जायमान पदार्थों का मूल कारण है, आश्रय और विलय स्थान है, यह सारा जगत आत्म्य है, सब कुछ सत् है, वही आत्मा है, हे श्वेतकेतु! तुम भी वही आत्म्य हो।" तथा—"उसने कामना की

बहुत होकर जन्म लूं, उसने तप करके सारे जगत की सृष्टि की" ऐसा प्रारभ करके—"सत् स्वरूप ब्रह्म ही सत्य और असत्य हुआ" इत्यादि।

अत्रापि श्रुत्यतरसिद्धश्चिदचितोः परमपुरुषस्य च स्वरूप-विवेक. स्मारितः—"हंताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनाऽत्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि" इति—"तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्, तदनु प्रविश्य सच्चत्यच्चाभवत् विज्ञानं चा विज्ञानं च सत्यं चानृत च सत्यमभवत्" इति च। "अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य" इति जीवस्य ब्रह्मात्मकत्वम्, "तदनु प्रविश्य सच्चत्यच्चाभवत्" विज्ञानं चाविज्ञानं च—' इति अनेनैकार्थ्यात् आत्म-शरीरभावनिबंधनमिति विज्ञायते। एवंभूतमेव नामरूप व्याकरणं" तदवेदं तर्हि अव्याकृतमासीत्, तन्नामरूपाभ्यां व्याक्रियत "इत्यत्रा-प्युक्तम्। अत. कार्यावस्थ.कारणावस्थश्च स्थूलसूक्ष्मचिदचिद्वस्तु शरीरः परंपुरुष एवेति; कारणात् कार्यस्यानन्यत्वेन कारण-विज्ञानेन कार्यस्य ज्ञाततयैक विज्ञानेन सर्व विज्ञानं समीहितमुप-पन्नतरम्। "अहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूप व्याकरवाणि" इति "तिस्रो देवता" इति सर्वमचिद् वस्तु निर्दिश्य तत्र स्वात्मक जीवानुप्रवेशेन नामरूप व्याकरणवचनात् सर्वे वाचकाः शब्दाः अचिद् विशिष्ट जीवविशिष्ट परमात्मन एव वाचका इति, कारणावस्थपरमात्मवाचिना शब्देन कार्यवाचिनः शब्दस्य सामानाधिकरण्य मुख्यवृत्त, अतः स्थूलसूक्ष्मचिदचित्प्रकारं ब्रह्मैव कार्यकारण चेति ब्रह्मोपादानं जगत्। सूक्ष्मचिदचिद् वस्तु शरीरकं ब्रह्मैव कारणमिति।

अन्य श्रुतियों मे जो परमपुरुष के जडचेतन स्वरूप का विवरण किया गया है, उसका स्मरण उक्त प्रसग मे भी किया गया है—जैसे कि—"मैं जीवात्मा रूप से इन तीनो भूतो के अन्दर प्रविष्ट होकर नाम रूप अभिव्यक्ति करूँगा, उसने उसकी सृष्टि कर उसी में प्रवेश किया और

सत् (परोक्ष) और त्यत् (अपरोक्ष) हुआ तथा विज्ञान चेतन) अविज्ञान (जड़) एवं सत्य और अनृत हुआ।" यहाँ "अनेन जीवेन" इत्यादि से जीव की ब्रह्मात्मकता तथा "सच्चत्यच्चा", विज्ञानंचाविज्ञानं इन दो विभिन्नताओं से आत्मशरीर भाव निबंधन ज्ञात होता है। इसी प्रकार नाम रूप की व्याकृति—"सृष्टि के पूर्व यह अव्यक्त था, वही सृष्टि के बाद नाम रूप में अभिव्यक्त हुआ" इस वाक्य में कही गई है। इससे ज्ञात होता है कि-कार्यरूप और कारणरूप से स्थित स्थूल सूक्ष्म, जड़चेतन वस्तु, परंपुरुष परमात्मा का ही शरीर है। कार्य कभी कारण से भिन्न हो नहीं सकता, कारण स्वरूप परमात्मा को जान लेने से, कार्यरूप सारे जगत का ज्ञान हो जाता है, इस प्रकार एक विज्ञान से सर्वविज्ञान की बात भी संगत हो जाती है।

"इन तीनों देवताओं में आत्मा रूप से प्रविष्ट होकर नामरूप को अभिव्यक्त करूँगा" इस वाक्य में "तीनों देवता" पद से समस्त अचित् (जड़) वस्तु का निर्देश करके, स्व स्वरूप जीवानुप्रवेश से नाम रूप की अभिव्यक्ति कही गई है; इससे ज्ञात होता है कि-सारे ही वाचक (अर्थबोधक) शब्द, अचिद् विशिष्ट और जीव विशिष्ट, परमात्मा के ही वाचक है। इस प्रकार कारणावस्थ परमात्मा बोधक शब्द 'तत्" के साथ, कार्यावस्थ बोधक शब्द "त्वं" का सामानाधिकरण्य (अभेदोक्ति) अबाधरूप से संपन्न होता है। इससे जानना चाहिए कि-स्थूल-सूक्ष्म, जड़-चेतन सारा जगत ब्रह्म का प्रकार है, ब्रह्म स्वयं ही कारण और कार्य रूप है एवं समस्त जगत का उपादान कारण है। सूक्ष्म जड़ चेतन शरीर वाला ब्रह्म ही, स्थूल जड़चेतन का कारण है।

ब्रह्मोपादानत्वेऽपि संघातस्योपादानत्वेन चिदचितोर्ब्रह्मणश्च स्वभावासंकरोऽप्युपपन्नतरः। यथा शुक्लकृष्णरक्ततंतुसंघातोपादानत्वेऽपि चित्रपटस्य तत्तत्तन्तुप्रदेश एव शौक्ल्यादि संबंध इति कार्यावस्थायामपि भोक्तृत्वभोग्यत्वनियंतृत्याद्यसंकरः। तंतुनांपृथक्स्थितियोग्यानामेव पुरुषेच्छया कदाचित्संहतानां कारणत्वं कार्यत्वं च। इहतु चिदचितोः सर्वावस्थयोः परमपुरुषशरीरत्वेन तत्प्रकारतयैव पदार्थत्वात्तत्प्रकारः परमपुरुषः सर्वदा सर्वशब्दवाच्य

इति विशेषः स्वाभावभेदः तदसंकरश्च तत्र चात्र न तुल्यः। एवं च सति परस्य ब्रह्मणः कार्यानुप्रवेशेऽपि स्वरूपान्यथाभावादविकृतत्वमुपपन्नतरम्। स्थूलावस्थस्य नामरूपविभागविभक्तस्य चिदचिद्वस्तुन आत्मतयाऽवस्थानात्कार्यत्वमप्युपपन्नतरम्। अवस्थान्तरापत्तिरेव हि कार्यता।

[शंका होती है कि, ब्रह्म यदि जगत का उपादान कारण है और जगत उसी का परिणाम है तो दोनों के गुण परस्पर सक्रामित क्यों नहीं हो जाते? उसी का समाधान करते हैं]

ब्रह्म के उपादान होते हुए भी संघात (चेतन अचेतन समष्टि) ही उपादान है, इसलिए जड़चेतन और ब्रह्म में परस्पर सांकर्य नही हो पाता। जसे कि–श्वेत, रक्त, श्याम तंतुओ के ममूह, वस्त्र के उपादान है, वस्त्र के भिन्न-भिन्न भागों में शुक्लादि वर्णो का संबंध दृष्टिगोचर होता है, वर्णों का परस्पर साकर्य नही होता, इसी प्रकार चेतन, अचेतन और ईश्वर इन तीनों की समष्टि सारे जगत के उपादान हैं। कार्यावस्था में तीनो की भोक्ता, भोग्य और प्रेरिता रूप स्थिति पृथक्-पृथक् रहती है, परस्पर सकर भाव नही होता। तंतुओ की पृथक् स्थिति, योग्य (कलाकार) पुरुष की इच्छा पर निर्भर रहती है, कभी वह संहित होकर कारण रूप और कभी कार्य रूप होती है। किन्तु चेतन, अचेतन वस्तुएं सभी अवस्थाओं में, परमेश्वर की शरीर स्थानीय ही रहती हैं, परमपुरुष के प्रकार के रूप में ही इनका सदा अस्तित्व रहता है, इसी परमात्मा को सर्वदा सर्व शब्द से चिन्तन किया जाता है, स्वभाव भेद और असांकर्य ये दो बातें तो, दोनों में ही (तंतुपट और चिदचिद् ब्रह्म) समान है। ऐसा मानने से परब्रह्म की कार्यानुप्रवेश की स्वाभाविक अवस्थिति भी सुसंगत हो जाती है, ब्रह्म के स्वरूप में किसी प्रकार का अन्यथा भाव या विकार नहीं होता। स्थूलावस्था और नामरूप-विभागावस्था को प्राप्त जड़ चेतन वस्तु के तादात्म्य रूप ब्रह्म की कार्यता भी उपपन्न हो जाती है क्योंकि–अवस्थान्तर की प्राप्ति ही तो कार्यता है।

निर्गुणवादाश्च परस्य ब्रह्मणो हेयगुणा संबंधादुपपद्यन्ते। "अपहतपाप्मा विजरोविमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः" इति हेयगुणान्

प्रतिषिध्य "सत्यकामः संकल्पः" इति कल्याणगुणान्विदधती इयं श्रुतिरेवान्यत्र सामान्येनावगतम् गुण निषेधं हेयगुण विषयं व्यवस्थापयति ।

हेयगुणों के अभाव से, परब्रह्म को निर्गुण बतलाने वाले वाक्यों का भी समाधान हो जाता है । "वह निष्पाप, जरा, मृत्यु, भूख प्यास रहित है" इत्यादि हेयगुणों का प्रतिषेध करके "वह सत्यकाम सत्यसंकल्प है" इत्यादि कल्याण गुणों की प्रकाशिका यह श्रुति ही विज्ञापन करती है कि—अन्यत्र जो सामान्य रूप से ब्रह्म के गुणों का निषेध किया गया है, वह हेय गुणों का ही है, गुणमात्र का नहीं है ।

ज्ञानस्वरूपं ब्रह्मेतिवादश्च सर्वज्ञस्य सर्वशक्तेर्निखिलहेयप्रत्नीक कल्याणगुणाकरस्य ब्रह्मणः स्वरूपं ज्ञानैकनिरूपणीयं स्वयंप्रकाशतया ज्ञानस्वरूपं चेत्यभ्युपगमादुपपन्नतरः । "यःसर्वज्ञः सर्ववित्", "परास्यशक्तिर्विविधैवश्रूयतेस्वाभाविकीज्ञानबलक्रिया च", "विज्ञातारमरे केन विजानीयात् इत्यादिकाः ज्ञातृत्वमावेदयन्ति । "सत्यं ज्ञानं" इत्यादिकाश्च ज्ञानैकनिरूपणीयता स्वप्रकाशतया च ज्ञान स्वरूपताम् ।

जो श्रुतियां भगवान को ज्ञान स्वरूप बतलाती हैं उनका भी तात्पर्य यह है कि–ब्रह्म स्वभावतः सर्वज्ञ, सर्वशक्ति और मंगलमय गुणों के आश्रय हैं; ज्ञान के अतिरिक्त किसी अन्य रूप से उनके स्वरूप का निर्देश नहीं किया जा सकता, ज्ञान की तरह वह स्वयं प्रकाश हैं, इसीलिए उन्हें ज्ञान स्वरूप कहा गया है । "जो सर्वज्ञ और सर्वविद् हैं—" "उनकी स्वाभाविकी पराशक्ति, ज्ञान, बल क्रिया आदि अनेक नामों वाली हैं"—"अरे! उस विज्ञाता को कौन जान सकता है इत्यादि श्रुतियाँ परमात्मा की ज्ञातृता का वर्णन करती हैं । "सत्यंज्ञानं" आदि श्रुति, ज्ञानैकगम्यता और स्वप्रकाशता के आधार पर उनकी ज्ञान स्वरूपता को बतलाती है ।

"सोऽकामयत बहुस्याम्, तदैक्षत् बहुस्याम' "तन्नामरूपाभ्यां व्याक्रियत" इति ब्रह्मैव स्वसंकल्पाद्विचित्र स्थिरत्रसरूपतया नानाप्रकारमवस्थितमिति तत्प्रत्यनीक आब्रह्मात्मक वस्तुनानात्वमत त्वमिति तत्प्रतिषिध्यते। "मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति", नेहनानास्ति किंचन", यत्रहि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति यत्र त्वस्यसर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्केन कं विजानीयात् इत्यादिना। न पुनः "बहुस्यां प्रजायेय" इत्यादि श्रुतिसिद्धं स्वसंकल्पकृतं ब्रह्मणो नानानामरूपभाक्त्वेन नानाप्रकारत्वमपि निषिध्यते। "यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत" इत्यादिनिषेध वाक्यादौ च तत्स्थापितम्। "सर्वं तं परादाद्योऽन्यत्राऽत्मनः सर्ववेद", तस्य ह वा एतस्य महतो भूतस्य विश्वसितमेतत यद् ऋग्वेदो यजुर्वेदः" इत्यादिना।

"उन्होंने कामना की बहुत हो जाऊँ", "उन्होने विचारा बहुत हो जाऊँ", वे नाम रूप में अभिव्यक्त हुए "आदि श्रुति बतलाती है कि—एक ही ब्रह्म अनेक स्थावर जंगम रूपो मे अभिव्यक्त होकर अनेक प्रकारो मे अवस्थित है। उनसे विरुद्ध जो अब्रह्मात्मक वस्तुओं की विभिन्नता बतलाई जाती है वह असत् है। अब्रह्मात्मक नानात्व का निषेध निम्न वाक्यों से किया गया है—"जो इस जगत को विभिन्न रूपो वाला मानता है, वह पुनःपुनः मृत्यु को प्राप्त करता है, इसमें कुछ भी विभिन्नता नही है", जब द्वैतबुद्धि होती है, तभी दूसरे को दूसरा देखता है, जब इस जगत को आत्मस्वरूप देखता है, तब वह किसके द्वारा किसे देखा जा सकता है ? किसके द्वारा किसे जान सकता है ?" इत्यादि

"बहुत होकर जन्म लू" इत्यादि श्रुतिसिद्ध, स्वसंकल्पकृत ब्रह्म की जो अनेक रूपता है, उसका भी निषेध किया गया हो, ऐसा नही है। 'जब यह सब कुछ आत्म स्वरूप हो जाता है" इस निषेध वाक्य से नानात्व की विशेषता बतलाई गई है। "जो आत्मा से भिन्न सब वस्तुओं का अस्तित्व मानता है, सारी वस्तुएं उसे प्रतारित करती हैं (अर्थात्

वह वस्तुओं से वंचित हो जाता है) "ये ऋग्वेद और यजुर्वेद स्वतः सिद्ध महान परमेश्वर के निश्वास रूप हैं" इत्यादि वाक्यों से उक्त मत की पुष्टि होती है।

एवं चिदचिदीश्वराणां स्वभावभेदं स्वरूपभेदं च वदंतीनां कार्यकारणभावं कार्यकारणयोरनन्यत्वं च वदंतीनां सर्वासां श्रुतीनामविरोधः चिदचितोः परमात्मनश्च सर्वदा शरीरात्मभावं शरीरभूतयोः कारणदशायां नामरूपविभागानर्हं सूक्ष्मदशापत्तिं कार्यदशायां च तदर्हं स्थूलदशापत्ति वदंतीभिः श्रुतिभिरेव ज्ञायत इति ब्रह्माज्ञानवादस्यौपाधिकब्रह्मभेदवादस्यान्यस्याप्यपन्यायमूलस्य सकलश्रुतिविरुद्धस्य न कथंचिदप्यवकाशोदृश्येत। चिदचिदीश्वराणां पृथक् स्वभावतया तत्तच्छ्रुतिसिद्धानां शरीरात्मभावेन प्रकारप्रकारितया श्रुतिभिरेव प्रतिपन्नता श्रुत्यंतरेण कार्यकारणभाव प्रतिपादनं कार्यकारणयोरैक्य प्रतिपादनं च ह्यविरुद्धम्। यथाआग्नेयादीनषड्भागानुत्पत्तिवाक्यैः पृथगुत्पन्नान् समुदायानुवादि वाक्यद्वयेन समुदायद्वयत्वमापन्नान् "दर्शपूर्णमासाभ्याम्" इत्यधिकारवाक्यं कामिनः कर्त्तव्यतया विदधाति, तथा चिदचिदीश्वरान्विविक्तस्वरूपस्वभावान् "क्षरंप्रधानममृताक्षरंहरः क्षरात्मानवीशते देव एकः", पतिविश्वस्यात्मेश्वरम्, "आत्मा नारायणः परः", इत्यादि वाक्यैः पृथक् प्रतिपाद्य "यस्य प्रथिवी शरीरम्", यस्यात्मा शरीरम्, "यस्याव्यक्तं शरीरम्", "यस्याक्षरंशरीरम्", एवं सर्वभूतांतरात्माऽपहतपाप्मा दिव्यो देव एको नारायणः "इत्यादिभिर्वाक्यैश्चिदचितोःसर्वावस्थावस्थितयोः परमात्मशरीरतां परमात्मनस्तदात्मतां च प्रतिपाद्य शरीरीभूतपरमात्माभिधायिभिः सद्ब्रह्म हि आत्मादिशब्दैः कारणावस्थःकार्यावस्थश्च परमात्मैक एवेति पृथक् प्रतिपन्नं "सदेव सोम्येदमग्र आसीत्", ऐतदात्म्यमिदं

सर्वं "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" इत्यादि वाक्यं प्रतिपादयति। चिदचिद वस्तुशरीरिण: परमात्मन: परमात्मशब्देनाभिधाने हि नास्ति विरोध:, यथा मनुष्यपिण्डशरीरकस्यात्मविशेषस्य "अयमात्मा सुखी" इत्यात्मशब्देनाभिधान इत्यलमतिविस्तरेण।

चेतन, अचेतन और ईश्वर के स्वरूप और स्वभावगत भेद को बतलाने वाले वाक्यों में भी जो कार्यकारणभाव और कार्यकारण की अभिन्नता बतलाने वाले वाक्य हैं, उनमें परस्पर मतभेद प्रतीत होता है, परंतु जड़चेतन का सदा परमात्मा से शरीरात्म भाव; जड़चेतन की, कारणदशा में नामरूप विभाग रहित सूक्ष्मदशा; कार्यावस्था में नाम विभाग वाली स्थूलदशा को बतलाने वाली श्रुतियों से उक्त मदभेद का परिहार हो जाता है। ब्रह्मज्ञानवाद हो या औपाधिक ब्रह्म भेदवाद हो, अथवा कोई भी वाद हो, वे सारे ही वाद अयुक्ति मूलक श्रुति विरुद्ध हैं, उन सबका कुछ भी महत्व नहीं है। चेतन, अचेतन और ब्रह्म स्वभात: भिन्न है, यह श्रुतिसिद्ध बात है। "ईश्वर आत्मा है, समस्त जडचेतन उसका शरीर है" इत्यादि धर्म-धर्मी बोधक श्रुतियों से उक्त बात समर्थित है। अन्य श्रुतियों में इनका जो कार्यकारण भाव और कार्यकारण अभेद बतलाया गया है वह अविरुद्ध ही सिद्ध होता है।

जैसे आग्नेय आदि ६ यज्ञ, पृथक उत्पत्ति वाक्यों से पृथक ही विहित हैं, पुन: इन सबको दो वाक्यों द्वारा दो भागों में विभक्त कर दिया गया है, और अन्त में "दर्श और पूर्णमास नामक यज्ञ करो" इस अधिकार वाक्य द्वारा समस्त भाग को सकाम व्यक्ति के लिए कर्त्तव्य रूप से कहा गया है; उसी प्रकार विभिन्न स्वरूप, विभिन्न स्वभाव वाले जडचेतन ईश्वर को "प्रधान (जड) क्षर है, अमृत हर (जीव) अक्षर है, क्षर अक्षर का आत्मा एक ईश्वर देव है"—"प्रधान, क्षेत्रज्ञ और गुणों का वह ईश्वर है"—" उस विश्वपति और आत्मेश्वर—नारायण परमात्मा को "इत्यादि वाक्यों से बतलाकर "पृथ्वी जिसका शरीर—आत्मा जिसका शरीर-अव्यक्त जिसका शरीर अक्षर जिसका शरीर है, ऐसे सर्वान्तिर्यामी निष्पाप दिव्य देव एक नारायण हैं "इत्यादि

वाक्यों से हर अवस्था वाले जडचेतन को परमात्मा का शरीर और उनसे परमात्मा की तदात्मकता बतलाई गई चेतन अचेतन के आत्मभूत परमात्मा के बोधक "सत्-ब्रह्म और आत्मा" शब्दों से कारणावस्थ कार्यावस्थ परमात्मा की एकता को पृथक तीन वस्तुओं के रूप में "यह सब कुछ सत् ही था"—यह सब कुछ आत्म्य है "—" यह सब ब्रह्म है" प्रतिपादन किया गया है। चिदचिद् वस्तुशरीरी परमात्मा का, परमात्मा शब्द से उल्लेख, विरुद्ध नहीं है। जैसे कि—मनुष्यपिण्ड शरीरी आत्मा के लिए "यह सुखी आत्मा है" ऐसा प्रयोग किया जाता है। अब इस प्रसंग को यहीं पूर्ण करते हैं, अधिक विस्तार नहीं करेंगे।

यत्पुनरिदमुक्तम्-ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानेनैवाविद्यानिवृत्तिर्युक्ता इति, तदयुक्तम्, बंधस्यपारमार्थिकत्वेन ज्ञाननिवर्त्यत्वाभावात् पुण्यापुण्यरूपकर्मनिमित्तदेवादिशरीरप्रवेश तत्प्रयुक्त सुखदुःखानुभव रूपस्य बंधस्य मिथ्यात्वं कथमिव शक्यते वक्तुम्। एवंरूपबंधनिवृत्तिर्भक्तिरूपापन्नोपासनप्रीतपरमपुरुषप्रसादलभ्येति पूर्वमेवोक्तम्। भवदभिमतस्यैक्यज्ञानस्ययथावस्थितवस्तुविपरीतविषयस्य मिथ्यारूपत्वेन बंधविवृद्धिरेव फलं भवति। "मिथ्यैतदन्यद्द्रव्यं हि नैति तद्द्रव्यतां यतः "इति शास्त्रात्।" उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः "—" पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा इति जीवात्मविसजातीयस्य तदंतर्यामिणोब्रह्मणोज्ञानं परमपुरुषार्थलक्षणमोक्षसाधनमित्युपदेशाच्च।

जो यह कहा कि—"ब्रह्म आत्मा की एकता के ज्ञान से अविद्या की निवृत्ति होती है", यह भी असंगत बात है, क्यों कि—बंधन जब पारमार्थिक है तो उसका छुटकारा, ज्ञान द्वारा संभव नहीं है। पाप पुण्य कर्मों के कारण देवादि शरीरों का प्रवेश, तदनुसार सुखदुःखादि की अनुभूति रूप से होने वाला बंधन मिथ्या है, ऐसा कहना समीचीन नहीं है। ऐसे बंधन की निवृत्ति तो भगवत् शरणागति रूप भक्ति उपासना से लब्ध परमात्मा की कृपा से ही संभव है, ऐसा पहिले भी कह चुके हैं। आपके

अभिमत अद्वैत ज्ञान से जब वस्तु की यथार्थ भेदस्थिति और मिथ्यात्व का आभास होता है तो (मेरी समझ से) बधन की वृद्धि ही होती है।" एक वस्तु कभी अन्य वस्तु नही हो सकती, इसलिए (जीव की ब्रह्म भावोवित) मिथ्या है" इस शास्त्र वाक्य से उक्त बात पुष्ट होती है। "उत्तम पुरुष (परमात्मा) अन्य है"—"आत्मा और प्रेरिता को भिन्न मानकर' इत्यादि वाक्यो मे जीवात्मा से विलक्षण, अन्तर्यामी परब्रह्म के ज्ञान को ही परम पुरुषार्थ मोक्ष का साधन बतलाया गया है।

अपि च भवदभिमतस्यापि निवर्त्तकज्ञानस्य मिथ्यारूपत्वात्तस्य निवर्त्तकान्तरं मृग्यम्। निवर्त्तकज्ञानमिदं स्वविरोधि सर्वं भेदजातं निवर्त्त्य क्षणिकत्वात्स्वयमेव नश्यतीति चेन्न, तत् स्वरूप तदुत्पत्तिविनाशाना काल्पनिकत्वेन विनाशतत् कल्पनाकल्पकरूपाविद्याया निवर्त्तकांतरमन्वेषणीयम्। तद्विनाशो ब्रह्मस्वरूपमेवेति चेत्, तथा सति निवर्त्तक ज्ञानोत्पत्तिरेव न स्यात्, तद्विनाशे तिष्ठति तदुत्पत्त्यसंभवात्।

एक बात और भी है कि—आपका अभिमत अज्ञान निवर्त्तक (अद्वैत) ज्ञान ही जब मिथ्या है (बुद्धि विज्ञान असत्य होता है) तो उस मिथ्या निवर्त्तक ज्ञान की निवृत्ति के लिए किसी अन्य निवर्त्तक ज्ञान की खोज करनी पड़ेगी। यदि यह निवर्त्तक ज्ञान अपने विरोधी भेद का क्षण भर में निराकरण करके स्वयं विनष्ट हो जाता है, तब तो इस ज्ञान के स्वरूप, उत्पत्ति और विनाश सब कुछ काल्पनिक सिद्ध होंगे, इसलिए उसके निवारण के लिए अविद्या निवारक अन्य साधन की खोज ही श्रेयस्कर है। अविद्या विनाश को ही यदि ब्रह्म स्वरूप कहा जाय तो निवर्त्तक ज्ञान की उत्पत्ति ही नहीं हो सकती। उसके विनाश में उसी की उत्पत्ति संभव नही है।

अपि च चिन्मात्रब्रह्मव्यतिरिक्तकृत्स्ननिषेधविषयज्ञानस्य कोऽयं ज्ञाता? अध्यासरूप इतिचेत्, न, तस्य निषेध्यतया निवर्त्तक

ज्ञान कर्मत्वात् तत्कर्त्तृत्वानुपपत्तेः। ब्रह्मस्वरूपमिति चेत्, ब्रह्मणो निवर्त्तकज्ञानंप्रति ज्ञातृत्वं किं स्वरूपम्; उताध्यस्तम्। अध्यस्तं चेत्, अयमध्यासस्तन्मूलविद्यांतरं च निवर्त्तकज्ञान विषयतया तिष्ठत्येव। निवर्त्तकज्ञानान्तराभ्युपगमे तस्यापि त्रिरूपत्वात् ज्ञात्रपेक्षयाऽनवस्था स्यात्। ब्रह्मस्वरूपस्यैव ज्ञातृत्वेऽस्मदीयएव पक्षः परिगृहीतः स्यात्। निवर्त्तक ज्ञानस्वरूपंस्वस्य ज्ञाता च ब्रह्म व्यतिरिक्तत्वेन स्वनिवर्त्यान्तिर्गतमिति वचनं "भूतलव्यतिरिक्तं कृत्स्नं देवदत्तेन छिन्नम्" इत्यस्यामेव छेदनक्रियायामस्य छेत्तुरस्याश्छेदन क्रियायाश्चच्छेद्यानुप्रवेशवचनवदुपहास्यम्। अध्यस्तो ज्ञाता स्वनाशहेतुभूतनिवर्त्तकज्ञाने स्वयंकर्त्ता च न भवति। स्वनाशस्यापुरुषार्थत्वात्। तन्नाशस्य ब्रह्मस्वरूपत्वाभ्युपगमे भेददर्शनतन्मूलाविद्यादीनां कल्पनमेव न स्यात्। इत्यलमनेन दिष्टहतमुदगराभिघातेन।

एक बात और भी विचारणीय है कि– चिन्मात्र ब्रह्म से भिन्न समस्त पदार्थों के निवारक ज्ञान का ज्ञाता कौन है? अध्यास तो ज्ञाता हो नहीं सकता, क्यों कि–वही तो प्रत्याख्यान का विषय है, वह तो निवर्त्तक ज्ञान का कर्म ही हो सकता है, उसमें स्वयं ज्ञातृत्व नहीं हो सकता। यदि ब्रह्मस्वरूप को ही ज्ञाता कहते हो तो अविद्या निवर्त्तक ज्ञान संबंधी ब्रह्म की जो ज्ञातृता है वह उसका अपना स्वरूप है अथवा अध्यस्त (अविद्याकल्पित) रूप है? यदि अध्यस्तरूप है, तो अध्यास और अध्यास की मूलकारण एक और अविद्या होगी, जो कि-निवर्त्तक ज्ञान का विषय न होने से सदा बनी रहेगी। यदि उसके निवारण के लिए एक और निवारक ज्ञान की कल्पना करते हो तो, उस ज्ञान को भी ज्ञाता-ज्ञान और ज्ञेय इन तीनों में अन्तर्भूत करना होगा, फिर उसका ज्ञाता कौन होगा? फिर तो अनवस्था हो जायगी। यदि ब्रह्म के स्वरूप की ज्ञातृता स्वकारते हो तो, हमारा ही पक्ष स्वीकारते हो।

ब्रह्म को अविद्या निवर्त्तक ज्ञान स्वरूप ओर उसका ज्ञाता मानकर, ब्रह्म से भिन्न स्वनिवर्त्य पदार्थ के अन्तर्गत मानें तो "देवदत्त ने

पृथिवी को छोड़कर सब कुछ छेदन कर दिया" इस उदाहरण में छेदन क्रिया का कर्त्ता स्वय ही छिन्नकर्म भी है, इस उपहासास्पद उदाहरण की तरह होगा। अध्यस्त ज्ञाता अपने नाश के, कारण निवर्त्तक ज्ञान का स्वयं कर्त्ता नहीं हो सकता, अपना ही नाश कोई पुरुषार्थ नही है। यदि अध्यस्त रूप के विनाश की ब्रह्मरूपता स्वीकारते हो तो, जागतिक भेद, भेद प्रतीति और तन्मूला अविद्या आदि की कल्पना नही हो सकती। अस्तु भाग्य के मारे पर अब और अधिक मुसल प्रहार नहीं करेंगे, इतना ही कथन बहुत है।

तस्मादनादिकर्मप्रवाहरूपाज्ञानमूलत्वाद्बंधस्य तन्निबर्हण-मुक्तलक्षणज्ञानादेव। तदुत्पत्तिश्चाहरहरनुष्ठीयमानपरमपुरुषाराधन-वेषात्मयाथात्म्यबुद्धिविशेषसंस्कृतवर्णाश्रमोचितकर्मलभ्या। तत्र केवलकर्मणामल्पास्थिरफलत्वम्, अनभिसंहितफलपरमपुरुषाराधन-वेषाणां कर्मणां उपासनात्मकज्ञानोत्पत्तिद्वारेणब्रह्म याथात्म्यानु-भवरूपानन्तस्थिरफलत्वं च कर्मस्वरूपज्ञानादृते न ज्ञायते। केवलाकारपरित्यागपूर्वक यथोक्तस्वरूपकर्मोपादानं च न संभवतीति कर्मविचारानन्तरं तत एव हेतोः ब्रह्मविचारः कर्त्तव्य इति "अथातः" इत्युक्तम्।

अनादि कर्म प्रवाह रूप अज्ञान मूलक बंधन का निवारण उक्त प्रकार के ज्ञान से ही हो सकता है। अहर्निश भगवदाराधन से होने वाली आत्मविषयक यथार्थ बुद्धि विशेष से तथा परिष्कृत वर्णाश्रमोचित कर्म से ही उक्त ज्ञान का उदय होता है। केवल कर्मानुष्ठान का फल अल्प और अस्थायी होता है; फलवासना रहित, परम पुरुष की आराधनात्मक कर्मों की उपासनात्मक ज्ञानोत्पत्ति से ब्रह्म का यथार्थ, अनंत और स्थिर अनुभव होता है। कर्म का स्वरूप ज्ञान के बिना नही जाना जा सकता। ज्ञान रहित कर्मानुष्ठान के त्याग करने मात्र से, परम पुरुष के आराधना-त्मक कर्म का अनुष्ठान नही हो सकता, इसलिए कर्म विचार के बाद आराधना के मुख्य हेतु ब्रह्म का विचार आवश्यक है यही "अथातः" पद का तात्पर्य है।

तत्र पूर्वपक्षवादी मन्यते-वृद्धव्यवहारादन्यत्रशब्दस्य बोधकत्वशक्त्यवधारणासंभवात्, व्यवहारस्य च कार्यबुद्धिपरत्वेन कार्यार्थे एव शब्दस्य प्रामाण्यमिति कार्यरूप एव वेदार्थः। अतो न वेदांताः परिनिष्पन्ने परे ब्रह्मणि प्रमाणभावमनुभवितुमर्हन्ति। न च पुत्रजन्मादिसिद्धवस्तुविषयवाक्येषुहर्षहेतूनांकाललयवर्त्तिनां अर्थानामानंत्यात् सुलग्नसुखप्रसवादिहर्षहेत्वर्थान्तरोपनिपात संभावनया च प्रियार्थप्रतिपत्तिनिमित्तसुखविकासादिलिंगेनार्थ विशेष बुद्धिहेतुत्व निश्चयः, नापिव्युत्पन्नेतरपादविभक्त्यर्थस्य पदातरार्थ निश्चयेन प्रकृत्यर्थनिश्चयेन वा शब्दस्य सिद्धवस्तुन्यभिधान शक्ति निश्चयः, ज्ञातकार्याभिधायिपदसमुदायस्य, तदंशविशेष निश्चयरूपत्वात्तस्य। न च सर्पाद् भीतस्य "नायं सर्पो रज्जुरेषा" इति शब्द श्रवणसमनंतरं भयनिवृत्तिदर्शनेन सर्पाभावबुद्धिहेतुत्व निश्चयः अत्रापि निश्चेष्टं निर्विशेषमचेतनमिदं वस्त्वित्याद्यर्थबोधेषु बहुषुभयनिवृत्तिहेतुषुसत्सु विशेषनिश्चयायोगात्। कार्यबुद्धि प्रवृत्तिव्याप्तिबलेन शब्दस्य प्रवर्त्तकार्थावबोधित्वमूपगतमिति सर्वपदानां कार्यपरत्वेन सर्वैः पदैः कार्यस्यैव विशिष्टस्य प्रतिपादनान्नान्यान्वितस्वार्थमात्रे पदशक्ति निश्चयः। इष्टसाधनताबुद्धिस्तु कार्यबुद्धिद्वारेण प्रवृत्ति हेतुः, न स्वरूपेण, अतीतांनागतवर्त्तमानेष्टोपायबुद्धिषु प्रवृत्यनुपलब्धेः। 'इष्टोपायो हि मत्प्रयत्नादृते न सिध्यति, अतोमत्कृतिसाध्यः, इतिबुद्धिर्यावन्न जायते, तावन्न प्रवर्त्तते। अतः कार्यबुद्धिरेव प्रवृत्तिहेतुरिति प्रवर्त्तकस्यैव शब्दवाच्यतया कार्यस्यैव वेदवेद्यत्वात् परिनिष्पन्नरूप ब्रह्मप्राप्तिलक्षणानंतस्थिरफलाप्रतिपत्ते "अक्षय्य ह वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतं भवति" इत्यादिभिः कर्मणामेव स्थिरफलत्वप्रतिपादनाच्च कर्म

फलाल्पास्थिरत्व ब्रह्मज्ञान फलानंतस्थिरत्वज्ञान हेतुको ब्रह्मविचारारम्भो न युक्त:—इति ।

सूत्रार्थ योजनारम्भ:—पूर्व पक्षवादी कर्म मीमांसकों की मान्यता है कि–वृद्ध व्यवहार (प्राचीनों के शब्द प्रयोग से) रहित शब्द की अवबोधन शक्ति का अवधारण संभव नहीं है (अर्थात् किस शब्द का क्या अर्थ है, यह नहीं जाना जा सकता) वृद्ध व्यवहार कार्य बुद्धि (क्रियानुष्ठान दृष्टि) के विना हो नहीं सकता। कार्य रूप में ही शब्द की प्रामाणिकता है (वस्तुबोधन में शब्द की प्रामाणिकता नहीं है) अत: यज्ञादि कर्मानुष्ठान का प्रतिपादन ही वेद का मुख्यार्थ स्वीकारना होगा। स्वत: सिद्ध परब्रह्म के प्रतिपादक वेदांत वाक्यों का प्रामाण्य नहीं माना जा सकता। और न केवल पुत्रजन्मादि बोधक (पुत्रस्तेजात: इत्यादि) हर्षोत्पादक वाक्यों की तरह ब्रह्म बोधक वेदांत वाक्यों की प्रामाणिकता हो सकती है। त्रिकालवर्ती हर्षोत्पादक अनंत और असंख्य कारणों में विशेष शुभ लग्न शुभ प्रसव आदि हर्ष की संभावना तथा प्रिय संगठन सूचक वक्ता के हर्षोल्लासपूर्ण मुख आदि को देखकर निश्चित किया जाता है कि–कोई विशेष प्रसंग उपस्थित है [केवल कथनमात्र से पुत्रजन्म की बात प्रामाणिक नहीं मानी जाती] अव्युत्पन्न (यौगिक अर्थ रहित) शब्द की विभक्ति के अर्थ निर्धारण में, निकटस्थ दूसरे पद के अर्थ से अथवा प्रकृति शब्द के अर्थ से, शब्द की सिद्ध वस्तुता की अभिधा शक्ति का निश्चय होता है। पर उक्त प्रसंग में वह नियम भी लागू न होगा, क्यों कि–यहाँ प्रसिद्ध कार्य बोधक सारे शब्द अंशविशेष (विभक्ति) से ही अर्थ निश्चय करा देते हैं। और न, सर्प से भयभीत व्यक्ति को "यह सर्प नहीं रस्सी है" इतना कहने मात्र से निर्भय देखा जाता है, केवल कहने से, सर्प के प्रति अभाव बुद्धि नहीं हो सकती जिससे कि भीत व्यक्ति सर्पाभाव का निश्चय कर सके। निश्चेष्ट, निर्विष, अचेतन आदि अनेक भय निवृत्ति कारक कारणों से यह निश्चय नहीं हो पाता कि यथार्थ क्या है (यदि सर्प है तो निश्चेष्ट क्यों है? संभवत: चुपचाप पड़ा हो, छूने से काट लेगा तो विष चढ़ जायगा इत्यादि भ्रांतियाँ, रस्सी बतलाने पर भी बनी रहती हैं)

वार्थ्य बुद्धि, प्रवृत्ति और व्याप्ति के बल से शब्द का प्रवर्त्तक अर्थावबोध होता है। [अर्थात् शब्द मात्र की प्रवृत्ति को बतलाने वाले रूप से अर्थावबोधकता होती है; कार्य विषयक ज्ञान और कार्य विषयक प्रवृत्ति घटित अर्थावबोध से निश्चित होता है कि–] सारे ही शब्द कार्य परक एवं विशेष कार्य प्रतिपादक होते हैं। क्रिया संबंधी अर्थ प्रतिपादन से ही समस्त शब्दों की शक्ति का निश्चय होता है [अर्थात् क्रिया सम्पर्क रहित पद में अर्थावबोधकता नहीं होती] इष्ट साधनता बुद्धि, जो कि प्रवृत्ति की मूलहेतु है, वह भी सीधे न होकर क्रिया बुद्धि द्वारा ही होती है, इसीलिए अतीत, अनागत और वर्त्तमान में जो इष्ट साधन रहते हैं, उनका ज्ञान रहते हुए भी प्रवृत्ति नहीं होती। "ये इष्ट उपाय मेरे प्रयत्न के बिना सिद्ध नहीं हो सकते, ये मेरे प्रयास से ही साध्य हैं, मुझे इसके लिए प्रयास करना चाहिए" ऐसी बुद्धि जब तक नहीं होती, तब तक प्रवृत्ति हो नहीं सकती, इसलिए कार्यबुद्धि ही लोक प्रवृत्ति की मूल हेतु है। लोक प्रवृत्ति का हेतु भूत अर्थ ही जब शब्द का प्रकृत वाच्यार्थ है तो, कार्य को ही वेद का प्रतिपाद्य विषय माना जायगा (सिद्ध वस्तु प्रतिपादन उसका विषय नहीं हो सकता) अतः स्वतः सिद्ध ब्रह्म प्राप्ति रूप अनंत और नित्य फल, केवल प्रतीति या ज्ञान द्वारा नहीं हो सकता। "चातुर्मास्य यज्ञ करने वाले पुण्यात्मा अक्षय फल पाते हैं" इत्यादि कर्मों की प्रतिपादक श्रुतियों में स्थिर फल का प्रतिपादन किया गया है। इसलिए यह कहना कि—कर्मफल अल्प और अस्थिर तथा ब्रह्म ज्ञान फल अनन्त और स्थिर बतलाने वाला ब्रह्मविचारात्मक, प्रारंभ, इस ग्रंथ में किया गया है, असंगत बात है।

अत्राभिधीयते-निखिललोकविदितशब्दार्थसंबधावधारणप्रकारमपनुद्य सर्वशब्दानां अलौकिकैकार्थविवोधित्वावधारणं प्रमाणिका न बहुमन्यन्ते। एवं किल बालाः शब्दार्थ संबंधमवधारयंति मातापितृप्रभृतिभिरम्बातातमातुलादीन् शशिपशुनरमृगपक्षिसर्वादींश्च "एनमवेहि इमं चावधारय" इत्याभिप्रायेण, अंगुल्यानिर्दिश्य तैस्तैः शब्दैस्तेषुतेष्वर्थेषु बहुशः शिक्षिताः शनैः शनैः तैस्तैरेव शब्दैःसंबंधातेषुतेष्वर्थेषु स्वात्मनां बुद्धयुत्पत्ति दृष्ट्वा शब्दार्थयोस्संबन्धान्त रादर्शनात्

सकेतयितृपुरुषाज्ञानाच्चतेष्वर्थेषु तेषांशब्दानां प्रयोगो बोधकत्वं निबंधन इति निश्चिन्वंति। पुनश्च व्युत्पन्नेतर शब्देषु, "अस्यशब्द-स्यायमर्थः" इति पूर्ववृद्धैः शिक्षिताः सर्वशब्दानामर्थमवगम्य पर-प्रत्यायनाय तत्तदर्थावबोधि वाक्यजातं प्रयुंजते। प्रकारान्तरेणापि शब्दार्थसंबंधावधारणं सुशकम् केनचित् पुरुषेण हस्तचेष्टादिना "पितास्ते सुखमास्ते" इति देवदत्ताय ज्ञापयेति प्रेषितः कश्चित् तज्ज्ञापने प्रवृत्तः "पितास्ते सुखमास्ते" इति शब्दं प्रयुंक्ते। पार्स्व-स्थोऽन्यो व्युत्पित्सुमूकवच्चेष्टाविशेषज्ञस्तज्ज्ञापने प्रवृत्तमिमं ज्ञात्वाऽ-नुगतस्तज्ज्ञापनाय प्रयुक्तं इम शब्द श्रुत्वा "अयं शब्दस्तदर्थबुद्धि-हेतुः" इति निश्चिनोति-इति कार्यार्थं एव व्युत्पत्तिरिति निर्बन्धो निर्निबन्धनः। अतो वेदांताः परिनिष्पन्नं परंब्रह्म, तदुपासनं चाप-रिमितफलं बोधयंतीति तन्निर्णयफलो ब्रह्मविचारः कर्त्तव्यः।

इस पर उत्तर पक्ष का कथन यह है कि–सामान्यतः शब्द और अर्थ सम्बन्धी (वाच्य वाचक भाव) अवधारण की प्रसिद्ध प्रणाली को छोड़कर समस्त शब्दों की अलौकिक अर्थावबोध की प्रणाली का प्रतिपादन प्रामाणिकों की दृष्टि में बहुमान्य नहीं हो सकता। अबोध बालक शब्द और अर्थ के सम्बन्ध की वे अपने माता पिता आदि गुरुजनों से "मां, पिता, मामा आदि, चन्द्र, पशु, नर, मृग, पक्षी, सर्प आदि को अंगुली के निर्देश से इनको जानो और याद रक्खो" शिक्षा प्राप्त करते हैं; इस प्रकार उन-उन शब्दों का वही वही अर्थ अनेक बार बतलाने पर धीरे-धीरे उन उन शब्दों का उन्हीं अर्थों में प्रयोग करते देखकर तथा उन शब्दों को किसी अन्य अर्थ में प्रयुक्त होते न देखकर, संकेत करने वाले व्यक्ति के बिना भी वे बालक अपनी बुद्धि से उन शब्दों की उन्हीं अर्थों में प्रयोग बोधकता निश्चित कर लेते है। अव्युत्पन्न शब्दों में "इस शब्द का यह अर्थ है" अपने पूर्वजों से जानकर दूसरों को प्रबोधित करने के लिये और स्वतः भी भिन्न भिन्न अर्थ बोधक वाक्यों का प्रयोग करते हैं।

अन्य प्रकारों से भी शब्दार्थ सम्बन्ध का अवधारण किया जा सकता है। "तुम्हारे पिता सुख पूर्वक हैं, ऐसा देवदत्त से कह देना" ऐसा हाथ से चेष्टा पूर्वक किसी व्यक्ति के बतलाने पर कोई व्यक्ति उस समाचार को बतलाने में "तुम्हारे पिता सुख से है" ऐसा प्रयोग करता है। मूक की तरह चेष्टा या हस्त संकेत मात्र से समझने वाला कोई अन्य व्यक्ति, जो कि उस वार्ता को देख रहा था, जानने की इच्छा से सदेशवाहक व्यक्ति के पीछे पीछे जाकर, संदेश में प्रयुक्त उन्हीं शब्दों को सुनकर अपनी धारणा बनाता है कि–यह शब्द उस आदिष्ट अर्थ बोध का कारण है। इसलिए-कार्य बोधक वाक्य से ही व्युत्पत्ति (शब्दार्थ सम्बन्ध ग्रहण) हो–ऐसा आग्रह निराधार है। इससे निश्चित होता है कि–वेदांत वाक्य, स्वतःसिद्ध परब्रह्म और उनकी उपासना तथा उस उपासना के अपरिमित फल के बोधक है; इसलिए वेदांतार्थ के निर्णय के लिए ब्रह्म विचार कर्त्तव्य है।

कार्यार्थत्वेऽपि वेदस्य ब्रह्मविचारः कर्त्तव्य एव। कथम "आत्मा वा अरे दृष्टव्यः श्रोतव्यो, मंतव्यो निदिध्यासितव्य.", सोऽन्वेष्टव्यः विजिज्ञासितव्यः", विज्ञाय प्रज्ञांकुर्वीत"; दहरोऽस्मिन्नंतर आकाशः तस्मिन् यदंतः तदन्वेष्टव्यंतद्वाव विजिज्ञासितव्यम्", "तत्रापि दहरं गगनं विशोकः तस्मिन्यदंतः तदुपासितव्यम्"— इत्यादिभिः प्रतिपन्नोपासनविषयकार्याधिकृतफलत्वेन "ब्रह्मविद आप्नोति परम्" इत्यादिभिः ब्रह्मप्राप्ति श्रूयत इति ब्रह्मस्वरूप तद्विशेषणानां दुःखासंभिन्नदेशविशेषरूप स्वर्गादिवत्, रात्रिसत्र-प्रतिष्ठादिवत्, अपगोरणशतयातनासाध्यसाधनभाववच्च, कार्योपयोगितयैव सिद्धेः।

वेद की कार्यार्थता स्वीकारने पर भी ब्रह्म विचार ही कर्त्तव्य है। यदि पूछें कि कैसे ? तो सुनिये—"अरे आत्मा ही देखने सुनने, मनन करने और चिंतन करने योग्य है", वही अन्वेषणीय और जिज्ञास्य है, "उसे जानकर धारणा बनाओ", इसमें जो सूक्ष्म आकाश है, उसके अन्दर

वाला अन्वेषणीय है, उसे ही विशेष रूप से जानने की इच्छा करनी चाहिए, वहां पर भी जो दुःख रहित सूक्ष्म आकाश है उसके अन्दर स्थित की उपासना करनी चाहिये" इत्यादि श्रुतियो में जो उपासना विहित है "ब्रह्मवेत्ता परब्रह्म को प्राप्त होता है" इत्यादि श्रुतियो मे, उसी उपासना के निश्चित फल ब्रह्म प्राप्ति का, उल्लेख किया गया है। दुःख संपर्क शून्य स्थान विशेष स्वर्ग की तरह, रात्रि सत्र से प्राप्त प्रतिष्ठा की तरह, तथा अपगोरण (ब्राह्मण) और शत यातना के साध्य साधन भाव की तरह, यहाँ भी कार्य विशेष के उपयोगी ब्रह्म के स्वरूप और गुणों का अस्तित्व स्वतः सिद्ध हो जाता है।

"गामानय" इत्यादिष्वपि वाक्येषु न कार्यार्थे व्युत्पत्तिः भवदभिमत कार्यस्य दुर्निरूपत्वात्। कृतिभावभाविकृत्युद्देश्य हि भवतः कार्यम्। कृत्युद्देश्यं च कृतिकर्मत्वम्। कृतिकर्मत्वंच कृत्याप्राप्तुमिष्टतमत्वम्। इष्टतमं च सुखं वर्त्तमान दुःखस्य तन्निवृत्तिर्वा। तत्रेष्टसुखादिना पुरुषेण स्वप्रयत्नात् ऋते यदि तदासिद्धिः प्रतीता, ततः प्रयत्नेच्छुः प्रवर्त्तते पुरुष इति न क्वाचिदपि इच्छयाविषयस्य कृत्यधीन सिद्धत्वमंतरेण कृत्युद्देश्यत्वं नाम किंचिदप्युपलभ्यते। इच्छाविषयस्य प्रेरकत्व च प्रयत्नाधीनसिद्धित्वमेव तत एव प्रवृत्तेः न च पुरुषानुकूलत्वं कृत्युद्देश्यत्वं, यतः सुखमेव पुरुषानुकूलम्। न च दुःखनिवृत्तेः पुरुषानुकूलत्वं "पुरुषानुकूल सुखं तत्प्रतिकूलं दुःखम्" इति हि सुखदुःखयोः स्वरूप विवेकः। दुःखस्य प्रतिकूलतया तन्निवृत्तिरिष्टा भवति, नानुकूलतया। अनुकूल प्रतिकूलान्वयविरहे स्वरूपेणावस्थितिर्हि दुःखनिवृत्तिः अतः सुखव्यतिरिक्तस्य क्रियादेः अनुकूलत्वं न सभवति। न सुखार्थतया तस्याप्यनुकूलत्वम, दुःखात्मकत्वातस्य। सुखार्थतयाऽपि तदुपादानेच्छामात्रमेव भवति। न च कृतिप्रति शेषित्वं कृत्युद्देश्यत्वम्, भवत्पक्षेशेषित्वस्यानिरूपणत्वात्।

"गाय लाओ" इत्यादि वाक्यों में भी कार्यार्थिक व्युत्पत्ति नहीं है। आपके अभिमत, कार्य का, कौन सा रूप, उक्तवाक्य में निहित है, यह समझ में नहीं आता। पुरुष की चेष्टा के अस्तित्व में ही जिसका अस्तित्व है तथा पुरुष की चेष्टा ही जिसका उद्देश्य है वही तो आपके कार्य का स्वरूप होगा। चेष्टा के उद्देश्य का तात्पर्य है, चेष्टा का कार्य या विषय। चेष्टा के कर्म का तात्पर्य है, चेष्टा द्वारा प्राप्त अभिलषित इष्ट। सुख या उपस्थित दुःख की निवृत्ति ही तो मनुष्य का अभिलषित इष्ट होता है। इष्ट सुख प्राप्ति के इच्छुक व्यक्ति को यह आभास होता है कि—अपने स्वतः प्रयास के बिना, इष्टसिद्धि संभव नहीं है, इसलिए प्रयास की इच्छा से वह कार्य में प्रवृत्त होता है। इच्छित विषय के प्रयत्नाधीन हुए बिना प्रयत्न उद्देश्यता, कभी देखी नहीं जाती [अर्थात् बिना प्रयास के उद्देश्य की प्राप्ति किसी को होती नहीं] "यह अभीष्ट विषय मेरे प्रयास के अधीन है" ऐसा भान होने के बाद ही कार्य में प्रवृत्ति होती है, इसी को प्रयत्नाधीन सिद्धि कहते हैं। सुख ही जब मनुष्य का अनुकूल विषय है तो कृति के उद्देश्य (चेष्टा के विषय) को पुरुष के अनुकूल नहीं कहा जा सकता, और न दुःख की निवृत्ति ही पुरुषानुकूलता है। सुख मनुष्य का अनुकूल तथा दुःख प्रतिकूल होता है, यही सुख दुःख संबंधी विवेक है। प्रतिकूल होने के कारण ही दुःख की निवृत्ति इष्ट होती है, न कि अनुकूल होने से। अनुकूल और प्रतिकूल संबंध शून्य स्वरूपावस्थिति ही तो दुःख निवृत्ति कहलायेगी [अर्थात् दुःख निवृत्ति ही सुख नहीं है, दुःख निवृत्ति की अवस्था में न सुख रहता है न दुःख] सुख रहित क्रियाओं में अनुकूलता हो नहीं सकती, और न सुखार्थ साधन होने से ही उन्हें अनुकूल कहा जा सकता है, क्योंकि सारे साधन प्रायः दुःखात्मक ही होते हैं। सुखार्थक तो वे तभी हो सकते हैं, जब उन्हें अपनी इच्छा से सुख के साधन बनाया जाय [अर्थात् दुःख की निवृत्ति में जो स्थिति होती है, उसे शान्ति कहा जा सकता है, वह शान्ति सुख का साधन तो है, पर जभी है जब कि मनुष्य, साधन रूप उस शान्ति को, साध्य रूप चिर शांति बनाये रखने के लिए, अनवरत प्रयास करता रहे, अन्यथा वह शांति भी खलने लगेगी] क्रिया के शेष को भी क्रिया का उद्देश्य नहीं कहा जा सकता, क्योंकि आपका ही मत है कि—शेपिता अनिरूपणीय तत्त्व है।

न च परोद्देशप्रवृत्तकृतिव्याप्त्यर्हत्वंशेषत्वमिति तत् प्रतिसंबंधो शेषीत्यवगम्यते । तथासति कृतेरशेषत्वेन तां प्रति तत्साध्यस्य शेषित्वाभावात् । न च परोद्देशप्रवृत्त्यर्हतायाशेषत्वेन परः शेषी, उद्देश्यत्वस्यैव निरूप्यमाणत्वात् प्रधानस्यापि भृत्योद्देशप्रवृत्त्यर्हत्वदर्शनाच्च । प्रधानस्तु भृत्यपोषणेऽपि स्वोद्देशेन प्रवर्त्तत इति चेन्न, भृत्योऽपि हि प्रधानपोषणे स्वोद्देशेनैव प्रवर्त्तते; कार्य स्वरूपस्यैवानिरूपणात् "कार्यप्रतिसंबंधी शेषः, तत्प्रतिसम्बंधी शेषी" इत्यप्यसंगतम् ।

दूसरे फल के उद्देश्य से प्रारंभ किये गये प्रयास के अनुगत विषय को शेष तथा उसके संपर्कित विषय को शेषी नहीं कहा जा सकता। क्योंकि—कृति (प्रयत्न) ही जब शेष नहीं हो सकता, तो उससे संपर्कित साध्य विषय ही, शेषी कैसे हो सकता है। परोद्देश्य प्रवृत्ति योग्य को शेष तथा पर को शेषी कहें, ऐसा भी असंभव है, क्योंकि-पर वस्तु की उद्देश्यता ही निरूपित हो सकती है। प्रधान की भृत्य के प्रति प्रवृत कराने की क्षमता देखी जाती है [प्रधान स्वयं भृत्य के शासन में प्रवृत्त होता नहीं देखा जाता] यदि कहो कि—प्रधान भृत्य का पोषण, अपने उद्देश्य से ही करता है, सो ऐसा नहीं, भृत्य भी तो प्रधान की सेवा अपने उद्देश्य से करता है। इस प्रकार कार्य के स्वरूप का निरूपण ही जब दुरूह है, तो कार्य प्रतिसंबंधी शेष और उसके प्रतिसंबंधी शेषी का ऐसा निर्देश भी असंगत है।

नापि कृतिप्रयोजनत्वं कृत्युद्देश्यत्वम्, पुरुषस्य कृत्यारम्भ प्रयोजनमेव हि कृतिप्रयोजनम् । स चेच्छाविषयः । तस्मादिष्टत्वातिरेकिकृत्युद्देश्यत्वानिरूपणात् कृतिसाध्यताकृति प्रधानत्वरूपं कार्यं दुर्निरूपमेव ।

कृति (प्रयत्न) के प्रयोजन को ही कृत्युद्देश्य नहीं कह सकते। मनुष्य के कार्यारम्भ का प्रयोजन ही वस्तुतः कृति का प्रयोजन होता है,

वह पुरुष की इच्छा का विषय होता है। इसलिए जब कि इष्टता (इच्छाविषता) से भिन्न कृत्युद्देश्यता नही हो सकती तो कृति साध्य (यत्ननिष्पाद्य) कृति प्रधान विषय को ही कार्य कहना कठिन है।

नियोगस्याप साक्षादिषिविषयभूत सुखदुःखनिवृतिभ्यामन्यत्वा त्तत्साधतयैवेष्टत्वं कृतिसाध्यत्वं च। अत एव हि तस्य क्रियातिरिक्तता, अन्यथा क्रियैव कार्यं स्यात्; स्वर्गकामपदसमभिव्याहारानुगुण्येन लिंगादिवाच्यं कार्यं स्वर्गसाधनमेवेतिक्षणभंगिकर्मातिरेकि स्थिरं स्वर्गसाधनमपूर्वमेव कार्यमिति स्वर्गसाधनतोल्लेखेनैव हि अपूर्व व्युत्पत्तिः। अतः प्रथमनमन्यार्थतया प्रतिपन्नस्य कार्यस्थानन्यार्थत्वनिर्वहणायापूर्वमेव पश्चात् स्वर्गसाधन भवतीत्युपहास्यम्। स्वर्गकामपदान्वितकार्याभिधायिपदेन प्रथमप्यनन्यार्थतानभिधानत् सुखदुःखनिर्वृत्ति तत्साधनेभ्यो अन्यस्यानन्यार्थस्याकृतिसाध्यता प्रतीत्यनुपपत्तेश्च।

सुखदुःख निवृत्ति दोनों ही इच्छा के विषय हो सकते है (विधिवाक्यगत) नियोग, सुख दुःख निवृत्ति से पृथक् वस्तु है। नियोग के विषय में जो इच्छा होती है, वह सुख दुःख निवृत्ति विषयक ही होती है, तथा उसके साधन रूप नियोग की इष्टता और कृति साध्यता भी होती है; इसी से उसकी, क्रिया से भिन्नता होती है, अन्यथा क्रिया ही कार्य हो जाय (अर्थात् अनुष्ठान और फल एक हो जाय) स्वर्गकाम पद के साथ एक योग में संबंधित "लिंग" आदि विभक्ति से जो कार्य प्रतीत होता है, वही स्वर्ग का साधन है। इससे ज्ञान होता है कि–क्षणभंगुर याग आदि कर्मो से पृथक् एवं चिरस्थायी स्वर्ग साधन, "अपूर्व" (पापपुण्यरूप अदृष्ट) ही कार्य है। स्वर्ग साधनोल्लेख से "अपूर्व शब्द के अर्थ की ही प्रतीति होती है। इस प्रकार" अपूर्व "और" कार्य "जब एक ही वस्तु है तब दोनों की अभिन्नता के लिए पहिले उसे "अपूर्व" कह कर उसे ही स्वर्ग साधन बतलाना उपहासास्पद बात है। "स्वर्गकाम" पद के साथ संबद्ध कार्य बोधक पद, पहिले भी अभिन्नता अर्थ का प्रतिपादन नहीं करता, क्यों कि–सुखदुःख निवृत्ति और उन दोनों के साधन से भिन्न "अनन्यता" अर्थ कभी कृतिसाध्यता ज्ञान से उत्पन्न नहीं हो

सवता [तात्पर्य यह है कि–स्वर्गकाम: अश्वमेधेन यजेत" यह विधिवाक्य पहिले "लिंग" विभक्ति से यज्ञ की कर्त्तव्यता बतलाता है पुन: "स्वर्गकाम" से संबद्ध होकर यज्ञ की स्वर्गसाधनता का अर्थ प्रतिपादन करता है। यज्ञ एक अल्प कालीन क्रिया मात्र है, इससे कालांतरभावी स्वर्ग साधन होना संभव नही है इसलिए यज्ञ के अतिरिक्त "अपूर्व" नामक यज्ञ फल को स्वीकारना पड़ता है। यज्ञ के उपयुक्त फल न होने तक वह "अपूर्व" रहता है, फलावाप्ति कराकर वह समाप्त हो जाता है। स्वर्ग सुख की स्वाभाविक लालसा होती है, उस सुख की प्राप्ति के लिए ही लोगो की यज्ञ की ओर प्रवृत्ति होती है। इसलिए "अपूर्व" और "कार्य" पहिले अभिन्न रूप से माने जाये बाद मे स्वर्ग के साधन माने जाये, यह बात समझ मे नही आती]

अपि च किमिदं नियोगस्य प्रयोजनत्वम्? सुखवन्नियोगस्याप्यनुकूलत्वमेवेति चेत्; किं नियोगस्सुखम्, सुखमेव हि अनुकूलम्। सुखविशेषवन्नियोगापरपर्यायं विलक्षणं सुखान्तरमिति चेत्; किं तत्र प्रमाणमिति वक्तव्यम् स्वानुभवश्चेत्, न, विषयविशेषानुभवसुखवन्नियोगानुभवसुखमिदमिति भवताऽपि नानुभूयते। शास्त्रेण नियोगस्य पुरुषार्थतया प्रतिपादनात् पश्चात्तु भोक्ष्यत् इति चेत्, किं तन्नियोगस्य पुरुषार्थत्ववाचिशास्त्रम। न तावल्लौकिकं वाक्यं तस्यदु:खात्मकक्रियाविषयत्वात् तेन सुखादिसाधनतयैव कृतिसाध्यतामात्र प्रतिपादनात्। नापि वैदिकं, तेनापिस्वर्गादि साधनतयैव कार्यस्य प्रतिपादनात्। नापिनित्यनैमितिकशास्त्रम् तस्यापि तदभिधायित्वं स्वर्गकामवाक्यस्थापूर्वव्युत्पत्तिपूर्वकमित्युक्तरीत्या तेनापि सुखादिसाधनकार्याभिधानमवर्जनीयम्। नियतैहिक फलस्य कर्मणोऽनुष्ठितस्य फलत्वेन तदानीमनुभूयमानान्नाद्यरोगतादि व्यतिरेकेण नियोगरूप सुखानुभवानुपलब्धेश्च नियोग: सुखमित्यत्र न किंचन प्रमाणमुपलभामहे अर्थवादादिष्वपि स्वर्गादिसुख प्रकारकीर्त्तनवन्नियोगरूपसुख प्रकारकीर्त्तनं भवताऽपि न दृष्टचरम्।

मैं पूछता हूँ कि– इस विधिवाक्यस्थ नियोग की प्रयोजनता क्या है ? यदि सुख की तरह अनुकूलता ही नियोग की प्रयोजनता है, तो क्या सुख ही नियोग है ? क्यों कि सुख ही एकमात्र अनुकूल होता है। यदि सुख विशेष की तरह नियोग को भी एक प्रकार का सुख ही मानते हो तो इसका तात्पर्य हुआ कि नियोग, सुख का नामांतर मात्र है; इसबात को भी प्रमाणित करना पड़ेगा। अपने अनुभव को ही प्रमाण नहीं कह सकते, विषय विशेष के अनुभूत सुख की तरह "नियोगानुभव में सुख हुआ" ऐसा तो आप भी नहीं कह सकते। यदि शास्त्र से, नियोग का पुरुषार्थ रूप से प्रतिपादन करने से उसकी भोग्यता (सुखरूपता) निश्चित होती है तो नियोग को पुरुषार्थ बतलाने वाले वे शास्त्र वाक्य कौन से हैं ? लौकिक वाक्यों को तो (नियोगवाची) कह नहीं सकते, क्यों कि–उनमें प्राय: दु:खात्मक क्रिया का ही वर्णन है, जिससे सुखादि साधन रूप से ही कर्त्तव्यता का प्रतिपादन होता है। वैदिक वाक्यों को भी (नियोगवाची) नहीं कह सकते उनमें भी प्राय: स्वर्ग साधनरूप से कार्य का प्रतिपादन होता है। नित्य नैमित्तिक क्रिया विधायक शास्त्र भी (नियोगवाची) नहीं कहे जा सकते, क्यों कि–"स्वर्गकाम: यजेत्" से जिस "अपूर्व" शक्ति की कल्पना की जाती है, उसके अनुसार ही नित्य नैमित्तिक क्रिया विधायक वाक्यों की अर्थ बोधकता कल्पित होती है; इस प्रकार उनसे भी सुखादि साधन रूप कार्य का ही प्रतिपादन होता है, जो कि अनिवार्य है। जिन कर्मो का फल इस लोक में ही निश्चित है, उन कर्मों का अनुष्ठान करने पर, फलस्वरूप अनुभूत, असन, वसन निरोगता आदि के अतिरिक्त, "नियोग" जन्य किसी विशेष सुख की उपलब्धि तो होती नहीं; जिससे नियोग को सुख कहा जाय, अत: "मियोग" का सुख मानने में कोई भी प्रमाण नहीं है।

अर्थवाद आदि वाक्यों में भी स्वर्गादि सुख के जो प्रकार कहे गए हैं, उनकी तरह, नियोग रूप सुख के प्रकार का वर्णन तो संभवत: आपको भी किसी शास्त्र में दृष्टिगत न हुआ होगा।

अतो विधिवाक्येष्वपि धात्वर्थस्य कर्त्तृव्यापार साध्यतामात्रं शब्दानुशासनसिद्धमेव लिंगादेर्वाच्यमित्यध्यवसीयते। धात्वर्थस्य च यागादेरग्न्यादि देवतान्तर्यामिपरंपुरुषसमाराधनरूपता, समाराधि-

तदाराधितपुरुषात्फलसिद्धिश्चेति “फलमत उपपत्ते.” इत्यत्र प्रतिपादयिष्यते। अतोवेदाताः परिनिष्पन्नं परंब्रह्म बोधयन्तीति ब्रह्मोपासनफलानन्त्यंस्थिरत्वं च सिद्धम्। चातुर्मास्यादि कर्मस्वपि केवलस्यकर्मणः क्षयिफलत्वोपदेशादक्षयफलश्रवणं “वायुश्चांतरिक्षं चैतदमृतम्” इत्यादिवदापेक्षिकं मंतव्यम्।

अतः केवलानां कर्मणामल्पास्थिरफलत्वात् ब्रह्मज्ञानस्य चानंतस्थिरफलत्वात् तन्निर्णयफलो ब्रह्मविचारारम्भोयुक्त इति स्थितम्।

इससे सिद्ध होता है कि–विधिवाक्यों में कर्त्ता की कार्य साध्यता मात्र ही, लिंग आदि धातु का शब्दानुशासन (व्याकरण) सिद्ध सही वाच्यार्थ है। अग्नि आदि देवताओं के भी अन्तर्यामी परमपुरुष भगवान की सम्यक् आराधना तथा आराधित परमपुरुष से होने वाली फलसिद्धि ही, यागादि शब्द वाच्य “यज्” धातु का मुख्यार्थ है; “फलमत उपपत्तेः” सूत्र में इसी तथ्य का प्रतिपादन किया जायगा। वेदांत वाक्य स्वतः सिद्ध परं ब्रह्म का ही प्रतिपादन करते हैं, उसी से ब्रह्मोपासना की अनंत और स्थिर फलता भी सिद्ध होती है। चातुर्मास्य आदि कर्मों में भी केवल कर्म के फल को नाशवान् बतलाया गया है। “वायु और अंतरिक्ष दोनों अमृत हैं” इस वाक्य में जैसे “अमृत” का अर्थ आपेक्षिक है (अर्थात् अन्यों की अपेक्षा चिरस्थायी है) वैसे ही चातुर्मास्यादि व्रतों का फल आपेक्षिक है।

इससे स्पष्ट होता है कि ज्ञान संबंध रहित केवल कर्मों का फल अल्प और अस्थिर तथा ब्रह्म ज्ञान का फल अनंत और स्थिर है, अतः ब्रह्म ज्ञान के स्वरूप निरूपण के लिए ब्रह्म विचार करना आवश्यक है, यही मत निश्चित होता है।

२ जन्माद्यधिकरण—

किं पुनस्तद्ब्रह्म, यज्जिज्ञास्यमुच्यते, इत्यत्राहः—

जिसे जिज्ञास्य कहा गया है, वह ब्रह्म कैसा है? इसी आकांक्षा का समाधान करते हैं।

जन्माद्यस्य यतः १।१।२—

जन्मादीति, सृष्टिस्थितिप्रलयम् तद्गुण संविज्ञानो बहुव्रीहिः। अस्याचिंत्यविविधविचित्ररचनस्यनियतदेशकालफलभोग ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तक्षेत्रज्ञमिश्रस्य जगतः। यतः—यस्मात् सर्वेश्वरान्निखिलहेयप्रत्यनीकस्वरूपात्सत्यसंकल्पाद्ज्ञानानंदाद्यनंतकल्याणगुणात् सर्वज्ञात् सर्वशक्तेः परमकारुणिकात् परस्मात् पुंसः सृष्टिस्थितिप्रलयाः वर्त्तन्ते; तत् ब्रह्मेति सूत्रार्थः।

जन्मादि का अर्थ है, सृष्टि, स्थिति और प्रलय। यहाँ तद्गुण संविज्ञान बहुब्रीहि समास है। अस्य का अर्थ; अचिन्त्य, विविध, विचित्र रचनात्मक, नियमित देश-काल-फलोपभोग संपन्न, ब्रह्म से लेकर स्तम्ब पर्यन्त, जीवों से युक्त जगत् है। यतः का तात्पर्य है--जिस, हीन दोष रहित, सत्यसंकल्प, ज्ञानआनंदादि अनंत कल्याणमय गुणवाले, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, परमकारुणिक, सर्वेश्वर, परब्रह्म, परमात्मा, से सृष्टि-स्थिति-प्रलय का प्रवर्त्तन होता है, वही ब्रह्म है। यही सूत्रार्थ है।

पूर्वपक्षः—भृगुर्वैवारुणिः, वरुणं पितरमुपससार, अधीहिभगवो ब्रह्म"—यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत् प्रयन्त्यभिविशन्ति, तद्विजिज्ञासस्व, तदब्रह्म"—इति श्रूयते। तत्र संशयः किमस्माद्वाक्यात् ब्रह्मलक्षणतः प्रतिपत्तुं शक्यते, नवा इति। किं प्राप्तं ? न शक्यमिति, न तावज्जन्मादयो विशेषणत्वेन ब्रह्म लक्षयन्ति, अनेकविशेषणव्यावृत्तत्वेन ब्रह्मणोऽनेकत्वप्रसक्तेः, विशेषणत्वंहि व्यावर्त्तकत्वम्।

"वरुण पुत्र भृगु, वरुण के निकट जाकर कहते हैं—भगवन्! मुझे ब्रह्म का उपदेश दें"—जिससे यह सारा भूत-समुदाय उत्पन्न होता है, जिसके आधार पर जीवित रहता है, तथा प्रयाण के समय जिनमें लीन हो जाता है, उसी को जानने की चेष्टा करो वही ब्रह्म है—"ऐसा श्रुति प्रमाण है। यहाँ संशय होता है कि— इस वाक्य से ब्रह्म का लक्षण जाना जा सकता है या नहीं? कह सकते हैं कि— नहीं जान सकते, क्यों कि— उक्त वाक्य में जन्म आदि विशेषणों वाले ब्रह्म का व्याख्यान है, अनेक

विशेषणों से युक्त मानने से ब्रह्म में अनेकता आजायगी। विशेषणता का अर्थ ही पार्थक्य साधक होता है।

ननु "देवदत्तः श्यामो युवा लोहिताक्षः समपरिमाणः" इत्यत्र विशेषणबहुत्वेऽप्येक एव देवदत्तः प्रतीयते। एवमत्राप्येकमेव ब्रह्म भवति। नैवम्—तत्र प्रमाणान्तरेणैक्यप्रतीतेः एकस्मिन्नेव विशेषणानामुपसंहारः। अन्यथा तत्रापि व्यावर्त्तकत्वेनानेकत्वमपरिहार्यम्। अत्र त्वनेनैवविशेषणेन लिलक्षयिषितत्वात् ब्रह्मणः प्रमाणान्तरेणैक्यमनवगतमिति व्यावर्त्तकभेदेन ब्रह्मबहुत्वमवर्जनीयम्।

(तर्क) "देवदत्त श्यामवर्ण का युवा, लालनेत्रों वाला सुडौल व्यक्ति है" इस वर्णन में, अनेक विशेषणों वाला एकही व्यक्ति कहा गया है, वैसे ही उपर्युक्त ब्रह्मलक्षण बोधक श्रुति वाक्य में अनेक विशेषणों वाले एक ही ब्रह्म का वर्णन है [वितर्क] ऐसी बात नही है क्यों कि– देवदत्त के वर्णन में तो, प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से एक देवदत्त की स्पष्ट प्रतीति होती है, इसलिए अनेक विशेषणों का समन्वय हो जाता है, यदि स्पष्ट प्रतीति न होती तो, विशिष्टता ज्ञापक पार्थक्य से अनेकता अनिवार्य हो जाती। ब्रह्म के प्रसंग में तो, विशेषणों द्वारा ही लक्षण बतलाने की चेष्टा की गई है, किसी अन्य प्रमाण से तो उसकी एकता ज्ञात होती नही, इसलिए विभिन्न विशेषताओं से ब्रह्म की अनेकता अनिवार्य हो जाती है।

ब्रह्मशब्दैक्यादाप्यैक्यं प्रतीयत् इति चेत् न, अज्ञातगो व्यक्तेः जिज्ञासो पुरुषस्य "षण्डो मुण्डः पूर्णश्रृंगो गौः" इत्युक्ते गोपदैक्येऽपि षण्डत्वादि व्यावर्त्तकभेदेन गोव्यक्तिबहुत्वप्रतीतेः ब्रह्मव्यक्तयोऽपि बह्व्यः स्युः। अतएव लिलक्षयिषिते वस्तुनि एषां विशेषणानां संभूय लक्षणत्वमप्यनुपपन्नम्।

ब्रह्म शब्द एक है, इसलिए सारे विशेषण भी एक होंगे ऐसा भी नहीं कह सकते; जैसे—जो व्यक्ति गौ को नहीं जानता, वह उसे जानना चाहता है, यदि उससे कहा जाय कि—"षण्ड-मुंड बड़ी सींगों वाली गौ होती है" तो उसे एक गौ के विशेषणों के पार्थक्य से अनेक गो रूपों की प्रतीति

होगी; वैसे ही ब्रह्म की भी बहुत्व प्रतीति होगी। केवल लक्षणों द्वारा जानी जाने वाली वस्तु अनेक विशेषणों से सम्मिलित लक्षण वाली नहीं हो सकती।

नाप्युपलक्षणत्वेन लक्षयंति, आकारान्तराप्रतिपत्तेः उपलक्षणानामेकेनाकारेण प्रतिपन्नस्य केनचिदाकारान्तरेण प्रतिपत्ति हेतुत्वं हि दृष्टं– 'यत्रायं सारसः स देवदत्तकेदारः" इत्यादिषु।

उक्त विशेषण, उपलक्षण के रूप से कहे गए हों, ऐसा भी नहीं है, क्यों कि–उक्त लक्षणों से अतिरिक्त कोई अन्य रूप का वर्णन उपलब्ध नहीं होता। "जहाँ वह सारस बैठा है वही देवदत्त का खेत है" इत्यादि उदाहरण में उपलक्षण विशेषणों की एकाकार प्रतीति अन्य प्रकार की होती है (ब्रह्म के प्रसंग में ऐसी अन्य प्रकार की प्रतीति नहीं होती इसलिए, उपलक्षण की बात असंगत है)

ननु च–"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इति प्रतिपन्नाकारस्य जगज्जन्मादीनि उपलक्षणानि भवन्ति। न इतरेतरप्रतिपन्नाकारापेक्षत्वेन उभयोर्लक्षणवाक्ययोरन्याश्रयणात्। अतो न लक्षणतो ब्रह्म प्रतिपत्तुं शक्यत इति।

"ब्रह्म सत्य ज्ञान अनंत स्वरूप है" इस वाक्य से जैसा ब्रह्म का रूप ज्ञात होता है, जगज्जन्मादि उसी के उपलक्षण है, ऐसा मानना भी ठीक नहीं है; दोनों ही समान रूप से ब्रह्म के स्वरूप लक्षण हैं, ऐसा मानने से दोनों में परस्पर अन्योन्याश्रयता हो जायगी। फिर किसी भी लक्षण द्वारा ब्रह्म के स्वरूप का प्रतिपादन नहीं हो सकेगा।

सिद्धान्तः—एवं प्राप्तेऽभिधीयते–जगत्सृष्टिस्थितिप्रलयैरुपलक्षणभूतैर्ब्रह्मप्रतिपत्तुं शक्यते। न च उपलक्षणोपलक्ष्याकारव्यतिरिक्ताकारान्तराप्रतिपत्तेर्ब्रह्मप्रतिपत्तिः; उपलक्ष्यं हि अनवधिकातिशयवृहत्, वृंहणं च बृहतेर्धातोस्तदर्थत्वात्। तदुपलक्षणभूताश्च जगज्जन्मास्थितिलयाः। "यतो-येनयत" इति प्रसिद्धिवन्निर्देशेन

यथाप्रसिद्धि जन्मादिकारणमनूद्यते । प्रसिद्धिश्च–"सदेवसोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्"–तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत् इत्येकस्यैव सच्छब्दवाच्यस्य निमित्तोपादानरूपकारणत्वेन तदपि–"सदेवेदमग्र एकमेवासीत्" इत्युपादानतां प्रतिपाद्य "अद्वितीयम्" इत्याधिष्ठात्रन्तरं प्रतिषिध्य "तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत्" इत्येकस्यैव प्रतिपादनात् । तस्माद् यन्मूला जगज्जन्मस्थितिलयाः तद्ब्रह्मेति जन्मस्थितिलयाः स्वनिमित्तोपादानभूतं वस्तुब्रह्मेति लक्षयन्ति । जगन्निमित्तोपादानताक्षिप्तसर्वज्ञत्वसत्यसकल्पत्वविचित्रशक्तित्वाद्याकारवृहत्वेनप्रतिपन्नं ब्रह्मेति च जन्मादीनां तथा प्रतिपन्नस्य लक्षणत्वेन नाकारान्तराप्रतिपत्तिरूपानुपपत्तिः ।

जगत सृष्टि–स्थिति–प्रलय से उपलक्षित ब्रह्म का प्रतिपादन किया जा सकता है। यह कहना भूल है कि–उपलक्षण और औपलक्ष्य इन दोनों के आकार से भिन्न किसी प्रकार की प्रतीति के बिना ब्रह्म की स्वरूप प्रतीति नहीं हो सकती । औपलक्ष्य (ब्रह्म) सीमा रहित, अतिवृहन् और वृहंण अर्थात् जगद् वृद्धि का हेतु है, "वृह" धातु का यही शब्दार्थ होता है। जगत् का जन्म-स्थिति और लय उसके ही उपलक्षण स्वरूप (परिचायक) हैं। यतः येन और यत् ये तीनों पद, जन्मादि आदि का प्रसिद्ध की तरह निर्देश करते हैं, ये लोक प्रसिद्ध जन्मादि कारण के अनुवादक मात्र हैं। "हे सोम्य ! यह जगत् सृष्टि के पूर्व एक अद्वितीय सत् ही था, उन्होंने विचार किया कि मैं बहुत होकर जन्म लूं, उन्होंने तेज की सृष्टि की" इस श्रुति में "सत्" पद वाच्य एक ही ब्रह्म की निमित्त और उपादान कारणता सुस्पष्ट है। "यह जगत पहले एक सत् स्वरूप था" इससे ब्रह्म की उपादान कारणता का प्रतिपादन करके "अद्वितीयं" पद से अन्य अधिष्ठाता (निमित्त कारण) का निषेध करके "उन्होंने विचार किया बहुत होकर जन्म लूं और फिर तेज की सृष्टि की" इस वाक्य में एक ही ब्रह्म की उपादान और निमित्त कारणता का प्रतिपादन किया गया है, इससे उक्त तथ्य की पुष्टि होती है। इससे ज्ञात होता है कि–जगत् की सृष्टि-स्थिति और लय का मूल ब्रह्म ही है। उक्त वाक्य

जन्म-स्थिति और लय के निमित्त और उपादान कारण को ब्रह्म कह कर लक्षित करते हैं। जगत् के निमित्त और उपादान कारण होने से ही ब्रह्म, सर्वज्ञ-सत्य संकल्प-विलक्षण शक्ति और बृहत्व से पूर्ण है। जन्मादि तथा उसी प्रकार की विशेषताओं से लक्षित होने से, ब्रह्म के लिए की गई आकारान्तर की अनुपपत्ति की शंका भी व्यर्थ हो जाती है।

जगज्जन्मादिविशेषणतया लक्षणत्वेऽपि न कश्चिद्दोषः। लक्षणभूतान्यपि विशेषणानिस्वविरोधिव्यावृत्तंवस्तु लक्षयन्ति। अज्ञातस्वरूपे वस्तुन्येकस्मिन् लिलक्षयिषतेऽपि परस्पराविरोध्यनेक-विशेषणलक्षणत्वं न भेदमापादयति। अत्र तु कालभेदेन जन्मादीनां न विरोधः।

जगज्जन्मादि विशेषणों से लक्षित होने पर भी ब्रह्म में किसी प्रकार का दोष संभव नही है। लक्षणात्मक विशेषण, अपनी विरुद्ध अविशिष्ट वस्तु को ही लक्षित करते हैं। अनेक विशेषण, अज्ञात स्वरूप एक ही वस्तु में, लक्षित होने के लिए प्रस्तुत होकर भी, परस्पर विरोधी नही होते, ऐसी बहु विशेषणात्मक लक्षणता, प्रतिपाद्य वस्तु में, विभिन्नता नहीं लाती। विशेषणों की एकाश्रयता प्रतीति से उन सभी का एक में ही समन्वय होता है [षण्ड, मुण्ड, पूर्ण शृङ्ग आदि परस्पर विरुद्ध विशेषतायें तो व्यक्ति में भेद की परिचायिका हैं] परन्तु जगत् के जन्मादि विशेषणों में तो विभिन्न कालीनता है इसलिए कोई विरोध नहीं है।

"यतोवा इमानि भूतानि जायते" इत्यादि कारण वाक्येन प्रतिपन्नस्यजगज्जन्मादिकारणस्यब्रह्मणः सकलेतरव्यावृत्तं स्वरूप-मभिधीयते—"सत्यंज्ञानमनतं ब्रह्म" इति। तत्र सत्यपदं-निरुपाधिकसत्तायोगि ब्रह्माह। तेन विकारास्पदमचेतनं तत्-संसृष्टश्चेतनश्च व्यावृत्तः। नामान्तरभजनार्हावस्थान्तरयोगेन तयोर्निरुपाधिकसत्तायोगरहितत्वात्। ज्ञान पदं नित्यासंकुचितज्ञानै काकारमाह। तेन कदाचित् संकुचितज्ञानत्वेन मुक्ता व्यावृत्ताः।

अनन्त पदं—देशकालवस्तुपरिच्छेद रहितं स्वरूपमाह। सगुणत्वा-त्स्वरूपस्य स्वरूपेण गुणैश्चानन्त्यम्। तेन पूर्वपदद्वयव्यावृतकोटिद्वय विलक्षणा: सातिशयस्वरूपस्वगुणा: नित्या: व्यावृत्ता:। विशेषणानां व्यावृत्तकत्वात्। तत: "सत्यंज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इत्यनेन वाक्येन जगज्जान्मादिनाऽवगतस्वरूपंब्रह्म सकलेतरवस्तुवितजातीयमिति लक्ष्यत, इति नान्योन्याश्रयणम्। अत: सकल जगज्जन्मादिकारणं निरवद्यं, सर्वज्ञं, सत्यसंकल्पं, सर्वशक्ति: ब्रह्म लक्षणत: प्रतिपत्तुं शक्यत, इतिसिद्धम्।

कारणता बोधक "यतो वा इमानि" इत्यादि वाक्य से, ब्रह्म को, जगत् के जन्मादि का कारण बतलाकर "सत्यं ज्ञान' इत्यादि वाक्य से, ब्रह्म की, अन्यान्य पदार्थों से विलक्षणता दिखलाई गई है। उक्त वाक्य में–सत्य पद, निरुपाधिसत्ता अर्थात् स्वाभाविक सत्ता विशिष्ट ब्रह्म का प्रतिपादक है। जिससे विकार पूर्ण अचेतन तथा उससे संबद्ध चेतन की ब्रह्मता का प्रतिषेध हो जाता है, क्योंकि–ये दोनों ही वस्तुएं विभिन्ननामों की मूलकारण, विभिन्न अवस्थाओंवाली होती हैं, इसलिए इनमें निरु-पाधिक सत्ता की अर्हता नही रहती। ज्ञान-पद, नित्य-विकसित अद्वैत बिशिष्ट ज्ञान का द्योतक है, जिससे संकुचित ज्ञानवाले मुक्त पुरुषों से भिन्नता सिद्ध होनी है। अनन्त-पद, देश-काल और वस्तु कृत परिच्छेद रहित स्वरूप का परिचायक है। ब्रह्म का स्वरूप सगुण है, इसलिए वह गुण और स्वरूप दोनों से अनन्त है। इस पद से, पूर्वोक्त दोनों, सत्य और ज्ञान पदों से प्रतिषिद्ध दो अंशों (असत्य और जड) से भी विलक्षण सातिशय, नित्य, स्वरूप और स्वगुण का भी प्रतिषेध हो जाता है। विशेषणों की व्यावर्त्तक (इतर भेदक) प्रवृत्ति होती है। 'सत्यं ज्ञान मनन्तंब्रह्म" इस वाक्य से, जगज्जन्मादि कारण रूप से प्रतिज्ञात ब्रह्म अन्यान्य समस्त पदार्थों से विलक्षण स्वरूप वाला लक्षित होता है, इसलिए दोनों प्रकार के विशेषणों में अन्योन्याश्रता नहीं होती। समस्त जगत् के जन्मादि के कारण, निर्दोष, सर्वज्ञ, सत्य संकल्प और सर्वशक्ति संपन्न ब्रह्म लक्षण द्वारा प्रतिपाद्य है, ऐसा सिद्ध होता है।

ये तु निर्विशेषवस्तु जिज्ञास्यमिति वदन्ति। तन्मते "ब्रह्मजिज्ञासा" जन्माद्यस्ययतः इत्यसंगतंस्यात्, निरतिशय बृहत्वृंहणं च ब्रह्मेति वचनात्; तच्च ब्रह्म जगज्जन्मादिकारणं इति वचनाच्च। एवमुत्तरेष्वपि सूत्रगणेषु सूत्रोदाहृत श्रुतिगणेषु च ईक्षणाद्यन्वयदर्शनात् सूत्राणि सूत्रोदाहृतश्रुतयश्च न तत्र प्रमाणम्। तर्कश्च साध्यधर्माव्यभिचारिसाधनधर्मान्वितवस्तुविषयत्वान्न निर्विशेषवस्तुनि प्रमाणम्। जगज्जन्मादि भ्रमोयतस्तद्ब्रह्मेति स्वोत्प्रेक्षा पक्षेऽपि न निर्विशेष वस्तुसिद्धिः भ्रममूलमज्ञानं, अज्ञानसाक्षिब्रह्मेत्यभ्युपगमात्। साक्षित्वं हि प्रकाशैकरसतमैवोच्यते। प्रकाशत्वं तु जडाद्व्यावर्त्तकं, स्वस्यपरस्य च व्यवहारयोग्यतापादनस्वभावेन भवति। तथा सति सविशेषत्वम्। तदभावे प्रकाशतैमैव न स्यात्। तुच्छतैव स्यात्।

जो यह कहते हैं कि—निर्विशेष वस्तु ही जिज्ञास्य है, उनके मतानुसार "ब्रह्मजिज्ञासा" कहने के बाद "जन्माद्यस्ययतः" कहना ही असंगत होगा। क्योंकि—जो सर्वापेक्षा वृहत् तथा सभी वस्तुओं की वृद्धि के कारण, ब्रह्म कहा जाता है, वही ब्रह्म जगत के जन्मादि का कारण बतलाया गया है। इसी प्रकार परवर्त्ती सूत्रों में भी, सूत्रों और सूत्रों में उदाहृत श्रुतियों में ईक्षण आदि विशेषताओं से उस का संबंध दिखलाया गया है, इसलिए उन सूत्रों और सूत्रोदाहृत श्रुतियों को तो निर्विशेष वस्तु में प्रमाण कह नहीं सकते। जो साधन, साध्य या प्रतिपाद्य विषय के धर्म को नहीं छोड़ सकता, ऐसे साधन धर्म संबद्ध पदार्थ के विषय में ही तर्क किया जा सकता, निर्विशेष वस्तु में तो तर्क भी प्रमाण नहीं हो सकता। जगत् का जन्मादि भ्रम जिससे हो वह ब्रह्म है, ऐसी आपकी अभिमत उत्प्रेक्षा (असंभव की संभावना) में भी निर्विशेष वस्तु की सिद्धि नहीं हो सकती क्योंकि भ्रम अज्ञानमूलक होता है, और आप ही ब्रह्म को अज्ञान का साक्षी मानते हैं। प्रकाश या अज्ञान का अभाव ही साक्षित्व है। प्रकाशता जड से भिन्न वस्तु है, एवं स्वतः और दूसरे को व्यवहार योग्य बनाने वाली होती है। ऐसे प्रकाशमान

ब्रह्म में सविशेषता ही हो सकती है; निर्विशेष मानने से उसमें प्रकाशता नही रह सकती, वह तुच्छ (मिथ्या) हो जायगा।

(३) उशास्त्रयोनित्वाधिकरणः—

जगजन्मादिकारणं ब्रह्म वेदांतवेद्यमित्युक्तम्, तदयुक्तम्, तद्धि न वाक्य प्रतिपाद्यम्। अनुमानेन सिद्धेरित्याशंक्याह—

जगज्जन्मादि के कारण ब्रह्म को वेदांत वेद्य वतलाया गया सो असगत बात है, यह अनुमान सिद्ध वस्तु है, वाक्य प्रतिपाद्य नहीं, इस आशका पर कहते हैं—

शास्त्रयोनित्वात् ।१।१।३

शास्त्रं यस्ययोनि. कारणं प्रमाणम्, तच्छास्त्रयोनिः तस्यभावः शास्त्र योनित्वं। तस्मात् ब्रह्मज्ञानकारणत्वात् शास्त्रस्य, तदयोनित्वं ब्रह्मणः। अत्यन्तातीन्द्रियत्वेन प्रत्यक्षादिप्रमाणाविषयतया ब्रह्मणः शास्त्रैकप्रमाणकत्वात् उक्त स्वरूपं ब्रह्म—"यतो वा इमानि भूतानि" इत्यादि वाक्य बोधयत्येवेत्यर्थः।

शास्त्र जिसकी योनि, कारण अर्थात् प्रमाण है उसे ही शास्त्रयोनि कहते है, उसके भाव या धर्म को शास्त्र योनिता कहते है। एक मात्र शास्त्र ही जब ब्रह्म विषयक ज्ञान का समुत्पादक हो तभी ब्रह्म की शास्त्र योनिता सिद्ध होती है। अत्यन्त अतीन्द्रिय होने से, प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों के अविषय ब्रह्म की शास्त्र प्रमाणता सिद्ध होती है। ऐसे ब्रह्म के स्वरूप को ही "यतो वा इमानि" इत्यादि वाक्यों में बतलाया गया है।

पूर्वपक्षः—ननु शास्त्रयोनित्वंब्रह्मणो न संभवति, प्रमाणांतर-वेद्यत्वाद् ब्रह्मणः। अप्राप्ते तु शास्त्रमर्थवत्।

किं तर्हि तत्र प्रमाणम्। न तावत् प्रत्यक्षं। तद्‌हिद्विविधं, इन्द्रियसंभवं योगसंभवं चेति। इन्द्रियसंभवं च वाह्य संभवमान्तरसंभवश्चेति द्विधा। वाह्येन्द्रियाणि विद्यमान सन्निकर्ष योग्यस्वविषयबोधजननानीति न सर्वार्थसाक्षात्कारतन्नि

र्माणसमर्थपुरुषविशेष विषयबोधजननानि। नाप्यान्तरम्, आन्तर-सुखदुःखादि व्यतिरिक्तबहिर्विषयेषुतस्य वाह्येन्द्रियानपेक्षप्रवृत्यनुपपत्तेः। नापि योगजन्यम, भावनाप्रकर्षपर्यन्तजन्मनस्तस्य विशदावभासत्वेऽपि पूर्वानुभूतविषयस्मृतिमात्रत्वान्न प्रामाण्यमिति कुतः प्रत्यक्षता, तदतिरिक्तविषयत्वे कारणाभावात्। तथासति तस्य भ्रमरूपता। नाप्यनुमानं विशेषतोदृष्टं सामान्यतो दृष्टं वा, अतीन्द्रिये वस्तुनि संबंधावधारणविरहान्न विशेषतो दृष्टम्। समस्त वस्तुसाक्षात्कार तन्निर्माणसमर्थपुरुषविशेष नियतं सामान्यतो दृष्टमपि न लिंगमुपलभ्यते।

पूर्वपक्ष— ब्रह्म की शास्त्र योनिता संभव नहीं है ब्रह्म अन्य प्रमाणों से ही वेद्य है, शास्त्र तो अन्य प्रमाणों से अप्राप्त वस्तु को ही प्रमाणित करते हैं।

अब विचारना यह है कि उस ब्रह्म के विषय में कौन सा प्रमाण हो सकता है? प्रत्यक्ष तो हो नहीं सकता; प्रत्यक्ष दो प्रकार का होता है, इंद्रिय संभव और योग संभव। इंद्रिय संभव भी वाह्यसंभव और आन्तर संभव भेद से दो प्रकार का है। वाह्य इन्द्रियाँ केवल सन्निहित और ग्रहणयोग्य उपस्थित विषय का ही बोध करा सकती है, वे समस्त विषयों के साक्षात्कार और निर्माण करने में समर्थ परमपुरुष विशेष का बोध नहीं करा सकतीं। अन्तरिन्द्रिय (मन) मन भी उनका बोध कराने में असमर्थ है, क्योंकि-वाह्येन्द्रियों की सहायता के बिना, आन्तरिक सुखदु:खादि के अतिरिक्त किसी अन्य वाह्य विषय में उसकी प्रवृत्ति संभव नहीं है। योग जन्य प्रत्यक्ष भी ब्रह्म संबंधी प्रमाण नहीं हो सकता, क्योंकि भावना या चिंतन के चरम उत्कर्ष से ही उत्पन्न विशद अवभास वाला वह ,पुर्वानुरत विषय की अनुभूति मात्रवाला ही होता है, अतः उसे तो प्रमाण कही नहीं सकते, ब्रह्म की प्रत्यक्षता उससे कैसे सभव है। पूर्वानुभूत विषय से अतिरिक्त किसी विषय का कभी योग द्वारा साक्षात् हो सके ऐसा कोई कारण नही मिलता, और यदि ऐसा अवभास संभव भी हो तो उसे भ्रम ही मानना चहिए।

विशेषतोदृष्ट या सामान्यतोदृष्ट अनुमान भी ब्रह्म विषयक प्रमाण नहीं हो सकता। अतीन्द्रिय वस्तु में जब संबधावधारण ही नहीं हो सकता तो विशेषतोदृष्ट अनुमान होगा भी कैसे ? समस्त वस्तुओं के साक्षात्कार और निर्माण में समर्थ सर्वोत्तम पुरुष विशेष के विषय नियत सामान्य मे दृष्ट अनुमान के लिए भी कोई चिन्ह दिखलाई नहीं देता जिसके आधार पर उसे लागू किया जा सके।

ननु च—जगतः कार्यत्वं तदुपादानोपकरणसंप्रदानप्रयोजनाभिज्ञकर्तृकत्वव्याप्तम्। अचेतनारब्धत्व जगतश्चैकचेतनाधीनत्वेन व्याप्तम्। सर्वं हि घटादिकार्यं तदपादानोपकरणसंप्रदानप्रयोजनाभिज्ञकर्तृकं दृष्टम। अचेतनारब्धमरोगंस्वशरीमेकचेतनाधीनं च सावयवत्वेन जगतः कार्यत्वम्।

(तर्क) जगत् की कार्यता उसके उपादान, उपकरण, संप्रदान (कार्य का उद्देश्य) और प्रयोजन से अभिज्ञ व्यक्ति के कर्तृत्व से, व्याप्त रहती है। अचेतनाबद्ध जागतिक कार्य, एकमात्र चेतन की अधीनता से ही व्याप्त हैं। घट आदि सारे कार्य, उनके उपादान, उपकरण, संप्रदान और प्रयोजन से अभिज्ञ व्यक्ति से संपादित और अचेतनाबद्ध दीखते हैं। अपना स्वस्थ शरीर भी, एक चेतन आत्मा के अधीन दीखता है। साकार होने से जगत की कार्यता प्रतीत होती है।

उच्यते—किमिदमेकचेतनाधीनत्वम् ? न तावत् तदायत्तोत्पत्तिस्थित्वम्. दृष्टांतो हि साध्यविकलः स्यात्, न हि अरोगं स्वशरीरमेक चेतनायत्तोत्पत्तिस्थित, तच्छरीस्य भोक्तृणां भार्यादि सर्वचेतनानामदृष्टजन्यत्वात्तदुत्पत्तिस्थित्योः। किं च शरीरावयविनः स्वावयवसमवेततारूपास्थिरवयवसंश्लेषव्यतिरेकेण न चेतनमपेक्षते। प्राणनलक्षणातुस्थितिः पक्षत्वाभिमते क्षितिजलधिमहोधरादौ न सभवतीति पक्षसपक्षानुगतामेकरूपां स्थितिं नोपलभामहे। तदायत्तप्रवृत्तित्वं तदधोनत्वमिति चेद् अनेकचेतनसाध्येषुगुरुतररथशिलामहोरुहादिषुव्यभिचारः। चेतनमात्राधोनत्वे सिद्धसाध्यता।

(वितर्क) यह एक चेतनाधीनता क्या है ? उसके आधीन उत्पत्ति, स्थिति तो हो नहीं सकती, ऐसा होने से पूर्वकथित दृष्टान्त ही साध्य विरुद्ध हो जायगा। अपना स्वस्थ शरीर एक चेतन के अधीन, उत्पन्न और स्थित तो हो नही सकता। शरीर का जन्म और पालन, विषयोपभोग करने वाले स्त्री आदि अनेक चेतनों के, अदृष्ट फल के अनुरूप हुआ करता है। शरीर रूपी अवयवी का अपने अवयवों के साथ जो समवाय संबंध होता है, वह शरीर के संश्लेष विशेष से ही होता है, उसमें किसी अन्य चेतन की तो अपेक्षा होती नहीं। पृथिवी, समुद्र, पर्वत आदि पदार्थों की, आपकी अभिमतपक्षता में, प्राणधारणरूप स्थिति, की संभावना तो है ही नहीं। पक्ष हो या सपक्ष सब जगह एक प्रकार की स्थिति नहीं होती। एक चेतनाधीनता का अर्थ, यदि तदायत्त प्रवृत्तिता करें तो, अनेक चेतनों से साध्य, गुरुतर रथ-शिला-पर्वत आदि पदार्थों में असंगति हो जायगी। यदि चेतनमात्र अधीनता अर्थ करें तो, सिद्ध साध्यता होगी।

किं च--उभयवादिसिद्धानां जीवानामेव लाघवेन कर्तृत्वाभ्युपगमो युक्तः। न च जीवानामुपादानाद्यनभिज्ञतया कर्तृत्वासंभवः सर्वेषामेव चेतनानां पृथिव्याद्युपादानयागाद्युपकरणसाक्षात्कारसामर्थ्यात्। यथेदानीं पृथिव्यादयोयागादयश्च प्रत्यक्षमीक्ष्यन्ते। उपकरणभूतयागादिशक्तिरूपापूर्वादिशब्दवाच्यादृष्ट साक्षात्काराभावेऽपि चेतनानां न कर्तृत्वानुपपत्तिः, तत्साक्षात्कारानपेक्षणात् कार्यारम्भस्य। शक्तिमत्साक्षात्कार एव हि कार्यारम्भोपयोगी। शक्तिस्तु ज्ञानमात्रमेवोपयुज्यते, न साक्षात्कारः। नहि कुलालादयः कार्योपकरणभूतदंडचक्रादिवत् तच्छक्तिमपि साक्षात्कृत्य घटमणिकादिकार्यमारभन्ते। इह तु चेतनानामागमावगतयागादिशक्तिविशेषाणां कार्यारम्भोनानुपपन्नाः।

जीव के अस्तित्व के संबंध में वादी प्रतिवादी दोनों एकमत है, अतः सुविधा के लिए जीव का कर्तृत्व ही स्वीकारना सुसंगत होगा।

जगत् के उपादानादि कारणों के विषय में जीवों की अभिज्ञता नहीं है, इसलिए उनका कर्तृत्व सभव नहीं है, ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि— पृथिवी आदि उपादान कारण तथा कार्य संपादक विषयों को तो सभी चेतन प्रत्यक्ष देखते है। अब भी पृथिवी, यागादि की प्रत्यक्ष अनुभूति होती है। यद्यपि; उपकरण रूप यागादि क्रिया की शक्ति "अपूर्व" शब्द वाच्य अदृष्ट का, प्रत्यक्ष साक्षात्कार नहीं होता, पर उसके चेतनों के कर्तृत्व में असंगति नहीं आती, क्योंकि—कार्यारम्भ में अदृष्ट के साक्षात्कार की अपेक्षा नही होती। कार्यारम्भ में वस्तु शक्ति का साक्षात्कार ही उपयोगी होता है। शक्ति मे भी ज्ञानमात्र ही उपयोगी होता है साक्षात्कार भी नही। कुम्भकार, घट मटकी आदि कार्यो के निर्माण के लिए, कार्य के उपकरण दंडचक्र की तरह, उसकी शक्ति को जानकर ही, कार्यारम्भ करे, ऐसा कुछ आवश्यक नहीं है। इस सृष्टि कार्य में तो जीव, शास्त्र ज्ञात यागादि शक्ति विशेष को जानते ही है अतः उनके लिए, कार्यारम्भ असंगत हो ही नही सकता।

किं च—यच्छक्यक्रियंशक्योपादानादिविज्ञानं च, तदेव तदाभिज्ञकर्तृकंदृष्टम्। मही महीधरमहार्णवादित्वशक्याक्रियमशक्योपादानादि विज्ञानं चेति न चेतनकर्तृकम्। अतो घटमणिकादि सजातीयशक्यक्रियशक्योपादनादिविज्ञानवस्तुगतमेव कार्यत्वं बुद्धिमत्कर्तृपूर्वकत्वसाधने प्रभवति। किं च—घटादिकार्यमनीश्वरेणाल्प ज्ञानशक्तिना सशरीरेण परिग्रहवताऽनाप्तकामेन निर्मितं द्रष्टमिति तथाविधमेव चेतनं कर्त्तारं साधयन्नयंकार्यत्वहेतुः सिषाधयिषिति पुरुषसार्वज्ञ सर्वैश्वर्यादिविपरीत साधनात् विरुद्धस्स्यात्। न चैतावता सर्वानुमानोच्छेद प्रसंगः। लिंगिनिर्लिंगबलोपस्थापिताविपरीत विशेषाः तत्प्रमाणप्रतिहतगतयो निवर्त्तन्ते। इह तु सकलेतर प्रमाणाविषयं लिंगिनिनिखिल निर्माण चतुरे, अन्वयव्यतिरेकावगताविनाभावनियमा धर्माःसर्वएवाविशेषेण प्रसज्यन्ते। निवर्त्तक प्रमाणाभावात्तथैवावतिष्ठन्ते। अत आगमादृते कथमीश्वरः सेत्स्यति।

जिस कार्य की क्रिया, शक्ति-साध्य होती है और जिसके उपादानादि कारण विषय ज्ञान शक्य होते हैं, उसके अभिज्ञ व्यक्ति का कर्तृत्व देखा जाता है। मही, महीधर, महार्णव आदि की क्रिया अशक्य है तथा उनके उपादान कारण भी अशक्य हैं, इसलिए वे चेतन जीव की कृति नहीं हो सकते। घट, मटकी आदि की तरह, अन्य जिन पदार्थों की क्रिया तथा उनके उपादानादि का ज्ञान ही शक्य है, जीव उन्हीं वस्तुओं को बुद्धिमत्तापूर्ण ढंग से कार्यान्वित कर सकता है।

घट आदि कार्य, एक शरीरधारी प्रभुताहीन अल्पज्ञान कार्योपयोगी वस्तुओं को संग्रह करने वाले, थोड़ी आवश्यकताओं वाले, सामान्य व्यक्ति (कुम्भकार) द्वारा निर्मित होते हैं। यदि वैसे ही, चेतन कर्त्ता को, इस महान् विश्व का कर्त्ता मानते हो तो, जिस विश्व के निर्माता की, सर्वज्ञता और सर्वेश्वरता के बिना, विश्व का निर्माण हो नहीं सकता, उससे नितांत विरुद्ध बात होगी। केवल इतनी ही बात से अनुमानों का अनुच्छेद भी नहीं हो सकता। जहाँ साध्य या साध्य विशिष्ट वस्तु, अनुमान रहित प्रमाण की सहायता से, जानी जाती है, वहाँ अनुमान द्वारा, यदि उसके विपरीत धर्म प्रमाणित हो सकें तो, साध्य वस्तु (ईश्वर) किसी भी प्रमाण का विषय नहीं रह जाता तथा निखिल वस्तु निर्माण निपुण उस साध्य से, अन्वय व्यतिरेक की सहायता से, जो समस्त धर्मों का नियत संबंध निश्चित होता है, वे सारे ही धर्म सामान्यतः प्रसक्त होते हैं। उन धर्मों के विरोधी प्रमाणों के अभाव से, वे वैसे के वैसे ही स्थित रहते हैं। इस प्रकार शास्त्र के अतिरिक्त ईश्वर सिद्धि का और दूसरा कौन सा उपाय हो सकता है?

अत्राहुः—सावयवत्वादेव जगतः कार्यत्वं न प्रत्याख्यातुं शक्यते। भवंति च प्रयोगाः—विवादाध्यसितं भू-भूधरादिकार्य, सावयवत्वात्, घटादिवत्। तथा विवादाध्यसितमवनि-जलधि-महीधरादि कार्यं, महत्त्वे सति, क्रियावत्त्वात् घटवत्। तनुभुवनादि-कार्यं महत्वे सति मूर्त्तत्वात् घटवत् इति। सावयवेषु द्रव्येषु "इदमेव क्रियते नेतरत्" इति कार्यत्वस्य नियामकं सावयवत्वातिरेकि रूपा-

न्तरं नोपलभामहे। कार्यत्वं प्रतिनियतं शक्यक्रियत्वं, शक्योपादानादि विज्ञानत्वं चोपलभ्यत इति चेत् न, कार्यत्वेनानुमतेऽपि विषयेज्ञानशक्तो कार्यानुमेये-इत्यन्यत्रापि सावयवात्वादिना कार्यत्वं ज्ञातमिति ते च प्रतिपन्ने एवेति न कश्चिद् विशेषः। तथा हि घट मणिकादिषुकृतेषु कार्यदर्शनानुमितकर्तृगततन्निर्माणशक्तिज्ञानः पुरुषोऽदृष्टपूर्वं विचित्र सन्निवेशं नरेन्द्रभवनमालोक्यावयवसन्निवेश विशेषेण तस्य कार्यत्वं निश्चित्य, तदानीमेव कर्तुःतत् ज्ञानशक्ति वैचित्र्यं अनुमिनोति। अतस्तनुभुवनादेःकार्यत्वे सिद्धे सर्वसाक्षात्कारतन्निर्माणादिनिपुणः कश्चित् पुरुषविशेषः सिद्ध्यत्येव।

इस पर विद्वानों का कथन है कि साकार जगत की कार्यता को झुठला नहीं सकते; ऐसा कहा भी जाता है कि–विचारणीय विषय पृथिवी पर्वत आदि कार्य, घट आदि की तरह साकार हैं तथा इनमें घट आदि की तरह, महत्ता और क्रियात्मकता भी है। देह और भवन आदि विषय और कार्य, घट आदि की तरह मूर्त्त और महत्वपूर्ण हैं। साकार वस्तुओं में—"यही कार्य है, दूसरा नहीं है" ऐसा कार्यता नियामक, साकारता के अतिरिक्त कोई और कारण तो दीखता नहीं [जिसके आधार पर साकार वस्तु की कार्यता को अस्वीकारा जाय] यदि कहो कि-निर्माण योग्यता और शक्ति-साध्य उपादानादि कारण विषयक विशेष ज्ञान ही विश्व का कारण हो सकता है। सो असंभव बात है-क्योंकि-जो विषय कार्य रूप से अनुमोदित है, उस विषय में कर्त्ता के उपयुक्त ज्ञान और शक्ति सद्भाव का, कार्य द्वारा ही अनुमान हो सकता है। अन्यत्र (घट आदि में) भी साकारता आदि से, कार्यता ज्ञात होती है; कार्य विषयक ज्ञान और शक्ति भी ज्ञात ही रहती है, कोई विशेषता नहीं होती। घट मटकी आदि कृत कार्यों में कार्यता को देखकर ही, कर्त्तृगत निर्माण शक्ति का परिज्ञान हो जाता है। कोई भी व्यक्ति, अदृष्ट पूर्व विचित्र राजा के महल को देखकर, उसकी बनावट से, शिल्पी की कार्यदक्षता को मानकर तत्काल शिल्पी की शिल्पकारी की निपुणता का अनुमान लगा लेता है। इसी प्रकार शरीर, विश्व आदि की कार्यता

निश्चित हो जाने पर, उन सबको देखकर, निर्माण निपुण शिल्पी विशेष का अस्तित्व भी निश्चित हो जाता है।

किंच-सर्वचेतनानां धर्माधर्मनिमित्तोऽपि सुखदुःखोपभोगे चेतनानधिष्ठितयोस्तयोरचेतनयोः फलहेतुत्वानुपपत्तेः सर्वकर्मानुगुणसर्वफलप्रदानचतुरः कश्चिदास्थेयः, वर्धकिनाऽनधिष्ठितस्य वास्यादेरचेतनस्य देशकालाद्यनेकपरिकरसन्निधाने अपि यूपादिनिर्माणसाधनत्वादर्शनात्। बीजांकुरादेः पक्षांतरभावेन तैर्व्यभिचारोपादानं श्रोत्रियवेतालानामनभिज्ञता विजृम्भितम्। तत एव सुखादिभिर्व्यभिचारवचमपि तथैव। न च लाघवेनोभयवादिसंप्रतिपन्नक्षेत्रज्ञानामेव ईदृशाधिष्ठातृत्व कल्पनं युक्तम्, तेषां सूक्ष्मव्यवहितविपकृष्टदर्शनशक्तिनिश्चयात्। दर्शनानुगुणैव हि सर्वत्रकल्पना न च [illegible]शवत् ईश्वरस्याशक्तिनिश्चयोऽस्ति। अतः प्रमाणान्तरतो न त[illegible]द्यनुपपत्तिः समर्थकर्तृ पूर्वकत्वनियतकार्यत्वहेतुना सिध्यन् स्वाभाविकसर्वार्थसाक्षात्कारतन्नियमनशक्तिसंपन्न एव सिध्यति।

चेतन मात्र के सुख दुःख का कारण, धर्म और अधर्म है, किन्तु चेतन की प्रेरणा के बिना; धर्म अधर्म कभी सुख दुःख के उत्पादक नहीं हो सकते। धर्म-अधर्म की निमित्त समस्त क्रियाओं के अनुरूप फल प्रदान के लिए, किसी चतुर चेतन सत्ता को स्वीकारना होगा। उपयुक्त देशकालादि के होते हुए भी, बिना शिल्पी के, अचेतन कलापूर्ण स्तंभभित्ति आदि निर्माण की साधनता, कहीं भी देखी नहीं जाती। बीजांकुर आदि विषय, जिनमें किसी चेतन की प्रत्यक्ष प्रेरणा प्रतीत नहीं होती, वे भी वैदिक वेतालों (देवयोनि विशेष) की कृति हैं। सुख आदि के व्यभिचार की बात भी वैसी ही है।

लाघव के कारण उभयवादियों (पूर्वपक्ष-उत्तर पक्ष) के स्वीकार्य जीवों की ही अधिष्ठातृता की कल्पना करना भी उचित नहीं है (अर्थात् जीव का कर्तृत्व तो दोनों ही मानते हैं, ईश्वर को भी कर्तृत्व में

सम्मिलित किया जायगा तो एक व्यर्थ गौरव होगा, इसलिए जीवों को कर्त्ता मानने से ही कार्य चल जाय तो लाघव होगा) जीवों में, सूक्ष्म, व्यवहित (अन्य वस्तु द्वारा अंतरित) और दूरवर्त्ती वस्तु को देखने की सामर्थ नहीं होती। प्रायः दर्शन सामर्थ के अनुरूप ही हर जगह, शक्ति की कल्पना की जाती है [अर्थात् जिसकी जितनी जानकारी है उसकी उतनी ही शक्ति है] जीवों की तरह ईश्वर में भी शक्ति का अभाव हो ऐसा तो कही नहीं सकते। अनुमान आदि प्रमाणों से ईश्वर की सिद्धि में कोई बाधा नहीं है। शक्तिशाली कर्त्ता से ही विचित्र जगत् रूप कार्योत्पत्ति हो सकती है, इस अनुमान से ईश्वर का कर्तृत्व सिद्ध होता है, सभी वस्तुओं में साक्षात्कार की स्वाभाविक शक्ति संपन्नता भी, ईश्वर की अनुमित कर्तृत्व से सिद्ध होती है।

यस्त्वनैश्वर्याद्यापादनेन धर्मविशेष विपरीतसाधनत्वनुन्नीतम्, तदनुमानवृत्तानभिज्ञत्वनिबन्धनम्, सपक्षे सह दृष्टानां सर्वेषां कार्यस्याहेतुभूतानां च धर्माणां लिंगिन्याप्तेः।

और जो (कुम्हार के दृष्टान्त की तरह जगत कर्त्ता में भी) अनैश्वर्य संभावना से, अभीष्ट धर्म के विपरीत धर्म साधकता की बात कही गई, वह भी अनुमान प्रणाली की अनभिज्ञता के कारण ही कही गई। सपक्ष अर्थात् कर्तृसाध्यरूप घट आदि कार्य में, जो धर्म दीखते हैं, जो कि कार्य के हेतु नही हैं, वे सब पक्ष अर्थात् विचार्य (जगतकर्त्ता ईश्वर) में संभाव्य ही नहीं हैं।

एतदुक्तं भवति—केनचित् किंचित् क्रियमाणं स्वोत्पत्तये कर्त्तुः, स्वनिर्माणसामर्थ्यं स्वोपादानोपकरणज्ञानं च अपेक्षते, न तु अन्यसामर्थ्यं अन्यज्ञानं च, हेतुत्वाभावात्। स्वनिर्माणसामर्थ्यं स्वोपादानोपकरणज्ञानाभ्यामेव स्वोत्पत्तावुपपन्नायां संबंधितया दर्शनमात्रेणाकिंचित्करस्यार्थान्तराज्ञानादेर्हेतुत्वकल्पना योगाद् इति। किं च-क्रियमाणवस्तुव्यतिरिक्तार्थाज्ञानादिकं किं सर्वविषयं क्रियोपयोगि, उत कतिपय विषयम्? न तावत् सर्वविषयं, नहि

कुलालादिः क्रियमाणव्यतिरिक्तं किमपि न जानाति । नापि कतिपय विषयम्, सर्वेषु कर्तृषु तत्तदज्ञानाशक्त्यनियमेन सर्वेषाम-ज्ञानादीनां व्यभिचारात् । अतः कार्यत्वस्यासाधकानामीश्वरत्वादीनां लिंगिन्यप्राप्तिरिति न विपरीतसाधनत्वम् ।

कथन यह है कि-कोई किसी भी क्रियमाण कार्य की उत्पत्ति में, उसी कार्य से संबंधी, कर्त्ता के निर्माण सामर्थ्य, उपादान, उपकरण और उसके ज्ञान की अपेक्षा रहती है, अन्य विषयक सामर्थ्य या ज्ञान से कार्य नहीं चलता । कर्त्ता के कार्य निर्माण सामर्थ्य, उपादान और उपकरणों के ज्ञान से ही जब कार्य की उत्पत्ति सुसंपन्न हो जाती है तो, दिखावटी, बिना मतलब के अन्य विषयक ज्ञान आदि की कल्पना करना ही व्यर्थ है ।

क्रियमाण वस्तु से अतिरिक्त विषयों का ज्ञान, समस्त विषयों की क्रिया का उपयोगी होता है, या कुछ विषयों का ही उपयोगी होता है ? सर्व विषयक तो हो नहीं सकता; ऐसा तो है नही कि-कुंभकार आदि शिल्पी, क्रियमाण से भिन्न और कुछ जानते ही नहीं । कतिपय विषयक भी नहीं हो सकता—सभी कर्त्ताओं में उन्हीं उन्हीं विषयों में अज्ञान और अशक्ति होगी ही, ऐसा कोई नियम तो है नहीं; अज्ञानादि कार्योपयोगिता के संबंध में अनियम ही रहता है इस प्रकार कार्यता के असाधक, अनीश्वरता इत्यादि की, विचार्य विषय में प्राप्ति न होने से, उनकी विपरीत साधकता नहीं हो सकती ।

कुलालादीनां दण्डचक्राद्यधिष्ठानं शरीरद्वारेणैव दृष्टम् इति जगदुपादानोपकरणाधिष्ठानमीश्वरस्याशरीरस्यानुपपन्नमिति चेत्-न, संकल्पमात्रेणैव परशरीरगत भूतवेतालगरलाद्यपगमविनाश दर्शनात् । कथमशरीरस्य परप्रवर्त्तनरूपः संकल्प इति चेत्, न शरीरापेक्षः संकल्पः, शरीरस्य संकल्प हेतुत्वाभावात् । मन एव हि संकल्पहेतुः । तदभ्युपगतमीश्वरेऽपि, कार्यत्वेनेव ज्ञानशक्तिवन्मनसोऽपि प्राप्तत्वात् । मानसः संकल्प शरीरस्यैव, सशरीरस्यैव समन-

स्कत्वादिति चेत्, न-मनसो नित्यत्वेन देहापगमेऽपि मनसःसद्भावे-नानैकान्त्यात्। अतो विचित्रावयवसन्निवेशविशेषतनुभुवनादि कार्यनिर्माणे पुण्यपापपरवशः परिमितशक्तिज्ञानः क्षेत्रज्ञो न प्रभवतीति, निखिलभुवननिर्माणचतुरोऽचिन्त्यापरिमित ज्ञान-शक्त्यैश्वर्योऽशरीरः संकल्पमात्रसाधनपरिनिष्पन्नानंतविस्तार विचित्ररचनप्रपंचः पुरुषविशेष ईश्वरोऽनुमानेनैव सिद्धयति। अतः प्रमाणान्तरावसेयत्वात् ब्रह्मणः नैतद् वाक्यं ब्रह्म प्रतिपाद-यति।

किं च—अत्यंतभिन्नयोरेव मृद्द्रव्यकुलालयोः निमित्तो पादानत्वदर्शनेन, आकाशादेर्निरवयवद्रव्यस्य कार्यत्वानुपपत्या च नैकमेव ब्रह्म कृत्स्नस्य जगतो निमित्तमुपादानं च प्रतिवादयितुं शक्नोति इति।

कुम्हार आदि अपने शरीर द्वारा ही, दंडचक्र आदि कार्योपकरणों का प्रयोग करते हैं; शरीर रहित ईश्वर, जगत के उपादान और उपकरण आदि का प्रेरक नहीं हो सकता? ऐसा संशय भी नहीं करना चाहिए; प्रायः देखा जाता है कि-इच्छामात्र से ही, पर शरीरगत भूत वेताल आदि द्वारा, विष का विनाश हो जाता है। अशरीरी ईश्वर का पर प्रेरक रूप संकल्प हो कैसे सकता है? ऐसी शंका भी निर्मूल है, क्योंकि—संकल्प में शरीर होना आवश्यक नहीं है, शरीर में संकल्प हेतुता है ही नहीं, केवल मन ही संकल्प का हेतु है। ईश्वर का मन भी स्वीकारना होगा, उनकी कार्यकारिता से ही ज्ञानशक्तिमान् मन की सत्ता अनुमित होती है। मानस संकल्प शरीर वाले को ही होता हो, शरीरी ही मनवाला हो सकता है, ऐसा भी नहीं कह सकते। मन नित्य पदार्थ है, देह के समाप्त हो जाने पर भी मन का अस्तित्व रहता है। मन शरीर संबद्ध होकर ही रहता हो ऐसा भी कोई नियम नहीं हैं। इससे निश्चित होता है कि-विचित्र अवयव सन्निवेश संपन्न शरीर और विश्व आदि के निर्माण में चतुर अचिन्त्य, अपरिमित, ज्ञान, शक्ति, ऐश्वर्यशाली, अशरीर, संकल्प-मात्र साधन से बनाने वाले अनंत विस्तृत जगत का रचयिता; पुरुष विशेष

ईश्वर अनुमान से ही सिद्ध होता है। शास्त्र प्रमाण के बिना ही, अनुमान प्रमाण से ही ब्रह्म जगत का कर्त्ता सिद्ध हो जाता है। "यतो वा इमानि" इत्यादि वाक्य ब्रह्म प्रतिपादक नही प्रतीत होते।

तथा–घट के निर्माण में मिट्टी और कुम्हार दो कारण देखे जाते हैं, आकाशादि निराकार की कार्यता होती नही, इसलिए एक ही ब्रह्म को समस्त जगत का निमित्त और उपादान दोनों कारण मानना भी शक्य नहीं है।

सिद्धान्तः—एवं प्राप्ते ब्रूमः–यथोक्त लक्षणं ब्रह्म जन्मादि वाक्यं बोधयत्येव। कुतः ? शास्त्रैकप्रमाणकत्वाद् ब्रह्मणः। यदुक्तं-सावयवत्वादिना कार्यं सर्वं जगत्। कार्यं च तदुचितकर्तृविशेषपूर्वकं दृष्टमिति निखिलजगन्निर्माणतदुपादानोपकरणवेदनचतुरः कश्चिदनुमेयः, इति। तदयुक्तम्, महीमहार्णवादोना कार्यत्वेऽप्येकदैवैकेन निर्मिता इत्यत्रप्रमाणाभावात्। न चैकस्य घटस्येव सर्वेषामेकं कार्यत्वं, येनैकदैवैकः कर्त्ता स्यात्। पृथग्भूतेषु कार्येषु कालभेदकर्तृ-भेददर्शनेन कर्तृकालैक्यनियमादर्शनात्। न च क्षेत्रज्ञानां विचित्र-जगन्निर्माणाशक्त्याकार्यत्वबलेन तदतिरिक्तकल्पनायां अनेककल्पनानुपपत्तेश्चैकः कर्त्ता भवितुमर्हतीति क्षेत्रज्ञानामेवोपचितपुण्यविशेषाणां शक्तिवैचित्र्यदर्शनेन तेषामेवातिशयितादृष्टसंभावनया च तत्तद्विलक्षणकार्यं हेतुत्वसंभवात्, तदतिरिक्तात्यंतादृष्टपुरुषकल्पनानुपपत्तेः। न च युगपत्सर्वोत्पत्तिविनाशदर्शनाच्च। कार्यत्वेन सर्वोत्पत्तिविनाशयोः कल्प्यमानयोर्दर्शनानुगुण्येन कल्पनायां विरोधाभावाच्च। अतो बुद्धिमदेककर्तृकत्वे साध्ये कार्यत्वस्यानैकान्त्यम्, पक्षस्याप्रसिद्धविशेषणत्वम्, साध्यविकलता च दृष्टान्तस्य, सर्वनिर्माणचतुरस्य एकस्याप्रसिद्धेः। बुद्धिमत् कर्तृकत्वमात्रे साध्ये सिद्धसाधनता।

सिद्धांत:-जगत के जन्मादि बोधक "यतो वा इमानि" इत्यादि वाक्य निश्चित ही, ब्रह्म प्रतिपादक हैं, क्योंकि-ब्रह्म एकमात्र शास्त्र द्वारा ही प्रमाणित हैं। जो यह कहा कि-कार्यरूप संपूर्ण साकार जगत किसी ऐसे चतुर की ही रचना हो सकती है, जो कि समस्त जगत के निर्माण सम्बन्धी उपादान, उपकरण आदि को भली भाँति जानता है, क्योंकि कार्य, उचित कर्त्ताविशेष द्वारा ही प्रतीत होता है। यह कथन युक्ति संगत नहीं है। विशाल पृथिवी, विस्तृत समुद्र आदि कार्य, एक ही समय, एकही निर्माता द्वारा निर्मित हुए हों, ऐसा कोई प्रमाण नही मिलता। घट की तरह सारे पदार्थ एक ही उपादान के कार्य हों, अथवा एक ही समय एक ही कर्त्ता के कार्य हो, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता। विभिन्न कार्यो मे कालभेद, कर्त्ताभेद देखा जाता है कर्त्ता और काल की एकता भी निश्चित नही होती। जीवों की, विचित्र जगत निर्माण में शक्ति न होने से, जगत की कार्यता में, जीवातिरिक्त कर्त्ता की कल्पना करने में, अनेक कर्त्ताओं की कल्पना करनी पड़ेगी, इसलिए एक ही कर्त्ता हो सकता है; यह बात भी समीचीन नहीं है। जीवों में ही कुछ विशेष पुण्यशाली जो जीव होते हैं उनमें विचित्र शक्ति देखी जाती है, उन्हीं में से कोई सर्वाधिक पुण्यवान इस विचित्र जगत का कर्त्ता हो सकता है। इसलिए जीवातिरिक्त, अत्यंत अपरिदृष्ट (कभी न दीखने वाले) पुरुष विशेष की कल्पना करना उपयुक्त नहीं है। एक साथ ही सबकी सृष्टि और विनाश का तो कहीं प्रमाण मिलता नहीं अपितु सृष्टि विनाश का क्रमिक वर्णन ही मिलता है। कार्य के अनुसार सब की उत्पत्ति-विनाश की कल्पना करते हुए, यथादृष्ट कल्पना में भी कोई विरोध तो होता नहीं। इसलिए किसी एक बुद्धिमान की कर्त्तृता मानने से, कार्यता की अनेकता (सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता आदि) पक्ष विशेषणों की असिद्धि एवं दृष्टान्त की साध्य विकलता होती है। क्योंकि-किसी एक की सर्वनिर्माण चातुर्य सम्बन्धी प्रसिद्धि नहीं है। एकमात्र बुद्धिमान का कर्तृत्व मानने से सिद्ध साधनता होती है।

सार्वज्ञसर्वशक्तियुक्तस्य कस्यचिदेकस्य साधकमिदं कार्यत्वं किं युगपदुत्पद्यमानसर्ववस्तुगतम्? उत क्रमेणोत्पद्यमानसर्ववस्तुगतम्? युगपदुत्पद्यमानसर्ववस्तुगतत्वे कार्यत्वस्यासिद्धता। क्रमेणोत्पद्यमान

सर्ववस्तुगतत्वे अनेककर्तृकत्वसाधनात्विरुद्धता। अत्राप्येककर्तृकत्वसाधने, प्रत्यक्षानुमानविरोधः शास्त्रविरोधश्च, "कुंभकारो जायते रथकारो जायते" इत्यादि श्रवणात्।

सर्वज्ञ, सर्वशक्ति-समन्वित, किसी एक कर्त्ता की, साधक, समस्त वस्तुओं की एक साथ होने वाली कार्यता है? अथवा समस्त वस्तुओं क्रमिक उत्पत्ति है? समस्त वस्तुओं की एक साथ उत्पत्ति मानने से कार्यता की असिद्धि होती है तथा समस्त वस्तुओं की क्रमिक उत्पत्ति मानने से अनेक कर्तृत्व की सिद्धि होती है, जो कि साधन विरुद्ध है। यहाँ भी एक कर्तृत्व मानने से प्रत्यक्ष और अनुमान से विपरीतता और शास्त्र विपरीतता होती है--"कुंभकार होता है, रथकार होता है" ऐसा भिन्न-भिन्न कर्त्ताओं का ही वर्णन किया गया है।

अपि च—सर्वेषां कार्याणां शरीरादीनां च सत्वादिगुणकार्यं रूपसुखाद्यन्वयदर्शनेन सत्वादि मूलत्वमवश्याश्रयणीयम्। कार्यं वैचित्र्यहेतुभूताः कारणगता विशेषाः सत्वादयः। तेषां कार्याणां तन्मूलत्वापादनं तद्युक्तपुरुषान्तः करणविकारद्वारेण। पुरुषस्य च तद्योगः कर्ममूल इति कार्यविशेषारम्भायैव, ज्ञानशक्तिवत्कर्तुः कर्मसंबन्धः। कार्यहेतुत्वेनैवावश्याश्रयणीयः, ज्ञानशक्ति वैचित्र्यस्य च कर्ममूलत्वात्। इच्छायाः कार्यारम्भहेतुत्वेऽपि विषयविशेषविशेषितायास्तस्यास्सत्वादिमूलकत्वेन कर्मसंबंधोऽवर्जनीयः, अतः क्षेत्रज्ञा एव कर्त्तारः, न तद्विलक्षणः कश्चिदनुमानात् सिध्यति।

देखा जाता है कि—शरीर आदि सारे कार्य, सत्व-रज और तमोगुण के परिणाम सुख आदि से, संबद्ध रहते हैं; इसलिए सत्त्व आदि को इनका मूल कारण मानना पड़ता है। कार्य वैचित्र्य के मूल कारण सत्त्वादि गुण ही, कारणगत विशेष धर्म हैं। सारे विचित्र कार्य सत्त्व आदि गुण मूलक ही होते हैं। सारे कार्य, सत्वादि गुणों से युक्त पुरुष के अन्तः करण के विकारों के ही परिणाम होते हैं। पुरुषों का गुणों के

साथ जो सम्बन्ध होता है, वह कर्म मूलक होता है। कार्य संपादन में जैसे मनुष्यों को ज्ञान शक्ति मानते हैं, वैसे ही कर्म सम्बन्ध में भी मानना चाहिए, क्योंकि—ज्ञान शक्ति की विचित्रता भी कर्ममूलक ही होती है, इच्छा कार्यारम्भ की हेतु होती है, फिर भी, विषय विशेष से विशेषित वह इच्छा सत्व आदि गुण मूलक ही होती है, इस प्रकार उसका कर्म सम्बन्ध अनिवार्य हो जाता है। इससे सिद्ध हो जाता है कि—जीव ही कर्त्ता है, उसके अतिरिक्त कोई और अनुमान सिद्ध व्यक्तित्व नहीं है।

भवंति च प्रयोगाः—तनुभुवनादि क्षेत्रज्ञकर्तृकम्, कार्यत्वात् घटवत्। ईश्वरः कर्त्ता न भवति, प्रयोजनशून्यत्वात् मुक्तात्मवत्। ईश्वरः कर्त्ता न भवति, अशरीरत्वात् तद्वदेव। न च क्षेत्रज्ञानां स्वशरीराधिष्ठाने व्यभिचारः, तत्राप्यनादेः सूक्ष्मशरीरस्य सद्-भावात् विमति विषयः कालो न लोकशून्यः कालत्वात् वर्तमान-कालवत् इति।

प्रायः सामान्य लोग कहा करते हैं कि—शरीर, विश्व आदि, घट आदि की तरह, जीव के ही निर्माण हैं। ईश्वर को आवश्यकता ही क्या है कि, वह सृष्ट करे, वह तो मुक्त पुरुष की तरह स्वच्छन्द है। ईश्वर, मुक्त पुरुष की तरह शरीर रहित है, इसलिए वह कर्त्ता हो ही कैसे सकता है? जीवों का कभी शरीराभाव तो हो ही नहीं सकता, जिससे सृष्टि उच्छेद की शंका हो, सूक्ष्म शरीर की तो सदा स्थिति रहती है। कोई भी ऐसा समय नहीं होता जब कि—सृष्टि न रहे, काल का कभी उच्छेद नहीं होता, सदा एकसा काल का चक्र चलता रहता है। इत्यादि

अपि च—किमीश्वरः सशरीरोऽशरीरो वा कार्यं करोति। न तावदशरीरः अशरीरस्य कर्तृत्वानुपलब्धेः। मानसान्यपि कार्याणि सशरीरस्यैव भवंति, मनसो नित्यत्वेऽप्यशरीरेषु मुक्तेषु तत्कार्यादर्शनात्। नापि सशरीरः विकल्पासहत्वात्। तच्छरीरं किं नित्यम्? उत नित्यम्? न तावन्नित्यम्, सावयवस्य तस्य नित्यत्वे

जगतोऽपि नित्यत्वाविरोधादीश्वरासिध्देः। नाप्यनित्यम्, तद्व्यतिरिक्तस्य तच्छरीरहेतोस्तदानीमभावात्। स्वयमेव हेतुरिति चेत्, न, अशरीरस्य योगात्। अन्येन शरीरेण सशरीर इति चेत्, न, अनवस्थानात्।

और भी तर्क किये जाते है कि यदि ईश्वर जगत बनाता है तो क्या शरीर धारण करता है अथवा नहीं ? विना शरीर वाला होकर तो वह सृष्टि कर नहीं सकता, बिना शरीर वाले का कोई निर्माण कार्य देखा नही जाता। मानस कार्य भी शरीरधारी के ही होते है, मन के नित्य होते हुए भी, मुक्त पुरुषों में मानस कार्य का अभाव होता है। ईश्वर शरीर धारण कर, सृष्टि करता है, यह भी थोथा तर्क है। यदि ईश्वर का शरीर है तो वह नित्य है या अनित्य ? नित्य तो हो नही सकता, उसकी नित्य साकारता स्वीकारने से, साकार जगत को भी नित्य मानना पड़ेगा और फिर नित्य जगत के उत्पादन में ईश्वर की उपयोगिता ही क्या रहेगी ? ईश्वर का शरीर अनित्य भी नही हो सकता क्योंकि—ईश्वर के शरीर के निर्माता का कोई वर्णन नहीं मिलता। वह स्वयं तो अपने शरीर का निर्माता हो नहीं सकता, कोई भी अशरीरी, शरीर का निर्माता नहीं हुआ करता। अपने अन्य शरीर से वह शरीर निर्माण करता है, ऐसा मानने से अनेक अन्य निर्माता शरीरों की कल्पना करनी पड़ेगी, अतः अनवस्था उपस्थित होगी।

स किं सव्यापारो निर्व्यापारो वा ? अशरीरत्वादेव न सव्यापारः। नापि निर्व्यापारः कार्यं करोति मुक्तात्मवत्। कार्यं जगदिच्छामात्रव्यापारकर्त्तृकमित्युच्यमाने पक्षस्याप्रसिद्धविशेषणत्वम्, दृष्टान्तस्य च साध्यहीनता। अतो दर्शनानुगुण्येन ईश्वरानुमानं दर्शनानुगुण्यपराहतमिति शास्त्रैकप्रमाणकः परब्रह्मभूतः सर्वेश्वरः पुरुषोत्तमः।

वह ईश्वर सचेष्ट है अथवा निश्चेष्ट ? (यह भी विचारणीय हैं) वह शरीरी नहीं है, इसलिए सचेष्ट नहीं कह सकते। निश्चेष्ट भी नहीं

कह सकते, क्योंकि–वह मुक्तात्माओं की तरह कार्य करता है। इच्छामात्र चेष्टा कर्तृक, जागतिक कार्य मानने से, पक्ष की अप्रसिद्ध विशेषता होती है (अर्थात् जगत के लिए कोई भी ऐसा विशेषण नहीं मिलता, जिसमें यह कहा गया हो कि–वह इच्छात्मक है) ऐसा मानने से दृष्टान्त भी साध्य नहीं होता (अर्थात् सृष्टि के सम्बन्ध में जो कुम्हार का दृष्टान्त दिया जाता है, वह भी विपरीत सिद्ध होगा, क्योंकि-इच्छामात्र से कुम्हार का कार्य होते नहीं देखा जाता) इस प्रकार प्रत्यक्ष के अनुसार ईश्वर सम्बन्धी अनुमान असिद्ध हो जाता है। इससे मानना होगा कि–परब्रह्म रूप सर्वेश्वर पुरुषोत्तम, एकमात्र शास्त्र प्रमाण से ही परिज्ञान हैं।

शास्त्रन्तु सकलेतर प्रमाण परिदृष्टसमस्तवस्तु विसजातीयं सार्वज्ञसत्य कल्पत्वादि मिश्रानवधिकातिशयापरिमितोदारगुण सागरं निखिलहेय प्रत्यनीक स्वरूपं प्रतिपादयतीति न प्रमाणान्त-रावसितवस्तु साधर्म्यंप्रयुक्तदोषगंधप्रसंगः। यत्तु निमित्तोपादान-योरैक्यमाकाशादेर्निरवयवद्रव्यस्य कार्यत्वं चानुपलब्धम् अशक्य-प्रतिपादनमित्युक्तम्, तदप्यविरुद्धमिति "प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्ता-नुपरोधात्" न वियदश्रुतेः 'इत्यत्र प्रतिपादयिष्यते। अतः प्रमाणान्तरागोचरत्वेनशास्त्रैकविषयत्वात् "यतो वा इमानि भूतानि" इति वाक्यं उक्तलक्षणं ब्रह्म प्रतिपादयतीति सिद्धम्।

शास्त्र-अन्यान्य प्रमाणों से सिद्ध होनी वाली समस्त वस्तुओं से विलक्षण; सर्वज्ञता, सत्यसंकल्पता आदि से युक्त, सीमा और तारतम्य रहित, अत्यन्त अपरिमित, उदार गुणों के सागर, हीन और निकृष्ट गुणों से रहित, उसी ईश्वर का वर्णन करते है इसलिए अन्य प्रमाणों से निर्णीत अन्य वस्तुओं से, ईश्वर से समता की बात, कही नहीं जा सकती।

और जो यह कहा कि—एक ही वस्तु की निमित्त और उपादान कारणता तथा निराकार आकाश आदि की उत्पति कहीं देखी नहीं जाती न शक्य ही है। यह आपका कथन ठीक है, पर यह हमारे सिद्धान्त से विरुद्ध नहीं होता। इसकी अविरुद्धता का हम "प्रकृतिश्च प्रतिज्ञा

दृष्टान्तानुपरोधात् "न वियदश्रुतेः" सूत्रों में सुष्ठु प्रतिपादन करेंगे। अन्य प्रमाणों से अगम्य वह ईश्वर, एकमात्र शास्त्र का ही विषय है" "यतो वा इमानि" इत्यादि वाक्य, उक्त लक्षणों वाले ब्रह्म के ही प्रतिपादक सिद्ध होते हैं।

४ समन्वयाधिकरण :—

यद्यपि प्रमाणान्तरागोचरं ब्रह्म; तथापि प्रवृत्तिनिवृत्तिपरत्वाभावेन सिद्धरूपं ब्रह्म न शास्त्रं प्रतिपादयतीत्याशंक्याह—

ब्रह्म, यद्यपि अन्य प्रमाणों का विषय नहीं है, फिर भी, शास्त्र कभी स्वतः सिद्ध ब्रह्म का, प्रतिपादक नहीं हो सकता, क्योकि–ईश्वर में प्रवृति निवृति कुछ भी नही है–इस संशय पर कहते है—

तत्तु समन्वयात् ।१।१।४—

प्रसक्ताशंकानिवृत्यर्थः तु शब्दः। तत् शास्त्र प्रमाणकत्वं ब्रह्मणः संभवत्येव। कुतः ? समन्वयात्-परमपुरुषार्थतयाऽन्वयः समन्वयः, परम् पुरुषार्थभूतस्यैव ब्रह्मणोऽभिधेयतयाऽन्वयात्।

की गई आशंका की निवृति के लिए, सूत्र में तु शब्द का प्रयोग किया गया है। तत् शब्द ब्रह्म की शास्त्र प्रमाणकता की सम्भावना का द्योतक है। सारे शास्त्र, एक मात्र ईश्वर को ही परं पुरुषार्थ प्रतिपादन करते हैं। विधिपूर्ण अन्वय अर्थात् सम्बन्ध को ही समन्वय कहते है, अर्थात् सारे शास्त्र ईश्वर को पर पुरुषार्थ मानने में एकमत है, इसीसे ब्रह्म की शास्त्र प्रमाणकता सिद्ध होती है।

एवमिव समन्वितो हि औपनिषदः पदसमुदायः "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते"—"सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्"—"तदैक्षत् बहुस्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत" "ब्रह्म वा इदमेकमेवाग्र आसीत्"— "आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्"— "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म"—तस्माद् वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः" — "एको ह वै नारायण आसीत्" आनन्दो ब्रह्म" इत्येवमादिः।

औपनिषद् पद समूह इसी प्रकार एक मत है—"जिससे यह सारा भूत समुदाय उत्पन्न होता है—हे सौम्य। सृष्टि के पूर्व यह जगत निश्चित ही एक अद्वितीय सत था-उसने इच्छा की अनेक हो जाऊँ तब उसने तेज की सृष्टि की—यह जगत् सृष्टि के पूर्व एक ब्रह्म रूप ही था। सृष्टि के पूर्व यह आत्म स्वरूप ही था—ब्रह्म, सत्य-ज्ञान-आनन्द स्वरूप है—इस आत्मा से आकाश प्रकट हुआ—सृष्टि के पूर्व प्रसिद्ध यह नारायण रूप ही था-ब्रह्म आनंद स्वरूप है।" इत्यादि।

न च व्युत्पत्तिसिद्धपरिनिष्पन्नवस्तुप्रतिपादनसमर्थानां पदसमुदायानां अखिलजगदुत्पत्तिस्थितिविनाशहेतु भूताशेषदोष प्रत्यनीकापरिमितोदारगुणसागरानवधिकातिशयानन्दस्वरूपे ब्रह्मणि समन्वितानां प्रवृत्तिनिवृत्तिरूपप्रयोजन विरहादन्यपरत्वं, स्वविषयावबोधपर्यंवसायित्वात् सर्व प्रमाणानाम् न च प्रयोजनानुगुणा प्रमाण प्रवृत्तिः। प्रयोजनं हि प्रमाणानुगुणम्। न च प्रवृत्ति-निवृत्यन्वयविरहिणः प्रयोजनशून्यत्वम् पुरुषान्वयप्रतीतेः। तथा स्वरूप परेष्वपि "पुत्रस्तेजातः "नायंसर्प" इत्यादिषु हर्षभयनिवृत्ति-रूप प्रयोजनवत्वं दृष्टम्।

शब्द व्युत्पत्ति के अनुसार सुव्यवस्थित वस्तु के प्रतिवादन में समर्थ शास्त्रीय पदों का, जब समस्त जगत की सृष्टि-स्थिति और प्रलय के हेतु निर्दोष, असीम उदार गुणों के सागर, अत्यन्त आनन्द स्वरूप ब्रह्म में ही ऐकमत्य है तब, प्रवृत्ति-निवृत्ति रूप प्रयोजन रहित ईश्वर के होने से, शास्त्रों की अन्यपरता होगी; ऐसी शंका भी असंगत है। समस्त प्रमाणों की, अपने अपने विषयों को सुस्पष्ट करा देने में ही चरितार्थता होती है। प्रयोजन के अनुसार प्रमाणों की प्रवृत्ति होती हो, ऐसा भी नहीं है, अपितु प्रयोजन ही प्रमाणों के अनुरूप होता है। प्रवृत्ति-निवृत्ति एकता से रहित वाक्यों को प्रयोजन हीन भी नही कहा जा सकता, क्योंकि—सारे वाक्य परमपुरुषार्थ में एक मत प्रतीत होते हैं। उसी प्रकार "तुम्हारे पुत्र हुआ" यह सर्प नहीं है" इत्यादि निष्पन्नार्थ बोधक वाक्यों में भी, हर्ष और भय निवृत्ति रूप प्रयोजन दिखलाई देता है।

अत्राह-न वेदांतवाक्यानि ब्रह्म प्रतिपादयंति, प्रवृत्तिनिवृत्त्यन्वय विरहिण: शास्त्रस्यानर्थक्यात् । यद्यपि प्रत्यक्षादीनि वस्तुयाथात्म्याव-बोधे पर्यवस्यन्ति, तथाऽपि शास्त्रं प्रयोजनपर्यवसाय्येव न हि लोक-वेदयो: प्रयोजनरहितस्य कस्यचिदपि वाक्यस्य प्रयोग उपलब्धचर:। न च किंचित प्रयोजनमनुदिश्य वाक्यप्रयोग: श्रवणं वा संभवति । तच्च प्रयोजनं प्रवृत्तिनिवृत्तिसाध्येष्टानिष्ट प्राप्तिपरिहारात्मकमुप-लब्धम् "अर्थार्थी राजकुलं गच्छेत्"—मंदाग्निर्नाम्बुपिवेत्"—स्वर्ग-कामो यजेत्"—न कलंजं भक्षयेत्"—इत्येवमादिषु यत्पुन: सिद्ध-वस्तुपरेष्वपि "पुत्रस्ते जात:"— "नायं सर्प: रज्जुरेषा" इत्यादिषु हर्ष-भयनिवृत्तिरूपपुरुषार्थान्वयो दृष्ट इत्युक्तम् । तत्र किं पुत्रजन्मा-द्यर्थात्पुरुषार्थावाप्ति: ? उत् तत् ज्ञानादिति विवेचनीयम् हताऽप्य-ज्ञातस्यार्थस्यापुरुषार्थत्वेन तत् ज्ञानादिति चेत्-तर्हि असत्यप्यर्थे ज्ञानादेव पुरुषार्थ: सिध्यतीत्यर्थपरत्वाभावेन प्रयोजनपर्यवसायि-नोऽपि शास्त्रस्य नार्थसद्भावे प्रमाण्यम् । तस्मात् सर्वत्र प्रवृत्ति-निवृत्ति परत्वेन ज्ञानपरत्वेन वा प्रयोजनपर्यवसानमिति कस्यापि वाक्यस्य परिनिष्पन्ने वस्तुनि तात्पर्यासभवान्त वेदांता: परि-निष्पन्नं ब्रह्म प्रतिपादयंति ।

(इस पर प्रतिपक्षी कहते हैं)—वेदांत वाक्य ब्रह्म प्रतिपादक नहीं हो सकते, प्रवृत्ति-निवृत्ति प्रतिपादन रहित शास्त्र व्यर्थ होते हैं । यद्यपि प्रत्यक्ष आदि प्रमाण, वस्तु के यथार्थस्वरूप को ही ज्ञात कराने में चरि-तार्थ हैं, तथापि शास्त्र प्रमाण एकमात्र प्रयोजन बोधक ही होता है । लोक और वेद कहीं भी प्रयोजन रहित किसी भी वाक्य का प्रयोग नही देखा जाता, और न थोड़े प्रयोजन के बिना वाक्य का प्रयोग ही मिलता है [अर्थात् बिना प्रयोजन के कोई नहीं बोलता] प्रयोजन, मनुष्य की प्रवृति और निवृति के अनुसार इष्ट प्राप्ति और अनिष्ट त्याग रूप ही होता है । "धन के इच्छुक को राजा के पास जाना चाहिए"—मंदाग्नि

ग्रसित व्यक्ति को जल पीना चाहिए—"स्वर्ग की कामना से यज्ञ करना चाहिये"—"कलंज नहीं खाना चाहिए" इत्यादि प्रमाण उक्त बात की हीं पूष्टि करते हैं।"

जो यह कहा कि--सिद्ध वस्तु परक "तुम्हारे पुत्र हुआ" "यह सर्प नही रस्सी है" इत्यादि वाक्यों में हर्ष और भय निवृत्ति रूप अभीष्ट निहित है; सो यहां विचारणीय यह है कि-पुत्र जन्म आदि घटना से, अभीष्ट है, अथवा पुत्र जन्म विषयक ज्ञान मात्र से (अभीष्ट होता है)? विद्यमान वस्तु भी ज्ञान की विषय हुए बिना प्रयोजन साधक नहीं होती, तद् विषयक ज्ञान ही अभीष्ट होता है उक्त मत मानने से; पदार्थ के बिना, केवल ज्ञान से ही अभीष्ट सिद्धि होगी, पदार्थ की सत्ता तो आवश्यक होगी नही तथा प्रयोजन पर्यवसान ही शास्त्र का उद्देश्य होगा, वह पदार्थ का अस्तित्व सूचक तो होगा नही, पदार्थ के अस्तित्व में तो उसे प्रामाणिक कहा नहीं जा सकता। इससे स्पष्ट है कि-सब जगह प्रवृत्ति निवृत्ति परक और तद् विषयक ज्ञान प्रति पादक शास्त्र ही, स प्रयोजन या सार्थक है; शुद्ध स्वतः सिद्ध वस्तु "ब्रह्म" के प्रतिपादन में किसी वाक्य का तात्पर्य नहीं है, इसलिए वेदांत वाक्य ब्रह्म प्रतिपादक नहीं हो सकते।

अत्रकश्चिदाह—वेदांतवाक्यान्यपि कार्यपरतयैव ब्रह्मणि प्रमाणभावमनुभंवति-कथं निष्प्रपंचमद्वितीयं ज्ञानैकरसं ब्रह्म अनद्य-विद्यया स प्रपंचतया प्रतीयमानं निष्प्रपंचं कुर्यादिति ब्रह्मणः प्रपंच प्रविलयद्वारेण विधिविषयत्वमिति। कोऽसौ दृष्टदृश्यरूपप्रपंच प्रविलयद्वारेण साध्यज्ञानैकरसब्रह्मविषयो विधिः। न दृष्टेः दृष्टारं पश्येन मर्म येन्तारं मन्वीथाः "इत्यादि :। द्रष्ट दृश्यरूपभेदशून्यं दृशिमात्रं ब्रह्म कुर्यादित्यर्थः। स्वतः सिद्धस्यापि ब्रह्मणो निष्प्रपंचता-रूपेण कार्यत्वमविरूद्धमिति।

इस पर किसी का कथन है कि-वेदांत वाक्य क्रिया परक होकर ही, ब्रह्म में प्रमाण भाव का अनुभव करते हैं। निष्प्रपंच (भेद रहित) एकमात्र ज्ञान स्वरूप, अद्वितीय ब्रह्म, अनादि अविद्यावश, सप्रपच प्रतीत

होता है। ब्रह्म को निष्प्रपंच बतलाने के लिए, ब्रह्म के प्रपंच विलय के वर्णन की विधि कही गई है। जीव नामधारी ब्रह्म, प्रपंच से मुक्त हो जाय, इसीलिए अनुष्ठान की विधि कही गई है, इसलिए सारे वाक्य ब्रह्म परक ही हैं। दृष्टि दृश्यात्मक जगत्-प्रपंच विलयन द्वारा ब्रह्म की ज्ञानैकरूपता का साधन करने वाली वह विधि क्या है ? इसका उत्तर— "न दृष्टे र्द्रष्टारं पश्येः न मन्तेर्मन्तारं मन्वीथाः" इत्यादि वाक्य में दिया गया है। अर्थात् ब्रह्म को, दृष्टा और दृश्य भेद से शून्य केवल दृशिमात्र रूपवाला जानों। स्वतः सिद्ध होते हुए भी, ब्रह्म की कार्यता निष्प्रपंचता रूप होने से, विरुद्ध नहीं होती।

तदयुक्तम्-नियोगवाक्यार्थवादिनां हि नियोगः, नियोज्य-विशेषणम्, विषयः करणम्, इति कर्त्तव्यता, प्रयोक्ता च वक्तव्याः। तत्र हि नियोज्यविशेषणमनुपादेयम्। तच्च निमित्तं फलमिति द्विधा। अत्र किं नियोज्य विशेषणं, तच्च किं निमित्तं फलं वेति विवेचनीयम्। ब्रह्मस्वरूपयाथात्म्यानुभवश्चेन्नियोज्यविशेषणम्, तर्हि न तन्निमितम्, जीवनादिवत्तासिद्धत्वात् निमित्तत्वे च तस्य नित्यत्वेनापवर्गोत्तरकालमपि जीवन्निमित्ताग्निहोत्रादिवत् नित्य-तर्द्विषयानुष्ठानप्रसंगः। नापि फलं नैयोगिकफलत्वेन स्वर्गादि-वदनित्यत्वप्रसंगात्।

उक्त कथन असंगत है—नियोग को ही वाक्य का अर्थ बतलाने वाले को ही, नियोग, नियोज्य विशेषण विषय करण या साधन, इति कर्त्तव्यता (अनुष्ठान की पूर्वा पर कर्त्तव्य प्रणाली) और प्रयोक्ता इन सबका निर्धारण करके कुछ कहना चाहिए। वहाँ पर (निष्प्रपंचीकरण में) नियोज्य-विशेषण की तो कोई उपादेयता ही नहीं है। नियोज्य-विशेषण, निमित्त और फल रूप से दो प्रकार का होता है। उक्त स्थल में कौन सा नियोज्य-विशेषण हो सकता है, यह विवेचनीय विषय है। ब्रह्मस्वरूप के यथार्थ अनुभव को ही, नियोज्य-विशेषण कहा जाय, तो भी वह निमित्त तो हो नहीं सकता क्यों कि—वह जीवन की तरह सिद्ध अर्थात् पूर्वनिष्पन्न तो है नहीं, जिससे वह निमित्त हो सके। ब्रह्म के यथार्थ

अनुभव को निमित्त मान भी लें तो, जीवन निमित्तक (आजीवन) अग्नि-होत्र आदि अनुष्ठान की तरह नित्य हो जायगा, जिससे मोक्ष के बाद भी उसका अनुष्ठान आवश्यक हो जायगा। फल नियोज्य विशेषण भी नहीं हो सकता, क्यों कि–फलस्वरूप होने से, नियोग निष्पन्न स्वर्ग आदि फल की तरह, ब्रह्म ज्ञान का फल भी अनित्य हो जायगा।

कश्चात्र नियोगविषयः? ब्रह्मवेति चेत्, न–तस्य नित्यत्वे नाभव्यरूपत्वात्, अभावार्थत्वाच्च। निष्प्रपंचंब्रह्म साध्यमिति चेत्, साध्यत्वेऽपि फलत्वमेव। अभावार्थत्वान्न विधिविषयत्वम्। साध्यत्वं च कस्य? किं ब्रह्मणः? उत प्रपंचनिवृत्तेः? न तावत् ब्रह्मणः सिद्धत्वात्, अनित्यत्वं प्रसक्तेश्च। अथ प्रपंचनिवृत्तेः। न तर्हि ब्रह्मणः साध्यत्वम्। प्रपंचनिवृत्तिरेकविधि विषय इति चेत्, न-तस्याः फलत्वेन विधिविषयत्वायोगात्। प्रपंचनिवृत्तिरेव हि मोक्षः। स च फलम्। अस्य च नियोगविषयत्वे नियोगात् प्रपंच-निवृत्तिः प्रपंचनिवृत्त्या नियोगः इतीतरेतराश्रयत्वम्।

यहाँ नियोग का विषय है कौन? ब्रह्म को नियोग का विषय कहना असंगत होगा, क्यों कि–ब्रह्म नित्य है इसलिए वह भाव्य अर्थात् क्रिया संपाद्य नहीं हो सकता। निष्प्रपंचीकरण रूप नियोग का विषय यदि ब्रह्म हो जायगा तो उसमें अभावात्मकता होगी; यदि ब्रह्म के निष्प्रपंचभाव को ही साध्य मानते हो तो, वह साध्य होकर फ़लमात्र ही रहेगा, अभावात्मक होने के कारण, विधिका विषय तो हो नहीं सकेगा। फिर यहाँ साध्यता है किसकी? ब्रह्म की या प्रपंचनिवृत्ति की ब्रह्म की तो हो नहीं सकती, क्यों कि वह तो नित्य सिद्ध है, साध्य मानने से वह अनित्य हो जावेगा। प्रपंचनिवृत्ति की साध्यता होने पर फिर ब्रह्म की तो साध्यता हो नहीं सकती। प्रपंच निवृत्ति को ही विधि का विषय नहीं कह सकते, क्यों कि–उसे विधि का फल बतलाया गया है, इसलिए वह विधि का विषय नहीं हो सकता। प्रपंच की निवृत्ति ही मोक्ष है, और वही फल है। मोक्ष नामक फल को विधि का विषय बतलाने से अन्योन्याश्रय दोष होगा, अर्थात् नियोग जैसे प्रपंच निवृत्ति

का कारण है, उसी प्रकार प्रपंचनिवृत्ति भी नियोग का कारण हो जायगा।

अपि च—किं निवर्त्तनीयः प्रपंचो मिथ्या रूपो सत्यो वा? मिथ्यारूपत्वे ज्ञाननिवर्त्यत्वादेव नियोगेन न किंचित् प्रयोजनम्। नियोगस्तु निवर्त्तकज्ञानमुत्पाद्यतद् द्वारेण प्रपंचस्य निवर्त्तक इति चेत् तत् स्ववाक्यादेव जातमिति नियोगेन न प्रयोजनम्। वाक्यार्थज्ञानादेव ब्रह्मव्यतिरिक्तस्यकृत्स्नस्यमिथ्याभूतस्यप्रपंचस्य बाधितत्वात् सपरिकरस्य नियोगस्यासिद्धिश्च। प्रपंचस्य निवर्त्यत्वे प्रपंचनिवर्त्तको नियोगः किं ब्रह्मस्वरूपमेव उत् तद्व्यतिरिक्तः? यदि ब्रह्मस्वरूपमेव निवर्त्तकस्य नित्यतया निवर्त्यप्रपंच सद्भाव एव न संभवति। नित्यत्वे न नियोगस्य विषयानुष्ठान साध्यत्वं च न घटते। अथ ब्रह्मस्वरूप व्यतिरिक्तः तस्य कृत्स्न प्रपंचनिवृत्ति रूपविषयानुष्ठान साध्यत्वेन प्रयोक्ता च नष्ट इत्याश्रयाभावादसिद्धिः: प्रपंचनिवृत्तिरूपविषयानुष्ठाने नैव ब्रह्मस्वरूप व्यतिरिक्तस्य कृत्स्नस्य निवृत्तत्वात् न नियोग निष्पाद्यं मोक्षाख्यंफलं।

और भी एक बात विचारणीय है—निवर्त्तनीय प्रपंच मिथ्यारूप है अथवा सत्य? यदि मिथ्या है तो उसकी ज्ञान से ही निवृति हो सकती है, नियोग की कोई आवश्यकता ही नहीं है। यदि कहो कि—नियोग ही, निवर्त्तक ज्ञान को उत्पन्न करके, उसके द्वारा प्रपंच की निवृत्ति कराने वाला निवर्त्तक है, तो श्रुति के वाक्य से ही जब ज्ञानोत्पत्ति हो जाती है तो नियोग की आवश्यकता ही क्या है? वाक्यार्थ ज्ञान से ही जब, ब्रह्म से भिन्न, मिथ्यारूप सारा प्रपंचमय जगत बाध्य है तो नियोग और नियोगांग सभी व्यर्थ हैं। यदि नियोग को प्रपंच निवर्त्तक मान भी लें, तो उस प्रपंच निवर्त्तक नियोग का स्वरूप क्या होगा? वह ब्रह्म स्वरूप है अथवा कोई भिन्न वस्तु है? यदि ब्रह्म स्वरूप है तो, ब्रह्म की नित्यता से निवर्त्य प्रपंच भी नित्य हो जायगा तथा वह फिर प्रपंच तो

रहेगा नहीं। नियोग की नित्यता होने से विषयानुष्ठान (यागादि क्रिया) की साध्यता भी समाप्त हो जायगी। यदि ब्रह्म से भिन्न कोई वस्तु नियोग है तो उसकी संपूर्ण प्रपंचनिवृत्तिरूप विषयानुष्ठान साध्यता और प्रयोक्ता दोनों ही नष्ट हो जावेंगे तथा आश्रय के अभाव से वह स्वयं (नियोग) भी अस्तित्व हीन हो जायगा। प्रपंचनिवृत्ति रूप अनुष्ठान से ही, ब्रह्म भिन्न समस्त वस्तुओ की निवृत्ति हो जायगी, फिर नियोग निष्पाद्य, मोक्ष नामक फल भी न होगा।

किं च प्रपंचनिवृत्ते नियोगकरणस्य इति–कर्त्तव्यताऽभावात् अनुपकृतस्य च करणत्वायोगान्न करणत्वं। कथं इतिकर्त्तव्यता अभाव इति चेत्, इत्थम अस्यैति कर्त्तव्यता भावरूपा अभावरूपा वा? भावरूपा च करणशरीरनिष्पत्तितदनुग्रहकार्यं भेदभिन्ना। उभयविधा च न संभवति। न हि मुद्गरादि घातादिवत् कृत्स्नस्य प्रपंचस्य निवर्त्तकः कोऽपि दृश्यत इति दृष्टार्था न संभवति। नापि निष्पन्नस्य करणस्य कार्योत्पत्तावनुग्रहः संभवति। अनुग्राहकांश सद्भावेन कृत्स्नप्रपंचनिवृत्ति रूपकरण स्वरूपासिद्धेः। ब्रह्मणोऽद्वियत्वज्ञानं प्रपंचनिवृत्ति रूपकरण शरीरं निष्पादयतीति चेत् तेनैव प्रपंचनिवृत्तिरूपो मोक्षः सिद्ध इति न करणादि निष्पाद्यम्, अवशिष्यत इति पूर्वमेवोक्तम्। अभावरूपत्वे चाभावादेव न करणशरीरं निष्पादयति। नाऽप्यनुग्राहकः अतो निष्प्रपंच ब्रह्मविषयो विधिर्न संभवति।

नियोग की करण रूप प्रपंचनिवृत्ति की इति कर्त्तव्यता के अभाव से उसके अनुकर्त्ता करणता का भी अभाव हो जाने से, करणता ही समाप्त हो जाती है (इसलिए प्रपंचनिवृत्ति कभी नियोग का करण नही हो सकती) यदि कहें कि–इति कर्त्तव्यता का अभाव कैसे हो सकता है? तो सुनिये—इतिकर्त्तव्यता भावरूप या अभावरूप होती है। भावरूप वह दो प्रकार की होगी, एक करण शरीर स्वरूप निष्पादक, दूसरी करण की अनुग्राहक (उपकारी) सो, यहाँ दोनों प्रकार की नही हो

सकती। तण्डुल निष्पादक मुदगर (मुसल)आदि के आघात की तरह, संपूर्ण प्रपंच का निवर्त्तक ऐसा कोई नही दीखता, जिससे उसकी निवृत्ति हो सके, इसलिए दृष्टार्थ इति कर्त्तव्यता तो सभव है, नही और न, निष्पन्न करण का कर्म योग्यता संपादक अनुग्रह ही संभव है। केवल अनुग्राहक अंश से ही निखिल जगत की प्रपंच की करणता हो सके ऐसा संभव नही है। यदि कहें कि–ब्रह्म का अद्वैत रूप ज्ञान ही प्रपंचनिवृत्ति रूप करण शरीर का निष्पादन कर सकता है। जब उसी से प्रपंच निवृत्ति रूप मोक्ष हो सकता है तो, करण निष्पाद्य, कुछ भी शेष नहीं रह जाता, ऐसा पहिले भी कह चुके हैं। यदि इति कर्त्तव्यता अभावरूप है तो वह अस्तित्वहीन होने से, न करण के शरीर का निष्पादन कर सकती है, न अनुग्रह ही। इससे स्पष्ट होता है कि—ब्रह्म के निष्प्रपंचीकरण की विधि सम्भव नहीं है।

अन्योऽप्याह-यद्यपि वेदांतवाक्यानां न परिनिष्पन्न ब्रह्म स्वरूपपरतमा प्रामाण्यम्, तथापि ब्रह्मस्वरूपं सिद्धत्येव। कुतः? ध्यानाविधिसामर्थ्यात्। एवमेव हो समामनन्ति। "आत्मा वाऽरेद्रस्ष्टव्यः 'निदिध्यासितव्यः-"यः आत्मा अपहतपाप्मा सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्य"-"आत्मेत्येवोपासीत्"-"आत्मान-मेव लोकमुपासीत् "इति। अथ ध्यानविषयो हि नियोगः स्वविषय भूतध्यानं ध्येयैकनिरूपणीयम्-इति ध्येयमाक्षिपति। स च ध्येयः स्ववाक्य निर्दिष्ट आत्मा। स किं रूप इत्यपेक्षायां तत् स्वरूपविशेषसमर्पणद्वारेण "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" सदेव सोम्येद-मग्र आसित्"इत्येवमादीनां वाक्यानां ध्यानविधिशेषतया प्रामाण्यम्-इति विधिविषयभूतध्यानशरीरानुप्रविष्ट ब्रह्म स्वरूपे अपि तात्पर्यमस्त्येव। "अतः एकमेवाद्वितीयम्" 'तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतोः "नेह नानास्ति-किंचन"इत्यादिभि-र्ब्रह्मस्वरूपमेकमेव सत्यं तद्व्यतिरिक्तं सर्वं मिथ्येत्येवगम्यते। प्रत्यक्षादिभिर्भेदावलंबिना च कर्म शास्त्रेण भेदः प्रतीयते।

भेदाभेदयोः परस्परविरोधे सत्यनाद्यविद्यामूलत्वेनापि भेद प्रतीत्युपपत्तेरभेद एव परमार्थं इति निश्चीयते। तत्र ब्रह्म-ध्याननियोगेन तत्साक्षात्कारफलेन निरस्तसमस्ताविद्याकृत विविधभेदाद्वितीयज्ञानैकरसब्रह्मरूप मोक्षः प्राप्यते।

एक बात और भी है यद्यपि वेदांत वाक्यों की परिनिष्पन्न सिद्धवस्तु परब्रह्म के स्वरूप निर्धारण में प्रमाणिक नहीं है फिर भी ध्यानविधि के सामर्थ्य से ब्रह्म का स्वरूप तो प्रामाणित होता ही है। ऐसा श्रुति प्रमाण भी है -"अरे! आत्मा द्रष्टव्य और ध्येय है' "जो निष्पाप है वह अन्वेषणीय है "वही विशेष रूप से जिज्ञास्य है "आत्मा का अस्तित्व स्वीकार कर उपासना करनी चाहिए "इत्यादि। यहाँ ध्यान के विषय में नियोग (विधि) है। नियोग का विषय रूप ध्यान कार्य, ध्येय सापेक्ष है। अर्थात् ध्येय के जाने बिना ध्यान हो नहीं सकता, इस प्रकार नियोग ही ध्येय वस्तु का अस्तित्व ज्ञापन करती है। स्व-पद वाच्य आत्मा ही ध्येय है, वह कैसा है? ऐसी आकांक्षा होने पर "ब्रह्म सत्य ज्ञान और अनंत स्वरूप है' हे सौम्य! यह जगत एक अद्वितीय सत् ही था "इत्यादि वाक्य आकांक्षित आत्मा के स्वरूप का प्रकाशन करके ध्यान विधि के अंग रूप से प्रमाणित होते हैं। इस प्रकार विधि के विषय रूप ध्यान से संश्लिष्ट ब्रह्म का स्वरूप भी, उक्त वाक्य का तात्पर्य है, ऐसा स्वीकारना होगा। "एक अद्वितीय ही निश्चित है" जो सत्य वही आत्मा है "जगत में कोई भिन्नता नहीं है" इत्यादि वाक्यों से एकमात्र ब्रह्म का स्वरूप ही सत्य ज्ञात होता है। प्रत्यक्ष आदि भेदावलम्बी प्रमाणों और कर्मशास्त्र से भेद की प्रतीति होती है। यद्यपि इस प्रकार भेद और अभेद दो परस्पर विरुद्ध बातें हैं, पर भेद प्रतीति को अनादि अविद्यामूलक मान लेने से विरोध का परिहार हो जाता है तथा अभेद प्रतीत ही परमार्थ रूप पर निश्चित होती है और फिर, ब्रह्म साक्षात् रूप फल वाले, ब्रह्म ध्यान नियोग (विधि) से अविद्याकृत सारे भेद समाप्त हो जाते हैं एवं अद्वितीय ज्ञानैकस्वभावब्रह्मस्वरूप मोक्ष प्राप्त हो जाता है।

न च वाक्यात् वाक्यार्थज्ञानमात्रेण ब्रह्म भावसिद्धिः

अनुपलब्धे: विविधभेददर्शनानुवृत्तेश्च। तथा च सति श्रवणादि विधानमनर्थकं स्यात्।

वाक्य या वाक्यार्थ ज्ञान मात्र से, ब्रह्म भाव की सिद्धि नही हो सकती ऐसा कहीं देखा भी नहीं जाता बड़े बड़े वाक्यार्थ ज्ञानियों में भी भेद दर्शन की अनुवृत्ति बनी ही रहती है। यदि वाक्यार्थ ज्ञान मात्र से ब्रह्म भाव की सिद्धि संभव भी हो जाय तो श्रवण, मनन आदि शास्त्रीय विधि व्यर्थ हो जायेंगी।

अथोच्येत्—"रज्जुरेषा न सर्प:" इत्युपदेशेन सर्पभयनिवृत्ति दर्शनात् रज्जुसर्पवत् बन्धस्य च मिथ्यारूपत्वेन ज्ञानबाध्यतया तस्य वाक्यजन्यज्ञानेनैव निवृत्तिर्युक्ता, न नियोगेन। नियोग साध्यत्वे मोक्षस्यानित्यत्वं स्यात् स्वर्गादिवत्। मोक्षस्य नित्यत्वं हि सर्ववादि संप्रतिपन्नम्। किं च—धर्माधर्मयो: फलहेतुत्वं स्वफलानुभवानुगुण शरीरोत्पादनद्वारेणेति ब्रह्मादिस्थावरान्तचतुर्विधशरीरसंबंधरूप संसार फलत्वमवर्जनीयम्। तस्मान्नधर्मसाध्यो मोक्ष:। तथा च श्रुति:—"स ह वै सशरीरस्य सत: प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति अशरीरं वा वसंतं न प्रियाप्रियेस्पृशत:।" इति, अशरीरत्वरूपे मोक्षे धर्माधर्मसाध्यप्रियाप्रियविरहश्रवणात्, न धर्मसाध्यमशरीरत्वमिति विज्ञायते। न च नियोगविशेष साध्यफल विशेषवत् ध्याननियोग साध्यमशरीरत्वम्, अशरीरत्वस्य स्वरूपत्वेनासाध्यत्वात्। यथाहु: श्रुतय:—"अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्नवस्थितम्, महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति" "अप्राणोह्यमनाश्शुभ्र:", "असंगोह्ययं पुरुष:" इत्याद्या:। अतोऽशरीत्वरूपो मोक्षो नित्य इति न धर्मसाध्य:। तथा च श्रुति: "अन्यत्र धर्मादन्यत्रादधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात् अन्यत्र भूताद्भव्याच्च यत्तत्पश्यसितदवद" इति।

इस पर कहते हैं "यह रस्सी है सर्प नहीं" इस उपदेश से सर्प भयनिवृत्ति देखी जाती है। रज्जुसर्प की तरह बंधन जब मिथ्या है तथा

मिथ्या होने से ही वह ज्ञान द्वारा निवार्य है, तो वाक्यार्थज्ञान से ही भेद बुद्धि का निवारण हो जायगा, नियोग (विधि) की आवश्यकता तो समझ में आती नहीं। मोक्ष को यदि नियोग साध्य मानेंगे तो स्वर्गादि की तरह उसकी अनित्यता भी स्वीकारनी पड़ेगी, जबकि मोक्ष की नित्यता सभी लोग मानते हैं।

तथा जब, धर्म और अधर्म, अपने फलभोग के उपयुक्त शरीरोत्पादक होने से ही फल के हेतु कहे जाते हैं। ब्रह्मा से लेकर तृणपर्यन्त चारों प्रकार के शरीरों से संबधित संसार की प्राप्ति अवश्यंभावी हो जावगे इसलिए मोक्ष को धर्म साध्य नहीं मान सकते। ऐसा ही श्रुति का प्रमाण भी है—"शरीरधारी उसके प्रिय और अप्रिय (सुख और दुःख) निवृत्त नहीं होते, शरीर रहित होने पर प्रिय अप्रिय स्पर्श नहीं कर सकते" इस प्रकार शरीर रहित मोक्ष में, धर्म-अधर्म से साध्य प्रियअप्रिय की हीनता कही गई है। इससे ज्ञात होता है कि--मोक्ष वस्तु धर्म साध्य नहीं है। ऐसा भी नही है कि—नियोग (विधि विशेष) साध्यफल विशेष की तरह, ध्यान नियोग से, अशरीरता साध्य हो सके। अशरीरता ही तो आत्मा का वास्तविक स्वरूप है, इसलिए वह किसी भी प्रकार साध्य नहीं हो सकता। जैसा कि—श्रुतियाँ कहती हैं—"स्वभाव से अशरीर, अनवस्थित (क्षणभंगुर) शरीरों में स्थित, महान और विभु आत्मा का मनन करके धीर व्यक्ति, शोक नहीं करते"—आत्मा, प्राण और मन रहित समुज्वल है "यह आत्मा अनासक्त है, इत्यादि। इस प्रकार अशरीरतारूप मोक्ष नित्य है, इसलिए धर्मसाध्य नहीं हो सकता। वैसा ही श्रुतिवाक्य भी है—"धर्म से पृथक् अधर्म से पृथक्, भूत-भविष्य-वर्त्तमान घटित पदार्थों से पृथक्, कृतकार्य से पृथक् अकृत से पृथक् जिस वस्तु को आप जानते हों उसे बतलावें।"

अपि च—उत्पत्तिप्राप्तिविकृतिसंस्कृतिरूपेण चतुर्विधं हि साध्यत्वं मोक्षस्य न संभवति। न तावदुत्पाद्यः, मोक्षस्य ब्रह्म स्वरूपत्वेन नित्यत्वात्। नापि प्राप्यः आत्मस्वरूपत्वेन ब्रह्मणो नित्य प्राप्तत्वात्। नापि विकार्यः दध्यादिवदनित्यत्वप्रसंगादेव। नापि संस्कार्यः संस्कारो हि दोषापनयनेन वा गुणाधानेन वा

साधयति। न तावत दोषापनयनेन वा नित्यशुद्धत्वाद् ब्रह्मणः। नाप्यतिशयाधानेन अनाधेयातिशय स्वरूपत्वात्। नित्यनिर्विकारत्वेन स्वाश्रयायाः पराश्रयायाश्च क्रियाया अविषयतया न निर्घर्षणेनादर्शादिवत् संस्कार्यत्वम्। न च देहस्थया स्नानादि क्रियया आत्मा संस्क्रियते। किंतु अविद्यागृहीतः तत्संगतोऽहंकर्त्ता, तत्फलानुभवोऽपि तस्यैव। न चाहंकृतैवात्मा तत्साक्षित्वात्। तथा च मंत्रवर्णं "तयोरन्यं पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नयो अभिचाकशीति इति।" आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः "एकोदेवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलोनिर्गुणश्च" संपर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्" इति च। अविद्यागृहीतादहंकर्त्तुरात्मस्वरूपमनाधेयातिशयम् नित्यशुद्धं निर्विकारं निष्कृष्येत। तस्मादात्मस्वरूपत्वेन न साध्योमोक्षः।

उत्पत्ति, प्राप्ति, विकृति और संस्कृति रूप चार प्रकार की साध्यता भी मोक्ष की नहीं हो सकती। मोक्ष की उत्पत्ति तो इसलिए संभव नहीं है कि—वह ब्रह्मस्वरूप होने से नित्य है। उसे प्राप्य इसलिए नहीं कह सकते कि—ब्रह्म स्वरूप होने से नित्य प्राप्त है। उसकी विकृति भी संभव नहीं है, विकृति मानने से वह दही आदि की तरह अनित्य हो जायगा। वह संस्कार्य भी नहीं है; संस्कार दोषों का परिमार्जन कर गुणों का संस्थापन करता है। नित्य शुद्ध ब्रह्म में दोषों के परिमार्जन की बात नितांत असंगत है। ब्रह्म, स्वरूपतः ही अतिशय गुणों वाले हैं इसलिए गुणाधान रूप संस्कार की बात भी उनमें लागू नहीं होती। नित्य निर्विकार होने से, स्वाश्रित या पराश्रित क्रियाओं के अविषय होने के कारण, दर्पण के घर्षण के समान संस्कार का रूप भी नहीं हो सकता। परमात्मा अशरीरी है, इसलिए स्नान आचमन आदि रूप संस्कार भी असंभव है। अविद्या के कारण, देह संश्लिष्ट अहंकार करने वाला, कर्त्ता ही संस्कृत होता है, संस्कार के फलस्वरूप वही फलोपभोग भी करता है।

अहंकार करने वाला स्वाभाविक आत्मा नहीं है, वह तो साक्षी मात्र है, जैसा कि मंत्रवर्णों से ज्ञात होता है—"एक पिप्पल का आस्वाद करता है दूसरा देखता मात्र है।" मनीषी लोग, देह, इन्द्रिय, मन युक्त आत्मा को भोक्ता कहते हैं।" एक ही देव, समस्त भूतों के अन्दर छिपे हुए हैं, वे सर्वव्यापी, सर्वान्तर्यामी, जीवकर्मों के परिचालक सब भूतों में निवास करने वाले साक्षी, चेतन और निराकार हैं।" शुक्ल (उज्वल अविद्या वासना) रहित, अकाय (सूक्ष्म शरीर रहित) अव्रण (अज्ञानरूप कारण शरीर रहित) अस्नाविर (स्नायु शून्य स्थूल शरीर रहित) काम्यकर्म आदि दोष शून्य, निष्पाप परमात्मा हर जगह व्याप्त हैं। 'इत्यादि वाक्यों में अविद्या रहित, अहंकारी आत्मा के स्वरूप से पृथक् अतिशय गुणवाले नित्य शुद्ध निर्विकार परमात्मा का निर्देश किया गया है। इसलिए आत्म स्वरूपी मोक्ष साध्य तत्व नहीं है (अपितु स्वयं सिद्ध है।)

यद्येवं किंवाक्यार्थज्ञानेन क्रियत इति ? चेत्, मोक्ष प्रतिबन्ध निमित्तमात्रमिति ब्रूमः। तथा च श्रुतयः—"त्वं हि नः पितायोस्माकमविद्यायाः परंपारंतारयसि" श्रुतं ह्येवमेव भगवद्दृशेभ्यस्तरति शोकमात्मविदिति सोऽहंभगवः शोचामि तं मा भगवान् शोकस्य पारंतारयतु"—तस्मै मृदितकषायाय तमसः पारंदर्शयति भगवान् सनत्कुमारः" इत्याद्याः। तस्मान्नित्यस्यैव मोक्षस्य प्रतिबंधनिवृत्तिर्वाक्यार्थज्ञानेन क्रियते। निवृत्तिस्तु साध्याऽपि प्रध्वंसाभावरूपा न विनश्यति। "ब्रह्मवेद ब्रह्मैवभवति" "तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति" इत्यादि वचनं मोक्षस्य वेदनानन्तरभावितां प्रतिपादयन् नियोग व्यवधानं प्रतिरुणद्धि। न विदिक्रिया कर्मत्वेन वा ध्यानक्रियाकर्मत्वेन वा कार्यानुप्रवेशः उभयविधिकर्मत्वप्रतिषेधात् "अन्यदेव तद्विदिताद्यो अविदितादपि" येनेदं सर्वं विजानाति तत्केन विजानीयात् "इति। "तदेव ब्रह्मत्वं विद्धिनेदं यदिदमुपासते" इति च।

यदि कहो कि—मोक्ष स्वतः सिद्ध है तो, "तत्त्वमसि" आदि

वाक्यार्थ ज्ञान से फिर क्या होता है? इसका उत्तर स्पष्ट है; वाक्यार्थ ज्ञान, मोक्ष प्रतिबन्धक अज्ञान की निवृत्ति मात्र करता है। जैसी कि श्रुति भी है—"आप हमारे पिता हैं, निश्चित आप हमें विद्या द्वारा पार उतार सकते है"—"आप ऐसे लोगों से ही मैंने सुना है कि—आत्मवेत्ता शोक से मुक्त हो जाता है"—"भगवन्! मैं बड़ा शोकाकुल हूं, कृपया मुझे शोक से मुक्त करिये" "भगवान् सनत्कुमार ऋषि ने भोगवासना रहित उन नारद को अज्ञान से पार मायातीत आत्मस्वरूप) का दर्शन कराया" इत्यादि। इससे ज्ञात होता है कि—वाक्यार्थ ज्ञान, नित्यसिद्ध मोक्ष के प्रतिबन्धक अज्ञान की निवृत्ति मात्र करता है। निवृत्ति, साध्य होते हुए भी प्रध्वंसाभाव रूपा होती है, नष्ट नहीं होती (उत्पत्ति शील भाव का ही विनाश होता है, अभाव के विनाश का प्रश्न ही उठता) "ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म ही होता है"—"उसको जानकर अमर हो जाता है"—इत्यादि वाक्य, मोक्ष को, ज्ञान का अनन्तरभावी बतलाकर, नियोग व्यवधान का प्रत्याख्यान करते हैं] अर्थात्—ज्ञान द्वारा ही मोक्ष का उपदेश दिया गया है, उसके मध्य में विधि की अधीन क्रिया का कोई स्थान नहीं है] वैदिक क्रिया, या ध्यान क्रिया द्वारा, मोक्ष कार्य में प्रवेश होता हो, ऐसी कोई बात नहीं है, क्योंकि—दोनों ही प्रकार के कर्मों का निषेध किया गया है—"वह ब्रह्म विदित और अविदित दोनों से ही पृथक् है"—"जिनसे यह सारा जगत ज्ञेय है, उन्हें किससे जाना जाय" "तुम उसे ही ब्रह्म जानों, इस जगत को नहीं, जिसकी लोग उपासना करते हैं" इत्यादि।

न चैतावता शास्त्रस्यनिर्विषयत्वम्, अविद्याकल्पितभेद-निवृत्ति परत्वाच्छास्त्रस्य। नहीदन्तया ब्रह्मविषयी करोति शास्त्रम्, अपितु अविषयं प्रत्यगात्मस्वरूपंप्रतिपादयदविद्याकल्पित ज्ञान ज्ञातृज्ञेय विभागं निवर्त्तयति। तथा च शास्त्रं—"न दृष्टेः दृष्टारंपश्येः" इत्येवमादि। न च ज्ञानादेव बन्धनिवृत्तिरेव श्रवणादि विध्या-नर्थक्यम् स्वभावप्रवृत्तसकलेतरविकल्पविमुखीकरणद्वारेण वाक्या-र्थावगतिहेतुत्वात् तेषाम्। न च ज्ञानमात्रात् बन्धनिवृत्तिर्न दृष्टेति वाच्यम्, बन्धस्य मिथ्यारूपत्वेन ज्ञानोत्तरकालं स्थित्यनुपपत्तेः।

अतएव न शरीरपातादूर्ध्वमेव बंधनिवृत्तिरिति वक्तुंयुक्तम्। नहि मिथ्यारूपसर्पभयनिवृत्तिः रज्जुयाथात्म्यज्ञानातिरेकेण सर्पविनाश-मपेक्षते। यदि शरीर संबंधः पारमार्थिकः तदा हि तद् विनाशापेक्षा। स तु ब्रह्मव्यतिरिक्ततया न पारमार्थिकः। यस्य तु बन्धो न निवृत्तः, तस्य ज्ञानमेव न जातमित्यवगम्यते, ज्ञानकार्यादर्शनात्। तस्मात् शरीरस्थितिर्भवतु वा, मा वा, वाक्यार्थज्ञानसमनन्तरं मुक्त एवासौ। अतो न ध्याननियोग साध्यो मोक्ष इति न ध्यानविधि-वेषतया ब्रह्मणास्सिद्धिः। अपितु–"सत्यंज्ञानमनन्तं ब्रह्म"–तत्त्व-मसि"–"अयमात्माब्रह्म" इति तत्परेणैव पदसमुदायेन सिध्यतीति।

ब्रह्म की इयत्ता (सीमा) बोधक वाक्यों की निर्विषयता भी नहीं हो सकती, क्योंकि—अविद्या कल्पित भेद की निवृत्ति ही शास्त्र का तात्पर्य होता है। शास्त्र, कभी ब्रह्म को, प्रत्यक्ष वस्तु की तरह "इदं" भी नही कहते, अपितु वे, अविषय जीवात्मा स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए, अविद्या कल्पित, ज्ञातृ-ज्ञान-ज्ञेय-के विभाग का निवारण कर देते हैं—जैसे कि—"दृष्टि के दृष्टा का दर्शन मत करो" इत्यादि।

ज्ञान के द्वारा बन्धन निवृत्ति होने से, श्रवण, मनन आदि विधि व्यर्थ हो जायगी, यह कथन भी ठीक नहीं। ब्रह्म से अतिरिक्त विषयों में जीवों की जो स्वाभाविक विकल्प बुद्धि होती है, उसी की निवृत्ति के लिए, श्रवण, मनन आदि का विधान है। यह भी नहीं कह सकते कि—ज्ञानमात्र से बंधन मुक्ति नहीं देखी जाती। बंधन मिथ्या वस्तु है, ज्ञानोदय के बाद उसकी स्थिति कदापि संभव नहीं है। सर्पबुद्धि के विनाश में रज्जु का यथार्थ ज्ञान ही अपेक्षित है, मिथ्या सर्पभय की निवृत्ति, रज्जु के यथार्थ ज्ञान के अतिरिक्त किसी अन्य से संभव नहीं है। यदि शरीर के साथ आत्मा का पारमार्थिक संबंध होता, तो निश्चित उस संबंध का विनाश अपेक्षित होता, वह परब्रह्म से अतिरिक्त है, इसलिए पारमार्थिक नहीं हो सकता। जिसका बंधन मुक्त नहीं हुआ, उसे ज्ञान नहीं हुआ, ऐसा जानना चाहिए, क्योंकि—उसमें, ज्ञान के कार्य मुक्ति का अभाव है। शरीर रहे या न रहे, वाक्यार्थ ज्ञान के बाद ही व्यक्ति मुक्त

हो जाता है। इसलिए मोक्ष, ध्यान नियोग साध्य नहीं है। ध्यान विधि के वर्णन से ब्रह्म प्रमाणित भी नहीं होता। अपितु--"ब्रह्म सत्यज्ञान और अनंतरूप है"--"तू वही है"—"यह आत्मा ब्रह्म है" इत्यादि तत् परक पदों से ही उसकी सिद्धि होती है।

तदयुक्तम्---वाक्यार्थज्ञानमात्रात् बंधनिवृत्त्यनुपपत्तेः। यद्यपि मिथ्यारूपोबन्धो ज्ञानबाध्यः, तथापि बंधस्यापरोक्षत्वात् न परोक्षरूपेण वाक्यार्थज्ञानेन स बाध्यते, रज्वादावपरोक्षसर्पप्रतीतौ वर्त्तमानायां "नायं सर्पोरज्जुरेषा" इत्याप्तोपदेशजनितपरोक्ष सर्प विपरीत ज्ञानमात्रेण भयान्निवृत्तिदर्शनात्। आप्तोपदेशस्यतु भयनिवृत्तिहेतुत्ववस्तुयाथात्म्यापरोक्षनिमित्तप्रवृत्ति हेतुत्वेन। तथाहि रज्जुसर्पदर्शनभयात् परावृत्तोपुरुषो "नायं सर्पोरज्जुरेषा" इत्याप्तोपदेशेन तद्वस्तुयाथात्म्यदर्शये प्रवृत्तस्तदेव प्रत्यक्षेण दृष्टवा भयान्निवर्त्तते। न च शब्दएव प्रत्यक्षज्ञानंजनयतीति वक्तुंयुक्तम्, तस्यानिन्द्रियत्वात्। ज्ञानसामग्रीष्विन्द्रियाण्वेव ह्यपरोक्षसाधनानि। न चास्यानभिसंहितफलकर्मानुष्ठानमृदितकषायस्यश्रवणमनननिदिध्यासनविमुखीकृतनवाह्यविषयस्य पुरुषस्यवाक्यमेवापरोक्षज्ञानं जनयति, निवृत्तप्रतिबन्धेतस्यरेऽपि पुरुषे ज्ञानसामग्रीविशेषाणामिन्द्रियादीनां स्वविषयनियमातिक्रमादर्शनेनतद्योगात्।

उपर्युक्त सब कुछ असंगत है—वाक्यार्थ ज्ञान मात्र से बंधनमुक्ति नितान्त असंभव है। यद्यपि मिथ्या रूप बंधन ज्ञान बाध्य है, फिर भी बंधन अपरोक्ष है, परोक्ष रूप वाक्यार्थ ज्ञान से वह निवार्य नहीं है। रज्जु आदि में प्रत्यक्ष सर्पभय होता है।" यह सर्प नहीं रज्जु है" ऐसे प्रामाणिक व्यक्ति के कथन मात्र से भय की निवृत्ति नही देखी जाती, क्योंकि—भीत व्यक्ति के समक्ष तो, सर्प की ही प्रवृत्ति रहती है, उक्त आप्तवाक्य तो, अप्रत्यक्ष सर्प विपरीत ज्ञान मात्र ही है। आप्तोपदेश—भयनिवृति हेतुता, वस्तु के यथार्थ प्रत्यक्ष ज्ञान पर आधारित रहती है, जैसे कि रज्जु को सर्प मानकर भयभीत पीछे हटा हुआ व्यक्ति "यह सर्प

नहीं रज्जु है" ऐसे प्रामाणिक व्यक्ति के कथन से, वस्तु को यथार्थरूप से देखने में प्रवृत्त होता है, उसको भलीभाँति देख समझकर ही भय से निवृत्त होता है (केवल कहने मात्र से नहीं होता) इसलिए शब्द को भी प्रत्यक्ष ज्ञान का उत्पादक नही कह सकते, क्योंकि वह अतीन्द्रिय तत्त्व है। जितने भी ज्ञान के साधन हैं, उनमें केवल इन्द्रियाँ ही प्रत्यक्ष ज्ञान की साधन हैं। निष्काम कर्मानुष्ठान से निर्मल मन, श्रवण-मनन-निदिध्यासन से, विषयपराङ्मुख पुरुष का ज्ञान भी वाक्यार्थमात्र से नहीं हो सकता। जब निर्मल मन वाले, साधन तत्पर व्यक्ति में ही, ज्ञान की साधन, इन्द्रियों की स्वविषक निवृत्ति नहीं देखी जाती, तो सामान्य साधनानुष्ठान विहीन व्यक्ति की चर्चा ही क्या है ?

न च ध्यानस्यवाक्यार्थज्ञानोपायता, इतरेतराश्रयत्वात् वाक्यार्थज्ञानेजाते तदविषयध्यानम्, ध्यानेनिवृत्तो वाक्यार्थज्ञानम्— इति न च ध्यानवाक्यार्थज्ञानयोर्भिन्नविषयत्वम्, तथासति ध्यानस्य वाक्यार्थज्ञानोपायता न स्यात्। न ह्यन्यध्यानमन्यौन्यमुख्यमुत्पादयति। ज्ञातार्थस्मृतिसंततिरूपस्यध्यानस्य वाक्यार्थज्ञानपूर्वकत्वमवर्जनीयम्। ध्येयब्रह्मविषयज्ञानस्य हेत्वंतरासंभवात् न च ध्यानमूलं ज्ञानं वाक्यान्तरजन्यम् निवर्त्तकज्ञानं तत्त्वमस्यादिवाक्यजन्यमिति युक्तम्। ध्यानमूलमिदं वाक्यान्तरजन्यम् ज्ञानं तत्त्वमस्यादि वाक्यजज्ञानेनैकविषयम्, भिन्नविषयं वा एकविषयत्वेतदेवेतरेतराश्रयत्वम्। भिन्नविषयत्वे ध्यानेन तदौन्मुख्यापादनासंभवः। किं च—ध्यानस्य ध्यात्राद्यनेकप्रपंचापेक्षत्वान्निष्प्रपंचब्रह्मात्वैकल्पविषयवाक्यार्थ ज्ञानोत्पत्तौदृष्टद्वारेण नोपयोग इति वाक्यार्थज्ञानमात्रादविद्यानिवृत्तिं वदतः श्रवणमनननिदिध्यासनविधीनामानर्थक्यमेव।

ध्यानमूलक ज्ञान, किसी अन्य वाक्यजन्य भी नहीं हो सकता और न तत्त्वमसि आदि वाक्यजन्य ही हो सकता है। ध्यान का मूल कारण वाक्यान्तरजन्य ज्ञान, तत्त्वमसि आदि वाक्य जन्य ज्ञान से भिन्न विषयक होता है अथवा एक विषयक ? यह विचारणीय है। एक विषयक होने

से अन्योन्याश्रयता होगी तथा भिन्न विषयक होने से, ध्यान द्वारा, वाक्य-गत विषय में एकांगता असंभव होगी। ध्यान में—ध्येय, ध्याता आदि भेद अपेक्षित हैं। निष्प्रपंच ब्रह्मात्मैकत्वविषयक वाक्यार्थजन्य ज्ञानोत्पत्ति में, प्रत्यक्ष तो कोई उपयोग दीखते नही, इसलिए वाक्यार्थ ज्ञान मात्र से विद्या निवृति बतलाने वालों के लिए, श्रवण-मनद-निदिध्यासन आदि विधियाँ भी व्यर्थ ही होंगी।

यतो वाक्यादपरोक्षज्ञानासंभवात् वाक्यार्थज्ञानेनाविद्या न निवर्त्तते, तत एव जीवन्मुक्तिरपिदूरोत्सारिता। का चेयं जीवन्मुक्तिः? सशरीरयैव मोक्ष इति चेत्-"माता मे वन्ध्या" इतिवद सगतार्थं वच: यत: अशरीत्वमेव सशरीत्वमेव बन्ध: मोक्ष इति त्वयैव श्रुतिभिरुपपादितम्। अथ सशरीरत्वप्रतिभासे वर्त्तमाने यस्यायं प्रतिभासोमिथ्येति प्रत्यय: तस्यसशरीरस्य निवृत्तिरिति। न मिथ्येति प्रत्ययेन स शरीरत्वं निवृत्तं चेत्, कथं स शरीरस्य मुक्तिः? अजीवतोऽपि मुक्तिः सशरीत्वमिथ्याप्रतिभासनिवृत्तिरेवेति कोऽयं जीवन्मुक्ति रितिविशेषः। अथसशरीरत्वप्रतिभासो बाधितोऽपि यस्य द्विचंद्रज्ञानवदनुवर्त्तते, सजीवन्मुक्त इति चेत्—न, ब्रह्मव्यतिरिक्त सकलवस्तुविषयत्वाद्बाधक ज्ञानस्य। कारणभूताविद्याकर्मादिदोषः सशरीरत्व प्रतिभासेन सह तेनैव बाधित इति बाधितानुवृत्तिर्नशक्यतेवक्तुम्। द्विचन्द्रादौ तु तत्प्रतिभासहेतुभूतदोषस्य बाधकज्ञानभूतचन्द्रैकत्वज्ञानाविषयत्वेनाबाधितत्वात् द्विचंद्रप्रतिभासानुवृत्तियुक्ता। किं च—"तस्यतावदेवचिरं यावन्नविमोक्ष्ये अथ सम्पत्स्ये इति सद्विद्यानिष्ठस्य शरीरपातमात्रमपेक्षते मोक्ष इति वदन्तीयं श्रुतिः जीवन्मुक्तिं वारयति। सैषा जीवन्मुक्तिरापस्तंबेनापि निरस्ता "वेदानिमं लोकममुं च परित्यज्यात्मानमन्विच्छेत्, बुद्धे क्षेमप्रापणं तच्छास्त्रैर्विप्रतिषिद्धम्। बुद्धे चेत्क्षेम प्रापणमिहैव न दुःखमुपलभेत्, एतेन परं व्याख्यातम्"

इति । अनेन ज्ञानमात्रान्मोक्षश्च निरस्तः । अतः सकलभेद निवृत्ति रूपा मुक्तिर्जीवतो न संभवति ।

वाक्य से प्रत्यक्ष ज्ञान तो हो नहीं सकता, परोक्षवाक्यार्थ ज्ञान द्वारा भी अविद्या की निवृति संभव नहीं है, इसलिए जीवन्मुक्ति की बात भी दूर से ही त्याज्य है। फिर यह जीवन्मुक्ति है क्या वस्तु ? सशरीर अवस्था में ही जीवन्मुक्ति कहना "मेरी माता बन्ध्या है" के समान असंगत हास्यास्पद बात है । सशरीरता को बंधन तथा अशरीरता को मोक्ष तो तुमने भी स्वयं श्रुति प्रमाणों से सिद्ध किया है । यदि कहो कि—सशरीर के प्रतिभास में ही उसकी मिथ्या प्रतीति हो जाने से, मिथ्यामय सशरीरत्व की प्रतीति निवारित हो जाती है । नही ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि—"यह शरीर मिथ्या है" ऐसे ज्ञान से ही सशरीरता की निवृत्ति कैसे हो जायगी ? मृत की मुक्ति भी, मिथ्यामय शरीरताभिमान की निवृत्ति ही तो है, जीवन्मुक्ति की ही क्या विशेषता है ? यदि कहो कि—जिसकी, सशरीरता की प्रतीति बाधित होते हुए भी, द्विचंद्र दर्शन ज्ञान की तरह अविलुप्त भाव से रहती है, वही जीवन्मुक्त है । यह कथन भी असंगत है—बाधक ज्ञान, ब्रह्म से अतिरिक्त सभी विषयों से संबद्ध होता है, तो शरीरता की प्रतीति, उसकी कारण अविद्या कर्म आदि दोष भी तो, उस ज्ञान से बाध्य होंगे, इसलिए शरीरता की प्रतीति को, द्विचंद्र ज्ञान की तरह अनुवृत्त नहीं कह सकते [अर्थात् ब्रह्म के अतिरिक्त जब सभी कुछ मिथ्या हो जायगा तो उसका कोई भी अंश अवभासित हो भी कैसे सकता है] द्विचन्द्र के आभास में, द्विचन्द्र प्रतीति का हेतुभूत दोष, कभी भी, तद्बाधक द्विचन्द्रेकता के ज्ञान का विषय तो होता नहीं, विषय न होने से, वह बाधक ज्ञान से बाधित भी नहीं होता, इसलिए वहाँ द्विचन्द्र दर्शन की अनुवृत्ति बना रहना स्वाभाविक है ।

"उसकी मुक्ति में तभी तक का विलम्ब है, जब तक देह से छुटकारा नहीं होता"—सद्विद्या (उपासना) निष्ठ व्यक्ति का मोक्ष शरीरावसान अपेक्षित होता है, यह बतलाने वाली उक्त श्रुति, जीवन्मुक्ति का प्रत्याख्यान करती है । इस जीवन्मुक्ति का आपस्तम्ब स्मृति में भी प्रत्याख्यान इस प्रकार किया गया है—"वैदिक लौकिक कर्मों का

त्याग करके आत्मचिंतन करना चाहिए, केवल आत्मज्ञान बुद्धि से मोक्ष होने की बात शास्त्र से प्रतिबद्ध है; यदि बुद्धि से ही मोक्ष की प्राप्ति, इस शरीर में ही संभव हो सकती है तो, फिर दुःख नहीं मिलना चाहिए, सो ऐसा होता नहीं" (अर्थात् दुःख होता देखा जाता है) इस वाक्य से ज्ञानमात्र लभ्य मोक्ष की बात का निराकरण हो जाता है। इसलिए समस्त भेद निवृत्तिरूपामुक्ति शरीर रहते संभव नहीं है।

तस्माद् ध्याननियोगेन ब्रह्मापरोक्षज्ञान फलेनैव बंधनिवृत्तिः। न च नियोगसाध्यत्वे मोक्षस्यानित्यत्वप्रसक्तिः प्रतिबंधनिवृत्ति मात्रस्यैव साध्यत्वात्। किंचं न-नियोगेन साक्षात् बंध निवृत्तिः क्रियते, किंतु निष्प्रपंचज्ञानैकरसब्रह्मापरोक्ष्यज्ञानेन। नियोगस्तुत-दापरोक्ष्यज्ञानं जनयति।

इससे निश्चित होता है कि-ब्रह्म के अप्रत्यक्ष ज्ञान के उत्पादक, ध्यान नियोग (विधि) से ही बंध निवृत्ति होती है। नियोग की साधनता से मोक्ष की अनित्यता नहीं हो सकती; क्यों कि-नियोग की, प्रतिबंध निवृत्ति मात्र ही, साध्यता है। नियोग से सीधे बंध निवृत्ति नहीं होती, अपितु निष्प्रपंचज्ञानस्वरूप ब्रह्म के परोक्ष ज्ञान से मुक्ति होती है। नियोग तो उसमें अपरोक्ष ज्ञान का उत्पादन करता है।

कथं नियोगस्य ज्ञानोत्पत्तिहेतुत्वमिति चेत्, कथं वा भक्तो अनभिसंहित फलानांकर्मणां वेदनोत्पत्तिहेतुत्वम्? मनोनैर्मल्य-द्वारेणेति चेत्, ममापि तथैव, मम तु निर्मले मनसि शास्त्रेण ज्ञानमुत्पाद्यते। तव तु नियोगेन मनसि निर्मले ज्ञानसामग्री वक्तव्येति चेत्, ध्याननियोगनिर्मलंमन एव साधनमिति ब्रूमः। केनावगम्यते इति चेत्, भवतो वा कर्मभिर्मनोनिर्मल भवति, निर्मलेमनसि श्रवणमनननिदिध्यासनैः सकलेतर विषय विमुखस्यैव शास्त्रं निवर्त्तकज्ञानमुत्पादयतीति केनावगम्यते? "विविदिषन्ति यज्ञेनदानेनतपसानाशकेन"-श्रोतव्यो मंतव्यो निदिध्यासितव्यः"-"ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति"इत्यादिभिः शास्त्रैरिति

चेत् ,ममापि-"श्रोतव्योमंतव्यो निदिध्यासितव्यः:"-"ब्रह्मविदाप्नोति परम्"-"न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा" मनसा तु विशुद्धेन"-" हृदामनीषा मनसाऽपि क्लृप्तः"इत्यादिभिः शास्त्रैः ध्यान नियोगेन मनो निर्मलं भवति, निर्मलं च मनो ब्रह्मापरोक्षज्ञानंजनयतीत्यवगम्यते-इति निरवद्यम् ।

यदि पूछें कि-नियोग की ज्ञानोत्पत्ति हेतुता कैसे है ? (अर्थात् नियोग प्रत्यक्ष ज्ञान कैसे कराता है ?) तो मैं ही आप से पूछता हूँ कि-आपके मत से निष्काम कर्म ही ज्ञानोत्पत्ति का हेतु कैसे है ? यदि आप कहें कि-निर्मल मन में संभव है, तो वैसे ही मेरी हेतुता भी संभव है । आप कहें कि-हमारे मत से तो मन निर्मल होने पर शास्त्र की सहायता से ज्ञानोत्पत्ति होती है; तुम्हारे मत से नियोग द्वारा निर्मल मन में ज्ञानोत्पत्ति होती है,तुम्हें ज्ञानोत्पत्ति की सामग्री बतलानी होगी । इस पर हमारा कथन है कि-ध्यान नियोग से निर्मल मन ही ज्ञानोत्पत्ति का साधन है । यदि पूछें कि-यह कैसे जाना ? तो मैं पूछता हूँ कि-आपके मत में कर्म द्वारा मन की निर्मलता तथा श्रवण- मनन-निदिध्यासन द्वारा समस्त विषयों की पराङ्मुखता में ही, मोक्ष शास्त्र, बंध निवर्त्तक ज्ञान का उत्पादन करता है, यही कैसे जाना ? इस पर उदाहरण प्रस्तुत करें कि- यज्ञ-दान-तप और भोग त्याग द्वारा ब्रह्म को जानने की इच्छा करते हैं-" आत्म तत्त्व श्रवणीय, मननीय और चिन्तनीय है-"ब्रह्म वेत्ता ब्रह्म ही होता है" इत्यादि वाक्यों से हमारे मत की पुष्टि होती है । तो हमारे मत में भी-',आत्म तत्त्व श्रवणीय- मननीय और चिन्तनीय है" "ब्रह्म वेत्ता ब्रह्म को प्राप्त करता है"-"वह नेत्र या वाणी से ग्राह्य नहीं है"-"विशुद्ध मन से ही गृहीत है"-"वशीकृत मन से ही वह परिज्ञात है"-इत्यादि शास्त्र, ध्यान नियोग से मन की निर्मलता का प्रतिपादन करते हैं । निर्मल मन ही ब्रह्म साक्षात्कार करता, अतः यही निर्दोष मत है ।

"नेदं यदिदमुपासते" इत्युपास्यत्वं प्रतिषिद्धमिति चेत् नैवम्-नात्र ब्रह्मण उपास्यत्वं प्रतिषिध्यते, अपितु ब्रह्मणो जगत् वैरूप्यं प्रतिपाद्यते । यदिदं जगदुपासते प्राणिनः,नेदं ब्रह्म; तदेव

ब्रह्म त्वं विद्धि-यद् वाचाऽनभ्युदितं येन,वागभ्युद्यते-इति-वाक्यार्थः अन्यथा—"तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि" इति विरुध्यते ।ध्यानविधि वैयर्थ्यं च स्यात् । अतो ब्रह्मसाक्षात्कारफलेन ध्याननियोगेनैवापरमार्थ भूतस्य कृत्स्नस्य द्रष्ट दृश्यादि प्रपंरूपबंधस्य निवृत्तिः ।

यदि कहें कि—"जिसकी उपासना करते हो वह ब्रह्म नहीं है" इसमें उपास्यता का प्रतिषेध किया गया है सो बात नहीं है. यहाँ ब्रह्म की उपास्यता का प्रतिषेध नहीं है, अपितु इसमें ब्रह्म की जगत से विलक्षणता बतलाई गई है—अर्थात् प्राणि, जिस जगत् की उपासना करते हैं, वह ब्रह्म नहीं है, अपितु "उसे ही ब्रह्म जानों जिससे वाणी प्रस्फुरित होती है और जो वाक्य से अवर्णनीय है ।" यही उक्त वाक्य का सही अर्थ है, यदि ऐसा अर्थ नहीं मानेंगे तो "उसे ही तुम ब्रह्म जानों" इस वाक्य से विरुद्धता होगी । साथ ही आत्मविषयक ध्यान विधि भी व्यर्थ हो जायगी इससे निश्चित होता है, कि—ब्रह्म साक्षात्कार कराने वाली ध्यान विधि से ही, असत्य रूप दृष्ट-दृश्य आदि प्रपंचात्मक जगत के सारे बंधन छटते हैं ।

यदपि केश्चिदुक्तम्-भेदाभेदयोर्विरोधो न विद्यते इति-तद-युक्तम्, नहि शीतोष्णतमःप्रकाशादिवद्भेदाभेदावेकस्मिन्वस्तुनि संगच्छेते । अथोच्येत्—सर्वं हिवस्तुजातं प्रतीति व्यवस्थाप्यम् । सर्वं च भिन्नाभिन्नं प्रतीयते । कारणात्मना जात्यात्मना चाभिन्नम् । कार्यात्मनाव्यस्त्यात्मना च भिन्नम् । छायाऽतपादिषु विरोधः सहानवस्थानलक्षणो भिन्नाधारत्वरूपश्च । कार्यकारणयोर्जा-तिव्यक्त्योश्च तदुभयमपि नोपलभ्यते । प्रत्युत एकमेव वस्तु द्विरूपं प्रतीयते—यथा—"मृदयं घटः" षण्डो गौ "मुण्डो गौ" इति । न चैकरूपं किंचिदपिवस्तु लोके दृष्टचरम् । न च तृणादेर्ज्वलनादिवद भेदो भेदोपमर्दी दृश्यत इति । न वस्तु विरोधः मृत्सुवर्णगवाश्वा-द्यात्मनाऽवस्थितस्यैव धटमुकुटषण्डवडवाद्यात्मनाचावस्थानात् । न

चाभिन्नस्यभिन्नस्य च वस्तुनोऽभेदो भेदश्च एक एवाकार इतीश्वराज्ञा । १,

कोई (ध्यान नियोग वादी भेदाभेद मतावलंबी भास्कर) ऐसा भी कहते हैं कि–जीव जगत्–ब्रह्म और माया में भेदाभेद संबंध मानने से कोई विरुद्धता नहीं होती। यह मत भी असंगत है–शीत-उष्ण, तम-प्रकाश आदि की तरह, भेद और अभेद, दोनों एक ही वस्तु में हो नही सकते। वे कहते हैं कि–सारी वस्तुएं प्रतीति के अनुसार व्यवस्थापनीय हैं, सभी भिन्नाभिन्न रूप से प्रतीत होती हैं सभी वस्तुएं, कारणरूप और जाति रूप से अभिन्न तथा कार्य रूप और व्यक्ति रूप से भिन्न हैं। धूप और छाया आदि में तो एक साथ न रहना तथा स्थानों में रहना ये दो विरुद्धतायें रहती हैं; पर कार्य-कारण और जाति-व्यक्ति में ऐसी विरुद्धतायें नहीं रहतीं, अपितु एक ही वस्तु दो रूपों में प्रतीत होती हैं। जैसे कि–"घट मिट्टी का है" षण्ड गौ "मुण्डगौ" इत्यादि। लोक में कोई भी वस्तु एक रूप की नहीं दीखती। अग्नि जैसे तृण आदि को भस्म करती है, वैसे ही भेद को नष्ट करने वाला अभेद भी दृष्टिगत नही होता; इसलिए वस्तु विरोध नाम की कोई वस्तु नहीं है। मिट्टी, सुवर्ण, गो अश्व आदि वस्तुओं को ही प्रकारान्तर से घट, मुकुट, षण्ड और घोड़ी आदि रूपों में देखा जाता है। अभिन्न वस्तु (जाति) केवल अभिन्न ही रहेगी, तथा भिन्न वस्तु (व्यक्ति) भिन्न ही रहेगी, ऐसी ईश्वराज्ञा तो है, नहीं।

प्रतीतत्वादेकरूप्यं चेत्,–प्रतीतत्वादेव भिन्नाभिन्नत्वमिति द्वैरूप्यमभ्युपगम्यताम्। न हि विस्फारिताक्षः पुरुषो घटशरावषण्ड-मुण्डादिषुवस्तुषूपलभ्यमानेषु "इयं मृत्–अयं घटः–इदं गोत्वम्–इयंव्यक्तिः' इति विवेक्तुं शक्नोति। अपितु–"मृदयं घटः, षण्डो गौ" इत्येव प्रत्येति। अनुवृत्तिबुद्धिबोद्धयंकार्यं व्यक्तिश्चेति विविन-क्तीति चेत्–नैवम् विविक्ताकारानुपलब्धेः। नहि सुसूक्ष्मपि निरीक्ष-माणैः 'इदमनुवर्त्तमानं इदं च व्यावर्त्तमानं" इति पुरोऽवस्थिते वस्तुन्याकारभेद उपलभ्यते। यथा संप्रतिपन्नैक्येकार्येविशेषे

चैकत्वबुद्धिरुपजायते, तथैव सकारणेससामान्येचैकत्वबुद्धिर-विशिष्टोपजायते । एवमेव देशतःकालतश्चाकारतश्चात्यन्त बिलक्षणेष्वपि वस्तुषु तदेवेदमिति प्रत्यभिज्ञा जायते । अतो स्वात्मक-मेव वस्तुप्रतीयते इति, कार्यकारणयोर्जातिव्यक्त्योश्चात्यन्तभेदोप-पादनं प्रतीति पराहतम् ।

यदि कहा जाय कि–प्रतीति से ही एकरूपता होती है तो ऐसा मानने से, भेदाभेद भी, प्रतीति का विषय होगा; इसलिए वस्तु की द्विरूपता (भेद और अभेद) अनिवार्य हो जायगी । खुली आखों वाला कोई व्यक्ति–घट, षण्ड, मुण्ड आदि को देखकर 'यह मिट्टी है, यह घट है यह गाय जाति है, यह गाय व्यक्ति है" इत्यादि प्रकार से कार्यकारण जातिव्यक्ति की पृथकता नहीं बतला सकता; अपि तु–"यह मिट्टी का घट है" यह षण्ड गौ है" ऐसा ही अनुभव करता है । यदि कहें कि–जाति और व्यक्ति की आकृति, अनुवृत्ति बोध्य तथा कार्य और व्यक्ति की व्यावृत्ति बोध्य होती है, इसी से उनकी पृथकता प्रतीत होती है । सो बात नही है, दृश्यमान वस्तु में आकारगत पार्थक्य प्रतीत नही होता । सूक्ष्म रूप से देखने पर भी "यह अंश अनुगत तथा यह अंश व्यावृत है" ऐसी सामने स्थित वस्तुओं में, आकार भेद की प्रतीति नही होती । पूर्वनिश्चित ऐक्यवाले कार्य विशेष मे, जैसी एकता की प्रतीति होनी है, सकारण सामान्य कार्य में भी वैसी ही एकता प्रतीत होती है । इसी प्रकार देश काल और आकार से अत्यन्त भिन्न वस्तुओं में भी "यह वही वस्तु है" ऐसी (जातिगतऐक्य) की प्रत्यभिज्ञा होती है [पूर्वदृष्ट वस्तु को बाद में देखे जाने पर होने वाली प्रतीति को प्रत्यभिज्ञा कहते है] इस प्रकार हर वस्तु दो प्रकार से (भिन्न अभिन्न) प्रतीत होती है । इसलिए कार्य-कारण और जाति-व्यक्ति में अत्यन्त भिन्नता कहना, अनुभव विरुद्ध बात होगी ।

अथोच्येत्–"मृदयंघटः षण्डो गौ" इतिवत् "देवोऽहं मनुष्योऽहं" इति सामानाधिकरण्येनैक्यप्रतीतेरात्मशरीरयोरपि भिन्नाभिन्नत्वं स्यात्, अत इदं भेदाभेदोपपादनं निजसदननिहितहुतवहज्वालायते इति, तदिदमनाकलितभेदाभेदसाधनसामानाधिकरण्यतदर्थया-

थात्म्यावबोधविलसितम्। तथा हि अबाधित एव प्रत्ययः सर्वत्रार्थं व्यवस्थापयति। देवाद्यात्माभिमानस्तु आत्मयाथात्म्यगोचरैः सर्वैः प्रमाणैर्बाध्यमानो रज्जुसर्पादि बुद्धिवन्नात्मशरीरयोरभेदं साधयति। "षण्डो गौः मुण्डो गौः" इति सामानाधिकरण्यस्य न केनचिद्-क्वचिद्बाधो दृश्यते। तस्मान्नातिप्रसंगः अतएव जीवोऽपि ब्रह्मणो नात्यन्तभिन्नः। अपि ब्रह्मांशत्वेन भिन्नाभिन्नः। तत्राभेद एव स्वाभाविकः, भेदस्त्वौपाधिकः कथमवगम्यत इति चेत्—"तत्त्वमसि" "नान्योऽतोऽस्तिद्रष्टा" "अयमात्मा ब्रह्म" इत्यादिभिः श्रुतिभिः। "ब्रह्मेमेद्यावापृथ्वी" इति प्रकृत्य—"ब्रह्मदाशा ब्रह्मदासा ब्रह्मेमे-कितवा उत, स्त्री पुंसौ ब्रह्मणो जातौ स्त्रियो ब्रह्मोऽत वा पुमान्" इत्याथर्वणिकानां संहितोपनिषदि ब्रह्मसूक्ते अभेद श्रवणाच्च।

वे कहते है—"यह घट मिट्टी का है, यह षण्ड गाय है" इन प्रतीतियों की तरह "मैं देवता हूँ, मैं मनुष्य हूँ" ऐसी सामानाधिकरण्य ऐक्य प्रतीति से शरीर आत्मा की भी भिन्नाभिन्नता हो सकती है। ऐसा भेदाभेद का समर्थन, अपने घर में आग लगाने के समान है, ऐसा विचार शून्य भेदाभेद का साधन, वे ही करते हैं, जो सामानाधिकरण्य और उसके सही अर्थ को नहीं जानते।

जो प्रतीति किसी प्रमाण द्वारा बाधित नहीं होती (अर्थात् भ्रांत नहीं कही जाती) वही सब जगह पदार्थ निर्धारण की हेतु हो सकती है। आत्मा के देवत्व आदि का अभिमान, आत्मा के यथार्थ बोधक सभी प्रमाणों से बाध्य है। रज्जुसर्प की तरह, उक्त प्रतीति भी, आत्मा शरीर की एकता का साधन नहीं कर सकती। "षण्ड गौ मुण्ड गौ" इस सामानाधिकरण्य में कोई बाधा नहीं दीखती, इसलिए उसमें कोई नियम भंग नहीं होता। इसी प्रकार जीव भी ब्रह्म से अत्यंत भिन्न नही है अपितु ब्रह्म का अंश होने से भिन्नाभिन्न है। उसका अभेद तो स्वाभाविक है, और भेद औपाधिक है। यदि पूछें कि—यह कैसे जाना? "तू वही है" द्रष्टा कोई भिन्न नहीं है "यह आत्मा ही भिन्न है" इत्यादि श्रुतियों से ही ज्ञात होता है। "ये वृक्ष और यह पृथिवीआकाश" यहाँ से लेकर—"ब्रह्म

दाश, ब्रह्मदास और कितव सभी ब्रह्म हैं, स्त्री और पुरुष दोनों ही ब्रह्म जात हैं ब्रह्म ही स्त्री पुरुष हैं" इस अथर्वणीय संहिता के ब्रह्मसूत्र में कहे गए अभेद से भी उक्त बात निश्चित हो जाती है।

"नित्योनित्यानांचेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्"---"ज्ञाज्ञौद्वावजावीशनीशौ"---क्रियागुणैरात्मगुणैश्चतेषां संयोगहेतुरपरोऽपि द्रष्टः--"प्रधानक्षेत्रज्ञ पतिर्गुणेशः संसार मोक्षस्थिति-बंधहेतुः"--सकारणंकरणाधिपाधिपः"---"तयोरन्यः पिप्पलं स्वादवत्यतश्नन्नन्यो अभिचाकशीति"-- स आत्मनि तिष्ठन्--"प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तो न वाह्यं किंचन वेद"--प्राज्ञेनात्मनाऽन्वारूढः उत्सर्जन्याति--"तमेवविदित्वाऽतिमृत्युमेति" इत्यादिभिभेदश्रवणाच्च जीव-परयोर्भेदाभेदाववश्याश्रयणीयौ तत्र--"ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति इत्यादिभिर्मोक्षदशायां जीवस्य ब्रह्मस्वरूपापत्तिव्यपदेशात्। "यत्रत्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्" इति तदानीं भेदेनेश्वरदर्शननिषेधाश्चाभेदः स्वाभाविक इत्यवगम्यते।

"नित्यों के नित्य चेतनों के चेतन वह अकेले ही अनेकों की कामनाओं को पूर्ण करते हैं—ज्ञाता और अज्ञ, ईश और अनीश दो अज हैं—क्रियागुण और आत्मगुण द्वारा उनका संयोग कराने वाला एक अन्य (जीव) भी ज्ञात होता है—प्रधान (प्रकृति) और क्षेत्रज्ञ (जीव) का अधिपति संचालक तीनों गुणों का स्वामी (ईश्वर) अधिपति हैं—उन दोनों में एक पिप्पल का आस्वाद करता है दूसरा केवल देखता मात्र है। जो आत्मा में स्थिति है—प्राज्ञ (जीव) परमात्मा से आलिंगित होकर वाह्याभ्यंतर ज्ञान से रहित हो जाता है—प्राज्ञ, आत्मा द्वारा परिचालित देह का परित्याग कर चला जाता है-उसको जानकर मृत्यु का अतिक्रमण करता है। "इत्यादि भेद परक श्रुतियों से भी जीव और परमात्मा का भेदाभेद अवश्य मान्य है। 'ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म ही होता है" इत्यादि श्रुतियों से मोक्षदशा में जीव की ब्रह्मस्वरूपावाप्ति बतलाई गई है तथा "जब सब कुछ आत्म्य है तो किससे किसको देखा जाय"? इत्यादि में कहे गए भेद परक ईश्वर दर्शन के निषेध से, स्वाभाविक अभेद प्रतीत होता है।

ननुच-"सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता" इति सह श्रुत्या तदानीमपि भेदः प्रतीयते वक्ष्यति च-"जगद्व्यापारवर्ज्यं प्रकरणादसन्निहितत्वाच्च "भोगमात्र साम्यलिंगाच्च" इति

नैतदेवम्-"नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा" इत्यादि श्रुतिशतैरात्मभेद प्रतिषेधात्। "सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सहब्रह्मणा विपश्चिता"इति सर्वैःकामैःसह ब्रह्माश्नुते-सर्वगुणान्वितं ब्रह्माश्नुत इत्युक्तं भवति। अन्यथाब्रह्मणा सहेत्यप्राधान्य ब्रह्मणः प्रसज्येत्। "जगद्व्यापारवर्ज" इत्यत्र मुक्तस्य भेदेनावस्थाने सत्यैश्वर्यस्य न्यूनता प्रसंगो वक्ष्यते, अन्यथा "संपद्याविर्भावः स्वेनशब्दात्" इत्यादिभिर्विरोधात्। तस्मादभेद एव स्वाभाविकः। भेदस्तु जीवानां परस्मात् ब्रह्मणः परस्परं च बुद्धीन्द्रियदेहोपाधिकृतः।

(प्रश्न) 'वह मुक्त पुरुष,सर्वज्ञ ब्रह्म के साथ समस्त कामनाओं का भोग करता है "इस श्रुति से तो मोक्ष दशा में भी भेद प्रतीति हो रही है सूत्रकार भी—"जगद् व्यापार वर्ज०" तथा "भोगमात्र साम्य-लिंगाच्च" में ऐसा ही कहते हैं–

(उत्तर) बात ऐसी नहीं है-"इससे भिन्न कोई द्रष्टा नहीं है" इत्यादि सैंकड़ो श्रुतियो से ब्रह्म-जीव के भेद का निषेध किया है। "सोऽ-श्नुते" इत्यादि का तात्पर्य है कि-मुक्त पुरुष समस्त कामनाओं से युक्तब्रह्म का भोग करता है। ऐसा अर्थ न मानने से-ब्रह्म अप्रधान तथा भोग प्रधान हो जायगा। "जगद्व्यापारवर्ज" सूत्र में भी, मुक्त पुरुष को ब्रह्म से पृथक् मानने से, मुक्त के ऐश्वर्य की न्यूनता सिद्ध होगी। अन्यथा "सपद्याविर्भावस्वेन शब्दात्" सूत्र से विरुद्धता होगी। इससे सिद्ध होता है कि-अभेद स्वाभाविक ही है, जीवों का, परब्रह्म से भेद, बुद्धि-इन्द्रिय-देहादि उपाधि कृत है।

ब्रह्म, यद्यपि निराकार व्यापक है फिर भी घट आदि भेद से आकाश की तरह, बुद्धि आदि उपाधियों से संबद्ध ब्रह्म में भी, भेद संभव है। भिन्न ब्रह्म में, बुद्धि आदि उपाधियों का संयोग संभव नहीं है तथा

बुद्धि आदि उपाधियों के संयोग से, ब्रह्मगत भेद में, अन्योन्याश्रयता भी घटित नहीं होती है,क्यों कि-उपाधि और उसके संयोग का कर्मकृत होने से अनादि प्रवाह है।

एतदुक्तं भवति—पूर्वकर्म संबंधाज्जीवात् स्वसंबद्ध एवोपाधि-रुत्पद्यते तद्युक्तात्कर्म,एवं बीजांकुरन्यायेन कर्मोपाधिसंबंधस्याना-दित्वान्न दोष :-इति। अतो जीवानांपरस्परंब्रह्मणाचाभेदवत् भेदोऽपि स्वाभाविकः, उपाधीनामुपाध्यंतराभावात् तदभ्युपगमनेऽन-वस्थानाच्च। अतो जीवकर्मानुरूपं ब्रह्मणो भिन्नाभिन्नस्वभावा एवोपाधय उत्पद्यन्तेइति।

कथन यह है कि-पूर्वजन्मार्जित शुभाशुभ कर्म संबद्ध जीव से ही उपाधि की उत्पत्ति होती है और उस उपाधि संबंद्ध जीव से शुभाशुभ कर्म की उत्पत्ति होती है, फिर भी बीजांकुरन्याय से, दोनों में परस्पर अन्योन्याश्रिता नहीं होती। जीवों का पारस्परिक और जीव ब्रह्म का भेद स्वाभाविक न होकर औपाधिक है; बुद्धि आदि उपाधियों से जीवों का पारस्परिक और ब्रह्म के साथ जो भेद अभेद है, उसमें अभेद स्वाभाविक और भेद औपाधिक है। यह बात- उपाधियों की अन्यता के अभाव तथा उनके संभावना से होने वाली अनवस्था से,निश्चित होती है। इससे ज्ञात होता है कि-अपने कर्मानुसार ही जीवों की अनुरूप उपाधियाँ होती है,जो कि ब्रह्म से भिन्नाभिन्न हैं।

अत्रोच्यते — अद्वितोयसच्चिदानन्दब्रह्मध्यानविषयविधिपरं वेदांतवाक्यजातमिति वेदांतवाक्यैरभेदः प्रतीयते। भेदावलंबिभिः कर्मशास्त्रैः प्रत्यक्षादिभिश्च भेदः प्रतीयते। भेदाभेदयोः परस्पर विरोधात् अनाद्यविद्यामूलतयाऽपि भेद प्रतीत्युपपत्तेरभेद एव परमार्थ इत्युक्तम्।

वे कहते हैं कि—अद्वितीय सच्चिदानंद ब्रह्म ध्यानविषयक विधि के विधायक वेदांत वाक्यों के होने से, उन वेदांत वाक्यों से अभेद की प्रतीति होती है। भेदावलम्बी कर्मविधायक शास्त्र वाक्यों तथा प्रत्यक्ष

आदि प्रमाणों से भेद की प्रतीति होती है। भेद और अभेद की परस्पर विरुद्धता तथा अनादि अविद्यामूलकता से भेद की प्रतीति निष्पन्न होती है, एकमात्र अभेद ही परमार्थ है।

तत्र यदुक्तं—भेदाभेदयोरुभयोरपि प्रतीति सिद्धत्वान्न विरोधः-इति—तद्युक्तम्—कस्माच्चित्कश्यचितविलक्षणत्वंहि तस्मात्तस्य भेदः तद्विपरीतंचाभेदः। तयोस्तथाभावांतथाभावरूपयोरेकत्र संभवमनुन्मत्तः को ब्रवीति? कारणात्मना जात्यात्मना-वाभेदः कार्यात्मनाव्यक्तयात्मना च भेदः—इत्याकारभेदादविरोध इति चेत्, न विकल्यासहत्वात्। आकारभेदादविरोधं वदतः, किमेकस्मिन्नाकारे भेदः आकारान्तरेचाभेदः—इत्यभिप्रायः उतोआकारद्वययोगि वस्तुगतावुभावपीति? पूर्वस्मिन्कल्पे—व्यक्तिगतो भेदः; जातिगतश्चाभेद इति नैकस्यद्वयात्मकता। जातिव्यक्तिरिति चैकमेव वस्त्वति चेत् तर्हि आकारभेदादविरोधः परित्यक्तःस्यात् एकस्मिश्च विलक्षणत्वतद्विपर्ययौ विरुद्धावित्युक्तम्। द्वितीये तु कल्पे अन्योन्यविलक्षणमाकारद्वयमप्रतिपन्नं च तदाश्रयभूतं वस्त्वति। तृतीयाऽभ्युपगमेऽपि त्रयाणामन्योन्यवैलक्षण्यमेवोपादितं स्यात् न पुनरभेदः। आकारद्वय निरुह्यमाणा विरोधं तदाश्रयभूते वस्तुनि भिन्नाभिन्नत्वमिति चेत्—स्वस्माद्विलक्षणं स्वाश्रयमाकारद्वयं स्वस्मिन्विरुद्ध धर्मद्वय समावेश निर्वाहकं कथंभवेत्? अविलक्षणंतु कथन्तराम्? आकार द्वय तद्वतोश्च द्वयात्मकत्वाभ्युपगमे निर्वाहकान्तरुपेक्षयाऽनवस्था स्यात्।

यह कहना भी असंगत है कि—भेदाभेद दोनों की ही प्रतीति होती है, इसलिए दोनों में परस्पर विरोध नहीं होता। किसी एक पदार्थ की, किसी अन्य पदार्थ से जो विलक्षणता होती है, वही उनका भेद है और उससे विपरीतता ही अभेद है। इस प्रकार परस्पर विरुद्ध भावापन्न भेद और अभेद की एक ही स्थान में संभावना की बात, कोई अप्रमत्त व्यक्ति तो कर नहीं सकता। यदि कहें कि—कारणरूप और जातिरूप से अभेद तथा

कार्यरूप और व्यक्तिरूप से भेद मानने से विरोध नहीं होगा, यह बात भी विचारपूर्ण नहीं प्रतीत होती। मैं पूछता हूँ कि—आकार भेद से अविरोध बतलाने का, क्या एक आकार में अभेद तथा अन्य आकार में भेद ही तात्पर्य है? अथवा दोनों प्रकार के आकारों में भेदाभेद तात्पर्य है? पहिली बात—"व्यक्तिगत भेद और जातिगत अभेद में - एक ही वस्तु की द्वयात्मकता नहीं है (जाति और व्यक्ति एक पदार्थ नहीं हैं) यदि जाति और व्यक्ति को एक ही वस्तु मानते हो तो" आकारभेद से अविरोध वाली बात का आग्रह छोड़ना होगा, क्योंकि एक ही पदार्थ में वैलक्षण्य और अवैलक्षण्य, दोनों नितांत विरुद्धतायें हो नहीं सकतीं ऐसा पहिले भी कह चुके हैं। दूसरी बात में—परस्पर विजातीय दो आकार, उपलब्धि के विषय नहीं हो सकते। जाति और व्यक्ति की आश्रयभूत तीसरी वस्तु का अस्तित्व मानने से भी, अभेद का प्रतिपादन नहीं होता, क्योंकि—जब वे दोनों ही परस्पर विलक्षण है तो, तीसरी की विलक्षणता भी स्वाभाविक है। दोनों आकारों से विशिष्ट तीसरी वस्तु में आकार भेद से द्वैताद्वैत भाव मानने से संशय होता है कि—अपने से विलक्षण, अपने आश्रय को, वे दोनों आकार, अपने विरुद्ध दोनों धर्मों में, समाविष्ट कैसे कर सकेंगे? तीनों वस्तुओं को अविलक्षण मानकर भी, ऐसा कैसे संभव हो सकेगा? दोनों आकार और उसके आकार की विलक्षणता मानने के लिए, किसी चौथी वस्तु के अस्तित्व की कल्पना करनी पड़ेगी जिससे अनवस्था होगी।

न च संप्रतिपन्नैक्यव्यक्तिप्रतीतिवत् ससामान्येऽपि वस्तुन्येकरूपा प्रतीतिरुपजायते। यतः "इदमित्थं" इति सर्वत्र प्रकारप्रकारितमैव सर्वा प्रतीतिः। तत्र प्रकारांशो जातिप्रकारांशो व्यक्तिरिति नैकाकारा प्रतीतिः। अतएव जीवस्यापि ब्रह्मणो भिन्नाभिन्नत्वं न संभवति। तस्मादभेदस्यानन्यथासिद्धशास्त्रमूलत्वादनाद्यविद्यामूल एव भेदप्रत्ययः।

निर्विवाद ऐक्य व्यक्ति की प्रतीति की तरह, सामान्य वस्तु में भी एकरूपा प्रतीति, संभव नहीं हो सकती, क्योंकि—"यह वस्तु ऐसी है" ऐसी प्रकार प्रकारी (सामान्य-विशेष या विशेषण-विशेष्य भाव) प्रतीति ही, प्रायः सब जगह होती है। वहाँ प्रकार जाति, तथा प्रकारी व्यक्ति

है, इसलिए एकाकार प्रतीति संभव नहीं है। अतएव जीव की भी भिन्नाभिन्नता, ब्रह्म के साथ नहीं हो सकती। शास्त्रमूलक अभेद ही यथार्थ है, भेद प्रत्यय को अनादि अविद्यामूलक ही मानना चाहिए।

ननु एवं ब्रह्मणएवाज्ञत्वं तन्मूलाश्च जन्मजरामरणादयो दोषाः प्रादुष्युः। ततश्च—"यः सर्वज्ञः सर्ववित्" एषआत्माऽपहतपाप्मा" इत्यादीनि शास्त्राणि वाध्येरन्।

नैवम्—अज्ञानादिदोषाणामपारमार्थत्वात्। भवतस्तूपाधि ब्रह्मव्यतिरिक्तं वस्त्वन्तरमनभ्युपगच्छतो ब्रह्मण्येवोपाधि संसर्गस्तत्कृताश्च जीवत्वाज्ञत्वादयोदोषाः परमार्थत एव भवेयुः, न हि ब्रह्मणि निरवयवेअच्छेद्ये संबद्धयमाना उपाधयस्तच्छित्वाभित्वा वा संबंध्यन्ते। अपितु ब्रह्मस्वरूपे संयुज्य तस्मिन्नेव स्वकार्याणि कुर्वन्ति।

(इस पर भेदाभेद वादी कहते हैं) जीव ब्रह्म का नित्य अद्वैत संबंध होने से, जीव के जन्म, जरा, मरण आदि दोष ब्रह्म को भी दूषित कर देंगे जिससे—"जो सर्वज्ञ सर्वविद् है" वह निष्पाप है" इत्यादि ब्रह्मपरक श्रुतियां बाध्य हो जायेंगी।

(उक्त कथन का निराकरण)—आपने जिन दोषों की चर्चा की है वे अज्ञानादि दोष पारमार्थिक नहीं हैं।

(वाद) आप उपाधि और ब्रह्म के अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु का अस्तित्व तो स्वीकारते नहीं, इसलिए ब्रह्म का उपाधि संसर्ग स्वाभाविक ही होगा, तथा उपाधिकृत जीवता, अज्ञता आदि परमार्थ रूप से ब्रह्म में घटित होंगे।

(विवाद) निरवयव और अच्छेद्य ब्रह्म में संश्लिष्ट उपाधियाँ, ब्रह्म का छेदन भेदन करके उसमें प्रविष्ट हो जाती हों, ऐसा तो संभव है नहीं, अपितु ब्रह्म के स्वरूप से संश्लिष्ट होकर, उनमें अपने अपने कार्यों का प्रयोग मात्र करती हैं।

यदि मन्वीत—उपाध्युपहितं ब्रह्मजीवः स चाणुपरिमाणः अणुत्वं चावच्छेदकस्य मनसोऽणुत्वात्, स चावच्छेदोऽनादिः, एवम् उपाध्युपहितेंशे संबंध्यमाना दोषाः अनुपहिते परेब्रह्मणि न संबध्यन्ते इति। अयं प्रष्टव्यः—किमुपाधिना छिन्नो ब्रह्मखण्डोऽणुरूपोजीवः? उताच्छिन्नएवाणुरूपोपाधिसंयुक्तोब्रह्मप्रदेश विशेषः उतोपाधि संयुक्तंब्रह्मस्वरूपम्? अथोपाधि संयुक्तंचेतनांतरं अथोपाधिरेव? इति। अच्छेद्यत्वात् ब्रह्मणः प्रथमः कल्पो न कल्पते। आदिमत्त्वं च जीवस्य स्यात्। एकस्य सतोद्वैधीकरण हि छेदनं। द्वितीये तु कल्पे ब्रह्मण एव प्रदेशविशेषे उपाधिसंबंधारोपाधिकाः सर्वे दोषास्तस्यैस्व स्युः। उपाधौगच्छत्युपाधिना स्वसंयुक्तं ब्रह्मप्रदेशाकर्षणायोगादनु-क्षणमुपाधिसंयुक्त ब्रह्मप्रदेशभेदात् क्षणेक्षणे बंधमोक्षौ च स्याताम्। आकर्षणे चाच्छिन्नत्वात् कृत्स्नस्य ब्रह्मणः आकर्षणं स्यात्। निरंशस्य व्यापिनः आकर्षणं न संभवतीति चेत् तर्हि उपाधिरेव गच्छतीतिपूर्वोक्त एव दोषः स्यात्। अच्छिन्न ब्रह्मप्रदेशेषु सर्वोपाधि-संसर्गे सर्वेषां च जीवानां ब्रह्मण एव प्रदेशत्वेनैकत्वेन प्रतिसंधानं न स्यात्। प्रदेशभेदादप्रतिसंधाने चैकस्यापि सोपाधौ गच्छति प्रति-संधानं न स्यात्। तृतीये तु कल्पे ब्रह्मस्वरूपस्येवोपाधिसंबंधेन जीवत्वापातात् तदतिरिक्तानुपहितब्रह्मासिद्धिः स्यात्। तुरीये तु कल्पे ब्रह्मणोऽन्य एव जीव इति जीवभेदस्यौपाधिकत्वं परित्यक्तं स्यात्। तस्मादभेदशास्त्रबलेन कृत्स्नस्यभेदस्याविद्यामूलत्वमेवाभ्यु-पगंतव्यम्। अतः प्रवृत्तिनिवृत्तिप्रयोजनपरतयैवशास्त्रस्य प्रामाण्येऽपि ध्यानविधिशेषतया वेदांतवाक्यानां ब्रह्मस्वरूपे प्रामाण्यमुपपन्नम् इति।

यदि ऐसा मानते हैं कि—उपाधि परिच्छिन्न ब्रह्म ही, जीवनाम-धारी, अणु परिमाण वाला होता है। जीव का अवच्छेदक मन, अणु

परिमाण का है इसलिए जीव में भी अणुता है। वह जीव का अवच्छेदक भी अनादि है, इसलिए उपाधिविशिष्ट देश (जीव) में जो दोष होते हैं, वे अनुपहित (उपाधि संबंध रहित) ब्रह्म से संबद्ध नहीं हो सकते।

इस पर प्रष्टव्य यह है कि—अणु परिमाणवाला जीव उपाधि परिच्छिन्न ब्रह्म का अंश है, अथवा उपाधि अनवच्छिन्न ब्रह्म का? अणुरूप उपाधि संयुक्त ब्रह्म का प्रदेश (अंश) विशेष है, अथवा उपाधि संयुक्त ब्रह्म का ही रूप है? उपाधि संयुक्त कोई दूसरा चेतन है, अथवा उपाधि ही है?

इसमें—उपाधि परिच्छिन्न ब्रह्म का अंश तो कहा नहीं जा सकता, क्योंकि—ब्रह्म अविच्छिन्न है। उक्त कल्पना से जीव की आदिमता भी होती है, जबकि जीव अनादि है। एक वस्तु को दो करना ही परिच्छिन्नता है।

दूसरे कल्पानुसार जब जीव ब्रह्म का ही प्रदेश माना गया है तो जीव के उपाधि से संबद्ध होने से, सारे औपाधिक दोष ब्रह्म के ही मानें जायेंगे। उपाधि कभी स्थिर तो रहती नहीं इसलिए जब वह एक स्थान से दूसरे स्थान पर जायगी तो अपने साथ, संयुक्त उस ब्रह्म प्रदेश को ले न जा सकेगी, उस समय निश्चित ही उसका उस प्रदेश से संबंध विच्छेद हो जायगा, इस प्रकार जीव का क्षण-क्षण में बंधन और मोक्ष होता रहेगा। यदि वह उपाधि उस प्रदेश को भी आकृष्ट करके ले जायगी तो उस प्रदेश का अभिन्न अंगी ब्रह्म भी खिचता चला जायगा। यदि अखड, सर्वव्यापी ब्रह्म का खिचाव असंभव मानते हो तो, फिर भी क्षण-क्षण बंधन मोक्ष का दोष तो, घटित होगा ही। उपाधि से अविच्छिन्न ब्रह्म के प्रदेशों में, समस्त उपाधियों की संसर्गता से ज्ञान की अभिन्नता प्रतीत होने लगेगी। जीवों को यदि, ब्रह्म के भिन्न-भिन्न प्रदेशों का माने और उस नाते उनके ज्ञानों की भी विभिन्नता मान लें तो एक की अपनी उपाधि दूसरे के प्रदेश में चले जाने पर, एक ही व्यक्ति को पूर्वापर स्मृति ही न रह जायगी।

तीसरी कल्पना में, उपाधि संबद्ध होने से, स्वरूपतः ब्रह्म ही जब जीवता को प्राप्त करता है तो, जीव से विलक्षण, अनुपहित (उपाधि-

रहित) ब्रह्म की चर्चा ही समाप्त हो जायगी। तथा सभी शरीरों में एक ही जीव का साम्राज्य होगा (जीव की भिन्नता भी समाप्त हो जायगी)

चौथी कल्पना में जब जीव को ब्रह्म मे भिन्न माना गया है तब, जीव के भेद की औपाधिकता समाप्त हो जाती है (अर्थात् उपाधि संबंध से संभाव्य भेद की चर्चा समाप्त हो जाती है)

अंतिम पांचवी कल्पना तो चार्वाक मत में ही हो सकती है। इसलिए अभेद शास्त्र की बलवत्ता से, सारे भेदों की अविद्यामूलकता ही स्वीकारनी होगी। प्रवृत्ति या निवृत्ति रूप प्रयोजन के प्रकाशक वेदांत वाक्यों की प्रामाणिकता, ब्रह्म के स्वरूपावबोध में, ध्यानविधिपरक होने से ही चरितार्थ होती है।

तदप्ययुक्तम्—ध्यानविधिशेषत्वेऽपि वेदांतवाक्यानामर्थसत्यत्वे प्रामाण्यायोगात् । एतदुक्तं भवति—ब्रह्मस्वरूपगोचराणिवाक्यानि किं—ध्यानविधिनैकवाक्यतामापन्नानि ब्रह्मस्वरूपे प्रामाण्य प्रत्यपद्यन्ते, उत् स्वतंत्राण्येव ? एकवाक्यत्वे ध्यानविधिपरत्वेन ब्रह्मस्वरूपे तात्पर्यं न संभवति। भिन्नवाक्यत्वे प्रवृत्तिनिवृत्तिप्रयोजनविरहादनबोधकत्वमेव। न च वाच्यम्- ध्यान नाम स्मृतिसंततिरूपम्। तच्च स्मर्तव्यैकनिरूपणमिति ध्यानविधेः स्मर्त्तव्यविशेषाकांक्षायाम् "इदं सर्वं यदयमात्मा" ब्रह्म सर्वानुभूः" सत्यंज्ञानमनंतंब्रह्म" इत्यादीनि स्वरूप तद्विशेषादीनि समर्पयन्ति। तेनैकवाक्याातामापन्नान्यर्थ सद्भावेप्रमाणमिति। ध्यानविधेः स्मर्त्तव्यविशेषापेक्षत्वेऽपि "नामब्रह्म" इत्यादि दृष्टिविधिवदसत्येनाप्यर्थविशेषेण ध्याननिवृत्त्युपपत्तेः ध्येय सत्यत्वानपेक्षणात्। अतोवेदांतवाक्यानां प्रवृत्तिनिवृत्ति प्रयोजन विधुरत्वात् ध्यानविधिशेषत्वेऽपि ध्येयविशेषस्वरूप समर्पणमात्रपर्यवसानात् स्वातंत्र्येऽपि बालातुराद्युपच्छन्दनवाक्यवत् ज्ञानमात्रेणैव पुरुषार्थपर्यन्तता सिद्धेश्च परिनिष्पन्नवस्तुसत्यता गोचरत्वाभावात् ब्रह्मणः शास्त्रप्रमाणकत्वं न सभवतीति प्राप्तम्।

उक्त कथन भी युक्ति संगत नही है—वेदांत वाक्यों की ध्यानविधि शेषता होते हुए भी, पदार्थ सत्यता का कोई प्रमाण नहीं मिलता। कथन यह है कि—ब्रह्म स्वरूप बोधक वाक्य, ध्यानविधि के साथ, एकवाक्यता प्राप्त कर, ब्रह्म स्वरूप के प्रकाशन में प्रमाणित होते है, अथवा स्वतंत्र रूप से होते हैं? (यह विचारणीय विषय है) एक वाक्यता में होने से, जब वह ध्यानविधि परक हैं, तो, ब्रह्म स्वरूप के ज्ञापन में उनका तात्पर्य नहीं हो सकता यदि वह स्वतंत्र रूप से होते है तो, प्रवृत्ति निवृत्ति रूप प्रयोजन रहित होने से, उनमें सत्यार्थ बोधकता का अभाव है ही। यह नही कह सकते कि—स्मृति प्रवाह ही ध्यान है और वह केवल स्मर्त्तव्य रूप से ही निरूप्य है। स्मर्त्तव्य विशेष उस ध्यानविधि के निरूपण की आकांक्षा होने पर "यह सारा दृश्य आत्मा ही है" यह आत्मा ही सर्वानुभावक ब्रह्म है "ब्रह्म सत्य-ज्ञान-अनंतस्वरूप है" इत्यादि वेदांत वाक्य ब्रह्म स्वरूप और ब्रह्मगत विशेष भावों का प्रकाश करते है; क्या ये ध्यानविधि के साथ एकवाक्यता को प्राप्त कर प्रतिपाद्य अर्थ की सत्यता को प्रमाणित करने में प्रमाण हो सकते हैं? ध्यानविधि की स्मर्त्तव्य सापेक्षता होते हुए भी—"मन की ब्रह्म रूप से उपासना करनी चाहिए" इत्यादि दृष्टि विधि की तरह, असत्यवाक्यार्थ द्वारा भी जब ध्यान क्रिया निष्पन्न हो सकती है तो, ध्यानकार्य में, ध्येय पदार्थ की, थोड़ी भी सत्यता अपेक्षित नहीं है। इसलिए वेदांत वाक्यों के, प्रवृत्ति निवृत्ति प्रयोजन रहित होने से, ध्यानविधिशेषता होते हुए भी, ध्येयविशेष के स्वरूप प्रकाशन में ही पर्यवसित होने से, स्वतंत्र होते हुए भी, बालक और रोगियों को फुसलाने वाले वाक्यों की तरह, वाक्यार्थमात्र से ही, पुरुष के वास्तविक प्रयोजन की सिद्धि हो पाती है, स्वतः सिद्ध वस्तु की सत्यता के बोधन में, शास्त्र की सामर्थ्य नहीं है। इसलिए ब्रह्म की शास्त्र प्रमाणता संभव नहीं है।

(सिद्धान्त) तत्र प्रतिपद्यते—तत्तुसमन्वयात् इति समन्वयः = सम्यगन्वयः पुरुषार्थतयाऽन्वय इत्यर्थः। परमपुरुषार्थभूतस्यानवधिकातिशयानन्दस्वरूपस्य ब्रह्मणो अभिधेयतयान्वयात् तत् शास्त्र प्रमाणकत्वं सिद्धयत्येवेत्यर्थः निरस्तनिखिल दोषनिरतिशयानंद स्वरूपतयापरमप्राप्य ब्रह्मबोधयन् वेदात वाक्यगणः प्रवृत्तिनिवृत्ति

परताविरहान्न प्रयोजनपर्यवसायीति ब्रुवाणो "राजकुलवासिनः पुरुषस्य कौलेयककुलाननुप्रवेशेन प्रयोजनशून्यता" ब्रूते ।

उक्त प्रस्तुत मत के उत्तर में "तत्तुसमन्वयात्" सूत्र कहा गया है। समन्वय का तात्पर्य है, सम्यक् रूप से अन्वय, अर्थात् यथोपयुक्तरूप से पुरुषार्थ के साथ संबद्ध निस्सीम, निरतिशय, ब्रह्म ही, परमपुरुषार्थ हैं, ऐसा समस्त वेदांत वाक्यों का वाच्यार्थ है, ब्रह्म की शास्त्र प्रमाणकता, इसी से निश्चित होती है। निर्दोष, अत्यंत आनंदस्वरूप प्राप्य ब्रह्म के बोधक, वेदांत वाक्य, प्रवृत्ति-निवृत्ति परक न होने से, निष्प्रयोजन हैं, ऐसा कहना "राजकुलवासी व्यक्ति, म्लेच्छ के घर निष्प्रयोजन नहीं जाता" इस कथन के समान ही है।

एतदुक्तं भवति—अनादिकर्मरूपाविद्यावेष्टनतिरोहितपरावर तत्त्वयाथात्म्यस्वस्वरूपावबोधानां देवासुरगंधर्वसिद्धविद्याधरकिन्नर किंपुरुषयक्ष राक्षसपिशाचमनुजपशुशकुनसरीसृपवृक्षगुल्मलतादूर्वादीनां स्त्रीपुंन्नपुंसकभेदभिन्नानां क्षेत्रज्ञानांव्यवस्थितधारकपोषकभोग्य विशेषाणां मुक्तानां स्वस्य चाविशेषाणामनुभवसंभवे स्वरूपगुणविभव चेष्टितैरनवधिकातिशयानन्दजननं परंब्रह्मास्तीति बोधयेदेव वाक्यं प्रयोजनपर्यंवसायि। प्रवृत्तिनिवृत्तिनिष्ठं तु यावत्पुरुषार्थान्वयबोधं न प्रयोजनपर्यंवसायि।

कथन यह है कि—अनादिकाल से प्रवृत्त कर्मरूप अविद्यामय आवरण से, जि[illegible] परब्रह्म और अपरब्रह्म का यथार्थभाव, तथा अपना प्रत्यक्स्वरूपता का ज्ञान तिरोहित है, एवं जिनके देहधारण पोषणोपयोगी भोग्य विषय व्यवस्थित हैं, उन स्त्री, पुरुष, नपुंसकभेदों से विभिन्न, देवता-असुर-सिद्ध-विद्याधर-किन्नर - किंपुरुष-यक्ष - राक्षस-पिशाच-मनुष्य-पशु-पक्षी-सर्प-वृक्ष-गुल्म-लता-दूर्वा आदि रूपों वाले जीवों का, अनुभव भी जब, मुक्त जीवों और अपने में समानरूप से हो सकता है, तो स्वरूप-गुण-वैभव-चेष्टा आदि में बेजोड़, अतिशय आनंदजनक परब्रह्म के अस्तित्व के प्रतिपादक वेदांत वाक्य निश्चित ही प्रयोजनावसायी (सार्थक)

हैं। प्रवृत्ति निवृत्ति बोधक वाक्य, पुरुष के परिमित अभीष्ट प्रतिपादक होते हुए भी, वास्तविक प्रयोजन (आत्यंतिक दु:ख निवृत्ति रूपी मुक्ति) के साधन में समर्थ नहीं हैं।

एवंभूतं ब्रह्म कथं प्राप्यत इत्यपेक्षायां "ब्रह्मविदाप्नोतिपरम्" आत्मानमेवलोकमुपासीत् "इति वेदनादिशब्दैरुपासनं ब्रह्मप्राप्त्युपायतया विधीयते। यथा "स्ववेश्मनिनिधिरस्ति" इति वाक्येन निधिसद्भावं ज्ञात्वा तृप्तःसन् पश्चादुपादाने च प्रवर्त्तते। यथा च— कश्चिद्राजकुमारो बालक्रीडासक्त नरेन्द्रभवनाद्निष्क्रान्तो मार्गाद्भ्रष्टो नष्ट इति राज्ञा विज्ञातः स्वयं चाज्ञातपितृकः केनचिद्द्विजवर्येण वर्धितोऽधिगतवेदशास्त्रः षोडशवर्षः सर्वकल्याणगुणाकरः तिष्ठन् "पिता ते सर्वलोकाधिपतिः गाम्भीर्यौदार्यवात्सल्यशौशील्य वीर्यपराक्रमादिगुणसंपन्नः त्वामेवनष्टं पुत्रं दिदृक्षुः पुरवरेतिष्ठति" इति केनचिदभियुक्ततमेन प्रयुक्त वाक्यं शृणोति चेत्, तदानीमेव— "अहं तावत् जीवतः पुत्रः मत्पिता च सर्वसंपत्समृद्धः" इति निरतिशयहर्षसमन्वितो भवति। राजा च स्वपुत्रं जीवन्तमरोगमति मनोहरदर्शनं विदितसकलवेद्यश्रुत्वाऽवाप्तसमस्तपुरुषार्थों भवति। पश्चात्तदुपादाने च प्रवर्त्तते। पश्चात्तावुभौ संगच्छेते च इति।

ऐसा अद्भुत ब्रह्म कैसे प्राप्त हो सकता है? ऐसी आकांक्षा होने पर— "ब्रह्मवेत्ता परंतत्त्व को प्राप्त करता है "आत्मा की ही दृष्टव्य रूप से उपासना करनी चाहिए" इत्यादि वाक्य में "वेदन" आदि शब्द बोध्य उपासना ही, प्राप्तव्य ब्रह्म के उपाय रूप से विहित है।

जैसे कि—कोई व्यक्ति—'अपने घर में धनगड़ा है" इस बात को जानकर प्रसन्नता से उसे निकालने के लिए प्रयत्नशील होता है। तथा जैसे—कोई राजकुमार बालकों के साथ खेलता हुआ राजमहल से निकल कर खो जाता है, राजा उसे जानता है, पर वह अबोध होने के कारण पिता को नही जानता, वह कदाचित् किसी श्रेष्ठ विद्वान ब्राह्मण द्वारा पोषित और वेदशास्त्र का पारंगत होकर जब वयस्क होता है, तब किसी

व्यक्ति द्वारा "सर्वलोकाधिपति, गाम्भीर्य औदार्य-वात्सल्य-सौशील्य-शौर्य-वीर्य-पराक्रम आदि गुणों संपन्न तुम्हारे पिता खोये हुए तुम्हें देखने के लिए महल में आकुल हैं" ऐसा सुनते ही "तो मैं जीवित पिता का पुत्र हूं, मेरे पिता वैभव संपन्न हैं" हर्ष विभोर हो जाता है तथा वह राजा अपने पुत्र को निरोग, अतिसुन्दर-सर्वगुण संपन्न सुनकर कृतार्थ हो जाता है, उसे बुलवाने की चेष्टा करता है; प्रयास के बाद वे दोनों एक दूसरे से मिल जाते हैं [ब्रह्म प्राप्ति संबंधी उपदेश भी इसी प्रकार है]

यत्पुनः—परिनिष्पन्नवस्तुगोचरस्य वाक्यस्य तज्ज्ञानमात्रेणापि पुरुषार्थपर्यवसानात् बालातुराद्युपच्छन्दनवाक्यवन्नार्थं सद्भावे प्रामाण्यम्—इति । तदसत्—अर्थसद्भावाभावे निश्चिते ज्ञातोऽप्यर्थः पुरुषार्थाय न भवति । बालातुरादीनामप्यर्थसद्भाव भ्रान्त्या हर्षाद्युत्पत्तिः । तेषामेव तस्मिन्नेव ज्ञाने विद्यमाने यद्यर्थाभावनिश्चयो जायेत्, ततः तदानीमेव हर्षादयो निवर्त्तेरन् । औपनिषदेष्वपि वाक्येषु ब्रह्मास्तित्वतात्पर्याभाव निश्चये ब्रह्मज्ञाने सत्यपि पुरुषार्थपर्यवसानं न स्यात् । अतः "यतो वा इमानि भूतानि जायंते" इत्यादिवाक्यं निखिलजगदेककारणं निरस्तनिखिलदोष गन्धं सार्वज्ञसत्यसंकल्पत्वाद्यनन्तकल्याणगुणाकरमनवधिकातिशयानन्दं ब्रह्मास्तीति बोधयतीति सिद्धम ।

जो यह कहा कि—स्वतः सिद्ध बोधक वाक्य की वाक्यार्थ प्रतीति केवल पुरुषार्थवर्यवसित होने से, बालक और व्यथित पुरुष के फुसलाने वाले वाक्य की तरह, पदार्थ के अस्तित्व में प्रामाणिक नहीं हो सकती । यह असंगत बात है—अर्थ की असत्यता प्रमाणित हो जाने पर, ज्ञात अर्थ भी पुरुषार्थ नहीं हो सकता । बालक और व्यथित पुरुष को जो हर्ष होता है वह उन्हें, अपने अनुकूल प्रतीत होने से भ्रांत होता है, उस वाक्यार्थ की जब उन्हें यथार्थता ज्ञात होती है, तो तत्काल ही उनका हर्ष समाप्त भी हो जाता है । उपनिषदों के वाक्यों में भी यदि, ब्रह्म के अस्तित्व विषयक तात्पर्य का अभाव होता, तो ब्रह्मविषयक ज्ञान होते हुए भी वह ज्ञान कभी पुरुषार्थ साधन में पर्यवसित न हो सकता ।

इसलिए—"यतो वा इमानि" इत्यादि वाक्य—समस्त जगत के एकमात्र कारण, निर्दोषता, सत्यसंकल्पता, सर्वज्ञता आदि अनेक कल्याणमयगुणों के आकर, अतिशय आनंद स्वरूप ब्रह्म के अस्तित्व का ही बोधक है। यह निश्चित मत है।

५. अधिकरणः—

"यतो वा इमानि" इत्यादि जगत्कारणवादिवाक्यप्रतिपाद्यं सर्वज्ञं सर्वशक्तिसमस्तहेयप्रत्यनीककल्याणगुणैकतानंब्रह्म जिज्ञास्यमित्युक्तम्। इदानीं जगत्कारणवादिवाक्यानां आनुमानिकप्रधानादि प्रतिपादनानर्हतोच्यते— ईक्षतेर्नाशब्दमित्यादिना।

जगत् कारणता बोधक "यतो वा इमानि" इत्यादि वाक्य प्रतिपाद्य सर्वज्ञ, सर्वशक्ति, समस्त तुच्छगुणरहित, कल्याणमय गुणों के धाम, ब्रह्म ही जिज्ञास्य हैं, यह बतलाया गया। अब जगत्कारणवादी वाक्यों से अनुमानिक प्रधान आदि का प्रतिपादन नहीं हो सकता यही ईक्षतेर्नाशब्दम् इत्यादि आठ सूत्रों से सिद्ध करेंगे।

ईक्षतेर्नाशब्दम् ।१।१।५।।

इदमाम्नायते छांदोग्ये—"सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्, तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत" इत्यादि— तत्र संदेहः किं सच्छब्दवाच्यं जगत्कारणं परोक्तमानुमानिकं प्रधानम्? उक्तोक्त लक्षणं ब्रह्म इति।

छांदोग्योपनिषद् में जो यह कहा गया कि—"हे सौम्य ! सृष्टि के पूर्व एकमात्र यह सत् ही था, उसने इच्छा की अनेक होकर प्रकट हो जाऊँ, तब उसने तेज की सृष्टि की" इत्यादि इसमे संदेह होता है कि— उक्त वाक्य में जगत् कारण के लिए प्रयुक्त सत् शब्द वाच्य सांख्य दर्शन का आनुमानिक प्रधान (प्रकृति) है अथवा पूर्वोक्त लक्षण वाला ब्रह्म ही है?

किं प्राप्तम् ? प्रधानमिति । कुतः ? "सदेव सौम्येदमग्र-आसीदेकमेव" इत्यादि शब्दवाच्यस्य चेतनभोग्यभूतस्य सत्त्वरज-स्तमोमयस्य वियदादिनानारूपविकारावस्थस्य वस्तुनः कारणावस्थां वदति । अतो यद्द्रव्यं यत्स्वभावं च कार्यावस्थम्, तत्स्वभावं तदेव द्रव्यं, कारणावस्थम् सत्वादिमयं च कार्यमिति गुणसाम्यावस्थं प्रधानमेव हि कारणम् । तदेवोपसंहृतसकलाविशेषं सन्मात्रमिति "सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्" इत्यभिधीयते । तत एव च कार्यकारणयोरनन्यत्वम् । तथा सत्येवैकविज्ञानेन सर्वविज्ञान प्रतिज्ञोपपत्तिः, अन्यथा "यथा सोम्येकेन मृत्पिण्डेन इत्यादि मृत्पिण्ड तत्कार्यं दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्वैरूप्यं चेति जगद्कारणवादिवाक्येन महर्षिणा कपिलेनोक्तं प्रधानमेव प्रतिपाद्यते । प्रतिज्ञादृष्टान्तरूपेणा-नुमानवेषमेव चेदं वाक्यमिति सच्छब्दवाच्यमानुमानिकमेव ।

उक्त संदेह होने पर आनुमानिक प्रधान को ही सत् शब्द वाच्य मानने का पक्ष प्रस्तुत करते हैं–"सदेव सोम्य इदमग्र आसीत्" इत्यादि-इस वाक्य का "इदं" शब्द, चेतन भोग्य भूत सत्वरजतमोमय, अनेक रूपों में विकृत आकाश आदि वस्तु की ही कारणावस्था बतलाता है [अर्थात् इदं शब्द प्रत्यक्ष ग्राह्य सन्निहित वस्तु का ही बोधक है] कारण वस्तु की अवस्था-न्तर प्राप्ति ही कार्यावस्था होती है [आकाश आदि महाभूत ही गुणमय होकर स्थूलाकार में जगत् रूप से प्रकट होते हैं यही प्रधान कारणवाद का सिद्धान्त है] जिस द्रव्य का जो स्वभाव कार्यावस्था में होता है वही कारणावस्था में भी होगा। सत्व रजतमोमय जगत ही कार्य है तथा साम्यावस्था वाला त्रिगुणात्मक प्रधान ही उसका करण है। अपनी संपूर्ण विशेषताओं को छिपाये हुए यह प्रधान ही "सत्' था, ऐसा "सौम्येदमग्र" आदि में कहा गया है। इस प्रकार कार्य कारण की अभिन्नता भी प्रमाणित हो जाती है। तथा ऐसा मानने से "एक के विज्ञान से सबका ज्ञान हो जाता है" यह सिद्धान्त भी सुसंगत हो जाता है [अर्थात् जैसे पकते हुए चावलों में से एक चावल के देखने से सारे चावलों की अवस्था का ज्ञान हो जाता है, वैसे ही त्रिगुणात्मक प्रधान को

जान लेने से संपूर्ण जगत उसी के समान है, ऐसा सिद्ध हो जाता है] यदि प्रधान को कारण न मानेंगे तो "हे सौम्य ! एक ही मिट्टी के ढेले से" इत्यादिवाक्य में कथित मिट्टी के ढेले और उसके निर्माण पृथिवी के दृष्टांत और द्राष्टान्तिक में विषमता हो जावेगी। ऐसा जगत् कारण वादी वाक्यों के विश्लेषण के प्रसंग में "प्रधान ही जगत का कारण है" प्रतिपादन करते हुए, महर्षि कपिल ने कहा है। प्रतिज्ञा, दृष्टान्त आदि सभी से सिद्ध होता है कि "सदेव" इत्यादि वाक्य आनुमानिक प्रधान का ही बोधक है तथा वह प्रधान ही "सत्" शब्द वाच्य है।

इत्येवं प्राप्तेऽभिधीयते "ईक्षतेर्नाशब्दम्" इति। यस्मिन् शब्द एव प्रमाणं न भवति, तदशब्दमानुमानिकं प्रधानं इत्यर्थः। न तज्जगत्कारणवादिवाक्य प्रतिपाद्यम् कुतः? ईक्षतेः; सच्छब्दवाच्य संबंधव्यापारविशेषाभिधायिन ईक्षतेः धातोः श्रवणात्। "तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति" ईक्षतक्रियायोगाश्चाचेतने प्रधाने न संभवति। अत ईदृशेक्षणक्षमश्चेतनः विशेषः सर्वज्ञः सर्वशक्तिः पुरुषोत्तमः सच्छब्दाभिधेयः। तथा च सर्वेष्वेव सृष्टिप्रकरणेष्वीक्षापूर्वकैव सृष्टिः प्रतीयते "स ईक्षत् लोकान्नुसृजा इति स इमांल्लोकानसृजत" "स ईक्षाञ्चक्रे—स प्राणानसृजत्" इत्यादिषु।

उक्त मत के निराकरण के लिए "ईक्षतेर्नाशब्दम्" सूत्र प्रस्तुत करते है। प्रधान के लिए शब्द (आगम) प्रमाण का नितांत अभाव है, इसलिए आनुमानिक प्रधान जगत् कारण वाक्योक्त "सत्" शब्द का वाच्यार्थ नहीं हो सकता, यही इस सूत्र का तात्पर्य है। यह प्रधान जगतकारण-वादी वाक्य का प्रतिपाद्य तत्व नहीं है, क्योंकि—शास्त्र में जगतकर्त्ता के लिए ईक्षण क्रिया का प्रयोग किया गया है। "उसने संकल्प किया कि—अनेक होकर प्रकटूँ" इस श्रुति में सत् शब्द बोध्य कारण का, संबंधी व्यापार विशेष "ईक्षण" क्रिया का प्रयोग किया गया है। ईक्षण क्रिया का योग अचेतन प्रधान में संभव नहीं है। इससे सिद्ध होता है कि—ईक्षण की क्षमता वाले चेतन विशेष, सर्वज्ञ, सर्वशक्ति संपन्न पुरुषोत्तम ही "सत्" शब्द वाच्य हैं। सारे सृष्टि प्रकरण में "ईक्षा" ही मुख्य करण बतलाया

गया है, अर्थात् सृष्टि संकल्पात्मिका है ऐसा बतलाया गया है। जैसा कि-"उन्होंने इच्छा की कि-लोकों की सृष्टि करूँ, तब इन लोकों की सृष्टि की "उन्होंने इच्छा की और प्राण की सृष्टि की" इत्यादि वाक्यों से सिद्ध होता है।

ननु च कार्यगुणेनैव कारणेन भवितव्यम्, सत्यम् सर्वकार्यानुगुण एव सर्वज्ञः सर्वशक्तिः सत्यसंकल्पः पुरुषोत्तमः सूक्ष्मचिदचिद्वस्तुशरीरकः। यथाऽह-"पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च" यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्य ज्ञानमयं तपः "यस्या व्यक्तं शरीरम् यस्याक्षरं शरीरं यस्य मृत्युःशरीरम्, एष सर्वभूतान्तरात्मा" इति। तदेतत् "न विलक्षणत्वात्" इत्यादिषु प्रतिपादयिष्यते। अत्र सृष्टि वाक्यानि न प्रधानप्रतिपादनयोग्यानीतित्युच्यते। वस्तुविरोधस्तु तत्रैव परिहरिष्यते यत्तूक्तं-प्रतिज्ञादृष्टान्तयोगात् अनुमानरूपमेवेदंवाक्यं इति तदसत्-हेत्वनुपपादनात्। "येनाश्रुतं श्रुतं" इत्येकविज्ञानेन सर्वविज्ञाने प्रतिपादयिषिते सर्वात्मना तदसंभवं मन्वमानस्य तत्संभवमात्रप्रदर्शनाय हि दृष्टान्तोपादानम्। ईक्षत्यादिश्रवणादेव हि अनुमानगंधाभावोऽवगतः।

(शंका) कार्य के अनुकूल पदार्थ ही, कारण हो सकता है (जड़ जगत के अनुकूल जड़ प्रकृति ही कारण हो सकती है) ऐसी जो शंका की जाती है, वह ठीक है, सर्वकार्यानुगुण सर्वज्ञ, सर्वशक्तिसंपन्न, सत्यसंकल्प पुरुषोत्तम् सूक्ष्मचिद् अचिद् सभी वस्तुओं के रूप में स्थित हैं-जैसा कि-"उस परमात्मा की ज्ञान बल-क्रिया आदि अनेक स्वाभाविक शक्तियाँ सुनी जाती हैं-वह सर्वज्ञ, सर्वविद् और ज्ञान रूपी तपवाला है" अव्यक्त और मृत्यु (प्रकृति और जगत) जिसके शरीर हैं, वही प्राणिमात्र के अंतरात्मा पापरहित हैं" इत्यादि वाक्यों से ज्ञात होता है। इसका विशेष प्रतिपादन "न विलक्षणत्वात्" इत्यादि सूत्र में करेंगे। वहाँ बतलावेंगे कि सृष्टि प्रतिपादक वाक्य प्रधान परक नहीं है।

जो यह कहते हैं कि–प्रतिज्ञा और दृष्टात के अनुसार, वेदांत वाक्य, प्रधान के अनुरूप ही घटित होते है, यह भी असगत बात है, इसका कोई कारण उपलब्ध नही होता। "जिसके द्वारा अश्रुत विषय भी श्रुत होता है" एक के जानने से सबका ज्ञान होता है "ये वाक्य निम्नांकित शका "सर्वात्मा ब्रह्म में ऐसा होना असंभव है" के निवारणार्थ ही प्रस्तुत किए गए हैं "ईक्षण" क्रिया श्रवण-से ही संबंधित है, आनुमानिक प्रधान में संकल्प-श्रवण आदि का नितांत अभाव है।

अथ स्यात्–न चेतनगतं मुख्यमीक्षणमिहोच्यते, अपि प्रधानगत-गौणमीक्षणं "तत्तेज ऐक्षत वा आप ऐक्षन्त" इति गौणेक्षण साहचर्यात्। भवति चाचेतनेष्वपि चेतनधर्मोपचारः यथा–"वृष्टि प्रतीक्षाः शालयः" "वर्षेण बीजं प्रतिसंजहर्ष" इति अतो गौणमीक्षण-मितीमामाशंकामनुभाष्य परिहरति।

जो यह कहते हैं कि–सृष्टि प्रकरण में जिस ईक्षण क्रिया का प्रयोग किया गया है, वह चेतन संबंधी मुख्य ईक्षण नहीं है, अपितु प्रधान संबंधी गौण ईक्षण है, जैसा कि–"तत्तेज ऐक्षत" इत्यादि में तेज और जल आदि जड पदार्थों की ईक्षण क्रिया के प्रयोग से निश्चित होता है। जड पदार्थों में भी चेतन पदार्थों का सा औपचारिक प्रयोग किया जाता है, जैसे कि–'शालि (धान) के पौधे वृष्टि की प्रतीक्षा करते हैं वर्षा से बीजों को हर्ष होता है" इत्यादि से गौण ईक्षण ही सिद्ध होता है इस शंका का परिहार कर रहे हैं–

गौणश्चेन्नात्म शब्दात् १।१।६॥

यदुक्तम्—गौणेक्षणसाहचर्य्यात् सतोऽपीक्षणव्यपदेशः सर्गनियत-पूर्वावस्थाभिप्रायो गौण इति। तन्न "ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा" इति सच्छब्दप्रतिपादितस्य आत्मशब्देन व्यपदेशात्। एतदुक्तं भवति "ऐतदात्म्यमिदं सर्वम् स आत्मा" इति चेतना-चेतनप्रपञ्चोद्देशेन सत् आत्मत्वोपदेशोऽयं नाचेतने प्रधाने संगच्छते

इति; अतस्तेजोऽबन्नानामपि परमात्मैवात्मेति तेजःप्रभृतयोऽपि शब्दाः परमात्मन एव वाचकाः। तथा हि हन्ताऽहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि" इति परमात्मानुप्रवेशादेव तेजःप्रभृतीनां वस्तुत्वं तत्तन्नामभाक्त्वं चेति "तत्तेज ऐक्षत—ता आप ऐक्षन्त" इत्यपि मुख्य एवेक्षणव्यपदेशः, अतः साहचर्यादपि "तदैक्षत" इत्यत्र गौणत्वाशङ्काद्दूरोत्सारितेति सूत्राभिप्रायः।

जो यह कहते हैं जि—गौण ईक्षण के साहचर्य से सत् के ईक्षण का भी व्यपदेश हैं, जो कि, सृष्टि पूर्व की एक स्पन्दन क्रियामात्र के अभिप्राय से कहा गया है अतएव गौण ही है। यह कथन सुसंगत नहीं है क्योंकि— "यह सारा जगत आत्म स्वरूप हैं, यह आत्म स्वरूप है, यह आत्मा सत्य स्वरूप है" इत्यादि वाक्य में आत्मा शब्द से सत् तत्त्व का उल्लेख किया गया है। इसी अभिप्राय से यह भी कहा गया कि—"सारा जगत आत्म्य है वही आत्मा है" यहाँ चेतन अचेतनात्मक जगत प्रपंच के उद्देश्य से आत्मतत्त्व का उपदेश किया गया है अचेतन प्रधान का कोई प्रसंग नहीं है। परमात्मा ही तेज, जल आदि की आत्मा हैं, इसलिए तेज आदि भी परमात्म वाची हैं—जैसा कि—"मैं जीवरूप से प्रविष्ट होकर उन तीनों (पृथ्वी-जल-तेज) देवताओं को नाम रूप से व्यक्त करूँ" इस परमात्मा के संकल्प बोधक वाक्य से सिद्ध होता हैं कि—परमात्मा ही, आत्मारूप से प्रविष्ट होकर तेज आदि वस्तुओं के नाम रूप का विस्तार करते हैं। "तत्तेज ऐक्षत" आदि वाक्यों में मुख्य ईक्षण का ही वर्णन है। सत के ईक्षण के साथ, तेज आदि के ईक्षण के उल्लेख में गौण ईक्षण की आशंका नहीं करनी चाहिए, यही इस सूत्र का अभिप्राय है।

इतश्च न प्रधानं सच्छब्दप्रतिपाद्यम्—

इसलिए भी सांख्य शास्त्रोक्त प्रधान सत् शब्द वाच्य नहीं हो सकता कि—

तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात् १।१।७॥

मुमुक्षोः श्वेतकेतोः 'तत्त्वमसि' इति सदात्मकत्वानुसन्धानमुपदिश्य तन्निष्ठस्य "तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये अथ सम्पत्स्ये" इति शरीरपातमात्रान्तरायो ब्रह्मसम्पत्तिलक्षणो मोक्ष इत्युपदिशति, यदि च प्रधानमचेतनं कारणमुपदिश्येत; तदा तदात्मकत्वानुसन्धानस्य मोक्षसाधनत्वोपदेशो नोपपद्यते "यथा क्रतुरस्मिन् लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति" इति तन्निष्ठस्याचेतनसम्पत्तिरेव स्यात् । न च मातापितृसहस्रेभ्योऽपि वत्सलतरं शास्त्रमेवंविधतापत्रयाभिहतिहेतुभूतामचित्सम्पत्तिमुपदिशति । प्रधानकारणवादिनोऽपि हि प्रधाननिष्ठस्य मोक्षं नाभ्युपगच्छन्ति ।

मुमुक्ष श्वेत केतु को "तत्त्वमसि" ऐसा तदात्मकता के अनुसंधान का उपदेश देकर "तभी तक मोक्ष का विलंब है जब तक शरीर से छूट नहीं जाता, उसके बाद वह सत् रूप हो जाता है" ऐसा शरीर पात मात्र के अन्तराय वाला ब्रह्म संपत्ति रूप मोक्ष का उपदेश दिया गया है । यदि अचेतन प्रधान को जगत के कारण रूप से बतलाया जाता तो, तदात्मकत्वानुसंधान रूपी मोक्षसाधनत्वोपदेश का मेल नहीं बैठता ।" पुरुष इस लोक में जैसा संकल्प और अनुष्ठान करता है, वैसी ही मरणोत्तर उसकी गति होती है" इस वाक्य से कैसे मान लिया जाय कि—अचेतन की आराधना से भी गति प्राप्त हो सकती है । माता और पिता से हजारों गुना वात्सल्य भाव से जीवों की रक्षा करने वाले शास्त्र, कहीं तापत्रय की शांति के लिए, जड़ की आराधना का उपदेश दे सकते हैं ? प्रधान कारण वादी भी प्रधान की आराधना करके मोक्ष नहीं पा सकते ।

इतश्च न प्रधानम्—

प्रधान इसलिए भी जगत का कारण नहीं हो सकता कि—

हेयत्वावचनाच्च १।१।८॥

यदि प्रधानमेव कारणं सच्छब्दाभिहितं भवेत् तदा मुमुक्षोः श्वेतकेतोस्तदात्मकत्वं मोक्षविरोधित्वाद्धेयत्वेनैवोपदेश्यं स्यात् । न

च तत्क्रियते, प्रत्युत उपादेयत्वेनैव "तत्त्वमसि" "तस्य तावदेव चिरम्" इत्युपदिश्यते ।

सांख्योक्त प्रधान ही यदि, जगत का कारण, सत् शब्द से वेदों को अभिप्रेत होता तो, मोक्षविरोधी, आत्मवादी सिद्धान्त को मानने वाले श्वेतकेतु को, उसे हेय बतलाकर उसे त्यागने का उपदेश दिया जाता, परंतु ऐसा न करके "तुम वही हो" तुम्हें उसे प्राप्त करने में तभी तक का विलम्ब है, जब तक कि शरीर का बंधन है" इत्यादि उपदेश दिया गया ।

इतश्च न प्रधानम्—

प्रधान को इसलिए भी कारण नहीं मान सकते कि—

प्रतिज्ञाविरोधात् १।१।९॥

प्रधानकारणत्वे प्रतिज्ञाविरोधश्च भवति । वाक्योपक्रमे ह्येकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं प्रतिज्ञातम् । तच्च कार्य्यकारणयोरनन्यत्वेन कारणभूतसद्विज्ञानात्तत्कार्यभूतचेतनाचेतनप्रपञ्चस्य ज्ञाततयैवोपपादनीयम् । तत्तु प्रधानकारणत्वे चेतनवर्गस्य प्रधानकार्य्यत्वाभावात् प्रधानविज्ञानेन चेतनवर्गविज्ञानासिद्धेर्विरुद्ध्यते ।

प्रधान को कारण मानने से प्रतिज्ञा से भी विरुद्धता होती है। वेदांत वाक्यों के उपक्रम (प्रारंभ) में ही, नियम बतलाया गया कि— "एक के ज्ञान से समस्त का ज्ञान होता है।' उस नियम के अनुसार, कार्य और कारण दोनों में अनन्यता होनी चाहिए अतः कार्यरूप चेतन अचेतन समस्त प्रपंचरूप जगत कारण रूप उस ब्रह्म के स्वरूपानुसार ही प्रतीत होता है। यदि प्रधान को कारण मान ले तो, चेतन वर्ग में, जड प्रधान की कार्यता कहाँ से आवेगी। प्रधान के ज्ञान से, चेतन वर्ग के ज्ञान को सिद्ध करना, सर्वथा विरुद्ध है।

इतश्च न प्रधानम्—

प्रधान इसलिए भी कारण नहीं है कि—

स्वाप्ययात् १।१।१०॥

तदेव सच्छब्दवाच्यं प्रकृत्याह—"स्वप्नान्तं मे सोम्य विजानीहीति तत्रैतत्पुरुषः स्वपिति नाम सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति स्वम पीतो भवति तस्मादेन स्वपितीत्याचक्षते स्वं ह्यपीतौ भवति" इति सुषुप्तं जीवं सता सम्पन्नं, स्वमपीतः—स्वस्मिन् प्रलीन इति व्यपदिशति। प्रलयश्च—स्वकारणे लयः न चाचेतनं प्रधानं चेतनस्य जीवस्य कारणं भवितुमर्हति। स्वमपीतो भवति आत्मानमेव जीवोऽपीतो भवतीत्यर्थः। चिद्वस्तुशरीरकं तदात्मभूतं ब्रह्मैव जीवशब्देनाऽभिधीयत इति नामरूपव्याकरणश्रुत्योक्तम्। तज्जीवशब्दाभिधेयं ब्रह्म सुषुप्तिकालेऽपि प्रलयकाल इव नामरूपपरिष्वङ्गाभावात् केवलसच्छब्दाभिधेयमिति 'सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति स्वमपीतो भवति' इत्युच्यते। तथा समानप्रकरणे नामरूपपरिष्वङ्गाभावात् प्राज्ञेनैव परिष्वङ्गात् "प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तो न वाह्यं किञ्चन वेद नान्तरम्" इत्युच्यते। आमोक्षाज्जीवस्य नामरूपपरिष्वङ्गादेव हि स्वव्यतिरिक्तविषयज्ञानोदयः। सुषुप्तिकाले हि नामरूपे विहाय सता सम्परिष्वक्तः पुनरपि जागरदशायां नामरूपे परिष्वज्य तन्नामरूपो भवतीति श्रुत्यन्तरे स्पष्टमभिधीयते "यदा सुप्तः स्वप्नं न कथञ्चन पश्यति अथ हास्मिन् प्राण एवैकधा भवति" "तस्माद्वा आत्मनः प्राणा यथायतनं विप्रतिष्ठन्ते" तथा "त इह व्याघ्रो वा सिंहो वा वृको वा वराहो वा दंशो वा मशको वा यद्यद्भवन्ति तथा भवन्ति" इति। तथा सुषुप्तं जीवं 'प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तः' इति च वदति। तस्मात्सच्छब्दवाच्यः परंब्रह्म सर्वज्ञः परमेश्वरः पुरुषोत्तम एव। तदाह वृत्तिकारः "सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवतीति, सम्पत्त्यसम्पत्तिभ्यामेतदध्यवसीयते 'प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्त' इति चाहेति।

ब्रह्म ही सत् शब्द का स्वाभाविक वाच्यार्थ हैं, जैसा कि--"हे सोम्य ! मेरे निकट स्वप्नांत (सुषुप्ति कालीन जीव की अवस्था) को जानो, जिस समय वह पुरुष (जीव) सोता है, तब सत् संपन्न (ब्रह्मलीन) हो जाता है, स्वस्वरूप को प्राप्त हो जाता है, इसीलिए उसे "स्वपिति" कहते हैं, उस समय वह स्वरूप में अपीत (लीन) हो जाता है" इस वाक्य में सुषुप्त जीव को सत् से संपन्न अर्थात् "स्वमपीत अपने में प्रलीन" कहा गया है। प्रलय का अर्थ होता है अपने कारण में लीन होना। इससे स्पष्ट होता है कि--अचेतन प्रधान, चेतन जीव का कारण नहीं है। "स्वंम पीतो भवति" कहने का तात्पर्य है कि--जीव स्वीय (परमात्मा) को प्राप्त होता है।

चिन्मय वस्तु अर्थात् चेतन ही जिसका शरीर है और जो जीवात्मा में, अन्तर्गत व्याप्त है, उसे ही उक्त प्रसंग में जीव शब्द से बतलाया गया है (अर्थात् जो जीव का भी जीव है) "मैं इसमें प्रवेश कर जीवात्मा के रूप से, वस्तुओं के नाम रूप को अभिव्यक्ति करूँगा" ऐसे नाम रूप के व्यक्तीकरण के उपदेश से भी उक्त तथ्य की पुष्टि होती है।

प्रलयकाल की तरह, सुषुप्ति काल में भी, नाम और रूप का संबंध नहीं रहता, इसलिए जीव शब्द से उल्लेख्य वह ब्रह्म ही, सुषुप्ति काल में "सत्" शब्द से कहा गया है। जैसा कि--"हे सौम्य। उस समय जीव सत् संपन्न होता है, स्वरूप प्राप्त करता है।"

इसी प्रकार के अन्य प्रकरण में भी नाम रूप का संबंध न दिखलाकर, प्राज्ञ (परमात्मा) से ही संबंध दिखलाया गया है। जैसे कि--"जीव प्राज्ञ आत्मा के साथ सम्मिलित होकर वाह्य और आभ्यन्तर किसी भी विषय को नहीं जानता (आत्म विभोर हो जाता है)"

मोक्ष न होने तक केवल नाम रूप के साथ संबंध होने से जीवात्मा को स्व (परमात्मा) से भिन्न विषयक ज्ञान (इस जगत में) हुआ करता है। जो जीव सुषुप्ति काल में नाम रूप को छोड़कर सत् (ब्रह्म) से संसक्त हो जाता है, वही जाग्रत अवस्था में नामरूप से संसक्त होकर पुनः पूर्व रूप में हो जाता है, ऐसा अन्य श्रुति में स्पष्ट उल्लेख है--' जिस समय यह स्वप्न रहित सुषुप्तावस्था में रहता है उस समय प्राण (परमात्मा) से एकाकार हो जाता है। जागने पर

इसकी इन्द्रियाँ अपने आश्रय स्थान में यथावत स्थित हो जाती हैं।" और जागने पर—"व्याघ्र-सिंह-वराह-मशक-दंश-जो कुछ भी हैं वे जैसे सुषुप्ति के प्रथम प्रतीत होते थे वैसे ही प्रतीत होते हैं।" सुषुप्त जीव को "प्राज्ञ परमात्मा से संसक्त रहता है" ऐसा बतलाया गया है। इन सबसे निश्चित होता है कि—"सत्" शब्द वाच्य परंब्रह्म सर्वज्ञ परमेश्वर पुरुषोत्तम ही हैं। उक्त श्रुति वाक्यों का समर्थन वृत्तिकार भी करते हैं—"उस अवस्था में जीव सत् से सम्पन्न हो जाता है।" ऊपर जो जीव की सत् के साथ सम्पत्ति और असम्पत्ति दिखलाई गई है उससे निश्चित होता है कि जीव 'प्राज्ञ परमात्मा से ही संलग्न होता है।"

इतश्च न प्रधानम्—

प्रधान को इसलिए भी जगत का कारण नहीं कह सकते कि—

गति सामान्यात्।१।१।११॥

'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्नान्यत् किञ्चन मिषत्। स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति स इमाँल्लोकानसृजत" "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशस्सम्भूतः। आकाशाद्वायुः वायोरग्निः अग्नेरापः अद्भ्यः पृथिवी" तस्य ह वा एतस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद्यदृग्वेदः' इत्यादिसृष्टिवाक्यानां या गतिः—प्रवृत्तिः, तत्सामान्यात् तत्समानार्थत्वादस्य तेषु च सर्वेषु सर्वेश्वरः कारणमवगम्यते। तस्मादत्रापि सर्वेश्वर एव कारणमिति निश्चीयते।

"सृष्टि से पूर्व यह जगत, एक आत्म स्वरूप ही था, उसके अतिरिक्त कोइ स्पन्दित पदार्थ नहीं था, उसने संकल्प किया कि लोगों की सृष्टि करूँ तब उसने सृष्टि की"-उस आत्मा से आकाश हुआ और फिर क्रमशः आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथिवी हुई "ऋग्वेद परमात्मा निश्वास मात्र है"-इत्यादि सृष्टि सूचक वक्यों की गति प्रवृत्ति (प्रकाशनशक्ति, तत्सामान्य हेतु अर्थात् उस सर्वज्ञ सर्वेश्वर परमात्मा के अनुरूप ही है। इसलिए यहाँ भी सर्वेश्वर ही जगत के कारण निश्चित होते हैं।

इतश्च न प्रधान

प्रधान को कारण मानना इसलिए भी कठिन है कि-

श्रुतत्वाच्च १।१।१२॥

श्रुतमेव हि अस्यामुपनिषदि अस्य सच्छब्दवाच्यस्य आत्मत्वेन, नामरूपयोर्व्याकर्तृत्वं, सर्वज्ञत्वं, सर्वशक्तित्वं, सर्वाधारत्वं अपहतपाप्मत्वादिकं, सत्यकामत्वं, सत्यसंकल्पत्वं च-"अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि"—सन्मूलाःसौम्येमाःसर्वाःप्रजाःसदायतनाःसत्प्रतिष्ठाः-"ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा"यच्चास्येहास्ति-यच्च नास्ति सर्वं तदस्मिन् समाहितम् तस्मिन् कामान्समाहिताः— "एष आत्मा अपहतपाप्मा विजरोविमृत्युर्विशोकोविजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः" इति ।

इस उपनिषद् में,इस सत् शब्द वाच्य की,आत्मारूप से नाम और रूप की व्याकृति, सर्वज्ञता, सर्वशक्तिसंपन्नता, सर्वाधारकता, निर्दोषता, निष्पापता, सत्यकामता सत्यसंकल्पता आदि स्पष्टतः बतलाई गई है-जैसे- "इसमें जीवात्मारूप से प्रविष्ट होकर नामरूप का विस्तार करूंगा"- "सत् ही इस प्रजा का मूल आश्रय और प्रतिष्ठा है"—"सारी वस्तुएं सदात्मक ही है,वही सत्य और आत्मा है"-"इस जगत में जो कुछ भी विद्यमान है,या जो कुछ नहीं(अतीत)है,वह सब परमात्मा में ही समाहित (लीन)है,संपूर्ण कामनायें और अभिलाषायें भी उन्हीं में प्रविष्ट हैं"- "यह आत्मा निष्पाप,जरा मृत्यु शोक तथा भूख प्यास रहित,सत्य काम और सत्यसंकल्प है"

तथा च श्रुत्यंतराणि-" न तस्यकश्चित् पतिरस्य लोके न चेशिता नैव च तस्य लिंगम्, स कारणंकरणाधिपाधिपो न चास्य कश्चित् जनिता न चाधिपः"-"सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरो नामानिकृत्वाऽभिवदन्यदास्ते"-"अन्तःप्रविष्टः शास्ताजनानां सर्वा

त्मा"-"विश्वात्मानं परायणम्"-"पतिं विश्वस्यात्मेश्वरम्"-यच्च किञ्चिज्जगत्यस्मिन् दृश्यते श्रूयतेऽपि वा, अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः-"एष सर्वभूतान्तरात्माऽपहृतपाप्मा दिव्योदेव एकोनारायणः" इत्यादीनि। तस्माज्जगत्कारणवादिवाक्यं न प्रधानादिप्रतिपादनयोग्यम्। अतः सर्वज्ञः सर्वेश्वरो निरस्ता-निखिलदोषगन्धोऽनवधिकातिशय असंख्येयकल्याणगुणगणौघम-हार्णवः पुरुषोत्तमो नारायण एव निखिल जगदेककारण जिज्ञास्य ब्रह्मेति स्थितम्।

तथा अन्य श्रुतियाँ भी-"इस जगत में उनका कोई स्वामी और शासक नहीं है न उनका ज्ञापक कोई चिन्ह ही है वही एकमात्र कारणा-धिपतियों के अधिपति हैं उनका कोई अधिपति जनक या प्रतिपालक नही है। वह धीर (अविकृतात्मा) ईश्वर ही समस्त रूप संपन्न वस्तुओं का विस्तार करके,उन वस्तुओं का नाम तथा नामों का व्यवहार करके, उनमें स्थित है। वही प्राणिमात्र के अन्त:करण में प्रविष्ट होकर, शासन करते हैं, इसलिए सर्वात्मा हैं। विश्वात्मा, परमाश्रय, जगत्पति, आत्मा के स्वामी को जानो। इस जगत में जो कुछ भी पदार्थ दीखते या सुनाई पड़ते हैं, नारायण उन सब में बाहर और भीतर विद्यमान हैं। ये नारायण ही प्राणिमात्र के अन्तरात्मा, निष्पाप, अलौकिक, प्रकाशमय और एक है।" इस प्रकार सर्वज्ञ, सर्वशक्ति, सर्वेश्वर, निर्दोष, असंख्य अपरिमित अपार कल्याणकर गुणों के महासागर पुरुषोत्तम नारायण को ही समस्त जगत का एकमात्र कारण बतलाती हैं, वही जिज्ञास्य ब्रह्म हैं। उक्त जगत् कारणादि के बोधक वाक्य, प्रधानादि के प्रतिपादन के योग्य कदापि नहीं हैं।

अतएव निर्विशेषचिन्मात्रब्रह्मवादोऽपि सूत्रकारेण आभिः श्रुतिभिः निरस्तो वेदितव्यः, पारमार्थिकमुख्येक्षणादिगुणयोगि जिज्ञा-स्यं ब्रह्मेति स्थापनात्। निर्विशेषवादे हि साक्षित्वमप्यपारमार्थिकं वेदांतवेद्यंब्रह्म जिज्ञास्यतयाप्रतिज्ञातम्। तच्च चेतनमिति ईक्षते-

र्नाशब्दम्-इत्यादिभिः सूत्रैः प्रतिपाद्यते। चेतनत्वं नाम चैतन्यगुणयोगः। अत ईक्षणगुणविरहिणः प्रधानतुल्यत्वमेव

ऐसे ही, निर्विशेष चिन्मात्र ब्रह्म का पोषक शांकरमत भी सूत्रकार द्वारा प्रस्तुत इन श्रुतियों से निरस्त जानना चाहिए, क्यों कि-सूत्रकार ने वास्तविक ईक्षण आदि गुण संपन्न ब्रह्म को ही जिज्ञास्य ब्रह्म रूप से सिद्ध किया है। निर्विशेषवाद में, अवास्तविक साक्षीवाले ब्रह्म को वेदांतवेद्य जिज्ञास्य, सिद्ध किया गया है। और उसे ही चेतन रूप से "ईक्षतेर्नाशब्दम्" इत्यादि सूत्रों से समर्थन किया गया है। जब कि-चैतन्यगुणयोग ही चैतन्यता है, तब यदि ये लोग ईक्षण को गुण नहीं मानते तो इनका मत भी प्रधानकारणवादी सांख्य के समान ही अप्रामाणिक है।

किंच-निर्विशेषप्रकाशमात्रब्रह्मवादे तस्य प्रकाशत्वं अपि दुरुपपादम्। प्रकाशो हि नाम स्वस्य परस्य च व्यवहारयोग्यता-मापादयन् वस्तुविशेषः। निर्विशेषस्य वस्तुनस्तदुभयरूपत्वाभावात् घटादिवाचित्वमेव। तदुभयरूपत्वाभावेऽपि तत्क्षमत्वमस्तीति चेत्, तन्न, तत्क्षमत्वं हि तत् सामर्थ्यमेव। सामर्थ्यगुणयोगे हि निर्विशेष-वादः परित्यक्तःस्यात्।

एक बात और है कि-ब्रह्म को निर्विशेष प्रकाशमात्र कहने से उसके प्रकाशत्व का उपपादन नहीं होता क्यो कि- स्वत:और दूसरे की व्यवहारयोग्यता संपादक वस्तु विशेष को प्रकाश कहते हैं। इस प्रकार प्रकाशत्व एक गुण हो जाता है जो कि-निर्विशेष वस्तु की भी जडता ही सिद्ध होती है। यदि कहा जाय कि- स्व-परव्यवहार्यता रूप अवस्थाओं के विना भी निर्विशेष में प्रकाशन क्षमता है,तो ऐसा कथन भी उक्त मत के विरुद्ध होगा, क्यों कि- क्षमता भी एक गुण ही तो है। इसलिए निर्विशेषमत भी त्याज्य है।

अथ श्रुतिप्रामाण्यादयमेको विशेषोऽभ्युपगम्यत, इति चेत्,हन्त तर्हि तत एव सर्वज्ञता, सर्वशक्तित्वं' सर्वेश्वरत्वं, सर्वकल्याणगुणा-

करत्वं सकलहेयप्रत्यनी त्यादयः सर्वेऽभ्युपगंतव्याः। शक्तिमत्व च कार्यविशेषानुगुणत्वं, तच्चकार्यविशेषनिरूपणीयम्, कार्यविशेषस्य निष्प्रमाणकत्वे तदैकनिरूपणीय शक्तिमत्वमपि निष्प्रमाणकं स्यात्।

यदि यह कहो कि-श्रुतिप्रामाण्य के आधार पर हम उनके क्षमता-गुण को स्वीकार करते हैं, तब तो प्रसन्नता का विषय है तव तो सर्वज्ञता, सर्वेश्वरता, शक्तिमत्ता, सर्वकल्याणगुणाकरता निर्दोषता आदि गुण विशेषणों, को भी श्रुतिप्रामाण्य के आधार पर स्वीकारोगे ही; शक्तिमत्ता का अर्थ होता है, कार्य विशेष की अनुगुणता, जो कि-कार्य विशेष में ही निरूपित होती है। कार्य विशेष के अप्रामाणिक हो जाने पर वह भी आप्रामाणिक हो जाती है।

किंच-निर्विशेषवस्तुवादिनो वस्तुत्वमपिनिष्प्रमाणम् प्रत्यक्षानुमानागमस्वानुभवाः सविशेषगोचरा इति पूर्वमेवोक्तम्। तस्मात् विचित्रचेतनाचेतनात्मकजगद्रूपेण "बहुस्याम्" इतीक्षणक्षमः पुरुषोत्तम एव जिज्ञास्य इति सिद्धम्।

अधिक क्या-निर्विशेषवस्तुवादियों की वस्तु भी अप्रामाणिक है। प्रत्यक्ष, अनुमान, शास्त्र और अनुभव सभी प्रमाणों से सगुण ब्रह्म ही दृष्टिगोचर होता है, ऐसा पहिले भी कह चुके है। विचित्र जडचेतन जगत रूप से "अनेकहोने" का संकल्प करने वाला पुरुषोत्तम ही जिज्ञास्य ब्रह्म है, ऐसा सिद्ध होता है।

६ अधिकरण—

एवं जिज्ञासितस्य ब्रह्मणश्चेतनभोग्यभूतजडरूपसत्त्वरजस्तमोमयप्रधानाद् व्यावृत्तिरुक्ता, इदानीं कर्मवश्यात् त्रिगुणात्मक प्रकृतिसंसर्गनिमित्तनानाविधानन्तदुःखसागरनिमज्जनेनाशुद्धाच्छुद्धाच्च प्रत्यगात्मनोऽन्यन्निखिलहेयप्रत्यनीकनिरतिशयानन्दं ब्रह्मेति प्रतिपाद्यते।

अब तक-चेतन भोग्य ,जडस्वभाव, सत्त्वरज तमोमय प्रधान से, पूर्वजिज्ञासित ब्रह्म की व्यावृत्ति (पृथकना) बतलाई गई। अब शुभाशुभ कर्मों से वशीभूत, त्रिगुणात्मक प्रकृति संबंध से अनेक प्रकार के दुःखों के सागर में निमग्न, बद्ध और मुक्त जीवों से, ब्रह्म की पृथकता, हेयगुण रहित और निरतिशय आनंद रूप से बतलाई जावेगी।

आनन्दमयोऽभ्यासात् १।१।१३॥

तैत्तरीया अधीयते "स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः" इति प्रकृत्य "तस्माद्वा एतस्माद् विज्ञानमयात् अन्योऽन्तरात्मा आनंदमयः" इति। तत्र सन्देहः-किमयमानंदमयोः बंधमोक्षभागिनः प्रत्यगात्मनो जीवशब्दाभिलपनीयादन्यः परमात्मा, उत स एव ? इति।

तैत्तरीयोपनिषद् में "वह पुरुष अन्नरसमय है" ऐसा कहकर इस विज्ञानमय से भी सूक्ष्म एक दूसरा अन्तरात्मा आनंदमय है" ऐसा कहागया। इस पर संदेह होता है कि-यह आनंदमय कौन है ? बंधन मुक्ति वाला प्रत्यगात्मा जो कि जीव नाम से जाना जाता है, वह है अथवा उससे श्रेष्ठ परमात्मा है ?

किं युक्तम् ? प्रत्यगात्मेति। कुतः ? "तस्यैष एव शारीर आत्मा" इत्यानन्दमयस्य शारीरत्वश्रवणात्। शारीरो हि शरीर संबंधी जीवात्मा एव।

दोनों में कौन हो सकता है ? विचारने पर तो जीवात्मा ही प्रतीत होता है, क्योंकि-"वह शरीर धारक ही यह आत्मा है" इस वाक्य में आनंदमय के लिए शरीर कहा गया है। शरीर संबंधी जीवात्मा ही, निश्चित होता है।

ननु च जगत कारणतया प्रतिपादितस्य ब्रह्मणः सुखप्रतिपत्त्यर्थमन्नमयादीननुक्रम्य तदेव जगत्कारणमानंदमय इत्युपदिशति, जगत्कारणं च "तदैक्षत" इतीक्षणश्रवणात् सर्वज्ञः सर्वेश्वरः इत्युक्तम्।

(प्रतिवाद) नही; जगत कारण के रूप से प्रतिपादित ब्रह्म को सरलता पूर्वक जाना जा सके इसलिए अन्नमयादि रूपों से कहते हुए अंत में आनंदमय को ही जगत का कारण बतलाया गया और उसकी जगत् कारणता को, "उसने संकल्प किया" इस वाक्यगत ईक्षण क्रिया के आधार पर उसे सर्वज्ञ सर्वेश्वर बतलाते हुए सिद्ध किया गया है।

सत्यमुक्तम्—स तु जीवान्नातिरिच्यते—"अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य"—"तत्त्वमसि श्वेतकेतो" इति कारणतया निर्दिष्टस्य जीव सामानाधिकरण्यनिर्देशात् । सामानाधिकरण्यं हि एकत्वप्रतिपादनपरम् । यथा "सोऽयं देवदत्तः" इत्यादौ । ईक्षापूर्विका च सृष्टिश्चेतनस्य जीवस्योपपद्यत एव । अतः 'ब्रह्मविदाप्नोतिपरं" इति जीवस्याचित्संसर्गवियुक्तं स्वरूपं प्राप्यतयोपदिश्यते । अचिद्वियुक्तस्वरूपस्य लक्षणमिदमुच्यते—"सत्यं ज्ञानमनंतं ब्रह्म" इति । तद्रूपप्राप्तिरेव हि मोक्षः । "न ह वै सशीरस्य सतः प्रियाप्रियोरपहतिरस्ति, अशरीरंवाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः" इति । अतो जीवस्याविद्यावियुक्तं स्वरूपं प्राप्यतया प्रक्रान्तमानंदमय इत्युपदिश्यते ।

(वाद) आप तो ठीक कह रहे हैं—वह ब्रह्म जीव से भिन्न है कहाँ ? जैसा कि—"जीव ब्रह्म से स्वयं प्रविष्ट होकर" तथा "श्वेतकेतु तू वही है" इन वाक्यों में कारण रूप से निर्दिष्ट जीव रूप का सामानाधिकरण्य दिखलाया गया है। अभिन्नता का प्रतिपादन ही सामानाधिरण्य है। जैसेकि "यह वही देवदत्त है" इत्यादि में सामानाधिकरण्य दिखलाया जाता है ईक्षा पूर्विका सृष्टि चैतन्य जीव की ही बतलाई गई है। "ब्रह्मवेत्ता परता प्राप्त करता है" ऐसे जीव के, जडसंसर्ग रहित स्वरूप को प्राप्य बतलाया गया है। जड संसर्ग रहित स्वरूप का लक्षण इस प्रकार बतलाया गया कि—"ब्रह्म सत्य ज्ञान अनंत स्वरूप है"। वस्तुतः उस ब्रह्म के रूप की प्राप्ति ही तो मोक्ष है। जैसा कि इस वाक्य से स्पष्ट हो जाता है—' शुभ और अशुभ जन्य पाप पुण्य, शरीर रहते हुए समाप्त

नहीं होते, शरीर रहित होने पर पाप पुण्य (जीव का) स्पर्श नहीं कर सकते।" इससे ज्ञात होता है कि–जीव के अविद्या रहित स्वरूप को प्राप्य बतलाते हुए उसे ही आनंदमय बतलाया गया है।

तथाहि–शाखाचंद्रन्यायेनात्मस्वरूपं दर्शयितुं "अन्नमयः पुरुषः" इति शरीरं प्रथमं निर्दिश्य तदन्तरभूतं तस्य धारकं पंचवृत्तिप्राणं, तस्याप्यन्तरभूतं मनः, तदन्तरभूतां च बुद्धिं, "प्राणमयो-मनोमयो-विज्ञानमयो" इति तत्र तत्र बुद्ध्यवतरणक्रमेण निर्दिश्य, सर्वान्तरभूतं जीवात्मानं "अन्योऽन्तर आत्मो आनंदमयः" इत्युपदिश्य अन्तरात्मपरम्परां समापयति। अतो जीवात्मस्वरूपमेव "ब्रह्मविदाप्नोति" इति प्रक्रान्तं ब्रह्म, तदेवानन्दमय इत्युपदिष्टमिति निश्चीयते।

तथा शाखा चन्द्र न्याय से आत्मा के स्वरूप को बतलाने के लिए "अन्नमयः पुरुषः" कहकर सर्व प्रथम स्थूल शरीर को बतलाकर, उसके अन्तर्भूत, उसके धारक पंच प्रवृत्ति वाले प्राण प्राणके अन्तर्भूत मन और उसके अन्तर्भूत बुद्धि को "प्राणमय मनोमय विज्ञानमय" रूप से बुद्धि ग्राह्य कराते हुए, सबके अन्तर्भूत जीवात्मा को "अन्योऽन्तर आत्मा आनंदमयः" बतला कर अन्तरात्म परम्परा के उपदेश को समाप्त किया गया है। इससे ज्ञात होता है कि–जीवात्मा ही "ब्रह्मवेत्ता परता प्राप्त करता है" इस नियम के अनुसार, प्राप्य ब्रह्म है, उसे ही आनन्दमय रूप से बतलाया गया है।

ननु च–'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा" इत्यानन्दमयादन्यब्रह्मेति प्रतीयते। नैवं–ब्रह्मैव स्वस्वभावविशेषेण, पुरुषविधत्वरूपितं शिरः पक्षपुच्छरूपेणाव्यपदिश्यते। यथा अन्नमयो देहोऽवयवी स्वस्माद-नतिरिक्तैः स्ववाक्यैरेव "यस्येदमेवशिरः" इत्यादिना शिरः-पक्ष-पुच्छ वेत्तया निदर्शितः। तथा आनंदमयं ब्रह्मापि स्वस्मादनतिरिक्तैः प्रियादिभिर्निदर्शितम्। तत्रावयवत्वेन निरूपितानां प्रिय-मोद प्रमो-

दानंदानामाश्रयतया अखण्डरूपमानन्दमयं "ब्रह्मपुच्छं प्रतिष्ठा" इत्युच्यते। यदि चानंदमयादन्यद्ब्रह्माभविष्यत्–"तस्माद् वा एतस्मा दानंदमयादन्योऽन्तर आत्मा ब्रह्म" इत्यपि निरदेक्ष्यत, न चैवं निर्दिश्यते।

(शंका की जाती है कि) "ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा" से तो, आनन्दमय से अतिरिक्त ब्रह्म तत्व है, ऐसा प्रतीत होता है [शंका का निवारण करते हैं] ऐसी बात नहीं है–ब्रह्म को ही, स्व और स्वभाव विशेष रूप से, शिर-पक्ष-पुच्छ रूप वाला पुरुष बतलाया गया है। जैसे कि–अन्नमय शरीर अपने अवयवों से भिन्न नहीं है, सारे अवयव उसी के रूप हैं, वैसे ही "यस्येदं-शिर:" इत्यादि वाक्य से शिर-पक्ष पुच्छ आदि अंगों को बतलाया गया है। उसी प्रकार आनन्दमय ब्रह्म को भी, उससे अभिन्न प्रिय मोद प्रमोद आदि अवयवों वाला बतलाया गया है। वहाँ, अवयवरूप से निरूपित प्रिय-मोद-प्रमोद आदि के आश्रय होने से अखण्डरूप आनंदमय को "ब्रह्मपुच्छं प्रतिष्ठा" बतलाया गया है। यदि आनंदमय से अतिरिक्त कोई ब्रह्मतत्त्व होता तो—"इस आनंदमय से अतिरिक्त अन्तरात्मा कोई ब्रह्म है" ऐसा भी कहा जाता, पर ऐसा नहीं कहा गया।

एतदुक्तं भवति–"ब्रह्मविदाप्नोति परं" इति प्रक्रान्तं ब्रह्म "सत्यंज्ञानमनन्तंब्रह्म" इतिलक्षणत: सकलेतरव्यावृत्ताकारं प्रतिपाद्य तदेव "तस्माद् वा एतस्मादात्मन:" इत्यादौ आत्मशब्देन निर्दिश्य तस्य सर्वान्तरत्वेनात्मत्वं व्यंजयद् वाक्यमन्नमयादिषु तत्तदन्तरतया आत्मत्वेन निर्दिष्टान् प्राणमयादीनतिक्रम्य "अन्योऽन्तरात्माऽनंदमय:" इत्यात्मशब्देन निर्देशमानंदमये समापयति। अत आत्मशब्देन प्रक्रान्तं ब्रह्म आनंदमय इति निश्चीयते।

कथन यह है कि–"ब्रह्मवेत्ता परता को प्राप्त करता है" इस वाक्य में ब्रह्मत्व प्राप्त वस्तु को ही "ब्रह्म सत्य ज्ञान अनंत स्वरूप है" सभी वस्तुओं से विलक्षण बतला कर उसे ही "तस्माद्वा" इत्यादि में आत्मा शब्द से बतलाते हुए, उसको ही, सर्वान्तरात्मा रूप से आत्मा बतलाने

वाले अन्नमयादि वाक्य में, एक एक के अन्तरात्मा रूप से प्राणमय आदि को, आत्मा स्वरूप दिखला कर "इनसे भिन्न आत्मा अन्तर्यामी आनन्दमय है" उस आत्मा के निर्देश को आनंदमय में लाकर समाप्त किया गया है। इस से ज्ञान होता है कि–आत्म शब्द से निर्दिष्ट ब्रह्म नामवाला ही आनंदमय है।

ननु च–"ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा" इत्युक्त्वा "असन्नेव स भवति असद् ब्रह्मेति वेद चेत्, अस्तिब्रह्मेति चेत्वेद, संतमेनं ततो विदुः" इति ब्रह्म ज्ञानाज्ञानाभ्यामात्मनः सद्भावासद्भावौ दर्शयति, नानंदमयज्ञानाज्ञानाभ्याम्। न चानंदमयस्य प्रियमोदादिरूपेण सर्वलोकविदितस्य सद्भावासद्भावज्ञानाशंका युक्ता। अतो नानंदमयमधिकृत्यायं श्लोक उदाहृतः। तस्मादानंदमयादन्यद् ब्रह्म।

(शंका की जाती है कि–) उक्त प्रसंग में "ब्रह्मपुच्छं प्रतिष्ठा" ऐसा कहने के बाद कहा गया कि–"ब्रह्म को यदि असत् कहते हो तो वह निश्चित ही असद् हो जावेगा, यदि उसे सद् कहते हो तो, इसे भी सत् ही मानो" इस श्रुति में– ब्रह्म ज्ञान और अज्ञान से, आत्मा का सद्भाव और असद्भाव दिखलाया गया है, आनंदमय के ज्ञान और अज्ञान की तो चर्चा भी नहीं है। आनंदमय की, प्रिय मोद आदि रूपों से, लोक प्रसिद्ध सद्भाव और असद्भाव ज्ञानवाली प्रतीकता, दिखलाई गई हो ऐसा भी नहीं कह सकते। इससे निश्चित होता है कि–यह श्लोक, आनंदमय के लिए नहीं कहा गया है। आनंदमय से भिन्न ब्रह्म के लिए ही कहा गया प्रतीत होता है, इसलिए आनंदमय से भिन्न ही ब्रह्म है।

नैवम्–"इदं पुच्छं प्रतिष्ठा"–पृथ्वी पुच्छं प्रतिष्ठा–"अथर्वांगिरसः पुच्छं प्रतिष्ठा"–"महः पुच्छं प्रतिष्ठा" इत्युक्त्वा तत्रतत्रोदाहृताः। "अन्नाद् वै प्रजाः प्रजायंते" इत्यादिश्लोकाः यथा न पुच्छमात्रप्रतिपादनपराः, अपि तु अन्नमयादिपुरुष प्रतिपादनपराः; एवमत्रापि आनन्दमयस्यायं "असन्नेव" इतिश्लोकः। नानन्दमयव्यतिरिक्तस्य पुच्छस्य। आनंदमयस्यैव ब्रह्मत्वेऽपि प्रियमोदादिरूपेण रूपितस्यापरिच्छिन्नानंदस्य सद्भावासद्भावज्ञानाशंका युक्तैव।

(समाधान) बात ऐसी नही है- उसी श्रुति में आगे चल कर "यह पुच्छ वस्तने का आधार है, पृथिवी मे भी वही आधार है, आगिरस गोत्रीय अथर्ववेद के मन्त्रद्रष्टा मे वही आधार है, तथा बुद्धिगत चिदाभास मे भी वह आधार है" ऐसा कहते हुए, उदाहरण प्रस्तुत किये गए है। ' अन्नाद वै प्रजाः प्रजायते" इत्यादि श्लोक जैसे केवल पुच्छ मात्र के प्रतिपादक नही हैं अपितु अन्नमयादि पुरुष के प्रतिपादक है, वैसे ही आनंदमय के प्रकरण में भी "असन्न एव" इत्यादि श्लोक आनंदमय पुरुष का प्रतिपादक है, अन्य पुच्छ का प्रतिपादक नही है। आनदमय मे ब्रह्मत्व होते हुए भी, प्रिय, मोद आदि रूपों से रूपित अपरिच्छिन्न आनंद की सद्भाव और असद्भाव सबंधी आशंका युक्ति युक्त ही है।

पुच्छब्रह्मणोऽप्यपरिच्छिन्नानंदतयव हि अप्रसिद्धता। शिरःप्रभृत्यवयवित्वाभावाद्ब्रह्मणो नानंदमयो ब्रह्मेति चेत्–ब्रह्मणः पुच्छत्वप्रतिष्ठात्वाभावात् पुच्छमपि ब्रह्म न भवेत्। अथाविद्यापरिकल्पितस्य वस्तुनस्तस्याश्रयभूतत्वात् ब्रह्मणः पुच्छं प्रतिष्ठेति रूपणमात्रमित्युच्येत, हन्त तर्हि तस्यासुखाद्वयावृत्तस्यानंदमयस्य ब्रह्मणः प्रियशिरस्त्वादिरूपणं भविष्यति। एवं च "सत्यंज्ञानमनंत ब्रह्म" इति विकारास्पदजऽपरिच्छिन्नवस्त्वंतरव्यावृत्तस्यासुखाद्व्यावृत्तिरानन्दमय इत्युपदिश्यते। ततश्चाखण्डैकरसानन्दरूपे ब्रह्मण्यानंदमय इति मयट् प्राणमय इव स्वार्थिको दृष्टव्यः। तस्मादविद्यापरिकल्पितविविधविचित्रदेवादिभेदभिन्नस्य जीवात्मनः स्वाभाविकं रूपम खंडैकरसं सुखैकतानमानंदमय इत्युच्यत इत्यानंदमयः प्रत्यगात्मा।

पुच्छ ब्रह्म की अपरिच्छिन्न आनंद रूप से प्रसिद्धि नही है। यदि कहा जाय कि- शिर इत्यादि अवयवो के अभाव से ब्रह्म, 'आनंदमय ब्रह्म,' नही हो सकता। तब तो ब्रह्म में पुच्छत्व के अभाव होने से, पुच्छ ब्रह्म भी, ब्रह्म नहीं हो सकता। यदि कहें कि–अविद्या परिकल्पित वस्तु के आश्रयभूत होने से ब्रह्म की "पुच्छ प्रतिष्ठा" इस रूपक से वर्णन किया गया है-(ब्रह्म के अवयव वास्तविक नही हैं) तब तो–दुःख रहित

आनंदमय ब्रह्म के, प्रिय-शिर आदि अवयव भी रूपक ही हो जायेंगे। इसी प्रकार "सत्यं ज्ञानमनंत ब्रह्म" इस वाक्य में, विकारास्पद जड परिच्छिन्न पदार्थ से पृथक्, परिष्कृत सुख से पूर्ण आनंदमय का उपदेश दिया गया है। तथा अखण्डैकरस आनंदरूप ब्रह्म में प्रयुक्त आनंदमय शब्द में जो मयट् प्रत्यय है वह, प्राणमय की तरह, स्वार्थिक जानना चाहिए। इससे ज्ञात होता है कि–अविद्या परिकल्पित, विविध विचित्र देवादि भेदों वाले जीवात्मा की स्वाभाविक अखण्डैकरस रूप की सुखैकतानता को ही "आनन्दमय" नाम से बतलाया गया है, इसलिए जीवात्मा ही आनंदमय है।

एवं प्राप्ते प्रचक्ष्महे–आनंदमयोऽभ्यासात्–आनंदमयः परमात्मा कुतः? अभ्यासात्। "सैषाऽनंदस्य मीमांसा भवति" इत्यारभ्य 'यतोवाचोनिवर्त्तन्ते" इत्येवमंतेन वाक्येन शतगुणितोत्तरक्रमेण निरतिशयदशाशिरस्कोऽभ्यस्यमान आनंदः अनंतदुःखमिश्रपरिमित-सुखलवभागिनि जीवात्मनि असंभवन् निखिलहेयप्रत्यनीक कल्याणैकतानंसकलेतरविलक्षणं परमात्मानमेव स्वाश्रयमावेदयति।

सिद्धान्तः—इस प्रकार के विचार के समक्ष आने पर अपना सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं–"आनंदमयोऽभ्यासात्" अर्थात् आनंदमय परमात्मा ही है, क्यों कि–शास्त्र में उसके लिए ही पुनः पुनः आनंदमय शब्द का प्रयोग किया गया है। "सैषा आनंदस्य मीमांसा भवति" से प्रारंभ कर "यतो वाचो निवर्त्तन्ते" इस अंतिम वाक्य तक शतगुणितोत्तर क्रम से जिस निरतिशय श्रेष्ठतम मूर्धन्यदशा को बार बार आनंद नाम से कहा गया है वह, अनंत दुःख संवलित, परिमित लवमात्र सुख को प्राप्त करने वाले जीवात्मा में नितान्त असंभव है। वह तो समस्त हीन दोषों से रहित कल्याणैकतान समस्त अन्यान्य पदार्थों से विलक्षण परमात्मा में ही संभव है, आनंद का एकमात्र आश्रय परमात्मा ही है।

यथाह–"तस्माद्वा एतस्माद् विज्ञानमयात् अन्योऽन्तरात्मा आनंदमयः" इति विज्ञानमयो हि जीवः, न बुद्धिमात्रम्, मयट् प्रत्ययेन व्यतिरेकप्रतीतेः। प्राणमयेत्यवगत्वा स्वार्थीयकताऽश्रीयते।

इह तु तद्वतो जीवस्य संभवान्नानर्थक्य न्याय्यम् । बद्धो मुक्तश्च प्रत्यगात्मा ज्ञातैवेत्यभ्यधिष्महि । प्राणमयादौ च मयऽर्थसंभवो अनंतरमेव वक्ष्यते । कथ तर्हि विज्ञानमयविषयश्लोके "विज्ञानं यज्ञ तनुते" इति केवल विज्ञानशब्दोपादानं उपपद्यते । ज्ञातुरेषाऽत्मनः स्वरूपमपि स्व प्रकाशतया विज्ञानमित्युच्यत इति न दोषः, ज्ञानैक-निरूपणीयत्वाच्च ज्ञातु.स्वरूपस्य स्वरूपनिरूपणधर्मशब्दा हि धर्म-मुखेन धर्मिस्वरूपमपि प्रतिपादयंति गवादिशब्दवत् ।

जैसा कि–उसी आनद तत्त्व के व्याख्यान के प्रसग मे कहा गया कि–"विज्ञानमय से भिन्न उसका अंतरात्मा आनदमय है" इसमे विज्ञान मय का तात्पर्य जीवात्मा है, केवल बुद्धि ही नही है, मयट् प्रत्यय से ही जीवात्मा और बुद्धि की पृथकता होती है (अर्थात् केवल विज्ञान शब्द बुद्धिवाचक है, मयट् प्रत्यय युक्त विज्ञानमय शब्द जीव वाचक है) प्राणमय शब्द में शब्द के अर्थ की कोई दूसरी गति नही है, इसलिए वहाँ उसका विकारार्थ ही ग्राह्य होगा (प्राण बहुलता ऐसा अर्थ हो नहीं सकता) विज्ञानमय शब्द मे तो, जीव मे विज्ञानवत्ता संभव है, इसलिए मयट् का विकारार्थ करना अनर्थ होगा। बद्ध एवं मुक्त जीवात्मा मे जो ज्ञातापन है, विज्ञानमय शब्द, उसी का द्योतक है। प्राणमय आदि शब्दों में मयट् का प्राचुर्यार्थ घटाना असंभव है, ऐसा अन्यत्र कहते हैं।

(शंका) यदि ऐसा है तो–विज्ञानमय संबंधी श्लोक में "विज्ञान ही यज्ञ का विस्तार करता है" ऐसा, केवल विज्ञान शब्द का ही उपादान क्यों किया गया है ? (समाधान) इससे कोई अन्तर नहीं आता, क्यों कि–विज्ञाता आत्मा का स्वरूप स्वप्रकाश है, इसलिए उसे केवल "विज्ञान शब्द से भी बतला दिया गया। ज्ञाता का स्वरूप ज्ञान द्वारा ही निरूपित हो सकता है। धर्मों के स्वरूप के निरूपक शब्द, जो कि–उसके धर्म का बोध कराते है वह गौ शब्द की तरह हैं, अर्थात् साश्नालांगूलककुदखुर-विषाण आदि चिन्हों को धारण करने वाला जो जीव है उसे गौ कहते हैं, इसी तरह विज्ञान शब्द 'ज्ञान को धारण करने वाला जीवात्मा है' इस तथ्य का निरूपण करता है।

"कृत्यल्युटो बहुलम्" इति वा कर्त्तरिल्युडाश्रीयते ; नंद्यादित्वं वाऽश्रित्य "नंदिग्रहि" इत्यादिना कर्त्तरि ल्युः । अतएव च "विज्ञानं यज्ञं तनुते" कर्माणि तनुतेऽपि च ' इति यज्ञादि कर्त्तृत्वं विज्ञानस्य श्रूयते । बुद्धिमात्रस्य हि न कर्त्तृत्वं संभवति । अचेतनेषु हि चेतनोपकरणभूतेषु विज्ञानमयात् प्राचीनेष्वन्नमयादिषु न चेतनधर्मंभूतं कर्त्तृत्वं श्रूयते । अतएव च चेतनमचेतनंच स्वासाधारणैः निलयनत्वानिलयत्वादिभिर्धर्मविशेषैर्विभज्य निर्दिशद्वाक्यं "विज्ञानं चाविज्ञानं च" इति विज्ञान शब्देन तद्गुणं चेतनं वदति ।

व्याकरणीय "कृत्यल्युटोबहुलम्" इस नियम से कर्त्तृवाच्य में ल्युट प्रत्यय के आश्रय से, तथा नंद्यादि धातुओं के पाठ में ज्ञा धातु के पाठ होने से "नंदिग्रहि" इत्यादि व्याकरणीय नियम से कर्त्तृवाच्य में "ल्यु" प्रत्यय करके तथा व्याकरणीय नियम से ल्यु को अन् प्रत्यय करने से ज्ञान शब्द निष्पन्न होता है । इसीलिए "विज्ञानं यज्ञं तनुते कर्माणि तनुतेऽपि च" इस वाक्य में यज्ञादिकर्म का कर्त्तृत्व विज्ञान का बतलाया गया । केवल बुद्धि में तो कर्त्तृत्व संभव है नहीं । उक्त प्रसंग में विज्ञानमय के पूर्ववर्त्ती अन्नमय आदि में तो चेतन धर्म की कोई चर्चा ही नहीं है । जो कि, चेतन के उपकरण स्वरूप हैं । विज्ञान शब्द का चेतन अर्थ करने के लिए ही, निलयता (विश्वाधारत) अनिलयता आदि असाधारण स्वीय धर्म विशेष द्वारा विभक्त, चेतन और अचेतन, के निर्देशक "विज्ञानं चाविज्ञानं" वाक्य में, विज्ञान शब्द से, विज्ञान गुणसंपन्न चेतन को बतलाया गया है ।

तथाऽन्तर्यामि ब्राह्मणे 'यो विज्ञाने तिष्ठन्" इत्यस्य काण्वपाठगतस्य पर्यायस्य स्थाने 'य आत्मनि तिष्ठन्" इति पर्यायमधीयाना माध्यन्दिनः काण्वपाठगतं विज्ञानशब्द निर्दिष्टं जीवात्मेति स्फुटीकुर्वन्ति । विज्ञानं इति च नपुंसकलिंगं वस्तुत्वाभिप्रायं, तदेवं विज्ञानमयात् जीवात् अन्यस्तदन्तरः परमात्मा आनंदमयः ।

तथा इसी प्रकार काण्वशाखोक्त अन्तर्यामी ब्राह्मण के "जो विज्ञान में अवस्थान करता है" इस वाक्य में जिसे "विज्ञान" शब्द से निर्देश किया गया है, उसे ही माध्यन्दिन शाखीय "जो आत्मा में अवस्थान करता है" इस वाक्य मे "आत्मा" शब्द से बतलाया गया, इस प्रकार विज्ञान का पर्यायवाची शब्द आत्मा सिद्ध होता है जिससे विज्ञान का अर्थ जीवात्मा सुस्पष्ट है। विज्ञान शब्द का जो नपुंसक लिंग में प्रयोग किया गया है, वह वस्तुत्व का बोधक है। इससे निर्णय होता है कि—विज्ञानमय जीव से अतिरिक्त कोई विज्ञानमय का अन्तरात्मा परमात्मा आनंदमय है।

यद्यपि "विज्ञानं यज्ञं तनुते" इति श्लोके ज्ञानमात्रमेवोपादीयते, न ज्ञाता, तथाऽपि "अन्योन्तरात्मा विज्ञानमयः" इतितद्वान् ज्ञातैवोपदिश्यते, यथा—"अन्नाद् वैः प्रजाः प्रजायंते" इत्यत्र श्लोके केवलान्तोपादानेऽपि "स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः" इत्यत्र नान्नमात्रं निर्दिष्टम्, अपि तु तन्मयः तद्विकारः। एतत् सर्वं हृदि निधाय सूत्रकारः स्वयमेव "भेदव्यपदेशात्" इत्यनन्तरमेव वदति।

यद्यपि— विज्ञान यज्ञ का विस्तार करता है" इस वाक्य में ज्ञान मात्र का ही उपादान किया गया है, ज्ञाता का नहीं, फिर भी "भिन्न ही कोई अन्तरात्मा है, जो कि विज्ञानमय है" इस वाक्य में विज्ञानमय ज्ञाता (जीव) का ही निर्देश किया गया है। जैसे कि—"अन्न से ही प्रजा का जन्म होता है' इस श्लोक में केवल अन्न को उपादान बतलाया गया है तथा "वही यह पुरुष अन्नरसमय है" इस वाक्य में अन्नमय के विकृतदेह का उल्लेख किया गया है। इन सभी बातों को हृदयंगम करके सूत्रकार ने स्वयं ही "भेदव्यपदेशात्" सूत्र में जीवात्मा-परमात्मा की भिन्नता स्पष्ट बतला दी है।

यदुक्तं जगत्कारणतया निर्दिष्टस्य "अनेनजीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य "तत्त्वमसि" इति च जीवसामानाधिकरण्यनिर्देशाज्जगत्कारणमपि जीवस्यरूपान्नातिरिच्यत इति कृत्वा जीवस्यैव स्वरूपं "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" इति प्रक्रान्तमसुखाद्व्यावृत्तत्वेनानंदमयं

इत्युपदिश्यत इति तदयुक्तम्, जीवस्य चेतनत्वे सत्यपि "तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत्" इतिस्वसंकल्पपूर्वकानन्तविचित्र सृष्टियोगानुपपत्ते. । शुद्धावस्थस्यापि हि तस्य सर्गादिजगद्व्यापार-संभवो–"जगद्व्यापारवर्जम्" भोगमात्रसाम्यलिंगात्" इत्यत्रोपपादयिष्यते ।

जो यह कहते हैं कि—जगत कारण रूप से निर्दिष्ट "मैं ही जीव रूप से इसमें प्रवेशकर" तथा "तू वही है" इत्यादि वाक्यों में जीवात्मा और परमात्मा का जो सामानाधिकरण्य अभेद संबंध बतलाया गया है, वह–जीव के अतिरिक्त परमात्मा कोई अन्य वस्तु नहीं है, ऐसा बतलाता है तथा जीव के ही स्वरूप को 'ब्रह्मवेत्ता परंतत्व को पा जाता है" इस वाक्य में, परतत्त्वता को प्राप्त, दुःख से अनावृत आनंदमय कहा गया है। सो आपका यह कथन भी असंगत है--क्योंकि—"उसने विचार किया कि बहुत होकर प्रकट होऊँ" उसने तेज की सृष्टि की "इत्यादि वाक्यों में जिस स्वसंकल्पात्मिका विविधरूपा सृष्टि का वर्णन किया गया है, वह चेतनता होते हुए भी, जीव के सामर्थ्य के बाहर की बात हैं।" विशुद्धावस्थापन्न जीव से भी ऐसी जागतिक सृष्टि संभव नही है। ऐसा ही–सूत्रकार—"जगद्व्यापारवर्जम् "तथा" भोगमात्र साम्यलिंगाच्च" सूत्रों में बतलाते हैं।

कारणभूतस्य ब्रह्मणो जीवस्वरूपत्वानभ्युपगमे "अनेन जीवेनात्मना" तत्त्वमसिइति सामानाधिकरण्यनिर्देशः कथमुपपद्यत इति चेत्—कथं वा निरस्तनिखिलदोषगंधस्य सत्य-संकल्पस्य सर्वज्ञस्यसर्वशक्ते रनवधिकातिशयासंख्येयकल्याणगुणगणस्य सकलकारणभूतस्यब्रह्मणः नानाविधानन्तदुःखाकरकर्माधीन चिन्तितनिमिषितादिसकलप्रवृत्तिजीवस्वरूपत्वम् ? अन्यतरस्य मिथ्यात्वेनोपपद्यत इति चेत्, कस्य भोः ? किं हेयसंबधस्य ? किं वा हेयप्रत्यनीककल्याणैकतानस्वभावस्य हेयप्रत्यनीक कल्याणैकतानस्यब्रह्मणोऽनाद्यविद्याश्रयत्वेन हेयसंबंध मिथ्याप्रति-

भासो मिथ्या रूप इति चेत्, विप्रतिषिद्धमिदमभिधीयते, ब्रह्मणो हेयप्रत्यनीककल्याणैकतानत्वमनाद्यविद्याश्रयत्वेनानंतदु:खविषय मिथ्या प्रतिभासाश्रयत्वं चेति। अविद्याश्रयत्वं त-कार्यदु:खप्रतिभासाश्रयत्वं चैव हि हेय संबंधः। तत्संबंधित्वं प्रत्यनीकत्वं च विरुद्धमेव। तथाऽपि तस्य मिथ्यात्वान्न विरोध इति मा वोचः। मिथ्याभूतमप्यपुरुषार्थं एव तन्निरसनाय सर्ववेदांता आरभ्यंत इति ब्रूषे। निरसनीयापुरुषार्थयोगश्च हेयप्रत्यनीककल्याणैकतानतया विरुध्यते।

यदि आप पूछें कि—कारणभूत ब्रह्म की जीवस्वरूपता न मानने से "अनेन जीवेन" तथा "तत्त्वमसि" आदि वाक्यों से सम्मत सामान्याधिकरण रूप अद्वैत की बात कैसे बनेगी ? मैं पूछता हूं कि—समस्त दोषों से रहित, सत्य संकल्प, सर्वज्ञ, सर्वशक्ति, अनंत अपार असंख्य कल्याण गुणैकराशि, सभी के एकमात्र कारण ब्रह्म की, अनेक दुःखों की खान, कर्माधीन, चिन्तित, क्षणभंगुर प्रवृत्तिवाली जीव स्वरूपता कैसे संभव होगी ? आप कहें कि—जीवात्मा-परमात्मा की भिन्नता, मिथ्यात्व आभास मात्र है। तो वह मिथ्यात्व आप किसका मानते हैं ? जीवात्मा के हेयगुण संबंधों का, अथवा हेयगुणों के प्रतिपक्षी कल्याणगुण समन्वित परमात्मा के स्वभाव का ? यदि, हेयता रहित कल्याणैकतान ब्रह्म का, अनादि अविद्या के आश्रय से, हेय संबंध मिथ्या प्रतिभास है, तो एक ही ब्रह्म में, हीनता रहित कल्याणगुणैकतानता और अनादि अविद्याश्रित अनंत दुःखों का विषयता संबंधी मिथ्या प्रतिभासाश्रय, ये दोनों परस्पर विरोधी बातें कैसे संभव हैं ? अविद्या की आश्रयता, तथा उससे संभूत दुःख प्रतिभासाश्रयी हेयगुण संबंध, और ब्रह्म संबंधी हेयगुण प्रतिपक्षता, ये दोनों बातें विरुद्ध ही तो हैं। इस पर भी मिथ्याभास का आश्रय लेकर यह मत कहो कि—विरुद्धता नहीं होगी। मिथ्या होते हुए भी वह त्याज्य है, उसको हटाने के लिए सारे ही वेदांत वाक्य उपदेश देते हैं, ऐसा भी तुम्हीं स्वीकारते हो [अर्थात् मिथ्यात्व को, हेय और त्याज्य मानते हो तो उसे मिथ्याभास कैसे कह सकते हो ?] जिस वस्तु को त्याज्य मानते

हैं, वह हेय प्रतिपक्षी कल्याणैकतान गुणो से विरुद्ध ही है, तभी तो त्याज्य है।

किं कुर्मः ? "येनाश्रुतं श्रुतं भवति" इत्येकविज्ञानेन सर्व-विज्ञान प्रतिज्ञाय "सदेव सोम्येदमग्र आसीत्" इत्यादिना निखिल-जगदेककारणतां, "तदैक्षत बहुस्याम्" इति सत्यसंकल्पतां च ब्रह्मणः "तत्त्वमसि" इति सामानाधिकरण्ये नानंतदुःखाश्रयजीवैक्य प्रतिपादितम, तदन्यथानुपपत्या ब्रह्मण एवाविद्याश्रयत्वादि परि-कल्पनीयमिति चेत्।

विवश होकर यदि कहो कि क्या करे ? "जिसके द्वारा अश्रुत भी श्रुत होता है" इस वाक्य से एक विज्ञान से समस्त विज्ञान की बात को बतलाकर "हे सौम्य यह सारा जगत् सत् ही था "इत्यादि वाक्य से ब्रह्म की सर्व जगत्कारणता मानकर "उसने विचार किया कि बहुत हो जाऊँ" इस वाक्य से ब्रह्म की सत्य सकल्पता का भी प्रतिपादन करके, उसी ब्रह्म की "तू वही है" इस वाक्य द्वारा अनंत दुःखाश्रयी जीव की सामानाधिकरण्य रूप एकता प्रतिपादित की गई है, इसलिए अगत्या हमें, ब्रह्म की परस्पर विरोधी असगत (बद्धता और मुक्तता) बातों के परिहार के लिए, ब्रह्म मे ही अविद्याश्रयत्व आदि की परिकल्पना करनी पडती है।

श्रुतोपपत्तयेऽप्यनुपपन्नं विरुद्धं च न कल्पनीयम् अथ हेय संबंध एव पारमार्थिकः, कल्याणैकस्वभावता तु मिथ्याभूता, हन्तैवं, तापत्रयाभिहतचेतनोज्जिजीविषया प्रवृत्त शास्त्रं, तापत्रया-भिहतिरेव तस्य पारमार्थिकी, कल्याणैकस्वभावस्तु भ्रांतिपरि-कल्पित इति बोधयत् सम्यगुज्जीवयति। अथैतद्दोषपरिजिहीर्षया ब्रह्मणो निर्विशेषचिन्मात्रस्वरूपातिरिक्तजीवत्व दुःखित्वादिकं सत्यसंकल्पत्वकल्याणगुणाकरत्वाद्यपि मिथ्याभूतं कल्पनीयमिति चेत्; अहो भवतां वाक्यार्थपर्यालोचनकुशलता। एक विज्ञानेन सर्व-विज्ञानप्रतिज्ञान सर्वस्य मिथ्यात्वे सर्वस्य ज्ञातव्यस्याभावान्न

सेत्स्यति। यथैकविज्ञानं परमार्थविषयम्, तथैव सर्वविज्ञानमपि यदि परमार्थविषयम् तदन्तर्गतं च तदा तत् ज्ञानेन सर्वविज्ञानमिति-शक्यते वक्तुम् न हि परमार्थशुक्तिका ज्ञानेन तदाश्रयमपरमार्थं रजतं ज्ञातं भवति।

(विवाद) ऐसी शास्त्र विरुद्ध और युक्ति विरुद्ध कल्पना करना ठीक नहीं है। यदि हेयगुण संबंध को परमार्थिक तथा कल्याणैकतान स्वभावता को अपारमार्थिक मान लेंगे तो, त्रितापतापित चेतन जीवों की शान्ति के लिए जो उपाय शास्त्रों में बतलाए गए हैं, उनका क्या समाधान होगा? क्या तापत्रयाभिहति को ही पारमार्थिक तथा कल्याणै स्वभाव वस्तु को भ्रांति कल्पित मानना उचित होगा? यदि उक्त दोष के परिहार के लिए, ब्रह्म के निर्विशेष चैतन्य स्वरूप के विरोधी जीवत्व, दुःखित्व आदि धर्म तथा सत्यसंकल्पत्व, कल्याणगुणाकरत्व, जगत्कारणत्व आदि सभी मिथ्या हैं, ऐसी परिकल्पना करते हैं, तो आपकी वाक्यपर्यालोचना के कौशल की बलिहारी है। वाह, समस्त वस्तु के मिथ्या हो जाने पर कोई ज्ञातव्य विषय ही न रह जायगा, तथा एक के ज्ञान से समस्त का ज्ञान होता है, यह नियम भी व्यर्थ हो जायगा। जब एक वस्तु संबंधी ज्ञान परमार्थ विषयक होगा तभी, समस्त विषयक ज्ञान पारमार्थिक हो सकता है तभी यह नियम लागू हो सकेगा कि—एक की जानकारी से समस्त की जानकारी होती है। अन्यथा, सीप का सही ज्ञान और चांदी संबंधी ज्ञान जो कि सीप नही है तथा सीप के समान सही भी नही है, उन दोनों को एक मानना पड़ेगा। परमार्थिक सीप संबंधी ज्ञान से, सीप के आश्रित अपारमार्थिक रजत, की प्रतीति नहीं हो सकती।

अथोच्येत्—एक विज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञायाः, अयमर्थः "निर्विशेषवस्तु मात्रमेव सत्यम्" इति। न तर्हि "येन अश्रुतं श्रुतं भवति, अमतं मतम्, अविज्ञातं विज्ञातं" इति श्रूयेत्। येन श्रुतेन अश्रुतमपि श्रुतं भवतीत हि अस्य वाक्यस्यार्थः। कारणतयोपलक्षितनिर्विशेषवस्तुमात्रस्यैव सद्भावश्चेत्प्रतिज्ञातः "यथा सौम्येकेन

मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातम्" इति दृष्टान्तोऽपि न घटते। मृत्पिण्ड विज्ञानेन हि तद्विकारस्य ज्ञातता निदर्शिता। तत्रापि विकारस्यासत्यताऽभिप्रेतेति चेत्, मृद्विकारस्य रज्जुसर्पादिवद-सत्यत्वं शुश्रूषोरसिद्धमिति प्रतिज्ञातार्थ संभावना प्रदर्शनाय "यथा सोम्य" इति प्रसिद्धवदुपन्यासो न युज्यते। न च तत्त्वमस्यादि वाक्यजन्यज्ञानोत्पत्तेः प्राग्विकारजातस्य असत्यतामापादयत् तर्कानु-ग्रहीतं वा प्रमाणमुपलभामह इति। अयमर्थः "तदनन्यत्वमारम्भण शब्दादिभ्य" इत्यत्र वक्ष्यते।

जो यह कहो कि—एक विज्ञान से सर्व विज्ञान की प्रतिज्ञा का तात्पर्य है कि "निर्विशेष वस्तु मात्र ही सत्य है।" सो यह कथन भी ठीक न होगा।" जिससे अश्रुत श्रुत-अमत, मत तथा अज्ञात, ज्ञात होता है" इस वाक्य का सही अर्थ यह है कि—जिससे अश्रुत पदार्थ भी परिश्रुत होता है। यदि, एकमात्र कारणताविशिष्ट को ही शास्त्र में सत्य माना गया होता तो, "सोम्य! एक मृत्पिण्ड से सारे मृण्मय पदार्थों का ज्ञान हो जाता है" यह दृष्टान्त संगत नहीं हो सकता। इस उदाहरण में मृत्पिण्ड से विकारता दिखलाई गई है। इस पर भी कहें कि—यहाँ भी, विकार की असत्यता ही कही गई है, तो भी मिट्टी के निर्मित घड़े आदि, रस्सी में सर्प की भ्रांति की तरह, असत्य तो प्रतीत होते नहीं। अनुभूत पदार्थ की सत्यता के प्रतिपादन की संभावना मात्र के लिए ही केवल, "हे सौम्य!" इत्यादि वाक्य में प्रसिद्ध नियम का व्याख्यान किया गया हो, ऐसा समझ में नहीं आता। न "तत्त्वमसि" आदि वाक्यजन्य ज्ञानोत्पत्ति के पूर्व का कोई ऐसा तर्कानुमोदित प्रामाणिक वाक्य ही मिलता है, जिससे विकृत पदार्थों की असत्यता सिद्ध हो सके। इस सारे तात्पर्य को सूत्रकार—तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः' सूत्र में बतलाते हैं।

तथा—"सदेवसोम्येदमग्र आसीत् एकमेवाद्वितीयं" तदैक्षत बहु-स्यां प्रजायेयेति, तत्तेजोऽसृजत्"—"हन्त इमास्तिस्रो देवता, अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि"—"सन्मूलाः सौम्येमाः

सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः··· —ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्" इत्यादिना अस्य जगतः सदात्मकता, सृष्टे पूर्वकाले नामरूप विभागप्रहाणम, जगदुत्पत्तौ सच्छब्दवाच्यस्यब्रह्मणः, स्वव्यतिरिक्त-निमित्तान्तरामपेक्षत्वं सृष्टिकाले अहमेव अनंतस्थिरत्रसरूपेण "बहुस्याम्" इति अनन्यसाधारणसंकल्पविशेषः, यथा संकल्पमनंत विचित्र तत्त्वानां विलक्षणक्रमविशेषविशिष्टासृष्टि. समस्तेषु अचेतनेषुवस्तुषु स्वात्मकजीवानुप्रवेशेनैवानंतनामरूपध्याकरणं, स्व-व्यतिरिक्तस्य समस्तस्य स्वमूलत्वम्, स्वायत्तनत्वं, स्वप्रवर्त्यत्वं, स्वेनैव जीवनम्, स्वप्रतिष्ठत्वमित्याद्यनंतविशेषाः शास्त्रैकसमधिगम्याः प्रतिपादिताः। तत्संबंधितया प्रकरणान्तरेष्वप्यपहतपाप्मत्वा-दिनिरस्तनिखिलदोषतासर्वज्ञतासर्वेश्वरत्वसत्यकामत्वसंत्यसंकल्पत्व सर्वानन्दकरणनिरतिशयानंदयोगादयः सकलेतरप्रमाणाविषयाः सहस्रशः प्रतिपादिताः। एवमन्यगोचरानतविशेषविशिष्टप्रकृत ब्रह्मपरामर्शिततच्छब्दस्य निर्विशेषवस्तुमात्रोपदेशपरत्वमसंगतत्वे-नोन्मत्तप्रलपितायेत्। त्वं पदं च संसारित्वविशिष्टजोववाचि। तस्यापि निर्विशेषस्वरूपोपस्थापनपरत्वे स्वार्थः परित्यक्तः स्यात्। निर्विशेषप्रकाशस्वरूपस्य च वस्तुनो हि अविद्यया तिरोधानं स्वरूपनाश प्रसंगादिभिर्न सभवतीति पूर्वमेवोक्तम्। एवं च सति-समानाधिकरणवृत्तयोः तत्त्वमपि द्वयोरपि पदयोर्मुख्यार्थं परित्यागेन लक्षणा च समाश्रणीया।

तथा—"हे सौम्य! यह जगत पहिले एक अद्वितीय सत् स्वरूप था" —"उसने विचार किया मैं अनेक हो जाऊँ"—"उसने तेज की सृष्टि की"—"मैं इस जीवात्मा के अन्तःकरण में प्रविष्ट होकर इन तीनों (तेज-जल-पृथिवी) देवताओं के नाम और रूप को व्यक्त करूँ" "हे सौम्य! यह समस्त प्रजा, सत से ही उत्पन्न, सत् में ही अवस्थित और सत में ही

विलीन हो जाती है"—यह सारा ही जगत ब्रह्मात्मक है।" इत्यादि शास्त्र वाक्यों में, जगत की सदात्मकता, सृष्टि के पूर्व नाम रूप विभाग का निराकरण, तथा सृष्टि कालिक अनंत स्थावर जंगम रूपों में व्यक्त होने का ब्रह्म का अनन्य असाधारण संकल्प विशेष, संकल्पानुरूप विलक्षण क्रम विशेष, विचित्र विशिष्ट सृष्टि रचना, एवं समस्त अचेतन वस्तुओं में जीवरूप से प्रवेश कर नाम रूप व्याकृति, अपने में ही समस्त जीवों की लीनता, इत्यादि ब्रह्म की अनंत विशेषताओं का प्रतिपादन किया गया है। उन्हीं विशेषताओं से सबंधित अन्य प्रकरणों में भी, निष्पापता, निर्दोषता, सर्वज्ञता, सर्वेश्वरता, सत्यकामता, सत्यसंकल्पना, सर्वानंद-कारिता, अत्यानंदमयता, इत्यादि अनेक प्रामाणिक सहस्रों विशेषताओं का भी प्रतिपादन किया गया है। इस प्रकार असाधारण अगोचर, अनंत विशेषण विशिष्ट ज्ञेय ब्रह्म के बोधक "तत्" शब्द की निर्विशेष (सामान्य) वस्तुओं से समता नितान्त असंगत प्रतीत होती है, यह तो प्रमत्तों का सा प्रलाप है। "त्वं" पद संसारी विशिष्ट जीवात्मा का बोधक है उसकी भी यदि निर्विशेष (सामान्य) रूप से कल्पना की जाय तो, "त्वं" पद के वास्तविक अर्थ का गला घोटना मात्र है। वह निर्विशेष प्रकाशस्वरूप वस्तु अविद्या से आवृत हो जाती है इसलिए उसके वास्तविक स्वरूप का नाश हो जाता है; यह संभावना भी असंभव है, ऐसा पहिले ही कह चुका हूँ। यदि ऐसा मान लेंगे तो, सामानाधिकरण्य बोध्य तत् त्वं दोनों ही पदों के मुख्यार्थ का त्याग करके लक्षणा का आश्रय लेना पड़ेगा।

अथोच्येत्—सामानाधिकरणवृत्तानामेकार्थप्रतिपादनपरतया विशेषणांशे तात्पर्या संभवादेव विशेषणनिवृत्तेर्वस्तुमात्रैकत्वप्रति-पादनान्नलक्षणा प्रसंगः। यथा "नीलमुत्पलम्" इति पदद्वयस्य विशेष्यैकत्वप्रतिपादनपरत्वेन नीलत्वोत्पलत्वस्वरूपविशेषणद्वयं न विवक्ष्यते। तदविवक्षायां हि नीलत्वविशिष्टाकारेणोत्पलत्व-विशिष्टाकारस्यैकत्वप्रतिपादनं प्रसज्यते। तत्तु न संभवति न हि नैल्यविशिष्टाकारेण तद्वस्तूत्पलपदेन विशेष्यते, जातिगुणयोरन्योन्य समवायप्रसंगात्। अतो नीलत्वोत्पलक्षितवस्त्वेकत्वमात्रं सामाना-

धिकरण्येन प्रतिपाद्यते। तथा—"सोऽयं देवदत्तः" इत्यतीतकाल विप्रकृष्टदेशविशेषस्य तेनैव रूपेण सन्निहितदेशवर्त्तमानकालविशिष्टतया प्रतिपादनानुपपत्तेरुभयदेशकालोपलक्षितस्वरूपमात्रैक्यं सामानाधिकरण्येन प्रतिपाद्यते। यद्यपि नीलमित्याद्येकपदश्रवणे प्रतीयमानं विशेषणं सामानाधिकरण्यवेलायां विरोधान्न प्रतिपाद्यते। तथाऽपि बाच्येऽर्थे प्रधानांशस्य प्रतिपादनान्नलक्षणा। अपितु विशेषणांशस्याविवक्षामात्रम् सर्वत्र सामानाधिकरण्यस्यैष एव स्वभाव इति न कश्चिद्दोष इति।

यदि कहो कि—समानता बतलाने वाले शब्दों का तात्पर्य अभेद प्रतिपादन ही है, इसलिए यहाँ-जीव, ब्रह्म का विशिष्ट अश है—ऐसा अर्थ नहीं हो सकता। समानता के प्रसग में विशेषता का प्रश्न स्वत: ही निवृत्त हो जाता है तथा वस्तुगत एकत्व मात्र की प्रतीति होती है इसलिए लक्षणा द्वारा अर्थ करने की बात ही उपस्थित नहीं होती [अर्थात् परमात्मा और जीवात्मा की विशेषताओ को हटाकर उनकी वास्तविक एकता को समझ लिया जावे तो—वह और तू का भेद, जो कि औपचारिक अर्थ है—समाप्त हो जायगा। लक्ष्यार्थ करने की क्या आवश्यकता है?] जैसे कि—"नीलउत्पल" वाक्य मे दो पदों द्वारा विशेष्य और विशेषण का प्रतिपादन किया गया है, न कि नीलत्व और उत्पलत्व दो विशेषणों की योजना है। यदि इन दोनो को अलग-अलग विशेषण रूप से कहा गया होता तो नीलत्व विशिष्टाकार से, उत्पलत्व विशिष्टाकार की एकता का प्रतिपादन हो जाता। सो तो संभव हो नही सकता, क्यों उत्पलत्व, नीलत्व का विशेषण होगा नही। ऐसा होने से तो जाति और गुण का अन्योन्य समवाय संबंध हो जायगा। इसलिए समझना चाहिए कि—नीलत्व और उत्पलत्व धर्मद्वयविशिष्ट वस्तुओं की, सामानाधिकरण्य द्वारा ही, एकता बतलाई गई है।

तथा "यह वही देवदत्त है" इस वाक्य में भी, अतीत काल और स्थान विशेष में देखे गए, देवदत्त को देखकर वर्त्तमान काल में जो उपलब्धि होती है, उसमें, रूप सामानाधिकरण्य ही, कारण है। इसी से एकता की प्रतीत होती है।

यद्यपि केवल एक पद "नील" को सुनकर यही ज्ञात होता है कि, यह किसी वस्तु की विशेषता का बोधक है, पर जब उसकी समानता की जाती है तब विरोधी तत्त्व होने के कारण उसकी वैसी प्रतीति नही होती, किन्तु वाच्यार्थ में प्रधान अंश का प्रतिपादन ज्ञात होता है। इसलिए उक्त प्रसंग में लक्षणा करने की आवश्यकता नहीं होती अपितु विशेषणांश के जानने मात्र की आवश्यकता होती है। सभी जगह सामानाधिकरण्य का ऐसा ही विधान है इसलिए कोई दोष नहीं है।

तदिदमसारं—सर्वेष्वेववाक्येषु पदानां व्युत्पत्तिसिद्धार्थं संसर्ग विशेषमात्र प्रत्याय्यम्। तत्र समानाधिकरणवृत्तानामपि नीलादि-पदानां नैल्यादिविशिष्टएवार्थो व्युत्पत्ति सिद्धः, पदान्तरार्थं संसृष्टो-ऽभिधीयते। यथा "नीलमुत्पलमानय" इत्युक्ते नीलिमादिविशिष्ट-मेवानीयते। यथा च "विन्ध्याटव्यां मदमुदितो मातंगगणः तिष्ठति" इति पदद्वयावगतविशेषणविशिष्ट एवार्थः प्रतीयते। एवं वेदांत वाक्येष्वपि समानाधिकरणनिर्देशेषु तत्तद्विशेषणविशिष्टमेव ब्रह्म प्रतिपत्तव्यम्। न च विशेषण विवक्षायामितरविशिष्टाकारं वस्त्व-न्येन विशेष्टव्यम्। अपितु सर्वैं विशेषणैः स्वरूपमेव विशेष्यम्।

(वाद) ऊपर कही गई सारी युक्तियाँ असंगत हैं। प्रायः सभी वाक्यों में पद समूहों का केवल व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ का विशेष सबंध ही, प्रतीति-गम्य होता है। सामानाधिकरण्य में प्रवृत्त, "नील" पद का विशिष्ट अर्थ "नीलिमा" ही व्युत्पत्ति सिद्ध अर्थ है। जो कि अन्य पदार्थ से संबंधित हो सकता है जैसे कि—नीलकमल लाओ" कहने पर नीलिमा गुण विशिष्ट कमल ही लाया जाता है। तथा "इस विन्ध्याटवी में मदोन्मत्त हाथियों के झुंड रहते हैं" इस वाक्य में भी, मदोन्मत्त और हस्ति समूह इन दो पदों में विशेषण और विशिष्ट अर्थ की प्रतीति होती है।

इसी प्रकार समानाधिकरण्य बोधक वेदांत वाक्यों में भी, विशेषण और विशिष्ट भाव से ब्रह्म का प्रतिपादन किया गया है। जहाँ कहीं भी,

विशेषण द्वारा विशेषता बतलाने की चेष्टा की गई है, वहां विशिष्टाकार-वाली किसी अन्य वस्तु की विशेषता नहीं बतलाई गई है। अपितु सभी विशेषणों से स्वरूप की ही विशेषता बतलाई गई है।

तथा हि "भिन्नप्रवृत्तिनिवृत्तानां शब्दानामेकस्मिन्नर्थे वृत्तिः सामानाधिकरण्यम्" इति अन्वयेन निवृत्त्या वा पदान्तर प्रतिपाद्या-दाकारादाकारान्तर युक्ततया तस्यैव वस्तुनः पदान्तर प्रतिपाद्यत्वं सामानाधिकरण्यकार्यम्। यथा—"देवदत्तः श्यामो युवा लोहिताक्षोऽदीनोऽकृपणोऽनवद्यः" इति यत्र त्वेकस्मिन्वस्तुनि समन्वयायोग्यं विशेषणद्वयं समानाधिकरणपदनिर्दिष्टम् तत्राप्यन्यतरत्पदममुख्य-वृत्तमाश्रीयते, न द्वयम्। यथा "गौर्वाहीकः" इति। नीलोत्पलादिषु तु विशेषणद्वयान्वयाविरोधादेकमेवोभयविशिष्टं प्रतिपाद्यते।

तथा—"विभिन्नार्थ बोधक शब्द समूहों की जो एक मात्र अर्थ-बोधकता है उसे ही सामानाधिकरण्य कहते है इस नियम के अनुसार, अन्वय द्वारा हो या अन्यार्थ बोध द्वारा हो, दोनों ही स्थिति में, पदान्तर प्रतिपाद्य विषय में अर्थगत पार्थक्य नहीं होता। एक ही वस्तु को विभिन्न पदों से प्रतिपादन करना ही समानाधिकरण्य का कार्य है। जैसे कि—"देवदत्त श्यामवर्णवाला युवक रक्तनेत्र, अदीन अकृपण और अनवद्य है"—इस वाक्य में सामानाधिकरण्य के नियम से अनेक गुणों वाला एक ही देवदत्त है। जहाँ एक ही वस्तु में समन्वय के अयोग्य, दो विशेषण, समानाधिकरण्य भाव से प्रयुक्त होते हैं, वहाँ पर भी एक पद का गौण अर्थ स्वीकारना होगा, दोनों का मुख्य अर्थ नहीं होगा। जैसे कि 'भार वाही बैल" इसमें एक का मुख्य और दूसरे का गौण अर्थ है। 'नीलोत्पल" में तो दो विशेषणों के समन्वय में विरोध होने से एकता है इसलिए दोनों में विशिष्टता का प्रतिपादन हो जाता है।

अथ मनुषे—एकविशेषणप्रतिसंबंधित्वेन निरूप्यमाणं विशेष-णान्तरप्रतिसंबधित्वात् विलक्षणम्—इति—घटपटयोरिवैकविभक्ति निर्देशेऽप्यैक्यप्रदिपादनासंभवात् सामानाधिकरणशब्दस्य न

विशिष्ट प्रतिपादनपरत्वं, अपितु विशेषणमुखेन स्वरूपमुपस्थाप्य तदैक्यप्रतिपादनपरत्वमेव इति।

यदि यह मानें कि---कोई वस्तु एक विशेषण से विशेषित होने पर, दूसरी विशेषण विशिष्ट वस्तु से निश्चित ही विलक्षण या भिन्न होगी। जैसे, घट पट आदि में समान विभक्ति के होते हुए भी, एकता संभव नही हैं। वैसे ही अन्यत्र भी समान विभक्ति का निर्देश होने पर विभिन्न विशेषण विशिष्ट पदार्थों का ऐक्य नहीं होगा इसलिए समानाधिकरण शब्द का विशिष्टार्थ प्रतिपादन में तात्पर्य नहीं होता, अपितु विशेषण के रूप से वस्तु के स्वरूप का उपस्थापन या बोध संपादन कराकर उन सबका ऐक्य प्रतिपादन करना ही उसका कार्य होता है।

स्यादेतदेवम्—यदि विशेषणद्वयप्रतिसंबंधित्वमात्रमेवैक्यं निरुन्ध्यात्। न चैतदस्ति, एकस्मिन् धर्मिण्युपसंहर्तुमयोग्यधर्मद्वयविशिष्टत्वमेव हि एकत्वं निरुणद्धि। अयोग्यता च प्रमाणान्तरसिद्धाघटत्वपटत्वयोः। "नोलमुत्पलम्" इत्यादिषु तु दण्डित्वकुण्डलित्ववद्रूपवत्त्वरसवत्त्वगन्धवत्त्वादिवच्च निरोधो नोपलभ्यते। न केवलमविराध एव, प्रवृत्तिनिवृत्तिभेदेनैकार्थनिष्ठत्वरूपं सामानाधिकरण्यमुपपादयत्येव धर्मद्वयविशिष्टताम्। अन्यथा स्वरूपमात्रैक्ये अनेकपदप्रवृत्तौ निमित्ताभावात् सामानाधिकरण्यमेव न स्यात्। विशेषणानां स्वसबंधानादरेण वस्तुस्वरूपोपलक्षणपरत्वे सत्येकनैववस्तूपलक्षितमित्युपलक्षणान्तरमनर्थकमेव, उपलक्षणान्तरोपलक्ष्याकारभेदाभ्युपगमे तेनाकारेण सविशेषत्वप्रसंगः।

हो सकता है, ऐसा हो, पर केवल दो विशेषणों का संबध ही अभेद का निरोधक हो, ऐसा नहीं है, अपितु एक धर्मी (विशेष पदार्थ) से दो विभिन्न धर्मों वाले विशेषणों का संबंध सर्वथा अयोग्य है वही एकता का विरोधी है। घटत्व और पटत्व में जो इस प्रकार की अयोग्यता है, वह प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से सिद्ध होती है। "नील उत्पल" इस उदाहरण में

"दण्डित्व, कुण्डलित्व" की तरह रूपत्व, रसवत्व और गंधवत्व आदि होते हुए भी एकता के विरुद्ध नही है। इस प्रकार केवल विरोध का अभाव ही नही है, अपितु प्रवृत्ति निवृत्ति के भेदानुसार जो सामानाधिकरण्य का नियम है, उसके अनुसार भी दो धर्मों वाली विशेषताओं का उपपादन हो जाता है। केवल वस्तु स्वरूप की एकता के बतलाने, या अनेक पदों के प्रयुक्त होने पर भी उपयुक्त कारण न होने से सामानाधिकरण्य का नियम लागू नहीं हो सकता। विशेष्य के साथ विशेषणों का संबंध स्वीकार न करके, केवल वस्तुमात्र बोधकता ही स्वीकारी जाय, तब भी, एक विशेषण से ही जब वस्तु की विशेषता उपलक्षित हो जाती है, तब अन्यान्य विशेषण स्वतः ही व्यर्थ हो जाते हैं। अन्यान्य विशेषणों द्वारा यदि उपलक्ष्य वस्तु का, आकार भेद ही माना जावे, तब भी उन विशेषणों से वस्तु की सविशेषता सिद्ध हो जाती है।

"सोऽयं देवदत्तः" इत्यत्रापि लक्षणा गन्धो न विद्यते, विरोधाभावात्। देशान्तरसंबंधितयाऽतीतस्य सन्निहितदेशसंबंधितया वर्त्तमानत्वाविरोधात्। अतएव हि "सोऽयम्" इति प्रत्यभिज्ञा कालद्वयसंबंधिनोवस्तुन ऐक्यमुपपाद्यते वस्तुनः स्थिरत्ववादिभिः। अन्यथा प्रतीतिविरोधे सति सर्वेषां क्षणिकत्वमेव स्यात्। देशद्वयसंबंधविरोधस्तु कालभेदेन परिह्रियते।

"यह वही देवदत्त है" इस उदाहरण में भी किसी प्रकार की लक्षणा की संभावना नही है। क्योंकि—लक्षणा का कारणीभूत किसी भी प्रकार का विरोध नहीं है। अतीत और स्थानान्तर में दृष्ट व्यक्ति के वर्त्तमान में देखे जाने पर उस व्यक्ति में कोई अन्तर तो आ नहीं जाता; 'यह वही है" ऐसा जो स्मृति परक ज्ञान है, वह काल द्वय (भूत और वर्त्तमान) में दृष्ट एक ही व्यक्ति के अभेद का ही द्योतक है—ऐसा वस्तुस्थिरत्व वादियों का मत है। अन्यथा, प्रतीति के अनुसार भेद मान लेने से तो, सारी ही वस्तुएं क्षणिक माननी पड़ेंगी दो स्थानों की जो विभिन्नता है, वह कालभेद से निवृत्त हो जाती है।

यतः समानाधिकरणपदानामनेकविशेषणविशिष्टैकार्थवाचि-

त्वम्, अतः एव "अरुणयैकहायन्या पिंगाक्ष्या सोमं क्रीणाति" इत्यारुण्यादिविशिष्टैकहायन्या क्रयः साध्यतया विधीयते ।

इससे सिद्ध होता है कि समानाधिकरण पदों की अनेक विशेषण विशिष्ट एकार्थ बोधकता है। जैसे कि—"रक्तवर्णा पिंगाक्षी एक वर्ष वाली गौ के बदले वह सोम खरीदता है" इसमें अरुणत्वादिविशिष्ट गौ से सोमक्रय की साध्यता बतलाई गई है।

तदुक्तम् "अर्थैकत्वे द्रव्यगुणयोरैककर्म्यान् नियमः स्यात्" इति। तत्रैवं पूर्वपक्षी मन्यते-यदप्यरुणयेति पदमाकृतेरिव गुणस्यापि द्रव्यप्रकारतैकस्वभावत्वाद् द्रव्यपर्यन्तमेवारुणिमानमभिदधाति, तथाऽप्येकहायनि अन्वयनियमोऽरुणिम्नो न संभवति, एकहायन्या क्रीणाति तच्चारुणयेत्यर्थद्वयविधानासंभवात्। ततश्चारुणयेति वाक्यं भित्वा प्रकरणविहितसर्वद्रव्यपर्यन्तमेवारुणिमानमविशेषणाभिदधाति। अरुणयेति स्त्रीलिंगनिर्देशः प्रकरणविहित सर्वलिंगद्रव्याणां प्रदर्शनार्थः। तस्मादेकहायनि अन्वयनियमोऽरुणिम्नो न स्यात् इति।

पूर्वमीमांसादर्शन में कहा गया है कि—"अर्थ (प्रयोजन) यदि एक हो तो गुण और द्रव्य (अर्थात् विशेष्य और विशेषण) का एक कर्म से ही प्रयोजन सिद्ध होगा, ऐसा नियम है।" इस नियम के अनुसार पूर्व पक्षी ऐसा मानते हैं कि—आकृति के समान गुण भी जब द्रव्य का प्रकार (विशेषण) होता है तब आकृति और गुण एक स्वभाव के होते हैं "अरुणया" पद अरुणिमा युक्त द्रव्य का सही अर्थ "लाल गौ" ठीक ही करता है, फिर भी "अरुणिमा" की एकहायनीयता के साथ अन्वय की आवश्यकता सिद्ध नहीं हो पाती। "एकवर्षीया से खरीदता है" और वह भी "लाल रंग वाली से" ये दो भिन्न विशेषताओं को बतलाने वाले, समानता के विपरीत विशेषण हैं। इन दोनों को मानने से 'अरुणया" इत्यादि वाक्य से, प्रकरणस्थ सभी द्रव्यों का अरुणिमा से संबंध हो जाता है। अरुणया" पद में जो स्त्रीलिंग का निर्देश किया गया है, वह प्रकरणस्थ

संपूर्ण लिंगक द्रव्यों का बोधक है, यह भी मानना पड़ेगा। "अरुणिमा" के साथ "एक वर्षीया" का संबंध हो ही ऐसा कोई नियम नहीं है।

अत्राभिधीयते "अर्थैकत्वे द्रव्यगुणयोरैककर्म्यान्नियमः स्यात्" —"अरुणयैकहायन्या" इत्यारुण्यविशिष्टद्रव्यैकहायनीद्रव्यवाचिपदयोः सामानाधिकरण्येनार्थैकत्वे सिद्धे सत्येकहायनीद्रव्यारुण्यगुणयोररुणयेति पदेनैव विशेषणविशेष्यभावेन संबंधिताऽभिहितयोः क्रयाख्यैक कर्मान्वयाविरोधादरुणिम्नः क्रयसाधनभूतैकहायन्यन्वय नियमः स्यात्।

इस पर यजुर्वेद ६।१।६ में निर्णय किया गया है कि—"अर्थ (प्रयोजन) यदि एक हो तो गुण और द्रव्य (विशेषण-विशेष्य) दोनों का एक कर्म से प्रयोजन सिद्ध होगा" "अरुण्यैकहायन्या" इस उदाहरण में अरुण्यत्व विशिष्ट द्रव्यवाची अरुण शब्द और एकहायनी द्रव्यवाची एकहायनी शब्द की सामानाधिकरण्य के नियम से एकार्थ प्रतिपादनता जब सिद्ध हो जाती है—तब "अरुण्या" पद द्वारा विशेषण विशेष्य भाव संबंध विशिष्ट रूप से कथित "एकहायनी द्रव्य का "अरुणत्व गुण के साथ क्रय कार्य में कोई विरोध नहीं होता, तथा अरुणिमा क्रय के साधनी भूत "एकहायनी" पद के समन्वय का नियम भी सिद्ध हो जाता है।

यद्येकहायन्याः क्रयसंबंधवदरुणिमसंबंधोऽपि वाक्यावसेयः स्यात्, तदा वाक्यस्यार्थद्वयविधानं स्यात्। न चैतदस्ति अरुणयेति पदेनैवारुणिमविशिष्टद्रव्यमभिहितम्। एकहायनीपदसामानाधिकरण्येन तस्यैकहायनीत्वमात्रमवगम्यते। न गुणसंबंधः, विशिष्टद्रव्यैक्यमेव हि सामानाधिकरण्यस्यार्थः—"भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तानां शब्दानामेकस्मिन्नर्थे वृत्तिः सामानाधिकरण्यम्" इति हि सामानाधिकरण्यलक्षणम्।

यदि एकहायनी और क्रय के संबंध की तरह अरुणिम संबंध भी वाक्य लभ्य होता तो, इस एक ही वाक्य के दो अर्थ होते। सो तो है नहीं, "अरुण्या" पद से तो अरुणिम विशिष्ट द्रव्य का निर्देश है।

'एकहायनी'' पद की सामानाधिकरण्य के नियम से एकहायनीयता मात्र ही प्रतीत होती है, गुण संबंध तो प्रतीत होता नहीं। विशिष्ट द्रव्यों की एकता करना ही सामानाधिकरण्य का कार्य है। जैसा कि—कैय्यट ने वृद्ध्याह्निक पर लक्षण बतलाया कि—"विभिन्नार्थ बोधक शब्द समूहों की एक मात्र अर्थ बोधकता ही सामानाधिकरण्य है।" [अर्थात्--एक-हायनी शब्द गाय का विशेषण नहीं है अपितु उसकी उम्र का बोधकमात्र है, जब कि अरुणिम शब्द उसकी वर्ण विशेषता का परिचायक है; एक हायनी के बदले सोमक्रय करना कोई विशेषता नहीं रखता अपितु अरुणिम होने से गाय की विशिष्टतापरक बहुमूल्यता सिद्ध होती है। इसलिए एकहायनी और अरुणिमा का कोई साथ नहीं है, अतः उनका अभेद संबंध भी नही हो सकता]

अतएव हि 'रक्तः पटो भवति" इत्यादिष्वैकार्थ्यादेकवाक्यत्वम्। पटस्यभवनक्रियासंबंधे हि वाक्यव्यापारः रागसंबंधस्तु रक्तपदेनैवाभिहितः, रागसंबंधिद्रव्यं पट इत्येतावन्मात्रं सामानाधिकरण्यावसेयम्। एकमेकेनगुणेन द्वाभ्यां बहुभिर्वा तेन तेन पदेन समस्तेन व्यस्तेन वा विशिष्टमुपस्थाप्य सामानाधिकरण्येन सर्वं विशेषणविशिष्टाऽर्थं एक इति ज्ञापयित्वा तस्य क्रिया संबंधाभिधानमविरुद्धम्। "देवदत्तः श्यामो युवा लोहिताक्षो दंडी कुंडली तिष्ठति," शुक्लेन वाससा यवनिकां संपादयेत् "नीलमुत्पलमानय" "नीलोत्पलमानय," गामानय शुक्लां शोभनाक्षीम् "अग्नये पथिकृते पुरोडाशमष्टकपालं निर्वपेत्" इति। एवम्—"अरुण्यैकहायन्या पिंगाक्ष्या सोमं क्रीणाति" इति।

'कपड़ा लाल होता है'' इस उदाहरण में अर्थगत ऐक्य होने से, एक वाक्यता है वस्त्र का होना क्रिया से संबंध दिखलाना ही वाक्य का प्रयोजन है। उसके रंग का संबंध तो रक्तवर्ण से ही प्रतीत होता है "राग संबंधी द्रव्य पट है'' केवल इतना अर्थ ही सामानाधिकरण्य से ज्ञात होता है। इसी प्रकार अन्यान्य सामानाधिकरण्य के प्रसंगों में प्रयुक्त

पदसमूह समष्टि रूप हों अथवा पृथक्-पृथक् हों, दोनों ही स्थिति में, एक दो या अनेक गुण विशेषित वस्तु का बोध कराकर, सामानाधिकरण्य से समस्त विशेषणों से विशिष्ट वस्तु एक है, यही प्रतिपादन किया जाता है। इसलिए समस्त विशेषण विशिष्ट वस्तु का जो क्रिया विशेष के साथ संबंध दिखलाया जाता है उसमें कोई विरोध नहीं है। "श्यामवर्ण-वाला युवा रतनारे नैन का कुण्डलधारी देवदत्त लाठी लेकर खड़ा है", "धवल वस्त्र से परदा बनावेगा" "नीले रंग का कमल लाओ", श्वेत आँखों वाली गाय लाओ", "पथिकृत अग्नि के लिए अष्टकपाल (आठपात्रों मे शोधित) पुरोडाश (पिष्टक के प्रकरण का एक खाद्य विशेष) दूँगा" इत्यादि उदारहणों की तरह "रक्तवर्णा, एकहायनी, कपिलनेत्री गाय से सोम खरीदता है" इस उदाहरण मे भी सामानाधिकरण्य विशिष्ट का एकत्व प्रतिपादन करना चाहिये।

एतदुक्तं भवति–यथा–"काष्ठैःस्थाल्यामोदनंपचेत्" इत्यनेक-कारकविशिष्टैकाक्रिया युगपत् प्रतीयते, तथा समानाधिकरण-पदसंघाताभिहितमेकैकंकारकं तत्तत्कारकप्रतिपत्तिवेलायामेवानेक-विशेषणविशिष्टं युगपत् प्रतिपन्नं क्रियायामन्वेतीति न कश्चिद् विरोधः "खादिरैः शुष्कैः काष्ठैः समपरिमाणे भाण्डे पायसं शाल्योदन समर्थः पाचकः पचेत्, इत्यादिषु" इति।

कथन यह है कि–"सूखी लकड़ियों से बटुये में चावल पकाता है" इस उदाहरण में जैसे एक साथ ही काष्ठादि अनेक कारक विशिष्ट एक क्रिया का ज्ञान होता है, सामानाधिकरण्य के प्रसंग में भी वैसे ही, पद समूह में प्रयुक्त एक-एक कारक की जब प्रतिपत्ति की जाती है, तब उन सबका एक साथ अनेक विशेषण विशिष्ट क्रिया में, निर्विरोध समन्वय हो जाता है। जैसे कि–"सूखी लकड़ियों से उचित परिमाण वाले पात्र में शाली के चावल की खीर चतुर रसोइया पकाता है" इत्यादि में एक क्रिया से संबद्ध कारकों में कोई विरोध नहीं है।

यत्तूपात्तद्रव्यकवाक्यस्थगुणशब्दः केवल गुणाभिधायीत्यरुणा-धिकरण पदेन केवलगुणस्यैवाभिधानमिति तन्नोपपद्यते, लोकवेदयो-

द्रंव्यवाचिपद समानाधिकरणस्य गुणवाचिनः क्वचिदपि केवल-गुणाभिधानादर्शनात् । उपत्तिद्रव्यकवाक्यस्थं गुणपदं केवलगुणाभि-धायीत्यप्यसंगतम् । "पटः शुक्लः" इत्यादिषूपात्तद्रव्यकेऽपि गुण-विशिष्टस्यैवाभिधानात् । "पटस्य शुक्लः" इत्यत्र शौकल्यविशिष्ट पटाप्रतिपत्तिरसमानविभक्ति निर्देशकृता, न पुनरुपात्तद्रव्यकत्व कृता तत्रैव "पटस्य शुक्लो भागः" इत्यादिषु समानविभक्तिनिर्देशे शौक्ल्यविशिष्ट द्रव्यं प्रतीयसे । यत्पुनः क्रयस्यैक हायन्यवरुद्धतयाऽरुणिम्नः क्रयान्वयो न संभवतीति, तदपि विरोधिगुणरहित द्रव्य-वाचिपद समानाधिकरणगुणपदस्य तदाश्रयगुणाभिधानेन क्रिया-पदान्वयाविरोधादसंगतम् । राद्धान्ते चोक्तन्यायेनारुणिम्नः शाब्दे द्रव्यान्वये सिद्धे द्रव्यगुणयोः क्रमसाधनत्वानुपपत्त्या अर्थात् परस्परा-न्वयः सिद्धयतीत्यप्यसंगतम् । अतोयथोक्त एवार्थः ।

और जो यह कहते हैं कि–जिस वाक्य में द्रव्यवाचक पद का उल्लेख होता है, उस वाक्य का गुणवाचक शब्द, उस गुण का ही बोधक होता है, इसलिए 'अरुणया" पद से केवल गुण का ही अनुमान करेंगे (उसको द्रव्य की विशेषता नहीं मानेंगे) (मेरी दृष्टि में) ऐसा मानना संगत् न होगा, क्योंकि लौकिक व्यवहार या वैदिक भाषा में कहीं भी, द्रव्य वाचक शब्द के साथ, सामानाधिकरण्य रूप से प्रयुक्त गुणवाचक पद को, केवल गुणमात्र ही माना गया हो, ऐसा उदाहरण नहीं मिलता। द्रव्यवाचक पद वाले वाक्य में आए हुये गुणवाचक पद की, एकमात्र गुणबोधकता असंगत भी है। द्रव्यवाचक पद घटित "सफेद वस्त्र" इस वाक्य में भी गुणविशिष्टार्थ का प्रतिपादन किया गया है।" कपड़े की सफेदी" इस वाक्य में, शुक्ल गुण विशिष्ट पद की प्रतीत नहीं होती, क्योंकि—इसमें असमान विभक्ति दीखती है। द्रव्य संबंध से यहाँ गुण विशिष्टता की प्रतीति न हो रही हो, सो बात नहीं है। कपड़े का सफेद हिस्सा इस वाक्य में समान विभक्ति है, इसमें शुक्ल गुण विशिष्ट द्रव्य की प्रतीति होती है।

और फिर जो यह कहा कि—समीपवर्त्ती "एकहायनी" पद के साथ "क्रय" का संबंध हो सकता है "अरुणिम" पद के साथ नहीं हो सकता, सो यह भी असंगत बात है, क्योंकि—यह नियम है कि—गुण-वाची पद के साथ यदि द्रव्यवाची पद का सामानाधिकरण्य होता है और उस द्रव्य का किसी अन्य विरुद्ध गुण का संबंध नहीं होता तो सामाना-धिकरण विशिष्ट गुणवाची पद की आश्रित जो गुण बोधकता है, उसका क्रियापद से निर्विरोध समन्वय हो जाता है। उपर्युक्त नियमानुसार सिद्धान्तत "अरुणिमा" शब्द का अन्वय सिद्ध हो जाने पर भी, द्रव्य और गुण दोनों का क्रय साधनता में समन्वय न मानें, अर्थात् परस्पर समन्वय की बात सिद्ध हो जाने पर भी, यह असंभावना बनी रहे, यह भी असंगत बात है [निर्णयपूर्वक सिद्ध हो जाने पर भी यह कहते रहें कि—द्रव्य और गुण का क्रय साधन में समन्वय नहीं हो सकता, यह हठवाद मात्र है] उपर्युक्त बात ही यथार्थ है।

तस्मात् तत्त्वमस्यादि सामानाधिकरण्ये पदद्वयाभिहित विशेषणापरित्यागेनैवैक्यप्रतिपादनं वर्णनीयम् तत्त्वानाद्यविद्योपहिता-नवधिकदुःखभागिनःशुद्ध्यशुद्धमुभयावस्थाच्चेतनादर्थान्तरभूतमशेषहे-यताप्रत्यनीकानवाधिककल्याणैकतानंपरमात्मानमनभ्युपगच्छतो न संभवति।

अभ्युपगच्छतोऽपि सामानाधिकरणपदानां यथावस्थितविशे-षणविशिष्टयैक्यप्रतिपादनपरत्वाश्रयणे त्वम्पदप्रतिपन्न सकल दोष भागित्वं परस्य प्रसज्येतेति चेत्—नैतदेवम्, त्वम्पदेनापि जीवा-न्तर्यामिणः परस्यैवाभिधानात्।

उसी प्रकार "तत्त्वमसि" इत्यादि सामानाधिकरण्यबोधक वाक्य के दो पदों में जो विशेषण भाव निहित है, उस भाव को साथ में रखते हुए, विशेषण द्वारा ही, एकत्व के प्रतिपादन का समर्थन करना चाहिए। किन्तु अनादि अविद्या से आवृत, अपार दुःख भागी, शुद्ध अशुद्ध अवस्था वाले, चेतन जीव से पृथक् परमात्मा को हीनता रहित अत्युत्कृष्ट अनंत कल्याण गुणों का आश्रय न माना जाय यह असंभव बात है।

यदि कहें कि–यदि ऐसा मानने पर भी, समानाधिकरण पदों के समस्त विशेषण विशिष्ट पदार्थों की एकता होने से, "त्वं" पदवाची जीवात्मा के संपूर्ण दोष परमात्मा में भी प्रसक्त हो जावेंगे ? नहीं "त्वं" पद से भी, जीवान्तर्यामी परमात्मा ही मान लें तो, दोष प्रसक्ति का प्रश्न ही नहीं उठेगा ।

एतदुक्तं भवति सच्छब्दाभिहितं निरस्तनिखिलदोषगन्धं सत्यसंकल्पमिश्रानवधिकातिशयासंख्येयकल्याणगुणगणं समस्त कारणभूतं परंब्रह्म "बहुस्याम्" इति संकल्प्य तेजोबन्नप्रमुखं कृत्स्नं जगत् सृष्ट्वा तस्मिन् देवादि विचित्रसंस्थानसस्थिते जगति चेतनं जीववर्गं स्वकर्मानुगुणेषु शरीरेष्वात्मतया प्रवेश्य स्वयं च स्वेच्छयैव जीवान्तरात्मतयाऽनुप्रविश्य एवम्भूतेषुस्वपर्यन्तेषुदेवाद्याकारेषु-संथातेषु नामरूपे व्याकरोत् । एवं रूपं संथातस्यैव वस्तुत्वं शब्द वाच्यत्व चाकरोदित्यर्थः । अनेनजीवेनात्मना जीवेनमयेति निर्देशो जोवस्य ब्रह्मात्मकत्वं दर्शयति । ब्रह्मात्मकत्वं च जोवस्य जीवान्त-रात्मेतया ब्रह्मणोऽनुप्रवेशादित्यवगम्यते "इदसर्वमसृजत् यदिदं किंच तत्सृष्ट्वा तदेवानु प्राविशत तदनु प्रविश्य सच्चत्यच्चा-भवत् ।" इति अत्रेदं सर्वमिति निर्दिष्टं चेतनाचेतनवस्तुद्वयं सत्यच्छब्दाभ्यां विज्ञानाविज्ञानशब्दाभ्यां च विभज्य निर्दिश्य चिद् वस्तुन्यपि ब्रह्मणोऽनुप्रवेशाभिधानात् । अतएव नामरूप व्याकर-णात् सर्वे वाचकाः शब्दाः, अचिज्जीवविशिष्टपरमात्मवाचिन् इत्यवगतम् ।

कथन यह है कि–समस्त दोषों से रहित. अवधि और संख्या रहित, सर्वाधिक, सत्य संकल्प इत्यादि कल्याणमय गुणों से युक्त, सर्व-कारण वह ब्रह्म "सत्" शब्द से संबोधित किये गए हैं, उन्होंने 'एक से अनेक हो जाऊँ" इस संकल्प से तेज जल आदि समस्त जगत की सृष्टि करके, देवता आदि विभिन्न रूपों वाले शरीरों में, चेतन जीवों के गुण-कर्मानुसार आत्मा रूप से प्रविष्ट कराके स्वयं ही स्वेच्छा से, जीवों में

अन्तर्यामी रूप से स्थित होकर देवता आदि जीवों और स्वयं अपने भी नामरूप को व्यक्त किया। अर्थात् जड़ चेतन और ईश्वरात्मक जगत् समष्टि की सत्ता की वस्तुता और शब्दवाच्यता का संपादन किया। 'इस जीवात्म रूप में अपने को ही" इत्यादि श्रौतवाक्य में भी जीव का ब्रह्मात्मभाव दिखलाया गया है।जीवान्तरात्मा के रूप में ब्रह्म के अनुप्रवेश से ही जीव के ब्रह्मात्म भाव का स्पष्ट ज्ञान होता है। जैसा कि-श्रौतवाक्यों से भी स्पष्ट है—' सृष्टि करके वे उसी में प्रविष्ट हो गए" "प्रविष्ट होकर वे सत् और त्यत् हो गए" इत्यादि। यहाँ "इदं सर्वम्" का तात्पर्य जड चेतन दोनों से है। सत् और त्यत् शब्द से भी विज्ञान और अविज्ञान के भेद को बतला कर चिद् (जीव) में ब्रह्म के अनुप्रवेश का स्पष्ट उल्लेख किया गया है। इससे ज्ञात होता है कि-नाम रूप के बोधक सारे शब्द, अचित् जीवविशिष्ट परमात्मा के बोधक हैं।

किंच "ऐतदात्म्यामिदं सर्वम्" इति चेतन मिश्रं प्रपंचं इदं सर्वमिति निर्दिश्य "तस्यैष आत्मा" इति प्रतिपादितम्। एवं च सर्वंचेतनाचेतनंप्रति ब्रह्मण आत्मत्वेन सर्वं अचेतनं जगत् तस्य-शरीरं भवति। तथा च श्रुत्यन्तराणि—"अंतः प्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा" यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद, यस्य पृथिवी शरीरम् यः पृथिवीमन्तरो यमयति। स त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः "इति आरभ्य" य आत्मनि तिष्ठन् आत्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्याऽत्मा शरीरम्, य आत्मानमंतरो यमयति, स त आत्माऽतर्याम्यमृतः" इत्यादि। "यः पृथिवीमंतरे संचरन्, यस्य पृथिवी शरोरम्। योऽपामन्तरे संचरन् यस्यापश्-शरीरं" इत्यारभ्य 'योऽक्षरमंतरे संचरन् यस्याक्षरं शरोरम्, यमक्षरं न वेद, एष सर्वभूतान्तरात्माऽपहतपाप्मा दिव्यो देव एको नारायणः" इत्यादीनि सचेतनं जगत् तस्य शरीरत्वेन निर्दिश्य तस्यात्मत्वेन परमात्मानमुपदिशन्ति, अतश्चेतन वाचनोऽपि शब्दाः चेतनस्याप्या त्मभूतं चेतनशरीरकम् परमात्मानमेवाभिदधति। यथा अचेतन

देवादिसंस्थानपिण्डवाचिनः शब्दाः तच्छरीरकजीवात्मन एव वाचकाः "चत्वारः पंचदशरात्रात् देवत्वं गच्छन्ति" इत्यादिषु, देवा भवन्ति इत्यर्थः।

अधिक क्या—"यह सब ब्रह्मात्मक है" इस वाक्य से चेतन मिश्रित प्रपंच जगत को "इदंसर्वंम्" द्वारा बतलाकर "वही इसका आत्मा है" ऐसा ब्रह्मात्मभाव का प्रतिपादन किया गया है। इस प्रकार सारा चेतन अचेतन जगत ब्रह्मात्मक होने से सचेतन है और उस ब्रह्म का शरीर है। तथा अन्य श्रौत वाक्य भी–'वही जन समूह के अन्तस्थ शासक और सर्वात्मा हैं, जो कि पृथिवी में अन्तर्यामी रूप से नियमन करते हैं, पृथिवी उन्हें नहीं जानती पृथिवी उनका शरीर है, वही अमृत स्वरूप परमात्मा तुम्हारे अन्तर्यामी हैं" "जो आत्मा में विराजते हैं, आत्मा से भिन्न हैं, आत्मा उन्हें नहीं जानता, आत्मा ही उनका शरीर है, जो अन्तर्यामी रूप से आत्मा का संयमन करते हैं, वही अमृत स्वरूप, तुम्हारे अन्तर्यामी आत्मा है।" तथा— 'जो पृथिवी में संचरण करते हैं, पृथिवी उनका शरीर है, जो जल में संचरण करते हैं, जल उनका शरीर है" "जो अक्षर (जीव) में संचरण करते हैं, अक्षर ही उनका शरीर है, अक्षर जिन्हें नहीं जानता, वह नारायण ही सब भूतों के अंतरात्मा, निष्पाप, अलौकिक, द्योतमान एक और अद्वितीय है" इत्यादि–सचेतन जगत को उनका शरीर बतलाकर उस जगत के आत्म स्वरूप परमात्मा का उपदेश दिया गया है। अचेतन वाचक शब्द समूह भी, चेतन शरीर धारी तथा चेतन के भी आत्मभूत परमात्मा के ही, अभिधायक हैं। जैसे कि–"पंद्रह दिन के अनुष्ठान से चारो देवत्व प्राप्त करते हैं" अर्थात् देवता होते हैं। इत्यादि।

शरीरस्य शरीरिणंप्रति प्रकारत्वात् प्रकारवाचिनां च शब्दानां प्रकारिण्येव पर्यवसानात् शरीरवाचिनांशब्दानां शरीरि-पर्यवसानं न्याय्यम्। प्रकारो हि नाम इदमित्थमिति प्रतीयमाने वस्तुनि इत्थमिति प्रतीयमानोंऽशः। तस्य तद् वस्त्वपेक्षत्वेन तत्प्रतीतेस्तदपेक्षत्वात् तस्मिन्नेव पर्यवसानं युक्तमिति तस्य प्रतिपादकोऽपि

शब्दस्तस्मिन्नेव पर्यवस्यति। अतएव "गौरश्वो मनुष्यः" इत्यादिप्रकारभूताकृतिवाचिनः शब्दाः प्रकारिणि पिण्डे पर्यवस्यन्तः पिण्डस्यापि चेतन शरीरत्वेन तत्प्रकारत्वात् पिण्डशरीरक चेतनस्यापि परमात्मप्रकारत्वाच्च परमात्मन्येव पर्यवस्यतीति सर्वशब्दानां परमात्मैव वाच्य इति परमात्मवाचिशब्देन सामानाधिकरण्यं मुख्यमेव।

शरीर शरीरी का एक ही प्रकार है अत. प्रकार वाचक शब्द का प्रकारी में ही पर्यवसित होना स्वाभाविक है, इसलिए शरीर वाचक शब्दों का शरीरी में ही पर्यवसान होना चाहिए। "यह ऐसा है" इस वाक्य में "ऐसा है" यह वाक्यांश वस्तु के प्रकार का ही बोधक है। प्रकार वस्तुसापेक्ष होता है। वस्तु की प्रतीति, प्रकार अपेक्षित होती है, इसलिए वस्तु में उसके प्रकारवाची शब्द का पर्यवसान स्वाभाविक ही है, उसका प्रतिपादक शब्द भी उसी में पर्यवसित हो जाता है। "गो-मनुष्य-अश्व" इत्यादि प्रकारभूत, आकृतिवाचक, प्रकारी के देहपिण्ड के अर्थ में पर्यवसित शब्द, उन शरीरों में जो चेतनता है उसके प्रकार का बोध कराते हैं। वह देह विशिष्ट चेतन, परमात्मा का प्रकार मात्र है, इसलिए शब्दों के अर्थों का पर्यवसान उस परमात्मा में ही है। सभी शब्दों का वाच्यार्थ परमात्मा ही है। इस प्रकार परमात्मवाची शब्दों के साथ जो सामाधिकरण्य है, वह मुख्य ही है (गौण नहीं)

ननु "षण्डो गौः षण्डः शुक्लः" इति जातिगुणवाचिनामेव पदानां द्रव्यवाचिपदैः सह सामानाधिकरण्यं दृष्टं, द्रव्याणांतु द्रव्यान्तर प्रकारत्वे मत्वर्थीयप्रत्ययो दृष्टः यथा—"दण्डी कुण्डली" इति, नैवम् जातिर्वागुणो वा द्रव्यं वा नैतेष्वेकमेव सामानाधिकरण्ये प्रयोजकम्, अन्योन्यस्मिन् व्यभिचारात्, यस्य पदार्थस्य कस्यचित् प्रकारतयैव सद्भावः, तस्य तदपृथक् सिद्धिस्थितिप्रतीतिभिः तद वाचिनां शब्दानां स्वाभिधेयविशिष्टद्रव्यवाचित्वात् धर्मान्तरविशिष्ट-

तदद्रव्यवाचिनाशब्देन सामानाधिकरण्यं युक्तमेव । यत्र पुनः पृथक्सिद्धस्य स्वनिष्ठस्यैव द्रव्यस्य कदाचित्क्वचिद्द्रव्यान्तरप्रकारत्वमिष्यते, तत्र मत्त्वर्थीयप्रत्यय इति निरवद्यम् ।

संदेह होता है कि "षण्ड गौ, शुक्ल षण्ड" आदि वाक्यों में जाति गुणवाची (गो और शुक्ल) पदों के साथ सामानाधिकरण्य स्पष्ट दीख रहा है, किन्तु द्रव्यवाची पदों के अन्य प्रकारक द्रव्यों के साथ मत्वर्थीय प्रत्यय वाले "दण्डी-कुण्डली" ऐसे प्रयोग भी देखे जाते हैं [अर्थात् विशेषण विशेष्य के अलग-अलग होने पर तो दोनों पदों का सामानाधिकरण्य मुख्य होता ही है, परन्तु मत् प्रत्यय से निष्पन्न विशेषण-विशेष्य युक्त "दण्डी कुण्डली" आदि प्रयोगों में सामानाधिकरण्य मुख्य है या गौण ?] उत्तर–बात ऐसी नहीं है–अपितु जाति, गुण अथवा द्रव्य इन तीनों की एकता सामानाधिकरण्य में प्रयोजक नहीं है, क्यों कि इनमें परस्पर व्यभिचार रहता है। जिस पदार्थ की किसी अन्य प्रकार (विशेषण) से ही स्थिति ज्ञात होती है; उसकी उस प्रकार (विशेषण) से अप्रथक सिद्ध स्थिति, प्रतीति से भी अभिन्न ही रहती है [अर्थात् उस पदार्थ की सत्ता और प्रतीति विशेषण से ही होती है] प्रकार (विशेषण) द्वारा पदार्थ के बोधक शब्दों की अभिधेयविशिष्ट वाचकता होने से, अन्य विशिष्ट गुणों को धारण करने वाले, उसी द्रव्य के बोधक शब्दों के साथ सामानाधिकरय युक्ति संगत हैं, असंगत नहीं। जहाँ कभी, पृथक् सिद्ध स्वनिष्ठ द्रव्य की, अन्य द्रव्य की प्रकारता से ही प्रतीति होती है, वहाँ मत्वर्थीय प्रत्यय ही उचित अर्थ बोधक होता है।

तदेवं परमात्मनः शरीरतया तत्प्रकारत्वादचिद्विशिष्ट जीवस्यापि जीवनिर्देशविशेषरूपा अहंत्वमित्यादि शब्दाः परमात्मानमेवाऽचक्षत इति । "तत्त्वमसि" इति सामानाधिकरण्येनोपसंहृतम्, एवं च सति परमात्मानं प्रति जीवस्य शरीरतयाऽन्वयाज्जीवगता धर्माः परमात्मानं न स्पृशन्ति । यथास्वशरीरगता बालत्वयुवत्वस्थविरत्वादयो धर्माः जीवं न स्पृशन्ति । अतः "तत्त्वमसि" इति सामानाधिकरण्ये तत्पदं जगत्कारणभूतं सत्यसंकल्पं सर्वकल्याण-

गुणाकरं निरस्तसमस्तहेयगन्धंपरमात्मानमाचष्टे, त्वमिति च तमेव सशरीर जीव शरीरकमाचष्ट इति सामानाधिकरण्यं मुख्यवृत्तम्, प्रकरणविरोधः सर्वश्रुत्यविरोधो ब्रह्मणि निरवद्ये कल्याणैकताने अविद्यादिदोषगंधाभावश्च। अतोजीव सामानाधिकरण्यमपि विशेषणभूताज्जीवात् अन्यत्वमेवापादयतीति विज्ञानमयाज्जीवादन्य एव आनंदमयः परमात्मा।

इस प्रकार अचिद् विशिष्ट जीव जो कि परमात्मा का शरीर है, वह उसकी प्रकारता (धर्म स्वरूप) का बोधक है, और ऐसा मानने पर अचिद् विशिष्ट जीव निर्देशक "मैं और तुम" इत्यादि संबोधन भी परमात्मा के ही बोधक हैं। ऐसा ही "तत्त्वमसि" इस सामानाधिकरण्य वाक्य में भी है। ऐसा मानने से, देह स्वरूप जीव के धर्म शरीरी परमात्मा का स्पर्श नहीं कर सकते जैसे कि-बचपन, जवानी बुढापा आदि शरीरिक धर्म जीव को स्पर्श नहीं करते।

"तत्त्वमसि" वाक्य में "तत्" शब्द जगत के कारण सत्यसंकल्प सर्वकल्याणगुणाकर निर्दोष परमात्मा का बोधक है तथा "त्वम्" पद भी उसी जीव रूपी शरीर वाले शरीरी परमात्मा का ही बोधक है। इस प्रकार सामानाधिकरण्य निर्बाध रूप से सिद्ध हो जाता है तथा निर्दोष, सर्व कल्याण प्रवण ब्रह्म के विषय में प्रकरण या श्रुति विरोध भी नहीं होता। सामानाधिकरण्य में विशेषणीभूत जीव से परमात्मा की भिन्नता भी प्रतिपादित हो जाती है, इससे सिद्ध होता है कि विज्ञानमय जीवात्मा से भिन्न परमात्मा ही आनंदमय है।

यदुक्तम्—"तस्यैष एव शारीर आत्मा" इत्यानंदमयस्य शारीरत्व श्रवणाज्जीवादन्यत्वं न संभवति-इति, तदयुक्तम्, अस्मिन् प्रकरणे सर्वत्र "तस्यैष एव शारीर आत्मा यः पूर्वस्य" इति परमात्मन एव शारीरात्मत्वाभिधाने कथं 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः" इत्याकाशादिसृज्यवर्गस्य परमकारणत्वेन

प्रज्ञातजीवव्यतिरेकस्य परस्य ब्रह्मण ग्रात्मत्वेन व्यपदेशात्तद्व्यतिरिक्ता-काशादीनामन्नमयपर्यन्तानां तच्छरीरत्वमवगम्यते । "यस्य पृथिवी शरीरं, यस्यापः शरीरं, यस्य तेजः शरीरं, यस्यवायुः शरीरं, यस्याकाशः शरीरं, यस्याक्षरं शरीरं, यस्य मृत्युः शरीरं, एष सर्वभूतान्तरात्माऽपहतपाप्मा दिव्योदेव एको नारायणः" इति सुबालश्रुत्या सर्वतत्त्वानां परमात्म शरीरत्वं स्पष्टमभिधीयते ।

जो यह कहते हैं कि–"यह शरीर (जीव) ही आत्मा है" इस उदाहरण में आनन्दमय को शरीरी रूप से वर्णन किया गया है, इसलिए जीवात्मा के अतिरिक्त दूसरा शरीरी नही हो सकता । यह कथन युक्तियुक्त नहीं है, क्यों कि–आनन्दमय के प्रकरण में सभी जगह "यही उसका शरीर (शरीराभिमानी) आत्मा है, जो कि पूर्वतन का आत्मा है" इस प्रकार परमात्मा को ही शरीरी कहा गया है, "इस आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ" इस उदाहरण में सृज्यमान आकाश की तरह, आकाश से लेकर अन्नमय तक सभी पदार्थों को परमात्मा का शरीर बतलाया गया है जो कि–जीव से भिन्न, परम कारण परमात्मा की आत्मरूपता का द्योतक है । "पृथिवी जिसका शरीर है, जल जिसका शरीर है तेज जिसका शरीर है, वायु जिसका शरीर है, आकाश जिसका शरीर है अक्षर (जीव) जिसका शरीर है, मृत्यु (पंचभूत) जिसका शरीर है, ऐसे सर्वान्तिर्यामी निर्दोष निष्पाप दिव्य देव एक नारायण हैं ।" ऐसी सुबाल श्रुति से, सभी तत्त्वों की परमात्म शरीरता स्पष्ट बतलाई गई है ।

ग्रतः "तस्माद् वा एतस्मादात्मनः" इत्यत्रैवान्नमयस्य परमात्मैव शारीर ग्रात्मेत्यवगतः । प्राणमयं प्रकृत्याह–"तस्यैष एव शारीर ग्रात्मा यः पूर्वस्य" इति । पूर्वस्यान्नमयस्य यः शारीर ग्रात्मा श्रुत्यन्तरसिद्धः परमकारणभूतः परमात्मा, स एव तस्य प्राणमय स्यापि शारीर ग्रात्मेत्यर्थः । एवं मनोमयविज्ञानमययोर्द्रष्टव्यम् ग्रानंदमयेतु "एष एव" इति निर्देशः तस्य ग्रनन्यात्मत्वं दर्शयितुं तत्कथंविज्ञानमयस्यापि पूर्वोक्तया नीत्या परमात्मैव शारीर ग्रात्मेत्य

वगतः । एवं सति विज्ञानमयस्य यः शारीर आत्मा स एव आनंदमयस्यापि शारीर आत्मेत्युक्ते आनंदमयस्य अभ्यासावगतपरमात्मभावस्य परमात्मनः स्वयमेवात्मेत्यवगम्यते । एवं च व्यतिरिक्तं चेतनाचेतनवस्तुजातं स्वशरीरमिति स एव निरूपाधिकः शारीर आत्मा अतएवेदं परं ब्रह्माधिकृत्य प्रवृत्तं शास्त्रं शारीरकमित्यभियुक्तैरभिधीयते । अतो विज्ञानमयाज्जीवादन्य एव परमात्मा आनन्दमयः ।

"तस्माद्वा" इत्यादि उदाहरण में उल्लेख्य अन्नमय के शारीर आत्मा परमात्मा ही ज्ञात होते है । प्राणमय के शरीरी भी परमात्मा हैं, ऐसा "तस्यैष एव आत्मा" श्रुति में बतलाया गया है । इस श्रुति का तात्पर्य है कि–"जो पूर्व कोष अन्नमय के शारीर आत्मा हैं जो कि–अन्यान्य श्रुतियों में परमकारणभूत परमात्मा के नाम से अभिव्यक्त हैं वे ही उस प्राणमय के शरीर आत्मा हैं ।" ऐसा ही मनोमय और विज्ञानमय के लिए भी समझना चाहिए । आनंदमय प्रकरण में तो "यही" शब्द उनके अनन्यात्मत्व का निर्देशक है । विज्ञानमय प्रकरण में भी पूर्वोक्त नीति के अनुसार परमात्मा ही शारीर आत्मा ज्ञात होते हैं इसी प्रकार जो विज्ञानमय का शारीर आत्मा है वही आनंदमय का भी शारीर आत्मा है, आनन्दमय का बार-बार उल्लेख होने से प्रतीत होता है कि–परमात्मभाव को प्राप्त स्वयं परमात्मा ही अपने आत्मा हैं । परमात्मा से भिन्न चेतन अचेतन सभी वस्तुएं उनकी शरीर स्थानीय हैं, वे ही सब के निरूपाधि (स्वाभाविक) शारीर आत्मा है । इसी लिए परब्रह्म के प्रतिपादक इस शास्त्र को विद्वद्गण 'शारीरक मीमांसा" नाम से परिचय कराते हैं । इससे निश्चित होता है कि–विज्ञानमय जीव से भिन्न परमात्मा ही आनंदमय है ।

आह–नायमानंदमयो जीवादन्यः विकार शब्दस्य मयट् प्रत्ययस्य श्रवणात् "मयड्वैतयोः" प्रकृत्य "नित्यंवृद्धशरादिभ्यः" इति विकारार्थे मयट् स्मर्यते । वृद्धश्चायमानन्दशब्दः ।

(वाद) कहते हैं कि–आनंदमय जीव से भिन्न नहीं है, क्यों कि मयद् प्रत्यय का प्रयोग विकार अर्थ में किया जाता है। "मयट् वैतयोर्भाषायामभक्ष्याच्छादनयोः "अर्थात् अभक्ष्य और आच्छादन को छोड़कर प्रकृतिमात्र में वैकल्पिक मयट् प्रत्यय विकार अर्थ में होता है। तथा "नित्यंवृद्धशरादिभ्यः" (वृद्धशर आदि में नित्यमयट् प्रत्यय विकार अर्थ में होता है इन दो पाणनीय व्याकरण सूत्रों में विकारार्थक मयट् प्रत्यय का विधान किया गया है। आनंदमय शब्द वृद्ध संज्ञक है।

ननु–प्राचुर्य्येऽपि मयडस्ति "तत्प्रकृतवचने मयट्" इति स्मृतेः। यथा "अन्नमयो यज्ञः" इति। स एवायम् भविष्यति। नैवम् अन्नमय इत्युपक्रमे विकारार्थत्वं दृष्टम् अत औचित्यादस्यापि विकारार्थत्वमेव युक्तम्।

(विवाद) नहीं– प्राचुर्य्य अर्थ में भी मयट् प्रत्यय होता है, "तत्प्रकृतवचने मयट्" (प्राचुर्य्य प्रतिपादक अर्थ में मयट् होता है) ऐसा पाणिनीय सूत्र है "अन्नमय यज्ञ" ऐसा प्राचुर्य्यार्थिक प्रयोग भी होता है, उसी प्रकार आनंदमय में भी होगा।

(वाद) ऐसा नहीं है, "अन्नमय विज्ञानमय" आदि के उपक्रम में स्पष्ट विकारार्थ की प्रतीति हो रही है, उचित भी यही है कि, शब्द से जो प्राथमिक वाच्यार्थलब्ध हो उसे ही अन्ततः माना जाय, इसलिए आनंदमय में विकारार्थ ही युक्ति संगत है।

किं च–प्राचुर्यर्थत्वेऽपि जीवादन्यत्वं न सिध्यति, तथाहि आनंद प्रचुर इत्युक्ते दुःखमिश्रत्वमवर्जनीयम्। आनंदस्य हि प्राचुर्य्यं दुःखस्याल्पत्वमवगमयति। दुःखमिश्रत्वमेव हि जीवत्वम्। अथं औचित्यप्राप्त विकारार्थत्वमेव युक्तम्।

यदि ऐसा न भी मानें, प्राचुर्य्य अर्थ ही मानलें, तब भी जीव की परमात्मा से भिन्नता सिद्ध नहीं होती प्रचुर आनंद कहने से दुःख मिश्रण अनिवार्य हो जाता है, आनंद की प्रचुरता दुःख की अल्पता बतलाती। दुःख मिश्रता ही जीवत्व है। इसलिए विकारार्थ ही उचित है।

किंच—लोके मृण्मयं हिरण्मयं दारुमयमित्यादिषु वेदे च "पर्णमयी जुहू" शमीमयी असस्नु च "दर्भमयी रसना" इत्यादिषु मयटो विकारार्थे प्रयोग बाहुल्यत्वात् स एव प्रथमतरं धियमधिरोहति। जीवस्य चानंदविकारत्वमस्त्येव। तस्य स्वत आनंदरूपस्य सतः संसारित्वावस्था तद्विकार एवेति। अतो विकार वाचिनो मयट् प्रत्ययस्य श्रवणादानंदमयो जीवादनतिरिक्त इति। तदेतदनुभाष्य परिहरति।

तथा-"मृन्मय" हिरण्मय "दारुमय" इत्यादि लौकिक तथा "पर्णमयी जुहू" शमीमय श्रुवाये "दर्भमयी रसना" इत्यादि वैदिक प्रयोगो में विकारार्थ का ही बाहुल्य मिलता है, इसलिए मयट् का विकारार्थ ही सबसे प्रथम बुद्धि में आरूढ होता है। जीव का आनद विकृत ही है, स्वभावतः जीव आनद स्वरूप है, संसारदशा में वह आनंद विकृत हो जाता है इसलिए विकारवाची मयट् प्रत्यय का वर्णन होने से निश्चित होता है कि—"आनन्दमय" तत्त्व जीव से अभिन्न वस्तु है। इस प्रकार के मत का विवेचन करते हुए परिहार करते है—

विकार शब्दान्नेतिचेन्न प्राचुर्यात् १।१।१४

नैतद्युक्तं, कुतः ? प्राचुर्यात्-परस्मिन् ब्रह्मण्यानन्दप्राचुर्यात्। प्राचुर्यार्थे च मयटस्संभवात्। एतदुक्तं भवति—शतगुणितोत्तरक्रमेणाभ्यस्यमानस्यानंदस्य जीवाश्रयत्वासंभवात् ब्रह्माश्रयोऽयमानंद इतिनिश्चिते सति तस्मिन् ब्रह्मणि विकारासंभवात् प्राचुर्येऽपि मयड्विधिसंभवाच्चानंदमयः परंब्रह्म—इति।

यह कहना ठीक नही है कि–जीवात्मा ही आनंदमय है, क्यों कि–परब्रह्म में आनंद की प्रचुरता है, इसलिए यह शब्द उन्हीं के लिए प्रयुक्त किया गया है। प्राचुर्यार्थ में भी मयट् होता है। शतगुणित्तोत्तर क्रम से बार बार जिस आनंद की अनुवृत्ति की गई है, वह जीव में कदापि सभव नहीं है। वह तो ब्रह्म में ही संभव है, उस ब्रह्म में विकार की शून्यता तथा प्राचुर्यार्थ में भी मयट् विधि के होने से यह निश्चित होता है कि—परब्रह्म ही आनदमय है।

औचित्यात् प्रयोग प्रौढ्याच मयटो विकारार्थत्वमर्थविरोधान्न संभवति। किंच औचित्यं प्राणमय एव परित्यक्तम् तत्र विकारार्थत्वासंभवात्। अतस्तत्र पंचवृत्तेर्वायोः प्राणवृत्तिमत्तामात्रेण प्राणमयत्वम्, प्राणापानादिषु पंचषु वृत्तिषु प्राणवृत्तेः प्राचुर्याद्वा। न च प्राचुर्ये मयट् प्रत्ययस्य प्रौढिर्नास्ति "अन्नमयो यज्ञः, शकटमयी यात्रा" इत्यादिषु दर्शनात्।

औचित्य और प्रयोग प्रौढ़ि से भी मयट् का विकारार्थत्व, अर्थ विरोध होने से, संभव नहीं है। प्राणमय में तो प्रचुरार्थ मानना ही उचित था, जिसकी आपने अवहेलना कर दी, वहाँ विकारार्थ किसी भी प्रकार हो ही नहीं सकता। पंचवृत्ति वाले वायु में प्राणवृत्तिमत्ता श्रेष्ठ और विशिष्ट है इसलिए तथा प्राण, अपान आदि पांचवृत्तियों में प्राण वृत्ति की प्रचुरता होने से ही उसकी प्राणमयता है। यह भी नहीं कह सकते कि—मयट् प्रत्यय के प्राचुर्यार्थिक प्रयोग अधिक नहीं देखे जाते, जिससे प्राचुर्यार्थ की प्रौढ़ि सिद्ध हो सके, "अन्नमय यज्ञ" "शंकटमयी यात्रा" आदि अनेक प्राचुर्य्यार्थक प्रयोग होते हैं।

यदुक्तमानंदप्राचुर्यमल्पदुःखसद्भावमवगमयतीति, तदसत् तत्प्रचुरत्वं हि तत्प्रभूतत्वम् तच्चेतरस्य सत्तां नावगमयति, अपितु तस्याल्पत्वं निवर्तयति इतरसद्भावासद्भावौतु प्रमाणान्तरावसेयौ; इह च प्रमाणान्तरेण तदभावोऽवगम्यते "अपहतपाप्मा" इत्यादिना तत्रैतावदेववक्तव्यं, ब्रह्मानंदस्य प्रभूतत्वमन्यानन्दस्याल्पत्वपेक्षत इति। उच्यते च तत् "स एको मानुष आनंदः" इत्यादिना जीवानन्दापेक्षया ब्रह्मानंदो निरतिशयदशापन्नः प्रभूत् इति।

जो यह कहा कि प्राचुर्य आनंद अर्थ करने से अल्प दुःख की प्रतीति होती है, सो यह कथन भी असत् है। आनंद की प्रचुरता, प्रभूतत्व का बोध कराती है उसके अतिरिक्त उसमें दूसरे की सत्ता की प्रतीति नहीं होती अपितु उसकी अल्पता का निराकरण करती है। दूसरी वस्तुओं के सद्-

भाव और असद्भाव का निराकरण तो प्रमाणान्तरों पर आधारित होता है, पर इसमें प्रमाणान्तरों से अभाव की ही प्रतीति होती है "अपहत-पाप्मा" इत्यादि प्रमाण दुःख के अभाव के ही परिचायक हैं, यहाँ केवल इतना ही कहना पर्याप्त है कि—ब्रह्मानंद की जो प्रभूतता है वह अन्यान्य आनंदों से अपेक्षाकृत श्रेष्ठ, है उसके समक्ष सारे आनंद अल्प हैं—इसके लिए कहा भी गया है कि—"मानुष आनंद एक अंश मात्र है।" जीव नद की अपेक्षा ब्रह्मानद अत्यन्त आनंदपूर्ण हैं।

यच्चोक्तं जीवस्यानंदविकारत्व संभवतीति, तदपि नोपपद्यते, जीवस्य ज्ञानानन्दस्वरूपस्य केनचिदाकारेण मृद इव घटाद्याकारेण परिणामः सकल श्रुतिस्मृतिन्यायविरुद्धः संसारदशायां तु कर्मणा ज्ञानानंदौ सकुचितावित्युपपादयिष्यते। अतश्चानन्दमयो जीवादन्यः परब्रह्म।

जो यह कहते हो कि—जीव की विकारता ही संभव है सो यह कथन भी असंगत है, मिट्टी का जैसा घट आदि आकार वाला विकृत परिणाम होता है, वैसा ज्ञान और आनंद स्वरूप जीव का भी संभव हो, ऐसा श्रुति स्मृति और युक्ति से विरुद्ध है। संसार दशा में कर्म से, ज्ञान और आनंद संकुचित हो जाते है, इसका विवेचन आगे करेंगे। जीव से भिन्न परमात्मा ही आनंदमय है।

इतश्च जीवादन्य आनंदमयः परंब्रह्म

इसलिए भी जीव से भिन्न परब्रह्म आनंदमय है कि—

तद्धेतुव्यपदेशाच्च १।१।१५।

"को ह्येवान्यात् को प्राण्यात् यदेष आकाश आनंदो न स्यात् एष ह्येवानन्दयति" इति। एष एव जीवानन्दयतीति। जीवानन्द हेतुरयं व्यपदिश्यते। अतश्चानन्दयितव्याज्जीवादानंदयिताऽयमन्य आनंदमयः परमात्मेति विज्ञायते। आनंदमय एवात्र आनंद शब्देनोक्त इति चानन्तरमेव वक्ष्यते।

"यदि यह आकाश (ब्रह्म) आनंद (जीवान्तरवर्त्ती दहराकाश) न होता तो कौन चेष्टा करता और कौन प्राण धारण करता" इस उदाहरण से ज्ञात होता है कि—परमात्मा ही जीवो के आनद का हेतु और जीवों का आनंददाता है। आनंद करने वाले जीवात्मा से, आनंद-दाता ब्रह्म भिन्न ही है, जो कि—आनंदमय शब्द से जाना जाता है। उक्त उदाहरण में आनद शब्द से आनंदमय की ही व्याख्या की गई है, और उसकी भिन्नता बतलाई गई है।

इतश्च जीवादन्य आनदमयः—

इसलिए भी आनंदमय जीव से भिन्न है कि—

मान्त्रवर्णिकमेव च गीयते १।१।१६

"सत्यंज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इतिमंत्रवर्णोदितं ब्रह्मैवानंदमय इति गीयते। तत्तु जोवस्वरूपादन्यत् परंब्रह्म "ब्रह्म विदाप्नोति परं" इति जीवस्य प्राप्यतया ब्रह्म निर्दिष्टम्।

"सत्यं ज्ञानमनंतं ब्रह्म" इस मंत्र में उल्लेख्य ब्रह्म को ही बार-बार "आनंदमय" नाम से बतलाया गया है। इसलिए जीव स्वरूप से भिन्न परब्रह्म है, ऐसा निश्चित होता है। "ब्रह्मवेत्ता ही परब्रह्म को प्राप्त करता है" इस मंत्र में भी जीव के प्राप्य ब्रह्म का निर्देश किया गया है।

"तदेषाभ्युक्ता" इति तत् ब्रह्म अभिमुखीकृत्य प्रतिपाद्यतया परिगृह्य, ऋगेषा अध्येतृभिरुक्ता। ब्राह्मणोक्तस्यार्थस्य वैशद्यमनेन मंत्रेण क्रियत इत्यर्थः, जोवस्योपासकस्य प्राप्यं ब्रह्म तस्माद् विलक्षणमेव अनंतरंच "तस्माद् वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः" इत्यारभ्य उत्तरोत्तरैर्ब्राह्मणैर्मन्त्रैश्च तदेव विशदो क्रियते। अतो जोवादन्य आनंदमयः।

"तदेषाभ्युक्ता" (तत्=ब्रह्म को अभिमुख करके एषा=ऋक् मत्र+उक्ता=पाठकों द्वारा कहा गया) इस मंत्र में ब्रह्म को प्रतिपाद्य

मानकर पाठकों ने उसका विश्लेषण किया है यह मंत्र उपरोक्त ब्राह्मण मत्र का ही परिष्कृत अर्थ है। इससे निश्चित होता है कि—उपासक जीव का उपास्य ब्रह्म जीव से निश्चित ही विलक्षण है। अन्य प्रकरण में भी जैसे—'इसी आत्मा से आकाश हुआ'' इस वाक्य से प्रारभ करके उत्त-रोत्तर ब्राह्मण और वैदिक मंत्रों में इसी तथ्य को विशद किया गया है इसलिए जीव से भिन्न ही आनंदमय है, ऐसा सिद्ध होता है।

अत्राह—यद्यप्युपासकात्प्राप्यस्य भेदेन भवितव्यम्। तथापि न वस्त्वंतरं जीवान्मान्त्रवर्णिकं ब्रह्म, किन्तु तस्यैवोपासकस्य निरस्त-समस्ताविद्यागंधनिविशेषचिन्मात्रैकरसंशुद्धं स्वरूपं तदेव "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इति मंत्रेण विशोध्यते। तदेव च "यतो वाचो निर्वर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह" इति वाङ्मनसागोचरतया निर्वि-शेषमिति मन्यते। अतस्तदेव मांत्रवर्णिकमिति तस्मादनतिरिक्त आनंदमय इति। अत उत्तरं पठति—

उक्त मत पर विपक्षी कहते हैं कि—उपासक से उपास्य का भेद होना चाहिए परन्तु मंत्रोक्त ब्रह्म, जीव से भिन्न नहीं है, उपासक का जो अविद्या रहित निर्विशेष चिन्मात्र एकरस शुद्ध स्वरूप है उसी को "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" मंत्र द्वारा बतलाया गया है। उसी का "यतो वाचो" आदि मंत्र से अवाङ् मनस अगोचर प्रतिपादन किया गया है, शुद्धावस्था-पन्न जीव ही मंत्रों का प्रतिपाद्य है, उससे भिन्न कोई अन्य आनंदमय नहीं है।

इस कथन का उत्तर देते हैं—

नेतरोऽनुपपत्तेः १।१।१७

परमात्मन इतरो जीवशब्दाभिलप्यो मुक्तावस्थोऽपि न भवति मांत्रवर्णिकः। कुतः? अनुपपत्तेः। तथाविधस्यात्मनो निरुपाधिकं विपश्चित्वं "सोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेय" इति सत्यसंकल्पत्व प्रदर्शनेन विवरिष्यते। विविधं पश्यच्चित्वं हि विपश्चित्वम्।

पृषोदरादित्वात्पश्यच्छब्दावयवस्य यच्छब्दस्यलोपं कृत्वा व्युत्पादितो विपश्चिच्छब्दः। यद्यपि मुक्तस्य विपश्चित्वं संभवति, तथापितस्यैवात्मनः संसारदशायामविपश्चित्वमप्यस्तीत निरुपाधिकं विपश्चित्वं नोपपद्यते। निर्विशेषचिन्मात्रतापन्नस्यमुक्तस्य विविध दर्शनाभावात्सुतरांविपश्चित्वं न संभवतीति न केनापि प्रमाणेन निर्विशेषंवस्तु प्रतिपाद्यत इति च पूर्वमेवोक्तम्।

परमात्मा से भिन्न जीव, मुक्तावस्था में भी ब्रह्म नहीं हो सकता। मंत्रों से उसकी अभिन्नता सिद्ध नहीं होती। उसका अभिन्न रूप से किसी भी मत्र में उल्लेख नहीं मिलता। निर्विशेष विशुद्ध स्वरूप आत्मा का निरुपाधिक विपश्चित्व "सोऽकामयत" इत्यादि मंत्र में सत्य संकल्पत्व के रूप से बतलाया गया है। अनेक तत्त्वों की युगपत दर्शन शक्ति को ही विपश्चित्त्व कहते हैं। "पृषोदरादि" व्याकरणीय सूत्र से पश्यत् पद के अवयव यत् अश को लुप्त करके विपश्चित् शब्द बनाया जाता है। यद्यपि मुक्त जीवात्मा में भी विपश्चित्व हो सकता है, उसी आत्मा का संसार दशा में अविपश्चित्व भी संभव है, उसमें निरुपाधिक विपश्चित्व नहीं हो सकता। निर्विशेष चिन्मात्र अवस्था वाले मुक्तात्मा में एक साथ सब कुछ जान लेने की क्षमता भी नहीं है, इसलिए उसमें विपश्चित्त्व नहीं हो सकता, और न किसी भी प्रमाण से निर्विशेष वस्तु प्रमाणित की जा सकती है, ऐसा हम पहिले ही बतला चुके हैं।

"यतो वाचो निवर्त्तन्ते" इति च वाक्यं यदि वाङ्मनसयोर्ब्रह्मणो निवृत्तिमभिदधीत, न ततो निर्विशेषतां वस्तुनोऽवगयितुं शक्नुयात्। अपितु वाङ्मनसयोस्तत्राप्रमाणतां वदेत्, तथा च सति तस्य तुच्छत्वमेवापद्यते। "ब्रह्मविदाप्नोति" इत्यारभ्य ब्रह्मणोविपश्चित्त्वं जगत्कारणत्वं ज्ञानानंदैकतानतामितरान्प्रत्यानंदयितृत्वं कामादेव चिदचिदात्मकस्यकृत्स्नस्य स्रष्टृत्वं सृज्यवर्गानुप्रवेशकृततदात्मकत्वं भयाभयहेतुत्वं वाय्वादित्यादीनां प्रशासितृत्वं शतगुणितोत्तरक्रमेण निरतिशयानंदत्वमन्यच्चानेकं प्रतिपाद्य वाङ्मनसयोः ब्रह्मणि प्रवृत्य-

भावेन निष्प्रमाणकं ब्रह्मेत्युच्यत इति भ्रान्तजल्पितम्। "यतो वाचो निवर्त्तन्ते" इति यच्छब्दनिर्दिष्टमर्थम् "आनंदं ब्रह्मणो विद्वान्" इत्यानंदशब्देन प्रतिनिर्दिश्य तस्य ब्रह्म संबंधित्वं ब्रह्मण इति व्यतिरेकनिर्देशेन प्रतिपाद्य तदेव वाङ्मनसगोचर "विद्वान्" इति तद्वेदनमभिदधद्वाक्यं जरद्गवादिवाक्यवदनर्थकं वाच्यानंतर्गतं च स्यात्।

"यतो वाचो निवर्त्तन्ते" इस वाक्य को यदि, वाणी और मन से निवृत्ति प्रतिपादक मान लें तो भी निर्विशेष वस्तु की प्रतीति उक्त वाक्य से नहीं होगी। अपितु वाणी और मन से उसकी अप्रामाणिकता ज्ञात होती है, यदि वाणी और मन से उसे अज्ञात मानकर निर्विशेष बतलाने की चेष्टा करेंगे तो ब्रह्म में तुच्छता आ जायगी।

"ब्रह्मविदाप्नोति परं" वाक्य से प्रारंभ करके ब्रह्म की विपश्चित्व, जगत्कारणता, आनंदैकानता आनंददातृता, संकल्प मात्र से जड चेतन संपूर्ण जगत सृष्टि की शक्तिमत्ता; सृष्टि जगत में अनुस्यूत होकर तदात्मकता, भय अभय की कारणता, वायु आदि की शासकता, निरतिशय आनंदमयता आदि अनेक शतगुणितोत्तर क्रम से वर्णित गुणों का प्रतिपादन करके अन्त में यह कह दिया जाय कि उक्त वाक्य ब्रह्म की निर्विशेषता का प्रतिपादक है, तो ऐसा कथन नितान्त भ्रामक है।

"यतो वाचो" वाक्य मे "यत्" पद जिस तत्त्व का निर्देश करता है "आनंद ब्रह्मणो" वाक्य "आनंद" पद से उसी तत्त्व का प्रतिनिर्देश करके 'ब्रह्मणः" पद से उसका संबंध बतलाता है, यदि उसी वाङ्मनसातीत को "विद्वान" पद वाच्य ज्ञाता कहा जाय तो उक्त वाक्य 'जरद्गव" इत्यादि वाक्य की तरह निरर्थक हो जायगा। (अर्थात् ज्ञाता और ज्ञेय का स्पष्ट उल्लेख होते हुए भी उसे अभिन्न बतलाना क्लिष्ट कल्पना मात्र है।

अतः शतगुणितोत्तरक्रमेण ब्रह्मानंदस्यातिशयेयत्तांवक्तुमुद्यम्य तदियत्ताया अभावादेव वाङ्मनसयोस्ततो निवृत्तिः "यतो वाचो निवर्त्तन्ते" इत्युच्यते। एवमियत्ता रहितं "ब्रह्मण आनंदं विद्वान्

कुतश्चन न विभेति" इत्युच्यते । किं च अस्य मांत्रवर्णिकस्य विपश्चितः "सोऽकामयत" इत्यारभ्य वक्ष्यमाणस्वसंकल्पावक्लृप्त-जगज्जन्मास्थितिजगदन्तरात्मत्वादेर्मुक्तात्मस्वरूपादन्यत्वंसुस्पष्टमेव ।

शतगुणितोत्तर क्रम से सर्वाधिक ब्रह्मानंद ही अतिशय इयत्ता रहित निस्सीम है, इसीलिए वाक्य और मन उसकी थाह न पाकर निवृत्त हो जाते हैं, यही "यतो वाचो" वाक्य का तात्पर्य है। ऐसे निस्सीम ब्रह्म के लिए ही कहा गया कि "जो उसे जानता है वह किसी से भयभीत नहीं होता।" मंत्राक्षरों के उल्लेख्य "विपश्चित्" की ' सोऽकामयत्" से लेकर स्वसंकल्प संपादित जगत सृष्टि स्थिति और जगदन्तर्यामिता पर्यन्त छवि बतलाकर, जीव के स्वरूप से सुस्पष्ट भिन्नता बतलाई गई है।

इतश्चोभयावस्थात् प्रत्यगात्मनोऽन्य आनंदमयः

बद्ध-मुक्त अवस्था वाले जीवात्मा से आनंदमय इसलिए भी भिन्न हैं कि—

भेदव्यपदेशाच्च १।१।१८॥

"तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः" इत्यारभ्य मांत्रवर्णिकं ब्रह्म व्यंजयद्वाक्यमन्नप्राणमनोभ्य इव जीवादपि तस्य भेदं व्यपदिशति "तस्माद् वा एतस्माद विज्ञानमयात् अन्योऽन्तर आत्मानंद-मयः "इति । अतोजीवाद्भेदस्य व्यपदेशाच्चायं मांत्रवर्णिक आनंमयोऽन्य एवेति ज्ञायते ।

"उसी आत्मा से यह आकाश हुआ" ऐसा प्रारंभ करके मांत्रवर्णिक ब्रह्मबोधक "उस आनंदमय से विज्ञानमय आदि भिन्न हैं" इस वाक्य में प्राणमय आदि से जैसे आनंदमय की भिन्नता दिखलाई गई है, वैसे ही जीवात्मा से भी भेद का उल्लेख होने से, मंत्रवर्णोक्त आनंदमय निश्चित ही भिन्न प्रतीत होता है।

इतश्च जीवादन्य = इसलिए भी वह जीवात्मा से भिन्न है कि—

कामाच्च नानुमानापेक्षा १।१।१६॥

जीवस्याविद्यापरवशस्य जगत्कारणत्वे ह्यवर्जनाया आनुमानिक

प्रधानादि शब्दाभिधेयाचिद्वस्तुसंसर्गापेक्षा, तथैव हि चतुर्मुखादीनां कारणत्वं, इह च "सोऽकामयत, बहुस्यां प्रजायेय" इत्यचित् संसर्ग रहितस्य स्वकामादेव विचित्रचिदचिद्वस्तुनः सृष्टिः "इदं सर्वम-सृजत यदिदं किं च" इत्याम्नायते । अतोऽस्यानंदमयस्य जगत् सृजतो नानुमानिकाचिद्वस्तुसंसर्गापेक्षा प्रतीयते । ततश्च जीवा-दन्य आनंदमयः ।

प्रधान आदि शब्द वाच्य आनुमानिक जड प्रकृति की अपेक्षा तो अविद्याऽधीन जीवात्मा को ही जगत का कारण मानना पड़ेगा, इसीलिए जीव विशेष ब्रह्मा आदि को जगत् कर्त्ता माना भी गया । किंतु इस प्रसंग में 'सोऽकामयत" वाक्य से जड़संसर्ग रहित केवल ब्रह्म से ही जड चेतनात्मक समस्त सृष्टि 'इदं सर्व" इत्यादि से बतलाई गई है । प्रसंग से तो आनंदमय की जगत्सर्जनता, आनुमानिक जड प्रधान (प्रकृति) संसर्गसापेक्ष ज्ञात नहीं होती । इससे भी जीव से भिन्न आनंदमय सिद्ध होता है ।

इतश्च—इससे भी भिन्नता सिद्ध होती है कि--

अस्मिन्नस्य च तद्योगंशास्ति ।१।१।२०॥

अस्मिन्-आनन्दमये, अस्य-जीवस्य, तद्योगम्-आनन्द योगम्, शास्ति-शास्त्रम्—"रसोवैसः रसं ह्येवायंलब्ध्वाऽनन्दी भवति" इति । रसशब्दाभिधेयानन्दमयलाभादयं जीवशब्दाभिलपनीय आनन्दी भवतीत्युच्यमाने यल्लाभादानन्दी भवति स एव इत्यनुनमत्तः को ब्रवीतीत्यर्थः ।

"वह रस स्वरूप है—यह जीव उस रस का आस्वादन करके आनंदित होता है" इत्यादि प्रसिद्ध मंत्र इस जीव का, आनंदमय से आनंद संबंध बतलाता है । इस वाक्य में "रस" का अर्थ आनंदमय तथा "अयं" का अर्थ जीव है । यह जीव, आनंदमय रस को प्राप्त कर आनंदित होता है, ऐसा स्पष्ट उल्लेख होने पर भी, जिसकी प्राप्ति से जो

आनंदित होता है वे भिन्न दो प्राप्य-प्रापक, एक हैं, ऐसा पागल के अतिरिक्त कोई और तो कह नहीं सकता।

एवमानन्दमयः परंब्रह्मेति निश्चितेसति "यदेष आकाश आनन्दः" विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" इत्यादिष्वानन्दशब्देनानन्दमय एव परामृश्यते, यथा विज्ञान शब्देन विज्ञानमयः। अतएव "आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्" इति व्यतिरेक निर्देशः। अतएव च "आनन्दमयमात्मानमुपसंक्रामति" इति फलनिर्देशश्च। उत्तरेचानुवाके पूर्वानुवाकोक्तानामन्नमयादीनां "अन्नं ब्रह्मेति व्याजानात् प्राणोब्रह्मेति व्याजानात्"–मनोब्रह्मेति व्याजानात्–"विज्ञानं ब्रह्मेति व्याजानात्" इति प्रतिपादनात् "आनन्दो ब्रह्म" इत्यप्यानन्दमयस्यैव प्रतिपादनमिति विज्ञायते, तत एव च तत्रापि "आनन्दमयमात्मानमुप संक्रम्य" इत्युपसंहृतम्।

अतः प्रधानशब्दाभिप्लयादर्थान्तरभूतस्य परस्यब्रह्मणो जीवशब्दाभिलपनीयादपि वस्तुनोऽर्थान्तरत्वं सिद्धम्।

आनंदमय तत्त्व परब्रह्म ही है, ऐसा निश्चित हो जाने पर "विज्ञान" शब्द से जैसे विज्ञानमय अर्थ की प्रतीति होती है उसी प्रकार "यदेष आकाश आनंदः" "विज्ञानमानंदं ब्रह्म" इत्यादि वाक्योक्त "आनंद" शब्द से आनंदमय अर्थ की प्रतीति होती है। "आनंद ब्रह्मणो विद्वान्" वाक्य में ज्ञाता ज्ञेय का भेद दिखलाया गया है, तथा "आनंदमयमात्मानमुपसंक्रामति" में आनंदमय आत्मा की प्राप्ति रूप फल का निर्देश है। परवर्ती अनुवाक (परिच्छेद) में, पूर्व अनुवाक में बतलाये गए अन्नमय आदि को—अन्न ब्रह्म है—प्राण ब्रह्म है—मन ब्रह्म है—विज्ञान (जीव) ब्रह्म है" जिस प्रकार प्रतिपादन किया गया है उससे निश्चित होता है कि—"आनंद ब्रह्म है" इस वाक्य का उल्लेख्य "आनंद" शब्द भी आनंदमय शब्द का प्रतिपादक है। इसीलिए उक्त प्रकरण के अन्त में "आनंदमयमात्मानमुपसंक्रम्य" ऐसा आनंदमय निर्देशक उपसंहार किया गया है।

इस प्रकार प्रधान शब्द वाच्य प्रकृति से भिन्न परब्रह्म की, जीवात्मा से भी भिन्नता सिद्ध होती है।

७. अधिकरणः—

यद्यपि मन्दपुण्यानां जीवानां कामाज्जगत्सृष्टिरतिशयितानन्दयोगो भयाभयहेतुत्वमित्यादि न संभवत्येवेतीमामाशंकां निराकरोति।

यद्यपि अल्पपुण्य वाले जीवों में संकल्पमात्र से सृष्टि, अतिशय आनंद योग, भय या अभय देने की शक्ति आदि संभव नहीं है, फिर भी विलक्षण पुण्यवान जीवविशेष आदित्य, इन्द्र प्रजापति आदि में तो ये संभव हैं फिर परमात्मा ही जगत् के कारण हैं ऐसा क्यों कहते हैं? इस शंका का निराकरण करते हैं—

अन्तस्तद्धर्मोपदेशात् १।१।२ ॥

इदमाम्नायते छांदोग्ये 'य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते हिरण्यश्मश्रुहिरण्यकेश आप्रणखात्सर्व एव सुवर्णः तस्य यथा कप्यासं पुण्डरीकमेवमक्षिणी तस्योदिति नाम स एव सर्वेभ्यः पापमभ्य उदितः उदेति ह वै सर्वेभ्यः पाप्मभ्यो य एवं वेद तस्यर्क्चं साम च गेष्णौ इत्यधिदैवम् 'अथाध्यात्मम्" अथ य एषोऽन्तरक्षिणि पुरुषोदृश्यते सैवर्कतत्सामतदुक्थ्य तद्यजुस्तदब्रह्मतस्यैतस्य तदेव रूपं यदमुष्यरूपं यावमुष्य गेष्णौ तौ गेष्णौ यन्नाम तन्नाम इति।"

तत्र संदिह्यते—किमयमक्ष्यादित्यमंडलान्तर्वर्ती पुरुषः पुण्योपचयनिमित्तैश्वर्यआदित्यादिशब्दाभिलप्यो जीव एव, आहोस्वित् तदतिरिक्त परमात्मा—इति किं युक्तम्?

छांदोग्य में ऐसा पाठ है कि—'इस आदित्य मंडल में हिरण्मय जो पुरुष दिखलाई देता है जो हिरण्मय स्मश्रु हिरण्यकेश और नख से शिख तक सुवर्ण से पूर्ण है तथा जो कप्यास अर्थात् आदित्य द्वारा प्रकाशित

पुंडरीक के समान रमणीक नेत्रों वाला है उसका नाम "श्रोत" है, वह संपूर्ण पापों से मुक्त है, उस निष्पाप को जो जानता है वह भी पापों से मुक्त हो जाता है। ऋक् और साम में उसी का गान किया गया है वही अधिदेव है।"

इसके बाद इसी का अध्यात्म रूप भी जैसे—"जो यह आँखों में पुरुष दीखता है; ऋक्-साम-उक्थ (सामवेदीय स्तोत्र विशेष) यजु और ब्राह्मण ग्रन्थों में वर्णित पूर्व पुरुष का जैसा रूप है, यह वैसे ही रूपवाला है, उसका जैसा गान करते हैं, इसका भी वैसा ही गान करते हैं, उसका जो नाम है, इसका भी वही नाम है।"

उक्त विषय में संशय होता है कि—उक्त आदित्य और नेत्र स्थित पुरुष, क्या अधिक पुण्यशाली ऐश्वर्यवान सूर्यमंडल को प्राप्त करने वाला जीवात्मा ही है? अथवा उससे भिन्न परमात्मा है? किसको मानना उचित होगा?

उपचितपुण्यो जीव एवेति। कुतः? स शरीरत्वश्रवणात् शरीरसंबंधो हि जीवानामेव संभवति। कर्मानुगु णप्रिययोगाय हि शरीर संबंधः। अतएव हि कर्मसंबंधरहितस्यमोक्षस्य प्राप्यत्वम शरीरत्वेनोच्यते "न ह वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रियोरपहृतिरस्ति, अशरीरं वा व सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः" इति। संभवति च पुण्यातिशयात् ज्ञानाधिक्यम, शक्याधिक्यंच। अतएवं लोककामेशत्वादि तस्यैवोपपद्यते। ततएव चोपास्यत्वम्, फलदायित्वम्, पापक्षपणकरत्वेम मोक्षोपयोगित्वं च। मनुष्येष्वप्युपचितपुण्याः केचित् ज्ञानशक्त्यादिभिरधिकतरा दृश्यन्ते, ततश्च सिद्धगंधर्वादयः ततश्च देवाः ततश्चेन्द्रादयः। अतो ब्रह्मादिष्वन्यतमएवैकैकस्मिन्कल्पे पुण्यविशेषेणैवम्भूतमैश्वर्यप्राप्तो जगत्सृष्ट्याद्यपि करोतीति जगत्कारणत्वजगदन्तरात्मत्वादिवाक्यमस्मिन्नेवोपचितपुण्यविशेषे सर्वज्ञे सर्वशक्तौ वर्त्तते। अतो न जीवादतिरिक्तः परमात्मा नाम कश्चि-

दस्ति। एवं च सति "अस्थूलमनण्वह्रस्वम्" इत्यादयो जीवात्मन स्वाभिप्राया भवंति मोक्षशास्त्राण्यपि तत्स्वरूपतत्प्राप्त्युपायोपदेश-पराणि—इति।

विशेष पुण्यवान जीव ही उक्त पुरुष हो सकता है क्यों उसके शरीर का वर्णन किया गया है, शरीर संबंध तो जीवों का ही हो सकता है। शुभाशुभ कर्म और गुण के संयोग से ही शरीर संबंध होता है। तभी कर्म संबंध रहित शरीर हीन मोक्ष की प्राप्ति कही गई है— "शरीराभिमान के रहते पाप पुण्य नष्ट नहीं होते, शरीराभिमान शून्य हो जाने पर पाप पुण्य स्पर्श नहीं कर सकते।" इत्यादि।

पुण्य की अधिकता से अधिक ज्ञान और अधिक शक्ति संपन्न होना भी संभव है, लोकेश कामेश इत्यादि उपाधियां भी जीवात्मा के लिए ही प्रयुक्त होती हैं। उपास्यता, फलदातृता, पापप्रक्षालनता और मोक्षदातृता आदि क्षमतायें भी उसमें हो सकती हैं। मनुष्यों में ही प्रायः अधिक पुण्यवान और ज्ञान शक्ति संपन्न महापुरुष देखे जाते हैं, सिद्ध, गंधर्व, देव तथा देवाधिदेव इन्द्र उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं।

मनुष्य से ब्रह्मा पर्यन्त में से कोई विशेष पुण्यवान महापुरुष एक-एक कल्प तक ऐश्वर्य संपन्न होकर जगत् सृष्टि आदि का संपादन करते हैं। जगत्कारणता और जगदन्तरात्मकता के बोधक वाक्य भी ऐसे ही सर्वज्ञ सर्वशक्ति संपन्न महापुरुष के लिए घटित होते हैं। इसलिए जीवात्मा से अतिरिक्त परमात्मा नामक कोई विशेष नहीं है। "अस्थूल, अनणु-अह्रस्व" इत्यादि विशेषण भी जीवात्मा बोधक ही सिद्ध होते हैं तथा मोक्षोपदेशक शास्त्र वाक्य भी जीव स्वरूप निर्देशक एवं प्राप्ति उपाय के रूप में ही घटित होते हैं, ऐसा मानना होगा।

सिद्धान्त—एवं प्राप्तेऽभिधीयते—अन्तस्तद्धर्मोपदेशात्—अंतरादित्ये ऽन्तरक्षिणि च यः पुरुषः प्रतीयते, स जीवादन्यः परमात्मैव, कुतः? तद्धर्मोपदेशात् जीवेष्वसंभवस्तदतिरिक्तस्यैव परमात्मनो धर्मोऽ-पहतपाप्मत्वादिः "स एष सर्वेभ्यः पाप्मभ्य उदितः" इत्यादिनो-

पदिश्यते । अपहतपाप्मत्वम् हि अपहतकर्मत्वं, कर्मवश्यतागंधरहित-त्वमित्यर्थः । कर्माधीनसुखदुःख भागत्वेन कर्मवश्याः हि जोवाः । अतो अपहतपाप्मत्वं जोवादन्यस्य परमात्मन एव धर्मः ।

उक्त संशय के निराकरणार्थ ही सूत्रकार ने सिद्धांत निर्णय करते हुए "अन्तस्तद्धर्मोपदेशात" सूत्र कहा है, जिसका तात्पर्य है कि—सूर्य मंडल और नेत्र में जो पुरुष दीखता है वह जीवात्मा से भिन्न परमात्मा ही है। उसी की विशेषताओं का उपदेश वेद में किया गया है। जो जीवों में कभी संभव नहीं हैं उन्हीं निष्पापता आदि विशेषताओं का परमात्मा के लिए "स एष सर्वेभ्य" इत्यादि वाक्यों में किया गया है अपहतपापता का तात्पर्य है, निष्कर्मता, कर्मबन्धन शून्यता । कर्माधीन सुख दुःखानुसार कर्म के वशीभूत जीव ही है । निष्पापता आदि तो जीव से विलक्षण परमात्मा के ही धर्म हैं ।

यत्पूर्वकं स्वरूपोपाधिकं लोककामेशत्वम्, सत्यसंकल्पत्वादिकं सर्वभूतान्तरात्मत्वंच तस्यैवधर्मः । यथाह—"एष आत्माऽपहतपाप्मा विजरोविमृत्युर्विशोकोविजिवत्सोऽपिपासस्सत्यकामस्सत्यसंकल्पः" इति तथा "एष सर्वभूतान्तरात्माऽपहतपाप्मा दिव्योदेवएको नारायणः" इति । "सोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेयेति" इत्यादि सत्यसंकल्पत्वपूर्वकसमस्तचिदचिद्वस्तुसृष्टियोगो निरुपाधिक भया-भय हेतुत्वं, वाङ्मनसपरिमितकृतपरिच्छेदरहितानवधिकाति-शयानन्दयोग इत्यादयोऽकर्मसंपाद्यास्वाभाविकाधर्मा जोवस्य न संभवंति ।

उसी प्रकार लोकेशता, कामेश्वरता, सत्य संकल्पता, सर्वभूतान्त रात्मकता, आदि स्वाभाविक धर्म भी परमात्मा के ही हैं। ऐसा ही— "यह सर्वान्तर्यामी, निष्पाप, जरामृत्यु शोक भूख प्यास रहित, सत्यकाम और सत्य संकल्प है" इस वाक्य से ज्ञात होता है। तथा "ऐसे सर्वान्तर्यामी निष्पाप दिव्य देव स्वरूप एकमात्र नारायण ही हैं" उन्होंने संकल्प किया कि एक से अनेक हो जाऊँ "इत्यादि में वर्णित सत्य

संकल्प पूर्विका समस्त जड चेतनात्मक सृष्टि योग्यता, स्वाभाविक भय अभय देने की क्षमता, वाङ्मनसगोचरता, अतिशय आनंदमयता इत्यादि अकर्म संपाद्य स्वाभाविक धर्म जीव के नही हो सकते।

यत्तुशरीरसंबंधान्न जीवातिरिक्त इत्युक्तम्, तदसत्, न हि सशरीरत्वं कर्मवश्यता साधयति, सत्यसंकल्पस्येच्छयाऽपि शरीर संबधसंभवात्। अथोच्येत—शरीरं नाम त्रिगुणात्मक प्रकृति परिणाम-रूपभूत संघातः, तत्संबधश्चापहतपाप्मनस्सत्यसंकलपस्यपुरुषस्ये-च्छया न संभवति, अपुरुषार्थत्वात्। कर्मवश्यस्य तु स्वस्वरूपान-भिज्ञस्य कर्मानुगुणफलोपभोगायानिच्छितोऽपि तत्संबंधोऽवर्जनीयः, इति। स्यादेतदेवम्, यदि गुणत्रयमयः प्राकृतोऽस्यदेहस्स्यात्, स तु स्वाभिमतस्स्वानुरूपोऽपाकृत एवेति सर्वमुपपन्नम्।

जो यह कहते हो कि—शरीर सबंध होने से वह जीवात्मा के अतिरिक्त कोई दूसरा नही हो सकता, यह कथन भी असत् है, कर्मवश ही शरीर संबंध होता हो यह कोई आवश्यक नहीं है, सत्य संकल्पात्मिका इच्छा से भी आत्मा का शरीर संबंध होता है। यदि यह कहो कि—त्रिगुणात्मक प्रकृति भोग के परिणाम स्वरूप जो पंचमहाभूतों का संयोग होता है, उसे ही शरीर कहते हैं, ऐसे भौतिक शरीर का संबंध, निष्पाप सत्यसंकल्प पुरुष की इच्छामात्र से नही हो सकता, क्योंकि वह कभी धर्म अर्थ काम मोक्ष आदि पुरुषार्थों का पालन नहीं करता। (अर्थात् पुरुषार्थ संबंधी भोगों में नही फँसता) अपने स्वरूप से अनभिज्ञ कर्मा-धीन जीव के न चाहते हुए भी, कर्मानुरूप फलभोग के लिए, देह संबंध अनिवार्य रूप से हो जाता है। हो सकता है आपका ही कथन ठीक हो आपके अनुसार जगत्सृष्टा का शरीर त्रिगुणमय प्राकृत हो सकता है पर हमारी दृष्टि में तो वह स्वेच्छा से अपने अनुरूप अप्राकृत देह धारण करके ही सृष्टि का कार्य संचालन करता है, ऐसा मानकर ही हम उक्त समस्या का समाधान कर पाते हैं।

एतदुक्तं भवति—परस्यैव ब्रह्मणो निखिलहेयप्रत्यनीकानन्त ज्ञानानंदैकस्वरूपतया सकलेतरविलक्षणस्य स्वाभाविकानवधिकाति-

शयासंख्येयकल्याणगुणगणाश्च संति। तद्वदेव स्वाभिमतानुरूपैक-रूपाचिन्त्यदिव्याद्भुतनित्यनिरवद्यनिरतिशयौज्वल्यसौन्दर्यसौगंध्यसौकुमार्यलावण्ययौवनाद्यनंतगुणगणनिधिदिव्यरूपमपि स्वाभाविक नास्ति। तदेवोपासकानुग्रहेण तत्तत्प्रतिपत्त्यनुरूप संस्थानं करोत्यपारकारुण्यसौशील्यौदार्यजलनिधिः निरस्तनिखिलहेयगंधोऽपहतपाप्मा परंब्रह्म पुरुषोत्तमो नारायणः—इति।

कथन यह है कि—हीनता रहित, अनंतज्ञान और आनंद स्वरूप होने से, समस्त पदार्थों से विलक्षण पर ब्रह्म ही, निरवधि, निरतिशय, असंख्य स्वाभाविक कल्याणमय गुणों की राशि हैं। तदनुरूप ही उनका स्वाभावसिद्ध दिव्य रूप भी है। उसके अनुसार ही अचिन्त्य अलौकिक, अद्भुत, नित्य, निर्दोष, और सबका अतिक्रमण करने वाली औज्वल्य, सौन्दर्य, सौगन्ध्य (सुयश) सौकुमार्य लावण्य, यौवनादि अनंत गुण निधियाँ उनके दिव्य देह में स्वाभाविक रूप से रहती हैं। वे ही उपासकों की भावना के अनुरूप अनुग्रह करके अपने ऐसे दिव्य स्वरूप का चाक्षुष प्रत्यक्ष कराते हैं। अपार कारुण्य, सौशील्य, वात्सल्य, औदार्य आदि गुणों के सागर, हीन दोषों से सर्वथा शून्य, निष्पाप, परब्रह्म पुरुषोत्तम नारायण ही जगत् सृष्टा हो सकते हैं।

"यतो वा इमानि भूतानि जायंते—सदेव सोम्येदमग्र आसीत्—आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्—एको ह वै नारायण आसीन्न ब्रह्मा नेशानः" इत्यादिषु निखिल जगदेक कारणतयाऽवगतस्यपरस्य ब्रह्मणः "सत्यंज्ञानमनंतं ब्रह्म—विज्ञानमानंदं ब्रह्म" इत्यादिष्वेवंभूतं स्वरूपमित्यवगम्यते। "निर्गुणम्" निरंजनं—"अपहतपाप्माविजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासस्सत्यकामस्सत्यसंकल्पः—न तस्य कार्यकारणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते—परास्य शक्तिर्विविधैव श्रुयते स्वाभाविकी ज्ञान बलक्रिया च—तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं दैवतानां परमं च दैवतम्—स कारणकरणाधि

पाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरः नामानि कृत्वाऽभिवदन्यदास्ते—वेदाहमेतं पुरुषं महान्तं आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्—सर्वेनिमेषा जज्ञिरे विद्युतः पुरुषादधि" इत्यादिषु परस्यब्रह्मणःप्राकृत हेयगुणान् प्राकृतहेय देहसंबंधं तन्मूल कर्मवश्यतासबधं च प्रतिविध्य कल्याणगुणान् कल्याणरूपं च वदन्ति ।

"जिससे ये प्रपंच उत्पन्न होता है—हे सौम्य सृष्टि के पूर्व यह सारा विश्व सत् स्वरूप ही था—सृष्टि के पूर्व केवल परमात्मा ही था—एकमात्र नारायण ही थे, ब्रह्मा या शकर नही थे ।" इत्यादि वाक्यों में समस्त जगत् के एकमात्र कारण परब्रह्म का ही निरूपण ज्ञात होता है । तथा—"ब्रह्म सत्य ज्ञान अनंत स्वरूप है—परमात्मा विज्ञान और आनंद स्वरूप है ।" इत्यादि वाक्यों में उस परब्रह्म के स्वरूप का निरूपण किया गया है ।

"वह परब्रह्म निर्गुण, निरंजन, निष्पाप जरामृत्यु शोक भूख प्यास रहित, सत्यकाम और सत्य सकल्प है । उसके कार्य (शरीर) और कारण (इन्द्रियाँ) नही हैं । उसके समान या अधिक कुछ भी दृष्टिगत नही होता । उसकी पराशक्ति स्वाभाविक ज्ञान-बल-क्रिया आदि विविध नामों वाली है । सर्वेश्वर देवाधिदेव ही सबके कारण तथा करणों (इन्द्रियों) के स्वामी (ब्रह्मा आदि) के भी अधिपति हैं । उनका जनक तथा स्वामी कोई नहीं है । जो धीरता पूर्वक समस्त रूप का विस्तार और नामों का विधान करके व्यावहारिक रूप से उसी में विराजते हैं, अज्ञानातीत आदित्यवर्ण उन महापुरुष को जानने की चेष्टा करो । समस्त निमेष (स्फूर्तियाँ) और विद्युत शक्तियाँ परंपुरुष से ही प्रकट होती हैं ।" इत्यादि श्रुतियाँ परब्रह्म के प्राकृत तुच्छ गुण समूह, प्राकृत हेय देह संबंध, तदनुरूप कर्मवश्यता का खंडन करके कल्याणमय गुण और कल्याणमय रूप का प्रतिपादन करती हैं ।

तदिदं स्वाभाविकमेकरूपमुपासकानुग्रहेण तत्प्रत्ययनुगुणाकारं देवमनुष्यादिसंस्थान, करोति स्वेच्छयैव परमकारुणिको भगवान् ।

तदिमाह श्रुतिः—"अजायमानो बहुधा विजायते" इति स्मृतिश्च—"अजोऽपि सन् अव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्। प्रकृति स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया। परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृतां" इति।

परम करुणामय भगवान, दयावश स्वेच्छा से अपने स्वाभाविक दिव्यरूप को, उपासकों की क्षमता के अनुसार उनपर कृपा करने के लिए देव मनुष्य आदि सगुण प्राकृत देहों में परिणत कर देते हैं। जैसा कि श्रुति में—वह अजन्मा प्रायः प्रकट होता है "तथा स्मृति में भी"—अजन्मा और अविनाशी, सर्व नियामक मैं अपनी स्वाभाविक प्रकृति माया के आश्रय से प्रकट होता हूँ सज्जनों की रक्षा और दुष्टों के संहार के लिए ही मेरा अवतार होता है।" इत्यादि स्पष्ट कहा गया है।

साधवो हि उपासकाः तत्परित्राणमेवोद्देश्यम् आनुषंगिकस्तु दुष्कृतां विनाशः संकल्पमात्रेणापि तदुत्पत्तेः। "प्रकृतिं स्वाम्" प्रकृतिः स्वभावः, स्वमेव स्वभावमास्थाय न संसारिणां स्वभावानित्यर्थः। आत्ममाययेति स्वसंकल्प रूपेण ज्ञानेन इत्यर्थः। "माया वयुनं ज्ञानं" इति ज्ञान पर्यायमपि माया शब्दं नैघण्टुका अधीयते।

उक्त स्मृति वाक्य में साधु का तात्पर्य उपासक से है, उन्हीं के परित्राण के लिए प्रभु प्रकट होते हैं, दुष्टों के विनाश की बात तो प्रासंगिक है, संकल्प मात्र ही प्रभु के अवतार में पर्याप्त है। "प्रकृतिं स्वाम्" में प्रकृति का तात्पर्य है स्वभाव, स्वाम् अर्थात् अपनी प्रकृति के आधार से ही प्रभु प्रकट होते हैं, सांसारी स्वभाव प्राकट्य का आधार नहीं होता। आत्ममायया का तात्पर्य है, स्वसंकल्प रूप ज्ञान "ज्ञान के पर्याय रूप में माया शब्द का प्रयोग निघंटु में "मायावयुनं ज्ञानं" किया गया है।

आह च भगवान पाराशरः "समस्ताशक्तयश्चैतानृप यत्र प्रतिष्ठिताः, तद् विश्वरूपवैरूप्यं रूपमन्यद् हरेर्महत्। समस्त शक्ति

रूपाणि तत्करोति जनेश्वर, देवतिर्यङ्मनुष्याख्या चेष्टायंति स्वलीलया। जगतामुपकाराय न सा कर्म निमित्तजा।" इति महाभारते चावताररूपस्याप्यप्राकृतत्वमुच्यते—"न भूतं संघसंस्थानो देहोऽस्य परमात्मनः" इति। अतः परस्यैव ब्रह्मण एवं रूपवत्वादयमपि तस्यैव धर्मः अत आदित्यमण्डलाक्ष्यधिकरण आदित्यादि जीव व्यतिरिक्तः परमात्मैव।

भगवान पाराशर भी कहते है--"ये समस्त शक्तियाँ जहाँ प्रतिष्ठित हैं, वही परमात्मा का विश्वरूप है जो कि महान् और विलक्षण है। वह अपनी लीला से देवता पशु मनुष्य आदि चेष्टा वाले अपने शक्तिमय रूपों को प्रकट करते हैं। यह सब जगत के उपकार के लिए करते हैं, कर्मफल के भोग के लिए नहीं करते।" महाभारत में भी प्रभु का अप्राकृत अवतार बतलाया गया है–"परमात्मा का यह देह पांचभौतिक नहीं है।" इन सब प्रमाणों से सिद्ध होता है कि–परमात्मा ही उक्त विशेषताओं वाले हैं उन्हीं के ये स्वाभाविक धर्म है। सूर्य और नेत्रों में वे ही विराजमान हैं वे जीवों से सर्वथा विलक्षण है।

भेदव्यपदेशाच्चान्यः १।१।२२

आदित्यादिजीवेभ्यो भेदोव्यपदिश्यतेऽस्य परमात्मनः "य आदित्ये तिष्ठन्नादित्यादन्तरो यमादित्यो न वेद यस्यादित्यश्शरीरं य आदित्यमन्तरो यमयति"—य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्याऽत्मा शरीरं य आत्मानमंतरो यमयति"—योऽक्षरमन्तरे संचरन्यस्याक्षरं शरीरं यमक्षरं न वेद, योमृत्युमंतरे-संचरन् यस्य मृत्युः शरीरं यं मृत्युर्नवेद एष सर्वभूदन्तरात्माऽपहतपाप्मा दिव्यो देव एको नारायणः" इति चास्यापहतपाप्मनः परमात्मनस्सर्वान्जीवान् शरीरत्वेन व्यपदिश्य तेषामन्तरात्मत्वेनैनं व्यपदिशति। अतस्सर्वेभ्योहिरण्यगर्भादिजीवेभ्योऽन्य एव परमात्मेतिसिद्धम्।

परमात्मा का आदित्य आदि जीवों से स्पष्ट भेद दिखलाया गया है—"जो आदित्य में रहते हुए भी आदित्य से भिन्न है, उसे आदित्य नहीं जानता, आदित्य उसका शरीर है, वह आदित्य में बैठकर उसका संयमन् करता है--जो आत्मा में होते हुए भी उससे भिन्न है, उसे आत्मा नहीं जानता, आत्मा उसका शरीर है अन्तर्यामी रूप से वही आत्मा का संयमन करता है—जो अक्षर में संचरित है, अक्षर जिसका शरीर है अक्षर उसे नहीं जानता—जो मृत्यु (जगत) में संचरित है, मृत्यु उसका शरीर है, मृत्यु उसे नहीं जानता, वह सर्वान्तिर्यामी, निष्पाप दिव्य एकमात्र नारायण है।" इस वाक्य में निष्पाप परमात्मा का शरीर जीवों को बतलाकर, उनका अन्तर्यामित्व बतलाया गया है। इससे सिद्ध होता है कि- परमात्मा, हिरण्यगर्भ आदि जीवों से सर्वथा विलक्षण है।

८ अधिकरण :—

"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" इति जगत् कारण ब्रह्मेत्यवगम्यते। किं तज्जगत्कारणमित्यपेक्षायां "सदेव सोम्येदमग्र आसीत तत्तेजोऽसृजत्—आत्मा इदमेव एवाग्र आसीत्—स इमांल्लोकानसृजत् तस्माद् वा एतस्मादात्मन् आकाशस्सम्भूतः" इति साधारणैश्शब्दैर्जगत्कारणे निर्दिष्टे ईक्षणविशेषानंदविशेषरूपविशेषार्थं स्वभावात् प्रधानक्षेत्रज्ञादिव्यतिरिक्तं ब्रह्मेत्युक्तम्। इदानीमाकाशादि विशेषशब्दैर्निदिश्य जगत्कारणत्वजगदैश्वर्यादिवादेऽप्याकाशादिशब्दाभिधेयतयाप्रसिद्धचिदचिद्वस्तुनोऽर्थान्तरमुक्तलक्षणमेव ब्रह्मेति प्रतिपाद्यते आकाशस्तल्लिगात् इत्यादिना पादशेषेण—

जिससे ये सारे भूत उत्पन्न होते हैं"—इस उदाहरण से ज्ञात होता है कि—जगत् के कारण परमात्मा ही हैं। उस जगत् के कारण का स्वरूप क्या है? ऐसी आकांक्षा होने पर निम्न श्रुतियाँ सामने आती हैं—"हे सौम्य! सृष्टि के पूर्व एक सत् ही था—उसने तेजकी सृष्टि की—जगत पहिले आत्मस्वरूप ही था—जिसने इन लोकों की सृष्टि की—उस आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ" इन श्रुतियों में साधारण शब्दों से जगत्कर्त्ता

का निर्देश किया गया है। बाद में ईक्षण विशेष, आनंद विशेष, और रूप विशेष बोधक शब्दों द्वारा प्रधान और क्षेत्रज्ञ से विलक्षण ब्रह्म का प्रतिपादन किया गया है। अब आकाश आदि विशेष शब्दों से निर्देश करके जगत्कारणत्त्व और जगदैश्वर्यवाद में भी, प्रसिद्ध जडचेतन विलक्षण ब्रह्म को ही आकाश शब्द से बतलाते हैं—

आकाशस्तल्लिगात् १।१।२३।

इदमाम्नायते छांदोग्ये "अस्य लोकस्य का गतिरिति आकाश इति होवाच सर्वाणि हवा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते, आकाश प्रत्यस्त यति आकाशो ह्येवैभ्यो ज्यायानाकाश. परायणम्" इति। तत्र सदेह. किं प्रसिद्धाकाश एवात्राकाशशब्देन अभिधीयते उतोक्तलक्षणमेव ब्रह्म इति। किं प्राप्तम्? प्रसिद्ध आकाश इति कुतः? शब्दैकसमधिगम्ये वस्तुनि य एवार्थो व्युत्पत्तिसिद्धशब्देन प्रतीयते स एव ग्रहीतव्यः। अतः प्रसिद्ध आकाश एव चराचरभूतजातस्य कृत्स्नस्य कारणम् अतस्तस्मादनतिरिक्तं ब्रह्म।

छांदोग्योपनिषद में पाठ है कि-"इस लोक की गति क्या है? उसने कहा आकाश, समस्तभूत समुदाय आकाश से ही उत्पन्न हुआ है और आकाश में ही विलीन हो जाता है, आकाश सभी भूतों से श्रेष्ठ है, यह सभी का आश्रय है।"

यहाँ सदेह होता है कि-प्रसिद्ध आकाश ही यहाँ आकाश शब्द से उल्लेख्य है अथवा उक्त लक्षणों वाले ब्रह्म का निर्देश है? (पूर्वपक्ष) प्रसिद्ध आकाश ही हो सकता है क्यों कि-एकमात्र शब्द गम्य विषय में, शब्द की व्युत्पत्ति के अनुसार शब्द से जो अर्थ प्रतीत होता है उसे ही मानना उचित होता है। इसलिए उक्त प्रसंग में आकाश ही चराचर जगत् का कारण है, ब्रह्म भी वही है।

नान्वीक्षापूर्वक सृष्ट्यादिभिरचेतनाचेतनजीवाच्च व्यतिरिक्तं ब्रह्मेत्युक्तम्। सत्यमुक्तम् अयुक्तं तु तत्। तथाहि "यतो वा इमानि

भूतानि जायन्ते तद्ब्रह्म" इत्युक्ते कुत इमानि भूतानि जायन्त इत्यादि विशेषापेक्षायां "सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते" इत्यादिना विशेषप्रतीतेः जगज्जन्मादिकारण आकाश एवेति निश्चिते सति "सदेव सोम्येदमग्र आसीत्" इत्यादिष्वपि सदिशब्दास्साधारणकारास्तमेव विशेषमाकाशमभिदधति । "आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्" इत्यादिष्वात्मशब्दोऽपि तत्रैव वर्त्तते ।" तस्यापि हि चेतनैकान्तत्वं न संभवति । यथा—"मृदात्मको घटः" इति । आप्नोतीत्यात्मेति व्युत्पत्या सुतरामाकाशेऽप्यात्मशब्दो वर्त्तते । अत एवमाकाश एव कारणं ब्रह्मेति निश्चिते सतीक्षणादयस्तदनुगुणांगौणा वर्णनीयाः । यदि हि साधारणशब्दैरेव सदादिभिः कारणमभ्यधायिष्यत, ईक्षणाद्यर्थानुरोधेन चेतनविशेष एव कारणमिति निरचेष्यत । आकाश शब्देन तु विशेष एव निश्चित इति नार्थस्वाभाव्यान्निर्णेतव्यमस्ति ।

उक्त पक्ष पर शंका होती है कि—ब्रह्म तो जड और चेतन जीवों से भिन्न, स्वेच्छा से सृष्टि करने वाला कहा जाता है, (तो वह आकाश कैसे हो सकता है?) (उत्तर) हाँ कहा तो गया है पर वह कथन ठीक नहीं है। उस कथन पर यह शंका तो बनी ही रहती है कि—ये भूत किससे उत्पन्न हुए? उक्त शंका की पूर्ति 'ये सब आकाश से ही हुए" इत्यादि वाक्य से होती है और निश्चित होता है जगत् के जन्मादि का कारण आकाश है। ऐसा निश्चित हो जाने पर "हे सौम्य! सृष्टि के पूर्व सत् ही था" इस वाक्य में कहे गए "सत्" शब्द का अर्थ भी आकाश ही निश्चित होता है। तथा "यह सारा जगत् पहले आत्मा ही था" इस वाक्य का "आत्मा" शब्द भी आकाश वाची ही सिद्ध होता है। आत्मा शब्द एकमात्र चेतन तत्त्व का ही ज्ञापक हो सो बात भी नहीं है। "मृदात्मक घट" ऐसे अचेतन प्रयोग भी आत्मा के लिए होते है। "आप्नोति इति आत्मा" अर्थात् जो सर्वत्र व्याप्त है वह आत्मा है इति व्युत्पत्ति के अनुसार भी आत्मा शब्द आकाश वाची हो सकता है। इस-

लिए आकाश ही कारण ब्रह्म है ऐसा निश्चित हो जाने पर, जगत कर्त्ता के लिए प्रयुक्त ईक्षण आदि गुण गौण प्रतीत होते हैं। और फिर यदि "सद्" आदि साधारण शब्दों पर ही जगत कर्त्ता का निर्णय निर्भर है तो ईक्षण आदि अर्थों के द्वारा चेतन विशेष को ही कारण मानना चाहिए। आकाश शब्द का तो विशेष उल्लेख होने से निश्चित हो जाता है कि आकाश ही जगत कर्त्ता है, अर्थ के आधार पर निर्णय करने की बात तो उठती ही नहीं।

ननु "आत्मन आकाशस्संम्भूतः" इत्याकाशस्यापि कार्यत्वं प्रतीयते। सत्यम्, सर्वेषामेवाकाशवाय्वादीनां सूक्ष्मावस्थास्थूलावस्थाचेत्यवस्थाद्वयमस्ति। तत्राकाशस्य सूक्ष्मावस्था कारणम्। स्थूलावस्था तु कार्यम्। "आत्मान आकाशास्संभूतः" इति स्वस्मादेव सूक्ष्मरूपात् स्वयं स्थूलरूपस्संभूत इत्यर्थः। "सर्वाणि ह वा इमानि भूता याकाशादेव समुत्पद्यन्ते" इ त सर्वस्य जगत आकाशादेव प्रभवाप्ययादि श्रवणात तदेव हि कारणं ब्रह्मेति िश्चितम् यत एवं प्रसिद्धाकाशादनतिरिक्तं ब्रह्म अत एव च "यदेषआकाश आनंदो न स्यात्" आकाशो ह वै नामरूपयोर्निवहिता" इत्येवमादि निर्देशोप्युपपन्नतरः। अनः प्रसिद्धाकाशादनतिरिक्तं ब्रह्मेति।

सशय होता है कि—"आतमा से आकाश हुआ" इस वाक्य से तो आकाश की कार्यता ज्ञात होती है ठीक है, आकाश वायु आदि सभी की स्थूल और सूक्ष्म दो अवस्थायें होती हैं। आकाश की सूक्ष्मावस्था कारण तथा स्थूलावस्था कार्य है। "आतमा से आकाश हुआ" का तात्पर्य है कि वह अपने सूक्ष्म रूप से स्वयं स्थूल हुआ। सारे भूत समुदाय आकाश से उत्पन्न हुए "इस वाक्य से ज्ञात होता है कि–आकाश से ही सब का उदय और उसी में सब लय होते हैं इसलिए आकाश ही कारण ब्रह्म निश्चित होता है। इससे यह भी निश्चिन होता है कि-प्रसिद्ध आकाश ही ब्रह्म है" यदि यह आनंद स्वरूप आकाश न होता "आकाश ही नामरूप को धारण करने वाला है" इत्यादि निर्देशक वाक्य भी इसी तथ्य के उपपादक हैं। इससे सिद्ध होता है कि प्रसिद्ध आकाश ही ब्रह्म है।

सिद्धान्त—एवं प्राप्ते ब्रूमः—आकाशस्तल्लिंगात् आकाश शब्दाभिधेयः प्रसिद्धाकाशादचेतनादर्थान्तभूतो यथोक्तलक्षणः परमात्मैव कुतः ? तल्लिंगात् निखिलजगदेककारणत्वं, परायणत्वं इत्यादीनि परमात्मलिंगानि उपलभ्यन्ते । निखिल कारणत्वं हि अचिद्वस्तुनः प्रसिद्धाकाशशब्दाभिधेयस्य नोपपद्यते, चेतन वस्तुनस्तत्कार्यत्वासंभवात् । परायणत्वं च चेतनानां परमप्राप्यत्वं । तच्चाचेतनस्य हेयस्य सकलपुरुषार्थ विरोधिनो न संभवति । सर्वस्माज्ज्यायस्त्वं च निरुपाधिकं सर्वैः कल्याणगुणैस्सर्वेभ्यो-निरतिशयोत्कर्षः । तदप्यचितो नोपपद्यते ।

सिद्धान्त—उक्त मत पर कथन यह है कि—प्रसिद्ध आकाश से पृथक् पूर्वोक्त लक्षणों वाला परमात्मा ही यहाँ आकाश शब्द वाच्य है। क्यों कि-सूत्र में "तल्लिंगात्" अर्थात् 'उसके बोधक" ऐसा स्पष्ट उल्लेख है। संपूर्ण जगत की एकमात्र कारणता, सर्वश्रेष्ठता और परमाश्रयता इत्यादि परमात्म बोधक शब्द शास्त्रों में पाये जाते हैं। चिदचिद् जगत की कारणता आकाश नामक जड तत्त्व में सभव नहीं है। उसमें चेतन वस्तु के संचालन की क्षमता तो कदापि नहीं हो सकती। जगतकर्त्ता के लिए जो परायण विशेषण मिलता है उसका अर्थ होना है "परम आश्रय" जो कि अचेतन पुरुषार्थ रहित वस्तु में संभव नहीं है। "सर्वश्रेष्ठता" का अर्थ भी "निरपेक्ष अतिशय कल्याण गुणों की उत्कर्षता" है, यह भी अचेतन में संभव नहीं है।

यदुक्तं जगत्कारणविशेषाकांक्षायाम् आकाशशब्देन विशेष समर्पणादन्यत्सर्वं तदनुरूपमेव वर्णनीयमिति, तदयुक्तम् "सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते" इति प्रसिद्धवन्निर्देशात् । प्रसिद्धवन्निर्देशो हि प्रामाणान्तरप्राप्तिमपेक्षते । प्रमाणान्तराणि च "सदेव सोम्येदमग्र आसीत्" इत्येवमादीन्येव वाक्यानि तानि च यथोदितप्रकारेणैव ब्रह्म प्रतिपादयन्तीति तत्प्रतिपादितं

ब्रह्माकाशशब्देन प्रसिद्धवन्निर्दिश्यते। संभवति च परस्यब्रह्मण: प्रकाशकत्वादाकाशशब्दाभिधेयत्वं आकाशते आकाशयति च इति।

यदि कहो कि- विशेषरूप से जगतकर्त्ता के स्वरूप के निर्धारण के अभिप्राय से 'आकाश'' शब्दविशेष का उल्लेख किया गया है, सो ऐसा कहना भी गलत है। "ये सारे भूत आकाश से ही उत्पन्न होते हैं'' इस श्रुति में प्रसिद्ध का सा निर्देश है (विशेष का नहीं) प्रसिद्ध का सा वर्णन अन्य प्रमाणों से सापेक्ष होता है (अर्थात् प्रसिद्ध के लिए अन्य प्रमाणों की आवश्यकता होती है "यह वही है जिसकी इस रूप मे प्रसिद्धि है'') अन्य प्रमाण जैसे—"हे सौम्य! सृष्टि के पूर्व एकमात्र 'सत्'' ही था।'' ये प्रमाण प्रसिद्ध ब्रह्म के ही प्रतिपादक है। उस ब्रह्म का प्रतिपादक आकाश शब्द प्रसिद्ध की तरह ही कहा गया है। प्रकाशक अर्थवाची आकाश शब्द परब्रह्म में ही घटता है। आकाशते=प्रकाशते आकाशयति= प्रकाशयति अर्थात् जो आ समंतात् चारो ओर से काशते—प्रकाशते होता है अथवा जो दूसरे को प्रकाशित करता है [इन दो व्युत्पत्तियों से प्रकाशवाची आकाश शब्द परब्रह्म का बोधक ही सिद्ध होता है]

किं च—अनेनाकाशशब्देन विशेषसमर्पणक्षमेणापि चेतनांशं प्रत्यसंभावितकारणभावमचेतनविशेषमभिदधानेन "तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय" सोऽकामयत् बहुस्यां प्रजायेय "इत्यादि वाक्यशेषावधारित सार्वज्ञसत्यसंकल्पत्वादिविशिष्टापूर्वार्थप्रतिपादनसमर्थ वाक्यार्थान्यथाकारणं न प्रमाणपदवीमधिरोहति। एवमपूर्वानन्तविशेषण-विशिष्टापूर्वार्थप्रतिपादनसमर्थानेकवाक्यगतिसामान्यं चैकेनानुवाद-स्वरूपेणान्यथाकर्त्तुं न शक्यते।

अर्थ विशेष (भूताकाश) के प्रतिपादक होते हुए भी इस (आकाश) में चेतनांश की कारणता असंभव है। अचेतन विशेष प्रतिपादक आकाश में उसने सोचा में बहुत हो जाऊँ'' उसने बहुत होने का संकल्प किया इत्यादि वाक्यों से ज्ञात, सर्वज्ञता, सर्वसंकल्पता आदि विशिष्ट अलौकिक प्रतिपादक अर्थों को झुठला कर अपने लिए प्रमाण रूप से इन वाक्यों को

मनवा लेना संभव नहीं है। अनन्त विशेषण विशिष्ट अपूर्व अर्थ प्रतिपादनक्षम अनेक वाक्यों की जो एक सामान्य गति है (अर्थात् जो विशेष विशेषणों से, एक चेतनविशिष्ट ब्रह्म का ही प्रतिपादन कर रहे हैं) उसे आकाश शब्द के प्रतिपादन के लिए, केवल अनुवाद मात्र कह कर झुठलाया भी नहीं जा सकता।

यत्त्वात्मशब्दश्चेतनैकान्तो न भवति, "मृदात्मकोघटः" इत्यादिदर्शनादित्युक्तम्, तत्रोच्यते—यद्यपि चेतनादन्यत्रापि क्वचिदात्मशब्दः प्रयुज्यते, तथापि शरीर प्रतिसंबंधिन्यात्मशब्दस्य प्रयोग प्राचुर्यात्—"आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्" आत्मन् आकाशस्संभूतः "इत्यादिषु शरीरप्रतिसंबंधि चेतन एव प्रतीयते यथा गोशब्दस्यानेकार्थवाचित्वेऽपि प्रयोगप्राचुर्यात् सास्नादिमानेव स्वतः प्रतीयते। अर्थान्तरप्रतीतिस्तु तत्तदसाधारणनिर्देशापेक्षा, तथास्वतःप्राप्तं शरीरप्रतिसंबंधिचेतनाभिधानमेव। "सईक्षत लोकान्नु सृजां इति "सोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेय" इत्यादि तत्तद् वाक्य विशेषावधारितान्यसाधारणानेकापूर्वार्थविशिष्टं निखिल जगदेककारणं "सदेव सोम्य" इत्यादिवाक्यसिद्धं ब्रह्मैवाकाश शब्देन प्रसिद्धवत् "सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि" इत्यादि वाक्येन निर्दिश्यत् इति सिद्धम्।

जो यह कहा कि—आत्मा शब्द केवल चैतन्यता का ही बोधक नहीं है अपितु "मृदात्मको घटः" इत्यादि अचेतन बोधक आत्म शब्द के प्रयोग भी होते हैं। इस पर कथन यह है कि—यद्यपि चेतन से अतिरिक्त भी कही आत्मा शब्द का प्रयोग होता है फिर भी प्रायः शरीर संबंधी प्रयोग ही अधिकतर होते हैं "सृष्टि के पूर्व एक आत्मा ही था" आत्मा से आकाश हुआ" इत्यादि में शरीर संबंधी चेतन का प्रयोग ही प्रतीत होता है। जैसे कि गोशब्द अनेकार्थवाची है, पर प्रायः गोशब्द के उच्चारण से सास्नादिलांगूल वाली गौ की ही प्रतीति होती है। विशेष अर्थ की

प्रतीति तो, उस अर्थ संबंधी असाधारण निर्देश से अपेक्षित होती है, स्वतः ज्ञात अर्थ तो शरीर सबंधी चेतनाभिधायक ही है। "उसने सोचा कि लोक की सृष्टि करूँ" उसने सोचा अनेक रूप धारण करूँ "इत्यादि वाक्य सामर्थ्यवान चेतन शक्ति को ही जगत कर्त्ता के रूप मे वर्णन करते हैं, वाक्यशेष शब्दो द्वारा प्रतिपादित तथा अनन्य असाधारण अलौकिकार्थ बोधक "सदेव सौम्य।" इत्यादि वाक्य सिद्ध ब्रह्म ही "आकाश" शब्द से प्रसिद्ध की तरह "सर्वाणि ह्वा इमानि भूतानि" इत्यादि वाक्यो में बतलाए गए है।

९ अधिकरण—

अत एव प्राणः १।१।२४॥

इदमाम्नायते छांदोग्ये–'प्रस्तोतर्या देवता प्रस्तावमन्वायत्ता" इति प्रस्तुत्य "कतमा सा देवतेति प्राण इति होवाच सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसंविशंति प्राणमभ्युज्जिहते सैषा देवता प्रस्तावमन्वायत्ता तां चेदविद्वान् प्रास्तोष्यो मूर्धा ते व्यपतिष्यत" इति।

ऐसा छांदोग्योपनिषद् में वर्णन आता है कि—"हे स्तोत्र पाठक ! जो देवता प्रस्ताव में अनुगत हैं" इस भूमिका के बाद जिज्ञासा की गई कि "वे देवता कौन हैं [इसके उत्तर में उषस्ति ऋषि ने प्रस्तोता से कहा–]" प्राण "ही वे देवता है, ये सारे भूत समुदाय प्राण में ही प्रवेश करते हैं, प्राण से ही उत्पन्न होते हैं, वे प्राण देवता ही प्रस्ताव के लिए अनुगत हैं। उनको न जानकर (अर्थहीन) स्तोत्र पाठ करोगे तो तुम्हारा मस्तक कट कर गिर जावेगा।"

अत्र प्राणशब्दोप्याकाशशब्दवत् प्रसिद्धप्राणव्यतिरिक्ते परस्मिन्नेव ब्रह्मणि वर्त्तते, तदसाधारणनिखिलजगत्प्रवेशनिष्क्रमणादिलिंगात् प्रसिद्धवन्निर्दिष्टात्। अधिकाशंका तु कृत्स्नस्यभूतजातस्य प्राणाधीनस्थितिप्रवृत्यादिदर्शनात् प्रसिद्धएव प्राणो जगत्कारणतया निर्देशमर्हति इति।

उक्त श्रुति बतलाती है कि–आकाश शब्द की तरह प्राण शब्द भी, प्रसिद्ध प्राण से भिन्न परमात्मा का ही वाचक है। समस्त जगत् के असाधारण प्रवेश निष्क्रमण आदि के उल्लेख तथा प्रसिद्ध की तरह निर्देश से उक्त बात की ही पुष्टि होती है। इस पर एक विशेष शंका की जाती है कि—संपूर्ण भूत समुदाय से उद्भूत पदार्थों की स्थिति, प्रवृति आदि प्राणाधीन ही देखी जाती है। इसलिए जगत्कर्त्ता के रूप में प्रसिद्ध प्राण का ही निर्देश प्रतीत होता है।

परिहारस्तु—शिलाकाष्ठादिषु चेतनस्वरूपे च तदभावात् "सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसंविशंति प्राणमभ्युज्जिहते" इति नोपपद्यत इति। अतः प्राणयति सर्वाणि भूतानि इति कृत्वा परंब्रह्मैव प्राणशब्देनाभिधीयते। अतः प्रसिद्धाकाश प्राणादेरन्यदेव निखिलजगदेककारणमपहतपाप्मत्वसार्वज्ञसर्वसंकल्पात्वाद्यनंतकल्याणगुणगणं परंब्रह्मैवाकाश प्राणादिशब्दाभिधेयमिति सिद्धम्।

परिहार—शिलाकाष्ठ आदि के चेतन स्वरूप में उस प्राण का अभाव है, "सारे भूत प्राण में ही स्थित हैं तथा प्राण से ही उद्गत होते हैं" इस प्रमाण से भूत समुदाय की स्थिति प्राण में बतलाई गई है, यदि इसे प्रसिद्ध प्राण का वर्णन मान लें तो निष्प्राण शिलाकाष्ठादि की संगति कैसे बैठेगी। सभी भूतों को प्राणित करता है, इस व्युत्पत्ति के अनुसार परब्रह्म ही प्राणवाची सिद्ध होता है। प्रसिद्ध आकाश और प्राण से भिन्न संपूर्ण जगत का कारण निष्पाप, सर्वज्ञ, सत्यसंकल्प, अनंत कल्याण गुणों वाला परमात्मा ही आकाश प्राण आदि शब्दवाची है।

१० अधिकरण—

अतः परं जगत्कारणत्वव्याप्तेन येन केनापिनिरतिशयोत्कृष्टगुणेन जुष्टं ज्योतिरिन्द्रादिशब्दैरर्थान्तरप्रसिद्धैरप्यभिधीयमानं परंब्रह्मैवेत्यभिधीयते, ज्योतिश्चरणाभिधानात् इत्यादिना।

जगतकर्त्ता के समर्थक जो भी गुण आवश्यक है अर्थान्तर में प्रसिद्ध ज्योति इन्द्र इत्यादि शब्दवाची सभी गुण विशेष परब्रह्म के हैं, ऐमा "ज्योतिश्चरणाभिधानात्" सूत्रो मे बतलावेगे ।

ज्योतिश्चरणाभिधानात् १।१।२५॥

इदमाम्नायते छांदोग्ये—"अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते विश्वतः पृष्ठेषु सर्वतः पृष्ठेष्वनुत्तमेषुलोकेष्विदं वाव तद्यदिमस्मिन्नन्तः पुरुषेज्योतिः" इति । तत्र संशयः किमयं ज्योतिशशब्देननिर्दिष्टोनिरतिशयदीप्तियुक्तोर्थः प्रसिद्धमादित्यादिज्योतिरेव कारणभूत ब्रह्म उत् समस्तच्दिचिद्वस्तुजातविसजातीयः परमकारणभूतोऽमितभाः सर्वज्ञः सत्यसंकल्पः पुरुषोत्तमः इति ।

छांदोग्य का प्रवचन है कि—"द्युलोक,'विश्व, तथा उत्तमाधम समस्त लोकों के ऊपर जो ज्योति प्रकाशित हो रही है वह पुरुषों की अन्तःस्थ ज्योति ही है।' इस प्रसंग पर संशय होता है कि—क्या उक्त ज्योति शब्द से निर्दिष्ट अतिशय दीप्ति अर्थवाली प्रसिद्ध सूर्य आदि की ज्योति ही कारण ब्रह्म है अथवा समस्त जडचेतन वस्तुओं से बिलक्षण सभी के कारण अमित दीप्तिमान सर्वज्ञसत्यसंकल्प पुरुषोत्तम ज्योतिनाम से अभिहित हैं ?

कि युक्तम् ? प्रसिद्धमेव ज्योतिरिति । कुतः प्रसिद्धवन्निर्देशेऽप्याकाशप्राणादिवत् स्ववाक्योपात्तपरमात्मव्याप्त लिगविशेषा दर्शनात्, परमपुरुष प्रत्यभिज्ञानासंभवात्, कौक्षेयज्योतिषैक्योपदेशाच्च प्रसिद्धमेव ज्योतिः कारणत्वव्याप्तनिरतिशय दीप्तियोगाज्जगत्कारणं ब्रह्मेति ।

उक्त दोनों में कौन समीचीन है ? (पूर्वपक्ष) प्रसिद्ध ज्योति ही कारण ब्रह्म हो सकती है क्यों कि—प्रसिद्ध की तरह निर्देश होते हुए भी आकाश और प्राण की तरह उक्त वाक्य में, परमात्म ग्राहक कोई निर्देश नहीं किया गया है तथा ज्योति की परमात्म विषयक कोई

प्रत्यभिज्ञा भी नहीं की गई है। उदरस्थ ज्योति से प्रसिद्ध ज्योति का ऐक्य भी बतलाया है। जिससे ज्ञात होता है कि—प्रसिद्ध ज्योति ही कारण ब्रह्म है।

सिद्धान्त—एवं प्राप्ते प्रचक्ष्महे—ज्योतिश्चरणाभिधानात्द्यु संबंधितयानिर्दिष्टं निरतिशयदीप्तियुक्तं परमपुरुष एव। कुतः? "पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतंदिवि" इत्यस्यैव द्यु संबधिनश्चरणत्वेन सर्वंभूताभिधानात्।

सिद्धान्त—इस पर मेरा मत यह है कि—द्युलोक से संबद्ध अतिशय दीप्तमती ज्योति परब्रह्म ही है, क्यों कि—"समस्त भूत समुदाय उसका एक पाद है तथा उससे तीन पाद द्युलोक में स्थित हैं" इस वाक्य में समस्त भूत समुदाय को द्यु संबंध विशिष्ट उक्त ज्योति के चरण रूप से कहा गया है।

एतदुक्तं भवति—यद्यपि—"अथ यदतः परोदिवो ज्योतिः" इत्यस्मिन्वाक्ये परमपुरुषासाधारणलिंगनोपलभ्यते, तथापि पूर्वं वाक्ये द्यु संबंधितयापरमपुरुषस्य निर्देशादिदमपि द्यु संबंधिज्योतिस्स एवेति प्रत्यभिज्ञायत इति। कौक्षेयज्योतिषैक्योपदेशश्च फलाय तदात्मकत्वानुसंधानविधिरिति न कश्चिद्दोषः, कौक्षेयज्योतिषश्चतदात्मकत्वं भगवता स्वयमेवोक्तम् "अहंवैश्वानरोभूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः" इति।

कथन यह है कि—"इस द्यु लोक के ऊपर जो ज्योति प्रकाशित हो रही है" इस वाक्य में यद्यपि परंपुरुष का ग्राहक कोई लिंग (चिन्ह) नहीं है, फिर भी पूर्व वाक्य में द्यु संबंधी जिस परंपुरुष का निर्देश है, उसी से इस वाक्य की उल्लेख्य ज्योति विशिष्ट का संबंध समन्वय प्रतीत होता है, इस ज्योति से उदरस्थ ज्योति की जो एकता बतलाई गई वह भी इसी तथ्य की पुष्टि करती है। फल विशेष की प्राप्ति के लिए ही उदरस्थ ज्योति की एकता बतलाई गई है। उदरस्थ ज्योति की ब्रह्मा-

त्मकता स्वयं भगवान ने ही बतलाई है—"मैं ही प्राणियों में जाठराग्नि के रूप में स्थित हूँ ।"

छन्दोभिधान्नेतिचेन्न तथा चेतोऽर्पणनिगमात्तथाहिदर्शनम् ।१।१।२६॥

पूर्वस्मिन् वाक्ये "गायत्री वा इदं सर्वम्" इति गायत्र्याख्यं छंदोऽभिधाय "तदेतदृचाऽभ्यनूक्तम्" इत्युदाहृतायाः "तावानस्य महिमा" इत्युक्त्वा ऋचोऽपि छन्दोविषयत्वान्नात्र परं पुरुषाभिधानमिति चेत् ।

तन्न, तथा चेतोऽर्पणनिगमात् न गायत्री शब्देन छंदोमात्र इहाभिधीयते छंदोमात्रस्य सर्वात्मकत्वानुपपत्तेः अपि तु ब्रह्मण एव गायत्री चेतोऽर्पणमिह निगद्यते । ब्रह्मणि गायत्री सादृश्यानुसंधानं फलायोपदिश्यत् इत्यर्थः ।

उक्त ज्योति प्रसंग के पूर्ववर्त्ती वाक्य में "गायत्री ही ये सारा जगत है" गायत्री छंद का उल्लेख करके—"इसे ही मत्र कहते है" यह समस्त उसी की महिमा है" इत्यादि में गायत्री मत्र का ही उल्लेख है इसलिए उक्त प्रसंग परमपुरुष का अभिधायक नही है; ऐसा कथन असंगत है । उक्त प्रसंग में वस्तुतः चित्त समर्पण की विधि का उल्लेख है । यहाँ "गायत्री" शब्द केवल छंद के अर्थ में ही प्रयुक्त हो सो बात नहीं है, अपितु गायत्री से ब्रह्म अर्थ भी अभिप्रेत है, उसी में चित्त समर्पण का उपदेश दिया गया हैं, अर्थात् फलविशेष की प्राप्ति के लिए, ब्रह्म का ही गायत्री की तरह चिन्तन करने का उपदेश दिया गया है ।

संभवति च—"पादोऽस्य सर्वाभूतानि, त्रिपादस्यामृतं दिवि" इति चतुष्पदो ब्रह्मणश्चतुष्पदया गायत्र्या च सादृश्यम् । चतुष्पदा च गायत्री क्वचिदृश्यते । तद्यथा—"इन्द्रः शचीपतिः । बलेन पोड़ितः । दुश्च्यवनो वृषा । समित्सुसासहिः" इति । तथा ह्यन्यत्रापि सादृश्याच्छन्दोभिधायी शब्दोऽर्थान्तरे प्रयुज्यमानो दृश्यते । यथा

संवर्गविद्यायाम्—"ते वा एते पंचान्ये दश संपद्यंते" इत्यारभ्य "सैषा विराडन्नात्" इत्युच्यते ।

"इसके एक चरण में सारा विश्व है, तथा इसके तीन चरण अमृत द्यु लोक में हैं" इस श्रुति से चतुष्पद ब्रह्म से चतुष्पदा गायत्री का सादृश्य ज्ञान होता है । कहीं-कहीं चतुष्पदा गायत्री देखी भी जाती है, जैसे कि—(१) "इन्द्र शचीपतिः (२) बलेन पीड़ितः (३) दुश्च्यवनो वृषा (४)" समित्सु सासहिः कहीं सादृश्य छंदबोधक शब्द का दूसरा अर्थ भी देखा जाता है । जैसा कि संवर्ग विद्या में—"ये अग्नि आदि पंच महाभूत और वाग् आदि पंच ज्ञानेन्द्रिया मिलकर दस होते हैं ।" ऐसा कहकर "वे ही विराट के भक्ष्य अन्न हैं ।" ऐसा बतलाया गया ।

इतश्च गायत्री शब्देन ब्रह्मैवाभिधीयते—

इसलिए भी गायत्री शब्द से ब्रह्म की प्रतीति होती है कि—

भूतादिपादव्यपदेशोपपत्तेश्चैवम् ।१।१।२७॥

भूतपृथिवीशरीरहृदयानि निर्दिश्य "सैषा चतुष्पदा" इति व्यपदेशो ब्रह्मण्येव गायत्री शब्दाभिधेय उपपद्यते ।

भूत, पृथ्वी, शरीर और हृदय को निर्देश करते हुए बतलाया गया कि—"इन चारों से चतुष्पदा हैं ।" ऐसा व्यपदेश ब्रह्म के लिए ही, गायत्री शब्द से किया गया है ।

उपदेशभेदान्नेति चेन्नोभयस्मिन्नप्यविरोधात् ।१।१।२८॥

पूर्ववाक्ये "त्रिपादस्यामृतं दिवि" इति दिवोऽधिकरणत्वेन दिनिर्देशादिह च दिवः पर इत्यवधित्वेन निर्देशादुपदेशस्य भिन्नरूपत्वेन पूर्ववाक्योक्तं ब्रह्म परस्मिन्न प्रत्यभिज्ञायत इति चेत्-तन्न उभयस्मिन्नपि उपदेशे अर्थस्वभावैक्येन प्रत्यभिज्ञाया अविरोधात् । यथा—"वृक्षाग्रे श्येनो वृक्षाग्रात्परश्श्येनः" इति । तस्मात् परमपुरुष एव निरतिशयतेजस्को दिवःपरःज्योतिर्दीप्यत इति प्रतिपाद्यते ।

यदि कहें कि—"इसके अमृत स्वरूप तीन चरण द्यु लोक में हैं" इस वाक्य में द्यु लोक को तीन चरणों का अधिकरण कहा गया है और "द्यु लोक से पर" इस वाक्य में उसकी अवधि कही गई है, इस प्रकार दोनों उपदेशों में विभिन्नता है। इसलिए ये दोनों बचन ब्रह्मवाची नहीं हैं। आपका यह कथन असंगत है। दोनों विभिन्न होते हुए भी एकार्थक हैं, इसलिए सिद्धान्त समर्थन में विरोध नही है। जैसे कि—"वृक्ष की फुनगी में बाज है' या 'वृक्ष के ऊपर बाज है' इस कथन में कोई अर्थ भेद नहीं है। इसलिए परम पुरुष के ही असीम तेज का 'परोदिवोज्योतिर्दीप्यते' ऐसा प्रतिपादन किया गया है।

"एतावानस्य महिमा, अतोज्यायाँश्च पूरुषः, पादोऽस्य विश्वाभूतानि, त्रिपादस्यामृतं दिवि" इति प्रतिपादितस्य चतुष्पदः परमपुरुषस्य "वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्, आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्" इत्याभिहिताप्राकृतरूपस्य तेजोऽप्यपाकृतमिति तद्वत्तया स एव ज्योतिःशब्दाभिधेय इति निरवद्यम्।

"इसकी महिमा पुरुष नाम से भी महान है, इसके एक चरण में विश्व के समस्त भूत हैं तथा तीन अमृतमय चरण द्यु लोक में व्याप्त हैं।" इस वाक्य के प्रतिपादित चतुष्पद परं पुरुष का ही "आदित्यवर्ण (ज्योतिर्मय) अज्ञानातीत इस महापुरुष को जानता हूँ" इस प्रकार अलौकिक वर्णन किया गया है। इससे ज्ञात होता है कि—अप्राकृत रूप संपन्न ज्योति भी अलौकिक ही है। इसलिए निर्दोष ब्रह्म ही ज्योति शब्दवाची है ऐसा सिद्ध होता है।

११. अधिकरण—

निरतिशय दीप्तियुक्तं ज्योतिष्शब्दाभिधेयं प्रसिद्धवन्निर्दिष्टम् परमपुरुष एवेत्युक्तं; इदानीं कारणत्वव्याप्तामृतत्वप्राप्त्युपायतयोपास्यत्वेन श्रुत इन्द्रप्राणादिशब्दाभिधेयोऽपि परमपुरुष एवेत्याह—

प्रसिद्ध की तरह निर्दिष्ट असीम दीप्तिमान् ज्योति परं पुरुष ही हैं ऐसा सिद्ध किया गया। अब कारण के अनुगत धर्म

अमरता आदि की प्राप्ति के उपाय और उपास्य भाव से प्राप्त इन्द्र और प्राण आदि भी परब्रह्म ही है, इसका प्रतिपादन करते है।

प्राणस्तथाऽनुगमात् ।१।१।२९।।

कौषीतकी ब्राह्मणे प्रतर्दनविद्यायां "प्रतर्दनो ह वै दैवोदासिरिन्द्रस्य प्रियंधामोपजगाम युद्धेन च पौरुषेण च" इत्यारभ्य "वरवृणीष्व" इति वक्तारमिन्द्र प्रति "त्वमेव मे वरंवृणीष्व यं त्वं मनुष्याय हिततमंमन्यसे" इति प्रतर्दनेनोक्ते "स होवाच प्राणोऽस्मिन् प्रज्ञात्मा तं मामायुरमृतमित्युपास्स्व" इति श्रूयते। तत्र संशयः, किमत्रं हिततमोपासनकर्मतयेन्द्रप्राणशब्दनिर्दिष्टो जीव एव, उत तदतिरिक्तः परमात्मा इति। किं युक्तम् ?

कौषीतकि ब्राह्मण की प्रतर्दन विद्या में—'दिवोदास का पुत्र प्रतर्दन, युद्ध और पौरुष के बल से इन्द्र के प्रिय भवन मे पहुँच गया" ऐसा प्रारभ करके—"तुम वर की प्रार्थना करो" ऐसा उपदेष्टा इन्द्र से "तुम ही मेरे वर हो, मुझे वह उपदेश देकर स्वीकारो जिसे कि मनुष्यों के लिए हितकर समझते हो 'ऐसा प्रतर्दन के कहने पर' उस इन्द्र ने कहा—मै ही प्रज्ञात्मक प्राण हूँ तुम मुझे अमृत और आयु समझ कर मेरी उपासना करो" ऐसा वर्णन किया गया है। साशय होता है कि—जो हिततम उपास्य इन्द्र हैं वो प्राण शब्द निर्दिष्ट जीव है अथवा परमात्मा ?

जीव एवेति, कुत ? इन्द्रशब्दस्य जीवविशेष एव प्रसिद्धेः तत्समानाधिकरणस्य प्राणशब्दस्यापि तत्रैव वृत्तेः। अयमिन्द्राभिधानो जीवः प्रतर्दनेन "त्वमेव मे वरंवृणीष्व यं त्वं मनुष्याय हिततमंमन्यसे" इत्युक्तः "मामुपास्व" इति स्वात्मोपासनं हिततममुपदिदेश। हिततमश्चामृतत्व प्राप्त्युपाय एव। जगत्कारणोपासनस्यैवामृतत्व प्राप्ति हेतुता—"तस्य तावदेवचिरं यावन्न विमोक्ष्ये अथ संपत्स्ये" इत्यवगता। अतः प्रसिद्ध जीवभाव इन्द्र एव कारणं ब्रह्म।

(पूर्वपक्ष) जीव ही हो सकता है, क्योंकि—इन्द्र शब्द की जीव विशेष के रूप में प्रसिद्धि है और उसका सामानाधिकरण्य रूप प्राण भी उसी अर्थ का बोधक है। इन्द्र नामक जीव से प्रतर्दन ने कहा कि—"तुम्ही मेरे लिए श्रेष्ठ हो, मुझे वो उपदेश दो जो मनुष्य के लिए हितकारी हो" इस पर इन्द्र ने कहा—"मेरी ही उपासना करो" इस प्रसँग में हिततम आत्मोपासना का उपदेश दिया गया है। हिततम की उपासना ही अमृतत्व प्राप्ति का उपाय है। जगतकर्त्ता की उपासना, की अमृतत्त्व प्राप्ति हेतुता भी—"उसके मोक्ष मे तभी तक का विलम्ब है जब तक शरीर से छुटकारा नहीं मिलता, उसके बाद ही मोक्ष संपन्न होता है।" इस वाक्य से ज्ञात होती है। इससे सिद्ध होता है कि प्रसिद्ध जीवभाव को प्राप्त इन्द्र ही कारण ब्रह्म है।

इत्याशंकायामभिधीयते—प्राणस्तथानुगमात् इति, अयमिन्द्रप्राण शब्द निर्दिष्टो न जीवमात्रम्, अपि तु जीवादर्थान्तरभूतं परंब्रह्म। "स एष प्राण एव प्रज्ञात्मा आनंदोऽजरोऽमृतः" इतीन्द्रप्राणशब्दाभ्यांप्रस्तुतस्यानंदाजरामृतशब्द सामानाधिकरण्येनानुगमो हि तथा सत्येवोपपद्यते।

उक्त संशय की निवृत्ति के लिए ही "प्राणस्तथानुगमात्" सूत्र बनाया गया है। इन्द्र शब्द प्राण शब्दवाची भी है एक मात्र जीव विशेष का ही बोधक नही है अपितु जीव से भिन्न परमात्मवाची भी है। "यह प्रज्ञात्मक प्राण ही आनंद, अजर और अमृत स्वरूप है" इत्यादि वाक्य में इन्द्र और प्राण के लिए प्रस्तुत आनंद, अजर और अमृत शब्द का सामानाधिकरण्य सही ढंग से होता है।

न वक्तुरात्मोपदेशादिति चेदध्यात्मसंबंधभूमाह्यस्मिन् १।१।३०॥

यदुक्तमिन्द्रप्राणशब्द निर्दिष्टस्य "आनंदोऽजरोऽमृतः इत्यनेनैकार्थ्यादियं परंब्रह्मेति। तन्नोपपद्यते" मामेव विजानीहि" "प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा त मामायुरमृतमित्युपास्स्व" इति वक्ताहीन्द्रः "त्रिशीर्षणं त्वाष्ट्रमहनम्" इत्येवमादिना त्वाष्ट्रवधादिभिः प्रज्ञात

जोवभावस्य स्वात्मन् एवोपास्यतां प्रतर्दनायोपदिशति । अत उपक्रमे जोवविशेष इत्यवगते सति "आनंदोऽजरोऽमृतः" इत्यादिभिरुपसंहार-स्तदनुगुण एव वर्णनीय इति चेत् ।

जो यह कहा कि—इन्द्र प्राण शब्द "आनंद अजर अमर" से एकार्थक होने से ब्रह्म के ही बोधक हैं सो ठीक नहीं जंचता क्योंकि—"मुझे ही प्रज्ञात्मक प्राण जानो और मेरे इस अमृत आयुरूप की उपासना करो" ऐसा कहने वाले इन्द्र ने "तीन सिर वाले त्वष्ट्रा का मैंने बध किया" इत्यादि से ज्ञात त्वष्ट्रा के बधकर्त्ता होने से, जीव रूप अपने को ही उपास्य रूप से प्रतर्दन विद्या में उपदेश किया है। इस उपक्रम के अनुसार ही "आनंद अजर अमर" इस उपसंहारात्मक वाक्य की भी व्याख्या करनी चाहिए।

परिहरति—अध्यात्मसंबंध भूमाह्यस्मिन्आत्मनि यः संबंधः सो अध्यात्म सबंधः। तस्य भूमा-भूयस्त्वम्-बहुत्वमित्यर्थः। आत्म-न्याधेयतया संबंध्यमानानां बहुत्वेन संबध बहुत्वंम्। तच्चास्मि-न्वक्तरि परमात्मन्येव हि संभवति ।

उक्त संशय का परिहार करते हुए सूत्रकार कहते हैं—आत्मा का जो संबंध है वह अध्यात्म है जो कि—भूमा अर्थात् बाहुल्य बोधक है। आत्मा में आधेय रूप से जो अनेक गुणों का संबंध बाहुल्य दिखलाया गया है वह परमात्मा में ही संभव हो सकता है।

"तद्यथा रथस्यारेषु नेमिरर्पिता नाभावरा अर्पिता एवमेवैता भूतमात्राः प्रज्ञामात्रास्वर्पिताः प्रज्ञामात्राः प्राणेऽर्पिताः स एष प्राण एव प्रज्ञात्माऽजरोऽमृतः" इति भूतमात्राशब्देनाचेतनवस्तुजातमभिधाय प्रज्ञामात्रा शब्देन तदाधारतया प्रकृतमिन्द्रप्राणशब्दाभिधेयं निर्दिश्य तमेव "आनंदोऽजरोऽमृतः" इत्युपदिशति। तदेतच्चेतना चेतनात्मक कृत्स्नवस्त्वाधारत्वंजीवादर्थान्तरभूतेऽस्मिन् परमात्म-न्येवोपपद्यत इत्यर्थः।

जैसे कि—"रथ के आराओं में नेमि बंधा रहता है आरा नाभि में बंधे रहते हैं, वैसे ही ये भूतमात्रायें, प्रज्ञामात्राओं में बंधी रहती हैं, प्रज्ञामात्रायें प्राण में बंधी रहती हैं, वह प्राण ही प्रज्ञात्म आनंद, अजर अमृत है" यहाँ भूतमात्रा से अचेतन वस्तुओं का निर्देश करके, प्रज्ञामात्र चेतनवर्ग को उसका आधार बतलाते हुए उसके भी आधाररूप इन्द्र को ही प्राण बतलाया गया है तथा उसे ही "आनंद अजर अमर" कहा गया है। अर्थात्–यह समस्त जड चेतनात्मक का आधार स्वरूप, जीव से विलक्षण परमात्मा का ही उपपादन किया गया है।

अथवा—अध्यात्मसंबधभूमाह्यस्मिन्-परमात्मा-साधारण धर्म-संबधोऽध्यात्म संबंधः। तस्य भूमा बहुत्वं हि अस्मिन् प्रकरणे विद्यते। तथाहि प्रथम "त्वमेव मे वरं वृणीष्व यं त्व मनुष्याय हिततमं मन्यसे" इति। "मामुपास्स्व" इति च परमात्मासाधारण-मोक्षसाधनोपासनकर्मत्वं प्राणशब्दनिर्दिश्येन्द्रस्य प्रतीयते।

"अध्यात्म संबंधभूमाह्यस्मिन्" का यह भी तात्पर्य हो सकता है कि—परमात्मा की जो असाधारण विशेषतायें हैं वह उनके अतिरिक्त किसी अन्य में संभव नहीं हैं, इस प्रकरण में उनको ही बाहुल्य बोधक भूमा शब्द से निर्देश किया गया है। तभी तो—"मनुष्यों के लिए जिसे हिततम समझते हो उसे मुझे उपदेश करो "ऐसा प्रतर्दन के कहने पर" मेरी ही उपासना करो" ऐसा परमात्मा का असाधारण, मोक्ष का साधनीभूत उपासना कर्म प्राणशब्द वाची ब्रह्म के लिए ही बतलाया गया प्रतीत होता है।

तथा—"एष एव साधुकर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषति एष एवासाधुकर्म कारयति तं यमधो निनीषति", इति सर्वस्य कर्मणः कारयितृत्वं च परमात्मधर्मः।

तथा—"उन्ही से साधुकर्म कराते हैं, जिन्हे वे ऊर्ध्वगति देना चाहते हैं, जिन्हें नीचे गिराना चाहते हैं उनसे असाधु कर्म कराते हैं" इस श्रुति से ज्ञात होता है कि–असाधारण सभी प्रकार के कर्म कराने की सामर्थ्य परमात्मा की ही है।

तथा—"तद्यथा रथस्यारेषु नेमिरर्पिता नाभावारा अर्पिताः एवमेवैता भूतमात्राः प्रज्ञामात्रास्वर्पिताः, प्रज्ञामात्राः प्राणेऽर्पिताः" इतिसर्वाधारत्वं च तस्यैव धर्मः।

तथा—"जैसे कि—रथ के आरों में निमि बंधी रहती है आरे नाभि से बंधे रहते हैं, वैसे ही भूतमात्रायें, प्रज्ञासात्राओं में बंधी रहती हैं तथा प्रज्ञामात्रायें प्राण में बंधी रहती हैं। इस श्रुति से परमात्मा की सर्वाधारकता भी ज्ञात होती है।

तथा—"स एष प्राण एव प्रज्ञात्माऽनंदोऽजरोऽमृतः" इत्येतेऽपि परमात्मन् एव धर्माः। एष लोकाधिपतिरेष सर्वेशः" इति च परमात्मन्येव संभवति। तदेवमध्यात्मसंबंधभूम्नोऽत्र विद्यमानत्वात् परमात्मैवात्रेन्द्रप्राणशब्द निर्दिष्टः।

तथा—"वही प्राण, प्रज्ञात्मा, आनन्द अजर और अमर है" इत्यादि भी परमात्मा के ही धर्म निश्चित होते हैं। "यही लोकाधिपति यही सर्वेश्वर हैं" इत्यादि विशेषतायें भी परमात्मा में ही संभव हैं। इन सब से निश्चित होता है कि-अध्यात्म सबंध बोधक भूमा परमात्मा ही, उक्त प्रसंग में इन्द्र और प्राण शब्द से निर्दिष्ट है।

कथं तर्हि प्रज्ञातजीवभावस्येन्द्रस्य स्वात्मन् उपास्यत्वोपदेशः संगच्छते ? तत्राह—

पुनः संशय करते हैं कि—यदि इन्द्र, जीवविशेष है तो फिर उसने अपनी उपासना का उपदेश कैसे दिया ? उस पर कहते हैं—

शास्त्रदृष्ट्यातूपदेशो वामदेववत् १।१।३१॥

प्रज्ञात जीवभावेनेन्द्रेण "मामेव विजानीहि" "मामुपास्स्व" इत्युपास्यस्य ब्रह्मणस्स्वात्मत्वेनोपदेशोऽयं न प्रमाणान्तरप्राप्त स्वात्मावलोकनकृतः, अपितु शास्त्रेण स्वात्मदृष्टि कृतः।

प्रसिद्ध जीव विशेष इन्द्र ने "मुझे ही जानो" मेरी ही उपासना करो" इत्यादि में जो अपने को ही उपास्य बतलाया है वह, शास्त्रोपदिष्ट

आत्म दर्शन के भाव से कहा है। अन्य प्रमाणों में जो जीवात्म चिन्तन की बात है, उस भाव से नहीं कहा है।

एतदुक्तं भवति—"अनेन जीवेनाऽत्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि"—ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्"—अन्तः प्रविष्टश्शास्ता जनानां सर्वात्मा"—य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्याऽत्मा शरीरं य आत्मानमंतरो यमयति"—एष सर्वभूतान्तरात्मा अपहतपाप्मा दिव्यो देव एकोनारायणः"—इत्येवमादीनां शास्त्रेण जीवात्मशरीरकं परमात्मानमवगम्य जीवात्मवाचिनामहंत्वमादि शब्दानामपि परमात्मन्येव पर्यवसानं ज्ञात्वा "मामेव विजानीहि"—मामुपास्स्व" इति स्वात्मशरीरकं परमात्मानमेवोपास्यत्वेनोपदिदेश।

कहने का तात्पर्य यह है कि—"इस जीव में स्वयं प्रविष्ट होकर नामरूप का विस्तार करूंगा" ये सारा जगत परमात्मा रूप ही है— "प्राणिमात्र का आत्मा, अन्तः करण में विराज कर संयमन करता है"— जो कि जीवात्मा से भिन्न है, जीवात्मा जिसे नही जानता, आत्मा उसका शरीर है जो कि-आत्मा में रहकर आत्मा का सयमन करता है"—यही प्राणिमात्र के अन्तर्यामी निष्पाप दिव्य देव एक नारायण हैं" इत्यादि शास्त्र वाक्यों से जीवात्मा रूप शरीर वाले परमात्मा को जानकर, जीवात्मवाची अहं त्वं आदि शब्दों की अंतिम सीमा परमात्मा ही है, ऐसा समझकर "मुझे ही जानो" मेरी ही उपासना करो" इत्यादि में अपने आत्मा के शरीरी परमात्मा का उपास्यरूप से उपदेश दिया गया है।

वामदेववत्—यथा वामदेवः परस्यब्रह्मणः सर्वान्तरात्मत्वं' सर्वस्य च तच्छरीरत्वं, शरीरवाचिनां च शब्दानां शरीरिणि पर्यवसानं पश्यन् "अहम्" इति स्वात्मशरीरकं परंब्रह्म निर्दिश्य, तत्समानाधिकरण्येन मनुसूर्यादीन् व्यपदिशति "तद्धैतत्पश्यन्नृषि-

वामदेवः प्रतिपेदे अहं मनुरभवं सूर्यश्चाहं कक्षीवानृषिरस्मि विप्रः" इत्यादिना। यथा च प्रह्लादः" सर्वगतत्वादनंतस्य स एवाहंमवस्थितः मत्तः सर्वमहं सर्वमपि सर्वं सनातने" इत्यादि वदति।

जैसे कि वामदेव ऋषि ने, परब्रह्म को सर्वान्तर्यामी जीवात्मा का शरीरी कहा है–शरीरवाची शब्दों की अंतिम सीमा जानकर, आत्मशरीरी परब्रह्म की ओर लक्ष्य करके उन्होंने "अहं" शब्द से सूर्य मनु आदि का समानाधिकरण बतलाया है। उन्होंने प्रसिद्ध ब्रह्म तत्व का उपदेश करते हुए कहा कि––"मैं ही सूर्य और मनु हुआ और मैं ही कक्षीवान् ऋषि हूं" इत्यादि। ऐसे ही प्रह्लाद ने भी कहा था "अनंत ब्रह्म सर्वगत हैं, मैं भी उन्हीं में स्थित हूं, मुझसे ही सारा जगत हुआ है।"

अस्मिन् प्रकरणे जीववाचिभिश्शब्दैरचित्विशेषाभिधायिभिश्चोपास्यभूतस्य परस्यब्रह्मणोऽभिधाने कारणं चोद्यपूर्वकमाह––

इस प्रकरण में जीव वाची शब्दों तथा अचिद्विशेषाभिधायि शब्दों द्वारा उपास्य ब्रह्म का उपदेश दिया गया है, इसी तथ्य को शंका समाधान पूर्वक पुनः कहते हैं––

जीवमुख्यप्राण लिंगान्नेति चेन्नोपासत्रैविध्यादाश्रितत्वादिह तद्योगात् १।१।३२॥

"न वाचं विजिज्ञासीत वक्तारं विद्यात्" त्रिशीर्षाणं त्वाष्ट्रमहनम् "अरुन्मुखान्यतीन् सालावृकेभ्यः प्रायच्छम्" इत्यादि जीवलिंगात् "यावदस्मिन् शरीरे प्राणो वसतितावदायुः" अथखलु प्राण एव प्रज्ञात्मेदं शरीरं परिगृह्योत्थापयति" इति मुख्य प्राण लिंगाच्च नाध्यात्मसंबंधभूमेति चेत्-न, उपासात्रैविध्यात् हेतोः, उपासनात्रैविध्यमुपदेष्टुं तत्तच्छब्देनाभिधानम्-निखिल कारणभूतस्य ब्रह्मणः स्वरूपेणानुसंधानम्, भोक्तृवर्ग शरीरकत्वानुसंधानं भोग्यभोगोपकरणशरीरकत्वानुसंधानंचेति, त्रिविधमनुसंधानमुपदेष्टुमित्यर्थः।

"वाक्य विषयक जिज्ञासा मत करो वाचक को जानने की चेष्टा करो" तीन शिर वाले, त्वष्टा के पुत्र विश्वरूप को मारा "वेदानभिज्ञ यनियों को गृहपालित कुत्तों की तरह दिया" इत्यादि जीववाची प्रमाणों तथा "इस शरीर में जब तक प्राण रहते हैं तभी तक शरीर की आयु होती है" प्रज्ञात्मक प्राण ही शरीर को सहारा देकर उठाता है" इत्यादि मुख्य प्राण वाची प्रमाणों से सिद्ध होता है कि-अध्यात्म सम्बन्धी बाहुल्य ही शास्त्रों का अभिधेय नहीं है। उक्त कथन उपयुक्त नहीं है—क्यो कि शास्त्रों में तीन प्रकार की उपासना बतलाई गई है (१) निखिल कारण स्वरूप ब्रह्म का उसके रूप में ही अनुसंधान (२) भोक्ता शरीरक जीवात्मा का अनुसधान (३) भोग्य शरीर का अनुसंधान। अर्थात् तीन प्रकार के अनुसंधानों का उपदेश मिलता है।

तदिदं त्रिविधं ब्रह्मानुसंधानं प्रकरणान्तरेष्वप्याश्रितम्—"सत्यंज्ञानमनंतंब्रह्म" "आनंदोब्रह्म" इत्यादिषु स्वरूपानुसंधानम्। तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्, तदनुप्रविश्य सच्चत्यच्चाभवत्, निरुक्तं चानिरुक्तं च, निलयनं चानिलयनं च, विज्ञानं चाविज्ञानं, सत्यं चानृतं च, सत्यमभवत्।" इत्यादिषु भोक्तृशरीरतया, भोग्यभोगोपकारणशरीरतया चानुसंधानम्। इहापि प्रकरणे त्रिविधमनुसंधानं युज्यत एवेत्यर्थः।

उक्त तीनों प्रकार के अनसंधानों का वर्णन विभिन्न श्रुतियो में मिलता है—"ब्रह्म सत्य ज्ञान अनंत स्वरूप है "ब्रह्म आनन्द स्वरूप है" इत्यादि श्रुतियों में स्वरूपानुसंधान का निर्देश है। "उसकी रचना करके उसी में प्रविष्ट हो गए, उसमें प्रविष्ट होकर सत् और त्यत् (परोक्ष अपरोक्ष) निरुक्त और अनिरुक्त (वाच्य और अनिर्वाच्य) निलयन और अनिलयन (आश्रित और अनाश्रित) विज्ञान और अविज्ञान (चेतन और जड़) सत्य और असत्य हुये" इत्यादि श्रुति, भोक्ता जीव और भोग्य शरीर के रूप में अनुसधान का उपदेश देती है। इस इन्द्र प्रणादि प्रकरण में भी त्रिविध ब्रह्मानुसधान का ही उपदेश है, ऐसा मानना चाहिये।

एतदुक्तं भवति—यत्र हिरण्यगर्भादिजीवविशेषाणां प्रकृत्याद्यचेतनविशेषाणां च परमात्मासाधारणधर्मयोगतदभिधायिनां शब्दानांपरमात्मवाचिशब्दैः सामानाधिकरण्यं वा दृश्यते। तत्र परमात्मानः तत्तच्चिदाचिद्विशेषान्तरात्मत्वानुसंधानं प्रतिपिपादयिषितम्-इति। अतोत्रेन्द्रप्राणशब्दनिर्दिष्टोजीवादर्थान्तरभूतः परमात्मैवेति सिद्धम्।

कहने का तात्पर्य यह है कि—जहाँ परमात्मा की असाधारण विशेषताओं के साथ हिरण्यगर्भ आदि विशिष्ट जीवों का अथवा प्रकृति आदि विशिष्ट अचेतनों का योग दिखलाई देता है अथवा हिरण्यगर्भ आदि विशिष्ट जीवों के वाचक या प्रकृति आदि शरीर वाचक शब्दों का, परमात्म सम्बन्धी शब्दों के साथ सामानाधिकरण्य दिखलाया गया है, उससे समझना चाहिए कि परमात्मा के इन दोनों जड़ और चेतन रूपों के आत्मानुसंधान का प्रतिपादन किया गया है।

इससे निश्चित होता है कि—उक्त प्रकरण में भी, जीव से विलक्षण परमात्मा का ही, इन्द्र प्राण आदि शब्दों से प्रतिपादन किया गया है।

प्रथम पाद समाप्त

[प्रथम अध्याय]

[द्वितीय पाद]

प्रथमपादे अधीतवेदः पुरुषः कर्ममीमांसाश्रवणाधिगतकर्म याथात्म्यविज्ञानः केवल कर्मणामल्पास्थिरफलत्वमवगम्य वेदांतवाक्येषुचापातप्रतीतानंतस्थिरफल ब्रह्मस्वरूप तदुपासनसमुपजातपरमपुरुषार्थलक्षणमोक्षापेक्षोऽवधारित परिनिष्पन्न वस्तुबोधनशब्दशक्तिः वेदांतवाक्यानां परस्मिन्ब्रह्मणि निश्चितप्रमाणाभावस्तदितिकर्त्तव्यतारूपशारीरकमीमांसा श्रवणमारेभेतेत्युक्तं शास्त्रारंभ सिद्धये ।

प्रथमपाद मे कहा गया कि–वेदाध्ययन के उपरान्त कर्ममीमांसा के श्रवण करने पर कर्म सम्बन्धी ज्ञान होता है और धारणा बनती है कि–उपासना हीन कर्म का फल अल्प और अस्थिर है तथा वेदांत वाक्यो का मनन करने पर धारणा बनती है कि-ब्रह्म स्वरूप की अवगति ही अनन्त और स्थिर फल दायक है, तभी परमपुरुषार्थ मोक्ष की प्राप्ति की अभिलाषा से ब्रह्मतत्व के जानने की आकांक्षा होती है। स्वतः सिद्ध परब्रह्म को प्रमाणित करने में एकमात्र शास्त्र ही सक्षम हैं। परब्रह्म प्रतिपादक शास्त्रवाक्यों से ब्रह्म स्वरूप का यथार्थ निर्णय करने वाले शारीरक ब्रह्मसूत्रों के अध्ययन की ओर स्वाभाविक रुचि होती है, ऐसा शारीरक मीमांसा की भूमिका में ही बतलाया गया ।

अनंत विचित्रस्थिरत्रसरूप भक्तृभोग्यभोगोपकरण भोगस्थानलक्षणनिखिलजगदुदयविभवलयमहानंदैककारणंपरंब्रह्म "यतो वा इमानि" इत्यादि वाक्यं बोधयतीति च प्रत्यपादि ।

अनन्त विचित्रतापूर्ण, भोग्य, भोक्ता, भोगोपकरण और भोग स्थानमय संपूर्ण जगत की उत्पत्ति-स्थिति और लय के एकमात्र कारण, आनन्दमय परब्रह्म ही है'-ऐसा—"यतोवा इमानि" इत्यादि वाक्यों से ज्ञात होता है, इस तथ्य का भी उसी जगह प्रतिपादन किया गया।

जगदेककारणं परब्रह्म सकलेतरप्रमाणाविषयतया शास्त्रैक प्रमाणकमित्यभ्यधाम।

जगत के एकमात्र कारण परमात्मा किसी अन्य प्रमाणों से प्रमाणित नहीं हो सकते, उनको जानने के लिए शास्त्र ही एकमात्र प्रमाण हैं, इसका भी निर्णय किया गया।

शास्त्रप्रमाणकत्वंच ब्रह्मणः प्रवृत्तिनिवृत्यन्वयविरहेऽपि स्वरूपेणैव परमपुरुषार्थभूते परस्मिन्ब्रह्मणि वेदांतवाक्यानां समन्वयान्निरुह्यत इत्यब्रूम।

शास्त्र में प्राय: विधि और निषेधात्मक दोनों ही प्रकार के वाक्य मिलते हैं, किन्तु ब्रह्म की प्रामाणिकता में दोनों ही एक ही तथ्य "स्वरूप प्राप्ति" रूप परम पुरुषार्थ का ही प्रतिपादन करते हैं।

निखिलजगदेककारणतया वेदांतवेद्यंब्रह्म च ईक्षणादन्वयादानुमानिकप्रधानादर्थान्तरभूतश्चेतनविशेष एवेत्युपपादीयताम्।

वेदांत वेद्य परब्रह्म, ईक्षण आदि विशेषताओं के कारण ही जगत की आनुमानिक कारण प्रधान (प्रकृति) से भिन्न, संपूर्ण जगत् के एकमात्र कारण हैं, इसका भी उपपादन हुआ।

स च स्वाभाविकातिशयानंदविपश्चित्वनिखिलचेतनभयाभय हेतुत्वसत्यसंकल्पत्वसमस्तचेतनाचेतनान्तरात्मत्वादिभिर्बद्धमुक्तो भयावस्था जीवशब्दाभिलपनीयाचार्थान्तरभूत इति च समर्तिंथामहि।

और वही स्वाभाविक, निस्सीम, आनन्दमय विपश्चित् संपूर्ण जीवों को भय और अभय देने वाले, सत्य संकल्प, समस्त जड़ चेतनात्मक जगत के अन्तर्यामी परब्रह्म; बद्ध और मुक्त अवस्था वाले जीवात्मा से विलक्षण हैं—इसका भी समाधान किया गया—

स चाप्राकृताकर्मनिमित्तस्वासाधारणदिव्यरूप इत्युदैरिराम् ।

वह अप्राकृत और शुभाशुभ कर्मों के अधीन नहीं हैं, वह तो असाधारण सर्वतंत्र स्वतंत्र हैं, इसका भी उल्लेख किया गया ।

आकाशप्राणाद्यचेतनविशेषाभिधायिभिर्जगतकारणतया प्रसिद्ध वन्निर्दिश्यमानःसकलेतरचेतनाचेतनविलक्षणस्स एवेति समगरिष्महि ।

अचेतन वाचक आकाश-प्राण आदि शब्द, जगत कारण रूप से प्रसिद्ध की तरह निर्दिष्ट हैं जो कि जड़-चेतन से विलक्षण परमात्मा के ही द्योतक हैं, यह भी कहा गया ।

परतत्त्वासाधारणनिरतिशयदीप्तियुक्तज्योतिश्शब्दाभिधेयो द्युसंबंधितया प्रत्यभिज्ञानात स एवेत्यातिष्ठामहि ।

वह परब्रह्म ही असाधारण अतिशय ज्योति स्वरूप हैं, ऐसा ज्योति वाचक वेदांत वाक्यों के लिए निर्णय किया गया ।

परमकारणासाधारणामृतत्वप्राप्ति हेतुभूतः परमपुरुष एव शास्त्रदृष्ट्येन्द्रादिशब्दैरभिधीयत इत्यब्रूमहि ।

परम कारण परब्रह्म की जो असाधारण विशेषता, अमरता है, उसकी प्राप्ति का हेतु भी परब्रह्म ही है, जो कि शास्त्रों में इन्द्र इत्यादि नामों से उपास्य है, यह बतलाया गया ।

तदेवमतिपतितसकलेतरप्रमाणसंभावनाभूमिस्सार्वज्ञसत्यसंकल्पत्वाद्यपरिमितोदारगुणसागरत्वात्स्वेतरसकलवस्तुविलक्षणः परंब्रह्म-पुरुषोत्तमो नारायण एव वेदांतवेद्य इत्युक्तम् ।

प्रमाण सम्बन्धी समस्त संभावनाओं से अतीत, सर्वज्ञ, सत्य संकल्प, अपरिमित उदारगुणों के सागर समस्त पदार्थों से विलक्षण परब्रह्म पुरुषोत्तम नारायण ही वेदांत वेद्य हैं, ऐसा कहा गया।

अतः परं द्वितीय-तृतीयचतुर्थेषुपादेषु यद्यपि वेदांतवेद्यं ब्रह्मैव, तथापि कानिचिद् वेदांतवाक्यानि प्रधानक्षेत्रज्ञान्तभूत वस्तुविशेषस्वरूपप्रतिपादनपराण्येवेत्याशंक्य तन्निरसनमुखेन तत्तद्-वाक्योदितकल्याणगुणाकरत्वं ब्रह्मणः प्रतिपाद्यते।

इसके बाद अग्रिम दूसरे तीसरे और चौथे पाद में यद्यपि वेदांत-वेद्य ब्रह्म का प्रतिपादन किया जावेगा, तथापि कुछ वेदांत वाक्य, प्रकृति और क्षेत्रज्ञ (जीव) का प्रतिपादन करते हुए से दीखते हैं, इस संशय का निराकरण करके, कल्याणमय गुणों के धाम ब्रह्म ही उन वाक्यों के प्रति-पाद्य हैं, ऐसा दिखलाया जावेगा।

तत्रास्पष्टजीवादिलिंगकानिवाक्यानि द्वितीयेपादे विचार्यन्ते, स्पष्टलिंगकानितृतीये, तत्तत्प्रतिपादनच्छायानुसारीणि चतुर्थे।

अस्पष्ट जीवादि लिंगक वाक्यों का द्वितीय पाद में, स्पष्ट जीवादि लिंगक वाक्यों का तृतीयपाद में तथा जीवादि प्रतिपादक वाक्यों के से आभास युक्त वाक्यों का चतुर्थपाद में विचार किया गया है।

१ अधिकरण—

सर्वत्रप्रसिद्धोपदेशात् ।१।२।१॥

इदमाम्नायते छांदोग्ये "अथखलुक्रतुमयः पुरुषो यथाक्रतुरस्मिल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति स क्रतुं कुर्वीत मनोमयः प्राणशरीरः भारूपः" इत्यादि। अत्र "स क्रतुंकुर्वीत" इति प्रतिपादितस्योपासनस्योपास्यः "मनोमयः प्राणशरीरः" इति निर्दिश्यत इति प्रतीयते।

छांदोग्योपनिषद् में कहा गया कि—"पुरुष निश्चय ही क्रतुमय (संकल्प प्रधान) होता है इस लोक में वह जैसा संकल्प करता है,

मरणोत्तर उसकी तदनुसार ही गति होती है, वह पूर्वजन्मानुसार ही आगे भी संकल्प करता है, उसका मनोभय प्राण शरीर ज्योति रूप है।" इत्यादि वाक्य के "वह संकल्प करता है" इस वाक्यांश में प्रतिपादित उपासना के उपास्य को "मनोमय प्राण शरीर" रूप से बतलाया गया है।

तत्र संशयः–किं मनोमयत्वादिगुणकक्षेत्रज्ञः उत् परमात्मा इति ?

इस पर संशय होता है कि-मनोमय आदि गुणों वाला जीवात्मा है अथवा परमात्मा ?

किं युक्तम् ? क्षेत्रज्ञ इति। कुत ? मनःप्राणयोः क्षेत्रज्ञोपकरणत्वात्, परमात्मनस्तु "अप्राणो ह्यमनाः" इति तत्प्रतिषेधाच्च न च "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" इति पूर्वनिर्दिष्टं ब्रह्मात्रोपास्यतया संबद्धुं शक्यते। "शान्त उपासीत" इत्युपासनोपकरण शान्तिनिवृत्युपायभूतब्रह्मात्मकत्वोपदेशायोपात्तत्वात्।

क्षेत्रज्ञ ही हो सकता है, क्यों कि मन और प्राण जीवात्मा के ही उपकरण हैं। परमात्मा को तो "अप्राण अमन" इत्यादि वाक्यों में प्राण मन रहित बतलाया गया है। ' यह सारा जगत ब्रह्म है" इस पूर्व वाक्य निर्दिष्ट ब्रह्म ही यहाँ उपास्य रूप से बतलाए गए हों, ऐसा भी नहीं है"; शांत भाव से उपासना करो "इस वाक्य में उपासना की सहायिका शांति बतलाई गई है तथा ब्रह्मात्मैकत्व प्राप्ति के उपाय के रूप से शांति संपादन का उपदेश दिया गया है [अर्थात् मन में शान्ति का आश्रय है इसलिए आश्रय रूप मन ही उपासना का उपकरण सिद्ध होता है यदि मन को परमात्मा मानलेंगे तो साध्य साधन की एकता सिद्ध होगी, जो कि अनियमित बात है]

न च "सक्रतुं कुर्वीत" इत्युपासनस्योपास्यसाकांक्षत्वाद् वाक्यांतरस्थमपिब्रह्म संबद्धयत इति युक्तं वक्तुं, स्ववाक्योपात्तेन मनोमयत्वादिगुणेन निराकांक्षत्वात्। "मनोमयः प्राण शरीरः" इत्य-

नन्यार्थतया निर्दिष्टस्य विभक्तिविपरिणाममात्रेणोभयाकांक्षा निवृत्तिसिद्धेः। एवं निश्चिते जीवत्वे "एतद्ब्रह्म" इत्युपसंहारस्य ब्रह्मपदमपि जीव पूजार्थं प्रयुक्तमित्यध्यवसीयत इति।

"वह यज्ञ करेगा" इस श्रुति में जो उपासना विहित है, वह उपास्य सापेक्ष है, अन्य वाक्य में भी जो उपास्य ब्रह्म का उल्लेख मिलता है, उसका भी इससे सम्बन्ध है; ऐसा भी नहीं कह सकते। क्योंकि-प्रासंगिक वाक्य में "मनोमय" आदि गुण से, उपास्य के रूप का भलीभांति ज्ञान हो जाता है, इसलिए उसके जानने की आकांक्षा तो रहती नहीं। "मनोमय प्राणशरीर" इत्यादि वाक्यांश में उक्त तात्पर्य के प्रतिपादन के लिए, एकमात्र विभक्ति विपरिणाम से (अर्थात् प्रथमा के स्थान पर द्वितीया विभक्ति कर देने मात्र से) उपास्य, उपासना दोनों की आकांक्षा निवृत्ति हो जाती है। इस प्रकार जीवत्व के निश्चित हो जाने पर "यह ब्रह्म है" इस उपसंहार वाक्यांश में "ब्रह्म" शब्द जीववाची ही निश्चित होता है, जो कि—एकमात्र उत्कर्ष बतलाने के लिए प्रयोग किया गया है।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात्—मनोमयत्वादिगुणकः परमात्मा। कुतः ? सर्वत्र—वेदांतेषु परस्मिन्नेव ब्रह्मणि प्रसिद्धस्य मनोमयत्वादेरुपदेशात्। प्रसिद्ध हि मनोमयत्वादि ब्रह्मणः। यथा—"मनोमयः प्राणशरीरनेता" स एषोऽन्तर्हृदय आकाश, तस्मिन्नयं पुरुषो मनोमयः अमृतोहिरण्मयः "हृदामनीषा मनसाऽभिक्लृप्तो य एनं विदुरमृतास्ते भवंति" "न चक्षुषा गृह्यते नापिवाचा "मनसा तु विशुद्धेन' तथा "प्राणस्य प्राणः" अथखलु प्राण एवं प्रज्ञात्मेदं शरीरं परिगृह्योथापयति "सर्वाणि हवा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसंविशंति प्राणमभ्युज्जिहते" इत्यादिषु। मनोमयत्वं विशुद्धेन मनसा ग्राह्यत्वम्। प्राणशरीरत्वं—प्राणस्याप्याधारत्वं नियन्तृत्वं च।

उक्त संशय पर सूत्रकार सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात् सूत्र का उपदेश करते हैं। अर्थात् मनोमयत्व आदि गुण वाला परमात्मा ही है, क्योंकि-

सभी वेदांत वाक्यों में मनोमयत्वादिका, परब्रह्म के लिए ही प्रसिद्ध प्रयोग किया गया है। मनोमयत्व आदि गुण ब्रह्म के लिए ही प्रसिद्ध हैं जैसे कि—"मनोमय परमात्मा ही प्राण और शरीर का परिचालक है" वही हृदयस्थ आकाश है, उसी से मनोमय, ज्योतिर्मय और अमृतमय यह पुरुष वर्त्तमान है" वह भक्ति और धृति संपन्न मन से ही ग्राह्य है" जो इस बात को जानता है वही मुक्त हो जाता है। "उसे नेत्र या वाणी से नहीं जान सकते" वह तो विशुद्ध मन से ही ग्राह्य है "जो कि प्राणों का प्राण है" प्रज्ञात्मक प्राण ही इस शरीर को ग्रहण कर परिचालित करता है। "ये सारे भूत, इस प्राण में ही लीन और प्राण से ही प्रकट होते हैं" इत्यादि। वस्तुतः विशुद्ध मन से ग्रहण करना ही मनोमयता है। प्राण शरीरत्व का तात्पर्य है प्राण की धारकता और नियामकता।

एवं च सति—"एष मे आत्माऽन्तर्हृदय एतद् ब्रह्म" इति ब्रह्म शब्दोऽपि मुख्य एव भवति। "अप्राणो ह्यमनाः" इति मनआयत्तं ज्ञानं प्राणायत्तः स्थिति च ब्रह्मणो निषेधति।

इस प्रकार "यह जो हृदयस्थ आत्मा है वही ब्रह्म है" इस वाक्य में ब्रह्म शब्द भी मुख्य ही सिद्ध होता है "अप्राण अमन" इत्यादि वाक्य ब्रह्म सम्बन्धी मन आयत्त ज्ञान और प्राणायत्त स्थिति का निषेध करता है।

अथवा "सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत्" इत्यत्रैवोपासनं विधीयते-सर्वात्मकं ब्रह्म शान्तः सन्नुपासीतेति। "सक्रतुं कुर्वीत" इति तस्यैव गुणोपादनार्थोऽनुवादः। उपादेयाश्च गुणामनोमयत्वादयः, यतस्सर्वात्मकंब्रह्म मनोमयत्वादि गुणकमुपासीतेति वाक्यार्थः।

अथवा "यह सारा जगत ब्रह्म ही है, उन्हीं से उत्पन्न और उन्हीं में लीन हो जाता है, शान्तभाव से उनकी उपासना करो" इस वाक्य में, सर्वात्मक ब्रह्म की शान्तभाव से उपासना करनी चाहिए, ऐसा उपासना

का प्रकार बतलाया गया है। "वह क्रतु (चिन्तन) करता है" इत्यादि वाक्य उपास्य ब्रह्म के गुण प्रकाश का प्रतिपादक मात्र है। ब्रह्म के मनोमयत्व आदि गुण ही उपादेय हैं, सर्वात्मक ब्रह्म की मनोमयत्व आदि गुण विशिष्ट रूप से ही उपासना करनी चाहिए, यही युक्तियुक्त वाक्यार्थ है।

तत्र संदेहः—किमिह ब्रह्मशब्देन प्रत्यगात्मा निर्दिश्यते उत परमात्मा-इति किं युक्तम् ? प्रत्यगात्मेति, कुतः ? तस्यैव सर्वपद सामानाधिकरण्यनिर्देशोपपत्तेः। सर्वशब्दनिर्दिष्टं हि ब्रह्मादि स्तम्बपर्यन्तं कृत्स्नं जगत्। ब्रह्मादि भावश्च प्रत्यगात्मनोऽनाद्य-विद्यामूलकर्मविशेषोपाधिकोविद्यत एव, परस्य तु ब्रह्मणस्सर्वज्ञस्य सर्वशक्तेरपहतपाप्मनो निरस्तसमस्ताविद्यादिदोषगंधस्य समस्त हेयाकर सर्वभावो नोपपद्यते। प्रत्यगात्मन्यपि क्वचिद् क्वचिद् ब्रह्मशब्दः प्रयुज्यते। अत एव परमात्मा परंब्रह्मेति परमेश्वरस्य क्वचित् सविशेषणो निर्देशः। प्रत्यगात्मनश्च निर्मुक्तोपाधेर्बृहत्वं च विद्यते "स चानन्त्याय कल्पते" इति श्रुतेः। अविदुषस्तस्यैव कर्म-निमित्त त्वाज्जन्मस्थितिलयानां तज्जलानिति हेतुनिर्देशोऽप्युपपद्यते। तदयमर्थः—अयं जीवात्मा स्वतोऽपरिच्छन्न स्वरूपत्वेन ब्रह्मभूतस्स-न्ननाद्यविद्यया देवतिर्यङ्मनुष्यस्थावरात्मनाऽवतिष्ठते-इति।

इस पर भी यह संशय तो शेष रही जाता है कि—ब्रह्म शब्द जीवात्मा वाची है अथवा परमात्मावाची। कह सकते हैं कि जीवात्मा वाची है, क्योंकि-सर्व शब्द के साथ प्रत्यक् शब्द का सामानाधिकरण्य हो सकता है। सर्व शब्द से ब्रह्म से लेकर स्तम्ब पर्यन्त संपूर्ण जगत का निर्देश किया गया है, अनादि अविद्या मूलक, विशेष कर्म निबंधक, जीव का ब्रह्मात्मभाव भी सर्व शब्द में निहित है। पर ब्रह्म में तो, सर्वज्ञ-सर्व शक्ति सम्पन्न-निष्पाप होने से अविद्या जन्य दोषों की गंध भी संभव नहीं है, इसलिए उसमें हेय कर्मों का सम्बन्ध सर्वथा असम्भव है।

जीवात्मा के लिए भी कही कहीं ब्रह्म शब्द का प्रयोग किया गया है। परमात्मा परमेश्वर को तो विशेषण युक्त " परब्रह्म " शब्द से ही स्मरण किया गया है। जीवात्मा भी जब कर्म बन्धन शून्य होता है तब उसमे भी बृंहत्व रहता है। जैसा कि—"सचानत्याय कल्पते" इत्यादि श्रुति से ज्ञात होता है। जगत् का जन्म स्थिति और लय निश्चित ही कर्मजन्य है, अतः ज्ञानरहित जीवात्मा का ही "तज्जलानि" इत्यादि में निर्देश प्रतीत होता है। उक्त श्रुति का तात्पर्य है कि—जीवात्मा स्वभाव से अपरिच्छिन्न ब्रह्म स्वरूप है वह अनादि अविद्यावश, देवता मनुष्य पशु, पक्षी स्थावर आदि रूपों मे स्थित रहता है।

अत्र प्रतिविधीयते—सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात्-सर्वत्र-"सर्वं खल्विदं" इति निर्दिष्टे सर्वस्मिन् जगति ब्रह्म शब्देन तदात्मतया विधीयमानं परंब्रह्मैव न प्रत्यगात्मा। कुतः ? प्रसिद्धोपदेशात् "तज्जलान्" इति हेतुतः "सर्वं खल्विदं ब्रह्मैव" इति प्रसिद्धवदुपदेशात्।

ब्रह्मणोजातत्वाद्ब्रह्मणि लीनत्वाद्ब्रह्माधीनजीवनत्वाच्च हेतो ब्रह्मात्मकं सर्वं खल्विदं जगदित्युक्ते यस्माज्जगज्जन्मस्थितिलया वेदांतेषु प्रसिद्धाः तदेवात्र ब्रह्मेति प्रतीयते। तच्च परमेव ब्रह्म, तथाहि, "यतो वा इमानि भूतानि जायते, येन जातानि जीवंति, यत्प्रयन्त्यभिसंविशंति, तद् विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म" इत्युपक्रम्य "आनदो ब्रह्मेति व्यजानात्, आनंदाध्येव खल्विमानि भूतानि जायंते" इत्यादिना पूर्वानुवाकप्रतिपादितानवधिकातिशयानंदयोगिनोविपश्चितः परस्माद्ब्रह्मण एव जगदुत्पत्तिस्थितिलया निर्दिश्यन्ते; तथा "स कारणं करणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः" इति कारणाधिपस्य जीवस्याधिपः परं ब्रह्मैव कारणं व्यपदिश्यते। एवं सर्वत्र परस्यैव ब्रह्मणः कारणत्वं प्रसिद्धम्।

उक्त संशय के निवारणार्थं सूत्रकार "सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात् सूत्र कहते हैं—जिसका तात्पर्य है कि-"सर्वं खल्विदं" इत्यादि श्रति में जगद् रूप से निर्दिष्ट ब्रह्म शब्द जीववाची नहीं है अपितु परमात्मावाची ही है। क्योंकि-प्रसिद्ध परब्रह्म का जैसा जगत् कर्त्ता का निर्देश किया गया है "उससे उत्पन्न और लीन होता है" ऐसा हेतु बतला कर "सारा जगत ब्रह्म है" ऐसा परमात्मा सम्बन्धी प्रसिद्ध सा निर्देश है।

ब्रह्म से उत्पन्न होने से, ब्रह्म में लीन होने से, ब्रह्माधीन जीवन होने से ही यह सारा जगत ब्रह्मात्मक है, वेदांत वाक्यो में जगत का जन्म स्थिति और लय ब्रह्म में ही बतलाया गया है इसलिए उक्त प्रसंग में ब्रह्म ही जगत कर्त्ता प्रतीत होता है। जैसे कि "जिससे यह सारा भूत समुदाय उत्पन्न है, तथा जिससे जीवित है और लय होकर जिसमें प्रविष्ट होता है उसे जानो वही ब्रह्म है" ऐसा उपक्रम करते हुए "आनन्द को ही ब्रह्म जानो, आनन्द से ही यह सारा भूत ममुदाय उत्पन्न होता है" इत्यादि से पूर्वोक्त निरवधि निरतिशय आनन्द सपन्न विपश्चित परब्रह्म में ही जगत की सृष्टि इत्यादि बतलाई गई है। तथा "वही कारण एव करणाधिपो के भी अधिपति हैं, जनका कोई भी जनक या अधिपति नही है" इस वाक्य में इन्द्रियो के स्वामी जीव का अधिपति ब्रह्म को ही बतलाया गया है। इस प्रकार सर्वत्र परमात्मा की ही सर्व कारणता प्रसिद्ध है।

अतः परब्रह्मणो जातत्वात्तस्मिन् प्रलीनत्वात्तेन प्राणनात्तदात्मकतया तादात्म्यमुपपन्नम्। अतः "सर्वं प्रकारं सर्वशरीरं सर्वात्मभूतं परंब्रह्म शांतोभूत्वोपासीतेति श्रुतरेव परस्य ब्रह्मणः सर्वात्मकत्वमुपपाद्य तस्योपासनमुपदिशति। परंब्रह्म हि कारणावस्थं सूक्ष्मस्थूल चिदचिद्वस्तुशरीरतया सर्वदा सर्वात्मभूतम्। एवम्भूततादात्म्यस्य प्रतिपादने परस्यब्रह्मणः सकलहेयप्रत्यनीककल्याण गुणाकरत्व न विरुध्यते प्रकारभूत शरीरगतानां दोषाणां प्रकारिण्यात्मन्य प्रसंगात्, प्रत्युत निरतिशयैश्वर्यापादनेन गुणायैव भवतोति पूर्वमेवोक्तम्।

इस प्रकार परब्रह्म से उत्पन्न होने से, उन्ही में लीन होने से और उन्ही से प्राणित होने से जगत की तदात्मकता सिद्ध हो जाती है। इसी प्रकार "सर्व प्रकार, सर्व शरीर, सर्वात्मभूत परब्रह्म की शान्त रूप से उपासना करो" इत्यादि श्रुति परब्रह्म की सर्वात्मकता का उपपादन करके उनकी उपासना का उपदेश करती है। परब्रह्म ही, कारणावस्थ और कार्यावस्थ सूक्ष्म-स्थूल चेतन-जड़ शरीर धारण करने से सर्वात्मभूत हैं। ऐसे तादात्म्य प्रतिपादन से परब्रह्म के हेय और उत्तम गुणों में कोई विरुद्धता नहीं होती। उक्त शरीर उन्हीं के प्रकार अर्थात् विशेषण रूप हैं। विशेषणगत दोषराशि कभी प्रकारी विशेष्य में संभव नहीं है, अपितु वह अत्यधिक ऐश्वर्य शाली परमात्मा की गुण स्वरूप होगी; ऐसा हम पहिले ही कह चुके हैं।

यदुक्तं जीवस्य सर्वतादात्म्यमुपपद्यत इति, तदसत्, जीवानां प्रतिशरीरं भिन्नानामन्यतादात्म्यासम्भवात्। मुक्तस्याप्यनवच्छिन्न स्वरूपस्यापि जगत्तादात्म्यं जगज्जन्मस्थितिप्रलयकारणत्वनिमित्तं न संभवतीति "जगद्व्यापारवर्ज्यम्" इत्यत्र वक्ष्यते।

जीवकर्मनिमित्तत्वाज्जगज्जन्मस्थितिलयानां स एव कारण-मित्यपि न साधीयः, तत्कर्मनिमित्तत्वेऽपीश्वरस्यैव जगत्कारणत्वात्। अतः परमात्मैवाऽत्र ब्रह्मशब्दाभिधेयः। इममेव सूत्रार्थमभियुक्ता बहुमन्वते। यथाह वृत्तिकारः "सर्वं खल्विति सर्वात्मा ब्रह्मेशः"।

जो यह कहते हैं कि—जीव का सबसे तादात्म्य हो सकता है यह कथन भी असंगत है, क्योंकि जीवों का अनेक शरीरों में आश्रय रहता है इसलिए उनमें परस्पर तादात्म्य कभी संभव नहीं है। मुक्तात्मा जीव का भी, जगत्‌जन्मस्थितिलयकारणत्व निमित्तक तादात्म्य संभव नहीं है, सूत्रकार "जगद्व्यापारवर्ज्यम्" सूत्र में मुक्तात्मा को जागतिक व्यापारों से रहित बतलाते हैं।

जीव का कर्म ही, जगत की सृष्टि स्थिति और लय का निमित्त कारण होता है, वही जीव जगत का उपादान कारण भी हो, ऐसा संभव नहीं है। जीव के कर्मानुसार ईश्वर जगत की रचना करता है, अतएव

वही जगत का कारण है। उक्त प्रसंग में परमात्मा ही ब्रह्म शब्द से अभिदेय हैं। हमारे द्वारा किये गये इस सूत्रार्थ को ही विद्वज्जन मानेंगे, जैसा कि वृत्तिकार का भी मत है—"सर्वंखलु "इत्यादि में सर्वात्मा ईशही ब्रह्म हैं"।

विवक्षित गुणोपपत्तेश्च १।२।२॥

वक्ष्यमाणाश्च गुणाः परमात्मन्येवोपपद्यन्ते "मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः सत्यसंकल्पआकाशात्मा सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादरः" इति। मनोमयःपरिशुद्धेन ,मनसैकेन ग्राह्यः। विवेकविमोकादिसाधनसप्तकानुगृहीत परमात्मोपासन निर्मलीकृतेन हि मनसा गृह्यते। अनेन हेयप्रत्यनीक कल्याणैकतानतया सकलेतरविलक्षणस्वरूपतोच्यते, मलिनमनोभिर्मलिनानामेव ग्राह्यत्वात्। प्राणशरीरः जगति सर्वेषां प्राणानां धारकः। प्राणो यस्य शरीरम् आधेयं विधेयं शेषभूतं च स प्राण शरीरः। आधेयत्वविधेयत्वशेषत्वानि शरीरशब्द प्रवृत्तिनिमित्तानीत्युपपादयिष्यते। भारूपः = भास्वररूपः अप्राकृत स्वासाधारण निरतिशयकल्याण दिव्यरूपत्वेन निरतिशयदीप्तियुक्त इत्यर्थः सत्य संकल्पः = अप्रतिहत् संकल्पः। आकाशात्मा = आकाशवत्सूक्ष्मस्वच्छस्वरूपः, सकलेतरकारणभूतस्याकाशस्याप्यात्मभूत इति वा आकाशात्मा स्वयं च प्रकाशते अन्यानपि प्रकाशयतीति वा अकाशात्मा सर्वकर्मा = क्रियत इति कर्म, सर्वंजगद्यस्यकर्म, असौ सर्वकर्मा; सर्वा वा क्रिया यस्यासौ सर्वकर्मा। सर्वकामः = काम्यन्त इति कामाः, सर्वगंधः भोग्यभोगोपकरणादयः, ते परिशुद्धाः सर्वविधास्तस्य सन्तीत्यर्थः। सर्वरसः = "अशब्दमस्पर्शम्" इत्यादिना प्राकृतगंधरसादिनिषेधाद् प्राकृताः स्वासाधारणानिरवद्याः निरतिशयाः कल्याणाः स्वभोग्यभूताः सर्वविधा गन्धरसाः तस्य सन्तीत्यर्थः। सर्वमिदमभ्यात्तः =

उक्तंरसपर्यन्तं सर्वमिदं कल्याणगुणजातं स्वीकृतवान् । "अभ्यात्तः" इति "भुक्ताः ब्राह्मणाः" इतिवत् कर्त्तरिक्तः प्रतिपत्तव्यः । अवाकी = वाकः = उक्तिः, सोऽस्यनास्तीत्यवाकी । कुत इत्याह, अनादर इति, अवाप्तसमस्तकामत्वेनादर्तव्याभावादादर रहितः । अतएव अवाकी = अजल्पाकः, परिपूर्णैश्वर्याद्ब्रह्मादिस्तंबपर्यन्तं निखिलं जगत्तृणीकृत्य जोषमासीन इत्यर्थः । त एते विवक्षिताः गुणाः परमात्मन्येवोपपद्यन्ते ।

वेदांत वाक्यों में कहे गये गुण, परमात्मा के लिए ही उपयुक्त हैं । "मनोमय, प्राणशरीर, ज्योतिरूप, सत्यसंकल्प, आकाशात्मा सर्वकर्मा, सर्वकाम, सर्वगंध, सर्वरस, जगद्व्यापी, वाक्यहीन, अनादर" इत्यादि श्रुत्युक्त गुण, परमात्मा में ही समुचित रूप से घटते हैं । मनोमय का तात्पर्य है, एक मात्र शुद्ध मन से ही ग्राह्य अर्थात् विवेक, विमोक आदि सात साधनों से निर्मल मन से परमात्मा की उपासना संभव है । इससे ज्ञात होता है कि श्रेष्ठ गुणों के खान विलक्षण स्वरूप परमात्मा ही हो सकते हैं; मलिन मन से तो मलिन पदार्थों का ही ग्रहण हो सकता है । प्राण शरीर का अर्थ है संसार के समस्त प्राणों के धारक; प्राण जिसके आधेय-विधेय और शेषत्व का संपादन करे उसे प्राण शरीर कहते हैं । आधेयत्व, विधेयत्व और शेषत्व ही, "शरीर" शब्द के व्यवहार का निदान है, ऐसा आगे उपपादन करेंगे । भारूप का अर्थ है—उज्ज्वल-रूपसंपन्न, अर्थात् उनका अपना रूप, अप्राकृत-असाधारण और निरतिशय कल्याणमय होने से सर्वापेक्षा दीप्तियुक्त है । सत्यसंकल्प का तात्पर्य है अनिवार्य इच्छा । आकाशामा का तात्पर्य है–आकाश के समान सूक्ष्म स्वच्छ स्वरूप, अथवा अन्यान्य समस्त पदार्थो के कारण स्वरूप आकाश का अन्तर्यामी, अथवा जो स्वयं प्रकाशवान होते हुए अन्यों को प्रकाशित करता है । सर्वकर्मा का तात्पर्य है–जो किया जायें, ऐसा समस्त संसार रूप कर्मवाला अथवा समस्त क्रियायें ही जिसका कर्म है । सर्वकाम का तात्पर्य है–जिससे कामना होती है वे भोग्य पदार्थ और भोग के साधन काम्यपदार्थ तथा उनकी प्राप्ति की इच्छा को काम कहते हैं, उस परमात्मा के वे सारे काम्य विषय आसक्तिरहित होने से विशुद्ध हैं,

इसलिये वे सर्वकाम हैं। सर्वगंध सर्वरस का तात्पर्य है–"अशब्द अस्पर्श" आदि वाक्य में प्राकृतगंध रस आदि का निषेध किया गया है, जिससे ज्ञात होता है कि उस परमात्मा में स्वतंत्र भोगोपयोगी निर्दोष, निस्सीम, कल्याणमय, अलौकिक, असाधारण अनोखे गंधरस आदि विद्यमान हैं। सर्वमिदमभ्यात्त का तात्पर्य है कि-उपर्युक्त सभी कल्याणमय गुणों से उद्भूत विशेषताओं को वह स्वेच्छा से स्वीकारते हैं। "भुक्ताः ब्राह्मणा" वाक्य की तरह अभ्यात्त में भी कर्त्ता में क्तप्रत्यय है जिसका तात्पर्य होता है कि वे परमात्मा उक्त गुणों को स्वीकार कर तृप्त हैं। अवाकी का तात्पर्य है, वाणी की उक्ति अर्थात् उच्चारण का उनमें अभाव है। क्यों कि वे, अनादर अर्थात् संपूर्ण कामनाओं से तृप्न है, इसलिए उन्हें किसी भी पदार्थ की ओर आकर्षण नहीं है, इसलिए वह सभी के प्रति अनादर (अभिलाषा युक्त प्राप्ति की उत्सुकता से रहित) हैं। इसलिए वे (अनिच्छुक होने से) चुप रहते हैं। परिपूर्ण ऐश्वर्य होने के कारण, ब्रह्मा से लेकर तृण पर्यन्त सारा जगत उनके लिए तृणवत ही है। इससे इसलिये वे सदा तुष्ट भाव से चुप रहते हैं। निश्चित होता है कि श्रुत्युक्त समस्त गुण, परमात्मा के लिए ही उपयुक्त हैं, ऐसा मानना चाहिए।

अनुपपत्तेस्तु न शरीरः ।१।२।३॥

तमिमं गुणसागरं पर्यालोचयतां खद्योतकल्पस्य शरीरसंबंध-निबंधनापरिमितदुःखसंबंधयोग्यस्यबद्धमुक्तावस्थस्यजीवस्य प्रस्तुत-गुणलेशसंबधगंधोऽपि नोपपद्यत, इति नास्मिन् प्रकरणे शारीर-परिग्रहशंका जायत इत्यर्थः।

जिन्होंने, उन गुण सागर परमात्मा को शास्त्र पर्यालोचना से भलीभांति जान लिया है उनकी दृष्टि में, जुगनू के समान यदा कदा टिमटिमाने वाले, शरीर संबद्ध होने से अपरिमित दुःख भागी, बद्धमुक्त अवस्था वाले, जीवात्मा का उन गुणो से लेशमात्र सम्बन्ध हो भी सकता है, ऐसी तनिक भी संभावना नहीं रहती। इसलिए इस प्रसंग में शरीरी जीवात्मा का वर्णन है, ऐसी आशंका करना व्यर्थ है।

कर्मकर्तृ व्यपदेशाच्च ।१।२।४॥

"एतमितः प्रेत्याभिसंभविताऽस्मि" इति प्राप्यतया परंब्रह्म व्यपदिश्यते, प्राप्तृतया च जीवः । अतः प्राप्ता जीव उपासकः प्राप्यंपरंब्रह्मोपास्यमिति प्राप्तुरन्यदेवेदमिति विज्ञायते ।

"शरीर से छूटने पर मैं इसी ब्रह्म को प्राप्त होऊँगा" इस वाक्य में प्राप्य रूप से परब्रह्म का तथा प्राप्त करने वाले जीव का स्पष्ट भिन्न निर्देश है । इससे समझना चाहिए कि प्राप्त करने वाला जीव उपासक तथा प्राप्य परब्रह्म उपास्य है जो कि प्रापक जीव से निश्चित ही भिन्न है ।

शब्दविशेषात् १।२।५॥

"एष म आत्माऽन्तर्हृदये" इति शारीरः षष्ठ्या निर्दिष्टः उपास्यस्तु प्रथमया । एवं समानप्रकरणे वाजिनां च श्रुतौ शब्द विशेषः श्रूयते जोवपरयोः, यथा "व्रीहिर्वा यवो वा श्यामाको वा श्यामाकतण्डुलो वा एवमयमन्तरात्मन् पुरुषो हिरण्मयो यथा ज्योतिरधूमम्" इति । अत्र "अन्तरात्मन्" सप्तम्यन्तेन शारीरो निर्दिश्यते, "पुरुषो हिरण्मयः" इति प्रथमयोपास्यः । अतः पर एवो-पास्यः ।

"मेरे हृदय कमल के भीतर यह आत्मा" इत्यादि वाक्य में शरीरी को षष्ठी (संबंध कारक) तथा उपास्य (आत्मा) को प्रथमा (कर्त्ता कारक) दिखलाया गया है । इसी प्रकार के प्रकरण वाजसनेय में भी जीव और परमात्मा वाची शब्दों का विशेष उल्लेख मिलता है । जैसे कि—"सरसों, जव, श्यामाक तण्डुल से भी सूक्ष्म अन्तर्यामी पुरुष स्वर्ण के समान उद्दीप्त निर्धूम ज्योतिस्वरूप है" इस वाक्य में सप्तम्यन्त "अन्तरात्मन" पद से शरीरी जीव को तथा प्रथमान्त "हिरण्मय पुरुष" पद से उपास्य परमात्मा का निर्देश है । इससे सिद्ध होता है कि परमात्मा ही उपास्य है ।

इतश्च शारीरादन्यः—इसलिए भी जीव से परमात्मा भिन्न है कि—

स्मृतेश्च १।२।६।

सर्वस्यचाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तःस्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च"— "यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम्"—ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति, भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया, तमेव शरणं गच्छ" इति शारीरमुपासकं, परमात्मानं चोपास्यं स्मृतिर्दर्शयति।

मैं सबके हृदय में प्रविष्ट हूं, मुझसे ही स्मृति, ज्ञान और अपोहन (वितर्क) होते हैं" जो पुरुष मुझे पुरुषोत्तम जानता है, "अर्जुन! ईश्वर सभी प्राणियों के हृदय में बैठकर यंत्र की तरह सभी प्राणियों को अपनी माया से घुमा रहा है—"उन्हीं की शरण में जाओ" इत्यादि श्रुति वाक्य भी, शरीरी जीवात्मा को उपासक तथा परमात्मा को उपास्य रूप से निर्देश करते हैं।

अर्भकौकस्त्वात्तद्व्यपदेशाच्च नेतिचेन्न निचाय्यत्वादेवं व्योमवच्च। १।२।६।१॥

अल्पायतनत्वमर्भकौकस्त्वम्, तद्व्यपदेशः = अल्यत्वव्यपदेशः "एष म आत्माऽन्तहृदये" इत्यणीयसि हृदयायतने स्थितत्वात् "अणोयान् व्रीहेर्वा यवाद्वा" इत्यादिनाऽणीयस्त्वस्य स्वरूपेणव्यपदेशाच्च नायं परमात्मा अपि तु जीव एव "सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः" इत्यादिभिः परमात्मनोऽपरिच्छिन्नत्वावगमात्, जीवस्य चाराग्रमात्रत्वव्यपदेशादिति चेत्।

अर्भकौकस्त्व अर्थात् अल्पस्थानवर्ती; तद्व्यपदेश अर्थात् अल्पत्वव्यपदेश। "मेरे अन्तःकरण के अन्दर यह आत्मा है" इस वाक्य में अणीयस हृदय के आयतन में स्थित तथा "व्रीहि या जव से भी अणीयस" इत्यादि वाक्य से जिस अणीयस स्वरूप का व्यपदेश किया गया है—वह परमात्मा नहीं है अपितु जीव ही है। "धीर लोग जिस भूतयोनि को

जानते हैं वह सर्वगत, अतिसूक्ष्म और अव्यय है" इत्यादि वाक्य से परमात्मा का अपरिच्छिन्नत्व ज्ञात होता है जीव का स्वरूप तो, आरा की अग्रिम सूक्ष्म धार के समान बतलाया गया है।

नैतदेवम्—परमात्मैव हि अणीयानित्येवं निचाय्यत्वेन व्यपदिश्यते, एवं निचाय्यत्वेन-एवं द्रष्टव्यत्वेन, एवमुपास्यत्वेनेति यावत्। न पुनरणीयस्त्वमेवास्यस्वरूपमिति, व्योमवच्चायं व्यपदियश्ते, स्वाभाविकमहत्वं चात्रैव व्यपदिश्यते—"ज्यायान्पृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षा ज्ज्यायान्दिवो ज्यायानेभ्योलोकेभ्यः" इति। अत उपासनार्थमेवाल्पत्वव्यपदेशः।

जैसा अर्थ आप करते है वह नही है अपितु परमात्मा ही उपासना के लिए अणीयस रूप से बतलाए गये है। उन्हें अतिसूक्ष्म बतलाने का तात्पर्य है कि, उन्हे अत्यल्प रूप से देखने की चेष्टा करो अर्थात् उनके अणीयस रूप की उपासना करो। इसका यह अर्थ नहीं है कि वे अणीयस रूप वाले ही है इनकी आकाश की सी सूक्ष्मता बतलाई गई है अर्थात् वे सूक्ष्म आकाश की तरह सर्वगत है। परमात्मा की स्वाभाविक महत्ता इस प्रकार वर्णन की गई है—"वह पृथ्वी से महान् अन्तरिक्ष से महान् द्युलोक से महान् तथा इन समस्त लोकों से महान् है।" इससे सिद्ध होता है कि उपासना के लिए ही उनका अणीयस रूप बतलाया गया है।

तथाहि—"सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शांत उपासीत" इति सर्वोत्पत्तिप्रलयकारणत्वेन सर्वस्याऽऽत्मतयाऽनुप्रवेशकृतजीवयितृत्वेन च सर्वात्मकं ब्रह्मोपासीतेत्युपासनं विधाय "अथखलु क्रतुमयः पुरुषो यथा क्रतुरस्मिल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति" इति यथोपासनं प्राप्यसिद्धिमभिधाय "स क्रतुंकुर्वीत" इति गुणविधानार्थमुपासनमनूद्य "मनोमयः प्राणशरीरो अरूप. सत्यसंकल्प आकाशात्मा सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगंधः सर्वरसः

सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादरः" इति जगदैश्वर्यविशिष्टस्य स्वरूप-गुणांश्चोपादेयान् प्रतिपाद्य "एष म आत्माऽन्तर्हृदयेऽणीयान् व्रीहेर्वा यवाद् वा सर्षपाद्वा श्यामाकाद् वा श्यामाकतण्डुलाद् वा" इत्यु-पासकस्य हृदयेऽणीयस्त्वेन तदात्मतयोपास्यस्यपरमपुरुषस्योपास-नार्थमवस्थानमुक्त्वा "एष म आत्माऽन्तर्हृदये ज्यायान् पृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षज्ज्यायान् दिवो ज्यायानेभ्योलोकेभ्यः सर्वकार्मा सर्व-कामः सर्वरसः सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादरः" इत्यन्तर्हृदयेऽवस्थित-स्योपास्यमानस्य प्राप्याकारं निर्दिश्य—"एष म आत्माऽन्तर्हृदय एतद् ब्रह्म" एवम्भूतंपरंब्रह्म परमकारुण्येनास्मदुज्जिजीवयिषयाऽस्मद् हृदये सन्निहितमितीदमनुसंधानं विधाय "एतमितः प्रेत्याभिसंभा-विताऽस्मि" इति यथोपासनं प्राप्तिनिश्चयानुसंधानं च विधाय इति यस्य स्यादद्धा न विचिकित्साऽस्ति" इत्येवंविध प्राप्यप्राप्ति-निश्चयोपेतस्योपासकस्य प्राप्तौ न संशयोऽस्तीत्युपसंहृतम्। अत उपासनार्थमर्भकौकस्त्वमणीयस्त्वं च।

तथा—"सारा जगत ब्रह्म का ही रूप है, उसी में लीन हो जाता है, उस परमात्मा की शांतभाव से उपासना करनी चाहिए" वाक्य में, समस्त जगत की उत्पत्ति और प्रलय के कारण सबके आत्मस्वरूप और जीवान्तर्यामी जीवनधारक सर्वात्मक ब्रह्म की उपासना करनी चाहिए, ऐसा उपासना का स्वरूप बतलाकर—"पुरुष निश्चय ही क्रतुमय है, इस लोक में पुरुष जैसे निश्चय वाला होता है वैसा ही मरने पर भी होता है" इस प्रकार उपासना के अनुरूप प्राप्य फल की बात कहकर "इसलिए उस पुरुष को निश्चय करना चाहिए" ऐसा गुण विधान के लिए उपासना का अनुवाद करते हुए "वह ब्रह्म मनोमय प्राणशरीर प्रकाश स्वरूप सत्य-संकल्प आकाश शरीर सर्वकर्मा सर्वकाम सर्वगंध सर्वरस इस सारे जगत को सब ओर से व्याप्त करने वाला, वाणी रहित संभ्रम शून्य है" इत्यादि ब्रह्म के, जागतिक ऐश्वर्यों से विशिष्ट उपादेय स्वरूप गुणों का प्रतिपादन करके "हृदय कमल के भीतर यह आत्मा धान, जव, श्यामाक सरसों से

भी सूक्ष्म है" इत्यादि में बतलाया गया कि उपास्य परंपुरुष अतिसूक्ष्म उपासक के हृदय में अभिन्नभाव से स्थित हैं ऐसा निश्चित करके "हृदय कमल में स्थित वह आत्मा, पृथ्वी, अंतरिक्ष, द्युलोक तथा इन सभी लोकों से महान् है जो कि—सर्वकर्मा, सर्वकाम, सर्वगंध, सर्वरस सारे जगत को व्याप्त करने वाला, वाक्यरहित, भ्रमशून्य है।" इत्यादि उस हृदस्थ उपास्यमान परमेश्वर के प्राप्य रूप का वर्णन करके—"मेरे अन्तहृदय में जो आत्मा है वही ब्रह्म है" ऐसी करुणावरुणालय, हमारे उद्धार के लिए तत्पर हृदयस्थित परमात्मा के अनुसंधान की अनिवार्यता बतलाकर "इस शरीर को छोड़कर जाने पर उन्हीं को प्राप्त होऊँगा" इत्यादि उपासना के अनुरूप फलावाप्ति विषयक निश्चित नियम बतलाकर "इत्यादि प्राप्य प्राप्ति निश्चय संबंधी सिद्धान्त निर्णय से उपासक को परब्रह्म की प्राप्ति में कोई संदेह नहीं रह जाता;" ऐसा प्रकरण का उपसंहार किया जाता है। उपर्युक्त प्रकरण की पर्यालोचना से सिद्ध होता है कि—उपासना के लिए ही अल्पायतनत्व और अणीयत्व का प्रतिपादन किया गया है [स्वरूप निरूपण के लिए नहीं]।

संभोगप्राप्तिरिति चेन्न वैश्येष्यात् ।१।२।८॥

जीवस्येव परस्यापि ब्रह्मणः शरीरान्तर्वर्त्तित्वमभ्युपगतं चेत्—तद्वदेव शरीरसंबंधप्रयुक्तसुखदुःखोपभोगप्राप्तिरिति चेत्तन्न, हेतु वैशेष्यात्—नहि शरीरान्तर्वर्तित्वमेव सुखदुःखोपभोग हेतुः, अपितु पुण्यपापरूपकर्मपरवशत्वम्, तत्त्वपहतपाप्मनः परमात्मनो न संभवति। तथा च श्रुतिः "तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति" इति।

यदि यह कहें कि—जीव की तरह परब्रह्म की भी यदि शरीर में उपस्थिति मानेंगे तो शरीर संबंध होने से जीव की तरह ही, उनमें भी सुखदुःखात्मक भोग घटित होंगे। सो ऐसा संभव नहीं होगा, क्योंकि दोनों में भोग के कारण की भिन्नता रहती है। शरीर में रहना ही भोग का कारण हो ऐसा कोई आवश्यक नहीं है, अपितु पुण्य पाप रूप कर्म परवशता, भोग का कारण है, जो कि निष्पाप परमात्मा में संभव नहीं

है। जैसा कि—श्रुति वाक्य भी है—उन दोनो में एक वृक्ष के कर्मरूप फलों का स्वाद लेकर उपभोग करता है, दूसरा केवल देखता मात्र है।"

२ अधिकरणः—

यदि परमात्मा न भोक्ता, एवं तर्हि सर्वत्र भोक्तृतया प्रतीयमानो जीव एव स्यादित्याशंक्याह—

यदि परमात्मा भोक्ता नहीं है तो क्या हर जगह जीवात्मा ही भोक्ता कहा गया है? इस शंका का उत्तर देते हैं—

अत्ता चराचरग्रहणात् १।२।९॥

कठवल्लीष्वाम्नायते "यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः, मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः" इति। अत्रौदनोपसेचन सूचितोऽत्ता किं जीव एव, उत परमात्मेति संदिह्यते। कियुक्तम् जीव इति। कुतः? भोक्तृत्वस्य कर्मनिमित्तत्वाज्जीवस्यैवतत्संभवात्।

कठोपनिषद् में कहा गया है कि—'धर्मशील ब्राह्मण और धर्म रक्षक क्षत्रिय दोनों जिसके भोज्य बन जाते हैं, सबको मारने वाला काल भी भोज्य का उपसेचन (चटनी) बन जाता है, ऐसे की महिमा को कौन जान सकता है?" इस प्रकरण में भोज्य और उपसेचन का भोक्ता कौन है, जीवात्मा या परमात्मा? कह सकते हैं कि जीवात्मा, क्योंकि निमित्तक भोक्तृत्व जीव में ही संभव हो सकता है।

अत्रोच्यते—अत्ता चराचर ग्रहणात—अत्तापरमात्मैव कुतः? चराचर ग्रहणात्—चराचरस्य कृत्स्नस्यातृत्वं हि तस्यैव संभवति न चेदं कर्मनिमित्तभोक्तृत्वं, अपि तु जगज्जन्मस्थितिलयहेतु भूतस्यपरस्यब्रह्मणोविष्णोः संहर्तृत्वम् "सोऽध्वनः परमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्" इत्यत्रैव दर्शनात्। तथा च "मृत्युर्यस्योपसेचनं "इति वचनात् "ब्रह्मं च क्षत्रं च" इति कृत्स्नं चराचरं

जगदिहादनीयौदनत्वेन गृह्यते। उपसेचनं हि नाम स्वयमद्यमानं सदन्यस्यादनहेतुः। अत उपसेचनत्वेन मृत्योरप्यद्यमानत्वात्तदुपसिच्यमानस्यकृत्स्नस्य ब्रह्मक्षत्रपूर्वकस्य जगतश्चराचरस्यादनमत्र विवक्षितमिति गम्यते। ईदृशंचादनमुपसंहार एव। तस्मादीदृशं जगदुपसंहारित्वरूपं भोक्तृत्वं परमात्मन एव।

उक्त सशय पर सूत्रकार कहते है कि--अत्ता परमात्मा ही हैं, क्योकि- इस प्रसग मे चराचर सभी को भोज्य कहा गया है, चराचर जगत के भोजन करने की क्षमता परमात्मा में ही हो सकती है। यहाँ कर्म निमित्तक भोक्तृत्व की चर्चा नही है, अपितु जगत के जन्म स्थिति और लय के एकमात्र कारण परब्रह्म विष्णु के संहारक शक्ति निमित्तक भोक्तृत्व का प्रसंग है। "वह संसार मार्ग के पार जाकर भगवान विष्णु के सुप्रसिद्ध परमपद को प्राप्त हो जाता है" इत्यादि वाक्य उक्त तथ्य की ही पुष्टि करते हैं। "मृत्युर्यस्योपसेचनम्" तथा "ब्रह्म च क्षत्रं च" इत्यादि वाक्यांश से चराचर संपूर्ण जगत की भोज्यता ज्ञात होती है। स्वयं स्वतंत्र भोज्य होने के साथ ही जो अन्य भोज्य पदार्थों का सहायक भोज्य होता है उसे उपसेचन कहते हैं, उपसेचन रूप से जो मृत्यु का वर्णन किया गया है उसका तात्पर्य है कि--मृत्युमय ब्राह्मण क्षत्रिय आदि सारा जगत उस परमात्मा का भोज्य है। इस प्रकार यहाँ भोजन का अर्थ, संहार के अतिरिक्त, कुछ और नही है। इससे जगत की उपसंहारात्मक भोक्तृता परमात्मा की ही निश्चित होती है।

प्रकरणाच्च १।२।१०।

प्रकरणं चेदं परस्यैव ब्रह्मणः "महान्तं विभुमात्मानं मत्वाधीरो न शोचति" नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन, यमेवैषवृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्" इति हि प्रकृतम्। "क इत्था वेद यत्र सः" इत्यपि हि तत् प्रसादात् ऋते तस्य दुखबोधत्वमेव पूर्वंप्रस्तुतं प्रत्यभिज्ञायते।

उक्त प्रकरण परब्रह्म संबंधी ही है, जैसा कि--"धीर व्यक्ति इन महत् विभु आत्मा को जानकर शोक नहीं करता,"--इन परमात्मा को शास्त्र ज्ञान प्रवचन या मेधा से नहीं जाना जा सकता, वे ही जिसे वरण करते हैं, वही उन्हें पा सकता है, वे उसके समक्ष अपना रूप प्रकट कर देते हैं।" इत्यादि "वह कहाँ है उसे कौन जानता है ?" इत्यादि वाक्य भी उनकी दुर्बोधता और कृपापेक्षा का ज्ञापन करते हैं।

अथस्यात्--नायं ब्रह्मक्षत्रौदनसूचितः पुरुषोऽपहतपाप्मा परमात्मा, अनन्तरं "ऋतंपिबन्तौ सुकृतस्यलोके गुहांप्रविष्टौ परमे परार्ध्ये, छायातपौ ब्रह्मविदोवदंति पंचाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः "इति कर्मफलभोक्तुरेव सद्वितीयस्याभिधानात्। द्वितीयश्च प्राणौ बुद्धिर्वास्यात्। ऋतपानं हि कर्मफल भोग एव, स च परमात्मनो न संभवति, बुद्धिप्राणयोस्तु भोक्तृजीवस्योपकरणभूतयोर्यथाकथंचित्पानेऽन्वयस्संभवतीति तयोरन्यतरेण सद्वितीयो जीव एव प्रतिपाद्यते, तदेकप्रकरणत्वात् पूर्वप्रस्तुतोऽत्ताऽपि स एव भवितुमर्हति–इति। तत्रोच्यते--

शंका होती है कि--ब्रह्मक्षत्र भोज्य रूप से जिस भोक्ता के कहे गए हैं वह निष्पाप परमात्मा नहीं है। क्योंकि--जिस प्रकरण में ओदन रूप ब्रह्म क्षत्र का वर्णन है, उसी में आगे "शुभ कर्मों के फलस्वरूप मनुष्य शरीर में, परब्रह्म के उत्तम निवास स्थान बुद्धि रूपी गुहा में छिपे हुए सत्य का पान करने वाले छाया और धूप के समान दो परस्पर भिन्न हैं, ऐसा ब्रह्म वेत्ता ज्ञानी पुरुष कहते हैं, तथा तीन बार नाचिकेत अग्नि का चयन करने वाले पंचाग्नि संपन्न गृहस्थ भी ऐसा ही कहते हैं" इस प्रकार द्वितीय कर्मफल भोक्ता का वर्णन है; द्वितीय प्राण या बुद्धि हो सकते हैं। ऋतपान का अर्थ, कर्मफल का भोग ही है, जो कि—परमात्मा में संभव नहीं है। बुद्धि और प्राण भोक्ता जीव के सहायक उपकरण हैं, प्राण को यदि मुख्य प्राण मानें तो जीव ही द्वितीय स्थानीय होता है और उसे ही भोक्ता कहा गया है। एक ही प्रकरण में जिस प्रसंग को

प्रस्तावना की जाती है, उसे ही आगे समर्थन किया जाता है। इसलिए जीव ही भोक्ता हो सकता है। इस शंका का समाधान करते है--

गुहांप्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात् १।२।११॥

न प्राणजीवौ बुद्धिजीवौ वा गुहां प्रविष्टावृतं पिबन्तावित्युच्येते अपि तु जीवपरमात्मानौ हि तथाव्यपदिश्येते। कुत ? तद्दर्शनात्। अस्मिन् प्रकरणे जीवपरयोरेव गुहाप्रवेश व्यपदेशो दृश्यते। परमात्मानस्तावत् "तं दुर्दशं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्, अध्यात्मयोगाधिगमेन देवंमत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति" इति। जीवस्यापि—"या प्राणेन सम्भवत्यदितिर्देवतामयी, गुहां प्रविश्य तिष्ठन्ती या भूतेभिर्व्यंजायत्" इति। कर्मफलान्यत्तीत्यदितिर्जीव उच्यते। प्राणेन सम्भवति–प्राणेन सहवर्त्तते। देवतामयी-इन्द्रियाधीन भोगा। गुहां प्रविश्य तिष्ठंती–हृदयपुंडरीकोदरवर्त्तिनो। भूतेभिर्व्यंजायत्–पृथिव्यादिभिर्भूतैस्सहिता देवादिरूपेण विविधा जायते। एवं च सति "ऋतं पिबन्तौ" इति व्यपदेश: "क्षत्रिणोगच्छन्ति" इतिवत् प्रतिपत्तव्य:। यद् वा प्रयोज्यप्रयोजकरूपेण कर्तृत्वं जीवपरयोरुपपद्यते।

उक्त प्रकरण में प्राण-जीव या बुद्धि जीव की गुहा में बैठने की बात नहीं है अपितु जीव और परमात्मा के प्रवेश की बात है। इस प्रकरण में जीव और परमात्मा का ही प्रसंग चल रहा है। प्रसंग के पूर्वभाग में परमात्मा का वर्णन जैसे– "जो योगमाया के पर्दे में छिपा हुआ, सर्वव्यापी, सबकी हृदय गुहा में स्थित, संसार रूप गहन वन में रहने वाले, सनातन, कठिनता से देखे जाने वाले परमात्मा देव को शुद्ध बुद्धि युक्त साधक, अध्यात्मयोग की प्राप्ति द्वारा समझकर हर्ष शोक को छोड देते हैं।" प्रकरण के उत्तर भाग में जीव का वर्णन जैसे--"जो देवतामयी अदिति प्राणों के सहित उत्पन्न होती है या जो प्राणियों के सहित उत्पन्न होती है, हृदयरूपी गुहा में प्रवेश करके वहीं रहती है।"

इत्यादि में अदिति का तात्पर्य है, कर्मफलों को भोगने वाली, इस व्याख्या के अनुसार अदिति शब्द जीव वाची ही है। प्राणेन संभवति का तात्पर्य है, प्राण के साथ व्यवहार करना। देवतामयी का तात्पर्य है—इन्द्रियाधीन भोग। "गुहां प्रविश्य तिष्ठंती" का अर्थ है हृदयकमल के अन्दर रहने वाली। "भूतेभिर्व्यजायत्" का अर्थ है—पृथ्वी आदि भूतों के साथ देवादि अनेक आकृतियों को धारण करने वाली। इसी प्रकार" ऋतं पिवन्तौ" का अर्थ "छत्रिणो गच्छन्ति" की तरह जानना चाहिए [जैसे कि छाता लगाकर जाते हुए झुंड को देखकर कहा जाता है कि छाते वाले जा रहे हैं, वस्तुतः छाता एक ही के सर पर होता है पर प्रयोग सभी के लिए होता है. वैसे ही गुहा में जीवात्मा परमात्मा दोनों हैं, जीवात्मा ही केवल ऋतदान करता है, परन्तु प्रयोग दोनों के लिए किया गया है] अथवा प्रयोजक परमात्मा और प्रयोज्य जीवात्मा है, ऐसा मान कर ही दोनों को भोक्ता कहा गया है [अर्थात् परमात्मा की प्रेरणा से ही जीवात्मा भोग करता है, इसलिए दोनों को ही भोक्ता कह दिया गया]

विशेषणाच्च।१।२।१२।।

अस्मिन् प्रकरणे जीवपरमात्मानावेवोपास्यत्वोपासकत्वप्राप्यत्व-प्राप्तत्वविशिष्टौ सर्वत्र प्रतिपाद्येते। तथाहि—"ब्रह्मजज्ञं देवमीड्यं विदित्वा निचाय्येमां शान्तिमत्यन्तमेति" इति। ब्रह्मजज्ञोजीवः ब्रह्मणोजातत्वात् ज्ञत्वाच्च, तं देवमीडं विदित्वा—जीवात्मानमुपासकं ब्रह्मात्मकत्वेनावगम्येत्यर्थः। तथा—"यः सेतुरीजानानामक्षरं ब्रह्म यत्परम्, अभयं तितीर्षतांपारं नाचिकेतं शब्देमहि" इत्युपास्यः परमात्मोच्यते। नाचिकेतं नाचिकेतस्य कर्मणः प्राप्यमित्यर्थः। "आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरंरथमेव च" इत्यादिनोपासको जीव उच्यते। तथा—"विज्ञानसारथिर्यस्तु मनः प्रग्रहवान्नरः, सोऽध्वनः पारमाप्नोतितद्विष्णोः परमं पदम्" इति प्राप्यप्राप्तारावभिधीयेते जोवपरमात्मानौ। इहापि "छायातपौ" इत्यज्ञत्वसर्वज्ञत्वाभ्यांतावेव विशिष्य व्यपदिश्येते।

इस प्रकरण मे जीवात्मा और परमात्मा का उपास्य उपासक तथा प्राप्य प्रापक विशिष्ट रूप से सर्वत्र प्रतिपादन किया गया है । जैसा कि— "ब्रह्मोपासको से स्तवनीय परमात्मा को जानकर निष्कामभाव से उपासना करने वाला अत्यत शाति प्राप्त करता है" इस श्रुति से ज्ञात होता है । ब्रह्मजज्ञ का अर्थ है जीव, ब्रह्म से उत्पन्न होने अथवा ब्रह्म को जानने से ब्रह्मजज्ञ है। स्तवनीय उस देव को जानकर का तात्पर्य है जीवात्मा उपासक भाव से ब्रह्म स्वरूप को जानकर। तथा—"जो उपासकों के लिए सेतु के समान (विभिन्न प्रकार के फल दाता) हैं और जो भवसागर से पार होने के इच्छुको को अभय देने वाले हैं उन नाचिकेत कर्मलभ्य अक्षर ब्रह्म को हम जानने मे समर्थ हो सकते हैं।" इस वाक्य मे परमात्मा को उपास्य बतलाया गया है । नाचिकेत का तात्पर्य है नाचिकेत कर्म के फलस्वरूप प्राप्त । "आत्मा को रथी तथा शरीर को रथ जानो" इत्यादि मे जीव को उपासक बतलाया गया है । तथा—"विज्ञान (बुद्धि) जिसका सारथी, तथा मन जिसकी लगाम है ऐसा मनुष्य विष्णु के परपद मार्ग को सरलता से प्राप्त कर लेता है ।" इत्यादि में जीवात्मा परमात्मा को प्राप्य प्रापक रूप से बतलाया गया है। इसी प्रकार "छायातपौ" इत्यादि मे अनभिज्ञ जीवात्मा तथा सर्वज्ञ परमात्मा का विशिष्ट उल्लेख है ।

अथस्यात्—"येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्ये अस्तीत्येके नायमस्तीति चैके" इति जीवस्वरूपयाथात्म्यप्रश्नोपक्रमत्वात्सर्वमिदं प्रकरणं जीवपरं इति प्रतीयते । नैतदेवम्, न हि जीवस्य देहातिरिक्तस्यास्तित्वनास्तित्वशंकयाऽयं प्रश्नः, तथासति पूर्वांवरद्वयवरणानुपपत्तेः । तथा हि पितुः सर्ववेदसदक्षिणक्रतुसमाप्तिवेलायां दीयमानं दक्षिणावैगुण्येन क्रतुवैगुण्यं मन्यमानेन कुमारेण नचिकेतसा आस्तिकाग्रेसरेण स्वात्मदानेनापि पितुः क्रतुसाद्गुण्यमिच्छता "कस्मै मां दास्यसि" इत्यसकृत्पितरं पृष्टवतास्वनिर्बन्धरुष्टपितृवचनान्मृत्युसदनं प्रविष्टेन स्वसदनात्प्रोषुषि यमे तददर्शनात्तत्र तिस्रो रात्रीरुपोषुषा स्वोपवासभीततत्प्रतिविधानप्रवृत्तमृत्युप्रदत्ते

वरत्रये आस्तिक्यातिरेकात् प्रथमैववरेण स्वात्मानंप्रति पितुः प्रसादोवृतः, एतच्चसर्वं देहातिरिक्तात्मानमजानतो नोपपद्यते। द्वितीयेन च वरेणोत्तीर्णदेहात्मानुभाव्य फलसाधन भूताग्निविद्या वृत्ता; तदपि देहातिरिक्तात्मानमभिज्ञस्य न संभवति। अतस्तृतीयेन वरेण यदिदं व्रियते "येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्ये अस्तीत्येके नायमस्तीति चैके, एतद्विद्यामनुशिष्टः त्वयाहं वराणामेष वरस्तृतीयः।" अत्र परमपुरुषार्थरूप ब्रह्मप्राप्ति लक्षणमोक्षयाथात्म्य विज्ञानाय तदुपायभूत परमात्मोपासनपरावरात्मतत्त्वजिज्ञासयाऽयं प्रश्नः क्रियते। एवं च–"येयं प्रेते" इति न शरीरवियोगमात्रभिप्रायं अपितु सर्वबन्धविनिर्मोक्षाभिप्रायम्। यथा "न प्रेत्यसंज्ञाऽस्ति" इति। अयमर्थः मोक्षाधिकृतेमनुष्ये प्रेतेसर्वबन्धविनिर्मुक्ते तत्स्वरूप विषया वादिविप्रतिपत्तिनिमित्ताऽस्तिनास्त्यात्मिका येयं विचिकित्सा, तदपनोदनाय तत्स्वरूपयाथात्म्यं त्वयाऽनुशिष्टोऽहं विद्याजानीयाम्–इति।

संशय होता है कि—मृत्यु के बाद कुछों के मत में जीव का अस्तित्व रहता है और कुछों के मत में उसका अस्तित्व शरीर के साथ ही समाप्त हो जाता है?" इस वाक्य को पढ़ने से ज्ञात होता है कि—"सर्वमिदम्" इत्यादि प्रकरण जीवात्मा का ही विवेचन करता है। जीव स्वरूप के यथार्थ निरूपण के लिए ही उक्त प्रश्न का उपक्रम किया गया है।

(समाधान) बात ऐसी नहीं है—यह जीव के मरणोत्तर अस्तित्व, नास्तित्व विषयक संबंधी शंका नहीं है, यदि ऐसा मानेंगे तो नाचिकेता द्वारा इसके पूर्व के दो वरों की मांग असंगत हो जावेगी। जैसा कि प्रसंग है कि—पिता के सर्वस्व दक्षिणात्मक यज्ञ के अंत में जब सब कुछ दक्षिणा में दिया जा चुका उस समय यज्ञ की पूर्ति में कमी समझकर परम आस्तिक कुमार नचिकेता के "मुझे किसे देते है" इस प्रश्न को बारबार करने पर दुराग्रह से रुष्ट पिता के द्वारा मृत्यु को दिये जाने पर वह मृत्यु के घर गया,

उस समय यम प्रवास में थे, इसलिए उसने तीन रात्रि का उपवास किया, घर लौटने पर उपवास से भयभीत यमराज द्वारा वरयाचना का आश्वासन प्राप्त कर आस्तिकता के अतिरेक से नचिकेता ने प्रथम वर में अपने पिता की प्रसन्नता मांगी; ऐसा वर देह को ही आत्मा मानने वाला कभी नहीं मांग सकता। दूसरा वर उसने, देहोत्तीर्ण आत्मा के अनुभव योग्य फल की साधनिका, अग्नि विद्या की जानकारी का मागा; देह को ही आत्मा मानने वाला ऐसा भी नहीं मांग सकता। "मनुष्य के मरने पर जो दो विभिन्न संशयालु धारणायें हैं कि शरीर के बाद भी जीव का अस्तित्व रहता है तथा शरीर के साथ ही अस्तित्व समाप्त हो जाता है; इसको समझने के लिए मैं तुम्हारे सामने उपस्थित हूं, मुझे इसकी जानकारी का तीसरा वर दो।" इस तीसरे वर में उसने, परमपुरुषार्थ ब्रह्मप्राप्ति स्वरूप मोक्ष प्राप्त की उपाय भूत परमात्मोपासना और परमात्मतत्त्व की जिज्ञासा की है। "येयं प्रेते" वाक्य वस्तुत: शरीरोपरान्त अर्थ के अभिप्राय से ही नहीं कहा गया है, अपितु उसमें सर्वबन्धविनिर्मोक्ष का अभिप्राय निहित है। जैसा कि—"न प्रेत्य संज्ञाऽस्ति" अर्थात् उपासक का शरीर पात के बाद कुछ भी शेष नहीं रह जाता, ऐसा एकमत है। ऐसे मुक्त पुरुष के स्वरूप के विषय में, परस्पर अस्तित्व और नास्तित्व का जो मतभेद जन्य संशय है उसकी निवृत्ति के लिये तुम्हारा उपदेश प्राप्त कर स्वरूपगत यथार्थ तत्त्व जानू (यह तीसरा वरदान दो)।

तथाहि बहुधा विप्रतिपद्यन्ते, केचिद् वित्तिमात्रस्यात्मन: स्वरूपोच्छित्ति लक्षणं मोक्षमाचक्षते। अन्ये वित्तिमात्रस्यैव सतोऽविद्याऽस्तमयम्। अपरे पाषाणकल्पस्यात्मनो ज्ञानाद्यशेषवैशेषिकगुणोच्छेद-लक्षणं कैवल्यरूपम्। अपरे तु अपहतपाप्मानं परमात्मानमुपगच्छन्त-स्तस्यैवोपाधिसंसर्गनिमित्तजीवभावस्योपाध्यपगमेन तद्भावलक्षणं मोक्षमातिष्ठन्ते। त्रयन्तनिष्णातास्तु निखिलजगदेककारणस्याशेषहेय प्रत्यनीकानन्तज्ञानानन्दैकस्वरूपस्य स्वाभाविकानवधिकातिशया-संख्येयकल्याणगुणाकरस्य सकलेतरविलक्षणस्य सर्वात्मभूतस्यपरस्य ब्रह्मणः शरीरतया प्रकारभूतस्यानुकूलापरिच्छिन्नज्ञानस्वरूपस्य

परमात्मानुभवैकरसस्य जीवस्यानादिकर्मरूपाविद्यातिरोहितस्वरूप-स्याविद्योच्छेदपूर्वकं स्वाभाविक परमात्मानुभवमेव मोक्षमाचक्षते। तत्र मोक्षस्वरूपंतत्साधनं च त्वत्प्रसादात् विद्यामिति नचिकेतसा पृष्टो मृत्युस्तस्यार्थस्य दुखबोधत्वप्रदर्शनेन विविधभोगवितरण प्रलोभनेन चैनं परीक्ष्य योग्यतामभिज्ञाय परावरात्मतत्त्वविज्ञानं परमात्मोपासनं तत्पदप्राप्तिलक्षणं मोक्षं च "तं दुर्दर्शं गूढमनु प्रविष्टम्" इत्यारभ्य "सोऽध्वनः परमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्" इत्यन्तेनोपदिश्य तदपेक्षिताश्च विशेषानुपदिदेशेति सर्वं समञ्जसम्। अतः परमात्मैवात्तेति सिद्धम्।

इस विषय मे अनेक मत प्रस्तुत किये जाते है कोई एकमात्र ज्ञान स्वरूप आत्मा के स्वरूपोच्छेद को मोक्ष कहते है। दूसरे आत्मा को ज्ञान-स्वरूप कहते हुए अविद्याध्वंस को मोक्ष कहते हैं। एक कहते है कि पाषाण के सदृश अन्तःकरण के ज्ञान आदि विशेष गुणों का समुच्छेद ही मोक्ष है। कोई परमात्मा को निष्पाप मानकर उनकी उपाधि के संसर्ग से जीव भाव को प्राप्त करानेवाली उपाधियों के नष्ट हो जाने पर ब्रह्म भाव प्राप्ति को मोक्ष कहते है। जिनकी बुद्धि वेदांत शास्त्र के अनुशीलन से परिपक्व है, वे संपूर्ण जगत के एकमात्र कारण निर्दोष, आनंद स्वरूप, स्वाभाविक अगणित असख्य कल्याणमय गुणों के आकर, सर्वथा विलक्षण, सर्वान्तर्यामी परब्रह्म के शरीर स्थानीय, उन्ही के समान ज्ञानस्वरूप, परमात्मानुभूति जन्य आनंदरस निमग्न जीव का जो, अनादि कर्म रूप अविद्या से वास्तविक स्वरूप छिपा हुआ है, अविद्या के उच्छेद हो जाने पर उसी वास्तविक स्वरूप की पुनः प्राप्ति और आत्मानुभवरस की निमग्नता को ही मोक्ष मानते है।

इन्ही विभिन्न मतों मे वस्तुतः मोक्ष का स्वरूप क्या है? उसकी प्राप्ति का साधन क्या है? इसको मै तुम्हारे अनुग्रह से जानना चाहता हूँ, नचिकेता के पूछे जाने पर यम ने पहिले जिज्ञासित विषय की दुर्गमता फिर भोगों का प्रलोभन देकर उसकी पात्रता की परीक्षा की। उसकी योग्यता की भली भाँति परीक्षा लेकर पर (ब्रह्म) और अवर (जीव)

आत्मतत्त्व विज्ञान, परमात्मोपासना तथा परमात्मपद प्राप्ति का "तंदुर्दर्शं गूढ़मनुप्रविष्टम्" से प्रारंभ करके "सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परम पदम्" तक उपदेश देते हुए मोक्ष प्राप्ति के विशेष साधनो का उपदेश दिया जिससे कि सब सामंजस्य हो गया। इससे सिद्ध होता है कि—उक्त प्रकरण में उपदिष्ट अत्ता परमात्मा ही है।

३ अधिकरण—

अन्तर उपपत्तेः १।१।१३॥

इदमामनंति छंदोगाः "य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते, एव आत्मेति होवाच एतदमृतमभयमेतद्ब्रह्म" इति। तत्र संदेहः किमयमक्ष्याधारतया निर्दिश्यमानः पुरुषः प्रतिबिंबात्मा, उत चक्षुरिन्द्रियाधिष्ठाता देवताविशेषः, उत जीवात्मा अथ परमात्मा इति। किं युक्तम्? प्रतिबिंबात्मेति, कुतः? प्रसिद्धवन्निर्देशात्, "दृश्यते" इत्यपरोक्षाभिधानाच्च। जीवात्मा वा तस्यापि हि चक्षुषि विशेषेण सन्निधानात् प्रसिद्धिरुपपद्यते उन्मीलितं हि चक्षुरुद्वीक्ष्य जीवात्मनः शरीरेस्थितिगती निश्चिन्वन्ति। "रश्मिभिरेषोऽस्मिन् प्रतिष्ठितः" इति श्रुतिप्रसिद्धया चक्षुः प्रतिष्ठो देवताविशेषो वा, एष्वेव प्रसिद्धवन्निर्देशोपपत्तेरेषामन्यतमः।

छांदोग्योपनिषद् में कहा गया कि—"यह जो आंखों के बीच में पुरुष दीखता है, यही आत्मा, अमृत और अभयरूप ब्रह्म है" इस पर विचार होता है कि यह पुरुष है कौन, छायापुरुष अथवा नेत्रेन्द्रिय का अधिष्ठता देवता अथवा जीवात्मा या परमात्मा? छाया पुरुष भी हो सकता है क्योकि—"दृश्यते" ऐसा प्रत्यक्ष उल्लेख है। जीवात्मा भी हो सकता है क्योंकि—नेत्रों में उसका सानिध्य रहता है, ऐसी प्रसिद्धि है। नेत्रों के उन्मीलन से ही अनुमान होता है कि—जीव की उसमे स्थिति है। "वह सूर्य रश्मियों द्वारा नेत्रों में स्थित है" इस श्रौत वाक्य से, नेत्र प्रतिष्ठित प्रसिद्ध देवताविशेष का होना भी सिद्ध होता है। इन सभी की प्रसिद्धि पाई जाती है, इन सब में कौन है?

इति प्राप्ति प्रचक्ष्महे—अन्तरउपपत्तेः—अक्ष्यन्तरः परमात्मा कुतः ? "एष आत्मेति होवाचैतमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति एतं संयद्वाम इत्याचक्षते, एतं हि सर्वाणि वामान्यभिसंयन्ति एष उएववामनिः, एषहि सर्वाणि वामानि नयति, एष उ एव भामनिः। एष हि सर्वेषुलोकेषु भाति" इत्येषां गुणानां परमात्मन्येवोपपत्तेः।

उक्त विचारो पर कहते है—कि—नेत्रों में परमात्मा है क्योंकि—"उसने कहा कि यह आत्मा अमृत, अभय ब्रह्म है, इसे सयद्वाम कहते है, क्योकि संपूर्ण सेवा वस्तुए सब ओर से इसे ही प्राप्त होती है, इसलिए यही वामनी है, यही सपूर्ण वामो को वह न करता है, यह भामनी है, यही संपूर्ण लोको में भासमान है।" इत्यादि गुण परमात्मा मे ही उपपन्न हो सकते है।

स्थानादिव्यपदेशाच्च १।२।१४॥

चक्षुषि स्थितिनियमनादय. परमात्मन् एव "यश्चक्षुषि तिष्ठन्" इत्येवमादौ व्यपदिश्यन्ते। अतश्च" "य एषोऽक्षिणिपुरुषः" इति स एव प्रतीयते। अतः प्रसिद्धवन्निर्देशश्च परमात्मन्युपपद्यते। तत एव "दृश्यते" इति साक्षात्कारव्यपदेशोऽपि योगिभिर्दृश्यमानत्वा-दुपपद्यते।

नेत्रों में स्थित, नियमन करने वाले परमात्मा ही हैं, "जो नेत्रों में अवस्थान करते है" इत्यादि से ज्ञात होता है। "यही नेत्र पुरुष है" इस वाक्य में उन्ही का वर्णन है। इससे प्रसिद्ध निर्देश भी परमात्मा का ही प्रतींत होता है। "दृश्यते" इत्यादि में योगियों के लिए दृश्य साक्षात् का उल्लेख किया गया है।

सुखविशिष्टाभिधानादेव १।२।१५॥

इतश्चाक्ष्याधारः पुरुषोत्तमः "कं ब्रह्म खं ब्रह्म" इति प्रकृतस्य सुखविशिष्टस्य ब्रह्मणः उपासनस्थानविधानार्थं संयद्वामत्वादि

गुणविधानार्थं च "य एषोऽक्षिणि पुरुषः" इत्यभिधानात्। एवकारो नैरपेक्ष्यं हेतोर्द्योतयति।

इसलिए भी नेत्रों में स्थिति पुरुषोत्तम हैं कि-- 'ब्रह्म क (सुख-विशिष्ट) तथा ख (आकाश) स्वरूप हैं" इस वाक्य में जिस सुख-विशिष्ट ब्रह्म को उपासना योग्य संयद्वाम आदि गुणों वाला बतलाया गया है, उन्हें ही "य एषोऽक्षिणि" इत्यादि में नेत्रस्थानीय बतलाया गया है। एकमात्र सुखविशिष्ट हेतु से ही अक्षि-पुरुष का परमपुरुषत्व प्रमाणित हो सकता है।

नन्वग्निविद्याव्यवधानात् "कं ब्रह्म" इति प्रकृतंब्रह्म नेह सन्निधत्ते। तथा हि-अग्नयः "प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्म" इति ब्रह्म विद्यामुपदिश्य "अथहैनं गार्हपत्योऽनुशशास" इत्यारभ्याग्नीनामुपासनमुपदिदिशुः। न चाग्निविद्या ब्रह्मविद्यांगमिति शक्यं वक्तुम्; ब्रह्मविद्याफलानन्तर्गततद्विरोधिसर्वायुः प्राप्ति संतत्यविच्छेदादिफल श्रवणात् उच्यते—"प्राणो ब्रह्म"—"एतदमृतमभयमेतद् ब्रह्म" इत्युभयत्र ब्रह्म संशब्दनात्। "आचार्यस्तु ते गतिं वक्ता" इत्याग्निवचन्नाच्च गत्युपदेशात् पूर्वं ब्रह्मविद्याया असमाप्तेस्तन्मध्यगताग्निविद्या ब्रह्मविद्यांगमिति निश्चीयते। "अथ हैनं गार्हपत्योऽनुशशास" इति ब्रह्मविद्याधिकृतस्यैवाग्निविद्योपदेशाच्च।

संशय होता है कि--अग्निविद्या का व्यवधान स्वरूप उपदेश "क ब्रह्म" के प्रसंग में ठीक नहीं जचता। जैसा कि---तीन प्रकार की अग्नि का "प्राण ब्रह्म, क ब्रह्म, ख ब्रह्म" ब्रह्म विद्यात्मक उपदेश देकर "उसके बाद उसे गार्हपत्य अग्नि का उपदेश दिया" इस वाक्य से प्रारंभ करके सभी अग्नियों की उपासना का उपदेश दिया गया है। यह नहीं कह सकते कि---अग्निविद्या ब्रह्मविद्या का अंग है, क्योंकि-पूर्णायु और संतति परम्परा की प्राप्ति ही अग्निविद्या का फल है जो कि ब्रह्मविद्या के फल से सर्वथा विपरीत है। इसलिए विपरीत फलवाली विद्याओं का एक साथ उपदेश अप्रासंगिक है।

उक्त शंका का समाधान करते हैं—"प्राण ब्रह्म"—"वह अमृत और अभय स्वरूप है" इन दोनों वाक्यों में ब्रह्म शब्द का उल्लेख करके "आचार्य तुम्हें गति (ब्रह्म) प्राप्ति के उपाय का उपदेश देंगे" अग्नि-विषयक वाक्य के उल्लेख से ज्ञात होता है कि गति के उपदेश के पहिले तक ब्रह्मविद्या का ही प्रसंग है। प्रसंग के मध्य में जो अग्निविद्या का उपदेश दिया गया वह ब्रह्मविद्या का ही अंग है। "उसके बाद उसे गार्हपत्याग्नि का उपदेश दिया गया" इस वाक्य में भी ब्रह्मविद्या के अधिकारी रूप से ही अग्निविद्या का उपदेश दिया गया है।

किंच—"व्याधिभिः प्रतिपूर्णोऽस्मि" इति ब्रह्मप्राप्तिव्यतिरिक्त नानाविधकामोपहतिपूर्वकगर्भजन्मजरामरणादिभवभयोपतप्तायोप-कोसलाय "एषा सोम्य तेऽस्मद्विद्याऽत्मविद्या च" इति समुच्चि-तयोपदेशात् 'मोक्षैकफलात्मविद्यांगत्वमग्निविद्यायाः प्रतीयते। एवं चांगत्वेऽवगते सति फलानुकीर्त्तनमर्थवाद इति गम्यते।

तथा—ब्रह्म प्राप्ति के अभाव में अनेक प्रकार की कामनाओं से आक्रान्त होने से गर्भ जन्म जरामरण आदि जन्य व्याधियों से भयभीत उपकौशल ने जब कहा कि—"मैं व्याधियों से परिपूर्ण हूँ" तब उसे उप-देश हुआ कि—"हे सौम्य! तुझे अग्नि विद्या और आत्मविद्या का उपदेश दिया गया" इस प्रकार एक साथ दो विद्याओं का उपदेश देकर ब्रह्मविद्या की अंगरूप से, अग्निविद्या को मोक्षदायिनी सिद्ध किया गया है। जिससे अग्निविद्या की, ब्रह्मविद्यांगता प्रतीत होती है। इस प्रकार अग्निविद्या की अंगता सिद्ध हो जाने पर फलविपरीतता की बात औप-चारिक कथनमात्र ज्ञात होती है।

न चात्र मोक्षविरोधिफलं किंचिच्छ्रूयते "अपहते पापकृत्यां लोकी भवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति नास्यावरपुरुषाः क्षीयंते उपवयन्तं भुंजामोऽस्मिश्च लोकेऽमुष्मिंश्च" इत्यमीषां फलानां मोक्षाधिकृतस्यानुगुणत्वात्। अपहतेपापकृत्यां = ब्रह्मप्राप्ति विरोधि पापकर्मापहंति। लोकी भवतितद्विरोधिनि पापे निरस्ते ब्रह्मलोकं

प्राप्नोति । सर्वमायुरेति = ब्रह्मोपासनसमाप्तेर्यावदायुरपेक्षितम्, तत्सर्वमेति । ज्योग्जीवति = व्याध्यादिभिरनुपहतो यावद्ब्रह्मप्राप्ति जीवति । नास्यावरपुरुषाः क्षीयंते = अस्यशिष्यप्रशिष्यादयः पुत्रपौत्रादयोऽपि ब्रह्मविद एव भवंति । "नास्याब्रह्मवित्कुले भवति" इति च श्रुत्यन्तरे ब्रह्मविद्याफलत्वेन श्रूयते । उपवयन्तं भुंजामोऽस्मिश्च लोकेऽमुष्मिश्च = वयम् अग्नयस्तमेनमुपभुंजामः, यावद् ब्रह्मप्राप्तिविघ्नेभ्यः परिपालयाम इति । अतोऽग्निविद्याया ब्रह्मविद्यां गत्वेन तत् संन्निधान अविरोधात् सुखविशिष्टं प्राकृतमेव ब्रह्मोपासनस्थानविधानार्थं गुणविधानार्थंचोच्यते ।

अग्निविद्या के प्रसंग में कुछ भी मोक्ष विरोधी फल की बात नहीं है—"अग्नि का उपासक, पाप कर्मों को नष्ट कर लोकवान पूर्णायु होकर उज्वल जीवन व्यतीत करता है, उसके पश्चाद्वर्त्ती पुरुष क्षीण नही होते, उसका हम लोग इस लोक और परलोक में पालन करते है।" इस श्रुति मे कहे गए सारे फल मोक्षाधिकारी पुरुष के अनुकूल ही है। "पापों को नष्ट कर" अर्थात् ब्रह्म प्राप्ति विरोधी पापों को नष्ट कर। "लोक वान होता है" अर्थात् उन विरोधी पापो के नष्ट होने पर ब्रह्मलोक को प्राप्त करता है। "पूर्णायु होता है" अर्थात् ब्रह्मोपासना मे अपेक्षित आयु प्राप्त करता है। "उज्वल जीवन व्यतीत करता है "अर्थात् ब्रह्म प्राप्ति की अवधि तक रोगादिकों से मुक्त होकर सुखी जीवनयापन करता है।" इसके पश्चाद्वर्त्ती पुरुष नष्ट नहीं होते "अर्थात् उसके शिष्य, प्रशिष्य, पुत्र पौत्र सभी ब्रह्मवेत्ता होते हैं।" उसके कुल में कोई अब्रह्मविद नही होता" इस अन्य श्रुति से भी ब्रह्मविद्या की फलरूप से ज्ञप्ति की गई है। "उसका हम इस लोक और परलोक में पालन करते हैं" अर्थात् हम अग्नियाँ ऐसे पुरुष का उपभोग करते हैं, जब तक उसे ब्रह्म प्राप्ति नही हो जाती तब तक विघ्नों से उसका पालन करते है। इससे स्पष्ट है कि अग्निविद्या, ब्रह्मविद्या की ही अंग है, इन दोनों का एक साथ किया गया उपदेश विरोधी नहीं है अपितु उपयोगी ही है। उपासना के उपयुक्त

स्थान के विधान, तथा तदुपयोगी गुणविधान के लिए जो सुखविष्ट (क) ब्रह्म की चर्चा की वह स्वाभाविक ही है (विरोधी नहीं)।

ननु—"आचार्यस्तुतेगतिं वक्ता" इति गतिमात्रपरिशेषणादाचार्येण गतिरेवोपदेश्येति गम्यते, तत्कथं स्थानगुणविध्यर्थतोच्यते तदभिधीयते "आचार्यस्तुते गतिवक्ता" इत्यस्यायमभिप्रायः ब्रह्मविद्यामनुपदिश्य प्रोषुषिगुरौ तदलाभादनाश्वासमुपकोसलमुज्जीवयितुं स्वपरिचरप्रणीता गार्हपत्यादयो गुरोरग्नयस्तस्मै ब्रह्मस्वरूपमात्रं तदंगभूतां चाग्निविद्यामुपदिश्य "आचार्याद्धैव विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापत्" इति श्रुत्यर्थमालोच्य साधुतमत्वप्राप्त्यर्थमाचार्य एवास्य संयद्वामत्वादि गुणकं ब्रह्म तदुपासनस्थानमर्चिरादिकां च गतिमुपदिशत्विति मत्वा "आचार्यस्तु ते गतिवक्ता" इत्यवोचन्।

(प्रश्न) "आचार्य तुझे गति का उपदेश देंगे" इस वाक्य से तो ज्ञात होता है कि—एकमात्र गति विषयक उपदेश ही शेष रह गया था आचार्य को केवल उसी का उपदेश करना था, फिर स्थान और गुण विशेष के लिए सुखविशिष्ट का ब्रह्म की चर्चा कैसे स्वाभाविक है ?

(समाधान) "आचार्य तुझे गति का उपदेश देंगे" का अभिप्राय यह है कि—उपकोसल को ब्रह्मविद्या का उपदेश दिये बिना ही आचार्य प्रवास मे चले गए थे, ब्रह्मविद्या न पाकर उपकोसल बहुत निराश हुआ, उसके द्वारा की गई परिचर्या से प्रसन्न होकर अग्नियो ने उसे, ब्रह्म के स्वरूप और उसकी प्राप्ति की अंगस्वरूप अग्निविद्या का उपदेश देकर "आचार्य से प्राप्त ब्रह्मविद्या ही अतिशय साधुता को प्राप्त होती है इस श्रुत्यर्थ का विचार कर अतिशय सिद्धि प्राप्ति के लिए आचाय ही इसे सयद्वामत्व आदि गुण युक्त ब्रह्म, ब्रह्मोपासना का स्थान एवं अर्चिरादि-गति का उपदेश करें; ऐसा निश्चय कर उन्होने उपकोसल को आदेश दिया कि—आचार्य तुझे गति का उपदेश देंगे।

गतिग्रहणमुपदेश्यविद्याशेषप्रदर्शनार्थम्। अतएव आचार्योऽपि "अहं तु ते तद्वक्षामि यथा पुष्करपलाशआपो न श्लिष्यन्ते एव-

मेवंविदि पापंकर्म न शिलष्यते" इत्युपक्रम्य संयद्वामत्वादिकल्याण गुणविशिष्टं ब्रह्माक्षिस्थानोपास्यमर्चिरादिकां च गतिमुपदिदेश। अतः "कं ब्रह्म खं ब्रह्म" इति सुखविशिष्टस्य प्रकतस्यैव ब्रह्मणोऽत्राभिधानादयमक्ष्याधारः परमात्मा।

उपदेष्टव्य विद्या से सबंधित जो कुछ भी वक्तव्य है वह सभी "गति" शब्द के प्रयोग मे उल्लेख्य है। इसलिए आचार्य ने भी—"अब मै तुझे वह बतलाता हूं, जिसे जानकर पापकर्मो का उसी प्रकार संबंध विच्छेद हो जाता है जैसे कि कमल पत्र मे जल का आश्लेष नही रहता।" इस भूमिका के साथ सगदनामत्व आदि गुण विशिष्ट ब्रह्म की नेत्रस्थानीय उपासना तथा अर्चिरादिगति का उपदेश दिया। इस प्रकरण की इस प्रकार पर्यालोचना करने पर स्पष्ट हो जाता है कि—"क ब्रह्म ख ब्रह्म" सुखविशिष्ट नेत्र स्थानीय उपास्य का जो उल्लेख किया गया है, वह स्वाभाविक ही है।

ननु च "कं ब्रह्म खं ब्रह्म" इति परंब्रह्माभिहितमिति कथमवगम्यते, यस्येहाक्ष्याधारतयाऽभिधानंब्रूषे; यावता "कं ब्रह्म खं ब्रह्म" इति प्रसिद्धाकाशलौकिकसुखयोरेव ब्रह्मदृष्टिर्विधीयत इति प्रतिभाति "नाम ब्रह्म"-मनोब्रह्म" इत्यादि वचनसारूप्यात्। तत्राह—

शंका होती है कि—"क ब्रह्म ख ब्रह्म" यह प्रयोग परंब्रह्म के लिए ही किया गया है, तथा यही नेत्रस्थानीय है, यह कैसे जान गए? "क ब्रह्म ख ब्रह्म" शब्द से तो प्रसिद्ध आकाश और लौकिक सुख को ही ब्रह्म दृष्टि से प्रतिपादन किया गया है, यह तो "नाम ब्रह्म" "मन ब्रह्म" की तरह ही वाक्य है। इसका समाधान करते है--

अत एव च स ब्रह्म १।२।१६॥

यतस्तत्र "यदेव क तदेव खं" इति सुखविशिष्टस्याकाशस्याभिधानम् अतएव ख शब्दाभिधेय. सः आकाशः परंब्रह्म एतदुक्त भवति—अग्निभिः "प्राणो ब्रह्म क ब्रह्म खं ब्रह्म" इत्युक्ते उपकोसल उवाच—

"विजानाम्यहं यत्प्राणो ब्रह्म कं च तु खं च न विजानामि" इति। अस्यान्यमभिप्रायः—न तावत्प्राणादिप्रतीकोपासनमग्निभिरभिहितम् जन्मजरामरणादिभवभयभीतस्य मुमुक्षोर्ब्रह्मोपदेशाय प्रवृत्तत्वात् अतो ब्रह्मैवोपास्यमुपदिष्टम्। तत्र प्रसिद्धैः प्राणादिभिः समानाधिकरणं ब्रह्म निर्दिष्टम्। तेषु च प्राण विशिष्टत्वं जगद्विधरणयोगेन वा प्राणशरीर तया प्राणस्यनियंतृत्वेन वा ब्रह्मण उपपद्यत इति "विजानाम्यहं यत्प्राणोब्रह्म" इत्युक्तवान्।

विशेष प्रयोजन से ही वहाँ "जो क है वही ख है" ऐसा सुख विशिष्ट आकाश का निरूपण किया गया है (अर्थात् आकाश के समान अपार निर्दोष, सुख विशेष ही ब्राह्मसुख है) इसलिए ख शब्द से अभिधेय आकाश भी परंब्रह्म है। तीनों अग्नियों के "प्राण ब्रह्म-क ब्रह्म-ख ब्रह्म" कहने पर उपकोसल ने कहा—"मैं प्राण ब्रह्म को तो जानता हूं पर क और ख कैसे ब्रह्म है यह नहीं समझ पाया।

इसका तात्पर्य है कि—अग्नियों ने प्राण आदि की प्रतीकोपासना रूप से व्याख्या की हो, ऐसा नहीं है, अपितु जन्मजरामरण आदि सांसारिक भयों से भीत मुमुक्षु को, ब्रह्मोपदेश देने के लिए ऐसा कहा था। इससे ज्ञात होता है कि—ब्रह्म की उपासना का ही उपदेश दिया गया है तथा उन वाक्यों में, प्रसिद्ध प्राण आदि के सामानाधिकरण्य से ब्रह्म का ही निर्देश किया गया है। ब्रह्म ही जगत को धारण करते हैं अथवा प्राण ब्रह्म का शरीर है अतएव वे ही प्राण के नियामक परिचालक हैं इत्यादि से ब्रह्म का प्राण विशिष्टत्व धर्म सिद्ध होता है—इसी लिए—"प्राण ब्रह्म को तो मैं जानता हूँ" ऐसा (उपकोसल ने) कहा।

तथा सुखाकाशयोरपि ब्रह्मणः शरीरतया तन्नियाम्यत्वेन विशेषणत्वम्, उतान्योन्यव्यवच्छेदकतया निरतिशयानंदरूपब्रह्मस्वरूपसमर्पणपरत्वेन वा तत्र पृथग्भूतयोः शरीरतया विशेषणत्वे वैषयिकसुखभूताकाशयोर्नियामकत्वं ब्रह्मणः स्यादिति स्वरूपा-

वगतिर्नस्यात्, अन्योन्यव्यवच्छेदकत्वेऽपरिच्छिन्नानंदैकस्वरूपत्वं ब्रह्मणः स्यादित्यन्यतरप्रकारनिर्दिधारयिषया 'कं च तु खं च न विजानामि'' इत्युक्तवान् ।

इसी प्रकार सुख और आकाश भी ब्रह्म के शरीर स्थानीय रूप से उनके नियंत्रण में रहने से विशेषण स्वरूप है अथवा परस्पर एक दूसरे से विशेषित होकर निरतिशय आनंदमय ब्रह्म के स्वरूप का प्रकाश करते हैं इसलिए वे ब्रह्म के विशेषण है ? इस विचारणीय प्रश्न पर–इन दोनों (क और ख) को ब्रह्म का भिन्न-भिन्न शरीर मानकर यदि विशेषण माना जावे तो ब्रह्म का नियत्रण वैषयिक सुख और भूताकाश पर हो सकता है, पर ब्रह्म के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान नही हो सकता [अर्थात् सुख ही ब्रह्म है, आकाश ही ब्रह्म है ऐसा नही कहा जा सकता अपितु वैषयिक सुख और भूताकाश को ब्रह्मसुख और दहराकाश का अंग कहा जा सकता है] एक दूसरे से विशेषित होकर तो अतिशय आनंदमय ब्रह्म के स्वरूप की अवगति हो सकती है [अर्थात् जो क है वही ख है और जो ख है वही क है, इस व्याख्या के अनुसार सुख और आकाश की पारस्परिक विशेषताओ से, आकाश के समान व्यापक स्वच्छ सुख है अथवा सुख का सा सरल गंभीर आकाश है, ये दोनों ही विशेषतायें, ब्रह्म की अखड आनदमयता का प्रकाश करती है] उपकोसल के समक्ष उपर्युक्त संशयात्मक दो विचार थे, इसीलिए उसने गुरु से कहा था कि–"क और ख कैसे ब्रह्म हैं यह मैं नहीं समझ सका ।"

उपकोसलस्येममाशयं जानंतोऽग्नयः "यद्वाव कं तदेव खं यदेव खं तदेव कम '' इत्यूचिरे । ब्रह्मणः सुखरूपत्वमेवापरिच्छिन्न मित्यर्थः । अतः प्राणशरीरतया प्राणविशिष्टं यद् ब्रह्म तदेव अपरिच्छिन्न सुखरूपं चेति निगमितम् "प्राणं च हास्मैतदाकाशं चोचु." इति । अतः 'कं ब्रह्म खं ब्रह्म'' इत्यत्रापरिच्छिन्न सुखं ब्रह्म प्रतिपादितमिति परंब्रह्मैव तत्र प्रकृतम्, तदेव चात्राक्ष्याधारतयाऽभिधीयत इत्यक्ष्याधारः परमात्मा ।

उपकोसल के उक्त आशय को समझ कर अग्नियों ने कहा कि—"जो क है वही ख है, जो ख है वही क है" ब्रह्म निस्सीम सुख स्वरूप है यही उनके कथन का तात्पर्यार्थ है। प्राण जिनका शरीर है, ऐसे प्राण से विशिष्ट ब्रह्म, निस्सीम सुखस्वरूप भी है ऐसा "प्राण और उसके आश्रय-भूत आकाश का उपदेश किया" इस वेदांत वाक्य से सिद्ध होता है। इससे निश्चित होता है कि—"क ब्रह्म ख ब्रह्म" इत्यादि वाक्य में निस्सीम सुख स्वरूप ब्रह्म का ही वर्णन है जो कि परब्रह्म का ही प्रतिपादक है, वही उक्त प्रकरण का नेत्रस्थानीय नेत्राधार परमात्मा है।

श्रुतोपनिषत्कगत्यभिधानाच्च ।१।२।१७॥

श्रुतोपनिषत्कस्य—अधिगतपरमपुरुषयाथात्म्यस्यानुसंधेयतया श्रुत्यंतरप्रतिपाद्यमाना अर्चिरादिका गतिर्या, तामपुनरावृत्तिलक्षण-परं पुरुषप्राप्तिकरीमुपकोसलायाक्षिपुरुषं श्रुतवते "तेऽर्चिषमेवाभि-संभवन्त्यर्चिषोऽहरह आपूर्यमाणपक्षम" इत्यारभ्य" चन्द्रमसोविद्युतम् तत्पुरुषो मानव. स एनान् ब्रह्म गमयत्येष देवपथो ब्रह्मपथ एतेन प्रतिपद्यमानां इमं मानवमावर्त्तं नावर्त्तन्ते "इत्यन्तेनोपदिशति। अतोऽप्ययमक्षिपुरुषः परमात्मा।

श्रुतोपनिषत्क अर्थात औपनिषद ज्ञातव्य परमपुरुष भगवान तथा तत्संबंधी अन्यान्य श्रुतिवाक्यों से अपुनरावृति लक्षण वाली परंपुरुष को प्राप्त कराने वाली अर्चिरादिगति, उपकोसल को—" वे अर्चिअभिमानी देवता को ही प्राप्त होते है, अर्चि से दिवसाभिमानी देवता को दिवसा-भिमानी देवता से शुक्लपक्षाभिमानी देवता को" इत्यादि से प्रारंभ करके "चन्द्रमा से विद्युत को, वहाँ से अमामव पुरुष, ब्रह्म को प्राप्त करा देता है, यह देवमार्ग ब्रह्मपथ है, इससे जाने वाले मानव, मानव मंडल में कदापि नही लौटते" यहाँ तक बतलाई गई है. वह अक्षिपुरुष के लिए ही है। इससे भी सिद्ध होता है कि अक्षिपुरुष परमात्मा ही है।

अनवस्थितेरसम्भवाच्च नेतरः ।१।२।१८॥

प्रतिबिम्बादीनामक्षिणि नियमेनानवस्थानाद मृतत्वादीनां च

निरुपाधिकानां तेष्वसंभवान्न परमात्मन इतरः छायाभिः अक्षिपुरुषो भवितुमर्हति। प्रतिबिम्बस्य तावत्पुरुषान्तर संन्निधानायत्तत्वान्न नियमेनावस्थानसंभवः। जीवस्यापि सर्वेन्द्रियव्यापारानुगुणत्वाय-सर्वेन्द्रियकेन्द्रभूते स्थानविशेषे वृत्तिरिति चक्षुषि नावस्थानम्। देवतायाश्च 'रश्मिभिरेषोऽस्मिन् प्रतिष्ठितः'' इति रश्मिद्वारेण-वस्थानवचनात् देशांतरावस्थितस्यापीन्द्रियाधिष्ठानोपपत्तेर्न चक्षु-ष्यवस्थानं सर्वेषामेवैषां निरुपाधिकामृतत्वादयो न संभवन्त्येव। तस्मादक्षिपुरुषः परमात्मा।

अमृतत्व आदि धर्म छायापुरुष आदि में संभव नहीं हैं, नेत्रों में इन सबकी नियमित स्थिति भी संभव नहीं है। परमात्मा के अतिरिक्त ये सब अक्षिपुरुष नहीं हो सकते। सामने किसी व्यक्ति के हुए बिना छाया तो पड़ नही सकती, इसलिए छायापुरुष की नेत्रो में नियमित स्थिति संभव नही है। जीव की, सरलता पूर्वक हर कार्य संपादन के लिए इन्द्रियों के मूलभूत स्थान विशेष (हृदय) मे ही स्थिति है, इसलिए उसका, नेत्रों की स्थिति का, प्रश्न ही नही उठता। चाक्षुष देवता की भी ("किरणों से ही वे इसमें उपस्थित है") रश्मियों द्वारा ही अवस्थिति कही गई है, वह तो दूरस्थ होने से स्वयं उपस्थित हो नहीं सकते। इन सब में निर्दोष अमृतत्व आदि विशेषतायें हो ही नहीं सकती, इसलिए अक्षिपुरुष परमात्मा ही है; यह सिद्ध होता है।

४ अधिकरणः—

"स्थानादिव्यपदेशाच्च" इत्यत्र "यश्चक्षुषि तिष्ठन्" इत्यादिना प्रतिपाद्यमानं चक्षुषि स्थितिनियमनादिकं एवेति सिद्धम् कृत्वाक्षिपुरुषस्य परमात्मत्वं साधितम्? इदानीं तदेव समर्थयते—

"जो नेत्रों में रहते है" इत्यादि वाक्यों में, चक्षु में स्थित जिन नियमन आदि धर्मों का प्रतिपादन किया गया है, वह परमात्मा के ही

धर्म हैं, "स्थानादिव्यपदेशाच्च" सूत्र में प्रमाणों द्वारा सिद्ध करके, अक्षि-पुरुष की परमात्मकता सिद्ध की गई अब उसी का समर्थन करते हैं।

अन्तर्याम्याधिदैवाधिलोकादिषुतद्धर्मव्यपदेशाच्च ।१।२।१९॥

काण्वा—माध्यन्दिनाश्च-वाजसनेयिन. समामनंति—"यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथ्वी न वेद यस्य पृथ्वी शरीरं यः पृथ्वीमन्तरो यमयत्येषत आत्माऽन्तर्याम्यमृतः" इति। एवम् अम्बवग्न्यन्तरिक्षवाय्वादित्यदिक्चंद्रतारकाकाशतमस्तेजस्सुदैवेषु च सर्वेषु भूतेषु प्राणवाक्चक्षुश्श्रोत्रमनस्त्वग्विज्ञानरेतः स्वात्मात्मीयेषु च तिष्ठंतं तत्तदन्तरभूतं तत्तदवेद्यं तत्तच्छरीरकं तत्तद्यमयन्तं कंचिन्निर्दिश्य "एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः" इत्युपदिश्यते। माध्यन्दिन पाठे तु 'यः सर्वेषु लोकेषु तिष्ठन्" "यः सर्वेषु वेदेषु"—यः सर्वेषु यज्ञेषु "इति च पर्यायाः ।" यो विज्ञाने तिष्ठन् "इत्यस्य पर्यायस्य स्थाने" य आत्मनितिष्ठन् "इति पर्यायः। "सत आत्माऽन्तर्याम्यमृतः" इति विशेषः। तत्र संशय्यते—किमयमन्तर्यामी प्रत्यगात्मा उत परमात्मा—इति। किं युक्तम्? प्रत्यगात्मेति। कुतः। वाक्यशेषे "द्रष्टाश्रोता" इतिकरणायत्त ज्ञानताश्रुतेः। एवं द्रष्टुरेवान्तर्यामित्वोपदेशात्। 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा" इति द्रष्ट्रन्तर निषेधाच्चेति।

यजुर्वेदीय काण्वशाखा और माध्यन्दिन वाजसनेयी शाखा में ऐसा वर्णन मिलता है कि—"जो पृथिवी में होते हुए भी पृथ्वी से भिन्न हैं, पृथ्वी उन्हें नहीं जानती पर पृथ्वी उनका शरीर है, वह पृथ्वी में अन्तर्यामी रूप से उसका संयमन करते है, वे अन्तर्यामी अमृत परमात्मा ही तुम्हारे आत्मा हैं।" इत्यादि—इसी प्रकार जल-अग्नि-अंतरिक्ष-वायु-आदित्य-दिक्-चंद्र-तारा-आकाश-तम और तेज रूप देवताओं में, समस्त भूतों में, प्राण-वाक्-चक्षु-श्रोत्र-मन-त्वग्-बुद्धि और शुक आदि आत्मा और आत्मियों में अवस्थित उनके अन्तर्यामी उनसे अज्ञेय, उनके

ही शरीर वाले, उनके नियंता आदि रूप से उन्हे बतलाकर "वे ही अमृत स्वरूप अन्तर्यामी तुम्हारे आत्मा हैं।" ऐसा उपदेश दिया गया है। माध्यन्दिन के पाठ में—"जो समस्त लोको में स्थित हैं, जो समस्त वेदों में स्थित हैं, जो समस्त यज्ञों में स्थित हैं" इत्यादि पर्याय विशेष है। "जो विज्ञान में स्थित है" के स्थान पर "जो आत्मा में स्थित है" ऐसा पर्यायवाची वाक्य प्रयोग किया गया है। "वह अमृत स्वरूप अन्तर्यामी तुम्हारे आत्मा हैं" यह विशेष वाक्य दोनों मे ही मिलता है।

इस पर संशय होता है कि-यह अन्तर्यामी, जीव है या परमात्मा? कह सकते हैं कि-जीवात्मा है, क्यों कि-उक्त वाक्य के अंत में अन्तर्यामी का ज्ञान इन्द्रियाधीन है, ऐसा "द्रष्टा श्रोता" इत्यादि विशेषणों से ज्ञात होता है। द्रष्टा को ही अन्तर्यामी कहा गया है तथा उसके अतिरिक्त कोई दूसरा द्रष्टा नहीं है।" ऐसा निषेध किया गया है इत्यादि से जीवात्मा ही सिद्ध होता है।

एवं प्राप्तेऽभिधीयते—अन्तर्याम्यधिदैवाधिलोकादिषु तद्धर्म-व्यपदेशात् अधिदैवाधिलोकादिपदचिह्नितेषु वाक्येषु श्रूयमाणोऽन्त-र्याम्यपहतपाप्मा परमात्मा नारायणः। काण्वपाठसिद्धेभ्योऽधिदे-वादिमद्भ्यो वाक्येभ्योऽधिकान्यधिलोकादिमन्ति वाक्यानि माध्य-न्दिनपाठे संतीति ज्ञापनार्थमधिदैवाधिलोकादिष्वित्युभयोरुपादानम्। तदेवमुभयेष्वपि वाक्येष्वन्तर्यामी परमात्मेत्यर्थः। कुतः? तद्धर्म-व्यपदेशात् परमात्मधर्मोह्ययम्, यदेक एव सन् सर्वलोकसर्वभूत सर्वदेवादीन् नियमयति इति।

उस संशय पर कहते हैं कि—अधिदैव और अधिलोक आदि वाक्यों में कहे गए अन्तर्यामी, निष्पाप परमात्मा नारायण ही हैं। काण्वशाखा के पाठ के अनुसार अधिदैवादि युक्त वाक्य की अपेक्षा माध्यन्दिन पाठ में अधिलोकादि युक्त पाठ अधिक है, इसके ज्ञापन के लिए ही सूत्र में अधिदेव के बाद अधिलोक शब्द का उल्लेख किया गया है। इन दोनों ही स्थानों के अन्तर्यामी परमात्मा ही हैं। उनके ही धर्मों का, दोनों

स्थानों पर उल्लेख किया गया है। जो स्वयं एक होकर भी, समस्त लोक, समस्त भूत और समस्त देवताओं का नियमन करते हैं। इत्यादि।

तथा उद्दालक प्रश्नः "इमं च लोकं परं च लोकं सर्वाणि च भूतानि योऽन्तरो यमयति" इत्युपक्रम्य "तमन्तर्यामिणंब्रूहि" इति तस्य चोत्तरम् "यः पृथिव्यां तिष्ठन्" इत्यारभ्योक्तम्। तदेतत् सर्वाल्लोकान्, सर्वाणि च भूतानि, सर्वान् देवान्, सर्वान् वेदान्, सर्वांश्चयज्ञानन्तः प्रविश्य, सर्वप्रकारनियमनम्, सर्वशरीरतया सर्वस्यात्मत्वं च सर्वज्ञात् सत्यसंकल्पात् पुरुषोत्तमादन्यस्य न संभवति।

इसी प्रकार उद्दालक प्रश्न के प्रकरण में जैसे—"जो अन्तर्यामी होकर इहलोक परलोक और समस्त भूतों का संयमन करते है" ऐसा उपक्रम करके "उन अन्तर्यामी के विषय में बतलावें" ऐसा प्रश्न करने पर "जो पृथिवी में है" इत्यादि उत्तर दिया गया। इससे ज्ञात होता है कि—समस्त लोक, समस्त भूत समुदाय, समस्त देवता, समस्त वेद, समस्त यज्ञ के अन्तर्यामी, हर प्रकार से सबका नियमन करने वाले, सर्व शरीर, सर्वात्मा सर्वज्ञ सत्य संकल्प, एक मात्र पुरुषोत्तम ही हो सकते हैं।

तथाहि—"अन्तः प्रविष्टः शास्ताजनानां सर्वात्मा"—"तत्स्रष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् तेदनुप्रविश्य, सच्चत्यच्चाभवत्" इत्यादीन्यौपनिषदानिवाक्यानि परमात्मन एव, सर्वस्य प्रशासितृत्वं सर्वस्यात्मत्वं इत्यादीनि वदंति।

इसी प्रकार—"सर्वात्मभूत परमेश्वर अभ्यंतर में प्रवेश कर समस्त जनों का शासन करते हैं"—"वे सृष्टि करके उसी में प्रविष्ट हो गए, प्रविष्ट होकर वे प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप वाले हुए" इत्यादि औपनिषद् वाक्य, परमात्मा की ही सर्वशासकता और सर्वान्तर्यामिता इत्यादि बतलाते हैं।

तथा सुबालोपनिषदि—"नैवेह किंचनाग्र आसीदमूलमनाधारमिमाः प्रजाः प्रजायंते दिव्योदेव एको नारायणः, चक्षुश्च द्रष्टव्यं

च नारायणः, श्रोत्रं च श्रोतव्यं च नारायणः" इत्यारम्भ "अन्तः शरीरे निहितो गुहायामज एको नित्यः यस्य पृथ्वी शरीरं यः पृथ्वी-मन्तरे संचरन् यं पृथ्वी न वेद यस्यापश्शरीम्" इत्यादि "यस्य मृत्युः शरीरम् यो मृत्युमन्तरे संचरन् यं मृत्युर्नवेद एष सर्वभूतान्त-रात्माऽपहृतपाप्मा दिव्योदेव एको नारायणः" इति परस्यैव ब्रह्मणः सर्वात्मत्वं सर्वशरीरत्वं सर्वस्य नियंतृत्वं च प्रतिपाद्यते ।

तथा सुबालोपनिषद में भी जैसे—"सृष्टि के पूर्व कुछ नहीं था, ये सारी प्रजा अर्थात् जायमान वस्तुएं, निर्मूल और निराधार रूप से जन्मती हैं, उस समय अलौकिक प्रकाश वाले एकमात्र नारायण ही थे, नारायण ही चक्षु और द्रष्टव्य तथा नारायण ही श्रोत्र और श्रोतव्य थे।" इत्यादि उपक्रम वाक्य से लेकर "जन्म रहित एक नित्यवस्तु शरीर के अदर बुद्धि की गुहा मे निहित है, पृथ्वी जिनका शरीर है, जो पृथ्वी में सचरण करते है पृथ्वी जिनको नहीं जानती, जल जिनका शरीर है।" इत्यादि तथा 'मृत्यु जिनका शरीर है, जो मृत्यु मे संचरित हैं, मृत्यु जिन्हे नही जानता, ऐसे समस्त भूतों के अन्तरात्मा, निष्पाप दिव्य देव एकमात्र नारायण ही है।" यहाँ तक परब्रह्म को सर्वात्मक, सर्व शरीरी सर्वनियंता, बतलाया गया है।

स्वाभाविकंचामृतत्वं परमात्मन एव धर्मः। न च परस्या-त्मनः करणायत्तद्रष्ट्रत्वादिकं, अपितु स्वभावत एव सर्वज्ञत्वात् सत्यसंकल्पत्वाच्च स्वत एव। यथा च श्रुतिः—"पश्यत्यचक्षुः स श्रृणोत्यकर्णः अपाणिपादो जवनो ग्रहीता" इति। न च दर्शन श्रवणादिशब्दाः चक्षुरादिकरणजन्मनो ज्ञानस्य वाचकाः अपितु रूपादिसाक्षात्कारस्य । स च रूपादिसाक्षात्कारः कर्मतिरोहित स्वाभाविकज्ञानस्य जीवस्य चक्षुरादिकरण जन्माः, परस्यतु स्वत एव। 'नान्योऽतोऽस्तिद्रष्टा" इत्येतदपि पूववाक्योदितात् नियतुः द्रष्टुः, अन्योद्रष्टा नास्ति इति वदति ।

स्वाभाविक अमरता, परमात्मा की ही विशेषता है। परमात्मा में, देखना सुनना इत्यादि क्षमतायें इन्द्रियाधीन नही हैं अपितु सर्वज्ञ और सत्यसंकल्प होने से ये सारी क्षमतायें उनमें स्वाभाविक रूप से रहती हैं। जैसा कि–' बिना नेत्र के ही देखते है, बिना कान के ही सुनते हैं' बिना हाथ और पैर के ही पकड़ते और चलते हैं" इस श्रुति वाक्य से भी सिद्ध है। देखना सुनना इत्यादि शब्द एकमात्र आँख कान इत्यादि इन्द्रिय जन्य ज्ञान के ही बोधक हों, ऐसा नही है, अपितु रूपादि विषयक साक्षात्कार के बोधक भी हैं। जीव की स्वाभाविक ज्ञानशक्ति, स्वीय कर्म संस्कारों से आवृत रहती है इसीलिए उसे इन्द्रियों की अपेक्षा होती है। किन्तु परमात्मा स्वभाव से ही कर्मादिजन्य दोषों से रहित है, इसलिए उन्हें सदा स्वाभाविक ज्ञान रहता है। "इनसे भिन्न कोई और द्रष्टा नहीं है" इत्यादि श्रुति भी पूर्व वाक्योक्त–नियंता द्रष्टा को कोई दूसरा द्रष्टा नही है इसी का समर्थन करती है।

"यं पृथ्वी न वेद" ममात्मा न वेद "इत्येवमादिभिर्वाक्यैः पृथिव्यात्मादिनियाम्यैरनुपलाभ्यमान एव नियमयतीहि यत्पूर्वमुक्तम् तदेव" अदृष्टो द्रष्टा अश्रुतः श्रोता "इति निगमय्य" नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा "इत्यादिना तस्य नियन्तुर्नियन्त्रन्तरं निषिध्यते।" एष त आत्मा–"सत्त आत्मा" इति च त इति व्यतिरेकविभक्ति-निर्दिष्टस्य जीवस्यात्मतयोपदिश्यमानोऽन्तर्यामी न प्रत्यगात्मा भवितुमर्हति।

"पृथ्वी जिन्हें नहीं जानती" आत्मा जिन्हें नही जानता "इत्यादि वाक्यों से उन्हीं का उल्लेख है जिन्हें पूर्व वाक्यो में पृथ्वी आत्मा आदि का नियामक कहा गया है, उन्हें ही आगे "स्वयं अदृश्य होकर देखते है तथा अश्रुत होकर सुनते है" इत्यादि में अलौकिक बतलाकर "उनके अतिरिक्त कोई अन्य द्रष्टा नही है" इत्यादि से उनकी अनन्य नियंतृता सिद्ध की गई है। 'यह तुम्हारा आत्मा है—वह तुम्हारा, आत्मा है" इत्यादि में आत्मा से भिन्न विभक्ति का प्रयोग करके जीवात्मा की भिन्नता स्पष्ट कर दी गई है इसलिए जीवात्मा कदापि अन्तर्यामी नहीं हो सकता।

न च स्मार्तमत तद्धर्माभिलापाच्छारीरश्च ।१।२।२०॥

स्मार्त्तं प्रधानम्, शारीरः जीवः स्मार्त्तं च शारीरश्च नान्तर्यामी, अतद्धर्माभिलापात्—तयोरसंभावितधर्माभिलापात् । स्वभावत एव सर्वस्य द्रष्ट्रत्वम्, सर्वस्य नियंतृत्वं, सर्वस्यात्मत्वं, स्वतएवामृतत्वम् च तयोर्नसंभावनागंधमर्हति । एतदुक्तं भवति, यथास्मार्त्तमचेतनं, सर्वज्ञत्वनियंतृत्वसर्वात्मत्वादिकं नार्हति, तथा जीवोऽपि; अतद्धर्मत्वादिति ।

सांख्य स्मृति प्रतिपाद्य प्रधान (माया) और शारीर जीवात्मा, अन्तर्यामी नहीं हैं क्यों कि उन दोनों में वे विशेषतायें नहीं हैं जो कि अन्तर्यामी के लिए वेदांत वाक्यों में कही गई हैं । स्वाभाविक ही सर्वदर्शन शक्ति, सर्व नियंत्रण शक्ति, सर्वात्मकता, और स्वाभाविक अमरता का इन दोनों में नितान्त अभाव है । कथन यह है कि—जैसे कि प्रधान अचेतन प्रकृति में सर्वज्ञत्व, नियंतृत्व सर्वात्मत्व आदि की अर्हता नहीं है वैसे ही चैतन्य जीव में भी नही है, ये विशेषतायें उसमें भी नहीं हैं ।

अमीषां गुणानां परमान्यन्वयः, प्रत्यगात्मनिव्यतिरेकश्च सूत्रद्वयेन दर्शितः ।

उक्त विशेषताओं का परमात्मा में अन्वय तथा जीवात्मा में अभाव दो सूत्रों में दिखलाया गया है ।

उभयेऽपिहिभेदेनैनमाभिधीयते ।१।२।२१॥

उभये माध्यन्दिनाः काण्वाश्च, अन्तर्यामिणोनियम्यत्वेन वागादिभिरचेतनैः समम् एनं, शारीरमपि विभज्याधीयते—"य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरोयमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति स त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः" इति माध्यन्दियाः; 'यो विज्ञाने तिष्ठन्" इत्यादि काण्वाः परमात्मनियाम्यतया तस्माद् विलक्षणत्वेनैनमभिधीयत इत्यर्थः । अतोऽन्तर्यामी

प्रत्यगात्मनो विलक्षणोऽपहतपाप्मा परमात्मा नारायण इति सिद्धम् ।

माध्यन्दिन और काण्व दोनों शाखाओं में, अचेतन वागादि इन्द्रियों के साथ संलग्न होने से जीवात्मा को, अन्तर्यामी परमात्मा से भिन्न बतलाया गया है, जैसे कि–"जो आत्मा में अन्तर्यामी रूप से हैं, आत्मा उन्हें नहीं जानता, आत्मा ही उनका शरीर है, वह आत्मा में रह कर उसका नियमन करते हैं, वे अन्तर्यामी ही तुम्हारा अमर आत्मा हैं" ऐसा माध्यन्दिन तथा—"जो विज्ञान में स्थित" इत्यादि काण्व, इस जीवात्मा को परमात्मा से नियम्य होने से भिन्न बतलाते हैं। इससे सिद्ध होता है कि जीवात्मा से विलक्षण, निष्पाप परमात्मा नारायण ही अन्तर्यामी हैं।

४ अदृश्यत्वादि गुणकाधिकरण :—

अदृश्यत्वादि गुणको धर्मोक्तेः ।१।२।२२॥

आथर्वणिकअधीयते 'अथ परा यया तदक्षरमाधिगम्यते । यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुश्श्रोत्रंतदपाणिपादम्;नित्यं विभुं सर्वंगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यंति धीराः" इति । तथोत्तरत्र–"अक्षरात्परतः परैः" इति । तत्र संदिह्यते–किमिहादृश्यत्वादिगुणकमक्षरमक्षरात्परतः परश्य प्रकृति पुरुषौ, अथोभयत्र परमात्मैव इति । किं प्राप्तम् ? प्रकृतिपुरुषाविति । कुतः ? अस्याक्षरस्य "अदृष्टो द्रष्टा" इत्यादिविव न द्रष्टत्वादिश्चेतन धर्मविशेष इह श्रूयते, "अक्षरात्परतः परः" इति च सर्वस्मात् विकारात् परभूतादक्षरादस्मात्परः क्षेत्रज्ञ समष्टि पुरुषः प्रतिपाद्यते ।

आथर्वणिक शाखा में कहा गया कि–"अब पराविद्या का व्याख्यान किया जावेगा, जिससे अक्षर पुरुष का ज्ञान होता है,–"जो अदृश्य अग्राह्य गोत्र वर्ण रहित, नेत्र कर्ण रहित, हस्तपाद रहित, नित्य, विभु सर्वगत,

अतिसूक्ष्म और अव्यय है, उस भूतयोनि का धीर लोग दर्शन करते हैं।" इसके बाद कहा गया कि–' वह अक्षर से भी पर है।"

इस पर संशय होता है कि–अदृश्यत्व आदि गुण वाला पर अक्षर से परतत्त्व कौन है, प्रकृति पुरुष अथवा परमात्मा ? कह सकते है कि प्रकृति पुरुष है, क्यों कि–"वह दीखते नही पर द्रष्टा है" इत्यादि में चेतन धर्म सापेक्ष है पर यहाँ तो चेनन धर्म सापेक्ष नहीं है अपितु– "पर अक्षर से भी पर है" इत्यादि में समस्त विकारों से परभूत अक्षर से श्रेष्ठ देहाधिपति पुरुष का ही प्रतिपादन किया गया है।

एतदुक्तं भवति रूपादिमत्स्थूलरूपाचेतनपृथिव्यादिभूतीश्रय दृश्यत्वादिकं प्रतिषिध्यमानं पृथिव्यादि सजातीय सूक्ष्मरूपाचेतन-मेवोस्थापयति, तच्च प्रधानमेव। तस्मात्परत्वं च समष्टि पुरुषस्यैव प्रसिद्धम्। तदधिष्ठितं च प्रधानं महदादि विशेषपर्यन्तं विकारजातं प्रसूत इति तत्र द्रष्टान्ता उपन्यस्यते "यथोर्णनाभिः सृजते गृह्यते च यथापृथिव्यामोषधयः संभवंति, यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि तथाऽक्षरात् संभवतीह विश्वम्" इति।

अतोऽस्मिन्प्रकरणे प्रधान पुरुषानेव प्रतिपाद्येते इति।

कथन यह है कि–रूपादिगुण विशिष्ठ स्थूल अचेतन पृथिव्यादि भूतविषयक दृश्यत्वादि धर्म का प्रतिषेध कर पृथिव्यादि के समान सूक्ष्म रूप जिस अचेतन का प्रतिपादन किया गया है, वह प्रधान (प्रकृति) का ही प्रतिपादन है। उस प्रधान से पर समष्टि पुरुष ही प्रसिद्ध है। प्रधान, उस पुरुष से अधिष्ठित होकर महत्तत्व से लेकर विशेष (स्थूल) तक समस्त विकारो का प्रसव करती है। इस विषय मे द्रष्टान्त भी दिया गया है—"जैसे ऊर्णनाभि (मकड़ी) स्वतः ही जाल की सृष्टि और सहार करती है, वैसे ही पृथ्वी में वृक्षादिको की स्वाभाविक सृष्टि होती है तथा जैसे पुरुष के शरीर में लोभ नख आदि स्वतः होते है, वैसे ही अक्षर से विश्व होता है।" इस दृष्टान्त से ज्ञात है कि– इस प्रकरण में प्रकृति पुरुष का ही प्रतिपादन किया गया है।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्तेः, अदृश्यत्वादि गुणकोऽक्षरात्परतः परश्च परमपुरुष एव, कुतः ? तद्धर्मोक्तेः। "यः सर्वज्ञः सर्ववित्"इत्यादिना सर्वज्ञत्वादिकाः तस्यैव धर्मा उच्यन्ते तथा हि—"ययातदक्षरमधिगम्यते" इत्यादिना अदृश्यत्वादिगुणकमक्षरमभिधाय 'अक्षरात् संभवतीहिविश्वम्" इति तस्मात् विश्वसंभवं चाभिधाय "यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः, तस्मादेतद् ब्रह्मनाम रूपमन्नं च जायते" इति भूतयोनेरक्षरस्य सर्वज्ञत्वादिः प्रतिपाद्यते। पश्चात् "अक्षरातपरतः परः" इति च प्रकृतिमदृश्यत्वादिगुणक भूतयोन्यक्षरं सर्वज्ञमेव परत्वेन व्यपदिश्यते। अतः "अक्षरात् परतः पर." इत्यक्षर शब्दः पंचम्यन्तः प्रकृतमदृश्यत्वादिगुणकमक्षरं नाभिधत्ते, तस्य सर्वज्ञस्य विश्वयोनेः सर्वस्मात् परत्वेन तस्मादन्यस्य परत्वासंभवात्। अतोऽन्नाक्षरशब्दो भूत सूक्ष्ममचेतनं ब्रूते।

उक्त संशय पर वक्तव्य यह है कि—अदृश्यत्वादि गुण अक्षर से परतत्त्व, परमात्मा के ही धर्म कहे गये हैं। तथा "जो सर्वज्ञ सर्वविद्" इत्यादि से सर्वज्ञता आदि धर्म भी उन्ही के बतलाए गए हैं। वैसे ही—"जिससे अक्षर अधिगत होता है" इत्यादि से अदृश्यत्व गुणवाले अक्षर का वर्णन करके "अक्षर से सारा विश्व होता है" इत्यादि से उस अक्षर से विश्व की उत्पत्ति बतलाकर "जो सर्वज्ञ और सर्वविद् है, ज्ञानमयता ही जिसका तप है उससे ही ब्रह्म, नाम, अन्न (पृथ्वी) और रूप उत्पन्न होते हैं" इत्यादि में भूतयोनि अक्षर की सर्वज्ञता आदि का प्रतिपादन किया गया है। "वह पर अक्षर से भी, पर है" इस वाक्य में भूतयोनि अदृश्यता आदि गुणवाले सर्वज्ञ अक्षर को ही, पर रूप से प्रतिपादन किया गया है। "अक्षरात् परतः" में अक्षर शब्द पंचम्यन्त कहा गया है जिससे ज्ञात होता है कि—यह वाक्य अदृश्यत्व आदि गुण वाले अक्षर का बोधक नहीं है। पर शब्द उस सर्वज्ञ विश्वयोनि की ओर इंगन कर रहा है जो कि सब से श्रेष्ठ है उससे अधिक कोई और श्रेष्ठ नही हो सकता।

पंचम्यन्त अक्षर शब्द सूक्ष्म भूत अचेतन का ही वाचक है। (अर्थात् अक्षर, परमात्मा की वह सूक्ष्म भूत अचेतन अवस्था है जिससे, स्थूल अचेतन जगत रूप क्षर की, उत्पत्ति होती है। परमात्मा इस अक्षर से भी परे है)

इतश्च न प्रधान पुरुषो—प्रधान और पुरुष इसलिए भी अदृश्यता आदि गुण वाले नहीं हो सकते कि—

विशेषणभेदव्यपदेशाभ्यांच नेतरौ ।१।२।२३।।

विशिनष्टि हि प्रकरणं—प्रधानाच्च पुरुषाच्च भूतयोन्यक्षरं व्यावर्तयतीत्यर्थः, एकविज्ञानेन सर्वविज्ञान प्रतिज्ञोपपादनादिभिः। तथा ताभ्यामक्षरस्य भेदश्च व्यपदिश्यते "अक्षरात्परतः परः" इत्यादिना। तथाहि—"सब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह" इति सर्वविद्या प्रतिष्ठा भृता ब्रह्मविद्या प्रक्रांताः परविद्यैव च सर्वविद्या प्रतिष्ठा, तामिमां सर्वविद्या प्रतिष्ठां विद्यां चतुर्मुखाथर्वादिगुरूपरम्परयांऽगिरसा प्राप्तां जिज्ञासुः "शौनको ह वै महाशालोंऽगिरसं विधिवदुपसन्नः पप्रच्छ कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति" इति ब्रह्मविद्यायाः सर्वविद्याऽश्रयत्वाद ब्रह्मविज्ञानेन सर्वं विज्ञातं भवतीतिकृत्वा ब्रह्मस्वरूपमनेन पृष्ठम्— "तस्मै स होवाच द्वे विद्ये वेदितव्ये इति हस्म यद्ब्रह्म विदोवदंति पराचैवापरा च" इति। ब्रह्मप्रेप्सुना द्वे विद्ये वेदितव्ये—ब्रह्मविषये परोक्षापरोक्षरूपे द्वे विज्ञाने उपादेये इत्यर्थः, तत्र परोक्षं शास्त्र-जन्यं ज्ञानं, अपरोक्षम् योगजन्यम्, तयोः ब्रह्म प्राप्ति उपायभूतम परोक्षं ज्ञानम्, तच्च भक्तिरूपापन्नम्, "यमेवैष वृणुतेतेनलभ्यः" इत्यत्रैव विशेष्यमाणत्वात् तदुपायश्चागमजन्यं विवेकादि साधनसप्त-कानुग्रहीतं ज्ञानं "तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन" इति श्रुतेः।

"एक विज्ञान से सर्वविज्ञान" इत्यादि नियम के प्रतिपादन के लिए प्रारब्ध यह प्रकरण भी विशेष रूप से प्रधान और पुरुष से, भूतयोनि अक्षर की पृथकता बतलाता है। इसी प्रकार "अक्षरात् परतः परः" वाक्य भी, प्रधान और पुरुष से अक्षर की पृथकता बतलाता है। प्रकरण में जैसे—"उन्होंने बड़े पुत्र अथर्व को समस्त विद्याओं की आश्रय भूत ब्रह्मविद्या का उपदेश दिया" इसमें समस्त विद्याओं की आधार रूप ब्रह्मविद्या बतलाई गई है। परमात्म विषयक विद्या ही समस्त विद्याओं की आधार शिला है। ब्रह्म, अथर्व आदि गुरु परम्परा से प्राप्त इस समस्त विद्याओं की आधारभूत विद्या को अंगिरस से जिज्ञासु—"शौनक ने विधान पूर्वक जाकर जिज्ञासा की कि—हे भगवन्! कौन ऐसा एक पदार्थ है जिसके ज्ञान से इस समस्त जगत का ज्ञान हो जाता है?" ब्रह्मविद्या ही समस्त विद्याओं की आधार शिला है, इसलिए ब्रह्मविज्ञान से ही समस्त का ज्ञान हो सकता है, ऐसा विचार कर ही शौनक ने ब्रह्मस्वरूप की जिज्ञासा की थी, उस पर—"उन्होने, उनसे कहा कि—"दो विद्यायें ज्ञातव्य हैं, जिन्हे कि ब्रह्मवेत्ता परा अपरा नाम से स्मरण करते हैं।" इससे ज्ञात होता है कि ब्रह्म प्राप्ति की इच्छावालों को दो विद्याओं को जानना चाहिए। अर्थात् ब्रह्म विषय में परोक्ष और अपरोक्ष, दो विज्ञान उपादेय हैं। उनमें परोक्ष तो शास्त्र जन्य ज्ञान है तथा अपरोक्ष ज्ञान योगाभ्यास जन्य है। इन दोनों में अपरोक्ष ज्ञान ही ब्रह्म प्राप्ति का श्रेष्ठ उपाय है जो कि—भक्तिरूप से प्राप्त होता है। "यह जिसे वरण कर लेते हैं उसे ही प्राप्त होते हैं" इत्यादि में उक्त तथ्य का ही विवेचन किया गया है। इस भक्ति का उपाय रूप आगम जन्य ज्ञान, विवेक आदि सात साधनों से प्राप्त ज्ञान है। जैसा कि—"ब्राह्मण लोग वेदपाठ, यज्ञ, दान, तप और विषयाशक्ति त्याग द्वारा उस परमात्मा को जानते हैं" इत्यादि श्रुति से ज्ञात होता है।

आह च भगवान पराशरः—"तत्प्राप्तिहेतुर्ज्ञानं च कर्म चोक्तं महामुने, आगमोत्थं विवेकाच्च द्विधाज्ञानं तथोच्यते" इति। "तथा-परा ऋग्वेदो यजुर्वेदः" इत्यादिना "धर्मशास्त्राणि इत्यन्तेन आगमोत्थं ब्रह्मसाक्षात्कार हेतुभूतं परोक्षज्ञानमुक्तम्। सांगस्य सेतिहास पुराणस्यसधर्मशास्त्रस्य समीमांसस्य वेदस्य ब्रह्मज्ञानोत्पत्ति हेतुत्वात्"

अथपरा ययातदक्षरमधिगम्यते "इत्युपासनाख्यं ब्रह्मसाक्षात्कार-लक्षणं भक्तिरूपापन्नं ज्ञानम्" यत्तदद्रेश्यमग्राह्यम् इत्यादिना परोक्षा-परोक्षरूप ज्ञानद्वय विषयस्य परस्य ब्रह्मण: स्वरूपमुच्यते ।

और भगवान पाराशर भी ऐसा ही कहते है—"ज्ञान और कर्म दोनों ही उनके प्राप्ति के हेतु हैं शास्त्रोक्त और विवेक जन्य दो प्रकार के ज्ञान कहे गए हैं। "तथापराऋग्वेदो यजुर्वेद:" से प्रारभ करके "धर्मशास्त्राणि" तक ब्रह्म साक्षात्कार के हेतुभूत शास्त्रोत्थ परोक्ष ज्ञान का विवेचन किया है। इतिहास, पुराण, मीमासा और व्याकरण, छंद ज्योतिष आदि अंगों सहित वेद ही ब्रह्मज्ञानोत्पत्ति का मूलकारण है यही बतलाया गया "अब परा विद्या बतलाते हैं जिससे अक्षर ब्रह्म का ज्ञान होता है इत्यादि में ब्रह्मानुभूति रूप भक्तिभावापन्न उपासना "नामक ज्ञान का विवेचन किया। "जो अदृश्य और अग्राह्य है" इत्यादि में परोक्ष अपरोक्ष इन दोनों ज्ञानों के विषयभूत परब्रह्म के स्वरूप का निर्देश किया गया है।

"यथोर्णनाभि: सृजते गृह्वते च" इत्यादिना यथोक्तस्वरूपात् परस्याद् ब्रह्मणोऽक्षरात् कृत्स्नस्य चेतना चेतनात्मक प्रपंचस्योत्पत्ति-रुक्ता, विश्वमिति वचनात्राचेतनमात्रस्य "तपसा चीयते ब्रह्म ततोऽ-न्नमभिजायते, अन्नात्प्राणो मन: सत्यं लोका. कर्मसुचामृतम्" इति ब्रह्मणो विश्वोत्पत्ति प्रकार उच्यते। तपसा-ज्ञानेन, "यस्य ज्ञान-मयंतप:" इति वक्ष्यमाणत्वात्, चीयते—उपचीयते; "बहुस्यां" इति संकल्परूपेण ज्ञानेन ब्रह्मे सृष्ट्युन्मुखं भवतीत्यर्थ:। ततोऽन्नमभि जायते—अद्यत इत्यन्नम्, विश्वस्य भोक्तृवर्गस्य भोग्यभूतं भूत सूक्ष्मभव्याकृतं परस्माद् ब्रह्मणो जायत इत्यर्थ: प्राण मन: प्रभृति व स्वर्गापवर्गरूपफल साधनभूत कर्मप्रर्यन्तं सर्वं विकारजातं तस्मा देव जायते ।

"ऊर्णनाभि जैसे सृष्टि और संहार करती है" इत्यादि मे, उपर्यु स्वरूप वाले परब्रह्म अक्षर ब्रह्म से, समस्त अंड चेतनात्म प्रपंच व

उत्पत्ति बतलाई गई है, वाक्य में प्रयुक्त "विश्वम्" पद, समस्त अचेतन मात्र की उत्पत्ति का बोधक है। "ब्रह्म तपस्या द्वारा ही सृष्टि करते हैं, उनसे अन्न की सृष्टि होती है, अन्न से प्राण, मन, सत्य, समस्त लोक, कर्मफल और अमृत (स्वर्ग) आदि उत्पन्न हुए" ऐसा ब्रह्म का विश्वोत्पत्ति का प्रकार बतलाया गया है। तपसा का अर्थ है ज्ञान से, "जिसकी ज्ञानमयता ही तप है" इस वाक्य से उक्त अर्थ की पुष्टि होती है। चीयते का तात्पर्य है उपचीयते अर्थात् "बहुस्यां" ऐसे संकल्प रूप ज्ञान से ब्रह्म सृष्टि के उन्मुख होता है। जिसे खाया जाय उसे अन्न कहते हैं; अतः अन्नमभिजायते का तात्पर्य हुआ कि—भोक्ता विश्व का भोग्यभूत अन्न, अतिसूक्ष्म अव्याकृत परब्रह्म से उत्पन्न हुआ प्राण, मन, स्वर्ग और मोक्ष रूप फल के साधनीभूत कर्म आदि सभी विकार उन्हीं से उत्पन्न होते हैं।

"यः सर्वज्ञः सर्ववित्" इत्यादिना सृष्ट्युपपकरणभूतं सार्वज्ञसत्यसंकल्पत्वादिकमुक्तम्। सर्वज्ञात् संकल्पात् परस्माद्ब्रह्मणोऽक्षरादेतत् कार्याकारं ब्रह्म नामरूपविभक्तं भोक्तृभोग्यरूपं च जायते। "तदेत्सत्यमिति" इति परस्यब्रह्मणो निरुपाधिकसत्यत्वमुच्यते।" मंत्रेषुकर्माणिक वयो मान्यपश्यंस्तानित्रेतायां बहुधा संततानि, तान्याचरत नियतं सत्यकामाः "इति सार्वज्ञसत्य संकल्पत्वादि कल्याण गुणाकारमक्षरं पुरुषं स्वतः सत्यं कामयमानाः तत्प्राप्त्यर्थं फलान्तरेभ्यो विरक्त ऋग्यजुसामाथर्व सुकविभिदृष्टानि वर्णाश्रमोचितानि त्रेताग्निषु बहुधा सन्ततानि कर्माण्याचरतेति।" एष वः पन्थाः "इत्यारभ्य" एष वः पुण्यः सुकृतो ब्रह्मलोकः" इत्यन्तेन कर्मानुष्ठान प्रकारं, श्रुतिस्मृति चोदितेषु कर्मसु एकतरकर्मवैधुर्येऽपीतरेषामनुष्ठितानामपि निष्फलत्वम् अयथानुष्ठितस्य चाननुष्ठित समत्वम् अभिधाय "प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषुकर्म, एतच्छ्रेयो येऽभिनंदंति मूढाजरामृत्यू ते पुनरेवापि यन्ति।" इत्यादिना फलाभिसंधि पूर्वकत्वेन ज्ञानविधुरतया चावरं कर्माचरतां

पुनरावृत्तिमुक्त्वा "तपश्श्रद्धे ये ह्युपवसंति" इत्यादिन पुनरपि-फलाभिसंधि रहितं ज्ञानिनानुष्ठितं कर्म ब्रह्म प्राप्तये भवतीति प्रशस्य "परीक्ष्य लोकान्" इत्यादिना केवल कर्मफलेषु विरक्तस्य यथोदित कर्मानुगृहीतं ब्रह्मप्राप्त्युपायभूतम् ज्ञानं जिज्ञासमानस्य च आचार्योपसदनं विधाय 'तदेतत् सत्यं यथा सुदीप्तात् "इत्यादिना" सोऽविद्याग्रन्थि विकिरतीह सौम्य" इत्यंतेन पूर्वोक्तस्याक्षरस्य भूत-योनेः परस्य ब्रह्मणः परमपुरुषस्यानुक्तैः स्वरूपगुणैः सह सर्वभूतान्त-रात्मतया विश्वशरीरत्वेन विश्वरूपत्वम्, तस्माद् विश्व सृष्टि च विस्पष्टमभिधाय "आविस्सन्निहितम्" इत्यादिना तस्यैवाक्षर स्याव्यकृतात्परतोऽपि पुरुषात् परभूतस्यपरस्य ब्रह्मण. परमव्योम्नि प्रतिष्ठितस्यानवधिकाति शयानंद स्वरूपस्य हृदयगुहायामुपासीन प्रकारं उपासनस्य च परभक्तिरूपत्वमुपासीनस्याविद्याविमोकपूर्वकं ब्रह्मसमं ब्रह्मानुभवफलं चोपदिश्योपसंहृतम् । अतएवं विशेषणाद् भेदव्यपदेशाच्च नास्मिन् प्रकरणे प्रधानपुरुषौ प्रतिपाद्येते ।

"जो सर्वज्ञ सर्वविद" इत्यादि वाक्य में उनके सृष्टि कार्योपयोगी, सर्वज्ञ, सत्य संकल्प आदि गुण कहे गए हैं ।

कार्यभावापन्न ब्रह्म (हिरण्यगर्भ) नाम और रूप से भिन्न भोक्ता (जीव) तथा भोग्य (जड जगत) आदि सब, सर्वज्ञ सत्य संकल्प, अक्षर ब्रह्म से ही उत्पन्न होते हैं । "तदेतत् सत्यम्" इत्यादि में, परब्रह्म की, निरुपाधिक सत्यता बतलाई गई है ।" कवियों अर्थात् मनीषियो ने, मंत्रों से जिन समस्त कर्मों का ज्ञान प्राप्त किया, उनका त्रेता में विस्तार हुआ, हे सत्याभिलाषियों ! आप निरन्तर उनका आचरण करिए" इत्यादि वाक्य मे; सर्वज्ञ, सत्यसंकल्प, कल्याण गुणाकर स्वतः सत्य, अक्षर पुरुष की प्राप्ति के इच्छुक, तथा उनकी प्राप्ति के उद्देश्य से अन्यान्य फलासक्ति से विरक्त तुम लोग, ऋक् यजु साम अथर्व वेदों में ऋषियों द्वारा देखे गए त्रेता अग्नियो में निहित वर्णाश्रमोचित कर्मों का आचरण करो;

ऐसा आदेश दिया गया। "यही तुम्हारा मार्ग है" इत्यादि से प्रारंभ करके "यही तुम लोगों का पुण्यलब्ध ब्रह्मलोक है" इस अन्तिम वाक्य तक, कर्मानुष्ठान का प्रकार तथा श्रुति स्मृति उपदिष्ट कर्मों में किसी एक की भी हानि से संपूर्ण अनुष्ठान की हानि, तथा विधिलंघन पूर्वक किए गए अनुष्ठान की निरनुष्ठानता बतलाकर "अठारह सकान ऋत्विर्गों द्वारा अनुष्ठित यज्ञ रूपी अदृढ़ जहाज की यदि कोई मूढ प्रशंसा करता है तो वह बार-बार जरा मृत्यु को प्राप्त करता है" इत्यादि वाक्य में, फलासक्ति पूर्वक अनुष्ठित तत्त्वज्ञान विहीन कर्म को अवर कहा गया तथा उस कर्मानुष्ठान से पुनः जन्म मरण का चक्र बतलाकर—"जो तपस्या और श्रद्धा से उपासना करता है" इत्यादि में, ज्ञानियों द्वारा फलानुसंधान रहित अनुष्ठित कर्म को ही ब्रह्म प्राप्ति का सहायक बतलाते हुए निष्काम कर्म की प्रशंसा की गई है। इसके बाद—"कर्म-लब्ध फल की परीक्षा करके अर्थात् फल की नित्यता अनित्यता का विचार करके" इत्यादि में, एक मात्र निष्काम कर्म करने वाले, ब्रह्म-प्राप्ति के उपायभूत ज्ञान के जिज्ञासुओं को आचार्य के निकट जाने का नियम बतलाकर "यही वह सत्य है" इत्यादि से प्रारंभ करके "हे सौम्य! वह पुरुष ही अविद्या ग्रन्थि को छिन्न करते हैं" इत्यादि तक, पूर्वोक्त अक्षर भूतयोनि परब्रह्म की अब तक कहे गए गुणों के साथ सर्वान्तर्या-मिता, विश्व शरीर होने से विश्वरूपता तथा उन्हीं से विश्वसृष्टि का सुस्पष्ट प्रतिपादन करके 'आविः सन्निहिता" इत्यादि में—अव्याकृत प्रकृति से श्रेष्ठ पुरुष से भी, श्रेष्ठतर—परमव्योम में स्थित, निरवधि-निरतिशय आनंद स्वरूप अक्षर पदवाच्य परमपुरुष पर ब्रह्म की हृदय पुन्डरीक में उपासना प्रणाली, उपासना की पराभक्तिरूपता तथा उपासक की अविद्यानिवृत्ति पूर्वक ब्रह्म तुल्यता और ब्रह्मानुभवफल का उपदेश करके संहार किया गया है। इस प्रकार पूरे प्रकरण मे विशेष निर्देश और भेद निर्देश को देखने से, ज्ञात होता है कि इसमें प्रधान और पुरुष का प्रतिपादन नहीं है।

भेदव्यपदेशोऽपिहि ताभ्यां परस्य ब्रह्मणोऽत्र विद्यते। दिव्यो ह्यमूर्त्तः पुरुषः स वाह्याभ्यंतरो ह्यजः अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्ष-रात परतः परः "इत्यादिभिः अक्षराद् अव्याकृतात् परतो यः

समष्टि पुरुषः तस्मादपिपरभूतोऽदृश्यत्वादिगुणकोऽक्षर शब्दाभिहितः परमात्मेत्यर्थः अश्नुत इति वा, नक्षरतीति वाऽक्षरम् । तदव्याकृतेऽपि स्वविकारव्याप्तया वा महदादिवन्नामान्तराभिलापयोग्यक्षरणामावाद्वाऽक्षरत्वंकथंचिद् उपपद्यते ।

इस प्रकरण में प्रकृति और पुरुष का, परब्रह्म से स्पष्ट भेद दिखलाया गया है। "वह, दिव्य, निराकार पुरुष, बाहर और भीतर स्थित, जन्म-प्राण और मनरहित, शुभ्र, श्रेष्ठ अक्षर से भी श्रेष्ठ हैं।" इत्यादि में अव्याकृत पदवाच्य अक्षर से श्रेष्ठ जो समष्टि पुरुष है, उससे भी श्रेष्ठ अदृश्यत्वादि गुणवाले अक्षर परमात्मा का उल्लेख है। अक्षर का तात्पर्य है कि जो व्यापक रूप से सर्वत्र विद्यमान रहे अथवा जो स्वरूप से कभी विच्युत न हो। अव्याकृत प्रकृति न कभी व्यापक होकर स्थित रहती है और न महत्तत्त्व आदि की तरह नामान्तर ग्रहण रूप क्षरण ही प्राप्त करती है; इसलिए उसकी अक्षरता कभी उपपादित नहीं हो सकती।

रूपोपन्यासाच्च ।१।२।२४॥

"अग्निमूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथ्वी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा।" इतीदृश रूपं सर्वभूतान्तरात्मनः परमात्मन् एव संभवति अतश्च परमात्मा।

"अग्नि जिसका शिर, चन्द्र और सूर्य जिसकी आँखें, दिशायें जिसके कान, विवृत वेद जिसकी वाणी, वायु जिसके प्राण, विश्व जिसका हृदय, और पृथ्वी जिसके चरण हैं, वही समस्त भूत समुदाय का अन्तर्यामी है।" ऐसा रूप तो सर्वान्तर्यामी परमात्मा का ही हो सकता है। इसलिए परमात्मा ही अदृश्यत्वादि गुण वाला अक्षर है।

६ वैश्वानराधिकरणः—

वैश्वानरः साधारणशब्दविशेषात् ।१।२।२५॥

इदमामनंतिच्छंदोगाः "आत्मानमेवेमं वैश्वानरं संप्रत्यध्येषि तमेव नो ब्रूहि" इति प्रकम्य "यस्त्वेतमेवं प्रादेशमात्रमभिविमान-

मात्मानं वैश्वानरमुपासते" इति। तत्र संदेहः किमयं वैश्वानर आत्मा, परमात्मेति शक्य निर्णयः, उत न इति। किं प्राप्तम्? अशक्य निर्णय इति। कुतः? वैश्वानर शब्दस्य चतुर्ष्वर्थेषु प्रयोग-दर्शनात्। जाठराग्नौतावत् "अयमाग्नि वैश्वानरो येनेदमन्नं पच्यते यदिदमद्यते तस्यैष घोषो भवति, यावदेतत् कर्णावपिधाय शृणोति स यदोत्क्रमिष्यन्भवति नैनं घोषं शृणोति" इति। महाभूत तृतीये च "विश्वस्मा अग्नि भुवनाय देवा वैश्वानरं केतुमह्नामकृण्वन्" इति। देवतायां च "वैश्वानरस्य सुमतौ स्याम् राजा हि कं भुवना-मभि श्रो." इति। परमात्मनि च "तदात्मन्यैव हृदयोऽग्नौ वैश्वानरे प्रास्यत्" इति; "स एष वैश्वानरो विश्वरूपः प्राणोऽग्निरुदयते" इति च। वाक्योपक्रमादिषूपलभ्यमानान्यपि लिंगानि सर्वानुगुणतया नेतुं शक्यानीति।

छांदोग्योपनिषद् में—"इस समय तुम इस वैश्वानर आत्मा को जानो, वही हमारे बल हैं" ऐसा उपक्रम करते हुए "जो प्रादेश परिमित स्थान में अवस्थित इस व्यापक आत्मा की, वैश्वानर रूप से उपासना करता है।" इत्यादि में वैश्वानर की उपासना का उपदेश दिया गया है।

इस पर विचार होता है कि, वैश्वानर, जीवात्मा या परमात्मा? निर्णय कुछ अशक्य सा है क्योंकि—वैश्वानर शब्द का चार अर्थों में प्रयोग देखा जाता है। जाठराग्नि के रूप में जैसे—"यही वैश्वानर अग्नि है, जिससे भुक्त अन्त का परिपाक होता है, इसी से अन्तर्नाद होता है, जिसे कान बंद कर सुना जा सकता है, प्राणांत काल में व्यक्ति को यह नाद सुनाई नहीं पड़ता" इत्यादि। तृतीय महाभूत अग्निरूप में जैसे—"देवताओं ने समस्त जगत के उपकार के लिए वैश्वानर को दिवस का केतु (चिन्ह) बनाया है।" इत्यादि। देवता के अर्थ में प्रयुक्त जैसे—"हम लोग जिन वैश्वानर को सुदृष्टि से देखते हैं, वे ही समस्त जगत के सुख समृद्धि के संपादक हैं।" इत्यादि परमात्मा अर्थ में जैसे—'हृदयस्थ

आत्मस्वरूप वैश्वानर अग्नि को उसने प्रक्षिप्त किया" तथा "यही प्राण स्वरूप वैश्वानर अग्नि अनेक प्रकार से उद्गत होता है।" इत्यादि। वाक्य के प्रारंभ में विशेषार्थ ज्ञापक जो चिन्ह रहते हैं, उसी के आधार पर संपूर्ण वाक्य का अर्थ किया जा सकता है।

एवं प्राप्तेऽभिधीयते—वैश्वानरः साधारण शब्द विशेषात्-वैश्वानरः पर एव आत्मा कुतः ? साधारण शब्द विशेषात्। विशेष्यत इति विशेष—साधारणस्य वैश्वानर शब्दस्य परमात्मासाधारणैः धर्मविशेष्यमाणत्वादित्यर्थः। तथाहि—औपमन्यवादयः पंचेमे महर्षयः समेत्य—"को न आत्मा किं ब्रह्म ?" इति विचार्य "उद्दालको हि वै भगवन्तोऽयमारुणिः सम्प्रतीममात्मानं वैश्वानरमध्येति तं हंताभ्यागच्छाम्" इत्युद्दालकस्य वैश्वानरात्मविज्ञानभवगम्य तमभ्याजग्मुः। स चोद्दालक एतान्वैश्वानरात्म जिज्ञासूनभिलक्ष्यात्मनश्च तत्राकृत्स्नवेदित्वं मत्वा" तान हो वाच अश्वपतिर्वै भगवतोऽय केकयः सम्प्रतीममात्मानं वैश्वानर मध्येति तं हंताभ्यागच्छाम" इति। ते चोद्दालकषष्ठाः तमश्वपतिमभ्याजग्मुः।

उक्त संशय पर सूत्रकार "वैश्वानरः साधारण शब्द विशेषात्" सूत्र कहते हैं। अर्थात् वैश्वानर परमात्मा ही हैं, क्योंकि—साधारण शब्द की अपेक्षा, विशेष शब्द का प्रयोग किया गया है जिसके द्वारा विशेषित किया जाय उसे विशेष कहते है, अर्थात् वैश्वानर शब्द साधारण अर्थ को बोधक होते हुए भी, परमात्मा के असाधारण गुणों वाला होने से, उसी विशेषता का बोधक है। जैसा कि उल्लेख मिलता है कि—उपमन्यु आदि पाँच ऋषि एकत्र होकर "हमारा आत्मा कौन है, ब्रह्म क्या है ?" ऐसा विचार कर रहे थे कुछ भी निर्णय करने में अपने को असमर्थ पाकर उन्होंने सोचा कि—"आरुणि उद्दालक ही इस समय वैश्वानर आत्मा के विशेषज्ञ हैं, चलें उन्ही से इस विषय पर ज्ञान प्राप्त करें" अतः वे आरुणि को वैश्वानर का विशेषज्ञ मानकर

उनके निकट गए। उद्दालक ने इन वैश्वानर तत्त्व के जिज्ञासुओं को देखकर, अपने को वैश्वानर तत्त्व का विशेषज्ञ न मानते हुए "उनसे कहा--आजकल केकय देश के राजा अश्वपति ही वैश्वानर तत्त्व के विशेषज्ञ है, चलिए हम लोग उनके पास चलें" इस प्रकार वे उद्दालक आदि छहों ऋषि अश्वपति के पास पहुँचे।

स च तान्महर्षीन् यर्थाहं पृथगमभ्यर्च्य "न मेस्त्येनः" इत्यादिना "यक्ष्यमाणो ह वै भगवन्तोऽहमस्मि" इत्यंतेनात्मनो व्रतस्थतया प्रतिग्रहयोग्यतां ज्ञापयन्नेव ब्रह्मविद्भिरपि प्रतिषिद्ध परिहरणीयतां विहितकर्मकर्त्तव्यतां च प्रज्ञाप्य "यावदेकैकस्मा ऋत्विजे धनं दास्यामि तावद् भगवद्भ्यो दास्यामि वसंतु भवन्त." इत्यवोचत्।

अश्वपति ने उन सबकी यथायोग्य अलग-अलग पूजा करके 'मेरे राज्य मे चोर नहीं है" इत्यादि से लेकर "महापुरुषों मैं यज्ञ करना चाहता हूँ" इस वाक्य तक, अपने को व्रतस्थित प्रतिग्रह योग्य बतलाकर' ब्रह्मवेत्ताओं के लिए निषिद्ध कर्म की त्याज्यता तथा विहित कर्म की कर्त्तव्यता का उल्लेख करके 'एक एक ऋत्विजों को जितना धन दूँगा, उतना ही आप लोगों को भी दूँगा आप लोग यहीं निवास करें" ऐसा अपना मंतव्य प्रकट किया।

ते च मुमुक्षवो वैश्वानरमात्मानं जिज्ञास्यमानाः तमेवात्मानमस्माकं ब्रूहीत्यवोचन्। तदेवं "को न आत्मा किं ब्रह्म ? इति जोवात्मनामात्मभूतं ब्रह्म जिज्ञासमानैः तज्ज्ञमन्विच्छाद्भिः वैश्वानरात्मज्ञसकाशमागम्य पृच्छ्यमानो वैश्वानरात्मा परमात्मेति विज्ञायते आत्मब्रह्मशब्दाभ्यामुपक्रम्य पश्चात्सर्वत्रात्मवैश्वानर शब्दाभ्याम् व्यवहाराच्च ब्रह्म शब्दस्थाने निर्दिश्यमानो वैश्वानर शब्दो ब्रह्मैवाभिधत्त इति विज्ञायते। किं च--"स सर्वेषु लोकेषु भूतेषु सर्वेष्वात्मस्वन्नमत्ति"--"तद्यथेषीकतूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैवं हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते" इति च वक्ष्यमाणं वैश्वनरात्मविज्ञान फलं वैश्वानरात्मानं परंब्रह्मेति ज्ञापयति।

उन ऋषियों ने, वैश्वानर आत्मा के जिज्ञासु होकर "हमें तो वैश्वानर आत्मा का ही रहस्य बतलावें" ऐसा कहा। इस प्रकार "हमारा आत्मा कौन है, ब्रह्म कौन है?" ऐसे जीवान्तर्यामी ब्रह्म तत्त्व को जानने के इच्छुक वे लोग, उस विषय में विशेषज्ञों को खोजते हुए जहाँ-जहाँ भी गए और वैश्वानर आत्मा के विषय में जिज्ञासा की, वहाँ उन्हें यही बतलाया गया कि, वैश्वानर परमात्मा ही हैं। आत्मा और ब्रह्म शब्द का उपक्रम करते हुए, अन्त में सभी जगह, आत्मा और वैश्वानर शब्द का व्यवहार किया गया, जिससे वे समझ गए कि—ब्रह्म शब्द के स्थान पर प्रयुक्त वैश्वानर शब्द, ब्रह्म का ही बोधक है।

"वैश्वानर आत्मा का ज्ञाता पुरुष, समस्त लोकों, समस्त भूतों, और समस्त आत्माओं के अन्न को खाता है" तथा—'अग्नि में पतित ऋषीकतुला (शरतृण का समूह) जैसे भस्म हो जाता है, वैसे ही उनके पाप भी भस्म हो जाते हैं।" इत्यादि, वैश्वानर आत्मविज्ञान के वर्णन के परिणाम से ज्ञात होता है कि, वैश्वानर आत्मा, परब्रह्म है।

इतश्च वैश्वानरः परमात्मा—इसलिए भी वैश्वानर परमात्मा है कि—

स्मर्यमाणमनुमानं स्यादिति ।१।२।२६॥

द्युप्रभृति पृथिव्यन्तमवयव विभागेन वैश्वानरस्य रूपमिहोपदिश्यते। तच्च श्रुति स्मृतिषु परम पुरुषरूपतया प्रसिद्धम् तदिह तदेवेदमिति स्मर्यमाणं—प्रतिभिज्ञायमानं वैश्वानरस्य परम पुरुषत्वे अनुमानं लिगमित्यर्थः। इति शब्दः प्रकार वचनः इत्थंभूतंरूपम् प्रत्यभिज्ञायमानं वैश्वानरस्य परमात्मत्वेऽनुमानं स्यात् श्रुतिस्मृतिषु हि परमपुरुषस्येत्थं रूपं प्रसिद्धम्।

इस प्रकरण में, द्युलोक से लेकर पृथ्वी तक सभी को एक-एक अवयव बतलाते हुए वैश्वानर आत्मा के संपूर्ण रूप का वर्णन किया गया है। श्रुति और स्मृतियों में परब्रह्म परमात्मा का जैसा रूप, प्रसिद्ध रूप से मिलता है वैसा ही रूप वैश्वानर को भी बतलाया गया, जिससे ज्ञात होता है कि—वैश्वानर, परमात्मा का ही नाम है। सूत्रस्थ "इति"

शब्द प्रकारवाची है। प्रत्यभिज्ञा का विषय ऐसे रूप वाला वैश्वानर शब्द, परमात्मा का ज्ञापक है। श्रुति स्मृति में ऐसा रूप परमात्मा का ही प्रसिद्ध है।

यथा आथर्वणे—"अग्निमूर्धा, चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशःश्रोत्रे, वागविवृताश्च वेदाः; वायु प्राणो हृदयंविश्वमस्य पद्भ्यां पृथ्वी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा" इति। अग्निरिह द्यु लोकः "असौ वैलोकोऽग्निः" इति श्रुतेः।

स्मरंति च मुनयः—"द्यांमूर्धानं यस्य विप्रावदंति खं वै नाभि चन्द्रसूर्यौ च नेत्रे, दिशः श्रोत्रे विद्धि पादौक्षिति च सोऽचिंत्यात्मा सर्वभूत प्रणेता "इति" यस्माग्निरास्यं द्यौ मूर्धा खं नाभिश्चरणौ क्षितिः सूर्यश्चक्षुः दिशः श्रोत्रं तस्मै लोकात्मने नमः।" इति च।

जैसा कि आथर्वण संहिता में—"इस परमेश्वर का मस्तक अग्नि, नेत्र सूर्य और चंद्रमा, कान दिशायें, वाणी वेद, प्राण वायु, हृदय विश्व है, इसके दोनों पैरों से पृथ्वी उत्पन्न हुई है, यही समस्त प्राणियों का अन्तरात्मा है।" इस वाक्य में अग्नि का अर्थ द्यु लोक है जैसा कि--"यह द्यु लोक अग्नि स्वरूप है" इस श्रुति वाक्य से ज्ञात होता है।

महामुनि वेदव्यास जी ने भी ऐसे ही रूप का स्मरण किया है—"विद्वत्गण द्यु लोक को जिनका मस्तक, आकाश को नाभि, सूर्यचन्द्र को नेत्र, दिशाओं को कर्ण, एवं पृथ्वी को चरण बतलाते हैं, वे ही अचिन्त्य सर्वान्तर्यामी परमात्मा हैं।" तथा—"अग्नि जिनका मुख, द्यु लोक मस्तक, आकाश नाभि, पृथ्वी चरण, सूर्य नेत्र, दिशायें कान हैं, उन लोकात्मा को प्रणाम है।" इत्यादि।

इह च द्यु प्रभृतयो वैश्वानरस्य मूर्धाद्यवयवत्वेनोच्यन्ते। तथाहि—तैरौपमन्यवप्रभृतिभिमहर्षिभिः "आत्मानमेवेमं वैश्वानर सम्प्रत्यध्येषितमेव नो ब्रूहि" इति पृष्टः कैकेयस्तेभ्यो वैश्वानरात्मानमुपदिदिक्षुः विशेषप्रश्नान्यथानुपपत्या वैश्वानरात्मन्येतैः किंचिद् ज्ञातं

किंचिदज्ञातमिति इति विज्ञाय ज्ञाताज्ञातांश बुभुत्सया तानेकैकं प्रपच्छ। तत्र "औपमन्यव कं त्वमात्मानमुपास्से" इति पृष्टे "दिवमेव भगवो राजन्" इति तेन चोक्ते दिवितस्य पूर्ण वैश्वानरात्म बुद्धि निवर्तयन् वैश्वानरस्य द्यौमूर्धेति चोपदिशंस्तस्या वैश्वानरांशभूताया दिवः सुतेजा इति गुणनामधेयं प्राचिरव्ययपत्।

उक्त स्मृतिवाक्य में भी द्युलोक आदि को वैश्वानर के अंगों के रूप में वर्णन किया गया है। उन उपमन्यु आदि महर्षियों द्वारा "आप वैश्वानर आत्मा के ज्ञाता हैं, उन्हीं का उपदेश करें" ऐसा पूछने पर कैकय राज विश्वपति ने, वैश्वानर तत्त्व के उपदेश की इच्छा से, बिना कुछ सामान्य ज्ञान हुए, विशेष तत्त्व का ज्ञान हो नहीं सकता ऐसा विचार कर, ये लोग आत्मतत्त्व को कितना जानते है कितना नहीं, इसको जानने के लिए, उन लोगों में से प्रत्येक से अलग-अलग प्रश्न किया। "उपमन्यु तुम किसको आत्मा मान कर उपासना करते हो" ऐसा पूछने पर "राजन् द्युलोक को ही" ऐसा उपमन्यु द्वारा उत्तर देने पर द्युलोक को ही इन्होने आत्मा मान रक्खा है, इस भ्रम के निवारण के लिए, द्युलोक तो वैश्वानर का सिर है, ऐसा उपदेश कर वैश्वानर के अंशभूत द्युलोक को "सुतेज" गुण वाला बतलाया।

एवं सत्ययज्ञादिभिरादित्यवाय्वाकाशापृथिवीनामेकैकेनैकैक मुपास्यमानतया कथितानां विश्वरूपःपृथग्वर्त्मा, बहुलो, रविः, प्रतिष्ठा, इत्येकैक गुणनामधेयानि वैश्वनरात्मश्चक्षुप्राणसंदेहवस्ति-पादावयवत्वं चोपदिष्टम्। संदेहोमध्यकाय उच्यते। अत एवंभूत द्युमूर्धादिविशिष्टं परं पुरुषस्यैव रूपमिति वैश्वानरः परम पुरुष एव।

इसी प्रकार सत्य-आदित्य-वायु-आकाश पृथ्वी यज्ञ आदि को अलग-अलग उपास्य रूप से उन ऋषियों द्वारा बतलाने पर "विश्वरूप, वाय्वात्मा बहुल रवि और प्रतिष्ठा" इत्यादि भिन्न भिन्नगुणवाची नाम, चक्षु, प्राण, संदेह, वस्ति-पाद आदि वैश्वानर परमात्मा के अवयवों के

ही हैं, ऐसा अश्वपति ने उपदेश दिया। शरीर के मध्यभाग को संदेह कहते हैं।

इस प्रकार जो द्यु मूर्धादिविशिष्ट रूप परमात्मा का प्रसिद्ध है उसे ही वैश्वानर का बतलाया गया इससे स्पष्ट हो जाता है कि–वैश्वानर परमात्मा ही है।

पुनरप्यनिर्णयमेवाशंक्य परिहरति—

पुनः अनिर्णय की आशंका करके परिहार करते हैं—

शब्दादिभ्योऽन्तः प्रतिष्ठानाच्च नेतिचेन्न तथा

दृष्ट्युपदेशादसंभवात् पुरुषमपि चैनमधीयते ।१।२।२७।।

यदुक्तं वैश्वानरः परमात्मेति निश्चीयत इति, तन्न शब्दादिभ्योऽन्तः प्रतिष्ठानाच्च, जाठरस्याप्यग्नेरिह प्रतीयेमानत्वात्। शब्दस्तावद् वाजिनां वैश्वानर विद्याप्रकरणे "स एषोऽग्निर्वैश्वानरः" इति वैश्वानर समानाधिकरणतयाऽग्निरिति श्रूयते। अस्मिन् प्रकरणे च "हृदयं गार्हपत्यो मनोऽन्वाहार्यं पचन आस्यमाहवनीयः" इति वैश्वानरस्य हृदयादिस्थस्याग्नित्रय कल्पनं क्रियते।

'तद् यद्भक्तं प्रथममागच्छेत्तद्होमीयं स यां प्रथमामाहुतिं जुहुयात्तां जुहुयात्प्राणाय स्वाहा" इत्यदिना प्राणाहुत्याधारत्वं च वैश्वानरस्यावगम्यते। तथा वैश्वानरास्मिन् पुरुषेऽन्तः प्रतिष्ठानं वाजसनेयिनः समामनन्ति "स यो हैतमेवमग्नि वैश्वानरं पुरुषविधं पुरुषेऽन्तः प्रतिष्ठितं वेद" इति। अतोऽग्नि शब्द सामानाधिकरण्यात् अग्नित्रेतापरिकल्पनात् प्राणाहुत्याधार भावात् अन्तः प्रतिष्ठानाच्च वैश्वानरस्य जाठरत्वमपि प्रतीयत इति नैकान्ततः परमात्मत्वमिति चेत्।

जो यह कहा कि–वैश्वानर परमात्मा ही है, सो यह समझ में नही आता, क्यों कि–शब्द आदि तथा आभ्यंतरस्थित होने से, जाठराग्नि की

प्रतीति होती है। वाजसनेय प्रश्नोपनिषद् के वैश्वानर के प्रकरण में जैसे-वैश्वानर शब्द के साथ अग्नि शब्द का सामानाधिकरण्य अभेद रूप से कहा गया है। प्रस्तुत प्रकरण मे भी -"हृदय गार्हपत्याग्नि है, मन अन्वाहार्यपचन है तथा मुख आहवनीय है" वैश्वानर की, हृदय आदि तीन स्थानों में तीनों अग्नियों के रूप मे कल्पना की गई है।

"जो अन्न पहिले आवे उसका हवन करना चाहिए उस समय वह भोक्ता जो प्रथम आहुति दे उसे" प्राणाय स्वाहा "कहकर दे" इत्यादि में भी प्राणाहुति के आधार रूप से वैश्वानर की ही प्रतीति होती है। तथा वाजसनेय सहिता मे इस वैश्वानर आत्मा को जीव शरीर का अभ्यन्तर्वर्त्ती भी कहा गया है—"जो पुरुष के देहान्तर्वर्त्ती पुरुषाकृति वैश्वानर अग्नि को जानते है।" इस प्रकार अग्नि के साथ अभेद रूप से निर्देश, अग्नित्रय रूप से कल्पना, प्राणाहुति की अधिकरणता तथा शरीराभ्यंतर स्थिति आदि से वैश्वानर, जाठराग्नि ही प्रतीति होता है, एकमात्र परमात्मा ही वैश्वानर शब्दाभिधेय नही है।

तत्र—तथा दृष्ट्युपदेशात्—पूर्वोक्तस्य त्रैलोक्य शरीरस्य परस्य ब्रह्मणो वैश्वानरस्य जाठराग्निशरीरतया तद्विशिष्टस्योपासनोपदेशात्। अग्निशब्दादिभिर्हि न केवलो जाठरः प्रतिपाद्यते, अपितु जाठराग्नि विशिष्ट. परमात्मा। कथमिदमवगम्यत इति चेत्—असंभवात् जाठरस्य केवलस्य त्रैलोक्यशरीरत्वासंभवात्। त्रैलोक्य-शरीरतया प्रतिपन्नवैश्वानर समानाधिकरणो जाठर विषयतया प्रतीयमानोऽग्निशब्दो जाठरशरीरतया तद् विशिष्टं परमात्मानमेवाभिद धतीत्यर्थः। यथोक्तं भगवता—"अहंवैश्वानरोभूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः, प्राणापान समायुक्त. पचाम्यन्नं चतुर्विधम्" इति जाठरानल शरीरो भूत्वेत्यर्थः। अतः तद्विशिष्टस्योपासनमत्रोपदिश्यते। किं च—पुरुषमपिचैनमधीयते वाजसनेयिनः "स एषोऽग्नि-वैश्वानरो यत्पुरुषः" इति; नहि जाठरस्य केवलस्य पुरुषत्वम्,

परमात्मन एव हि निरुपाधिकं पुरुषत्वं यथा—"सहस्रशीर्षापुरुषः" पुरुष एवेदं सर्वम्" इत्यादौ ।

उक्त शंका असंगत है, जाठराग्नि का परमात्मा की दृष्टि से ही उपदेश किया गया है, अर्थात् त्रैलोक्य शरीरधारी के रूप से परब्रह्म को, वैश्वानर कहा गया है, जाठराग्नि उनका शरीर स्थानीय है, इसी दृष्टि से, जाठराग्नि विशिष्ट रूप का उपास्य रूप से उपदेश दिया गया है। अग्नि आदि शब्द केवल जाठराग्नि बोधक ही नहीं हैं, अपितु जाठराग्नि विशिष्ट रूप परमात्मा के भी बोधक है। यदि कहो कि, ऐसा कैसे समझें तो केवल जाठराग्नि में, त्रिलोकी शरीरत्व संभव नहीं है। त्रैलोक्य शरीर विशिष्ट रूप से प्रतिपन्न, वैश्वानर के साथ, सामानाधिकरण्य रूप से प्रयुक्त, यदि कोई शब्द, जाठराग्नि अर्थ का बोधक हो तो भी, यही समझना चाहिए कि—जाठराग्नि परमात्मा का शरीर है और वह परमात्मा का ही बोधक है, जैसा कि भगवान ने स्वयं कहा है—"मैं वैश्वानर होकर प्राणियों के शरीर में आश्रित हूँ, प्राण अपान वायु से संयुक्त होकर चार प्रकार के खाद्यों का परिपाक करता हूँ" उक्त वाक्य में जाठराग्नि विशिष्ट ही उपास्य बतलाए गए हैं। वाजसनेय में इन्हें ही पुरुष रूप बतलाया गया है—"यह वैश्वानर अग्नि ही पुरुष हैं।" केवल जाठराग्नि मात्र, पुरुष नहीं हो सकता एकमात्र परमात्मा को ही पुरुष रूप से स्मरण किया गया है—" सहस्रशीर्षापुरूषः "पुरुष एवेदं सर्वम्" इत्यादि ।

अतएव न देवता भूतश्च।१।२।२८॥

उक्तेभ्य एव हेतुभ्यो देवतायाश्च तृतीयस्य महाभूतस्यापि न वैश्वानरत्व प्रसंगः ।

उक्त कारणों से ही, वैश्वानर शब्द, देवता या तृतीय महाभूत अग्नि का भी, वाचक नहीं है।

साक्षादप्यविरोधं जैमिनिः ।१।२।२९॥

वैश्वानरसमानाधिकरणस्याग्निशब्दस्य जाठराग्नि शरीरतया तद् विशिष्टस्य परमात्मनो वाचकत्वं, तथैव परमात्मन उपास्यत्व

चोक्तम्। जैमिनिस्त्वाचार्यो वैश्वानर शब्दवदग्निशब्दस्यापि परमात्मन एव साक्षात् अव्यवधानेन वाचकत्वे न कश्चिद् विरोध इति मन्येत।

अग्नि शब्द का वैश्वानर के साथ, अभेदभाव निर्दिष्ट होते हुए भी, जाठराग्नि शरीर होने से, तद्विशिष्ट परमात्मा का ही वाचक हो सकता है। वैसे ही परमात्मा के रूप को, उपास्य भी कहा गया है। जैमिनि आचार्य, वैश्वानर शब्द की तरह, अग्नि शब्द का भी, परमात्मा से, साक्षात् संबंध मानते हैं, और वाचकता में कोई विरोध नहीं समझते।

एतदुक्तं भवति, यथा वैश्वानर शब्दः साधारणोऽपि परमात्माऽसाधारणधर्मविशेषितो विश्वेषां नराणां नेतृत्वादिना गुणेन परमात्मानमेवाभिदधातीति निश्चीयते, एवमग्निशब्दोऽप्यग्रनयनादिना येनैवगुणेन योगाज्ज्वलने वर्त्तते, तस्यैव गुणस्य निरुपाधिकस्य काष्ठागतस्य परमात्मनि सम्भवादस्मिन् प्रकरणे परमात्माऽसाधारण विशेषितः परमात्मानमेवाभिधत्त इति।

जैसे कि वैश्वानर शब्द, साधारण और अविशिष्ट होते हुए भी परमात्मा के असाधारण विशिष्ट धर्मों से, विशेषित होकर, समस्त जीव समुदाय के नेता परमात्मा, का वाचक है; उसी प्रकार "अग्नि" शब्द भी "आगे ले जाने वाला" व्युत्पत्ति के अनुसार नेतृत्व गुणवाला है। परमात्मा का यह स्वाभाविक गुण है; इस प्रकरण में परमात्मा के असाधारण गुणों से विशेषित होने से, वह अग्नि भी परमात्मा बोधक ही है।

"यस्त्वेतमेवं प्रादेशमात्रमभिविमानं" इत्यपरिच्छिन्नस्य परस्य ब्रह्मणो द्युप्रभृतिपृथिव्यन्त प्रदेश संबधिन्या मात्रया परिच्छिन्नत्वं कथमुपपद्यते?—तत्राह—

शंका की जाती है कि—'वह प्रादेश मात्र में ही परिमित नहीं है" इस श्रुति वाक्य में कहे गए अपरिच्छिन्न परब्रह्म की, द्यु लोक से पृथ्वी पर्यन्त परिणाम परिच्छिन्नता कैसे हो सकती है? इसका उत्तर देते हैं—

अभिव्यक्तेरित्याश्मरथ्यः ।१।२।३०।।

उपासकाभिव्यक्त्यर्थं प्रादेशमात्रत्वं परमात्मन् इत्याश्मरथ्य आचार्यो मन्यते । "द्यौमूर्धा आदित्यश्चक्षुः, वायुः प्राणः, आकाशो मध्यकायः आपोवस्तिः, पृथ्वी पादौ," इति द्युप्रभृतिप्रदेशसंवधिन्या मात्रया परिच्छिन्नत्वं कृत्स्नमभिव्याप्तवता विगतमानस्य ह्यभिव्यक्तेरेव हेतोर्भवति ।

उपासकों की अभिव्यक्ति सामर्थ्य के लिए, परमात्मा का प्रादेश मात्र रूप, शास्त्रों में वर्णन किया गया है; ऐसा आश्मरथ्य आचार्य का मत है। "द्युलोक सिर, सूर्य नेत्र, वायु प्राण, आकाश मध्य शरीर, जल वस्ति, पृथ्वी चरण," इत्यादि वाक्य में, द्युलोक आदि प्रदेशों से संबंधित प्रदेशगत परिमाण द्वारा, सर्वव्यापी परमात्मा की, जो परिच्छिन्नता बतलाई गई है, वह अभिव्यक्ति सामर्थ्य के लिए ही है।

मूर्धं प्रभृत्यवयवविशेषैः पुरुषविधत्वं परस्य ब्रह्मणः किमर्थमिति चेत्—तत्राह—

सिर आदि अवयव विशेषों से युक्त पुरुष रूप का विधान परमात्मा के लिए क्यों किया गया है ? इस शंका का समाधान करते हैं—

अनुस्मृतेर्वादरिः ।१।२।३१।।

तथोपासनार्थमिति बादरिराचार्यो मन्यते ।" यस्त्वेतमेवमभिविमानमात्मात्मानं वैश्वानरमुपास्ते स सर्वेषु लोकेषु, सर्वेषु भूतेषु, सर्वेषु आत्मसु अन्नंअत्ति" इति ब्रह्म प्राप्तये ह्युपासनमुपदिश्यते एतमेवमिति-उक्त प्रकारेण पुरुषाकारमित्यर्थः । सर्वेषु लोकेषु, सर्वेषु भूतेषु, सर्वेष्वात्मसु वर्त्तमानं यदन्नं भोग्यं तदत्ति—सर्वत्र वर्त्तमानं स्वत एवानवधिकातिशयानन्दं ब्रह्मानुभवति । यत्तु सर्वैः कर्मवश्यैरात्मभिः प्रत्येकमनन्यसाधारणमन्नंभुज्यते तन्मुमुक्षुभिस्त्याज्यत्वादिह न गृह्यते ।

परब्रह्म का पुरुष रूप से वर्णन उपासना के लिए किया गया है, ऐसा बादरि आचार्य का मत है। "जो सर्वतो भाव से अपरिमित इस वैश्वानर आत्मा की पुरुषाकार रूप से उपासना करता है, वह व्यक्ति समस्त लोकों में समस्त भूतों में, समस्त आत्माओं में वर्त्तमान जो भोग्य अन्न है, उनको भोगता है" इत्यादि में उपासना को ही ब्रह्म प्राप्ति का उपाय बतलाया गया है। "एतमेवम्" का तात्पर्य है ऐसे पुरुषाकार। सब लोक समस्त भूत और समस्त आत्माओ के वर्त्तमान अन्न के भोग का तात्पर्य है कि–सर्वत्र अवस्थित निरतिशय असीम आनंद स्वरूप ब्रह्म की अनुभूति करता है। यदि अर्थ करें कि–कर्माधीन आत्माओं से मुक्त साधारण भोगों को भोगता है, तो समीचीन न होगा; मुमुक्षुओं के लिए ये भोग त्याज्य हैं।

यदि परमात्मा वैश्वानरः, कथंतर्हि उरः प्रभृतीनां वेद्यादित्वोपदेशः? यावताजाठराग्नि परिग्रह एवैतदुपपद्यत? इत्यत्राह–

यदि परमात्मा ही वैश्वानर है, तो उर इत्यादि का वेदी इत्यादि के रूप में उपदेश क्यों किया गया है? वेदी इत्यादि के वर्णन से तो यही ज्ञात होता है कि–जाठराग्नि का ही वर्णन है इस संशय का उत्तर देते हैं–

सम्पत्तेरिति जैमिनिस्तथा हि दर्शयति ।१।२।३२।।

अस्य परमात्मन एव वैश्वानरस्य द्युप्रभृतिपृथिव्यंत शरीरस्य समाराधनभूतायाः उपासकैरहरहः क्रियमाणायाः प्राणाहुतेरग्नि होत्रत्वसंपादनायायमुरः प्रभृतीनां वेदित्वाद्युपदेश, इति जैमिनिराचार्यो मन्यते।

द्युलोक से पृथ्वी पर्यन्त जिसका शरीर है, उस वैश्वानर परमात्मा की ही, उपासक, नित्य प्राणाहुति रूप से, उपासना करते हैं। उसी प्राणाहुति अग्निहोत्र को साधारण रूप से बतलाने के लिए उर आदि को वेदी आदि रूप से वर्णन किया गया है, ऐसा जैमिनि आचार्य का मत है।

तथाहि–परमात्मोपासनोचितमेव फलं प्राणाहुत्या अग्निहोत्रसम्पति च दर्शयतीयं श्रुतिः। "स य इदमविद्वानग्निहोत्रं जुहोति,

यथांगारानपोह्य भस्मनि जुहुयात्तादृक् तत् स्यात्, अथ य एतदेवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति तस्य सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्वात्मसु हुतं भवति, तद्यथेषीक तूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैवं हास्य सर्वे पाप्मनः प्रदूयन्ते" इति ।

परमात्मोपासना के उचित फल तथा प्राणाहुति रूप अग्निहोत्र सम्पादन के प्रदर्शन करने वाली श्रुति इस प्रकार है–"जो इस वैश्वानर विद्या को न जाकर आहुति देता है, उसकी आहुति अंगारा रहित भस्म में दी गई आहुति के समान है, जो इसके रहस्य को जानकर अग्निहोत्र करता है, उसकी समस्त लोक, समस्त भून और समस्त आत्माओं में आहुति हो जाती है। जैसे कि–सींक अगला हिस्सा अग्नि में घुला देने पर तत्काल जल जाता है वैसे ही, रहस्य को जानकर अग्निहोत्र करने वाले के पाप भस्म हो जाते हैं।"

आमनन्ति चैनमस्मिन् ।१।२।३३।।

एनं परं पुरुषं द्युमूर्धत्वादिविशिष्टं वैश्वानरं, अस्मिन् उपासक शरीरे प्राणाहुत्याधारत्वाय आमनंति च–"तस्य हवा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाः" इत्यादिना। अयमर्थः "यस्त्वेतमेवं प्रादेशमात्रममिविमानमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते" इति त्रैलोक्यशरीरस्य परमात्मनो वैश्वानरस्योपासनं विधाय "सर्वेषु लोकेषु" इत्यादिनाब्रह्मप्राप्ति च फलमुपदिश्य, अस्यैवोपासनस्यांगभूतम् प्राणाग्निहोत्रं "तस्य ह वा एतस्य" इत्यादिनोपदिशति, यः पूर्वमुपास्यतयोपदिष्टो वैश्वानरस्तस्यावयवभूत अन्यादित्यादीन् सुतेजोविश्वरूपादिनामधेयानुपासक शरीरे मूर्धादियादांतेषु संपादयति। मूर्धैव सुतेजाः–उपासकस्य मूर्धैव परमात्ममूर्धभूता धौरित्यर्थः। चक्षुर्विश्वरूप आदित्य इत्यर्थः प्राण पृथग्वर्त्मा वायुरित्यर्थः। संदेहो बहुलः–उपासकस्य मध्यकाय एव परमात्ममध्यकायभूत आकाश इत्यर्थः। पृथिव्येव पादौ–अस्य पादावेवतत्पादभूता पृथ्वी इत्यर्थः।

परब्रह्म का पुरुष रूप से वर्णन उपासना के लिए किया गया है, ऐसा बादरि आचार्य का मत है। "जो सर्वतो भाव से अपरिमित इस वैश्वानर आत्मा की पुरुषाकार रूप से उपासना करता है, वह व्यक्ति समस्त लोकों में समस्त भूतों में, समस्त आत्माओं में वर्त्तमान जो भोग्य अन्न है, उनको भोगता है" इत्यादि मे उपासना को ही ब्रह्म प्राप्ति का उपाय बतलाया गया है। "एतमेवम्" का तात्पर्य है ऐसे पुरुषाकार। सब लोक समस्त भूत और समस्त आत्माओ के वर्त्तमान अन्न के भोग का तात्पर्य है कि-सर्वत्र अवस्थित निरतिशय असीम आनंद स्वरूप ब्रह्म की अनुभूति करता है। यदि अर्थ करें कि-कर्माधीन आत्माओं से मुक्त साधारण भोगों को भोगता है, तो समीचीन न होगा; मुमुक्षुओं के लिए ये भोग त्याज्य है।

यदि परमात्मा वैश्वानरः, कथंतर्हि उरः प्रभृतीनां वेद्यादित्वोपदेशः ? यावताजाठराग्नि परिग्रह एवैतदुपपद्यत ? इत्यत्राह—

यदि परमात्मा ही वैश्वानर है, तो उर इत्यादि का वेदी इत्यादि के रूप में उपदेश क्यों किया गया है ? वेदी इत्यादि के वर्णन से तो यही ज्ञात होता है कि-जाठराग्नि का ही वर्णन है इस संशय का उत्तर देते हैं—

सम्पत्तेरिति जैमिनिस्तथा हि दर्शयति ।१।२।३२।।

अस्य परमात्मन एव वैश्वानरस्य द्युप्रभृतिपृथिव्यंत शरीरस्य समाराधनभूतायाः उपासकैरहरहः क्रियमाणायाः प्राणाहुतेरग्नि होत्रत्वसंपादनायायमुरः प्रभृतीनां वेदित्वाद्युपदेश, इति जैमिनिराचार्यो मन्यते।

द्युलोक से पृथ्वी पर्यन्त जिसका शरीर है, उस वैश्वानर परमात्मा की ही, उपासक, नित्य प्राणाहुति रूप से, उपासना करते है। उसी प्राणाहुति अग्निहोत्र को साधारण रूप से बतलाने के लिए उर आदि को वेदी आदि रूप से वर्णन किया गया है, ऐसा जैमिनि आचार्य का मत है।

तथाहि-परमात्मोपासनोचितमेव फलं प्राणाहुत्या अग्निहोत्रसम्पति च दर्शयतीयं श्रुतिः। "स य इदमविद्वानग्निहोत्रं जुहोति,

यथांगारानपोह्य भस्मनि जुहुयात्तादृक् तत् स्यात्, अथ य एतदेवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति तस्य सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्वात्मसु हुतं भवति, तद्यथेषीक तूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैवं हास्य सर्वे पाप्मनः प्रदूयन्ते" इति ।

परमात्मोपासना के उचित फल तथा प्राणाहुति रूप अग्निहोत्र सम्पादन के प्रदर्शन करने वाली श्रुति इस प्रकार है–"जो इस वैश्वानर विद्या को न जाकर आहुति देता है, उसकी आहुति अंगारा रहित भस्म में दी गई आहुति के समान है, जो इसके रहस्य को जानकर अग्निहोत्र करता है, उसकी समस्त लोक, समस्त भूत और समस्त आत्माओं में आहुति हो जाती है। जैसे कि–सींक अगला हिस्सा अग्नि में घुसा देने पर तत्काल जल जाता है वैसे ही, रहस्य को जानकर अग्निहोत्र करने वाले के पाप भस्म हो जाते हैं।"

आमनन्ति चैनमस्मिन् ।१।२।३३॥

एनं परं पुरुषं द्युमूर्धत्वादिविशिष्टं वैश्वानरं, अस्मिन् उपासक शरीरे प्राणाहुत्याधारत्वाय आमनंति च–"तस्य हवा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाः" इत्यादिना। अयमर्थः "यस्त्वेतमेवं प्रादेशमात्रमभिविमानमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते" इति त्रैलोक्यशरीरस्य परमात्मनो वैश्वानरस्योपासनं विधाय "सर्वेषु लोकेषु" इत्यादिनाब्रह्मप्राप्तिं च फलमुपदिश्य, अस्यैवोपासनस्यांगभूतम् प्राणाग्निहोत्रं "तस्य ह वा एतस्य" इत्यादिनोपदिशति, यः पूर्वमुपास्यतयोपदिष्टो वैश्वानरस्तस्यावयवभूत अग्न्यादित्यादीन् सुतेजोविश्वरूपादिनामधेयानुपासक शरीरे मूर्धादियादांतेषु संपादयति। मूर्धैव सुतेजाः–उपासकस्य मूर्धैव परमात्ममूर्धभूता द्यौरित्यर्थः। चक्षुर्विश्वरूप आदित्य इत्यर्थः प्राण पृथग्वर्त्मा वायुरित्यर्थः। संदेहो बहुलः–उपासकस्य मध्यकाय एव परमात्ममध्यकायभूत आकाश इत्यर्थः। पृथिव्येव पादौ–अस्य पादावेवतत्पादभूता पृथ्वी इत्यर्थः।

"इस वैश्वानर आत्मा का मस्तक ही सुतेजा (द्युलोक) है" इत्यादि श्रुति में भी, द्युलोक आदि रूप मस्तक आदि विशेषणो से विशेषित उस परम पुरुष वैश्वानर को उपासक के शरीर मे, प्राणाहुति के आधार रूप से बतलाया गया है। इसका तात्पर्य है कि—"जो लोग सर्वव्यापी वैश्वानर आत्मा की प्रादेशमात्र में परिमित उपासना करते है" इस श्रुति मे त्रैलोक्य शरीरधारी वैश्वानर परमात्मा की उपासना का उपदेश देकर "सर्वेषु लोकेषु" इत्यादि में—ब्रह्म प्राप्ति रूप, उपासना के फल का उल्लेख करके, "तस्य ह वा एतस्य" इत्यादि में, उपासना के अंगभूत अग्निहोत्र का उपदेश दिया गया है। इसी प्रकार, पहिले जो वैश्वानर का, उपास्य रूप से उपदेश दिया गया है, उसमें भी वैश्वानर के अवयव स्थानीय, सुतेज और विश्वरूपादि नामक आदित्य आदि की, उपासक के शरीर में, मस्तक से पैर तक, अवयवों के रूप में कल्पना की गई है। "मूर्धेव सुतेजः" तक ही परमात्मा का मस्तक स्थानीय द्युलोक है। "चक्षुः विश्वरूपः" अर्थात् उपासक के नेत्र ही, परमात्मा के नेत्र स्थानीय आदित्य है। "प्राण पृथग् वर्त्मा" अर्थात् प्राणवायु ही प्राण है। "संदेहो बहुलः" अर्थात् उपासक का मध्य काय ही परमात्मा का मध्य कायस्थ आकाश है। "पृथिव्येव पादौ" अर्थात् उपासक के पैर ही, परमात्मा की यादरूप पृथ्वी है।

एवमुपासकः स्वशरीरे परमात्मानं त्रैलोक्यशरीरं वैश्वानरं सन्निहितमनुसंधाय स्वकीयान्युरोलोमहृदयमनग्रास्यानि प्राणाहुत्याधारस्य परमात्मनो वैश्वानरस्य वेदिर्वहिगार्हंपत्यान्वाहार्यंपचाहवनीयानग्निहोत्रोपकरणभूतान् परिकल्प्य प्राणाहुतेश्चाग्निहोत्रत्वं परिकल्प्यैवं विधेन प्राणाग्निहोत्रेण परमात्मानं वैश्वानरमाराधयेदिति "उर एव वेदिर्लोमानिबर्हिर्हृदयं गार्हपत्यः" इत्यादिनोपदिश्यते। अतः परमात्मा पुरुषोत्तम एव वैश्वानर इति सिद्धम्।

इस प्रकार उपासक, त्रैलोक्य शरीर वैश्वानर परमात्मा को अपने ही शरीर में संलग्न मानकर, अनुसंधान करते हुए, अपने वक्ष-लोम-

हृदय-मन आदि को, प्राणाहुति के अधिकरण स्थानीय वैश्वानर परमात्मा की, वेदि-बर्हि-गार्हपत्य-आहवनीय- अन्वाहार्यपचन आदि की, अग्निहोत्र यज्ञीय उपकरण रूप से तथा प्राणाहुति की अग्निहोत्र रूप से परिकल्पना करके, उक्त प्रकार की प्राणाहुति द्वारा, वैश्वानर परमात्मा की आराधना करे, यही उपदेश "वक्ष ही वेदी, लोम ही बर्हि (कुश) हृदय ही गार्हपत्य है" इत्यादि श्रुति में दिया गया है। इससे सिद्ध होता है कि पुरुषोत्तम परमात्मा ही वैश्वानर है।

॥ द्वितीय पाद समाप्त ॥

[प्रथम अध्याय]

[तृतीय पाद]

१ द्युभ्वाद्यधिकरण:—

द्युभ्वाद्यायतनं स्वशब्दात् ।।१।३।१।।

आथर्वणिका अधीयंते "यस्मिन् द्यौः पृथ्वी चान्तरिक्षमोतंमनस्सह प्राणैश्च सर्वैः, तमेवैकं जानथात्मानमन्या वाचो विमुंचथ अमृतस्यैष सेतुः" इति ।

तत्र संशयः किमयं द्युपृथिव्यादीनामायतनत्वेन श्रूयमाणो जीवः, उत परमात्मा ? इति किं युक्तम् ? जीव इति कुतः ? "अरा इव रथनाभौ संहता यत्र नाड्यस्स एषोऽन्तश्चरते बहुधा जायमनः" इति परस्मिन् श्लोके पूर्ववाक्य प्रस्तुतं द्युपृथिव्याद्यायतनं "यत्र" इति पुनरपि सप्तम्यन्तेन परामृश्य तस्य नाड्याधारत्वमुक्त्वा, पुनरपि "स एषोऽन्तश्चरेत बहुधा जायमानः" इति तस्य बहुधा जायमानत्वं चोच्यते । नाडी संबंधो देवादिरूपेण बहुधा जायमानत्वं च जीवस्यैव धर्मः । अस्मिन्नपि श्लोके "ओतं मनस्सह प्राणैश्य सर्वैः" इति प्राणपंचकस्य मनश्चाश्रयत्वमुच्यमानं जीवधर्मएव एवं जीवत्वे निश्चिते सति द्युपृथिव्याद्यायतनत्वादिकं यथा कथंचित् संगमयितव्यम्—इति ।

आथर्वणिक मुंडकोपनिषद में प्रसंग आता है कि—"जिसमें स्वर्ग, पृथ्वी और अंतरिक्ष तथा प्राणों सहित मन गुंथा हुआ है, उसी एक सबके आत्मस्वरूप को जानो, दूसरी बातों को सर्वथा छोड़ दो, वही अमृत सेतु है ।"

इस पर संशय होता है कि—द्युभ् आदि का आयतन, जीवात्मा है अथवा परमात्मा ? कह सकते हैं कि—जीवात्मा है—क्यों कि—'रथकी नाभि में जुड़े हुए अरों की भाँति, जिसमें समस्त देहव्यापिनी नाड़ियाँ एकत्र स्थित है, वह बहुत प्रकार से उत्पन्न होने वाला, मध्य भाग में रहता है'' इस बाद के श्लोक में, पूर्व श्लोक में प्रस्तुत द्युपृथ्वी आदि के आयतन को ही "यत्र" शब्द से पुनः नाड़ियों का आधारभूत बतलाकर पुनः"स एषोऽन्तश्चरते बहुधा जायमानः" से उसी का अनेक रूपों में उत्पन्न होना बतलाया गया है। नाडियों से संबंधित, देहादि रूप से प्रायः जन्म लेना, जीव का ही धर्म है। पूर्व श्लोक में "मनस्सह प्राणैश्च सर्वैः" इत्यादि में, पंचप्राण समन्वित मनको जिसका आश्रय कहा गया है वह भी जीव ही प्रतीत होता है, क्योंकि, यह भी जीव का ही धर्म है। इस प्रकार जीवत्व के निश्चित हो जाने पर, द्युपृथिवी आदि का आयतन, जीव को ही मानना संगत होगा।

सिद्धान्तः—एवं प्राप्ते प्रचक्ष्महे—द्युम्वाद्यायतनंस्वशब्दात्-द्युपृथिव्यादीनामायतनं परं ब्रह्म, कुतः ? स्व शब्दात्—परब्रह्मासाधारण शब्दात्। "अमृतस्यैव सेतुः" इति परस्य ब्रह्मणोऽसाधारण शब्दः। "तमेवं विद्वान् अमृत इह भवति, नान्यः पन्था अयनाय विद्यते" इति सर्वत्रोपनिषत्सु स एवामृतत्वप्राप्ति हेतुः श्रूयते। सिनोतेश्च बधनार्थत्वात् सेतुः, अमृस्य प्रापक इत्यर्थ. सेतुरिव वा सेतुः—नद्यादिषु सेतुर्हि कूलस्य प्रतिलंभकः, संसारार्णवपारभृतस्यामृस्येष प्रतिलंभक इत्यर्थः।

द्युभू आदि के आयतन परमात्मा ही हैं, क्यों कि—उक्त प्रसंग में परब्रह्म के द्योतक असाधारण विशेषणों का प्रयोग किया गया है। "अमृत का सेतु'' शब्द परब्रह्म की असाधारण विशेषता का द्योतक है। "उनके इस रूप को जानकर इस लोक में ही अमृत हो जाते हैं, इसके अतिरिक्त जीवनयात्रा का कोई दूसरा मार्ग नहीं है'' इत्यादि उपदेश प्रायः सभी उपनिषदों में दिया गया है, जिसमें परमात्मा को ही अमृतत्व प्राप्ति का हेतु बतलाया गया है। सिञ्'' धातु का बंधन अर्थ होने से सेतु शब्द का

अर्थ होता है अमृत प्राप्ति का उपाय। नदियों पर सेतु जैसे पार लगाने का साधन होता है, वैसे ही संसार सागर के उस पार अमृत रूपी किनारे में पहुँचाने वाला वह सेतु है।

आत्मशब्दश्च निरुपाधिकः परस्मिन् ब्रह्मणि मुख्यवृत्तः, आप्नोति इति आत्मा, स्वेतरसमस्तस्य नियतृत्वेन व्याप्तिस्तस्यैव संभवति, अतः सोऽपि तस्यैव शब्दः। "यः सर्वज्ञः सर्ववित्" इत्यादयश्चोपरितनाः परस्यैव ब्रह्मणः शब्दाः। नाड्याधारत्वं तस्यापि संभवति "सन्ततं सिराभिस्तु लम्बत्या कोशसंन्निभम्" इत्यारभ्य "तस्याश्शिखाया मध्ये परमात्मा व्यवस्थितः" इति श्रवणात्। "बहुधाजायमानः" इत्यपि परस्मिन् ब्रह्मणि संगच्छते; "अजामानो बहुधा विजायते तस्यधीराः परिजानंति योनिम्" इति देवादीनां समाश्रयणीयत्वाय तत्तज्जातीयरूपसंस्थानगुणकर्मसमन्वितः स्वकीयं स्वभावं अजहृदेव स्वेच्छया बहुधा विजायते परः पुरुष इत्यभिधानात्। स्मृतिरपि "अजोऽपि सन्नव्ययात्माभूतानामीश्वरोऽपि सन्, प्रकृतिं स्वामाधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया" इति। मनः प्रभृतिजीवोपकरणाधारत्वं च सर्वाधारस्य परस्यैवोपपद्यते।

आत्म शब्द का स्वाभाविक मुख्य अर्थ, परब्रह्म में ही घटित होता है; जो प्राप्त करावे उसे आत्मा कहते हैं, अपने अतिरिक्त समस्त की नियामकता भी परमात्मा में ही संभव है, इसलिए आत्म शब्द उन्ही का वाचक है। "सर्वज्ञ सर्वविद" इत्यादि शब्द भी, परमात्मा के ही द्योतक हैं। नाड़ियों की आधारकता भी परमात्मा में ही हो सकती है। "हृदय स्थानीय पद्म कलिकाओं की सी शिराओं से वेष्टित" इत्यादि से प्रारंभ करके "उन नाड़ियों में परमात्मा स्थित है" तक ऐसा ही वर्णन है। "बहुधा जायमानः" विशेषता भी परमात्मा में ही संगत होती है। जैसा कि—"अजन्मा होकर भी जो अनेक रूपों से जन्म लेता है, विद्वान उसकी इस अभिव्यक्ति के रहस्य को, अच्छी तरह जानते हैं।" इत्यादि

श्रुति में—देवादि जीवों के अनायास आश्रय के लिए, परंपुरुष परमेश्वर स्वकीय विशेषताओं सहित, स्वेच्छा से विभिन्न जातीय रूप-आकृत-गुण और कर्मों से समन्वित होकर अनेक जन्म धारण करते हैं। ऐसा स्पष्ट उल्लेख है। स्मृति में भी जैसे-"अजन्मा और अव्यय समस्त भूतों का स्वामी मैं अपनी प्रकृति के साहाय्य से अपनी माया के प्रभाव से अनेक रूपो में प्रकट हो जाता हूँ" इस प्रकार जीव के भोगोपकरण मन आदि की आश्रयता और सर्वाधारकता, परब्रह्म की ही बतलाई गई है।

इतश्च परमपुरुषः—इसलिए भी परंपुरुष आयतन हैं कि—

मुक्तोपसृप्यव्यपदेशाच्च ।१।३।२।।

अयं द्युपृथिव्याद्यायतनभूतः पुरुषः संसारबंधान्मुक्तै रपि प्राप्यतया व्यपदिश्यते "यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्त्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्, तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरंजनः परमं साम्यमुपैति" "यथानद्यः स्यदमानाः समुद्रे अस्तं गच्छंति नामरूपे विहाय, तथा विद्वान् नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्" इति। संसारबंधनाद् विमुक्ता एव हि विधूतपुण्यपापा निरंजना नामरूपाभ्यां विनिर्मुक्ताश्च। पुण्यपापनिबंनाचित् संसर्ग प्रयुक्तनामरूपभाक्त्वमेव हि संसारः। अतो विधूतपुण्यपापैः निरंजनै प्रकृतिसंसर्ग रहितैः परेण ब्रह्मणा परमं साम्यमापन्नैः प्राप्यतया निर्दिष्ट द्युपृथिव्याद्यानभूतः, परंब्रह्मैव।

सांसारिक बंधनों से मुक्त जीवों के लिए भी, स्वर्ग पृथ्वी आदि के आयतन परंपुरुष ही प्राप्य कहे गए हैं-"जब यह द्रष्टा (जीवात्मा) सब के शासक ब्रह्मा के भी आदि कारण, संपूर्ण जगत के रचयिता, दिव्य प्रकाश स्वरूप परं पुरुष का प्रत्यक्ष कर लेता है, उस समय पुण्यपाप दोनों से मुक्त, निर्मल वह ज्ञानी महात्मा, सर्वोत्तम समता प्राप्त कर लेता है"-जैसे कि बहती हुई नदियाँ, नाम रूप छोड़कर समुद्र में विलीन हो जाती हैं, वैसे ही ज्ञानी महात्मा, नामरूप रहित होकर, उत्तमोत्तम दिव्य पुरुष परमात्मा को प्राप्त हो जाता है। "अर्थात् जो सांसारिक

बंधनों से मुक्त होते हैं वे ही पुण्य पापों से मुक्त निरंजन, तथा नाम रूप से विमुक्त हैं। पुण्यपाप निबंधक अचित् (जड) संसर्ग से होने वाली नामरूप की अस्मिता (अर्थात् यह मेरा नाम, यह मेरा रूप है) ही संसार है। पुण्यपाप रहित निरंजन-प्रकृति संसर्ग शून्य, परब्रह्म के साथ अत्यंत साम्यता को प्राप्त पुरुष के लिए, प्राप्य रूप से जिनका निर्देश किया गया है, वह, स्वर्ग पृथ्वी आदि आयतन परं पुरुष परमात्मा ही हैं।

परब्रह्मासाधारणशब्दादिभिः परमेव ब्रह्मेति प्रसाध्य, प्रत्यगात्मा साधारणशब्दाभावाच्चायं पर एव—इत्याह—

जो परमात्म बोधक असाधारण शब्दों का उल्लेख, द्यु भू आदि प्रकरण में है, वह परब्रह्म का ही है, इस सिद्धान्त का निर्णय करके—अब सिद्धान्त भी पुष्टि करेंगे कि—इस प्रकरण में किसी भी ऐसे साधारण शब्द का प्रयोग नहीं है कि जिससे जीवात्मा को आयतन माना जा सके; यह परमात्मा ही आयतन है इत्यादि—

नानुमानमतच्छब्दात् प्राणभृच्च ।१।३।३॥

यथाऽस्मिन् प्रकरणे प्रतिपादक शब्दाभावात् प्रधानं न प्रतिपाद्यम्, एवं प्राणभृदपीत्यर्थः। अनुमीयत इति अनुमानं परोक्तं प्रधानमुच्यते, अनुमानप्रमितत्वादानुमानमिति वा, अतच्छब्दात् तद् वाचिशब्दाभावादित्यर्थः। "अर्थाभावे यदव्ययम्" इत्यव्ययीभावः।

जैसे कि—इस प्रकरण में एक भी ऐसा शब्द नहीं मिलता, जिससे कि—प्रधान प्रकृति का आयतन रूप से प्रतिपादन हो सके, वैसे ही जीवात्मा बोधक शब्दों का भी अभाव है। सांख्यशास्त्र में प्रधान को आनुमानिक कहा गया है, क्योंकि यह अनुमान से ही प्रतिपादित है [अर्थात्—जीवात्मा ने, जिस अप्रत्यक्ष शक्ति द्वारा अपने को अभिभूत परवश माना उसे ही संसार बंधन का "प्रधान" कारण माना, स्वभावगत होने से उसे "प्रकृति" कहा तथा जीवात्मा पर शासन करने वाली "माया" समझा, ये सब कुछ अनुमान ही मात्र है अतत् शब्दात् का तात्पर्य है, उस प्रधान संबंधी शब्दों का अभाव। पाणिनीय व्याकरण के

नियम "अर्थाभावे यदव्ययम्" के अनुसार "अतच्छब्दात्" पद में अव्ययीभाव समास है।

इतश्चायं न प्रत्यगात्मा—इसलिए भी यह जीवात्मा आयतन नहीं है कि—

भेदव्यपदेशात् ।१।३।४॥

"समानेवृक्षे पुरुषो निम्नगोऽनीशया शोचति मुह्यमानः जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः" इत्यादिभिर्जीवाद् विलक्षणत्वेनायं व्यपदिश्यते । अनीशया भोग्यभूतया प्रकृत्या मुह्यमानः शोचति जीवः अयं यदा स्वस्मादन्यं सर्वस्येशं प्रीयमाणम्, अस्य ईश्वरस्य महिमानं च निखिलजगन्नियमनरूपं पश्यति, तदावीतशोकोभवति ।

"शरीर रूपी एक ही वृक्ष पर रहने वाला जीवात्मा, गहरी आसक्ति में डूबा हुआ है असमर्थ होने से वह मोहित हुआ शोक करता है। जब यह भक्तों द्वारा नित्य सेवित, अपने से भिन्न प्रभु को और उसकी महिमा को जान लेता है, तब सर्वथा शोक रहित हो जाता है" इत्यादि में परमात्मा को जीव से विलक्षण बतलाया गया है। उस वाक्य का तात्पर्य है कि—अनीश भोग्यरूप प्रकृति से मोहित जीवात्मा शोक करता है जब यह, अपने से भिन्न सर्वेश्वर की दयालुता महिमा और सर्वजगतनियामकता को देखता है तब शोक रहित हो जाता है।

प्रकरणात् १।३।५॥

प्रकरणंचेदं परस्य ब्रह्मण इति "अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्तेः" इत्यत्रैव प्रदर्शितम्। नाडी संबंधबहुधाजायमानत्वमनः प्राणधारकत्वैश्च प्रकरणविच्छेदाशंकामात्रमत्र पर्यहार्ष्म।

यह प्रकरण परब्रह्म के वर्णन का ही है, जैसा कि–'अदश्यत्वादि" सूत्र १।२।२२॥ में दिखलाया गया है। यहाँ केवल नाडी संबंध, बहुधाजन्म, मनप्राण आदि धारकता इत्यादि कुछ विशेषताओं को जीवात्मा संबंधी मानने की शंका की गई, और उसी का परिहार किया गया।

स्थित्यदनाभ्याञ्च ।१।३।६॥

"द्वा सुपर्णा सप्रजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते, तयोरन्य: पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति" इत्येकस्य कर्मफलादनम्, अन्यस्य च कर्मफलमनश्नत एव दीप्यमानतया शरीरान्तस्थितिमात्रं प्रतिपाद्यते। तत्र कर्मफलम् अनश्नन् दीप्यमान एव सर्वज्ञोऽमृतसेतु: सर्वात्मा द्यु्भ्वाद्यायतनं भवितुमर्हति, न पुन: कर्मफलमदन् शोचन् प्रत्यगात्मा, अतोद्यु्भ्वाद्यायतनं परमात्मेति सिद्धम्।

"सदा साथ रहने वाले, परस्पर सख्य भाव रखने वाले, दो पक्षी, एक ही वृक्ष पर रहते है, उन दोनों मे एक वृक्ष के फलों को स्वाद से खाता है, दूसरा—उनका उपभोग न करके, केवल देखता मात्र है।" इत्यादि में एक का कर्मफल भक्षण और दूसरे का भक्षण न करके, एकमात्र प्रकाशरूप से, स्थित होना बतलाया गया है। इसमें कर्मफल न भोगने वाला प्रकाश स्वरूप ही सर्वज्ञ, अमृत सेतु, सर्वात्मा द्यु पृथ्वी आदि का आयतन हो सकता है; कर्मफल को भोगने वाला दु:खी जीवात्मा उक्त गुणों वाला नहीं हो सकता। इससे सिद्ध होता है कि—द्यु पृथ्वी आदि का आयतन परमात्मा ही है।

२ भूमाधिकरण:—

भूमा सम्प्रसादादध्युपशात् ।१।३।७॥

इदमामनंति छन्दोगा: "यत्रनात्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यत्विजानाति स भूमा, अथ यत्रान्यत्पश्यति अन्यच्छृणोति अन्यत्विजानाति तदल्पम्" इति। अत्रायंभूमशब्दो भावप्रत्यान्तो व्युत्पाद्यते। तथा हि पृथिव्यादिषु ब्रहु शब्द: पठ्यते, तत: "पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा" इति इमनिज प्रत्यये कृते "बहोर्लोपोभू च बहो:" इति प्रकृति प्रत्यययोर्विकारे भूमेत्ति भवति। भूमा बहुत्वमित्यर्थ:। अत्र

चायं बहुशब्दो वैपुल्यवाची न संख्यावाची। "यत्रान्यत्पश्यति—तदल्पम्" इत्यल्पप्रतियोगित्व श्रवणात्। अल्पशब्द निर्दिष्ट धर्मि-प्रतियोगि प्रतिपादन परत्वादेव धर्मिपरश्च निश्चीयते न धर्ममात्र-परः। तदेवं भूमेति विपुल इत्यर्थः। वैपुल्यविशेष्यश्चेहात्मेत्यवगतः "तरति शोकमात्मवित्" इति प्रक्रम्य भूमविज्ञानमुपदिश्य "आत्मैवेदं सर्वम्" इति तस्यैवोपसंहारात्।

छांदोग्योपनिषद में कहा गया है कि—"जहाँ कुछ और नहीं देखता, कुछ और नहीं सुनता, कुछ और नहीं जानता, वह भूमा है, किन्तु जहाँ कुछ और देखता, और सुनता, और जानता है, वह अल्प है।" इस वाक्य का प्रयुक्त भूमा शब्द, भावात्मक तद्धित प्रत्यय से बना है। "बहु" शब्द का पाठ पृथिव्यादि शब्द के साथ किया गया है। "पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा" इस पाणिनि सूत्र से इमनिज् प्रत्यय करने पर "बहोर्लोपो भूच बहोः" इस पाणिनीय सूत्र से प्रकृति प्रत्यय में, विकार करने पर "भूमा" शब्द निष्पन्न होता है। भूमा शब्द बहुत अर्थ वाला है। बहु शब्द यहाँ पर विपुलतावाची है, संख्यावाची नहीं है। "यत्रान्यत् पश्यति तदल्पम्" इसमें प्रतियोगी रूप से अल्पत्व का उल्लेख किया गया है, इससे सिद्ध होता है कि बहु शब्द विपुलतावाची है जैसे कि—अल्प शब्द, धर्मी अर्थात् अल्पता वाले विशिष्ट पदार्थ का बोधक है, वैसे ही यह भूमा शब्द भी उसके विपरीत अर्थ का प्रतिपादन करता है, इससे ज्ञात होता है कि—भूमा शब्द भी विपुलता वाले विशिष्टत्पदार्थ धर्मी का प्रतिपादन करता है, यह केवल धर्म (विशेषता) मात्र का प्रतिपादक नहीं है। इस प्रकार भूमा का अर्थ होता है विपुल। विपुलता धर्म से विशेष्य आत्मा ही यहाँ अभिधेय है "आत्मज्ञ पुरुष शोक को पार करता है" इत्यादि से भूमा विज्ञान का उपदेश देकर "यह सारा जगत् आत्म स्वरूप ही है" इत्यादि से उसी भूमा तत्त्व का उपसंहार किया गया है।

अत्र संशय्यते—किमयंभूमागुण विशिष्टः प्रत्यगात्मा उत पर-मात्मा इति। किं युक्तम्? प्रत्यगात्मेति। कुतः? "श्रुतं ह्येव मे भगवद्दृशेभ्यस्तरति शोकमात्मवित्" इत्यात्मजिज्ञासयोपसेदुषे नार-

दाय नामादिप्राण पर्यन्तेषु उपास्यतयोपदिष्टेषु "अस्ति भगवो नाम्नोभूयः" "अस्ति भगवो वाचो भूयः" इत्यादयः प्रश्नाः "वाग्वाव नाम्नोभूयसी" "मनो वाव वाचो भूय." इत्यादीनि च प्रतिवचनानि, प्राणात् प्राचीनेषु दृश्यन्ते, प्राणे तु न पश्यामः। अतः प्राणपर्यन्त एवायमात्मोपदेश इति प्रतीयते, तेनेह प्राणशब्द निर्दिष्टः प्राण ग्रहचारी प्रत्यगात्मैव न वायु विशेष मात्रम्। "प्राणो ह पिता प्राणो ह माता" इत्यादयश्च प्राणस्य चेतनतामवगमन्ति। "पितृहा मातृहा" इत्यादिना सप्राणेषु पितृप्रभृतिषूपमर्दकारिणि हिंसकत्वनि मित्तोपक्रोशवचनात्तेष्वविगतप्राणेष्वत्यंतोपमर्दकारिण्यप्युपक्रोशाभाववचनाच्च हिंसायोग्यश्चेतन एव प्राण शब्द निर्दिष्टः। अप्राणेषु स्थावरेष्वपि चेतनेषूपमर्दभावाभावयो हिंसातदभावदर्शनादयं हिंसा योग्यतया निर्दिष्टः प्राणः प्रत्यगात्मैव निश्चीयते।

उक्त विषय में संशय होता है कि—भूमा गुण विशिष्ट जीवात्मा है या परमात्मा ? कह सकते हैं कि जीवात्मा क्योंकि—"मैंने आप जैसों से सुना है कि–आत्मवेत्ता शोक से पार हो जाता है" आत्मज्ञान के उद्देश्य से आए हुए नारद द्वारा ऐसा प्रश्न करने पर, सनकादि कुमारों ने उन्हें उपास्य रूप से उपदिष्ट नाम से लेकर प्राणतक सभी के विषय में "भगवन् ! नाम से बड़ा कुछ है क्या ?" भगवन् ! वाक्य से बड़ा कुछ है क्या ?" इत्यादि प्रश्नो तथा "नाम से वाक्य बड़ा है—"वाक्य से मन बड़ा है" इत्यादि उत्तरों में जो उपदेश दिया उसमे प्राण के पूर्ववर्त्ती, शब्द, वाक्य आदि का ही उल्लेख किया, प्राण का नही किया, जिससे ज्ञात होता है कि—प्राणतक ही आत्मोपदेश दिया गया [अर्थात् प्राण, नाम आदि सभी से, श्रेष्ठ है, उससे बड़ा कोई नही है] इससे यह भी ज्ञात होता है कि—प्राण का तात्पर्य, केवल वायुमात्र नही है अपितु प्राण शब्द अपने अपने सहचारी जीवात्मा का ही बोधक है। "प्राण ही पिता है, प्राण ही माता है" इत्यादि से प्राण की चेतनता ज्ञात होती है। "पितृहा मातृहा" इत्यादि मे, प्राणवान माता-पिता को मारने वाले को ही.

हिंसा निमित्तक निन्दा की गई है। उन्हीं माता पिता के प्राणरहित हो जाने पर, उनकी कपाल क्रिया आदि निर्दयतापूर्ण क्रियाओं की हिंसात्मक रूप से निंदा नहीं की जाती, हिंसा चेतन की ही होती है, उस चेतन को ही प्राण शब्द से निर्दिष्ट किया गया है। प्राणवायु रहित निश्चेष्ट स्थावर पर्वत वृक्षादिकों में भी, चेतनता और अचेतना मान कर हिंसा और अहिंसा मानी गई है; जिससे निश्चित होता है कि चेतन जीव ही, प्राणवाची है।

अतएव च अरनाभि दृष्टान्ताद्युपन्यासेन प्राण शब्द निर्दिष्टः पर इति न भ्रमितव्यम्, परस्य हिंसाप्रसंगाभावात्, जीवादितरस्य तद्भोग्यभोगोपकरण भूतस्य कृत्स्नस्याचिद् वस्तुनो जीवायत्तस्थितित्वेन प्रत्यगात्मन्येवारनाभि दृष्टान्तोपपत्तेश्च अयमेव च प्राणशब्द निर्दिष्टो भूमा "अस्ति भगवः प्राणाद्भूमः" इति प्रतिवचनस्य चाभावाद्भूमसंशब्दनात् प्राक्प्राणप्रकरणस्यविच्छेदात्।

इसी प्रकार अरनाभि के दृष्टान्त (चक्र की नाभि में जैसे धुरियाँ लगी रहती है, वैसे ही प्राण से देह की नाड़ियाँ संलग्न रहती हैं) में, प्राण शब्द से निर्दिष्ट तत्त्व को, परब्रह्म मान लेना भ्रम है, क्योंकि— पर की हिंसा तो हो नहीं सकती। जीव से भिन्न, जीव का भोग्य और भोगोपकरण साराजगत, जीव के अधीनस्थ है, इसलिए जीव के लिए ही अरनाभि का दृष्टांत सुसंगत होगा--"भगवन् ! प्राण से भी कुछ वृहद् है ?" इस प्रश्न के "अमुक से प्राण से वृहत् है" "ऐसे अभावात्मक उत्तर से तथा भूमा शब्द के पहिले तक चलते हुए प्राण के प्रकरण से ज्ञात होता है कि, यह प्राण ही भूमा है।

किं च प्राणवेदिनोऽतिवादित्वमुक्तवातमेव "एष तु वा अतिवदति" इतिप्रत्यभिज्ञाय "यः सत्येनातिवदति" इति तस्यवदनं प्राणोपासनांगतयोपदित्य उपादेयस्य सत्यवदनस्य शेषित्तया पूर्वनिर्दिष्ट प्राणयाथात्म्य विज्ञानं "यदा वै विजानत्यथ सत्यं वदति" इत्युपदिश्य तत् सिद्धयर्थं च दनम श्रद्धानिष्ठ प्रयत्नानुपदिश्य

तदारंभाय च प्राप्यभूत प्राण शब्द निर्दिष्ट प्रत्यगात्मस्वरूपस्य सुखरूपताज्ञानमुपदिश्य तस्य च सुखस्य विपुलता "भूमात्वेव विजिज्ञासितव्यः" इत्युपदिश्यते तदेवं प्रत्यगात्मन एवाविद्यावियुक्तं रूपं विपुलसुखमित्युपदिष्टमिति "तरतिशोकमात्मवित्" इत्युपक्रमाविरोधश्च अतोभूमगुण विशिष्टः प्रत्यगात्मा, यत एवं भूमगुण विशिष्टः प्रत्यगात्मा अतएवाहमर्थेप्रत्यगात्मनि "अहमेवाधस्तादहमुपरिष्टात्" इत्यारभ्य "अहमेवेदं सर्वम्" इति प्रत्यगात्मनो वैभवमुपदिशति। एवं प्रत्यगात्मत्वे निश्चिते सति तदनुगुणतया वाक्यशेषो नेतव्य इति।

प्रसंगतः प्राणविद को अतिवादी बतलाकर "जो सत्यवादी है वही अतिवादी है" इत्यादि में अतिवादी का ही सत्यवादी रूप से पुनरुल्लेख किया गया है। सत्यवादिता का, प्राणोपासना के अगरूप से उपदेश दिया गया है। "जो इसे विशेष रूप से जान लेता है, तभी सत्य बोलता है" इत्यादि में अवलंबनीय, सत्यवादिता के अंगी प्राण के, यथार्थ तत्त्व विज्ञान का उपदेश दिया गया है। तथा सत्यवादिता के साधन स्वरूप मन, श्रद्धा, निष्ठा एवं प्रयत्न का उपदेश दिया गया है। उक्त तथ्य का ही उपक्रम करते हुए, प्राप्यभूत प्राणशब्द निर्दिष्ट जीवात्मा के स्वरूप की सुखरूपता ज्ञान का उपदेश देकर उसकी सुख विपुलता "भूमा ही ज्ञातव्य है" इत्यादि में भूमा रूप से ज्ञातव्य बतलाई गई। इससे ज्ञात होता है कि—अविद्या रहित-शुद्ध जीवात्मा के स्वरूप को ही विपुल सुख रूप से उपदेश दिया गया है। "आत्मवेत्ता शोक से छूट जाता है" इत्यादि से उक्त उपक्रम का अविरोध ज्ञात होता है। इससे निश्चित होता है कि भूमागुण विशिष्ट जीवात्मा ही है। ऐसे भूमागुण विशिष्ट जीवात्मा के अहमर्थ का भी "मैं ही ऊपर मैं ही नीचे" से लेकर "मैं ही सब कुछ हूं" तक भूमात्व बतलाया गया है। इस प्रकार जीवात्मा का भूमात्व निश्चित हो जाने पर, वाक्य शेष का भी तदनुरूप ही अर्थ करना चाहिए।

सिद्धान्तः—एवं प्राप्तेऽभिधीयते—भूमासंप्रसादादध्युपदेशात्—भूमगुण विशिष्टो न प्रत्यगात्मा, अपितु परमात्मा, कुतः? संप्रसा-

दादध्युपदेशात् संप्रसादः-प्रत्यगात्मा "एष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योति रूपसंपद्य स्वे रूपेणाभिनिष्पद्यते" इत्युपनिषद् प्रसिद्धेः। संप्रसादात् प्रत्यगात्मनोऽधिकतया भूमविशिष्टस्य सत्यशब्दाभिधेयस्योपदेशादित्यर्थः। सत्यशब्दाभिधेयं च परं ब्रह्म।

उक्त संशय पर सूत्रकार "भूमासंप्रसादादध्युपेशात्" सूत्र बनाते हैं। अर्थात् भूमागुण विशिष्ट जीवात्मा नहीं है अपितु परमात्मा है। उक्त प्रसंग में, संप्रसाद से अधिक श्रेष्ठ भूमा का वर्णन किया गया है। संप्रसाद, जीवात्मा के लिए प्रयुक्त है जैसा कि--"यह संप्रसाद इस शरीर से उठकर, पररूप को प्राप्त कर, स्वकीय तेजोमय रूप से संपन्न हो जाता है" इस उपनिषद् में प्रसिद्ध है। संप्रसाद जीवात्मा से अधिक सत्य शब्दाभिधेय भूमागुण विशिष्ट का उपदेश दिया गया है; सत्य शब्द से अभिधेय, एक मात्र परब्रह्म ही है।

एतदुक्तं भवति-यथा नामादिषु प्राणपर्यन्तेषु पूर्वपूर्वाधिकतयोत्तरोत्तराभिधानात् पूर्वेभ्य उत्तरेषामर्थान्तरत्वम्, एवं प्राण शब्द निर्दिष्टात् प्रत्यगात्मनोऽधिकतया निर्दिष्टः सत्य शब्दाभिधेयः तस्मादर्थान्तर भूत एव, सत्य शब्द निर्दिष्ट एव भूमेति सत्याख्यं परंब्रह्मैव भूमेत्युपदिश्यते इति। तदाह वृत्तिकारः—"भूमात्वेति-भूमा ब्रह्म नामादिपरम्परया आत्मन ऊर्ध्वमस्योपदेशात्" इति।

कथन यह है कि--नाम से लेकर प्राण तक जिसका उल्लेख किया गया है, उसमें पूर्व वस्तु से पर वस्तु को उत्कृष्ट कहा गया है। जिससे कि पूर्व पदार्थ से पर पदार्थ की पृथकता सिद्ध हो जाती है। उसी प्रकार प्राण शब्द निर्दिष्ट जीवात्मा से अधिक, सत्य शब्दाभिधेय तत्त्व, विशिष्ट स्वतंत्र तत्त्व है। सत्य शब्द से निर्दिष्ट भूमा ही है जो कि सत्य शब्दाभिधेय परब्रह्म, के पर्याय रूप से वर्णन किया गया है। जैसा कि--वृत्तिकार कहते हैं—"भूमा को जानो--इत्यादि में जिस भूमा को जानने की बात कही गई है वह, नाम आदि की परम्परा से उत्तरोत्तरो श्रेष्ठ, जीवात्मा से ऊपर की श्रेणी का, बतलाया गया है।"

प्राणशब्दनिर्दिष्टादधिकतया सत्यस्योपदेशः कथमवगम्यत इति चेत्-"स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नतिवादी भवति" इति सत्यवेदित्वेनाति वादिन तु शब्देन पूर्वस्मादतिवादिनो व्यावर्त्तयति अतएव "एष तु वा अतिवदति" इत्यत्र प्राणादिवादिनो न प्रत्यभिज्ञा। अतोऽस्याति वादित्वनिमित्तं सत्यं पूर्वातिवादित्व-निमित्तात् प्राणादधिकमिति विज्ञायते।

यदि पूछो कि—यह कैसे जाना कि—प्राण शब्द से निर्दिष्ट वस्तु से अधिक, सत्य शब्दाभिधेय वस्तु का उपदेश किया गया है? तो सुनो-"उस पुरुष को ऐसे देखते, मनन करते, जानते हुए, उपासक अतिवादी (अर्थात् सत्य स्वरूप परमात्मा को बतलाने वाला) हो जाता है" इस प्रकार प्राणवेत्ता को अतिवादी बतलाकर "यह अतिवादी ही सत्यवादी है" इत्यादि में अतिवादी को सत्यवादी बतलाया गया है। वाक्यगत तु शब्द, पूर्वोक्त अतिवादी शब्द की पुनरावृत्ति का बोधक है। इसीलिए "एष तु वा अतिवदति" इत्यादि मे, प्राणातिवादी शब्द की, अन्यथा अर्थ प्रतीति, नही होती। इसी विश्लेषण से ज्ञात होता है कि—पूर्व अतिवादि निमित्तक "प्राण" से, पर अतिवादि निमित्तक "सत्य" वस्तु अधिक है।

ननु च प्राणवेदिन एव सत्यवदनमंगत्वेनोपदिष्टम्, अतः प्राण प्रकरणाविच्छेद इत्युक्तम्। नैतद्युक्तम्-तु शब्देन ह्यतिवाद्यन्यः प्रतीयते, न तु तस्यैवातिवादिनः सत्यवदनांगविशिष्टतामात्रम्। "एष तु वा अग्निहोत्री यः सत्यं वदति" इत्यादिष्वग्निहोत्र्यंतरा प्रतीतेः प्रतीतस्यैवाग्नि होत्रिणः सत्यवदनागविधानमिति क्लिष्टा गतिराश्रीयते अत्रत्वतिवाद्यन्तरत्वनिमित्तं सत्य शब्दाभिधेयं परं ब्रह्म प्रतीयते।

सत्यवादी, प्राणवेदी का ही अङ्ग है, इसीलिए प्राण प्रकरण के साथ उसका वर्णन किया गया है, यह कथन युक्तियुक्त नही है। सूत्रस्थ "तु"

शब्द के प्रयोग से ज्ञात होता है कि—अतिवादी से भिन्न कोई दूसरी वस्तु अवश्य है, ऐसा नहीं है कि-सत्यवादिता, अतिवादी का, एक अङ्ग विशेष मात्र ही है। "वही यथार्थ अग्निहोत्री है जो कि सत्यवादी है" अग्निहोत्र विधायक, प्राण प्रकरण के इस वाक्य से ज्ञात होता है कि--सत्य वस्तु भिन्न ही है। सत्यवादिता, के अंगरूप से, अग्निहोत्र की कल्पना, क्लिष्ट है। उक्त प्रकरण में, अतिवादी से भिन्नता बतलाने वाली, सत्य शब्द से अभिधेय परब्रह्म की, सुस्पष्ट प्रतीति होती है।

सत्य शब्दश्च "सत्यंज्ञानमनंतं ब्रह्म" इत्यादिषु परस्मिन् ब्रह्मणि प्रयुक्तः, अतस्तन्निष्ठस्यातिवादिनः पूर्वस्मादाधिकत्वं सम्भवतीति वाक्यस्वरस सिद्धमन्यत्वं न बाधितव्यम्।

सत्य शब्द "सत्यं ज्ञानमनंतं ब्रह्म" इत्यादि में परब्रह्म के लए ही प्रयोग किया गया है, इसलिए सत्यनिष्ठ अतिवादी, पूर्वोक्त (प्राणविद) अतिवादी से श्रेष्ठ हो सकता है; वाक्यार्थ से ही स्पष्ट, जो दो अतिवादी की प्रतीति हो रही है, उसमें बाधा देना ठीक नहीं है।

अतिवादित्वं हि वस्त्वंतरात् पुरुषार्थतयाऽतिक्रान्तस्वोपास्य वस्तु वादित्वम्। नामाद्याशापर्यन्तोपास्यवस्त्वतिक्रान्तस्वोपास्य प्राणशब्द निर्दिष्ट प्रत्यगात्म वादित्वात् प्राणविदो अतिवादित्वम्। तस्यापि सातिशय पुरुषार्थत्वात् निरतिशय पुरुषार्थतयोपास्य परब्रह्मवादिन एव साक्षादतिवादित्वम् "एष तु वा अतिवदति यः सत्येनातिवदति" इत्युक्तम्। सत्येनेतीत्थम्भूतलक्षणे तृतीया, सत्येनपरेणब्रह्मणोपास्येनोपलक्षितो योऽतिवदतीत्यर्थः। अतएवैवंशिष्यः प्रार्थयते "सोऽहं भगवः सत्येनातिवदानि" इति। आचार्यश्च "सत्यंत्वेव विजिज्ञासितव्यम्" इत्याह। "आत्मनः प्राणः" इति च प्राणशब्दनिर्दिष्टस्य आत्मन उत्पत्तिरुच्यते। अतः "तरतिशोकमात्मवित्" इति प्रक्रान्त आत्मा प्राण शब्द निर्दिष्टादन्य इति गम्यते।

अन्यान्य वस्तुओं की अपेक्षा अपनी उपास्य वस्तु का समधिक उत्कर्ष बतलाना ही अतिवादिता है। पहिले "नाम" से लेकर "दिक्" तक अन्य जो समस्त पदार्थ, उपास्य बतलाए गए है, उनमें अन्यों से, प्राण शब्दवाची जीवात्मा उत्कृष्ट उपास्य है, इसीलिए प्राणविद् अतिवादी कहा गया है। प्राण विद् की अतिवादिता, धर्म आदि पुरुषार्थ से श्रेष्ठ पुरुषार्थ है, परंतु निरतिशय पुरुषार्थ रूप से जो परब्रह्म की उपासना करते हैं, वह उस से श्रेष्ठ हैं; यही अतिवादिता है। यही बात "जो सत्यवादी हैं वह अतिवादी हैं" इत्यादि वाक्य से निश्चित होती है। उक्त वाक्यस्थ "सत्येन" पद में जो तृतीया विभक्ति है, वो "इत्थंभूत" अर्थ ज्ञापन करती है, जिसका तात्पर्य है कि—सत्य रूप से उपासनीय, परब्रह्मोपलक्षित, अतिवादी होता है। शिष्य ऐसी ही प्रार्थना करता है— "हे भगवन ! मैं भी वह सत्योपलक्षित अतिवादी हो सकता हूँ ?" उत्तर में आचार्य कहते है—"सत्य ही विशेष रूप से जिज्ञास्य है"। "आत्मनः प्राणः" इत्यादि वाक्य में भी, प्राण शब्द निर्दिष्ट आत्मा की उत्पत्ति बतलाई गई है इससे निश्चित होता है कि—आत्मविद् पुरुष शोक से पार हो जाता है" इत्यादि वाक्य का प्रस्तावित आत्मा, प्राण से, पृथक् है।

यदुक्तम्—"अस्ति भगवः प्राणाद्भूयः" इति प्रश्नस्य "अदो वाव प्राणाद्भूयः" इति प्रतिवचनस्य चादर्शनात्प्रक्रांत आत्मोपदेशः प्राणोपदेश पर्यवसानो गम्यत इति, तदयुक्तम्; नहि प्रश्न प्रतिवचनाभ्यामेवार्थरत्वं गम्यते, प्रमाणान्तरेणापि तत्संभवात्। उक्तं च प्रमाणान्तरम्। "अस्ति भगवः प्राणाद्भूयः" इत्यपृच्छतोऽयमभिप्रायः; नामादिष्वाशापर्यन्तेष्वचेतनेषु पुरुषार्थभूयस्तया, पूर्वपूर्वमतिक्रान्तेषु अप्युत्तरोत्तरेषूपदिष्टेषु तत्तद्वेदिन आचार्येणातिवादित्वं नोक्तम्। प्राणशब्द निर्दिष्ट प्रत्यगात्मयाथात्म्यवेदिनस्तु पुरुषार्थभूयस्त्वातिशयं मन्वानेन "स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नतिवादी भवति" इति अतिक्रान्तवस्तुवादित्वमुक्तम्। अतोऽत्रैवात्मोपदेशः समाप्त इति मत्वा शिष्योभूयो न पप्रच्छ आचार्यस्त्विदमपि सातिशयं मत्वा, निरतिश पुरुषार्थभूतं सत्य शब्दाभियं परं ब्रह्म "एष तु

वा अतिवदति यस्सत्येनातिवदति" इति स्वयमेवोपचिक्षेप। शिष्योऽपि परंपुरुषार्थरूपे परस्मिन्ब्रह्मण्युपक्षिप्ते तत्स्वरूपतदुपासन याथात्म्य-बुभुत्सया "सोऽहभगवः सत्येनातिवदानि" इति प्रार्थयामास। ततो ब्रह्मसाक्षात्कारनिमित्तातिवादित्वसिद्धये, ब्रह्मसाक्षात्कारोपायभूतं ब्रह्मोपासनं 'सत्यं त्वेव विजिज्ञासितव्यम्" इत्युपदिश्य तदुपायभूतं ब्रह्ममननम् "मतिस्त्वेव विजिज्ञासितव्या" इत्युपदिश्य, श्रवण प्रतिष्ठा-र्थत्वान्मननस्य मननोपदेशेन श्रवणमर्थसिद्धं मत्वा श्रवणोपायभूतां ब्रह्मणि श्रद्धां "श्रद्धात्वेव विजिज्ञासितव्या" इत्युपदिश्य, तदुपायभूतां च तन्निष्ठाम्"निष्ठा त्वेव विजिज्ञासितव्या इत्युपदिश्य, तदुपाय भूतां च तदुद्योगप्रयत्नरूपां कृतिमपि "कृतिस्त्वेव विजिज्ञासितव्या" इत्युपदिश्य, श्रवणाद्युपक्रमरूपकृति सिद्धये प्राप्यभूतस्य, सत्यशब्दा-भिहितस्य, ब्रह्मणः सुखरूपता ज्ञातव्येति "सुखं त्वेवविजिज्ञासितव्यम्" इत्युपदिश्य, निरतिशयविपुलमेव सुखं परम पुरुषार्थरूपं भवतीति, तस्यैव ब्रह्मणः सुखरूपस्य निरतिशय विपुलता ज्ञातव्येति "भूमात्वेव विजिज्ञासितव्यः" इत्युपदिश्य, निरतिशय विपुल सुखरूपस्य ब्रह्मणो लक्षणमिदमुच्यते "यत्रनान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यत्विजानाति स भूमा" इति। अयमर्थः, अनवधिकातिशय सुखरूपे ब्रह्मण्यनुभूय-माने ततोऽन्यत्किमपि न पश्यत्यनुभविता, ब्रह्मस्वरूपतदविभूत्यन्तर-गतत्वाच्च कृत्स्नस्य, वस्तु जातस्य अत ऐश्वर्यापरपर्याय विभूति गुणविशिष्टं निरतिशयसुखरूपं ब्रह्मानुभवन् तद्व्यतिरिक्तस्य वस्तुनोऽ-भावादेव किमप्यन्यन्न पश्यति अनुभाव्यस्य सर्वस्य सुखरूपत्वादेव दुःखं च न पश्यति, तदेव हि सुखम्, तदनुभूयमानं पुरुषानुकूलं भवति।

जो यह कहते हो कि—"भगवन्! प्राण की अपेक्षा भी कुछ वृहद् है क्या? "इस प्रश्न के" यही प्राण से वृहद है "इस उत्तर से अदृष्ट प्रस्तावित आत्मा का ही उत्तर दिया गया है, जिससे ज्ञात होता है कि—

प्राणोपदेश में ही तत्त्व का पर्यवसान है। तुम्हारा यह कथन भी ठीक नहीं है। केवल इन प्रश्नोत्तरों से ही तथ्य का निर्णय नहीं होता, अन्य प्रमाणों से भी निर्णय किया जा सकता है। पहिले हम अन्य प्रमाण दे भी चुके हैं। "भगवन्! प्राण की अपेक्षा कुछ अधिक है क्या ?" इस प्रश्न का तात्पर्य है कि–नाम से दिक् तक जिन अचेतन तत्त्वों का उपदेश दिया गया है, उनमें एक के बाद एक श्रेष्ठ बतलाए गए हैं, उन सबके ज्ञाताओं को आचार्य ने अतिवादी नहीं कहा। प्राणशब्द निर्दिष्ट जीवात्मा का यथार्थ वेत्ता, उसको ही पुरुषार्थ मानने वाला "वह प्राण-विद् व्यक्ति, ऐसे दर्शन, ऐसे मनन और ऐसे ज्ञान से अतिवादी होता है" इत्यादि में पहिले मन आदि तत्त्वों को अतिक्रमण करने वाले को ही अतिवादी कहा गया है। यहीं पर आत्मोपदेश की समाप्ति समझ कर शिष्य ने पुनः प्रश्न नहीं किया। किन्तु आचार्य ने इसे भी न्यून बताते हुए अधिक पुरुषार्थ भूत सत्य शब्दाभिधेय परब्रह्म को "को सत्य वादी है वही यथार्थ अतिवादी है" इत्यादि में स्वयं ही बतलाया ऐसा बतलाने पर शिष्य ने, परंपुरुषार्थ रूप परब्रह्म के स्वरूप और उनकी उपासना के यथार्थ रूप को जानने के लिए, पुनः "भगवन्! मैं सत्यवादी होने की इच्छा करता हूँ" ऐसी अभिलाषा की। आचार्य ने, ब्रह्म साक्षात्कार की मूल कारण अतिवादिता की सिद्धि के लिए, ब्रह्म साक्षात्कार की उपाय उपासना को "सत्य ही ज्ञेय है" इत्यादि में बतलाकर, उसके उपाय रूप ब्रह्म मनन को "मति ही विशेष रूप से ज्ञातव्य है" इस प्रकार बतला कर यह प्रस्तुत किया कि–श्रुत पदार्थ की दृढ़ता के लिए मनन आवश्यक है मनन से ही श्रवणार्थ की सिद्धि होती है। इस श्रवण की उपाय रूप ब्रह्म श्रद्धा को श्रद्धा जिज्ञास्य है" ऐसा बतलाकर, श्रद्धा की उपाय रूप ब्रह्म निष्ठा को "निष्ठा ही विशेष रूप से ज्ञातव्य है" ऐसा बतला कर, उसकी उपायभूत उद्योग प्रयत्न रूपा कृति को "कृति ज्ञातव्य है" ऐसा बतला कर, श्रवण आदि में प्रवृत्ति हो इस लिए, सत्य शब्द से अभिधेय प्राप्तव्य ब्रह्म की सुखरूपता को "सुख ज्ञातव्य है" इत्यादि में ज्ञातव्य बतलाया। निस्सीम विपुल सुख ही परम पुरुषार्थ है, उस ब्रह्म की निरतिशय विपुल सुख-रूपता को "भूमा जिज्ञास्य है" ऐसा बतलाकर उस विपुल सुखरूप ब्रह्म के लक्षण को बतलाते हुए कहते हैं कि—मुमुक्षु जिसके अतिरिक्त कुछ नहीं देखता, कुछ नहीं सुनता, कुछ नहीं जानता, वही भूमा है।" इसका

तात्पर्य हुआ कि– निस्सीम निरतिशय रूप में ब्रह्मानुभूति हो जाने पर, अनुभव करने वाला उनके अतिरिक्त कुछ भी नहीं देखता, क्यों कि– समस्त वस्तुए, ब्रह्म और उनकी विभूति के ही अन्तर्गत हैं। इसलिए वह एकमात्र, ऐश्वर्य स्वरूप विभूति विशिष्ट निरतिशय सुखस्वरूप ब्रह्म की ही अनुभूति करता है उसे अनुभव गोचर सारे ही पदार्थ सुख रूप ज्ञात होते हैं, वह कहीं भी दुःख नहीं देखता, अनुभूयमान सुख ही उसे प्रिय लगता है।

ननु चेदमेव जगद्ब्रह्मणोऽन्यतयाऽनुभूयमानं दुःखरूपं परिमित सुखरूपं च भवत्कथमिव ब्रह्मविभूतित्वेन तदात्मकतयाऽनुभूयमानं सुखरूपमेव भवेत् ? उच्यते—कर्मवश्यानां क्षेत्रज्ञानां ब्रह्मणोऽन्यत्वेनानुभूयमानं कृत्स्नं जगत् तत्तत्कर्मानुरूपं दुःखं च परमित सुखं च भवति। अतोब्रह्मणोऽन्यतया परिमित सुखत्वेन दुःखत्वेन च जगदनुभवस्य कर्मनिमित्तत्वात् कर्मरूपाविद्याविमुक्तस्य तदेव जगद्विभूतिगुणविशिष्ट ब्रह्मानुभवान्तर्गतं सुखमेव भवति। यथा पित्तोपहतेन पीयमानं पयः पित्ततारतम्येनाल्पसुखं विपरीतं च भवति तदेवपयः पित्तानुपहतस्य सुखायैव भवति। यथैव राजपुत्रस्य पितुर्लीलोपकरणमतथात्वेनानुसंधीयमानं प्रियत्वमनुपगतं तथात्वानुसंधाने प्रियतमं भवति। तथा निरतिशयानंद स्वरूपस्य ब्रह्मणोनवधिकातिशयासंख्येयकल्याणगुणाकरस्य लीलोपकरणं तदात्मकं चानुसंधीयमानं जगन्निरतिशय प्रीतये भवत्येव, अतो जगदैश्वर्यविशिष्टमनवधिकातिशय सुखरूपं ब्रह्मानुभवंस्ततोऽन्यत् किमपि न पश्यति, दुःखं च न पश्यति।

(प्रश्न) जब यह जगत् परिमित सुखवाला, दुःखरूप और ब्रह्म से भिन्न बतलाया गया है तो उसे सुखरूप ब्रह्मात्मक, कैसे अनुभव किया जा सकता है ?

(उत्तर) कर्माधीन जीवों के लिए ही, दृश्मान सारा जगत्, ब्रह्म से भिन्न है तथा वे ही निजकर्मों के अनुसार, जगत् को दुःखरूप और परिमित

सुखवाला अनुभव करते हैं। ब्रह्म से भिन्न, दुःखरूप और परिमित सुखरूप जगत् की अनुभूति, कर्म निमित्तक ही है; जिसकी कर्मरूपा अविद्या छूट गई है, उसे, सारा जगत्, विभूतिगुणविशिष्ट, ब्रह्मानुभवरूप सुखमय प्रतीत होता है। जैसे कि–पित्तविकार ग्रस्त जीव को दूध पीना, रोग के अनुसार कम सुखकर अथवा दुखकर ही लगता है, वही दूध पित्तविकार रहित व्यक्ति को अति सुखकर प्रतीत होता है। जैसे कि–राजपुत्र को बाल्यावस्था मे पिता के वैभव विलास का यथार्थ ज्ञान नही होता, पर जैसे-जैसे वह बड़ा होता जाता है उसे वैभव सुख की उत्तरोत्तर अनुभूति होती जाती है; वैसे ही जब जीव को, निस्सीम आनदस्वरूप ब्रह्म की असंख्येय अतिशय अगणित कल्याणमय गुणों वाली लीला के उपकरण स्वरूप जगत की, ब्रह्मात्मकता का आभास होने लगता है, तो उसे, जगत् मे ही, निस्सीम आनद की अनुभूति होने लगती है। इस प्रकार वह, जगत् में, ऐश्वर्यविशिष्ट निस्सीम अतिशय सुखरूप ब्रह्म की अनुभूति मे निमग्न होकर, सुखरूपब्रह्म के अतिरिक्त, कुछ दूसरा नही देखता, और न दु.ख ही देखता है।

एतदेवोपपादयति वाक्यशेषः "स वा एष एवं पश्यन् एवं मन्वान एवं विजानन्नात्मरतिरात्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मानंद. स स्वराड्भवति, तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति, अथ येऽन्यथाऽतो विदुरन्यराजानस्तेक्षय्यलोका भवंति तेषां सर्वेषु लोकेषु अकामचारो भवति" इति। स्वराट्–अकर्मवश्यः अन्यराजानः–कर्मवश्याः। तथा––"न पश्यो मृत्युं पश्यति न रोगं नोत दुःखताम्, सर्वं हि पश्यः पश्यति सर्वमाप्नोति सर्वशः" इति च।

निरतिशय सुखस्वरूपत्वं च ब्रह्मणः "आनन्दमयोऽभ्यासात्" इत्यत्र प्रपंचितम्। अतः प्राणशब्दनिर्दिष्टात् प्रत्यगात्मनोऽर्थान्तरभूतस्य सत्यशब्दाभिधेयस्य ब्रह्मणो भूमेत्युपदेशात् भूमा परं ब्रह्म।

उक्त तथ्य की ही पुष्टि प्रकरण का अंतिम वाक्य इस प्रकार करता है–"वह (उपासक) इस पुरुष का इस रूप से दर्शन करके, इस रूप से

मनन करके, इस प्रकार से जानकर, आत्मविद्-आत्मक्रीड-आत्ममिथुन आत्मानंद एवं स्वच्छन्द हो जाता है, उसकी सभी लोकों में स्वेच्छगति हो जाती है। इसके विपरीत जो जगत् को देखता है वह परतंत्र-लोकच्युत और लोकों में बंधकर रह जाता है।" वाक्यस्थ स्वराड् का तात्पर्य है, कर्मबंधन रहित स्वच्छन्द तथा अन्यराजानः का तात्पर्य है, कर्मों के वशीभूत, कर्मानुसार फल भोगने के लिए बाध्य। जैसा कि-"यथोक्त तत्त्वदर्शी मृत्यु को नहीं देखता, रोग तथा दुःखों का भी भोग नहीं करता, वह सर्वदर्शी, सभी सुखों को प्राप्त करने वाला हो जाता है।" इत्यादि से भी ज्ञात होता है।

ब्रह्म की निरतिशय सुखरूपता की व्याख्या "आनंदमययोभ्यासात्" सूत्र में की गई है। इससे स्पष्ट है कि-प्राण शब्द वाची जीवात्मा से भिन्न सत्य शब्दाभिधेय परमात्मा को ही भूमा शब्द से बतलाया गया है।

धर्मोपपत्तेश्च १।३।८॥

अस्य भूम्नो ये धर्माम्राम्नायंते, तेऽपि परस्मिन्नेवोपपद्यंते। "एत मृतम्" इति स्वाभाविक अमृतत्वम् "स्वेमहिम्नि" इत्यन्याधारत्वं "स एवाधस्ताद्" "इत्यादि" स एवेदं सर्वम्" इति सर्वात्मकत्वम् "आत्मतःप्राणः" इत्यादि प्राण प्रभृति सर्वस्योत्पादकत्वमित्यादयोहि धर्माः परमात्मन एव।

भूमा संबंधी जो विशेषतायें श्रुतियों में बतलाई गई हैं, वह परमात्मा में ही हो सकती हैं। "एतदमृतम्" से स्वाभाविक अमरता, "स्वे महिम्नि" से अनन्यधारकता, "स एवाधस्तात्" इत्यादि तथा "स एवेद सर्वम्" से सर्वात्मकता, "आत्मतः प्राणः" इत्यादि से प्राण आदि सभी की उत्पादकता; इत्यादि जो बिशेषतायें बतलाई गई हैं वह परमात्मा में ही संभव हो सकती हैं।

यत्तु "अहमेवाधस्तात्" इत्यादिना सर्वात्मकत्वमुपदिष्टं, तद्भूमविशिष्टस्य ब्रह्मणोऽहंग्रहणोपासनपमूदिश्यते "अथातोऽहंकारादेशः" इत्यहग्रहोपदेशोपक्रमात्। अहमर्थस्य प्रत्यगात्मदोऽपि ह्यात्मा

परमात्मेत्यंतर्यामिब्राह्मणादिषूक्तम् । अतः प्रत्यंगर्थस्य परमात्मपर्यवसानात् अहंशब्दोऽपि परमात्मपर्यवसायीति प्रत्यगात्मशरीरकत्वेन परमात्मानुसंधानार्थोऽयं अहंग्रहोपदेशः परमात्मनः सर्वशरीरतया सर्वात्मत्वात् प्रत्यगात्मनोऽप्यात्मा परमात्मा । तदेव "अथात आत्मोपदेशः" इत्यादिना" आत्मैवेदंसर्वम्" इत्यन्तेनोच्यते ।

"अहमेवाधस्तात्" इत्यादि मे जो सर्वात्मकता बतलाई गई है—वह भूमाविशिष्ट ब्रह्म की अन्तर्यामी रूप अहं की उपासना की, द्योतिका है। "अथातोऽहंकारादेशः" इत्यादि श्रुति मे, उक्त अहं क्या है ? इत्यादि उपदेश का उपक्रम किया गया है। अन्तर्यामी (बृहदारण्यकोपनिषद के प्रथम) ब्राह्मण मे, परमात्मा को, जीवान्तर्यामी कहा गया है, इसलिए, जीवात्मा का पर्यवसान, परमात्मा मे होने से, अहं शब्द भी परमात्मा मे ही, पर्यवसित होता है। जीवात्मा परमात्मा का शरीर है, इसलिए शरीरी परमात्मा के अनुसधान के लिए, अहं शब्द का प्रयोग किया गया है। सारा जगत् परमात्मा का ही शरीर है, परमात्मा ही सबके आत्मा हैं इस प्रकार जीवात्मा के आत्मा भी, परमात्मा ही है, ऐसा—"अथात आत्मोपदेशः" से लेकर "आत्मैवेदं सर्वम्" तक बतलाया गया है।

एतदेवोपपादयितुं प्रत्यगात्मनोऽप्यात्मभूतात् परमात्मनः सर्वस्योत्पत्तिरुच्यते "तस्य ह वा एतस्यैवं पश्यत् एवं मन्वानस्यैवं विजानत आत्मतः प्राण आत्मत आकाशः" इत्यादिना । उपासकस्यान्तर्यामितया अवास्थितात् परमात्मनः सर्वस्योत्पत्तिरित्यर्थः । अतः परमात्मनः प्रत्यगात्म शरीरत्वज्ञानप्रतिष्ठार्थमहंग्रहोपासनं कर्त्तव्यम् । तस्माद् भूमविशिष्टः परमात्मेति सिद्धम् ।

उक्त तत्त्व के समर्थन के प्रसंग में—जीवात्मा के भी, आत्मरूप परमात्मा से, समस्त की उत्पत्ति इस प्रकार बतलाई गई है—"इस प्रकार दर्शन-श्रवण-मनन और विज्ञान संपन्न आत्मा से प्राण एवं आकाश हुए" इत्यादि। अर्थात् उपासक के अन्तर्यामी रूप में स्थित परमात्मा से,

समस्त की उत्पत्ति होती है। जीवात्मा, परमात्मा का शरीर है, इस ज्ञान को दृढ़ करने के लिए अहं ज्ञान पूर्वक उपासना करना आवश्यक है। इससे सिद्ध होता है कि–भूमगुण विशिष्ट परमात्मा ही है।

३ अक्षराधिकरण

अक्षरमम्बरान्त धृतेः ।१।३।९॥

वाजसनेमिनो गार्गीप्रश्ने समामनंति "सहोवाचैतद्वैतदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदति अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहमच्छायम्" इत्यादि तत्र संशयः, किमेतदक्षरंप्रधानम्–जीवो वा परमात्मा-इति, किं युक्तम् ? प्रधानमिति कुतः ? "अक्षरात् परम् परः" इत्यादिष्वक्षर शब्दस्य प्रधाने प्रयोग दर्शनात् अस्थूलत्वादि च तत्र समन्वयात्। "ययातदक्षरमधिगम्यते" इत्यादिषु परस्मिन्नप्यक्षरशब्दो दृश्यत इति चेत्–न, प्रमाणान्तर प्रसिद्ध श्रुति प्रसिद्धयोः प्रमाणान्तर प्रसिद्धस्य प्रथम प्रतीतेः, प्रतीत परिग्रहे विरोधाभावात्।

वाजसनेय के गार्गी के प्रश्न के प्रसंग में–"उन्होंने कहा–हे गार्गि! ब्राह्मण इस अक्षर को सूक्ष्म, स्थूल, दीर्घ, ह्रस्व, अलोहित, स्नेह और छाया रहित बतलाते हैं।" इत्यादि जो कहा गया उस पर संशय होता है कि–उक्त गुणों वाला अक्षर कौन है ? प्रधान, जीव, या परमात्मा ? कह सकते हैं कि–प्रधान है, क्योंकि–"अक्षरात् परतः परः" इत्यादि स्थलों में अक्षर शब्द का प्रधान के अर्थ में प्रयोग देखा जाता है तथा स्थूल सूक्ष्म आदि विषम गुणों का समन्वय भी उसी में हो सकता है।" ययातदक्षरमधिगम्यते" इत्यादि में, परमात्मा के लिए भी, अक्षर शब्द का प्रयोग देखा जाता है, यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि–प्रमाणान्तर प्रसिद्ध और श्रुति प्रसिद्ध में प्रमाणान्तर प्रसिद्ध की, प्रथम प्रतीति होती है; प्रथम प्रतीत अर्थ के ग्रहण में किसी प्रकार के विरोध की संभावना नहीं रहती।

"यदूर्ध्वं गार्गि दिवो यदर्वाक्पृथिव्याः" इत्यारभ्य सर्वस्य कालत्रितय वर्त्तिनः कारणभूताकाशाधारत्वे प्रतिपादिते "कस्मिन्नु

खल्वाकाश ओतश्च प्रोतश्च" इत्याकाशस्यापि कारणं तदाधारभूतं किमिति पृष्टे प्रत्युच्यमानमक्षरं सर्वविकारकारणतया तदाधारभूतं प्रमाणान्तर प्रसिद्धं प्रधानामिति प्रतीयते अतः अक्षरं प्रधानम् ।

तथा "गार्गि ! जो छायालोक से ऊपर और पृथ्वी से भी नीचे है" इत्यादि से लेकर कालत्रयवर्त्ती समस्त पदार्थों के आश्रयरूप कारण आकाश के प्रतिपादन के बाद "आकाश किसमें ओत प्रोत है ?" ऐसे आकाश के भी आधारभूत कारण के विषय में प्रश्न किये जाने पर समस्त जागतिक पदार्थों का आधारभूत कारण, अक्षर ही बतलाया गया है। उपदेश—प्रमाणान्तर प्रसिद्ध प्रधान ही प्रतीत होता है, इसलिए अक्षर, प्रधान ही है ।

सिद्धान्तः—इति प्राप्ते उच्यते—अक्षरमम्बरान्तधृतेः—अक्षरं-परंब्रह्म कुतः ? अम्बरान्त धृतेः, अम्बरस्य—आकाशस्य, अन्तः—पारभूतम्, अव्याकृतमंबरान्तः, तस्य धृतेः तदाधारतयाऽस्याक्षर-स्योपदेशादिति यावत् । अयमर्थः "कस्मिन्नु खल्वाकाश ओतश्च प्रोतश्च" इत्यत्राकाश शब्दनिर्दिष्टं न वायुमदम्बरम्, अपितु तत्पार-भूतमव्याकृतम्, अतस्तस्याव्याकृतस्याप्याधारत्वेनोच्यमानमक्षरं नाव्याकृतं भवितुमर्हति इति ।

उक्त संशय पर सूत्रकार "अक्षरमम्बरान्त धृतेः" सूत्र सिद्धान्तरूप से प्रस्तुत करते हैं। अर्थात् अक्षर परब्रह्म है क्योंकि—अम्बर अर्थात् आकाश के अन्त में स्थित अव्याकृत रूप को, अक्षर के आश्रित बतलाया गया है। "आकाश किसमें ओत प्रोत है ?" इत्यादि में, जिस आकाश का उल्लेख किया गया है, वह वायुपूरित आकाश नहीं है, अपितु उससे भी पार जो अव्याकृत आकाश है, उसी का उल्लेख है। उसी अव्याकृत आकाश के आधार के रूप में, अक्षर बतलाया गया है। ऐसे अव्याकृत आकाश का आधार विकृत प्रधान हो, ऐसा संभव नहीं है ।

नन्वाकाश शब्दनिर्दिष्टो न वायुमानिति कथमवगम्यते ? उच्यते—"यदूर्ध्वं गार्गि दिवो यदर्वाक्पृथिव्या यदंतराद्यावापृथ्वी,

इमे यद् भूतं च भवच्च भविष्यच्चेत्याचक्षते आकाश एव तदोतं च प्रोतं च" इत्युक्ते त्रैकाल्यवर्त्तिनो विकारजातस्याधारतया निर्दिष्ट आकाशो न वायुमदाकाशो भवितुमर्हति, तस्यापि विकारान्तरगतत्वात्। अतोऽत्राकाशशब्दनिर्दिष्टं भूतसूक्ष्ममिति प्रतीयते। ततस्तस्यापि भूतसूक्ष्मस्याधारभूतं किमित पृच्छयते "कस्मिन्नुखल्वाकाश ओतश्च प्रोतश्च" इति। अतस्तदाधारतया निर्दिश्यमानमक्षरं न प्रधानं भवितुमर्हति।

यदि कहो कि—उक्त प्रकरण में आकाश शब्द से अभिहित, परम् पूरित भूताकाश नहीं है, यह कैसे जाना ? तो सुनो—"गार्गि ! जो द्युलोक से ऊपर तथा पृथ्वी से नीचे है तथा द्युलोक और पृथ्वी जिसक अभ्यन्तर में हैं, जिसे भूत, वर्त्तमान् और भविष्य कहा जाता है, वह आकाश ही ओत प्रोत है" इत्यादि में कहा गया, त्रैलोक्यवर्त्ती, वैकारिक पदार्थों का आधार. आकाश, वायुमान आकाश नहीं हो सकता, क्योंकि बायुमान आकाश तो, विकृत है। इसलिए यहाँ, आकाश शब्द से निर्दिष्ट, भूतसूक्ष्म ही प्रतीत होता है। "आकाश किससे ओत प्रोत है ?" यह प्रश्न भूतसूक्ष्म आकाश के लिए ही पूछा गया है। इन सबसे ज्ञात होता है कि—आधाररूप से निर्दिष्ट अक्षर तत्त्व, विकृत प्रधान नहीं हो सकता।

यत्तु श्रुतिप्रसिद्धात् प्रमाणान्तर प्रसिद्धं प्रथमं प्रतीयत इति तन्न, अक्षर शब्दस्यावयवशक्त्या स्वार्थं प्रतिपादने प्रमाणान्तरानपेक्षणात् संबंधग्रहणदशायामर्थस्वरूपं येन प्रमाणेनावगम्यते, न तत्प्रतिपादनदशायामपेक्षणीमम्।

जो यह कहा कि—श्रुति प्रसिद्ध से प्रमाणान्तर प्रसिद्ध अर्थ की प्रतीति प्रथम होती है, सो यह बात नहीं है, क्योंकि—अक्षर शब्द से सीधा सीधा जो अर्थ प्रतीत होता है, उसके प्रतिपादन के लिए, अन्य प्रमाणों की आवश्यकता ही नहीं है; शब्द और अर्थ के संबंध, में अर्थ के स्वरूप

बतलाने में जिन प्रमाणों की अपेक्षा होती है, वस्तु प्रतिपादन की स्थिति में उन प्रमाणों की अपेक्षा नही होती।

एवं तर्ह्यक्षर शब्द निर्दिष्टो जीवोऽस्तु, तस्यभूतसूक्ष्मपर्यन्तस्य कृत्स्नस्याचिद्वस्तुन आधारत्वोपपत्तेः, अस्थूलत्वादुच्यमानविशेषणोपपत्तेश्च "अव्यक्तमक्षरेलीयते"—"यस्याव्यक्तं शरीरम्—यस्याक्षरं शरीरम्" "क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते" इत्यादिषु—प्रत्यगात्मन्यप्यक्षर शब्द प्रयोगदर्शनादित्यत्रोत्तरम्—

उपदेश यदि प्रधान को, अक्षर नहीं मानते तो, जीव तो अक्षर शब्द से अभिधेय है ही, उसे ही भूतसूक्ष्म पर्यन्त समस्त जड़ वस्तुओं का आधार तथा अस्थूलता आदि विशेषताओं वाला कहा गया है जैसा कि-"अव्यक्त जिसका शरीर है, अक्षर जिसका शरीर है;" समस्त भूत क्षर हैं, अक्षर कूटस्थ है" इत्यादि वाक्यों में जीवात्मा के लिए किए गए, अक्षर शब्द के प्रयोग से ज्ञात होता है। इस मत का ही उत्तर देते हैं—

सा च प्रशासनात् ।१।३।१०॥

सा चाम्बरान्तधृतिरस्याक्षरस्य प्रशासनादेव भवतीत्युपदिश्यते "एतस्यवाऽक्षरस्य प्रशासने गार्गि, सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः, एतस्यवाऽक्षरस्य प्रशासने गार्गि, द्यावापृथिव्यौ विधृते तिष्ठतः, एतस्य वाऽक्षरस्य प्रशासने गार्गि, निमेषा मुहुर्त्ता अहोरात्राण्यर्धमासा मासा ऋतवः संवत्सरा इति विधृतास्तिष्ठंति" इत्यादिना। प्रशासनंप्रकृष्टं शासनं, न चेदृशं स्वशासनाधीनसर्ववस्तु विधरणं बद्धमुक्तोभयावस्थस्यापि प्रत्यगात्मनः संभवति। अतः पुरुषोत्तम एव प्रशासित्रक्षरम्।

वह अम्ब पर्यन्त समस्त वस्तुओं का आधार अक्षर के प्रशासन से ही होता है, ऐसा उपदेश दिया गया है। जैसा कि-"हे गार्गि! इस अक्षर के प्रशासन में ही सूर्य और चन्द्र स्थित हैं, गार्गि! इसी अक्षर के

प्रशासन में द्यु और भूलोक स्थित हैं, तथा गार्गि ! इसी अक्षर के प्रशासन में, निमेष-मुहूर्त्त-अहोरात्र-अर्द्धमास-मास-ऋतु-संवत्सर आदि भी स्थित हैं ' इत्यादि से ज्ञात होता है। प्रशासन का अर्थ है प्रकृष्ट रूप से शासन करना अर्थात् नियमित रखना। बद्ध या मुक्त जीव, इस प्रकार के प्रशासन से, समस्त पदार्थों को नियमित कर सकें, ऐसा संभव नहीं है। इससे निश्चित होता है कि प्रशासक रूप से पुरुषोत्तम ही अक्षर है।

अन्यभावव्यावृतेश्च ।१।३।११॥

अन्य भावः अन्यत्वं प्रधानादिभावः। अस्याक्षरस्य परम् पुरुषादन्यत्वं, वाक्यशेषे व्यावर्त्यते "तद् वा एतदक्षरं गार्गि, अदृष्टं दृष्टृ श्रुतं श्रोत्रमतम् मंत्रविज्ञातं विज्ञातृ नान्यदस्तोऽस्ति द्रष्टृ, नान्यदस्तोऽस्ति श्रोतृ, नान्यदस्तोऽस्ति मंतृ, नान्यदस्तोऽस्ति विज्ञातृ, एतस्मिन्नुखल्वक्षरे गार्गि, आकाश ओतश्च प्रोतश्च।" अत्र द्रष्टृत्व श्रोतृत्व आदि उपदेशात् अस्याक्षरस्याचेतनभूत प्रधान भावो व्यावर्त्यते। सर्वैरद्रष्टस्यैव सतः सर्वस्य द्रष्टृत्वादि उपदेशाच्च प्रत्यगात्म-भावोव्यावर्त्यते। अत इयमन्यभावव्यावृत्तिरस्याक्षरस्य परमपुरुषतां दृढयति।

इस सूत्र के, अन्यभाव का तात्पर्य है, अन्यत्व प्रधानादि भाव। प्रस्तुत प्रकरण के अन्तिम वाक्य में, परमपुरुष और अक्षर पुरुष की भिन्नता का प्रतिषेध किया गया है, जैसे—"गार्गि ! यह अक्षर दृष्ट नहीं अपितु द्रष्टा, श्रव्य नहीं अपितु श्रोता, मनन का विषय नहीं अपितु मन्ता, ज्ञेय नहीं अपितु ज्ञाता, इस अक्षर में ही आकाश ओत प्रोत है" इत्यादि में अक्षर को श्रोता, द्रष्टा कहा गया है, जिससे यह भ्रम समाप्त हो जाता है कि—प्रधान, अक्षर है। तथा—अक्षर सबसे अदृष्ट होते हुए भी स्वयं द्रष्टा है, इससे जीवात्मा को अक्षर समझने का भ्रम भी निवृत्त हो जाता है। प्रधान, जीवात्मा संबंधी संशय के निवृत्त हो जाने पर, अक्षर की परम पुरुषता दृढ हो जाती है।

एवं वाऽन्यभावव्यावृत्तिः, अन्यस्य सद्भावव्यावृत्तिरन्यभाव व्यावृत्तिः यथैतदक्षरमन्यैरदृष्टं सदन्येषां द्रष्टृ च सत् स्वव्यतिरिक्तस्य समस्तस्याधारभूतम्, एवमनेनादृष्टमेतस्य दृष्टृ च सदेतस्याधारभूतमन्यन्नास्तीति वदन् "नान्यदस्तोऽस्ति द्रष्ट" इत्यादि वाक्यशेषो अन्यस्य सद्भावं व्यावर्त्तयन्यस्याक्षरस्य, प्रधानभावं, प्रत्यगात्मभावं च प्रतिषेधति।

अन्य की सद्भावना की व्यावृत्ति भी, इस सूत्र का तात्पर्य हो सकता है। "इसके अतिरिक्त कोई अन्य द्रष्टा नहीं है" इस वाक्यांश में, अक्षर को अन्य से अदृष्ट तथा सभी का द्रष्टा बतलाकर, सभी का आश्रय सिद्ध किया गया है, इससे निश्चित होता है कि इसके दर्शन और आश्रय की, किसी भी अन्य से संभावना नहीं है। इस प्रकार, अन्यों की संभावना के प्रतिषिद्ध हो जाने पर अक्षर के प्रधान या जीवात्मभाव का स्वतः प्रतिषेध हो जाता है।

किंच—"एतस्य वाऽक्षरस्य प्रशासने गार्गि, ददतो मनुष्याः प्रशंसंति यजमानो देवाद्रर्वी पितरोऽन्वायत्ताः" इति श्रौतं स्मृत्तिं च यागदान होमादिकं सर्वकर्म यस्याज्ञया प्रवर्त्तते, तदक्षरं परब्रह्मभूतः पुरुषोत्तम एवेति विज्ञायते।

तथा—"गार्गि! इस अक्षर के प्रशासन में ही, मनुष्य दाता की, देवता यजमान की तथा पितर दर्वी (चरुपात्र) की प्रशंसा करते है।" इत्यादि से भी ज्ञात होता है कि-श्रौत स्मार्त्त, याग-दान-होमादि सब कर्म जिनके प्रशासन में संपन्न होते हैं, वे अक्षर, परब्रह्म पुरुषोत्तम ही हो सकते हैं।

अपि च—"यो वा एतदक्षरं गार्गि! अविदित्वास्मिंल्लोके जुहोति यजते तपस्तप्यते बहूनि वर्षसहस्राणि अन्तवदेवास्य तद्भवति, यो वा एतदक्षरंगार्गि। अविदित्वा अस्माल्लोकात् प्रैति

सकृपणः, अथ य एतदक्षरं गार्गि ! विदित्वाऽस्माल्लोकात् प्रैति स ब्राह्मणः ।" इति यदज्ञानात् संसार प्राप्ति यज्ज्ञानाच्चामृतत्व प्राप्ति स्तदक्षरं परं ब्रह्मैवेति सिद्धम् ।

तथा—'गार्गि ! जो लोग इस लोक में इस अक्षर को न जानकर होम यज्ञ करते हैं तथा हजारों वर्ष तपस्या करते हैं, उनका समस्त कर्म (पुण्यभोग के बाद) समाप्त हो जाता है, वे बेचारे दया के पात्र हैं। और जो अक्षर तत्त्व के ज्ञाता (निष्काम भाव से उसका चिंतन करते हैं) वे ही ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण हैं।' इत्यादि में, अक्षर को न जानने से संसार प्राप्ति और अक्षर ज्ञान से मोक्ष प्राप्ति बतलाई गई है, जिससे सिद्ध होता है कि–अक्षर परब्रह्म ही है।

४ ईक्षतिकर्माधिकरणः—

ईक्षतिकर्मव्यपदेशात्सः ।१।३।१२॥

आथर्वणिकास्सत्यकाम प्रश्नेऽधीयते—"यः पुनरेतं त्रिमात्रेणो-मित्यनेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत स तेजसि सूर्ये संपन्नः यथा पादोदरस्त्वचा विनिर्मुच्यते एवं ह वै स पाप्मना विनिर्मुक्तः ससा-मभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकं स एतस्माज्जीवघनात्परात्परं पुरिशयं पुरुष-मीक्षते" इति अत्र ध्यायतीक्षतिशब्दावेकविषयौ, ध्यानफलत्वादीक्ष-णस्य, "यथाक्रतुरस्मिंल्लोके पुरुषः" इति न्यायेन ध्यान विषयस्यैव प्राप्यत्वात् "परं पुरुषं" इत्युभयत्र कर्मभूतस्यार्थस्य प्रत्यभिज्ञानाच्च ।

अथर्ववेदीय प्रश्नोपनिषद् के सत्यकाम के प्रश्न के प्रसंग में कहा गया कि–"जो त्रिमात्रात्मक अक्षर रूप परंपुरुष का ध्यान करते हैं वह तेज में सूर्य के समान होते हैं; जैसे कि सर्प अपना केंचुल छोड़ देता है, वैसे ही वे भी पाप से छूट जाते हैं। वे सामगणों द्वारा, ब्रह्मलोक में ले जाए जाते हैं, वे इन जीवों से श्रेष्ठ परम पुरुष को हृदय में देखते हैं।' यहाँ ध्यान और दर्शन दोनों को एक ही बतलाया गया है। वैसे दर्शन

या साक्षात्कार ध्यान का ही फल है "पुरुष इस लोक में जैसा चिन्तन करता है" इत्यादि में ध्यान को ही, प्राप्य वस्तु का कारण बतलाया गया है। ध्यान और दर्शन दोनों में "परंपुरुष" की प्राप्ति की अभिलाषा रहती है इसीलिए उक्त वाक्य में दोनों को एक विषयक दिखलाया गया है।

तत्र संशय्यते–किमिह "परं पुरुषम्" इति निर्दिष्टो जीव-समष्टिरूपोऽण्डाधिपतिश्चतुर्मुखः उत सर्वेश्वरः पुरुषोत्तमः इति किंयुक्तम् ? समष्टि क्षेत्रज्ञ इति, कुतः ? "स यो ह वैतद् भगवन् मनुष्येषु प्रायणान्तमोंकारमभिध्यायीत कतमंवाव सतेन लोकं जयति" इति प्रक्रम्यैकमात्रं प्रणवमुपासीनस्य मनुष्यलोक प्राप्ति-मभिधाय, द्विमात्रमुपासीनस्य अंतरिक्ष लोक प्राप्तिमभिधाय, त्रिमात्रमुपासीनस्य प्राप्यतयाऽभिधीयमानो ब्रह्मलोकोऽन्तरिक्षात्परो जीवसमष्टि रूपस्य चतुर्मुखस्य लोक इति विज्ञायते तद्गतेन चेक्ष्यमाणः तल्लोकाधिपतिश्चतुर्मुख एव। "एतस्माज्जीव घनात्परा-त्परम्" इति च देहेन्द्रियादिभ्यः पराद् देहेन्द्रियादिभिः सह घनी-भूताज्जीवव्यष्टिपुरुषाद् ब्रह्मलोकवासिनः समष्टि पुरुषस्य चतु-र्मुखस्य परत्वेनोपपद्यते। अतोऽत्र निर्दिश्यमानः परः पुरुषः समष्टि-पुरुषः चतुर्मुख एव। एवं चतुर्मुखत्वे निश्चिते सति अजरात्वादयो यथाकथंचिन्नेतव्याः।

अब संशय होता है कि–परं पुरुष पद से निर्दिष्ट, जीव समष्टि रूप ब्रह्माण्डपति चतुर्मुख हैं अथवा सर्वेश्वर पुरुषोत्तम ? कह सकते है कि समष्टि क्षेत्रज्ञ ब्रह्मा ही है–जैसा कि–"हे भगवन् इस मनुष्य लोक में जो मनुष्य आजीवन ओंकार का चिंतन करते है वो कौन सा लोक जीत लेते हैं ?" ऐसा उपक्रम करके, एकमात्रा का चिंतन मनुष्य लोक की प्राप्ति कराता है, दो मात्रा का चिन्तन अंतरिक्ष लोक की प्राप्ति कराता है तथा त्रिमात्रा का चिन्तन अंतरिक्ष से श्रेष्ठ ब्रह्मलोक की

प्राप्ति कराता है जो कि जीव समष्टि रूप चतुर्मुख ब्रह्मा का लोक है; इत्यादि बतलाया गया है। उस ब्रह्मलोक में प्राप्त जीवों का दृश्यमान पर पुरुष चतुर्मुख ही है। "श्रेष्ठ जीवों से भी श्रेष्ठ" इत्यादि में देह इन्द्रिय आदि से श्रेष्ठ देह इन्द्रिय आदि सहित घनीभूत जीव पुरुष से, ब्रह्मलोकवासी समष्टि पुरुष चतुर्मुख की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया गया है। इससे ज्ञात होता है कि-उक्त प्रसंग में जिस परंपुरुष का व्याख्यान किया गया है, वह समष्टि पुरुष चतुर्मुख ही है। इस प्रकार परंपुरुष की चतुर्मुखता निश्चित हो जाने पर, अजरत्व आदि गुणों का प्रतिपादन भी उन्हीं के लिए किसी न किसी प्रकार करना होगा।

सिद्धान्तः—इति प्राप्ते प्रचक्ष्महे—"ईक्षतिकर्मव्यपदेशात्सः" ईक्षति कर्म सः परमात्मा। कुतः? व्यपदेशात्—व्यपदिश्यते ह्यीक्षतिकर्म परमात्वत्वेन। तथाहि ईक्षतिकर्मविषयतयोदाहृते श्लोके—"तमोंकारेणैवायनेनान्वेति विद्वान्यत्तच्छां तमजरममृतमत्रयं परं च" इति। परंशान्तमजरमभयममृतमिति हि परमात्मन एवैतद्रूपम्, "एतदमृतमेतदभयमेतद्ब्रह्म" इत्येवमादि श्रुतिभ्यः। "एतस्माद् जीवघनात्परात्परम्" इति च परमात्मन एव व्यपदेशः न चतुर्मुखस्य, तस्यापिजीवधनशब्दगृहीतत्वात्। यस्य हि कर्मनिमित्तं देहित्वं स जीवघनइत्युच्यते। चतुर्मुखस्यापितच्छ्रूयते—"यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वम्" इत्यादौ। यत्पुनरुक्तमन्तरिक्षलोकस्योपरिनिर्दिश्यमानो ब्रह्मलोकश्चतुर्मुखलोक इति प्रतीयते अतस्तत्रस्थचतुर्मुख इति; तदयुक्तम्—'यत्तच्छान्तमजरममृतमत्रयम्" इत्यादिनेक्षित कर्मणः परमात्मत्वे निश्चिते सति ईक्षितुः स्थानतया निर्दिष्टो ब्रह्मलोको न क्षयिष्णुश्चतुर्मुखलोको भवितुमर्हति।

उक्त संशय पर सूत्रकार सिद्धान्तरूप से "ईक्षतिकर्म" इत्यादि सूत्र प्रस्तुत करते हैं। अर्थात् वह परमात्मा ईक्षति क्रिया का कर्म है। परमात्मा के लिए ही ईक्षण का निर्देश किया गया है। ईक्षण कर्म विषयक उदाहरण के श्लोक में जैसे-"विद्वान् पुरुष ओंकार के अवलंबन

से ही, शांत-अजर-अमर-अक्षय स्वरूप परमात्मा को प्राप्त करता है" इत्यादि। ऐसा शांत अजर अमर रूप परमात्मा का ही है, ऐसा "एतदमृत" इत्यादि श्रुति से ज्ञात होता है। 'एतज्जीवघनात् परात्पर'" इत्यादि श्रुति में भी परमात्मा का ही निर्देश है, चतुर्मुख ब्रह्मा का नहीं। ब्रह्मा को भी जीवघन ही बतलाया गया है। कर्मों के फलस्वरूप देह प्राप्ति ही जीवघनत्व है। चतुर्मुख ब्रह्मा के जन्म की बात भी "जिन्होने प्रथम ब्रह्मा को उत्पन्न किया" इत्यादि में प्रसिद्ध है। जो यही कि—अंतरिक्ष लोक के ऊपर जो ब्रह्मलोक है, वह ब्रह्मा का ही लोक प्रतीत होता है, क्योंकि वहाँ के दर्शनीय पुरुष चतुर्मुख हैं; सो यह कथन भी असंगत है, क्योंकि–जब "यच्छान्तमजर" इत्यादि से परमात्मा का ईक्षण कर्म निश्चित हो चुका तब ब्रह्मलोक जो कि–ईक्षण कर्म वाले का ही स्थान है, वह क्षयशील ब्रह्मा का लोक, कैसे हो सकता है।

किं च–"यथा पादोदरस्त्वचा विनिर्मुच्यते एवं ह वै स पाप्मना विनिर्मुक्तः स सामाभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकम्" इति सर्वपापविनिर्मुक्तस्य प्राप्यतयोच्यमानं न चतुर्मुखस्थानम्। अतएव चोदाहरणश्लोके इममेव ब्रह्मलोकमधिकृत्यश्रूयते–"यत्तत्कवयो वेदयंते" इति। कवयः सूरयः। सूरिभिर्दृश्यं च वैष्णवं पदमेव "तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यंति सूरयः" इत्येवमादिभ्यः। न चान्तरिक्षात् परश्चतुर्मुखलोकः मध्ये स्वर्गलोकादीनां बहूनां सद्भावात्।

तथा–"जैसे सर्प केंचुल छोड़ देता है, वैसे ही वह साधक भी पापों को छोड़ देता है, सामगण उसे ब्रह्मलोक पहुँचाते हैं।" इत्यादि में उदाहृत निष्पाप पुरुष के लिए जिस प्राप्य लोक का वर्णन किया गया है वह, चतुर्मुख का स्थान नही हो सकता। उदाहरणरूप से प्रस्तुत श्लोक में इस लोक को ब्रह्मलोक कहा गया है "जिसे कवि ही जानते हैं," इत्यादि कवयः का अर्थ सूरयः (ज्ञानीभक्त) है। सूरियों के द्वारा दृष्ट वैष्णव पद "तद् विष्णोः परमं पदं सदा पश्यंति सूरयः" इत्यादि वाक्यों में बतलाया गया है। अंतरिक्ष के बाद चतुर्मुख का लोक ही नहीं है, मध्य में स्वर्ग आदि और भी बहुत से लोक हैं, इससे भी उक्त बात कट जाती है।

अतः "एतद् वै सत्यकाम परं चापरं ब्रह्म यदोंकारः तस्माद् विद्वानेतेनैवायनेनैकतरमन्वेति" इति प्रतिवचने यदपरं कार्यं ब्रह्म निर्दिष्टं तदैहिकामुष्मिकत्वेन द्विधा विभज्यैकमात्रं प्रणवमुपासीनाना मैहिकं मनुष्यलोकावाप्ति रूपं फलमभिधाय, द्विमात्रमुपासीनानामामुष्मिक अन्तरिक्ष शब्दोपलक्षितं फलं चाभिधाय, त्रिमात्रेण परब्रह्म वाचिना प्रणवेन परं पुरुषं ध्यायतां परमेव ब्रह्म प्राप्यतयोपदिशतीति सर्वं समंजसम् । अत ईक्षति कर्म परमात्मा ।

"सत्यकाम ! जो यह ओंकार है, यही पर और अपर ब्रह्म है, उपासक विद्वान् इसकी उपासना करके एक एक लोकों की प्राप्ति करते हैं ।" इस आचार्य द्वारा दिए गए उत्तर में, जिस अपर कार्यब्रह्म का उल्लेख किया गया है, उसके ऐहिक और आमुष्मिक दो रूप दिखलाकर, एकमात्रा के प्रणव के उपासकों की मनुष्य लोक प्राप्ति द्विमात्रा के उपासकों की, अंतरिक्ष नाम वाली आमुष्मिक प्राप्ति बतलाकर, त्रिमात्रा वाले पर ब्रह्म वाची प्रणव से, परंपुरुष के ध्यान करने वालों परब्रह्म की ही प्राप्ति बतलाई है, इस प्रकार प्रासंगिक असंगति का सांमजस्य कर दिया गया है । इससे निश्चित हो गया कि–ईक्षति कर्म परमात्मा का ही है ।

५ दहराधिकरण :–

दहर उत्तरेभ्यः ।१।३।१३॥

इदमामनंति छंदोगाः "अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नंतर आकाशः तस्मिन्यदंतस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यम्" इति । तत्र संदेहः–किमसौ हृदय पुण्डरीक मध्यवर्त्ती दहराकाशो महाभूत विशेषः उत परमात्मा इति किं" तावद्युक्तम् ? महाभूत विशेष इति, कुतः ? आकाश शब्दस्य, भूताकाशे ब्रह्मणि च प्रसिद्धत्वेऽपि, भूताकाशे

प्रसिद्धि प्रकर्षात् । "तदस्मिन्यदंतः तदन्वेष्टव्यम्" इत्यन्वेष्टव्या-न्तरस्याधारतया प्रतीतेश्च ।

छांदोग्योपनिषद् में कहा गया कि—"इस ब्रह्मपुर में जो सूक्ष्म-पुडरीक गृह है जिसमे कि सूक्ष्म आकाश विद्यमान है, उसके भी अंदर जो विद्यमान है, उसी के अन्वेषण और जानने की चेष्टा करनी चाहिए" इस पर संशय होता है कि—उल्लेख्य हृदयपुडरीक मध्यवर्त्ती दहराकाश, महाभूत विशेष आकाश है, अथवा जीवात्मा है अथवा परमात्मा ? कह सकते है कि—महाभूतविशेष आकाश ही है; आकाश शब्द, भूताकाश और परमात्मा दोनो के लिए ही प्रयुक्त होता है, पर भूताकाशरूप मे अधिक प्रसिद्ध है तथा "तदस्मिन्" इत्यादि में अन्वेष्टव्य का आन्तरिक आधार के रूप में जो वर्णन किया गया है उससे भी, भूताकाश की ही प्रतीति होती है ।

सिद्धान्तः—इत्येवं प्राप्तेऽभिधीयते—दहरउत्तरेभ्यः दहराकाशः परं ब्रह्मः, कुतः ? उत्तरेभ्यो वाक्यगतेभ्यो हेतुभ्यः । "एष आत्माऽ-पहतपाप्मा विजरोविमृत्युर्विशोको विजिघित्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्प" इति निरुपाधिकात्मत्वमपह् पाप्मत्वादिकं सत्य कामत्वं सत्यसंकल्पत्वं चेति दहराकाशे श्रूयमाणा गुणाः, दहराकाशं परं ब्रह्मेति ज्ञाययंति ।

उक्त संयश की निवृत्ति के लिए सूत्रकार सिद्धान्त रूप से "दहर-उत्तरेभ्यः" सूत्र प्रस्तुत करते हैं । अर्थात् दहराकाश पर ब्रह्म है—क्योंकि—उक्त वाक्य के परवर्त्ती वाक्य में जो दहर संबंधी हेतु प्रस्तुत किये गए हैं उनसे यही निर्णय होता है । "यह आत्मा निष्पाप-अजर-अमर-; शोक-भूख-प्यास रहित, सत्यकाम और सत्य संकल्प है ।" इस परवर्त्ती वाक्य मे, दहराकाश के जो गुण कहे गए है, वे दहराकाश में स्थित, स्वाभाविक निष्पाप, सत्यकाम सत्यसंकल्प परब्रह्म की विशेषताओ के द्योतक है ।

"अथ ह इहात्मानमनुविद्य ब्रजंत्येतांश्च सत्यान् कामांस्तेषां सर्वेषुलोकेषु कामचारो भवति "इत्यादिना" यं कामं कामयते

सोऽस्य संकल्पादेव समुत्तिष्ठंति तेन संपन्नो महीयते" इत्यंतेन दहराकाशवेदिनः सत्यसंकल्पत्व प्राप्तिश्चोच्यमानं दहराकाशं परं ब्रह्मेत्यवगमयति ।

तथा—"जो इस लोक में, परमात्मा और उनके संकल्पों को जान लेता है, वह देहांत के बाद सभी लोकों में स्वच्छंदतापूर्वक भ्रमण कर सकता है" इत्यादि से तथा "ऐसा व्यक्ति जो भी कामनायें करता है, वह तत्काल उसके समक्ष प्रस्तुत हो जाती हैं जिससे कि वह प्रफुल्ल हो जाता है" इस अंतिम वाक्य से, दहराकाश के ज्ञाताओं की सत्यसंकल्पता की जो प्राप्ति बतलाई गई है, वह दहराकाश की पर ब्रह्मता का द्योतन करती है ।

"यावान्वाऽयमाकाशस्तावान् एषोऽन्तर हृदय आकाशः" इत्युपमानोपमेयभावश्च दहराकाशस्य, भूताकाशत्वे नोपपद्यते । हृदयावच्छेदनिबंधन उपमानोपमेय भाव इति चेत्—तथा सति, हृदयावच्छिन्नस्य द्यावापृथिव्यादि सर्वाश्रयत्वं नोपपद्यते ।

"जितना यह भूताकाश है, उतना ही हृदयान्तर्गत आकाश भी है" इसमें आकाश का उपमान–उपमेय भाव दिखलाया गया है। उपमान और उपमेय दो वस्तुएं एक नहीं हो सकतीं, इसलिए दहराकाश कभी भूताकाश नहीं हो सकता । यदि कहो कि—हृदय में पृथक् स्थित होने के कारण, दहराकाश और भूताकाश में उपमान उपमेय भाव दिखलाया गया है, वस्तुतः उनमें कोई भेद नहीं है; ऐसा मानने पर तो, शास्त्रों में जो दहराकाश की द्यु पृथ्वी आदि की आश्रयता बतलाई गई है, वह अवच्छिन्न (खण्ड) आकाश की तो हो नहीं सकती आश्रयता तो अखंड वस्तु में ही संभव है ।

ननु च—दहराकाशस्य परमात्मत्वेऽपि ब्रह्मकाशोऽपमेयत्वं न संभवति "ज्यायान् पृथिव्याज्ज्यायानंतरिक्षात्" इत्यादौ सर्वस्मात् ज्यायस्त्व श्रवणात्—नैवम्, दहराकाशस्य हृदयपुण्डरीकमध्यवर्त्तित्वप्राप्ताल्पत्वनिवृत्ति परत्वादस्यवाक्यस्य, यथा अधिजवेऽपि सवितरि "इषुवद्गच्छति सविता" इति वचनं गतिमांद्यनिवृत्तिपरम् ।

यदि कहें कि–दहराकाश की परमात्मता मान लेने पर, ब्रह्माकाश की उपमेयता संभव नहीं है, "वह पृथ्वी से श्रेष्ठ आकाश से श्रेष्ठ है" इत्यादि वाक्यों में अनुपम बतलाया है अतः वह कैसे उपमेय हो सकता है ? बात ऐसी नहीं है–दहराकाश के हृदयपुंडरीक की अल्पता का निवारण ही उक्त वाक्य का प्रयोजन है–जैसे कि–अधिक वेगवान सूर्य के होते हुए भी "सूर्य तीर की तरह जाता है।" इत्यादि में उसकी मंदगति का निवारण किया गया है।

अथस्यात्–"एष आत्माऽपहतपाप्मा" इत्यादिना दहराकाशो न निर्दिश्यते "दहरोऽस्मिन्नंतर आकाशस्तस्मिन्यदन्तस्तदन्वेष्टव्यम्" इति दहराकाशान्तर्वर्त्तिनस्ततोऽन्यस्यान्वेष्टव्यत्वेन प्रकृतत्वादिह ' एष आत्माऽपहतपाप्मा" इति तस्यैवान्वेष्टव्यस्य निर्देष्टुं युक्तत्वात् ।

आपत्ति की जाती है कि–"यह आत्मा निष्पाप है" इत्यादि में दहराकाश का निर्देश नहीं है "दहर आकाश में जो आकाश है उसके अन्तर्वर्त्ती का अन्वेषण करना चाहिए' इत्यादि में, दहराकाशान्तर्वर्त्ती किसी अन्य के अन्वेषण का उल्लेख मिलता है, इसलिए 'यह आत्मा निष्पाप है" इत्यादि में उसी के अन्वेषण का निर्देश मानना संगत है।

स्यादेतदेवम्—यदि श्रुतिरेव दहराकाशं तदन्तर्वर्त्तिनं च न व्यभांक्ष्यत्, व्यभांक्षीत्तु सा तथाहि–"अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नंतर आकाशस्तस्मिन्यदंतस्तदन्वेष्टम्" इति ब्रह्मपुरशब्देनोपास्यतया सन्निहित परब्रह्मः पुरत्वेनोपासक शरीरम् निर्दिश्य तन्मध्यवर्त्ति च तदवयवभूतं पुण्डरीकाकारमल्प परिमाणं हृदयं परस्य ब्रह्मणो वेश्मतयाभिधाय सर्वज्ञं सर्वशक्तिमाश्रित वात्सल्यैकजलधिमुपासकानुग्रहाय तस्मिन् वेश्मनि सन्निहितं सूक्ष्मतया ध्येयं दहराकाशशब्देन निर्दिश्य तदन्तर्वर्त्तिचापहतपाप्मत्वादिस्वभावतोनिरस्तनिखिल हेयत्वसत्यकामत्वादि

स्वाभाविनवधिकातिशय कल्याणगुणजातं च ध्येयं "तदन्वष्टव्यम्" इत्युपदिश्यते। अत्र "तदन्वेष्टव्यम्" इति तच्छब्देन दहराकाशम्, तदन्तर्वर्तिगुणजातं च परामृश्य तदुभयमन्वेष्टव्यमित्युपदिश्यते, "तदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म" इत्यनूद्य तस्मिन् दहर-पुण्डरीकवेश्मनि यो दहराकाशः, यच्च तदंतर्वर्तिगुणजातम् तदुभय-मन्वेष्टव्यमिति विधीयत इत्यर्थः।

आपत्ति उचित ही है क्योंकि उक्त श्रुति में दहराकाश और उसके मध्यवर्त्ती आकाश का भेद नहीं बतलाया गया है ऐसा प्रतीत होता है, पर उस श्रुति में भेद दिखलाया गया है, विश्लेषण करने पर ही ज्ञात हो सकता है—जैसे कि—"इस ब्रह्मपुर में दहर पुंडरीक कोष है, उसमें जो दहर आकाश है, उसके मध्यवर्त्ती का अन्वेषण करना चाहिए।" इस वाक्य में, ब्रह्मपुर शब्द से उपास्य परब्रह्म के स्थानीय उपासक के शरीर बतलाकर तथा, उस शरीर के मध्यवर्त्ती उसी के अवयव, कमल के आकार वाले सूक्ष्म हृदय को परब्रह्म का घर बतलाकर, सर्वज्ञ, सर्वशक्ति-मान, आश्रित, करुणा सागर, उपासक के अनुगृह के लिए उसी में स्थित, सूक्ष्मरूप से ध्येय को, दहराकाश शब्द से निर्देश करके, उसी के अन्तर्वर्त्ती, स्वभाव से निष्पाप, महान्, सत्यकाम सत्यसंकल्प आदि गुणों वाले ध्येय को अन्वेष्टव्य कहा गया है। 'तदन्वेष्टव्यम्" पद में "तद्" शब्द दहरा-काश और उसके अन्तवर्त्ती गुणों, दोनों का ही द्योतक है, इन दोनों को ही अन्वेषणीय कहा गया है। "इस ब्रह्मपुर में जो सूक्ष्म पुंडरीक गृह है" इस वाक्य में पुनरुल्लेख पूर्वक, उसी दहर पुंडरीक में स्थित दहराकाश और उनके अन्तवर्त्ती गुणों का अन्वेषण बतलाया गया है।

दहराकाश शब्द निर्दिष्टस्य परब्रह्मत्वं "तस्मिन्यदन्तः" इति निर्दिष्टस्य च तद्गुणत्वम्, तच्छब्देनोभयं परामृश्योभयस्याप्यन्वेष्ट-व्यतया विधानं च कथमवगम्यत ? इति चेत्—तदवहितमनाश्शृणु—"यावान्वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदयाकाशः" इति दहराकाश-स्यातिमहत्तामभिधाय। "उभेऽस्मिन् द्यावापृथ्वी अंतरेव समाहिते

उभावग्निश्च वायुश्च सूर्यश्चंद्रमसावुभौ विद्युन्नक्षत्राणि" इति प्रकृतमेव दहराकाशमस्मिन्निति निर्दिश्य तस्य सर्वंजगदाधारत्वमभिधाय "यच्चास्येहास्ति यच्चनास्ति, सर्वं तदास्मिन्समाहितं" इति पुनरप्यास्मिन्निति तमेव दहराकाशं परामृश्य तस्मिन्नस्योपासकस्येहलोके यद्भोग्यजातमस्ति, यच्च मनोरथमात्र गोचरमिह नास्ति, सर्वं तद्भोग्यजातं अस्मिन्दहराकाशे समाहितमिति निरतिशय भोग्यत्वम् दहराकाशस्याभिधाय तस्य दहराकाशस्य देहावयवभूतहृदयांतर्वर्त्तित्वेऽपि देहस्य जराप्रध्वंसादौ सत्यपि परमकारणतयाऽति सूक्ष्मत्वेन निर्विकारत्वमुक्त्वा, तत एव—"एतत् सत्यं ब्रह्मपुरम्" इति तमेव दहराकाशं सत्यभूतं ब्रह्माख्यं पुरं निखिलजगदावास भूतमित्युपपाद्य, "अस्मिन्कामाः समाहिताः" इति दहराकाशमस्मिन्निति निर्दिश्य, काम्यभूतांश्च गुणान्कामा इति निर्दिश्य, तेषां दहराकाशांतर्वर्त्तित्वमुक्त्वा, त देव दहराकीशस्य काम्यभूत कल्याणगुण विशिष्टत्वं तस्यात्मत्वं च "एष आत्माऽपहतपाप्म" इत्यादिना "सत्यसंकल्पः" इत्यंतेन स्फुटीकृत्य "यथा ह्येवेव प्रजा अन्वाविशंति" इत्यरिभ्य "तेषां सर्वेषु लोकेष्वकामचारो भवति" इत्यंतेन तदिदं गुणाष्टकं तद् विशिष्टं दहराकाशशब्दनिर्दिष्टं आत्मानंचाविदुषामेतद्व्यतिरिक्त भोग्यसिद्धये च कर्मकुर्वतामंतवत्फलावाप्तिमस्य संकल्पत्वं चाभिधाय, "अथ य इमात्मादमनुविद्य ब्रजंत्येतांश्च सत्यान्कामांस्तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति" इत्यादिना दहराकाश शब्दनिर्दिष्टमात्मानं तदंतर्वर्त्तिनश्च काम्यभूतानपहतपाप्मत्वादिकान् गुणान्विजानताम् उदार गुणसागरस्य तस्य परमपुरुषस्य प्रसादादेव सर्वकामावाप्तिः सत्य-संकल्पता चोच्यते। तदेतत् वाक्यकारोऽपि स्पष्टयति "तदास्मिन्यदंतरिति कामव्यपदेश." इत्यादिना। अत एतेभ्यो हेतुभ्यो दहराकाश परमेव ब्रह्म।

यदि कहो कि–दहराकाश शब्द का तात्पर्य परब्रह्म तथा–"तस्मिन् यदंतः" इत्यादि में उसके गुणों को उपास्य कहा गया है, यह कैसे जाना ? तो ध्यान देकर सुनो–"जितना यह भूताकाश है, उतना ही हृदयस्थ आकाश है" इसमें दहराकाश की महत्ता बतलाकर–"द्यूलोक और भूलोक, अग्नि और वायु, सूर्य और चंद्र, विद्युत और नक्षत्र, ये सभी अभ्यंतर में हैं" इसमें अस्मिन् शब्द से दहराकाश को स्वभावतः संपूर्ण जगत का आधार बतलाकर–"जो कुछ भी यहाँ है, और जो नहीं है, वह सभी कुछ इस दहर में समाहित है" इसमें पुनः अस्मिन् शब्द से दहराकाश का उल्लेख करके उपासक के शरीर में जो भोग्य हैं, जो कि एकमात्र अभिलाषा के विषयीभूत हैं, वे सारे ही इस निरतिशय दहराकाश के निरतिशय भोग्य हैं, इत्यादि का प्रतिपादन करके देह के अवयव हृदय में होते हुए भी, देह के जराध्वंस आदि विकारों से रहित, परमकारण अतिसूक्ष्म दहराकाश की निर्विकारत्मता का प्रतिपादन करते हुए, उसी दहराकाश को "यही सत्यस्वरूप ब्रह्मपुर है" समस्त जगत के आधार स्वरूप ब्रह्मपुर बतलाया गया है। "इसी मे कामनायें समाहित है" इत्यादि में अस्मिन शब्दवाची दहराकाश के काम्यगुणों को काम शब्द से बतलाते हुए अंतवर्त्ती कहा गया है। उस दहराकाश के काम्यभूत कल्याण गुण विशिष्टों को "एष आत्माअपहतपाप्मा" से लेकर "सत्यसंकल्पः" तक बतलाकर "प्राणी इसी में अनुप्रविष्ट होते हैं" इत्यादि से "उनकी सभी लोकों में यथेच्छगति हो जाती है" इस अंतिम वाक्यतक यह बतलाया गया कि–आठ विशिष्ट गुणों से युक्त दहराकाश नामवाले आत्मा को न जानने से ही, जीव भोग्य पदार्थों की प्राप्ति के लिए कर्मासक्त रहता है, जिससे उसे ध्वंशशील संसार ही प्राप्त होता है, उसके विचार भी असत्य होते हैं। तथा–"जो इस आत्मा को जानकर सत्य संकल्प वाला होता है, उसकी सभी लोकों में अप्रतिहत गति होती है" इसमें निर्दिष्ट दहराकाश आत्मा और उसके अन्तरस्थ-काम्यभूत निष्पाप आदि गुणों के ज्ञाता की, उदारगुण सागर परमपुरुष की कृपा से, सभी कामनाओं की प्राप्ति और सत्यसंकल्पता होती है। उक्त विश्लेषण से ज्ञात होता है कि–दहराकाश परब्रह्म है, उसके अंदर स्थित निष्पापता आदि विशिष्ट गुणों सहित, उसका अनुसंधान करना चाहिए; उसे ही ज्ञातव्य बतलाया गया है। वाक्यकार ने भी ऐसा ही कहा है–"उसमें जो

विशिष्ट गुणों का निर्देश है, वह ज्ञातव्य है'' इत्यादि से सिद्ध होता है कि—दहराकाश परब्रह्म है।

गतिशब्दाभ्यां तथाहि दृष्टं लिंग च ।१।३।१४॥

इतश्च दहराकाशः परंब्रह्म "तद्यथा हिरण्य निधि निहितमक्षेत्रज्ञा उपर्युपरि संचरंतो न विन्देयुरेवमेवेमाः सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दत्यनृतेन हि प्रत्यूढाः" इति एतमिति प्रकृतं दहराकाशं निर्दिश्य तत्राहरहरसर्वेषां क्षेत्रज्ञानां गमनं, गंतव्यस्य तस्य दहराकाशस्य ब्रह्मलोकशब्द निर्देशश्च दहराकाशस्य परब्रह्मतां गमयतः।

इसलिए भी दहराकाश परब्रह्म है कि—"जैसे भूविद्या को न जानने वाले, भूमि के ऊपर-ऊपर ही घूमते रहते हैं, भूमिस्थ सुवर्णराशि को प्राप्त नहीं करते, वैसे ही सांसारिक प्रवाह में बहते हुए प्राणी, ब्रह्मलोक की प्राप्ति नहीं कर पाते, क्योंकि वे अज्ञान से आवृत हैं" इस वाक्य में "एतं" पद से उल्लेख्य ब्रह्मलोक को बतलाकर—समस्त प्रजाओं के नित्य गमन की बात कही गई, तथा दहराकाश शब्द से ब्रह्मलोक का उल्लेख किया गया, इन दोनों से दहराकाश की परब्रह्मता ज्ञात होती है।

कथमनयोरस्य परब्रह्मत्वसाधकत्वमित्यत आह—तथाहि दृष्टम् इति। परास्मिन् ब्रह्मणि सर्वेषां क्षेत्रज्ञानामहरहस्सुषुप्तिकाले गमनमन्यत्राभिधीयमानं दृष्ठम् "एवमेव खलु सोम्येमास्सर्वाः प्रजाः सति संपद्य न विदुः सति संपत्स्यामहे" इति। "सत आगम्य न विदुः सत आगच्छामह" इति च। तथा ब्रह्मलोक शब्दश्च परास्मिन् ब्रह्मणि दृष्टः 'एष ब्रह्मलोकः सम्राडिति होवाच" इति। माभूदन्यत्र ब्रह्मणि गमन दर्शनम्, एतदेव तु दहराकाशे सर्वेषा क्षेत्रज्ञानां प्रलयकाल एव निरस्तनिखिलदुःखानां सुषुप्तिकालेऽवस्थानं श्रूयमाणमस्य परब्रह्मत्वे पर्याप्तं लिगम्। तथा ब्रह्मलोक शब्दश्च समानाधिकरण वृत्याऽस्मिन्दहराकाशे प्रयुज्यमानोऽस्य ब्रह्मत्वे प्रयोगान्तर

निरपेक्षं पर्याप्तं लिंगामित्याह्–लिंग च इति। निषादस्थपति न्याया-च्च षष्ठी समासात् समानाधिकरण समासो न्याय्यः।

यदि कहो कि–ये दोनों ही दहराकाश की ब्रह्मात्मकता को सिद्ध करने वाले हैं, यह कैसे जाना? सो इनका ऐसा ही वर्णन मिलता है। सभी जीव, सुषुप्ति अवस्था में परब्रह्म में प्रविष्ट होते हैं, ऐसा भी वर्णन मिलता है– 'हे सौम्य! ठीक इसी प्रकार यह सारी प्रजा, नित्य, सद्ब्रह्म से संपन्न होकर, यह नहीं जान पाती कि–वह सद्ब्रह्म से संलग्न है तथा सद्ब्रह्म से लौटने पर भी यह नहीं जान पाती कि–सद्ब्रह्म के निकट से लौटे हैं" इस प्रकार ब्रह्मलोक शब्द परब्रह्म के लिए प्रयुक्त देखा जाता है।" उसने कहा हे सम्राट! यही ब्रह्मलोक है" इत्यादि ही ब्रह्म दर्शन संबंधी पर्याप्त प्रमाण हैं। प्रलय काल की तरह सुषुप्ति अवस्था में भी, दहराकाश में अवस्थान करने पर, जीवों के आत्यंतिक दुःख का अभाव हो जाता है, ऐसा श्रुतियों का वचन है। इसी से दहराकाश की ब्रह्मरूपता सिद्ध हो जाती है। समानाधिकरण्य भाव से, दहराकाश के लिए प्रयुक्त, ब्रह्मलोक शब्द भी, इसका पर्याप्त प्रमाण है कि–दहराकाश परब्रह्म है, सूत्र में "लिंग च" पद से यही बात कही गई है। उक्त प्रयोग में निषाद-स्थपति न्याय की तरह तत्पुरुष समास की अपेक्षा, कर्मधारय समास करना उचित होगा।

अथवा "अरहर्गच्छन्त्यः" इति न सुषुप्ति विषयंगमनमुच्यते, अपित्वन्तरात्मत्वेन सर्वदावर्त्तमानस्य दहराकाशस्य परमपुरुषार्थ-भूतस्य उपर्युपरि अहरहर्गच्छन्त्यः सर्वस्मिन् काले वर्त्तमानाः तम-जानन्तस्तं न विदंति–न लभंते। यथा–हिरण्य निधि निहितं तत्स्थानमजाजानास्तदुपरि सर्वदावर्त्तमाना अपि न लभंते, तद्व-दित्यर्थः।

अथवा "प्राणी नित्य नित्य जाता है" इत्यादि में सुषुप्ति विषयक गमन की बात न मानकर, यह भी कहा जा सकता है कि–अंतरात्मा के रूप से सदा वर्त्तमान, परमपुरुषार्थ रूप दहराकाश की, वाह्य चाकचिक्य में भ्रमित होने से, प्राप्ति नहीं कर पाते, न जान ही पाते हैं जैसे कि–

भूमि में गड़े हुए धन को, भूमि पर घूमते फिरते हुए भी न देख पाते हैं न जान पाते हैं, यह रहस्य भी वैसा ही है।

सेयमेवमंतरात्मत्वेन स्थितस्य दहराकाशस्योपरि तन्नियमतानां सर्वासां प्रजानामजानतीनां सर्वदा गतिस्य दहराकाशस्य परब्रह्मतां गमयति। तथाहि अन्यत्र परस्यब्रह्मणोऽन्तरात्मतयाऽवस्थितस्य स्वनियम्याभिस्स्वस्मिन् वर्त्तमानाभिः प्रजाभिरवेदनं दृष्टम्। यथा अंतर्यामिब्राह्मणे "य आत्मनितिष्ठन् आत्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद, यस्यात्मा शरीरं, य आत्मानमंतरौ यमयति" इति "अदृष्टो द्रष्टा अश्रुतश्श्रोता" इति च। मामूदन्यत्र दर्शनम्, स्वयमेवत्विदं निधिदृष्टान्तावगत परमपुरुषार्थं भावस्यास्य हृदयस्थस्योपरितदाधा-रतऽहरहस्सर्वदा सर्वासांप्रजानामजानातोना गतिस्य परब्रह्मत्वे पर्याप्तं लिंगम्।

अन्तरात्मा रूप से अवस्थित दहराकाश के ऊपर की जो स्थिति है वह भी, उसी के नियमन पर आधारित है, यही दहराकाश की पर-ब्रह्मता का प्रमाण है। अन्यान्य श्रुतिवाक्यों में भी, परब्रह्म की अन्तरात्मा रूप से स्थिति और नियामकता, तथा जीवात्मा की अल्पज्ञता का वर्णन किया गया है—जैसे कि—अन्तर्यामी ब्राह्मण में—"जो आत्मा में ही सदा स्थित है, पर आत्मा जिसे नहीं जानता, आत्मा ही उसका शरीर है, वह अन्दर बैठा ही आत्मा का संयमन करता है," वह अदृष्ट होकर भी द्रष्टा तथा अश्रुत होकर भी श्रोता है" इत्यादि। इससे अधिक अब और प्रमाणों की आवश्यकता नहीं है। निधि के दृष्टांत से जिसकी परपुरुषा-र्थता बतलाई गई, हृदयस्थ उस दहराकाश के ऊपर ही ऊपर सदा वर्त्तमान जीवात्माओं की, उसकी ओर होने वाली गति ही, दहराकाश की परब्रह्मता का पर्याप्त प्रमाण है।

इतश्च दहराकाशः परब्रह्म—दहराकाश इसलिए भी परब्रह्म है कि—

धृतेश्च महिम्नोऽस्यास्मिन्नुपलब्धेः ।१।३।१५॥

"अथ य आत्मा" इति प्रकृतं दहराकाशं निर्दिश्य "स सेतु-

विधृतिरेषां लोकानामसंभेदाय" इत्यस्मिज्जगद्विधरणं श्रूयमाणं दहराकाशस्य परब्रह्मतां गमयति। जगद् विधरणं हि परस्यब्रह्मणो महिमा "एष सर्वेश्वर एष सर्वभूताधिपतिरेष भूतपाल एष सेतुर्बिधरण एषां लोकानमसंभेदाय" इति "एतस्य वाऽक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः" इत्यादिभ्यः। स चायं तस्य परस्य ब्रह्मणो धृत्याख्यो महिमाऽस्मिन् दहराकाश उपलभ्यते; अतो दहराकाश परब्रह्म।

"जो आत्मा में" इत्यादि में दहराकाश के वास्तविक स्वरूप का वर्णन करके—"इस समस्त जगत के संभेद अर्थात् सांकर्म का निवारण करने वाला वह सेतु है" इत्यादि में जो जगद् धारकता बतलाई गई है, उससे दहराकाश की, परब्रह्मता ज्ञात होती है। परब्रह्म की महिमा की बतलाने वाली जगद्धारकता "यही सर्वेश्वर—भूताधियति-भूतपालक और जगत् की मर्यादा की रक्षा करने वाले सेतु हैं, "हे गार्गि ! इस अक्षर के प्रशासन में ही सूर्य और चंद्र स्थित रहते हैं" इत्यादि वाक्यों से भी ज्ञात होती है। जगद्धारकता रूप परब्रह्म की महिमा, दहराकाश में भी उपलब्ध है, इसलिए भी दहराकाश, परब्रह्म है।

प्रसिद्धेश्च ।१।३।१६॥

आकाशशब्दश्च परस्मिन् ब्रह्मणि प्रसिद्धः "को वा ह्येवाऽन्यात् कः प्राण्यात्, यदेष आकाश आनंदो न स्यात्"—"सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते" इत्यादिषु; अपहतपाप्मत्वादिगुण सनाथा प्रसिद्धिर्भूताकाश प्रसिद्धेर्बलीयसी इत्यभिप्रायः।

"यह आकाश यदि आनंद स्वरूप न होता तो, आनंद की चेष्टायें कौन कर सकता ?" सारे ही प्राणी आकाश से उत्पन्न होते है" इत्यादि वाक्यों में प्रयुक्त आकाश शब्द, परब्रह्म के लिए प्रसिद्ध है। निष्पापता आदि गुणों से युक्त जो प्रसिद्धि है, वही भूताकाश से, दहराकाश की श्रेष्ठता की द्योतिका है।

एवं तावद्दहराकाशस्य भूताकाशत्वं प्रतिक्षिप्तम्। अथेदानीं दहराकाशस्य प्रत्यगात्मत्वमाशंक्य, निराकर्त्तुमुपक्रमते।

अब तक दहराकाश की, भूताकाशता का निराकरण किया गया। अब आगे दहराकाश की जीवात्मकता की आशंका करके, उसका निराकरण करते हैं—

इतरपरामर्शात्स इति चेन्नासंभवात् ।१।३।१७॥

यदुक्तं वाक्य शेषवशाद् दहराकाशः परंब्रह्मेति, तदयुक्तम्; वाक्यशेषे परस्मादितरस्य जीवस्यैव साक्षात् परामर्शात् "अथ य एष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परंज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते एष आत्मेति होवाच एतदमृतमभयमेतद् ब्रह्म" इति। यद्यपि "दहरोऽस्मिन्नंतर आकाशः" इति हृदयपुंडरीक मध्यवर्त्तितयोपदिष्टस्याकाशस्योपमानोपमेयभावाद्यसंभवाद् भूताकाशत्वं न संभवति, तथापि वाक्यशेषवशात् प्रत्यगात्मत्वं युक्तमाश्रयितुम्। आकाशशब्दोऽपि प्रकाशादियोगाज्जीव एव वर्त्तिष्यत इति चेत्— अत्रोत्तरं नासम्भवात्—इति। नायं जीवः, न हि अपहतपाप्मत्वादयो गुणाः जीवे संभवंति।

जो यह कहा कि—अंतिमवाक्य से ज्ञात होता है कि—दहराकाश परब्रह्म है, सो कथन ठीक नहीं, उसमें तो परमात्मा से भिन्न जीवात्मा का ही स्पष्ट उल्लेख प्रतीत होता है—जैसे कि—"यह संप्रसाद इस शरीर से उठकर, परंज्योति को प्राप्त कर अपने वास्तविक रूप को प्राप्त करता है यही अमृत-अभय-और ब्रह्मस्वरूप है।" इत्यादि

यद्यपि—"दहर के अंदर का आकाश" इत्यादि में उल्लेख्य आकाश का वाह्याकाश के साथ उपमानोपमेय भाव संभव नहीं है, फिर भी हृदय पुंडरीक के मध्यवर्ती दहरकाश की भूताकाशता हो सकती है यह ठीक है, किंतु वाक्य शेष के अनुमार उसे जीवात्मा मानना उचित है। प्रकाशमयता आदि गुणों से संबद्ध होने से आकाश शब्द जीव वाची ही हो सकता है।

उक्त संशय के उत्तर में सूत्र में कहा गया "नासंभवात्" अर्थात् निष्पापता आदि गुण जीव में संभव नहीं है, इसलिए यह जीव नहीं है।

उत्तराच्चेदाविर्भूतस्वरूपस्तु ।१।३।१८॥

उत्तरात्—प्रजापति वाक्यात्, जीवस्यैवापहतपाप्मत्वादिगुण योगो निश्चीयत इति चेत्—एतदुक्तं भवति—प्रजापति वाक्यं जीव-परमेव, तथाहि—"य अपहतपाप्मा विजरोविमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्य संकल्पः सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः स सर्वांश्च लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामान्यस्तमात्मानमनुविद्य विजानाति "इति प्रजापतिवचनमैतिह्यरूपेणोपश्रुत्यान्वेष्टव्यात्म स्वरूपजिज्ञासया प्रजापतिमुपसेदुषे मघवते प्रजापतिर्जागरितस्वप्नसुषुप्त्यवस्थं जीवात्मानं स शरीरंक्रमेण सुश्रूषुयोग्यतापरीचिक्षिषयोपदिश्य तत्रतत्र भोग्यमपश्यते परिशुद्धात्मस्वरूपोपदेशयोग्याय तस्मै मघवते—"मघवन् मर्त्यं वा इदं शरीरमात्तं मृत्युना तदस्यामृतस्याशरीरस्यात्मनोऽधिष्ठानं" इति शरीरस्याधिष्ठानतामात्मनश्चाधिष्ठातृताम-शरीरस्य च तस्यामृतत्वस्वरूपतां चोक्त्वा "न ह वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरास्ति । अशरीरं वाव संतं न प्रियाप्रिये स्पृशतः" इति कर्मारब्धशरीर योगिनस्तदनुगुणसुखदुःख भागित्वरूपानर्थं तर्द्विमोक्षे च तदभावमभिधाय "एवमेवैष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परंज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते" इति जीवात्मनः स्वरूपमेव शरीर वियुक्तमुपदिदेश ।

बाद के प्रजापति वाक्य से, निष्पापता आदि गुण, जीव के ही निश्चित होते है, कथन यह है कि—प्रजापति वाक्य जीव पर कही है—जैसा कि—"जो निष्पाप, अजर, अमर, शोक तथा भूखा-प्यासा रहित सत्य संकल्प है, वह अन्वेष्टव्य और जिज्ञास्य है, जो उसे जान लेते है, समस्त कामनाओं और समस्त लोकों को प्राप्त कर लेते हैं" इस प्रजापति

वाक्य को ऐतिह्य (जनश्रुति) के रूप श्रवण करके इन्द्र, अन्वेषणीय आत्म स्वरूप की जिज्ञासा से प्रजापति के पास गए। प्रजापति ने जिज्ञासु की योग्यता की परीक्षा के लिए क्रमशः जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्थात्रय संपन्न सशरीर जीवात्मा का उपदेश देकर देखा कि, इन्द्र पर उपदिष्ट विषयों में भोग्य का कोई असर नहीं हुआ तब, विशुद्ध आत्मस्वरूप उपदेश योग्य इन्द्र से उन्होंने–"हे मघवन्! यह शरीर मर्त्य और मृत्यु ग्रस्त है, यही अशरीरी अमृत आत्मा का आश्रय स्थल है" इत्यादि से शरीर की अधिष्ठाज्ञता, आत्मा की अधिष्ठातृता तथा अशरीर आत्मा की अमृत स्वरूपता बतलाकर–"शरीरी रहते हुए दुःख सुख का अंत नहीं होता, सदा के लिए शरीर के समाप्त हो जाने पर सुख दुःख का स्पर्श नहीं होता।" इस श्रुति से पुण्यपापमय कर्मोत्पादित, शरीर धारी की व्यक्ति के कर्मानुसार सुख दुःख आदि भोगों के ज्ञापन के लिए, शरीर की समाप्ति पर, सुख दुःख का प्रभाव बतलाकर–"यह संप्रसाद इस शरीर से उठकर, परं ज्योतिरूपता को प्राप्त कर अपने स्वरूप को प्राप्त कर लेता है।" इत्यादि में शरीर विमुक्त जीवात्मा के स्वरूप का उपदेश दिया।

"स उत्तमः पुरुषः स तत्र पर्येति जक्षत् क्रीडन् रममाणः स्त्रीभिर्वा, यानैर्वा, ज्ञातिभिर्वा, नोपजनं स्मरन्निदं शरीरम्" इति प्राप्यस्य परस्य ज्योतिषः पुरुषोत्तमत्वम्, निवृत्तितिरोधानस्य परं ज्योतिरुपसंपन्नस्य प्रत्यगात्मनो ब्रह्मलोके यथेष्टभोगावाप्तिम् प्रियाप्रियाविमुक्तकर्मनिमित्तशरीराद्यपुरुषार्थाननुसंधानं चाभिधाय–"स यथा प्रयोग्य आचरणे युक्त एवमस्मिन् शरीरे प्राणो युक्तः" इति यथोक्त स्वरूपस्यैव संसारदशायां कर्मतंत्रम् शरीर योगं युग्यशकटयोगदृष्टांतेनाभिधाय-अथ यत्रैदाकाशमनुविषण्णं चक्षुः सः चक्षुषः पुरुषो दर्शनाय चक्षुरथ यो वेदेदं जिघ्राणीति स आत्मा गंधायघ्राणमथ यो वेदेदमभिव्याहराणीति स आत्माऽभिव्याहाराय वागथ वो वेदेदं शृण्वानीति स आत्मा श्रवणाय श्रोत्रम्, अथ यो

वेदेदं मन्वानीति स आत्मा मनोऽस्य दैवं चक्षुः" इति चक्षुरादिनां करणत्वं, रूपादीनां ज्ञेयत्वमस्य च ज्ञातृत्वं प्रदर्श्य तत एव शरीरेन्द्रियेभ्योऽस्य व्यतिरेकमुपपाद्य "स वा एष एतेन चक्षुषा मनसैतान् कामान् पश्यन्नमते य एते ब्रह्मलोके" इति तस्यैव विधूतकर्मनिमित्त शरीरेन्द्रियस्य मनः शब्दाभिहितेन दिव्येन स्वाभाविकेन ज्ञानेन सर्वकामानुभवमुक्त्वा "तं वा एतं देवा आत्मानमुपासते तस्मात्तेषां सर्वे च लोका आत्माः सर्वे च कामाः" इत्येवंविधमात्मानं ज्ञानिनो जानंतीत्यभिधाय "सर्वांश्चलोकान्नाप्नोनि सर्वांश्चकामान्यस्तमात्मानंमनुविद्य विजानातीति ह प्रजापतिरुवाच" इत्येवंविधमात्मानं विदुषः सर्वलोकसर्वकामावाप्त्युपलक्षितं ब्रह्मानुभवं फलमभिधायोपसंहृतम्। अतस्तत्रापहतपाप्मत्वादि गुणको ज्ञातव्यतया प्रक्रान्तो जीव एवेत्यवगतम्। अतो जीवस्यापहतपाप्मत्वादयः संभवंति। अतो दहरवाक्यशेषे श्रूयमाणस्य जीवस्यापहपाप्मत्वादिगुणसंभवात् स एव दहराकाश इति निश्चीयते इति चेत् इति।

वह उत्तम पुरुष, उस अवस्था में, हंसता, खेलता, स्त्रीयान, और ज्ञाति जनों के साथ रमण करता हुआ, मानव देह को भुलाकर विचरण करता है" इस वाक्य में प्राप्य, परंज्योतिषरूप पुरुषोत्तमत्व, तथा अविद्याकृत स्वरूप तिरोधान निवृत्ति के उपरांत, परंज्योतिसंपन्न जीवात्मा की, ब्रह्मलोक में यथेष्ट भोगरवाप्ति, एवं प्रिय अप्रिय संयोग सहकृत कर्म से समुत्पन्न शरीरादि का अपुरुषार्थत्व बतलाकर–' जैसे कि घोड़ा या बैल गाड़ी से जुता रहता है, वैसे ही यह प्राण इस शरीर में जुटा हुआ है" इस क्षुद्र शकट के दृष्टांत द्वारा, जीव की संसार दशा में कर्माधीन शरीर संबंध की पुष्टि करके–"जिसमें यह चक्षु द्वारा उपलक्षित आकाश अनुगत है वह चाक्षुष पुरुष है, उसके रूप गुण के लिए नेत्रेन्द्रिय है, गंध ग्रहण के लिए नासिका है। जो ऐसा समझता है कि मैं शब्द बोलूं वही आत्मा है उसके शब्दोच्चारण के लिए वागिन्द्रिय है, जो ऐसा जानता है कि मैं शब्द श्रवण करूँ वह भी आत्मा है, उसके श्रवण के लिए

श्रवणेन्द्रिय है। जो यह जानता है कि मैं मनन करूँ वह आत्मा है, मन उसका दिव्य नेत्र है।" इत्यादि में चक्षु आदि इन्द्रियों की करणता, रूप आदि विषयों की ज्ञेयता, तथा जीव की ज्ञातृता बतलाकर—शरीरादि से उसकी भिन्नता का प्रतिपादन किया गया है। "जो ये भोग इस ब्रह्मलोक में हैं उन्हे यह जीव मनोमय दिव्य चक्षु द्वारा देखता हुआ रमण करता है" इस श्रुति में कर्मजन्य शरीरेन्द्रिय संबंध परित्याग कर ही जीवात्मा स्वभावसिद्ध मानस ज्ञान के द्वारा, समस्त विषयों का अनुभव करता है, यह बतलाया गया है। "इस आत्मा की देवता उपासना करते हैं, इसी से उन्हें संपूर्ण लोक और समस्त भोग प्राप्त है" इत्यादि में, ज्ञानी लोग ऐसे आत्मा को जानते हैं, ऐसा प्रतिपादन करके—"वह संपूर्ण लोक और समस्त भोगों को प्राप्त करता है, जिसने कि ऐसे आत्मस्वरूप का अनुभव कर लिया है-प्रजापति ने ऐसा कहा" इस उपसंहारात्मक वाक्य में आत्माभिज्ञ व्यक्ति की, सर्वलोक और सर्वकाम विशेषित ब्रह्मानुभवात्मक फलावाप्ति होती है, यह निर्णय कर प्रकरण की पूर्त्ति की गई है। इससे निश्चित होता है कि--निष्पापता आदि जीव ही उक्त प्रकरण में ज्ञातृत्व बतलाया गया है, इस जीव में निष्पापता आदि गुणों की संभावना है दहर वाक्य के अंत में जीव के ही निष्पापता आदि गुण बतलाए गए हैं इसलिए वह जीव ही दहराकाश है। इत्यादि संशय उपस्थित किया।

सिद्धान्तः— तत्राह—"आविर्भूतस्वरूपस्तु" इति। पूर्वमनृततिरोहितापहतपाप्मत्वादिगुणस्वरूपः पश्चाद्विमुक्तकर्मबन्धः शरीरात् समुत्थितः परं ज्योतिरुपसंपन्न आविर्भूतस्वरूपः सन्नपहतपाप्मत्वादिगुण विशिष्ट स्तत्र प्रजापति वाये‌ऽभिधीयते, दहरवाक्येत्वतिरोहित स्वभावापहतपाप्मत्वादिविशिष्ट एव दहराकाशः प्रतीयते। आविर्भूतस्वरूपस्यापि जीवस्यासंभावनीयाः सेतुत्वसर्वलोक विधरणत्वादयः सत्यशब्द निर्वचनावगतं चेतनाचेतनयोर्नियंतृत्वं दहराकाशस्य परब्रह्मतां साधयंति। सेतुः सर्वलोकविधरणत्वादय आविर्भूत स्वरूपस्यापि न संभवंतीति—"जगद्व्यापारवर्ज्यम्" इत्यत्रोपपादयिष्यामः।

उक्त संशय पर समाधान रूप से सूत्रकार "आविर्भूतस्वरूपस्तु" पद प्रस्तुत करते हैं अर्थात् प्रजापति वाक्य में बतलाया गया है कि–जीवात्मा के जो अपहतपाप्मत्व आदि गुण हैं वे मिथ्या ज्ञान से आवृत रहते हैं, कर्म बन्धनों के विच्छेद के बाद, शरीर से छूटने पर–परं ज्योति· परमात्मा की प्रप्ति होने पर ही उसे अपना स्वाभाविक प्रकृत स्वरूप प्राप्त होता है, तभी वह अपहतपाप्मत्व आदि गुणों वाला होता है। दहर वाक्य में तो अतिरोहित, सदा एकरस अपहतपाप्मत्वादि गुण वाला दहर बतलाया गया है। आविर्भूत स्वरूप होते हुए भी जीवात्मा में, सेतुत्व, सर्वलोक विधारकत्व आदि विशेषताओं की संभावना नहीं है। सत्य शब्द के निर्वचन से ज्ञात जड़ चेतन के नियंत्रण की क्षमता, ही, दहराकाश की परब्रह्मता, निश्चित करती है। सेतुत्व, सर्वलोक विधारकत्व आदि विशेषतायें, आविर्भूत स्वरूप होने पर जीवात्मा में सभव नहीं हैं, यह हम "जगद्व्यापारवर्ज्यम्" सूत्र के प्रसंग में सिद्ध करेंगे।

यद्येवम्–दहर वाक्य "अत एष संप्रसादः" इत्यादिना जीव प्रस्ताव किमर्थः? इतिचेत् तत्राह—

यदि ऐसी ही बात है तो, दहर वाक्य में "अतएष संप्रसादः" इत्यादि से, जीव को प्रस्तुत करने का क्या तात्पर्य है? इस संशय पर कहते हैं।

अन्यार्थश्च परामर्शः ।१।३।१९॥

दहराकाशस्यैवापहपाप्मत्वादि जगद्विधरणत्वादिवन्मुक्तस्य तदुपसंपत्त्याऽपहपाप्मत्वादि कल्याणगुणविशिष्ट स्वाभाविकरूप प्राप्ति कथनेन तद्धेतुत्वरूपं परमपुरुषासाधारणं गुणमुपदेष्टुं प्रजापति वाक्योक्तस्य जीवस्यात्र परामर्शः। प्रजापति वाक्ये च मुक्तात्मस्वरूपयाथात्म्य विज्ञानं दहरविद्योपयोगितयोक्तम्, ब्रह्मप्रेप्सोर्हि जीवात्मनः स्वरूपं च ज्ञातव्यमेव स्वयमपि कल्याण गुण एव सन्ननवधिकातिशयासंख्येय कल्याणगुणगणं परं ब्रह्मानुभविष्यतीति ब्रह्मोपासनफलांतर्गतत्वात् स्वरूप याथात्म्य विज्ञानस्य। "सर्वांश्च

लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामान्" "स तत्र पर्येति जक्षत् क्रीडन्" इत्यादिकं प्रजापति वाक्ये कीर्त्यमानं फलमपि, दहरविद्याफलमेव।

दहराकाश में जैसे निष्पापता, जगद्विधारकता आदि विशेषतायें हैं, वैसे दहरोपासना द्वारा उक्त कल्याणमय गुण विशिष्ट स्वभाव सिद्ध स्वरूप मुक्त पुरुष मे भी, हो सकते है, इस बात को निर्णय करने के लिए तथा परम पुरुष के असाधारण गुण ही स्वरूप प्राप्ति के एक मात्र कारण है इस उपदेश के लिए, प्रजापति वाक्य में बतलाए गए जीवात्मा के स्वरूप को, इस दहर प्रकरण में प्रस्तुत किया गया है। प्रजापति वाक्य में, मुक्तात्म स्वरूप के याथात्म्य ज्ञान के लिए, दहर विद्या की उपयोगिता बतलाई गई है, ब्रह्म प्राप्ति के इच्छुक व्यक्तियों को जीवात्मा का प्रकृत स्वरूप भी अवश्य जानना चाहिए, क्यों कि—जीव स्वयं कल्याणमय गुणो से संपन्न होते हुए भी, निरवधि, निरतिशय कल्याणमय गुणों वाले परब्रह्म का अनुभव करता है। स्व स्वरूप का याथात्म्य ज्ञान भी ब्रह्मो-पासना के फलस्वरूप ही होता है। प्रजापति वाक्य मे जो यह कहा गया कि—"वह समस्त लोक और समस्त काम्यफलो को प्राप्त करता है" "हास्य और क्रीड़ा करते हुए विचरण करता है" यह सब भी दहर विद्या के फलस्वरूप ही होता है।

श्रुतेरितिचेत्तदुक्तम् ।१।३।२०॥

"दहरोऽस्मिन्" इत्यल्पपरिमाण श्रुतिराराग्रोपमितस्य जीवस्यै-वोपपद्यते, न तु सर्वस्माज्ज्यायसो ब्रह्मणः, इति चेत्-तत्रयुदुत्तरं वक्तव्यम्, तत्पूर्वमेवोक्तम्—"निचाय्यत्वादेवं" इत्यनेन। अतोदहरा-काशोऽनाघ्रीताविद्याद्यशेषदोषगंधः स्वाभाविकनिरतिशय ज्ञानवलै-श्वर्यवीर्यशक्ति तेजः प्रभृत्यपरिमितोदारगुणसागरः पुरुषोत्तमः एव। प्रजापति वाक्यनिर्दिष्टस्तु "घ्नंति त्वेवैनं विच्छादयंति" इत्येवमादि-भिरवगतकर्मनिमित्तदेह परिग्रहः पश्चात् परंज्योतिरुपसंपद्याविर्भूत अपहतपाप्मत्वादिगुण स्वरूप इति न दहराकाशः।

यदि कहो कि–दहराकाश की अल्पता के प्रतिपादक "दहरोऽस्मिन् इत्यादि वाक्य में, आरा के अग्रभाग के समान सूक्ष्म जीवात्मा का ही उपपादन किया गया है, सर्वश्रेष्ठ परमात्मा का नहीं ? इस विषय में हमें जो कुछ कहना था वह "निचाय्यत्वादेवम्" सूत्र में ही कह चुके हैं। अविद्या आदि समस्त दोषों से अनाघ्रात, स्वभावसिद्ध निरतिशय ज्ञान-बल-ऐश्वर्य वीर्य-शक्ति-तेज आदि अपरिमित उदार गुणों के सागर पुरुषोत्तम ही, दहराकाश हैं। "श्रुति त्वेवैनं" इत्यादि से ज्ञात होता है कि—जीवात्मा प्रायः प्राक्तनकर्मानुसार देहधारी रहता है, परंज्योति स्वरूप परब्रह्म को जानकर ही, अपहतपाप्मत्व आदि गुणों से संपन्न जैव स्वरूप से अभिव्यक्त होता है। इससे निश्चित होता है कि—प्रजापति वाक्य में जीव का ही निर्देश किया गया है, दहराकाश का नहीं।

इतश्चैतदेवम्– इससे भी यह बात स्पष्ट है कि—

अनुकृतेस्तस्य च ।१।३।२१॥

तस्य दहराकाशस्य परस्य ब्रह्मणः अनुकारात् अभयपहतपाप्मत्वादिगुणको विमुक्त बंधः प्रत्यगात्मा न दहराकाशः। तदनुकारः तत्साभ्यम् तथाहि प्रत्यगात्मनो विमुक्तस्य परब्रह्मानुकारः श्रूयते– "यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्त्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्, तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरंजनः परमं साम्यभुपैति" इति। अतोऽनुकर्त्ता प्रजापति वाक्य निर्दिष्टः अनुकार्यं ब्रह्म दहराकाशः।

जीव जब, परब्रह्म दहराकाश के समान अपहपाप्मत्वादि गुणों से संपन्न होकर बंधनविमुक्त होता है, तो दहराकाश नहीं कह सकते। तदनुकार का तात्पर्य होता है तत्समान। विमुक्त जीवात्मा की परब्रह्मानुकृति निम्नोक्त श्रुति में प्रसिद्ध है—'जब यह दृष्टा (जीव) सबके शासक, ब्रह्मा के भी आदि कारण, संपूर्ण जगत के रचयिता, दिव्य प्रकाश स्वरूप परंपुरुष का साक्षात्कार कर लेता है, उस समय पुण्यपाप से विमुक्त होकर निर्मल वह ज्ञानी महात्मा, सर्वोत्तम समता को प्राप्त कर लेता है" इससे निश्चित होता है कि–प्रजापति वाक्य में अनुकर्त्ता

जीव का ही उल्लेख है तथा दहराकाश प्रकरण में अनुकार्य ब्रह्म का उल्लेख है।

अपिस्मर्यते ।१।३।२२॥

संसारिणोऽपि मुक्तावस्थायां परमसाम्यापत्ति लक्षणः परब्रह्मानुकारः स्मर्यते "इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथंति च" इति।

संसारी जीवात्मा की भी मुक्तावस्था में परम साम्यावस्था रूप परब्रह्मानुकारिता, स्मृति में भी बतलाई गई है--"इस ज्ञान का आश्रय लेकर मेरे साधर्म्य को प्राप्त हुए पुरुष, न तो सृष्टिकाल में उत्पन्न होते हैं न प्रलयकाल में व्यथित होते हैं।"

केचित् "अनुकृतेस्तस्य च" अपिस्मर्यते "इतिसूत्रद्वयमधिकरणान्तरं" तमेव भांतमनुभाति सर्वं, तस्यभासा सर्वमिदं विभाति" इत्यस्याः श्रुतेः परब्रह्मपरत्व निर्णमाय प्रवृत्तं वदंति। तत्तु "अदृश्यत्वादि गुणको धर्मोक्तेः" द्युम्वाद्यायतनं स्वशब्दात्" इत्यधिकरण द्वयेन तस्य प्रकरणस्य परब्रह्मविषयत्व प्रतिपादनात्" ज्योतिश्चरणाभिधानात्" इत्यादिषु परस्य ब्रह्मणो भारूपत्वावगतेश्च पूर्वपक्षानुत्थानादयुक्तम्, सूत्राक्षर वैरूप्यं च।

कोई (श्री शंकर) "अनुकृते स्तस्य च" अपिस्मर्यते" इन दो सूत्रों, को, अन्य प्रकरण की "उसके प्रकाशित होने पर ही सब प्रकाशित होते हैं, उसी से यह सारा जगत प्रकाशित है" इत्यादि श्रुति के परब्रह्मत्व का' निर्णायक बतलाते हैं। यह बात कुछ जचती नहीं, क्योंकि-' अदृश्यत्वादि' द्युभ्वाद्यायतन "आदि दोनों अधिकरणों में परब्रह्म विषयक प्रतिपादन किया गया है। "ज्योतिश्चरणाभिधान" इत्यादि में भी परब्रह्म के भारूप की अवगति हो जाती है, इसलिए पुनः उसी विषय को यहाँ भी बैठाना, अयुक्त है तथा सूत्राक्षरों से विपरीत है।

६ प्रमिताधिकरण—

शब्दादेव प्रमितः ।१।३।२३।।

कठवल्लीषु श्रूयते—"अंगुष्ठमात्रो पुरुषः मध्य आत्मनि तिष्ठति, ईशानोभूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते ।" एतद्वैतत् "अंगुष्ठ मात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः, ईशानोभूतभव्यस्य स एवाद्य स उ श्वः" एतद्वैतत्—"अंगुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदाजनानां हृदये संन्निविष्टः तं स्वाच्छरीरात् प्रवृहेन् मुंजादिवैषीकां धैर्येण तं विद्याच्छुक्रममृतम्" इति । तत्रसंदिह्यते—किमयमंगुष्ठमात्र प्रमितः प्रत्यगात्मा, उतपरमात्मा इति किं युक्तम् ? प्रत्यगात्मेति, कुतः ? जीवस्यान्यत्रांगुष्ठमात्रत्वश्रुतेः "प्राणाधिपः संचरति स्वकर्मभिः, अंगुष्ठमात्रः रवितुल्यरूपः संकल्पाहंकार समन्वितो यः" इति । न चान्यत्रोपासनार्थतयाऽपि परमात्मनोऽगुंष्ठमात्रत्वं श्रूयते । एवं निश्चिते जीवत्वे ईशानत्वं शरीरेन्द्रियभोग्यभोगोपकरणापेक्षयाऽपि भविष्यति ।

कठवल्ली की श्रुति है कि—"अंगुष्ठ परिमाण वाला पुरुष आत्मा में अवस्थित है, वही भूत और भविष्य का शासक है, उन्हें जान लेने वह किसी की निन्दा नहीं करता—यही है वह—(जिसके लिए तुमने पूछा था) अंगुष्ठ मात्र परिमाण वाला पुरुष धूमरहित ज्योति के समान है, वही भूतभविष्य का शासक है, वही आज है और कल भी रहेगा—यही है वह—सबका अंतर्यामी अंगुष्ठमात्र परिमाण वाला पुरुष, सदैव प्राणियों के हृदय में स्थित है, उसे मूंज से सींक भाँति (जैसे कि सींक मूंज से भिन्न है) अपने शरीर से धीरतापूर्वक पृथक् करके देखे, उसी को अमृत स्वरूप समझे ।"

अब संशय होता है कि—यह अंगुष्ठ परिमाण वाला प्रमित, जीवात्मा है परमात्मा ? कह सकते हैं कि जीवात्मा । क्योंकि—अन्य श्रुतियों में जीव को अंगुष्ठ परिमाण वाला कहा गया है—जैसे कि—"प्राणों का

अधिपति अपने कर्मों से प्रेरित होकर अनेक योनियों में विचरता हुआ, जो कि अंगुष्ठ मात्र परिमाण वाला है, वह सूर्य के समान प्रकाशस्वरूप, सकल्प और अहंकार से युक्त है।" किसी भी श्रुति में उपासना के लिए, परमात्मा के अंगुष्ठ परिमाण का वर्णन भी नही मिलता। इस प्रकार प्रमित की जीवता निश्चित हो जाने पर–शरीर-इन्द्रिय भोग्य और भोगोपकरण इत्यादि में जीव की शासकता भी निश्चित हो सकती है।

सिद्धान्तः—इति प्राप्ते ब्रूमः—शब्दादेव प्रमितः—अंगुष्ठ प्रमितः परमात्मा, कुत. ? "ईशानो भव्यस्य" इति शब्दादेव। न च भूत भव्यस्य सर्वस्येशितृत्वं कर्मपरवशस्य जीवस्योपपद्यते।

उक्त संशय पर सिद्धात रूप से "शब्दादेवप्रमित" सूत्र प्रस्तुत किया गया, जिसका तात्पर्य है कि-अंगुष्ट प्रमित परमात्मा है "ईशानो-भूतभव्यस्य" शब्द से ही उसकी परमात्मकता सिद्ध होती है। कर्म परवश जीवात्मा में भूत भविष्य आदि समस्त की शासकता संभव नही है।

कथं तर्हि परमात्मनोऽगुंष्ठमात्रत्वमित्यत्राह—

परमात्मा की अंगुष्ठ मात्रता कैसे संभव है ? इस पर कहते हैं—

हृद्यपेक्षया तु मनुष्याधिकारत्वात् ।१।३।२४॥

परमात्मन उपासनार्थभुपासक हृदये वर्त्तमानत्वादुपासक हृदय-स्यांगुष्ठ प्रमाणत्वात्तदपेक्षयेदमंगुष्ठ प्रमितत्वमुपपद्यते। जीवस्यापि अंगुष्ठ प्रमितत्वं हृदयांतर्वर्तित्वात्तदपेक्षमेव, तस्याराग्रमात्रत्वश्रुतेः। मनुष्याणामेवोपासकत्व संभावनया, शास्त्रस्यमनुष्याधिकारत्वात् मनुष्य हृदयस्य च तत्तदंगुष्ठ प्रमितत्वात्खरतुरगभुजगादीनामनंगुष्ठ प्रमितत्वेऽपि न कश्चिद्दोषः स्थितं तावदुत्तरत्र समापयिष्यते।

मनुष्य का हृदय अंगुष्ठ परिमाण का है, उसमें परमात्मा की उपासना की जाय, इसलिए आयतन के अनुरूप, परमात्मा के अंगुष्ठ परिमाण का वर्णन किया गया है। जीवात्मा के लिए भी जो अंगुष्ठ

परिमाण का वर्णन मिलता है, वह भी हृदय के परिमाणानुसार ही है, अन्यथा श्रुतियों में तो जीव को आरा के अग्रभाग के समान अतिसूक्ष्म बतलाया गया है। उपासना मनुष्यों से ही संभव हो सकती है, शास्त्र का अधिकार भी मनुष्य का ही बतलाया गया है। मनुष्य का हृदय अपने अपने अंगुष्ठ परिमाण का होता है। गर्दभ घोड़ा सर्प इत्यादि का तो अंगुष्ठ परिमाण का प्रश्न ही नहीं उठता; जीव के अंगुष्ठ परिमाण पर किसी प्रकार की शंका का अवकाश भी नहीं है। इस विषय को अग्रिम अधिकरण में समाप्त करेंगे।

७ देवताधिकरणः—

तदुपर्यपि बादरायणः संभवात् ।१।३।२५॥

परस्य ब्रह्मणोंऽगुष्ठप्रमितत्वोपपत्तये मनुष्याधिकारं ब्रह्मोपासनशास्त्रमित्युक्तम् । तत्प्रसंगेनेदानीं ब्रह्मविद्यायां देवादीनामप्यधिकारोऽस्ति नास्तीति विचार्यते । किं तावद्युक्तम् ? नास्ति देवादीनामधिकार इति, कुतः ? सामर्थ्याभावात्—न हि अशरीराणां देवादीनां विवेकविमोकादि साधनसप्तकानुग्रहीत ब्रह्मोपासनोपसंहारसामर्थ्यमस्ति । न च देवादीनां सशरीत्वे प्रमाणमुपलभामहे । यद्यपि परिनिष्पन्नेऽपि वस्तुनि व्युत्पत्ति संभावनया वेदांतवाक्यानि परे ब्रह्मणि प्रमाणभावमनुभवंति, तथापि देवादीनां विग्रहवत्त्व प्रतिपादन परं न किंचिदपि वाक्यमुपलभ्यते । मंत्रार्थवादास्तु कर्मविधिशेषतयाऽन्यपरत्वान्न देवादि विग्रह साधने प्रभवंति । कर्मविधयश्च स्वापेक्षतोद्देश्यकारकत्वातिरेकि देवतागतं किमपि न साधयंति । अतएव तासामर्थित्वमपि न संभवति । अतः सामर्थ्यार्थित्वयोरभावाद्देवादीनां अनधिकारः—इति ।

परब्रह्म के अंगुष्ठमात्र परिमाण के प्रतिपादन का एकमात्र अभिप्राय है कि—मनुष्यमात्र का ही ब्रह्मोपासना का अधिकार है, इसीलिए शास्त्रों में उन्हें ही अधिकारी माना गया है। इसी प्रसंग में विचार

उपस्थित होता है कि–ब्रह्मविद्या (उपासना) में देवता आदि का भी अधिकार है या नहीं ? कह सकते हैं कि नहीं है, क्योंकि देवतादि में सामर्थ्य नहीं है, अशरीरी देवता आदि में विवेक-विमोक आदि सप्त प्रकार की साधनाओं की सहायता से ब्रह्मविद्या को ग्रहण करने का सामर्थ्य ही नहीं है। उन लोगों के शरीरी होने का कोई प्रमाण भी नहीं मिलता। यद्यपि शब्द द्वारा स्वतः सिद्ध (क्रिया संबंध रहित) वस्तु में व्युत्पादन की सभावना से वेदांत वाक्यों को परब्रह्म के संबंध में प्रमाण माना जा सकता है, फिर भी देवताओं के शरीरी होने के प्रमाण कहीं भी नहीं मिलते। मंत्र और अर्थवाद वाक्य भी, जो कि–कर्म विधि के अंगरूप से वर्णित हैं, अन्यार्थ बोधक हैं। देवताओं के शरीर अस्तित्व को प्रमाणित करने में वे भी असमर्थ हैं। कर्मविधि समूहक वाक्य भी, देवताओं के संबंध में, कर्मापेक्षित उद्देश्य के प्रतिपादन के अतिरिक्त कुछ और प्रमाणित नहीं कर पाते। इसलिए उनका अर्थित्व भी संभव नहीं है। सामर्थ्य और अर्थित्व के अभाव होने से, देवादिकों का, ब्रह्मविद्या में अनाधिकार सिद्ध होता है।

सिद्धान्तः—एवं प्राप्ते प्रचक्ष्महे–"तदुपर्यपि बादरायणः संभवात्"–तदुपरि अपि, तद् ब्रह्मोपासनं उपरि–देवादिष्वपि, संभवतीति बादरायणे। मन्यते। तेषामर्थित्व सामर्थ्ययोः संभवात्। अर्थित्वंतावद् आध्यात्मिकादिदुर्विषहदुःखाभितापात् परस्मिन् ब्रह्मणि च निरस्तनिखिल दोषगंधेऽनवधिकातिशयासंख्येय कल्याणगुणगणे निरतिशय भोग्यत्वादिज्ञानाच्च संभवति। सामर्थ्यमपि पटुतरदेहेन्द्रियादिमत्तया संभवति। देहेन्द्रियादिमत्वं च ब्रह्मादीनां सकलोपनिषत्सु सृष्टि प्रकरणेषु उपासनप्रकरणेषु च श्रूयते। तथाहि–"सदेव सोम्येदमग्र आसीत् तदैक्षत् बहुस्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत्" इत्यारभ्य–सर्वमचेतनं तेजोवन्नप्रमुखावस्याविशेषवद् व्याकृत्य–"अनेन जीवेनाऽत्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि" इति संकल्प्य ब्रह्मादिस्थावरान्तं चतुर्विधंभूतजातं तत्तत्कर्मोचित्

शरीरं तदुचित नामभाक्चायमकरोदित्युक्तम्। एवं सर्वत्र सृष्टि वाक्येषु देवतिर्यङ्मनुष्यस्थावरात्मना चतुर्विधा सृष्टिराम्नायते।

उक्त संशय पर सिद्धान्तरूप से उक्त "तदुपर्यपि" आदि सूत्र प्रस्तुत किया जाता है, अर्थात् ब्रह्मोपासना, देवताओं में भी हो सकती है, ऐसा बादरायण का मत है। देवता आदि में अर्थित्व और सामर्थ्य है। दुःसह अध्यात्मिकादि दुःखों से तप्त होने से तथा समस्त दोषों से रहित, निरवधि, निरतिशय, असंख्य कल्याणमय, गुणों से युक्त परब्रह्म में भी निरतिशय भोग सद्भाव का ज्ञान होने से अर्थित्व, और कार्यक्षम उत्कृष्ट देह इन्द्रियादि की विद्यमानता से, उनमें सामर्थ्य भी है। सभी उपनिषदों में सृष्टि और उपासना के प्रकरणों में, ब्रह्मा आदि देवताओं की, देह इन्द्रिय आदि की सत्ता बतलाई गई है। "हे सौम्य! सृष्टि के पूर्व यह सारा जगत सद् ही था, उसने संकल्प किया अनेक हो जाऊँ उसने तेज की सृष्टि की" इत्यादि से प्रारंभ करके—अव्यक्त तेज आदि समस्त अचेतनों की विशेष अवस्थाओं का विवेचन करके- 'इनमें जीवात्मरूप से प्रविष्ट होकर नामरूप की अभिव्यक्ति करूँगा' ऐसा संकल्प के उस परमात्मा ने ब्रह्मा से लेकर स्थावर तक चतुर्विध भूतवर्ग के विशेष कर्मानुसार उनके शरीर और नामरूप को विभक्त किया; ऐसा बतलाया गया है। इसी प्रकार सभी सृष्टि वाक्यों में, देवता पशुपक्षी-मनुष्य-स्थावर आदि चर्तुर्विध प्राणियो की सृष्टि का वर्णन किया गया है।

देवादि भेदश्च तत्तत्कर्मानुगुणब्रह्मलोक प्रभृति चतुर्दशलोकस्थ फलभोगयोग्य देहेन्द्रियादियोगायत्तः आत्मनां स्वतो देवादित्वाभावात्। तथा—"तद्धोभये देवासुरा अनुबुबुधिरेते होचुः—इन्द्रो ह वै देवानामभिप्रवव्राज विरोचनोऽसुराणां तौ हासंविदानावेव समित्पाणी प्रजापति सकाशमाजग्मतुः"—"तौ ह द्वात्रिंशत वर्षाणि ब्रह्मचर्यमूषतुः तौ ह प्रजापतिरुवाच"—इत्यादिना स्पष्टमेव शरीरेन्द्रियवत्वं देवादीनां प्रतीयते।

स्वरूपतः किसी आत्मा का देवादिभाव नही रहता; देवादिभाव तो केवल, ब्रह्मलोक आदि चौदह लोकों के विशेष कर्मानुयायी फलभोग

के योग्य देह इन्द्रिय आदि के संबंध निबंधन से ही, कल्पित होता है। जैसा कि वर्णन मिलता है—"देवता और असुर दोनों ने ही, परंपरा से जान लिया उन्होंने कहा—देवों के राजा इन्द्र तथा असुरों के राजा विरोचन, दोनों आपस में स्पर्धा करते हुए, हाथों में समिधायें लेकर, प्रजापति के पास पहुँचे, उन्होंने बत्तीस साल तक ब्रह्मचर्य का पालन किया, तब उनसे प्रजापति ने कहा—"इत्यादि से, देवताओं के देह इन्द्रिय आदि की, स्पष्ट प्रतीत हो रही है।

कर्मविधिविशेषभूत मंत्रार्थवादेष्वपि "वज्रहस्तः पुरंदरः" "तेनेन्द्रो वज्रभुदयच्छत्" इत्यादिभिर्प्रतीयमानं विग्रहादिमत्वं प्रमाणांतराविरुद्धं तत्प्रमेयमेव। नचानुष्ठेयार्थप्रकाशनस्तुतिपरत्वाभ्यां प्रतीयमानार्थान्तरा विवक्षा शक्यते वक्तुम्। स्तुत्याद्युपयोगित्वात्तेन विना स्तुत्याद्यनुपपत्तेश्च। गुणकथनेन हि स्तुतित्वम्। गुणानामसद्भावे स्तुत्वमेव हीयते। न चासतागुणेन कथितेन प्ररोचना जायते। अतः कर्म प्ररोचयंतो गुणसद्भावं बोधयंत एवार्थवादाः।

कर्मविधि के विशेष अंग मंत्र और अर्थवाद के—"वज्रहस्त पुरंदर" इन्द्र ने वज्र उठाया" इत्यादि वाक्यों से भी देह के अस्तित्व की प्रतीति होतीहै। यह वर्णन प्रमाणान्तरों के विरुद्ध भी नहीं है, इसलिए प्रामाणिक ही है। मंत्र और अर्थवाद वाक्य, कर्मानुष्ठान और स्तुतिपरक ही हैं—ऐसा नहीं कहा जा सकता, अन्यार्थ भी, स्तुतिवाद के उपयोगी ही होते हैं; उक्त वाक्यों की अर्थान्तर विविक्षा न मानने से, स्तुतिवाद उपपन्न ही नहीं हो सकता। गुणकथन को ही तो स्तुति कहते हैं, यदि गुणों का ही असद्भाव हो जायेगा तो, स्तुतित्व भी नष्ट हो जायेगा असद्गुणों के कथन से तो लोगों की प्रवृत्ति उद्दीप्त हो नहीं सकती। कर्म के विषय में रोचक अर्थवाद ही; वर्णनीय गुणों के, सद्भाव के द्योतक होते हैं।

मन्त्राश्च कर्मसु विनियुक्तास्तत्रतत्र किंचित्करत्वायानुष्ठेयमर्थं प्रकाशयंतो देवतादिगतविग्रहादिगुणविशेषमभिदधत एव तत्र किंचित्

कुर्वन्ति, अन्यथा इन्दादि स्मृत्यनुपपत्तेः। न च निर्विशेषा देवता धियमधिरोहति । तत्र प्रमाणान्तराप्राप्तान्गुणान् स्वयमेव बोधयित्वा तैः कर्म प्ररोचयंति। गुण विशिष्ट वा प्रकाशयंति, प्राप्तांश्चानूद्य तैः प्ररोचन प्रकाशने कुर्वन्ति, विरुद्धत्वे तु तद्वाचिभिः शब्दैरविरुद्धान् गुणान् लक्षयित्वा कुर्वन्ति। कर्मविधेश्च देवताया ऐश्वर्यमपेक्षितमेव । कामिनः कर्त्तव्यतया कर्मविधीयमानं स्वयं क्षण प्रध्वंसि कालांतरभाविनः फलस्य स्वर्गादिः साधकमपेक्षते।

मंत्र समूह भी, कर्म के विनियुक्त विशेष विशेष विषयों में, कुछ न कुछ उपकार साधन के लिए ही, कर्मानुष्ठेय अर्थ का प्रतिपादन करते हैं। मंत्र समूह देवादिकों के शरीरादि गुणविशेषों का प्रतिपादन करके ही, उपकारी होते हैं अन्यथा कार्यकाल में इन्द्रादि का स्मरण ही नहीं हो सकता। निर्विशेष (शरीरादि विशेषभाव रहित) केवल शब्दमय देवता, कभी बुद्धयारूढ़ (स्मृत) नहीं हो सकते। अन्य प्रमाणों जो गुणवर्णन पाया जाता है, वह स्वयं उद्बोधक या रुचिवर्द्धक होता है अथवा गुणविशिष्ट कर्मविशेष का प्रतिपादक होता है। जो गुण प्रमाणांतरों में मिलते हैं, वे सब अनुवाद या पुनरुल्लेख मात्र हैं, जो कि साधकों में, उत्कट श्रद्धा और कर्म स्वरूप का प्रकाशन करते हैं। (प्रमाणान्तरों के साथ) विरुद्धता उपस्थित होने पर गुणवाचक शब्दों से अविरुद्ध गुण समूहों को, लक्षित करके प्रतिपादन किया गया है। देवताओं का ऐश्वर्य या विभूति भी, कर्म सापेक्ष होते हैं। सकाम साधकों द्वारा, कर्त्तव्यरूप से विधीयमान कर्म, स्वयं क्षणभंगुर होते हैं, वे कालांतर में स्वर्गादिफल के रूप में, साधक की साधना के अनुसार प्रतिफलित होते हैं।

मंत्रार्थवादयोश्च—"वायुर्वैक्षेपिष्ठा देवता वायुमेव स्वेन भागधेयेनोपधावति स एवैनं भूतिं गमयति"—"यदनेनहविषाऽशास्ते तदश्यात्तदृध्यात्तदस्मै देवाराधन्ताम्" इत्यादिषु देवताया कर्मणाऽराधितायाः फलदायित्वं तदनुगुणं चैश्वर्यं प्रतीयमानमपेक्षतत्वेन वाक्यार्थे समन्वीयते।

"वायु वेगवान देवता हैं; उपासक अपने भाग्यबल से ही वायु के अभिमुख भागपाता है वायु उपासक को ऐश्वर्य प्रदान करते है" "यजमान हवि द्वारा जो पाने की इच्छा करता है वह उसे मिले, उसकी वृद्धि हो, देवगण उसे उससे संपन्न करें" इत्यादि मंत्र और अर्थवाद वाक्यो मे जो प्रतीयमान, कर्माराधित देवताओं का फलदातृत्व एवं फलदान के उपयुक्त जो ऐश्वर्य संबंध है वह अपेक्षणीय या आवश्यकीय मान कर ही वाक्यार्थ के साथ, संबद्ध हो सकता है।

देवपूजाविधायिनो यजिधातोश्च यागाख्यंकर्म स्वाराध्य देवता प्रधानं प्रतीयते। तदेवं कृत्स्नवाक्य पर्यालोचनया वाक्यादेव विध्यपेक्षितं सर्वमवगतमिति नापूर्वादिकं व्युत्पत्ति समयानवगतं कर्मविधिष्वभिधेयतया कल्प्यतया वाऽश्रयितव्यम्। तथा संकीर्ण ब्राह्मणमंत्रार्थवादमूलेषु धर्मशास्त्र इतिहास पुराणेषु ब्रह्मादीनां देवासुर प्रभृतीनांच देहेन्द्रियादयः स्वाभावभेदाः स्थानानि भोगा. कृत्यानिचेत्येवमादयः सुव्यक्ताः प्रतिपाद्यंते अतो विग्रहादिमत्वाद्देवानामप्यधिकारोऽस्त्येव।

"यज्" धातु का अर्थ है देवता की पूजा, देवपूजावाचक "यज्" धातु का कर्मभूत याग भी, आराध्य देवता की प्रधानता की प्रतीति कराता है। इस प्रकार संपूर्णवाक्य की पर्यालोचना करने पर ज्ञात होता है कि—विधिवाक्य से जो जो अपेक्षित है, श्रुति वाक्य भी उसी की अवगति कराते हैं। शब्द व्युत्पत्ति के नियमानुसार अवगति नहीं हो सकती, अपूर्व या अदृष्ट आदि किसी भी कर्मविधि से, वाक्यार्थरूप या कल्पनीय रूप से भी आश्रय नही किया जा सकता। सभी ब्राह्मण मत्रों, अर्थवाद मूलक धर्मशास्त्र इतिहास पुराण आदि मे, ब्रह्मा आदि देवताओं और असुरों के देह इन्द्रिय आदि के प्रभेद, स्वभावभेद, विशेष विशेष स्थान, भोग और कर्त्तव्य, आदि का सुस्पष्ट प्रतिपादन किया गया है। इस प्रकार विग्रह आदि के अस्तित्व से, ब्रह्मविद्या मे देवताओं का भी अधिकार निश्चित होता है।

विरोधः कर्मणीति चेन्नानेक प्रतिपत्तेर्दर्शनात् ।१।३।२६।।

देवादीनां विग्रहादिमत्वाऽभ्युपगमे कर्मणि विरोधः प्रसज्यते बहुषु यागेषु युगपदेकस्येन्द्रस्य विग्रहवत्वे "अग्निमग्नि आवह" "इन्द्रागच्छ हरिव आगच्छ" इत्यादिना आहूतस्य तस्य सन्निधानापपत्तेः दर्शयति चाग्न्यादीनां तत्रतत्रागमनं "कस्यवाह देवा यज्ञमागच्छंति कस्य वा न बहूनां यजमानानां यो वै देवताः पूर्वं परिग्रहणाति स एनाश्श्वोभूते यजते" इति । अतो विग्रहादिमत्वे कर्मणि विरोधः प्रसज्यत इति चेत्, तन्न-अनेक प्रतिपत्तेर्दर्शनात्-दृश्यते हि सौभरि प्रभृतीनां शक्तिमतां युगपदनेक शरीर प्रतिपत्तिः ।

(शंका) यदि कहें कि---देवादिकों के देहादि के अस्तित्व स्वीकारने में विद्या में भले ही अधिकार हो जाए पर कर्म में तो विरोध उपस्थित हो जायेगा । शरीरधारी एक इन्द्र, एक समय में विभिन्नकाल में होने वाले यज्ञों में "अग्निमग्नि आवह" "इन्द्रागच्छ हरिव आगच्छ" इत्यादि मंत्रों से आवाहन करने पर, एक साथ कैसे उपस्थित सकेंगे ?" कस्यवाह देवा यज्ञमार्गच्छंति" इत्यादि से, अग्नि आदि की उपस्थिति प्रमाणित है। इत्यादि---

(समाधान) आपका उक्त कथन, युक्तियुक्त नहीं है---योग शक्ति संपन्न सौभरि आदि मुनियों का, एक समय में ही, अनेक शरीर धारण कर, अनेक कार्य करने का उल्लेख मिलता है। इसलिए इन्द्रादि देवताओं में भी ऐसा संभव है।

शब्द इति चेन्नातः प्रभवात् प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् ।१।३।२७।।

विरोध इति वर्त्तते । मा भूत्कर्मणि विरोधोऽनेक शरीरप्रतिपत्तेः । शब्दे तु वैदिके विरोधः प्रसज्यते, अनित्यार्थ संयोगात्। विग्रहवत्वे हि सावयवत्वेनेन्द्रादेरर्थस्यानित्यत्वमनिवार्यम् । अतो देवदत्तादिशब्दवदिन्द्राद्यर्थजन्मनः प्राग् विनाशादूर्ध्वं चेन्द्रादिशब्दानां

वैदिकानामर्थशून्यत्वमनित्यत्वं वा वेदस्य स्यादिति चेत्—तन्न-अतः प्रभवात्-अस्मादिन्द्रादिशब्दादेव पुनः पुनरिन्द्राद्यर्थस्य प्रभवात्। एतदुक्तं भवति—यदि देवदत्तादिशब्दवदिन्द्रादि शब्दा वैदिका व्यक्ति विशेष मात्रे संकेत पूर्वकाः प्रवृत्ताः, अपितु स्वभावत एव गवादि शब्दवत् आकृति विशेष वाचित्वेन, ततश्चैकस्यामिन्द्र व्यक्तौ विनष्टायामत एव वैदिकादिन्द्रशब्दान्मनसि विपरिवर्त्तमानादवगततद्वाच्य भूतेन्द्राद्यर्थाकारो धाता तदाकारमेवापरमिन्द्रं सृजति, यथा कुलालो घटशब्दान्मनसि विपरिवर्त्तमानात्तदाकारमेव घटम् इति।

(संशय) ठीक है, कर्म में विरोध भले ही न हो पर वैदिक शब्दों में तो विरोध होने की सभावना है, क्योंकि—जब देवताओं का शरीर मानेगे तो, उनका उपचय-अपचय-विनाश आदि भी मानना ही पड़ेगा। शरीर मानने पर उनके अवयव भी मानेगे ही, अवयव नित्य होते नहीं, इसलिए इन्द्रादि की अनित्यता भी माननी पड़ेगी। देवदत्त आदि शब्दों की तरह, वैदिक इन्द्रादि शब्दो को भी अनित्य मानना होगा। इन्द्र की उत्पत्ति के पूर्व और विनाश के बाद, फिर—वेदों में वर्णित इन्द्र का अस्तित्व ही क्या रह जायगा? इन्द्र के अस्तित्व के सशयित हो जाने पर वेदों का अस्तित्व और नित्यता भी संशयित हो जावेगा। इत्यादि

(समाधान) उक्त सशय असगत है; इन्द्र आदि शब्द वेद में नित्य ही है, इन्द्र आदि का भले ही पुनः पुनः उद्‌भव अनुद्‌भव होता रहे, पर इन्द्र आदि शब्द, देवदत्त आदि शब्द की तरह, व्यक्ति विशेष के बोधक नही हैं, अपितु गो आदि शब्द की तरह आकृति विशेष के वाचक है। एक इन्द्र के विनष्ट हो जाने पर भी, वैदिक आकृति विशेष इन्द्र शब्द का मानसिक चिन्तन करके, विधाता, उसी आकार प्रकार के इन्द्र का सर्जन कर देते हैं, जैसे कि—कुम्हार, घट शब्द संपन्न आकार विशेष का चिन्तन, विनष्ट घर के समान अन्य घट का निर्माण कर देता है।

कथमिदवमगम्यते? प्रत्यक्षानुमानभ्यां—श्रुतिस्मृतिभ्यामित्यर्थं श्रुतिस्तावद्—"वेदेन रूपे व्याकरोत् सतासतो प्रजापतिः" इति।

तथा—"स भूरिति व्याहरत् स भूमिमसृजत्, स भुव इति व्याहरत् सोऽन्तरिक्षमसृजत्" इत्यादि। वाचक शब्द पूर्वकं तत्तदर्थं संस्थानं स्मरन् तत्तदर्थं संस्थान विशिष्टं तंतमर्थं सृष्टवानित्यर्थः।

स्मृतिरपि—"अनादिनिधना ह्येषा वागुत्सृष्टा स्वयंभुवा आदौ वेदमयी दिव्या यतस्सर्वाः प्रसूतयः" इति। "सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्, वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे"। संस्था संस्थानानि रूपाणीति यावत्। तथा "नामरूपं च भूतानां कृत्यानां च प्रपंचनम्, वेदशब्देभ्य एवादौ देवादीनां चकार सः" इति अतो देवादीनां विग्रहवत्वेऽपि वैदिक शब्दानामानर्थक्यं, वेदस्यादिमत्वं न प्रसज्यते।

यदि पूछें कि—तुम कैसे जान सके ? प्रत्यक्ष से या अनुमान से श्रुति या स्मृति से ? तो भाई श्रुति ही का वचन है "प्रजापति ने वेद से, सत् और असत् इन दो रूपों को प्रकट किया" तथा "उन्होंने भू शब्द से भूमि की, भवः शब्द से अंतरिक्ष की, सृष्टि की" इत्यादि से ज्ञात हुआ कि—पदार्थ वाचक शब्दों का स्मरण करते हुए विशेष, विशेष पदार्थों के संस्थान आकृति विशेष का स्मरण करके, उन-उन आकृति विशेषों की सृष्टि की।

स्मृति में भी इसी प्रकार—"स्वयम्भू ने सर्व प्रथम अनादि निधन वेदमय, दिव्य वाक्य प्रकाश किया, जिससे कि सारी सृष्टि होती है"—उस आदि पुरुष ने सर्वप्रथम वैदिक शब्दों से ही पृथक्-पृथक् नाम-कर्म एवं विभिन्न प्रकार के संस्थानों का निर्माण किया"—"उन्होंने, देव आदि समस्त भूतों के नाम रूप एव विविध कर्त्तव्य विषयों की वैदिक शब्दों से ही सृष्टि की" इत्यादि प्रमाणों से स्पष्ट है कि—देव आदि के शरीरी होते हुए भी, वैदिक शब्दों की नित्यता में कोई अंतर नहीं आता।

अतएव च नित्यत्वम् ।१।३।२८॥

यत एवेन्द्र वशिष्ठादिशब्दानां देवर्षिवाचिनां तत्तदाकारवाचित्वं, तत्तच्छब्देन तत्तदर्थस्मृतिपूर्विका च तत्तदर्थसृष्टिः, तत

एव "मंत्रकृतो वृणोते" नम ऋषिभ्यो मंत्रकृद्भ्यः "अयं सोऽग्निरिति विश्वामित्रस्य सूक्तं भवति" इत्यादिभिर्वशिष्ठादीनां मंत्रकृत्व कांडकृत्व ऋषित्वादौ प्रतीयमानेऽपि वेदस्य नित्यत्वमुपपद्यते। एभिरेव "मंत्रकृत वृणीते" इत्यादिभिर्वेदशब्दैः तत्तत्कांडसूक्त मंत्रकृताऋषीणामाकृति शक्त्यादिकं परामृश्य, तत्तदाकारान् तत्तच्छक्ति युक्तांश्च सृष्ट्व प्रजापतिस्तानेव तत्तन्मंत्रादिकरणे नियुंक्ते। तेऽपि प्रजापतिन आहित शक्त्यस्तत्तादनुगुणं तपस्तप्त्वा नित्यसिद्धान्पूर्वं पूर्व वशिष्ठादि दृष्टान् तानेव मंत्रादीन् अनधीत्यैव स्वरतोवर्णतश्चासवलितान्प श्यंति। अतश्च वेदानां नित्यत्व मेषां च मंत्रकृत्वमुपपद्यते।

जैसे कि–देवता और ऋषिवाची, इंद्र वशिष्ट आदि शब्द आकृति विशेष के बोधक है, उनका स्मरण करके ही उनकी सृष्टि की जाती वैसे ही "मंत्रकृतोवृणीते–नमोऋषिभ्यो मंत्रकृद्ग्निय:–अयं सोऽग्निरि विश्वामित्रस्य सूक्तं भवति" इत्यादि वेदवाक्यों में, वशिष्ठ आदि क मंत्र कर्त्तृता, कांड कर्त्तृता, तथा ऋषित्व आदि की प्रतीति होते हुए भ वेदों की नित्यता अक्षुण्य रहती है। क्यों कि–"मंत्रकृतोवृणीते" इत्यादि शब्दों के आधार पर, प्रजापति उन-उन मंत्रों, सूक्तों और काण्ड कर ऋषियों की रचना कर, उन्हीं को उन मंत्रादि कार्य संपादन में नियुक्त करते है प्रजापति से प्राप्त शक्ति द्वारा वे ऋषि भी अपने-अपने कर्त्तव्य नुकूल तपश्चर्या द्वारा, अध्ययन पूर्वक, पूर्व-पूर्व वशिष्ठ आदि, दृष्ट नित्यसिद्ध मंत्रराशि का, यथायथ (जैसे का जैसा ही) स्वर और वर्ण अनुसार अविकल साक्षात्कार कर लेते हैं। इस प्रकार वेदों की नित्यत एवं वशिष्ठादिकों की मंत्रकर्त्तृता सिद्ध हो जाती है।

अथस्यात्– नैमित्तिक प्रलयादिषु इन्द्रादि उत्पन्तौ वेदशब्देभ्य पूर्वं पूर्वेन्द्रादिस्मरणेन प्रजापतिना देवादिसृष्टिरुपपद्यतां नाम प्राकृतप्रलये तु स्रष्टुः प्रजापतेः भूतादि अहंकार परिणाम शब्दस्य विनष्टत्वात् कथं प्रजापतेःशब्द पूर्विका सृष्टिरुत्पद्यते ? कथम्त

विनष्टस्य वेदस्य नित्यत्वं ? अतो वेद नित्यत्ववादिना देवादीनां विग्रहवत्त्वाऽभ्युपगमेऽपि लोक व्यवहारस्य प्रवाहानादिताऽश्रयणीयेति ? अत्रोत्तरं पठति—

शंका—नैमितिक प्रलय के समय तो, ब्रह्म पूर्व सृष्ट्यानुसार वेद वाक्य स्मरण पूर्वक, आकृति विशेष इन्द्र आदि की सृष्टि कर लेते हैं, ऐसा तो मान भी सकते हैं, पर प्राकृत प्रलय में जब कि—सृष्टिकर्त्ता प्रजापति एवं भूतोपादान अहंकार के परिणाम स्वरूप शब्द का भी लय हो जाता है, तब प्रजापति की शब्दानुस्मरण पूर्विका सृष्टि कैसे संभव होगी, तथा विनष्ट वेदों की नित्यता भी कैसे रहेगी ? इसलिए वेद-नित्यता वादी, देवादिकों की देह सत्ता स्वीकारने पर भी, जो लोक व्यवहार में अनादि प्रवाह रूपता है, उसका समर्थन कैसे करेंगे ? इसी का उत्तर देते हैं--

समाननामरूपत्वाच्चावृत्तावप्यविरोधो दर्शनात् स्मृतेश्च।१।३।२६॥

कृत्स्नोपसंहारे जगदुत्पत्त्यावृत्तावपि पूर्वोक्तात्समाननामरूपत्वादेव न कश्चिद् विरोधः। तथाहि—स भगवान् पुरुषोत्तमः प्रलयावसान समये पूर्वसंस्थानं जगत्स्मरन् "बहुस्याम्" इति संकल्प्य भोग्यभोक्तृजातं स्वस्मिन् शक्तिमात्रावशेषं प्रलीनं विभज्य महदादि ब्रह्माण्डं हिरण्यगर्भ पर्यन्तं यथापूर्वं सृष्ट्वा वेदांश्च पूर्वानुपूर्वी-विशेष संस्थानाविष्कृत्य हिरण्यगर्भायोपदिश्य पूर्ववदेव देवाद्याकार-जगत्सर्गे तं नियुज्य स्वयमपि तदन्तरात्मतयाऽवतस्थे। अतो यथोक्तं सर्वमुपपन्नम्। एतदेव च वेदस्यापौरुषेयत्वं नित्यत्वं च, यत्पूर्वपूर्वोच्चारणक्रमजनितसंस्कारेण तमेव क्रमविशेषं स्मृत्वा तेनैव क्रमेणोच्चार्यत्वम् तदस्मासु सर्वेश्वरेऽपि समानम्। इयांस्तु विशेषः—संस्कारानपेक्षमेव स्वयमेवानुसंधत्ते पुरुषोत्तमः।

प्राकृत प्रलय के बाद पुनः सृष्टि होने पर, पूर्वकथित समान नाम और रूप की संभावना में भी, कोई विरोध नहीं आता। देखिये वेदों में

ही ऐसा कहा गया है कि–उन भगवान पुरुषोत्तम ने प्रलयावसान के समय पूर्व कल्पनीय संस्थान विशेष जगत का स्मरण करके "अनेक होऊँ' ऐसा संकल्प करके, केवल शक्ति रूप से स्वयं में विलीन भोग्य और भोक्तृ समूह को पृथक् पृथक् करके, महत्तत्व से लेकर ब्रह्मांड तक सृष्टि करके, हिरण्यगर्भ को उसका उपदेश देकर उन्हें पूर्व कल्पानुसार जैसी की जैसी आकृति वाले देव आदि समस्त जगत की सृष्टि में नियुक्त करके, स्वयं अन्तर्यामी रूप से सृष्ट जगत में प्रविष्ट हो गए इस प्रकार उक्त संशय का समाधान हो जाता है। इसी से वेदों की अपौरुषयेता और नित्यता भी प्रमाणित हो जाती है। वेदों का जो पूर्व पूर्व उच्चारण क्रम जन्य संस्कार है, उसी क्रम विशेष का स्मरण करके, सदा उच्चारण करना चाहिए, यह नियम हम लोगों और सर्वेश्वर दोनों के लिए समान है। सर्वेश्वर में, हमसे एक ही विशेषता है कि–वह पूर्व संस्कार निरपेक्ष होकर स्वयं ही अनुसंधान या स्मरण करते हैं [जब कि हम लोग पूर्व संस्कारानुसार ही स्मरण करने के लिए बाध्य हैं]

कुत इदं यथोक्तभवगम्यत इति चेत् ? तत्राह–दर्शनात् स्मृतेश्च। दर्शनं तावत् –"यो ब्रह्माणं विदधांति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै" इति। स्मृतिरपि मानवी–"आसीदिदं तमोभूतम्" इत्यारभ्य-'सोऽभिध्याय शरीरात् स्वात् सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः, अतएव ससर्जादौ तासु वीर्यमपासृजत्, तदण्डमभवद् हैमंसहस्रांशु समप्रथमम्। तस्मिञ्जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः" इति। यथा पौराणिकी–"तत्र सुप्तस्य नाभौ पद्मभजायत् तस्मिन् पद्मे महाभाग वेदवेदांगपारणः, ब्रह्मोत्पन्नः स तेनोक्तः प्रजाः सृज महामते।" तथा– "परोनारायणो देवः तस्याज्जातश्चतुर्मुखः" इति। तथा "प्राहि-सर्गमहं वक्ष्ये" इत्यारभ्योच्यते–"सृष्ट्वा नारं तोयमंतः स्थितोऽहं येनस्यान्मे नाम नारायणेति, कल्पेकल्पेतत्र शयामि भूयः सुप्तस्य मे नाभिजं स्याद्यथाऽब्जं, एवम्भूतस्य मे देवि नाभिपद्मे चतुर्मुखः, उत्पन्नस्यमया चोक्तः प्रजाः सृजत् महामते" इति।

अतो देवादीनामप्यर्थित्व सामर्थ्ययोगात् ब्रह्मविद्यायामधिकारोऽस्तीति सिद्धम् ।

यदि पूछें कि उक्त बात कैसे जान सके ? उसपर सूत्रकार कहते हैं दर्शन और स्मृति से दर्शन जैसे–"जिन्होंने प्रथम ब्रह्मा की सृष्टि की तथा जिन्होंने सृष्टि के निमित्त उन्हें वेदों की प्रेरणा दी ।" इत्यादि । मनु स्मृति में जैसे–"यह जगत सृष्टि के पूर्व तमोभूत था" इत्यादि से प्रारंभ करके–"उन्होंने विविध प्रजासृष्टि की आकांक्षा करके, सर्व प्रथम अपने शरीर से जल की सृष्टि की, उसी से वीर्य की सृष्टि की, वह वीर्य ही हजारों सूर्यों के समान प्रभा संपन्न हिरणमय अंड के रूप में परिणत हो गया, उस अंड में से ही पितामह ब्रह्मा का प्राकट्य हुआ ।" पौराणिक स्मृति में भी जैसे–"क्षीर सागर में सुप्त नारायण की नाभि से कमल प्रकट हुआ उस कमल से वेद वेदांग पारंगत ब्रह्मा प्रकट हुए, उन्हें भगवान ने आज्ञा दी कि–महामति ! तुम प्रजा की सृष्टि करो ।' तथा–"प्रकाशमान नारायण ही श्रेष्ठ हैं, उन्ही से चतुर्मुख ब्रह्मा प्रकट हुए" तथा–"आदि सृष्टि करूँ" इत्यादि से प्रारंभ करके–"नार जल की सृष्टि कर मैं उसी मे स्थित हो गया, उसी से मेरा नाम नारायण हुआ, प्रतिकल्प में मैं वहाँ बार बार शयन करता हूँ, सोये हुए मेरी नाभि से कमल उत्पन्न होता है, उस नाभि पद्म से चतुर्मुख ब्रह्मा का जन्म होता है, तब मैं उन्हें आज्ञा देता हूँ कि–तुम प्रजा की सृष्टि करो ।"

उक्त वर्णनों से सिद्ध होता है कि—देवताओं के शरीरी और समर्थवान होने से, उन्हें ब्रह्मविद्या में अधिकार प्राप्त है ।

८ मध्वाधिकरण:—

मध्वादिष्वसंभवादनधिकारं जैमिनिः ।१।३।३०॥

ब्रह्मविद्यायां देवादीनामप्यधिकारोऽस्तीत्युक्तम्, इदमिदानीं चिन्त्यते येषूपासनेषु या देवता एवोपास्यास्तेषु तासामधिकारोऽस्ति न इति, किं प्राप्तम् ? नास्त्यधिकारस्तेषु मध्वादिष्विति जैमिनिर्मन्यते । कुतः ? असंभवात् नहि आदित्यवस्वादिभिरुपास्या आदित्यवस्वाद-

योऽन्ये संभवंति । न च वस्वादीनां सतां वस्वादित्वं प्राप्यं भवति, प्राप्तत्वात्, मधुविद्यायामृग्वेदादि प्रतिपाद्यकर्मनिष्पाद्यस्य रश्मि द्वारेण प्राप्तस्य रसस्याश्रयतया लब्धमधुव्दपदेशस्यादित्यस्यांशानां वस्वादिभिर्भुज्यमानानामुपास्यत्वंवस्वादित्वं च प्राप्यं श्रूयते– "असौ वा आदित्यो देवमधु" इत्युपक्रम्य–"तद्यत्प्रथमममृतं वेद वसूनामेवैकोभूत्वा अग्निनैव मुखेनैतदेवामृतम् दृष्ट्वा तृप्यति" इत्यादिना ।

ब्रह्मविद्या में देवादिक का अधिकार है, यह तो सिद्ध हो चुका। अब प्रश्न होता है कि- उपासनाओं में प्रायः उन सभी देवताओं की उपासना का विधान है, जिनके अधिकार की चर्चा की जा रही है, उन्हें स्वय अपनी उपासना करने का अधिकार है या नहीं ? जैमिनि आचार्य का मत है कि–मधु आदि विद्याओं में देवताओं का अधिकार नहीं है क्यों कि- ऐसा होना असंभव है, आदित्य वसु आदि देवता ही उक्त विद्याओं के उपास्य हैं, वे स्वयं उपासक कैसे हो सकते हैं ? वसु आदि को उपासना से वसु आदि का साक्षात्कार तो हो नहीं सकता, क्यों कि वे स्वयं तो उपासक रूप से उपस्थित हैं ही वे ही फिर उपास्य रूप से कैसे प्रकट हो सकते हैं।

जैसा कि–मधु विद्या में, ऋग् वेदादि प्रतिपाद्य कर्म निष्पन्न मधुनामक आदित्य की रश्मियों द्वारा निस्यूत रस, उपास्य वसु आदि से उपभुक्त होकर, अंश रूप से उपासक को प्राप्त होता है, श्रुतियों में–"वह आदित्य देव मधु है" इत्यादि से प्रारंभ करके–"वहाँ जो प्रथम अमृत भाग है, उसे वसुगण उपभोग करते हैं, जो लोग इस प्रकार इस अमृत के रहस्य को जानकर उपासना करते है वे वसुओं के मध्य में ही जन्म लेकर अग्नि रूप मुख से अमृत का दर्शन मात्र करके तृप्त हो जाते हैं।" इत्यादि में वर्णन किया गया है।

ज्योतिषि भावाच्च ।१।३।३१॥

"तं देवा ज्योतिषां ज्योतिः आयुर्होपास्तेऽमृतम्" इति ज्योतिषि परस्मिन् ब्रह्मणि उपासनं देवानां श्रूयते । देवमनुष्योभयसाधारणे

परब्रह्मोपासने देवानामुपासकत्वकथनं देवानामितरोपासन निवृत्ति द्योतयति । अत एषु वस्वादीनामनधिकारः ।

"देवगण ज्योतियों की ज्योति उस परब्रह्म को, आयु और अमृत मान कर उपासन करते हैं" ऐसी ज्योति रूप परब्रह्म की उपासना का वर्णन किया गया है। परब्रह्म की उपासना में देवताओं और मनुष्यों का तुल्याधिकार होते हुए भी, यहाँ जो पृथक् उपासकता बतलाई गई है, इससे, देवताओं के लिए अन्यों की उपासना की निवृत्ति का भाव द्योतित होता है। इससे स्पष्ट होता है कि-मधु आदि विद्याओं मे देवताओं का अधिकार नहीं है [अर्थात् देवताओं के उपास्य एकमात्र ब्रह्म ही है, ऐसा उक्त उदाहरण से प्रतीत होता है, मधु आदि विद्याओं में देवताओं को स्वयं उपास्य बतलाया गया है, इसलिए वे स्वयं उसमें उपासक नहीं हो सकते, इन विद्याओं में मनुष्यों के ही अधिकार की बात निश्चित होती है।

इति प्राप्तेऽभिधीयते सिद्धान्त :—

उक्त मत पर सूत्रकार सिद्धान्त रूप से सूत्र प्रस्तुत करते हैं—

भावं तु बादरायणोऽस्ति हि ।१।३।३२।।

आदित्य वस्वादीनामपि तेष्वधिकारभावं भगवान् बादरायणो मन्यते। अस्ति ह्यादित्य वस्वादीनामपि स्वावस्थब्रह्मोपासनेन वस्वादित्व प्राप्ति पूर्वक ब्रह्मप्रेप्सा संभवः। इदानीं वस्वादीनामपि सतां कल्पांतरेऽपि वस्वादित्व प्राप्तिश्चोपेक्षिता भवति ।

मधु आदि ब्रह्मविद्या में आदित्य वसु आदि का अधिकार भगवान बादरायण मानते हैं। आदित्य और वसु आदि भी, आत्मा में अवस्थित पर ब्रह्म की उपासना द्वारा, वस्वादि भाव पूर्वक ब्रह्म प्राप्ति के इच्छुक हो सकते हैं। इस जन्म में जो वसु आदि हैं, वे कल्पान्तर में भी वसु आदि ही हों, ऐसी अपेक्षा भी तो, उपासना द्वारा हो सकती है।

अत्रहि कार्यकारणोभयावस्थ ब्रह्मोपासनं विधीयते। "असौ वा आदित्यो देवमधु" इत्यारभ्य- "तत ऊर्ध्वं उदेत्य" इत्यतः

प्रागादित्यवस्वादिकार्यविशेषावस्थं ब्रह्मोपास्यमुपदिष्यते । "अथतत ऊर्ध्वं उदेत्य" इत्यादिना आदित्यान्तरात्मतयाऽवास्थितं कारणावस्थ मेव ब्रह्मोपास्यमुपदिश्यते । तदेवं कार्यकारणोभयावस्थं ब्रह्मोपासीनः कल्पान्तरे वस्वादित्वं प्राप्य तदंते कारणं परंब्रह्मैवाप्नोति ।

उक्त प्रकरण मे कार्य और कारण दोनों अवस्था वाले ब्रह्म की उपासना का विधान किया गया है। "असौ वा आदित्यो" इत्यादि से प्रारंभ करके "अथ तत ऊर्ध्व" इत्यादि वाक्य के पूर्व तक, आदित्य वसु आदि को कार्य विशेषावस्थापन्न ब्रह्मोपासना का उपदेश दिया गया है। "अथ तत अर्ध्व" इत्यादि वाक्य मे, आदित्य के अंतरात्मा मे अवस्थित, कारणावस्थ ब्रह्म की उपासना का उपदेश है। कार्य और कारण इन दोनों अवस्थाओ वाले ब्रह्म के उपासक, कल्पांतर में वसु आदि रूप प्राप्त कर, अन्त में कारण ब्रह्म में लीन हो जाते हैं, यही उक्त उपदेश का तात्पर्य है।

"न ह वा अस्मा उदेति न निम्रोचति सकृद् दिवा हैवास्मै भवति य एतामेवं ब्रह्मोपनिषदं वेद" इति कृत्स्नाया मधुविद्याया ब्रह्मोपनिषत्व श्रवणात् ब्रह्मप्राप्तिपर्यन्तवस्वादित्वफलस्य श्रवणाच्च वस्वादि भोग्यभूत् आदित्यांशस्य विधीयमानमुपासनं तदवस्थस्यैव ब्रह्मण इत्यवगम्यते । अतएवं विधमुपासनमादित्य वस्वादीनामपि संभवति । एवं च ब्रह्मण एवोपास्यत्वात् "तं देवा ज्योतिषां ज्योतिः" इत्युपपद्यते । तदाह वृत्तिकारः—"अस्ति हि मध्वादिषु संभवो ब्रह्मण एव सर्वत्र निचाय्यत्वात् ।

'जो इस प्रकार इस ब्रह्मोपनिषद को जानते है, उनके लिए न तो सूर्य का उदय होता है न अस्त, उनके लिए तो सदा दिन ही दिन रहता है" इत्यादि में, समस्त मधुविद्या की ब्रह्मोपनिषद स्वरूपता, ब्रह्म प्राप्ति पर्यन्त वसु आदि रूप फल प्राप्ति, वसु आदि भोग्यभूत आदित्यांश की उपासना, उस अवस्था में ही ब्रह्मावाप्ति आदि, बातें ज्ञात होती है इससे

सिद्ध होता है कि—आदित्य वसु आदि से भी मधुविद्या की उपासना संभव है। इसीलिए ब्रह्म की भी उपास्यता "तं देवा ज्योतिषां ज्योतिः" इत्यादि में बतलाई गई है। जैसा कि—वृत्तिकार भी कहते है—'सर्वत्र ब्रह्म की उपासना ही विहित है, इसलिए मधुविद्या आदि में देवतादि का अधिकार हो सकता है।"

९ अपशूद्राधिकरण :—

शुगस्यतदनादरश्रवणात्तादाद्रवणात्सूच्यते हि ।१।३।३३॥

ब्रह्मविद्यायां शूद्रस्याप्यधिकारोऽस्ति नवेति विचार्यते; किं युक्तम् ? अस्तीति, कुतः ? अर्थित्वसामर्थ्य प्रयुक्तत्वादधिकारस्य शूद्रस्यापि तत्संभवात् । यद्यप्यग्निविद्या साध्येषु कर्मस्वनग्नि विद्यत्वाच्छूदस्यानधिकारः, तथापि मनोवृत्तिमात्रत्वाद् ब्रह्मोपासनस्य तत्राधिकारोऽस्त्येव, शास्त्रीय क्रियाऽपेक्षत्वेऽप्युपासनस्य तत्तद्वर्णाश्रमोचित क्रियाया एवापेक्षितत्वाच्छूद्रस्यापि स्ववर्णोचितपूर्ववर्ण शुश्रूषैव क्रिया भविष्यति । "तस्माच्छूद्रोयज्ञेऽनवक्लृप्तः" इत्यप्यग्निविद्यासाध्ययज्ञादिकर्मानधिकार एव न्यायसिद्धोऽनूद्यते ।

ब्रह्मविद्या में शूद्रों का अधिकार है कि नहीं ? इस पर विचार करते है। कह सकते है कि है, क्यों कि—शूद्रो मे भी अन्यवर्णों की तरह अर्थित्व और सामर्थ्य संभव है। यद्यपि अग्निविद्या साध्य कर्मो में अग्निहोत्री न होने के कारण, शूद्रों का अनधिकार सिद्ध होता है, तथापि ब्रह्मविद्या जब एक मनोवृत्ति मात्र ही है, तब उसमे उनका स्वाभाविक अधिकार सिद्ध हो जाता है। उपासना, यदि शास्त्र क्रिया सापेक्ष्य हो तो भी, शास्त्रानुसार अपनी वर्णोचित क्रिया सुश्रूषा के आश्रय से, वे शूद्र भी, अन्य वर्णों की तरह, उपासना के अधिकारी हो सकते हैं। "शूद्र यज्ञ में अनधिकृत हैं" यह श्रुति तो, एकमात्र अग्निविद्या साध्य यज्ञादि कर्मों में ही, शूद्र के अनधिकार की पुष्टि करती है।

नन्वधीत वेदस्याश्रुतवेदांतस्य ब्रह्मस्वरूप तदुपासन प्रकारानभिज्ञस्य कथं ब्रह्मोपासनं संभवति ? उच्यते-अनधीतवेदस्याश्रुतवे-

दांतवाक्यस्यापीतिहासपुराण श्रवणेनापि ब्रह्मस्वरूपतदुपासनज्ञानं संभवति। अस्ति च शूद्रस्यापीतिहासपुराण श्रवणानुज्ञा श्रावयेच्चतुरोवर्णान् कृत्वाब्राह्मणमग्रत:'' इत्यादौ। दृश्यंतेचेतिहासपुराणेषु विदुरादयो ब्रह्मनिष्ठा:। तथोपनिषत्स्वपि संवर्गविद्यायां शूद्रस्यापि ब्रह्मविद्याधिकार: प्रतीयते-शुश्रूषु हि जानश्रुतिमाचार्यो रैक्व: शूद्रेत्यामंत्र्य तस्मैब्रह्मविद्यामुपदिशति—"आजहारेमा: शूद्रोनेनैव मुखेनालापयिष्यथा:'' इत्यादिना। अत: शूद्रस्याप्यधिकार: संभवति।

यदि कहो कि-जिन्होंने वेदाध्ययन, वेदांत श्रवण नहीं किया तथा जो ब्रह्म के स्वरूप और उपासना से अनभिज्ञ हैं, वे ब्रह्मोपासना कर कैसे पावेंगे? तो सुनिये—वेदाध्ययन और वेदांतश्रवण के बिना भी पुराणेतिहास के श्रवण से ही ब्रह्मस्वरूप और उपासना पद्धति का ज्ञान संभव है। इतिहास पुराण के श्रवण की आज्ञा शूद्र को—"ब्राह्मण को अग्रवर्ती करके चारों वर्णों को रहस्य श्रवण करना चाहिए'' इत्यादि से शास्त्र से ही प्राप्त है। इतिहास पुराण आदि में विदुरादि के ब्रह्मनिष्ठ होने की चर्चा है। उपनिषदों में भी संवर्ग विद्या के प्रकरण में, शूद्रों को ब्रह्मविद्या के अधिकार की चर्चा है। आचार्य रैक्व ने ब्रह्म शुश्रूषु जानश्रुति को "शूद्र'' कह कर पुन: उसे ब्रह्मविद्या का उपदेश दिया है, जैसे कि—हे शूद्र! तू ये गौ कन्या आदि लाया है, तू इस विद्याग्रहण के बहाने ही मुझसे बातें कर रहा है'' इत्यादि से ज्ञात होता है। इसलिए शूद्र का अधिकार सिद्ध होता है।

सिद्धान्त—इति प्राप्ते उच्यते—न शूद्रस्याधिकार: संभवति, सामर्थ्याभावात्, न हि ब्रह्मस्वरूपतदुपासनप्रकारमजानतस्तदंगभूतवेदानुवचनयज्ञादिष्वनधिकृतस्योपासनोपसंहारसामर्थ्यसंभव:, असमर्थस्य च अर्थितत्व सद्भावेऽप्यधिकारो न संभवति, असामर्थ्यं च वेदाध्ययनाभावात्, यथैव हि त्रैवर्णिकविषयाध्ययनविधिसिद्ध-

स्वाध्याय संपाद्यज्ञान लाभेन कर्मविधयो ज्ञानतदुपायादीनपरान्न स्वीकुर्वन्ति, तथा ब्रह्मोपासन विधयोऽपि। अतोऽध्ययन विधिसिद्ध स्वध्याधिगतज्ञानस्यैव ब्रह्मोपासनोपायत्वाच्छूद्रस्य ब्रह्मोपासन सामर्थ्यासिभवः।

उक्त मत पर सिद्धान्त स्थिर करते हैं कि–शूद्र का अधिकार नहीं है, क्यों कि–उनमें सामर्थ्य का अभाव है। जो ब्रह्म के स्वरूप और उनकी उपासना प्रणाली को नही जानते तथा उपासना के अंगस्वरूप वेदपाठ यज्ञादि में जिनका अनधिकार है, उनमें उपासना के अनुकूल सामर्थ्य संभव नहीं है, वेदाध्ययन का अभाव ही, सामर्थ्य का अभाव है। ब्राह्मण आदि तीन वर्णों के लिए वेदाध्ययन शास्त्र विहित है, वेदाध्ययन संपाद्य ज्ञान से ही उन लोगों को उपासना का अधिकार प्राप्त है। कर्म विधि जैसे कि—ज्ञान और तदुपयोगी अन्यान्य साधनों की अपेक्षा नहीं करती है, ब्रह्मोपासना की विधि भी उसी प्रकार है। अध्ययन विधि लभ्य वेदाध्ययन जन्य ज्ञान ही ब्रह्मोपासना का प्रधान उपाय है। वैदिक ज्ञान के अभाव से ही, शूद्रों में ब्रह्मोपासना का सामर्थ्य संभव नहीं है।

इतिहास पुराणे अपि वेदोपवृंहणं कुर्वंती एवोपायभावमनुभवतः न स्वातंत्र्येण शूद्रस्येतिहास पुराण श्रवणानुज्ञानं पापक्षयादिफलार्थम्, नोपासनार्थम्। विदुरादयस्तु भवान्तराधिगतज्ञाना प्रमोषात् ज्ञानवंतः प्रारब्धकर्मवशाच्चेदृशजन्मयोगिन इति तेषां ब्रह्मनिष्ठत्वम्।

इतिहास पुराण में भी, वेदोपवृंहण करके ही, उपासना के उपायों का विवेचन किया गया है, स्वच्छन्द विवेचन नहीं है। शूद्रों को जो इतिहास पुराण श्रवण का उपदेश दिया गया है वह, पापक्षय फल प्राप्ति के निमित्त से दिया गया है, उपासना के लिए नहीं दिया गया है। जन्मान्तराधिगत अविलुप्त ज्ञानसंपन्न विदुर आदि, प्रारब्ध कर्मवश शूद्र योनि मे गए थे, वस्तुतः वे जन्मसिद्ध ब्रह्मनिष्ठ थे।

यच्च-संवर्गविद्यायां शुश्रूषोः शूद्रेति संबोधनं शूद्रस्याधिकारं सूचयति–इति, तन्नेत्याह–शुगस्य तदनादर श्रवणात्तदाद्रवणात्सूच्यते हि "शुश्रूषोर्जानश्रुतेः पौत्रायणस्य ब्रह्मज्ञानकैवल्येन हंसोक्तानादरवाक्य श्रवणात् तदैव ब्रह्मविदो रैक्वस्य सकाशं प्रत्याद्रवणाच्छुगस्य संजातेति हि सूच्यते, अतः स शूद्रेत्यामंत्रयते, न चतुर्थवर्णत्वेन।

संवर्ग विद्या में शुश्रूषु जानश्रुति को "शूद्र" कहा गया एकमात्र इसी आधार से शूद्रों के अधिकार की बात मान लेना भी, भ्रांति है इसके निवारणार्थ ही "शुगस्य तदनादर श्रवणात सूच्यतेहि" सूत्र प्रस्तुत किया जाता है। ब्रह्मविद्या शुश्रुषु जानश्रुति का ब्रह्मविद्या ज्ञान के अभाव से, हंस द्वारा जो अनादर हुआ उससे म्लान होकर वह रैक्व के पास गया। इससे ज्ञात होता है कि––वह उस समय अत्यंत दुखी और संतप्त था, जिससे कि उसकी आकृति कांतिहीन हो गई थी; रैक्व ने इसीलिए उसे शूद्र कहा था, चतुर्थवर्ण की दृष्टि से नहीं कहा था।

शोचतीति हि शूद्रः, "शुचेर्दश्च" इति र प्रत्यये धातोश्च दीर्घे चकारस्य च दकारे शूद्र इति भवति। अतः शोचितृत्वमेवास्य शूद्र शब्द प्रयोगेन सूच्यते, न जातियोगः। जानश्रुतिः किल पौत्रायणो बहुद्रव्य प्रदो बह्वन्न प्रदश्च बभूव। तस्य धार्मिकाग्रेसरस्य धर्मेण प्रीतयोः कयोश्चिन्महात्मनोरस्य ब्रह्मजिज्ञासामुत्पिपादयिषतोः हंसरूपेण निशायामस्याविदूरे गच्छतोरन्यतर इतरमुवाच–"भो भो आर्य भल्लाक्ष भल्लाक्ष जानश्रुतेः पौत्रायणस्य समंदिवा ज्योतिरातंत तत्मा प्रसांक्षीस्तत्वा मा प्रधाक्षीत्' इति। एवं जानश्रुतिः प्रशसारूपं वाक्यमुपश्रुत्य परोहंस. प्रत्युवाच–"कम्बर एनमेतत् संतं सयुग्वानमिव रैक्वमात्थ" इति। कं सन्तमेनं जानश्रुतिं सयुग्वानं रैक्वं ब्रह्मज्ञमिव गुणश्रेष्ठमेतदात्थ, स ब्रह्मज्ञो रैक्व एव लोके गुण-

वत्तरः महताधर्मेण संयुक्तस्याप्यस्य जानश्रुतेरब्रह्मज्ञस्य को गुणः, यद्गुणजनितं तेजो रैक्वतेज इव मां दहेदित्यर्थः ।

जो शोक करे उसे शूद्र कहते हैं, "शुचेर्दश्च" इस पाणिनीय सूत्र से, र प्रत्यय होने पर शुच् धातु के उकार को दीर्घ और च के स्थान पर द होने से शूद्र शब्द बनता है। उक्त प्रसंग में शूद्र शब्द से शोकान्वित भाव ही सूचित होता है, जाति संबंध नहीं। पौत्रायण जानश्रुति, बहुद्रव्य और बहुअन्न का प्रसिद्ध दानी था, धार्मिकाग्रगण्य उसकी धर्मचर्या से परितुष्ट कोई दो महात्मा, उसकी ब्रह्मजिज्ञासा, को उद्बुद्ध करने के लिए, हंस रूप धारण करके, रात्रि के समय, यात्रा में उसके साथ चलते हुए इस प्रकार परस्पर वार्त्ता करने लगे--"अरे भल्लाक्ष ! पौत्रायण जानश्रुति का तेज आकाश में चारों ओर फैल रहा है, उसका स्पर्श मत करना, कहीं वह तुम्हें भस्म न कर दे" ऐसी जानश्रुति की प्रशंसा सुनकर दूसरा कहता है--"अरे तू इस राजा में कौन सी विशेषता देखकर ऐसी प्रशंसा कर रहा है, क्या तू इसे गाड़ी वाले रैक्व के बराबर मानता है ?" अर्थात् ब्रह्मज्ञ वह रैक्व जगत में सर्वाधिक गुणवान है, यह जानश्रुति महा धार्मिक होते हुए भी ब्रह्म ज्ञान रहित है, उसमें कौन सा गुण है जिससे कि उसमें रैक्व के समान दाहिका शक्ति आ गई जिससे मुझे दाह होगा ?

एवमुक्तेन परेण क्वोऽसौ रैक्व इति पृष्टः लोके यत्किंचित् साध्वनुष्ठितं कर्म यच्च सर्वचेतनगतं विज्ञानम्, तदुभयं यदीयज्ञान-कर्मान्तर्भूतम् स रैक्व" इत्याह। तदेतद् हंसवाक्यं ब्रह्मज्ञानविधुरतया आत्मनिन्दागर्भं तद्वत्तया च रैक्व प्रशंसा रूपं जानश्रुतिरुपश्रुत्य तत्क्षणादेवक्षत्तारं रैक्वान्वेषणाय प्रेष्य तस्मिन्विदित्वा आगते स्वय-मपि रैक्वमुपसद्य गवां षट्शतं निष्कमश्वतरी रथं च रैक्वायोपहृत्य रैक्वं प्रार्थयामास "अनुम एतां भगवो देवतां शाधि यां देवता-मुपास्से" इति त्वदुपास्यां परां देवतां ममानुशाधीत्यर्थः ।

इस प्रकार उस हंस के कहने पर, दूसरे ने पूछा "यह रैक्व कौन है ?" इस पर उस हंस ने बतलाया कि--"इस जगत में जो भी कुछ

उत्कृष्ट कर्म होते हैं तथा समस्त चेतन में जो कुछ ज्ञान निहित है, ये दोनों बातें जिसके ज्ञान और कर्म के अंतर्गत हैं व ी रैक्व है।" ब्रह्मज्ञान के अभाव से अपने निंदापूर्ण तथा ब्रह्मज्ञान के सद्भाव से रैक्व के स्तुति-परक उस हंस के वाक्य को सुनकर जानश्रुति ने तत्काल सारथी को रैक्व को खोजने को भेजा। सारथी, रैक्व को खोज कर आया तब, जानश्रुति स्वयं रैक्व के पास गया, जाकर उसने छः सौ गाय, स्वर्णहार, घोड़ेवाले रथ भेंट कर उनसे प्रार्थना की कि—"भगवन ! आप जिन देवता की उपासना करते हैं उनका मुझे उपदेश दें" अर्थात् अपने उपास्य परादेवता का मुझे भी उपदेश दो।

स च रैक्वः स्वयोगमहिम विदित लोकत्रयो जानुश्रुतेर्ब्रह्मज्ञान विधुरतानिमित्तानारदगर्भहंसवाक्य श्रवणेन शोकाविष्टतां तदनंतर-मेव ब्रह्मजिज्ञायोद्योगं च विदित्वाऽस्य ब्रह्मविद्यायोग्यतामभिज्ञाय चिरकाल सेवां बिना द्रव्यप्रदानेन शुश्रूषमाणस्यास्य यावच्छक्ति प्रदानेन ब्रह्मविद्या प्रतिष्ठिता भवतीति मत्वा तमनुगृह्णन् तस्य शोकाविष्टतामुपदेशयोग्यताख्यापिकां शूद्र शब्देनामंत्रणेन ज्ञापयन्नि-दमाह—"अहहारेत्वा शूद्र तवैव सह गोभिरस्तु" इति। सह गोभि-रयं रथस्तवैवास्तु नैतावता मह्यं दत्तेन ब्रह्मजिज्ञासया शोकाविष्टस्य तव ब्रह्मविद्या प्रतिष्ठिता भवतीत्यर्थः।

अपनी योगशक्ति के प्रभाव से त्रिलोक तत्वज्ञ उस रैक्व ने समझ लिया कि—ब्रह्मज्ञानाभाव और हंसोक्त अनादर वचन श्रवण से जानश्रुति शोकाविष्ट है, इसीलिए यह असूयावश ब्रह्मविद्या प्राप्ति के लिए उद्यत है। उसकी ऐसी ब्रह्मजिज्ञासा योग्यता को समझकर कि दीर्घकालीन ब्रह्मचर्य की साधना के बजाय केवल भेंट द्वारा ही ब्रह्मविद्या ग्राहिका शक्ति आ जावेगी, ऐसा विचार कर अनुग्रह पूर्वक रैक्व ने जानश्रुति से कहा—"अरे शूद्र ! गौओं सहित यह हारयुक्त रथ तेरे ही पास रहे" अर्थात्—गौ रथ आदि तू ही रख, इनको देने मात्र से ही, शोकाविष्ट ब्रह्म जिज्ञासु तुझमें ब्रह्म विद्या स्थिर नहीं हो सकती।

स च जानश्रुतिर्भूयोऽपि स्वशक्त्यनुगुणमेव गवादिकंधनं कन्यां च प्रदायोपससाद, स रैक्वः पुनरपि तस्य योग्यतामेव ख्यापयन् शूद्र शब्देनामंत्र्याह—"आजहारेमा शूद्रानेनैव मुखेनाला पयिष्यथाः" इति इमानि धनानि शक्त्यनुगुणान्याजहर्थ, अनेनैव द्वारेण चिरसेवया बिनाऽपि मां त्वदभिलाषितं ब्रह्मोपदेश रूपवाक्यमालापयिष्यतीत्युक्त्वा तस्मा उपदिदेश अतः शूद्रशब्देन विद्योपदेशयोग्यताख्यापनार्थं शोक एवास्य सूचितः न चतुर्थवर्णत्वम् ।

उस जानश्रुति ने और अधिक गौ कन्या आदि लाकर देते हुए ब्रह्मजिज्ञासा की–रैक्व ने उसकी योग्यता को जानने के लिए उसे पुनः शूद्र कहते हुए कहा—"अरे शूद्र । अपनी शक्ति के अनुसार जो गौवें और कन्यायें लाया है इनके द्वारा ही तू मुझसे, बिना चिरन्तन कालीन सेवा के, ब्रह्मोपदेश चाहता है" इतना कह उसे उपदेश दिया । इस प्रसंग के विवेचन से ज्ञात होता है कि—जानश्रुति की विद्योपदेश योग्यता की परीक्षा और असूयायुक्त शोक को सूचित करने के लिए ही उसे शूद्र कहा गया । अंतिमवर्ण का सूचक शूद्र शब्द नही है ।

क्षत्रियत्ववगतेश्च ।१।३।३४॥

"बहुदायी" इति दानपतित्वेन "बहुपाक्यः" इत्यादिना" सर्वत एवं एतदन्नमत्स्यति "इत्यन्तेन बहुतरपक्वान्नप्रदायित्व प्रतीते ।" सहसज्जिहान एव क्षत्तारमुवाच" इति क्षत्रियत्व प्रतीतेश्च न चतुर्थवर्णत्वम् ।

"बहुत दान करने वाला" पद से दानशीलता तथा "बहुत अन्न पकाया गया" आदि से लेकर "सब लोग यही अन्न खावें" इस पद तक अनेक पक्वान्नों के दान की चर्चा से और "उसने शय्या त्याग करते ही सारथी से कहा" इत्यादि वर्णनों से क्षत्रियत्त्व की प्रतीति होती है, चतुर्थवर्ण शूद्रता की प्रतीति नहीं होती ।

तदेवमुपक्रमगताख्यायिकायां क्षत्रियत्व प्रतीतिरुक्ता, उपसंहार-गताख्यायिकायामपि क्षत्रियत्वमस्य प्रतीयत इत्याह—

उपाख्यान के उपक्रम से तो जानश्रुति का क्षत्रियत्व प्रतीत होता ही है, उपाख्यान के उपसंहार से भी क्षत्रियत्व की प्रतीति होती है-यही बतलाते हैं।

उत्तरत्र चैत्ररथेन लिंगात् ।१।३।३५।।

अस्यजानश्रुतेरुपदिश्यमानायामस्यामेव संवर्गविद्यायामुत्तरत्र कीर्त्यमानेनाभिप्रतारिनाम्ना चैत्ररथेन क्षत्रियेणास्य क्षत्रियत्वं गम्यते। कथम्? "अथ ह शौनकं च कापेयमभिप्रतारिणं च काक्षसेनि परिविष्यमाणौ ब्रह्मचारी बिभिक्षे" इत्यादिना "ब्रह्मचारिन्नेदमुपास्महे" इत्यंतेन कापेयाभिप्रतारिणोर्भिक्षमाणस्य ब्रह्मचारिणश्च संवर्गविद्या संबंधित्वं प्रतीयते। तेषुचाभिप्रतारी क्षत्रियः इतरौ ब्राह्मणौ अतोऽस्यां विद्यायां ब्राह्मणस्य तदितरेषु च क्षत्रियस्यैवान्वयो दृश्यते, न शूद्रस्य। अतोऽस्यां विद्यायांमन्विताद् रैक्वाद् ब्राह्मणात् अन्यस्य जानश्रुतेरपि क्षत्रियत्वमेव युक्तम्; न चतुर्थ-वर्णत्वम्।

जानश्रुति के उपदेश प्राप्त हो जाने के बाद, इसी संवर्ग विद्या के अंतिम प्रकरण में चित्ररथवंशज अभिप्रतारि को क्षत्रिय बतलाया गया है, जिससे कि क्षत्रियत्व की प्रतीति होती है। "कापेय शौनक और कक्षसेन के पुत्र अभिप्रतारी को भोजन परोसते समय ब्रह्मचारी ने भिक्षामांगी" इत्यादि से लेकर "ब्रह्मचारी! हम उसी की उपासना करते हैं" इस अंतिम वाक्य तक कापेय, अभिप्रतारी और ब्रह्मचारी का, संवर्ग विद्या से संबंध प्रतीत होता है। इन तीनों में अभिप्रतारी क्षत्रिय और दो ब्राह्मण थे, इस विद्या में ब्राह्मण और क्षत्रियों का ही संबंध दिखलाया गया है शूद्र का नहीं। इसलिए इस विद्या से सबद्ध रैक्व ब्राह्मण से भिन्न जानश्रुति को भी क्षत्रिय मानना ही युक्तियुक्त है, शूद्रा मानना ठीक नही है।

नन्वस्मिन् प्रकरणेऽभिप्रतारिणश्चैत्ररथत्वं क्षत्रियत्वं च न श्रुतम् तत्कथमस्याभिप्रतारिणश्चैत्ररथत्वम्? कथं वा क्षत्रियत्वं? तत्राह–लिंगात् इति। "अथ ह शौनकं च कापेयमभिप्रतारिणं च काक्षसेनिम्" इत्यभिप्रतारिणः कापेयसाहचर्यल्लिंगादस्याभिप्रतारिणः कापेय संबंधः प्रतीयते। अन्यत्र च "एतेन वैचैत्ररथं कापेया अयाजयन्" इति कापेयसंबंधिनश्चैत्ररथत्वं श्रूयते, तथा चैत्ररथस्य क्षत्रियत्वं–"तस्माच्चैत्ररथोनामैकः क्षत्रपतिरजायत्" इति। अतोऽभिप्रतारिणश्चैत्ररथत्वं क्षत्रियत्वं च गम्यते।

प्रश्न होता है कि–इस प्रकरण में अभिप्रतारी का चैत्ररथत्व और क्षत्रियत्व, स्पष्ट रूप से तो कहा नहीं गया, फिर यह कैसे जाना कि वह चित्ररथवंशज क्षत्रिय था? कहते हैं कि–चिन्ह से ही ज्ञात होता है। "एक बार कापेय शौनक और काक्षसेनि अभिप्रतारी" इत्यादि वाक्य में कापेय के साथ अभिप्रतारी का वर्णन किया गया है जिससे ज्ञात होता है कि अभिप्रतारी भी किसी गोत्र से संबद्ध था। अन्यत्र "कापेय इसके द्वारा ही चैत्ररथ को यज्ञ कराते हैं" इत्यादि में भी कापेय और चैत्ररथ का संबंध दिखलाया गया है, तथा–"चैत्ररथ नाम का एक क्षत्रपति था" इत्यादि से चैत्ररथ का क्षत्रियत्व स्पष्ट प्रतीत होता है। इन सभी वर्णनों से अभिप्रतारी का चैत्ररथत्व और क्षत्रियत्व ज्ञात होता है।

तदेवं न्यायविरोधिनि शूद्रस्याधिकारे लिंगं नोपलभ्यत इत्युक्तम्, इदानीं न्याय सिद्धः शूद्रस्यानधिकारः श्रुतिस्मृतिभिरनुगृह्यत, इत्याह––

युक्ति विरुद्ध शूद्राधिकार विषयक कोई प्रमाण नहीं है यह दिखलाया गया। शूद्रा का अनधिकार युक्तिसम्मत तथा श्रुति स्मृति अनुमोदित है, यही बतलाते हैं–

संस्कारपरामर्शात्तद भावाभिलापाच्च ।१।३।३६॥

ब्रह्मविद्योपदेशेषूपनयनसंस्कारः परामृश्यते–"उप त्वानेष्ये" "तं ह्योपनिन्ये" इत्यादिषु। शूद्रस्य चोपनयनादिसंस्काराभावोऽ-

भिलप्यते—"न शूद्रे पातकं किंचिन्न च संस्कारमर्हति"—चतुर्थोवर्ण एकजातिर्न च संस्कारमर्हति" इत्यादिषु ।

जहाँ ब्रह्मविद्योपदेश प्रकरणों में उपनयन संस्कार के विषय में "तुझे उपनीत करता हूँ" उसे उपनीत किया "ऐसा विचार किया गया हैं वही शूद्र के लिए उपनयन का अनधिकार भी बतलाया गया है–" शूद्र को किसी प्रकार का पाप नही लगता और न वह किसी संस्कार के योग्य ही है "चौथा वर्ण ही एक ऐसी जाति है जिसे सस्कार की आवश्यकता नही है" इत्यादि ।

तदभाव निर्धारणे च प्रवृत्तेः ।१।३।३७।।

"नैतदब्राह्मणो विवक्तुमर्हति समिधं सोम्याहर" इति शुश्रूणो जाबालस्य शूद्रत्वाभाव निर्धारणे सत्येव विद्योपदेशप्रवृत्तेश्च न शूद्रस्याधिकारः ।

"ऐसा स्पष्ट भाषण कोई ब्राह्मणेतर नही कर सकता इसलिए सौम्य ! तू समिधा ले आ" ऐसे शुश्रूषु जाबालि के शूद्रत्व के अभाव को भली भाँति जानकर ही गौतम विद्योपदेश में प्रवृत्त हुए । इस वर्णन से ज्ञात होता है कि–शूद्र का ब्रह्मविद्या में अधिकार नहीं है ।

श्रवणाध्ययनार्थ प्रतिषेधात् ।१।३।३८।।

शूद्रस्य वेद श्रवणतदध्ययनतदर्थानुष्ठानानि प्रतिषिध्यंते– "पद्युहवा एतच्छ्मशानं यच्छूद्रस्तस्माच्छूद्रसमीपे नाध्येतव्यम्"– तस्माच्छूद्रो बहुपशुरयज्ञीय" इति । बहुपशुः पशुसदृश इत्यर्थः । अनुपश्रृण्वतो अध्ययनतदर्थज्ञानतदर्थानुष्ठानानि न संभवंति, अतस्तान्यपि प्रतिसिद्धात्येव ।

शूद्र को, वेद श्रवण, अध्ययन और वैदिक अनुष्ठानों का प्रतिषेध किया गया है–जैसे कि–"शूद्र चलता फिरता श्मशान है इसलिए उसके समीप वेदाध्ययन नहीं करना चाहिए" शूद्र पशुतुल्य ही है यज्ञ के योग्य

नहीं हैं" इत्यादि। जिसके लिए वेद श्रवण तक विहित नहीं है, उसके लिए वेदाध्ययन, वेदार्थज्ञान और वेदानुष्ठान आदि तो कभी संभव ही नहीं हैं। इसलिए वे सब भी उसके लिए प्रतिषिद्ध ही हैं।

स्मृतेश्च ।१।३।३९॥

स्मर्यते च श्रवणादि निषेधः "अथ हास्यवेदमुपश्रृण्वतस्त्रपुजतुभ्यां श्रोत्रप्रतिपूरणमुदाहरणे जिह्वाच्छेदो धारणे शरीरभेदः" इति। "न चास्योपदिशेद्धर्मं न चास्य व्रतमादिशेत्" इति च। अतः शूद्रस्यानधिकार इति सिद्धम्।

श्रवण आदि का निषेध स्मृति में भी जैसे—"वेद सुनने वाले शूद्र के कानों को गर्म लोह और शीशे से पूर्ण करो, वेदपाठ करने पर जीभ काट लो, याद कर लेने पर शरीर काट दो" इत्यादि। "इसे धर्म का उपदेश मत दो, न व्रतानुष्ठान का ही उपदेश दो"। इत्यादि से शूद्र का अनधिकार सिद्ध होता है।

ये तु निर्विशेषचिन्मात्र ब्रह्मैव परमार्थः, अन्यत् सर्वमिथ्याभूतम् बंधश्चापारमार्थिकः, स च वाक्यजन्यवस्तुयाथात्म्यज्ञानमात्रनिवर्त्यः, तन्निवृत्तिरेवमोक्षः इति वदंति, तै ब्रह्मज्ञाने शूद्रादेरनधिकारो वक्तुं न शक्यते। अनुपनीतस्य अनधीतवेदस्याश्रुतवेदांतवाक्यस्यापि यस्मात्कस्मादपि निर्विशेषचिन्मात्रं ब्रह्मैव परमार्थोऽन्यत्सर्वम् तस्मिन् परिकल्पितं मिथ्याभूतमिति वाक्याद्वस्तुयाथात्म्यज्ञानोत्पत्तेः, तावतैव बंधनिवृत्तेश्च।

(शांकरमत निरसन) जो लोग निर्विशेष चिन्मात्र ब्रह्म को ही सत्य और सबको मिथ्या तथा देहादिबंधन को असत्य और तत्त्वमसि आदि वाक्य जन्य ज्ञान से बंधन की निवृति तथा उस निवृत्ति को ही मोक्ष मानते हैं वे तो शूद्रों के वेदों के अनधिकार की बात कह ही नहीं सकते। उनके उक्त मत के अनुसार तो, अनुपनीत—वेदाध्ययन रहित—वेदांतवाक्यों से अपरिचित जिस किसी भी व्यक्ति को "निर्विशेष चिन्मात्र

ब्रह्म ही सत्य है, बाकी सब कुछ मिथ्या है" इस वाक्य से ही वस्तु का यथार्थ ज्ञान हो जाना चाहिए और उतने ज्ञान मात्र से ही बंधमुक्ति भी हो जानी चाहिए।

न च तत्त्वमस्यादि वाक्येनैव ज्ञानोत्पत्तिः कार्या, न वाक्यांतरेणेति नियंतुंशक्यम्, ज्ञानस्यापुरुषतंत्रत्वात् सत्यां सामग्रयामनिच्छितोऽपि ज्ञानोत्पत्तेः। न च वेदवाक्यादेव वस्तुयाथात्म्यज्ञाने सति बंधनिवृत्तिर्भवतीति शक्यंवक्तुम्, येन केनापि वस्तुयाथात्म्यज्ञाने सति भ्रांतिनिवृत्तेः पौरुषेयादपि निर्विशेष चिन्मात्रं ब्रह्म परमार्थोऽन्यत् सर्वं मिथ्याभूतम् इति वाक्यात् ज्ञानोत्पत्तेस्तावतैव भ्रम निवृत्तिश्च। यथा पौरुषेयादप्याप्तवाक्याच्छुक्तिकारजतादि भ्रांति ब्राह्मणस्य शूद्रादेरपि त्रिवर्त्तते, तद्वदेवशूद्रस्यापि वेदवित् संप्रदायागतवाक्यात् वस्तुयाथात्म्यज्ञाने जगद् भ्रम निवृत्तिरपि भविष्यति।

ये भी नहीं कह सकते कि केवल "तत्त्वमसि" वाक्य से ही ज्ञानोत्पत्ति होती है, अन्य वाक्यों से नहीं हो सकती। सो भाई, ज्ञान कभी ज्ञाता पुरुष के अधीन तो नहीं रहता; प्रायः ज्ञानोत्पत्ति की सामग्री की उपस्थिति में भी ज्ञान नहीं होता, और ज्ञानेच्छा न रहते हुए भी ज्ञानोत्पत्ति हो जाती है।

और ये भी नहीं कह सकते कि-वेदवाक्य से ही यथार्थज्ञान हो जाने पर बंधन मुक्ति होती है; प्रायः देखा जाता है कि जिस किसी प्रकार से यथार्थ ज्ञान हो जाने से भी भ्रांति निवृत्त हो जाती हैं। किसी महान पुरुष के द्वारा "निर्विशेष चिन्मात्र ब्रह्म ही सत्य है अन्य सब कुछ मिथ्या है" इस वाक्य के उपदेश से ही ज्ञानोत्पत्ति और भ्रम निवृत्ति हो सकती है। जैसे कि-किसी प्रामाणिक आप्त पुरुष के द्वारा, निवृत्त की गई, सीप में हुई चाँदी की भ्रांति, ब्राह्मण और शूद्र दोनों के लिए समान है, वैसे ही वैदिक संप्रदाय के ज्ञाता विद्वान् पंडित के उपदेशात्मक वाक्य से, शूद्र को भी, वस्तु का यथार्थ ज्ञान और जगत् की भ्रमात्मक निवृत्ति भी हो सकती है।

"न चास्योपदिशेद्धर्मम्" इत्यादिना वेदविदः शूद्रादिभ्यो न वदंतीति च न शक्यं वक्तुम्, तत्त्वमस्यादि वाक्यावगत ब्रह्मात्मभावानां वेदशिरसि वर्त्तमानतया दग्धाखिलाधिकारत्वेन निषेधशास्त्रकिंकरत्वाभावात् अतिक्रांतनिषेधैर्वा कैश्चिदुक्ताद्वाक्यात् शूद्रादेः ज्ञानमुत्पद्यत एव ।

आप यह भी नहीं कह सकते कि—"न चास्योपदिशेद्धर्मम्" इत्यादि वाक्यों से, वेदवेत्ता शूद्रों को उपदेश देने का विरोध करते है; क्यों कि—जिन्हें "तत्त्वमसि" आदि वाक्यों से ब्रह्मात्मभाव का परिज्ञान हो गया है, वे तो वेदों से भी अतीत स्थिति को प्राप्त कर चुके, उनके तो सारे ही कर्म बन्धन दग्ध हो चुके, वे तो शास्त्रीय निषेध के दास हो नहीं सकते वे तो निषेध का अतिक्रमण करके शूद्र को तत्त्वोपदेश देंगे, शूद्र को तो ज्ञान हो ही जायगा।

न च वाक्यं शुक्तिकादौ रजतादिभ्रम निवृत्तिवत् पौरुषेय वाक्य जन्यतत्त्वज्ञानसमनन्तरं शूद्रस्य जगद्भ्रमो न निवर्त्तत इति, तत्त्वमस्यादि वाक्य श्रवण समनन्तरं ब्राह्मणस्यापि जगद्भ्रमानिवृत्तेः। निदिध्यासनेन द्वैतवासनायां निरस्तयामेव तत्त्वमस्यादि वाक्यं निवर्त्तकज्ञानमुत्पादयतीति चेत्—पौरुषेयमपि वाक्यं शूद्रोदस्तथैवेति न कश्चिद् विशेषः। निदिध्यासनं हि नाम ब्रह्मात्मत्वभावाभिधायि वाक्यं यदर्थप्रतिपादन योग्यं तदर्थभावना, सैव विपरीतवासनां निवर्त्तयतीति दृष्टार्थत्वं निदिध्यासनविधेर्ब्रूषे, वेदानुवचनादीन्यपि विविदिषोत्पत्तावेवोपयुज्यन्ते इति शूद्रस्यापि विविदिषायां जातायां पौरुषेय वाक्यान्निदिध्यासनादिभिर्विपरीतवासनायां निरस्तायां ज्ञानमुत्पत्स्यते, तेनैव अपारमार्थिको बन्धो निवर्त्तिष्यते, अथवा तर्कानुग्रहीतात् प्रत्यक्षादनुमानाच्च निर्विशेष स्वप्रकाशचिन्मात्र प्रत्यग्वस्तुन्यज्ञानसाक्षित्वं तत्कृतविविधविचित्र

ज्ञातृज्ञेयविकल्परूपं कृत्स्नं जगच्चाध्यस्तमिति निश्चित्यैवम्भूत-परिशुद्ध प्रत्यग्वस्तुन्यनवरतभावनया विपरीतवासनां निरस्य तदेव प्रत्यग्वस्तु साक्षात्कृत्य शूद्रादयोऽपि विमोक्ष्यन्त इति मिथ्याभूत-विचित्रैवश्वर्यं विचित्रश्रृष्ट्याद्यलौकिकानंतविशेषावलम्बिना वेदांत वाक्येन न किंचित् प्रयोजनमिह दृश्यत इति शूद्रादीनामेव ब्रह्म-विद्यायामधिकारः सुशोभनः। अनेनैव न्यायेन ब्राह्मणादीनामपि ब्रह्मवेदनसिद्धेरुपनिषच्च तपस्विनी दत्तजलांजलिः स्यात्।

आप यह नहीं कह सकते कि—सीप आदि में, रजतभ्रमनिवृत्ति की तरह, विद्वान् पुरुष के उपदेशात्मक वाक्य से शूद्र का जगद्भ्रम निवृत्त नहीं हो सकता, ठीक है—तत्त्वमसि वाक्य श्रवण के बाद बहुत से ब्राह्मणों की भी तो भ्रमनिवृत्ति नही होती। यदि कहें कि—निदिध्यासन से द्वैतवासना के निरस्त हो जाने पर ही निवर्त्तक ज्ञान होता है; सो यह नियम तो उपदेशात्मक वाक्य में शूद्रों के लिए भी लागू हो सकता है, कोई ब्राह्मण के लिए ही तो निदिध्यासन का विशेष नियम है नहीं। तत्त्व के प्रतिपादन में समर्थ ब्रह्मात्मभाव बोधक वाक्य विषयक भावना (चिन्तन के प्रवाह) को ही तो निदिध्यासन कहते हैं, यह भावना ही तो तद्विषयक विपरीत वासना की निवृत्ति करती है, यही निदिध्यासन का फल है। वेदानुशीलन को भी ज्ञानेच्छा उत्पादन का, उपयोगी कहा जाता है। इसी प्रकार महापुरुष के उपदेश वाक्य से ज्ञानेच्छा होने पर निदि-ध्यासनादि द्वारा विपरीत संस्कार के निवृत्त हो जाने पर शूद्र को भी तत्त्वज्ञान हो जायगा और उसी से असत् बंधन की भी निवृत्ति हो जायगी। अथवा आपके मतानुसार यह भी तो संभव है कि—जो निर्विशेष और स्वप्रकाश चैतन्यमय परमात्मा से बहुविध विचित्रतापूर्ण ज्ञातृ ज्ञेय कल्पनात्मक समस्त जगत समारोपित हैं, तर्क सम्मत प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण की सहायता से ज्ञानार्जन करके, शुद्ध चैतन्य परमात्मा की निरन्तर भावना करके, जगत सत्यता के उस भ्रांत संस्कार का निराकरण करके, सर्वव्यापी प्रत्यक्ष चैतन्य का साक्षात्कार करके, शूद्र आदि भी मुक्तिलाभ कर सकते हैं। मिथ्याभूत विचित्र ऐश्वर्य और विचित्र सृष्टि

आदि अनंत अलौकिक विशेषावगाही वेदांत वाक्य का यहाँ कोई प्रयोजन तो दीखता नही उक्त प्रकार से ही शूद्रादि का ब्रह्मविद्या में अधिकार समधिक शोभित होता है। ब्राह्मणादि को भी उक्त नियम से ही, ब्रह्मज्ञान सिद्धि संभावना के लिए तपस्विनी उपनिषद् देवी को जलांजलि देनी होगी।

न च वाच्यं नैसर्गिक लोक व्यवहारे भ्राम्यतोऽस्य केनचिदयं लौकिकव्यवहारोभ्रमः, परमार्थस्त्वेवमिति समर्पिते सत्येव प्रत्यक्षानुमानवृत्त बुभुत्सा जायत इति तत्समर्पिका श्रुतिरप्यास्थेयेति, यतो भवभयभीतानां सांख्यादय एव प्रत्यक्षानुमानाभ्यां वस्तुनिरूपणं कुर्वन्तः प्रत्यक्षानुवृत्तबुभुत्सां जनयंति बुभुत्सायां च जातायां प्रत्यक्षानुमानाभ्यामेव विविक्तस्वभावाभ्यां नित्यशुद्धस्वप्रकाशाद्वितीयकूटस्थ चैतन्यमेव सत्, अन्यत्सर्वं तस्मिन्नध्यस्तमिति सुविवेचनम्। एवंभूते स्वप्रकाशिनि वस्तुनि श्रुति समधिगम्यं विशेषांतरं च नाभ्युपगम्यते—

आप यह भी नहीं कह सकते कि—लोक अनादि काल से स्वाभाविक लौकिक व्यवहार में विभ्रान्त है, "यह समस्त लौकिक व्यवहार भ्रमात्मक है, परमार्थ वस्तु अमुक है" किसी सुबुद्ध व्यक्ति के द्वारा ऐसा बतलाने पर ही, इस लोक में प्रत्यक्ष और अनुमानावगत बुभुत्सा (बोधेच्छा) उत्पन हो सकती है, इसलिए तदनुकूल श्रुति का आश्रय लेना आवश्यक है।

इस प्रकार तो निरीश्वरवादी सांख्य आदि भी, भव भयभीत प्राणियों में, प्रत्यक्ष और अनुमान की सहायता से वस्तु का निरूपण करते हुए, प्रत्यक्षानुमान विषयक व्यावहारिक बुभुत्सा जाग्रत करते है। उस बुभुत्सा के जागरित होने पर तो, निर्दोष प्रत्यक्ष और अनुमान की सहायता से, नित्यशुद्ध स्वप्रकाश अद्वितीय चैतन्य कूटस्थ ही सत्, और बाकी सब उसी से अध्यस्त सिद्ध होते हैं। इस प्रकार स्वप्रकाश वस्तु में, अन्यान्य श्रौत धर्म भी स्वीकृत नहीं होते क्यों कि—आपके मतानुसार श्रुति तो एकमात्र, अध्यस्त मिथ्या रूप का ही निर्वर्त्तन करती है।

न च सत आत्मन आनंदरूपताज्ञानायोपनिषदास्थेया चिद्रूपताया एव सकलेतरा तद्रूपव्यावृत्ताया आनंदरूपत्वात्। यस्य तु मोक्षसाधनतया वेदातवाक्यैर्विहितं ज्ञानमुपासनरूपं, तच्च परब्रह्मभूत परमपुरुष प्रीणनम्, तच्चशास्त्रैक समधिगम्यम्। उपासन शास्त्रं चोपनयनादि संस्कृताधीत स्वाध्यायजनितं ज्ञानं विवेकविमोकादिसाधनानुगृहीतमेव स्वोपायतया स्वीकरोति, एवं रूपोपासनप्रीत. पुरुषोत्तम, उपासक स्वाभाविकात्मयाथात्म्यज्ञानदानेन कर्मजनिताज्ञानं नाशयम् बंधान् मोचयतोति पक्षः तस्ययथोक्तया नीत्या शूद्रादेरनधिकार उपपद्यते।

सत् स्वरूप आत्मा के आनंदरूप ज्ञान के लिए, उपनिषदों का आश्रय लिया ही जावे, यह भी कोई आवश्यक नही है। क्यों कि—मिथ्याभूत अन्यान्य समस्त पदार्थों से पृथक् जो चैतन्य है, वस्तुतः आनदरूप ही तो उसका स्वाभाविक रूप है। जो लोग, वेदांतविहित उपासना रूप ज्ञान को मोक्ष का साधन मानते हैं तथा परब्रह्म परंपुरुष भगवान की साक्षात् कृपा की कामना से ही उपासना में सलग्न रहते हैं जो कि—एकमात्र शास्त्र सम्मत ही होती है। उपासना प्रतिपादक शास्त्र उपनयन आदि संस्कारों से संस्कृत, वेदाधीत, विवेक विमोक आदि साधनों से परिपोषित व्यक्ति के ज्ञान को ही, मोक्षोपाय रूप से स्वीकारता है। ऐसी उपासना से परितुष्ट पुरुषोत्तम ही (गुरुरूप से) उपासक को, स्वाभाविक स्वकीय यथार्थ ज्ञान का दान देकर, कर्मजनित अज्ञान का संहार कर बंधन से मुक्त करते हैं। ऐसे मत में ही, यथार्थ रूप से शूद्र का अनधिकार माना जा सकता है।

प्रमिताधिकरण शेष :—

तदेवं प्रसक्तानुप्रसक्ताधिकारकथां परिसमाप्य प्रकृतस्य अंगुष्ठ प्रमितस्य भूतभव्येशितृत्वावगत परब्रह्म भावोत्तंभनं हेत्वंतरमाह—

इस प्रकार प्रासंगिक अधिकार विचार को समाप्त कर अब पुनः प्रस्तावित अंगुष्ठ परिमित के भूतभविष्य के स्वामित्व को बतलाने वाले ब्रह्मभाव के समर्थक अन्य कारणों का उल्लेख करते हैं—

कम्पनात् ।१।३।४०॥

"अंगुष्ठ मात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति" अंगुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा "इत्यनयोर्वाक्ययोर्मध्ये" यदिदं किच् जगत्सर्वं प्राण एजति निस्सृतम् । महद्भयं वज्रमुद्यतं य एतद्विदुरमृतास्ते भवंति। भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपतिसूर्यः, भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पंचमः ।" इति कृत्स्नस्य जगतोऽग्निसूर्यादीनां चास्मिन्नंगुष्ठ मात्रे पुरुषे प्राणशब्द निर्दिष्टे स्थितानां सर्वेषां ततो निस्सृतानां तस्मात्संजातमहाभयनिमित्तं एजनंकम्पनं श्रूयते। तच्छासनातिवृत्तौ किं भविष्यतीति, महतो भयाद् वज्राद् इवोद्यतात् कृत्स्नं जगत् कंपत् इत्यर्थः । "भयादस्याग्निस्तपति" इत्यनेनैकार्थ्यात् "महद्भयं वज्रमुद्यतम्" इतिपंचम्यर्थे प्रथमा । अयं च परस्यब्रह्मणस्स्वभावः "एतस्य वाऽक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचंद्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः" भीषाऽस्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्यः, भीषाऽस्मादग्निश्चेन्द्रश्च, मृत्युर्धावति पंचमः" इति परस्य ब्रह्मणः पुरुषोत्तमस्यैवं विधैश्वर्यावगतेः ।

"अंगुष्ठ मात्र परिमाण वाला पुरुष शरीर के मध्य के हृदयाकाश में स्थित है "अंगुष्ट मात्र पुरुष अंतरात्मा है" इन दोनों वाक्यों के मध्य में ही—"परब्रह्म परमेश्वर से उत्पन्न यह सारा जगत, उस प्राण स्वरूप परमेश्वर में ही चेष्टा करता है, इस उठे हुए वज्र के समान महान् भय स्वरूप परमेश्वर को जो जानते हैं वे अमर हो जाते हैं, उसी भय से अग्नितपता है, सूर्यतपता है, इसी के भय से इन्द्र, वायु और पांचवे देवता मृत्यु अपने-अपने कार्यों में संलग्न हैं।" इत्यादि वर्णन भी मिलता है जिसका तात्पर्य है कि—समस्त जगत अग्नि सूर्यादि सहित, प्राण शब्द निर्दिष्ट इस अंगुष्ठ परिमाण पुरुष में ही स्थित हैं और उसी से प्रकट होकर उसके ही संयमन में, भयभीत होकर संसार कर्म को नियमित रूप से कर रहे हैं। इसमें जो भय से कपित होने वाली बात लिखी है, उसका

तात्पर्य है कि–उसका शासन का अतिक्रमण करने पर अनिष्ट होगा, इस महान् भय से उठे हुए वज्र के समान उससे सारा जगत कांपता है।

"भयादग्निस्तपति" का जो अर्थ है वही "महद्‌भयं" इत्यादि का भी है, द्वितीय वाक्य मे पंचमी अर्थ की द्योतिका प्रथमा विभक्ति है। उक्त परब्रह्म के स्वभाव को–"हे गार्गि! इस अक्षर के प्रशासन में सूर्य और चंद्र स्थित हैं, इसके भय से वायु डोलता है, सूर्य उदय होता है, इसी के भय से अग्नि-चंद्र और पांचवा मृत्यु कार्य में संलग्न है" इत्यादि परब्रह्म पुरुषोत्तम के ऐश्वर्य बोधक वाक्यों से भी जाना जा सकता है।

इतश्चांगुष्ठ प्रमितः पुरुषोत्तमः—

ज्योतिर्दर्शनात् ।१।३।४१॥

तयोरेवांगुष्ठ प्रमितविषययोर्वाक्ययोर्मध्ये परब्रह्मसाधारणं सर्वं तेजसां छादकं सर्वतेजसां कारणभूतमनुग्राहकं चांगुष्ठ प्रमितस्य ज्योतिर्दृश्यते–"न तत्र सूर्यो भाति न चंद्रतारकं नेमाविद्युतो भ्रांति कुतोऽयमग्निः, तमेव भान्तमनु भातिसर्वं तस्यभासा सर्वमिदं विभाति" इति। अयमेवश्लोक अथर्वणे परब्रह्माधिकृत्यश्रूयते। पर ज्योतिष्ट्वं च सर्वत्रपरस्य ब्रह्मणः श्रूयते। यथा–"परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते"–तं देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम्–"अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते" इत्यादिषु। अतो अंगुष्ठ प्रमितः परं ब्रह्म।

उन दोनों अंगुष्ठ प्रमित विषयक दोनों वाक्यों के बीच में परब्रह्म के असाधारण धर्म सर्वतेजोभिभावक एवं समस्त तेजों के कारण अनुग्राहक ज्योतिष रूप का जो वर्णन मिलता है, अंगुष्ठ प्रमित के लिए भी वैसी ही ज्योति का वर्णन मिलता है–"वहाँ न सूर्य प्रकाशित होता है, न चंद्रमा न तारों का समुदाय ही न ये बिजलियाँ ही प्रकाशित होती हैं, इस अग्नि की तो गणना ही क्या है; उसके प्रकाशित होने पर ही सूर्य आदि प्रकाशित होते हैं, उसी के प्रकाश से यह संपूर्ण जगत प्रकाशित होता है" यही श्लोक अथर्वण उपनिषद् में परब्रह्म के लिए कहा गया है,

परब्रह्म के लिए ही सर्वत्र परंज्योति स्वरूप का प्रयोग किया गया है, जैसे कि—"परं ज्योति को प्राप्त कर अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है" देवगण, उन्हें ज्योतियों की ज्योति, अमृत और वायु रूप से उपासना करते हैं "ये जो द्युलोक से ऊपर ज्योति प्रकाशित हो रही है।" इत्यादि, इससे सिद्ध होता है कि-अंगुष्ठ प्रमित परमात्मा ही है।

१० अर्थान्तरत्वादिव्यपदेशाधिकरण :—

आकाशोऽर्थान्तरत्वादिव्यपदेशात् ।१।३।४२॥

छांदोग्ये श्रयते—"आकाशो ह वै नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद्ब्रह्म तदमृतं स आत्मा" इति। तत्र संशयः किमया-माकाश शब्द निर्दिष्टो मुक्तात्मा, उत परमात्मा—इति किं युक्तम्? मुक्तात्मेति, कुतः? "अश्व इव रोमाणि विधूय पापं, चंद्र इव राहोर्मुखात् प्रमुच्य, धूत्वा शरीरमकृतं कृतात्मा ब्रह्मलोकमभि-संभवामि" इति मुक्तस्यानंतर प्रकृतत्वात् "ते यदंतरा" इति च नामरूपविनिर्मुक्तस्य तस्याभिधानात् "नामरूपयोर्निर्वहिता" इति च स एव पूर्वावस्थयोपलिलक्षयिषतः स एव हि देवादि रूपाणि नामानि च पूर्वमबिभः, तस्यैव नामरूपविनिर्मुक्ता सांप्रतिकयवस्था "तद्ब्रह्म तदमृतम्" इत्युच्यते आकाशशब्दश्च तस्मिन्नप्यसंकुचित प्रकाशयोगादुपपद्यते। ननु दहर वाक्यशेषत्वादस्य स एव दहरा-काशोऽयमिति प्रतीयते, तस्य च परमात्मत्वं निर्णीतम्।मैवं, प्रजा-पति वाक्य व्यवधानात्। प्रजापति वाक्ये च प्रत्यगात्मनो मुक्त्यवस्थान्तं रूपमभिहितम्, अनन्तरं च "विधूय पापम्" इति स एव मुक्तावस्था प्रस्तुतः। अतोऽत्राकाशो मुक्तात्मा।

छांदोग्योपनिषद का वाक्य है—"आकाश ही नाम और रूप का निर्वाहक है, ये नामरूप जिसके अन्तर्यामी हैं, वही ब्रह्म, वही अमृत

वही आत्मा है" इत्यादि। इस पर संशय होता है कि—आकाश शब्द निर्दिष्ट मुक्तात्मा है या परमात्मा ? कह सकते हैं कि मुक्तात्मा, क्यों कि "जैसे कि घोड़ा रोंए झाड़कर निर्मल हो जाता है, उसी प्रकार मैं पापों को धोकर, राहु के मुख से निकले चन्द्रमा के समान शरीर त्याग कर कृतकृत्य हो, नित्य ब्रह्मलोक को प्राप्त होता हूँ" ऐसा मुक्तात्मा का वर्णन मिलता है। "वह नाम और गुण उसके अन्तर्गत हैं" इस वाक्य में नाम रूप से मुक्त उसका वर्णन प्रतीत होता है "वह नाम रूप का निर्वाहक है" इस वाक्य में भी, इसी की, सृष्टि की पूर्व स्थिति का वर्णन किया गया है। उसने ही पहिले देवादि रूपों में बहुत से नाम धारण किये, वही ब्रह्म, वही अमृत है" इस वाक्य में भी उसी की नाम रूप रहित अवस्था का वर्णन है। अव्याहत प्रकाश से संबद्ध होने से, उसे ही आकाश कहा गया है।

यह प्रकरण दहर वाक्य का शेषांश है इसलिए यह वर्णन दहराकाश का ही प्रतीत होता है, दहराकाश परमात्मा ही है, यह निर्णय कर ही चुके हैं, इसलिए यह परमात्मा का वर्णन है, इत्यादि शंका नहीं की जा सकती, क्यों कि दहर प्रकरण और इस प्रकरण के मध्य में प्रजापति वाक्य का व्यवधान है। प्रजापति वाक्य में जीवात्मा की मुक्तावस्था का ही वर्णन है, उसके बाद ही "पापों को धोकर" वाक्य भी मुक्तात्मा का ही बोधक है। इससे सिद्ध होता है कि मुक्तात्मा ही आकाश है।

सिद्धान्तः— इति प्राप्त उच्यते—आकाशोऽर्थान्तरत्वादिव्यपदेशात् इति आकाशः परब्रह्म, कुतः ? अर्थान्तरत्वादिव्यपदेशात्। अर्थान्तर व्यपदेशस्तावत्—"आकाशो ह वै नामरूपयोर्निर्वहिता" इति नामरूपयोः निर्वोढृत्वं बद्धमुक्तोभयावस्थात् प्रत्यगात्मनोऽर्थान्तरत्वमाकाशस्योपपादयति। बद्धावस्थः स्वयं कर्मवशान्नामरूपे भजमानो न नामरूपे निर्वोढु शक्नुयात्, मुक्तावस्थस्य जगद्व्यापारासंभवात् न नितरां नामरूपनिर्वोढृत्वम्। ईश्वरस्य तु सकल जगन्निर्माण धुरंधरस्य नामरूपयोः निर्वोढृत्वम् श्रुत्यैव प्रतिपन्नम्—"अनेन

जीवेनाऽत्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि"—यः सर्वज्ञः सर्व-विद्यस्य ज्ञानमयंतपः, तस्मादेतद् ब्रह्म नामरूपमन्नं च जायते—"सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरो नामानि कृत्वाऽभिवदन्यदास्ते" इत्यादिषु। अतो निर्वाह्यनामरूपात्प्रत्यगात्मनो नामरूपयोनिर्वोढाऽयमाकाशोऽर्थान्तरभूतः परमेव ब्रह्म। तदेवोपपादयति "ते यदंतरा" इति। यस्मादयमाकाशो नामरूपे अन्तरा—ताभ्यां अस्पृष्टोऽर्थान्तरभूतः, तस्मात्तयोर्निर्वोढा अपहतपाप्मत्वात् सत्यसंकल्पत्वाच्च निर्वहितेत्यर्थः। आदिशब्देन ब्रह्मत्वात्म त्वामृतत्वानि गृह्यंते। निरुपाधिकवृहत्वादयो हि परमात्मन एव संभवंति, तेनात्राकाशः परमेव ब्रह्म।

उक्त संशय पर सूत्रकार सिद्धान्त रूप से "आकाशोऽर्थान्तर" सूत्र प्रस्तुत करते हैं। उनके मत से आकाश, परब्रह्म है, क्यों कि उपनिषदों में इसी अर्थ में आकाश शब्द का प्रयोग किया गया है। जैसे कि—"आकाश नाम रूप का निर्वाहक है" इत्यादि जिसे निर्वाहिका शक्ति की चर्चा की गई है, वही बद्धमुक्त उभय अवस्था वाले जीवात्मा से पार्थक्य बतलाती है। बद्ध अवस्था वाला जीव, कर्मों के वश होकर स्वयं ही नाम और रूप का अनुसरण करता है इसलिए वह तो निर्वाहक हो नहीं सकता। मुक्त अवस्था वाले जीव में जागतिक व्यवहार होता नहीं, इसलिए वह भी, नाम रूप का निर्वाहक नहीं हो सकता। सारे विश्व के निर्माण में पटु ईश्वर की नामरूप निर्वाकता शास्त्र प्रसिद्ध है—जैसे कि—"इस जीव में प्रवेश कर नामरूप का व्यवहार करूँगा"—सर्वज्ञ, सर्वविद्, ज्ञानमय तप वाले उस परमेश्वर से ही यह विराट जगत और नाम रूप तथा अन्न की उत्पत्ति हुई—"धीर परमेश्वर, समस्त रूप का विस्तार कर उनका नामकरण करके, उन्हीं नामों को व्यवहृत करते हुए स्थित हैं" इत्यादि से सिद्ध होता है कि—नाम रूप का निर्वाहक आकाश, अपने कार्यभूत नामरूप संपन्न जीवात्मा से भिन्न, परब्रह्म ही है। उसी का प्रतिपादन "ते यदन्तरा" इत्यादि वाक्य में किया गया है, उसमें बतलाया गया है कि—यह आकाश, नामरूप से अस्पृष्ट पृथक् पदार्थ है, इसीलिए वह नामरूप का निर्वाहक है, अर्थात् वह निष्पापता और सत्यसंकल्पता को

चरितार्थ करने के लिए, नामरूप का निर्वाह करता है। सूत्र में प्रयुक्त आदि शब्द का तात्पर्य है–ब्रह्मत्व आत्मत्व और अमृतत्त्व। अहैतुक महानता आदि गुण परमात्मा में ही संभव हैं इसलिए इस प्रकरण का उपदिष्ट आकाश तत्त्व, परब्रह्म का ही रूप है।

यत् पुनरुक्तं "धूत्वा शरीरम्" इति मुक्तोऽनंतर प्रकृत. इति तन्न, 'ब्रह्मलोकमभिसंभवामि" इति परस्यैव ब्रह्मणोऽनन्तर प्रकृतत्वात्। यद्यप्यभिसंभवितुर्मुक्तस्याभिसंभाव्यतया परं ब्रह्मनिर्दिष्टम्, तथाप्यभिसंभवितुर्मुक्तस्य नामरूपनिर्वोढृत्वाद्यसंभावादभिसंभाव्यं परमेव ब्रह्म तत्र प्रत्येतव्यम्।

"धूत्वाशरीरम्" यह परवर्त्ती वाक्य, मुक्त अवस्था वाले जीवात्मा के लिए कहा गया है, यह कथन भी असगत है, "ब्रह्मलोक को प्राप्त होऊँगा" यह वाक्य, उपर्युक्त वाक्य के ठीक बाद का जो कि परमात्मा के लिए कहा गया है। यद्यपि, ब्रह्मभाव लब्ध मुक्तपुरुष का प्राप्य रूप परब्रह्म ही कहा गया है, तथापि, उस ब्रह्मभाव लब्ध मुक्त पुरुष मे जब, नाम रूप निर्वाकत्व है नहीं, तो अभिसद्भाव्य परमात्मा को ही निर्वाहक मानना पड़ेगा।

किं च आकाश शब्देन प्रकृतस्य दहराकाशस्यात्र प्रत्यभिज्ञानात् प्रजापतिवाक्यस्याप्युपासक स्वरूप कथनार्थत्वादुपास्य एव दहराकाशः प्राप्यतयोपसंह्रियत इति युक्तम्। आकाश शब्दश्च प्रत्यगात्मनि न कश्चिद् दृष्टचरः। अतोऽत्राकाशः परंब्रह्म।

उक्त प्रकरण में, आकाश शब्द से प्रस्तावित दहराकाश ही निर्दिष्ट है, मध्यवर्त्ती प्रजापति वाक्य का तात्पर्य, उपासक के स्वरूप का कथन मात्र है, इस जगह उपास्य रूप से दहराकाश को ही प्राप्य बतलाकर उपसंहार किया गया है, यही मानना युक्ति सगत है। आकाश शब्द का, जीवात्मा के लिए कहीं भी प्रयोग दिखलाई नहीं देता। इसलिए निश्चित होता है कि उक्त प्रकरण में आकाश शब्द, परब्रह्म का ही वाचक है।

अथस्यात्–प्रत्यगात्मनोऽर्थान्तरभूतमात्मान्तरमेव, नास्ति, ऐक्योपदेशात् द्वैत प्रतिषेधाच्च। शुद्धावस्थ एव हि प्रत्यगात्मा, परमात्मा परंब्रह्म परमेश्वर इति च व्यपदिश्यते, अतः प्रकृतान्मुक्तात्मनोऽभिसंभवितुर्नार्थान्तरमभिसन्भाव्यो ब्रह्मलोकः अतोनामरूपयोर्निर्विहिता आकाशोऽपि स एव भवितुमर्हति-इति। अत उत्तरं पठति–

श्रुति वाक्यों के अद्वैत वर्णन और द्वैत के प्रतिषेध से ज्ञात होता है कि–जीवात्मा से पृथक् किसी अन्य का अस्तित्व नहीं है, शुद्ध अवस्था वाला जीवात्मा ही, परमात्मा, परब्रह्म, परमेश्वर आदि नामों से उल्लेख्य है अभिसद्भविता (ब्रह्मभाव प्राप्त) मुक्तात्मा से अभिसद्भाव्य (प्राप्य) ब्रह्मलोक कोई भिन्न वस्तु नहीं है, इसलिए नाम रूप का निर्वाहक आकाश भी जीवात्मा ही है। इस भ्रांति का उत्तर सूत्रकार देते हैं––

सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेन ।१।३।४३॥

व्यपदेशादिति वर्त्तते, सुषुप्त्युत्क्रान्त्योः प्रत्यगात्मनोऽर्थान्तरत्वेन परमात्मनो व्यपदेशात् प्रत्यगात्मनोऽर्थान्तरभूतः परमात्माऽस्त्येव। तथाहि–बाजसनेयके–"कतम आत्मायोऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु" इति प्रकृतस्य प्रत्यगात्मनः सुषुप्त्यवस्थायामकिंचिद्ज्ञस्य सर्वज्ञेन परमात्मना परिष्वंग आम्नायते–"प्राज्ञेनात्मनासंपरिष्वक्तो न वाह्यं वेद नान्तरम्" इति। तथोत्क्रांतावपि–"प्राज्ञेनात्मनाऽन्वारूढ उत्सर्जंन्याति" इति। न च स्वपत उत्क्रामतो वा किंचिद् ज्ञस्य तदानीमेव स्वेनैव सर्वज्ञेन सतापरिष्वंगान्वारोहौ संभवतः न च क्षेत्रज्ञान्तरेण तस्यापि सर्वज्ञत्वासंभवात्।

जीवात्मा के लिए सुषुप्ति और उत्क्रांति इन दो अवस्थाओं का वर्णन मिलता है, जिससे, जीवात्मा–परमात्मा का भेद स्पष्ट हो जाता है, इसलिए जीव से भिन्न परमात्मा नामक कोई तत्त्व है यह मानना

होगा। जैसा कि–वाजसनेय उपनिषद् में—"आत्मा कौन है ? जो कि–प्राणों के मध्य में विज्ञानमय नामवाला है" इत्यादि उपक्रम के बाद, सामान्य अज्ञ जीवात्मा का सुषुप्ति अवस्था में प्राज्ञ परमात्मा से मिलन बतलाया गया है जैसे कि–"प्राज्ञ परमात्मा से मिलकर वाह्याभ्यंतर ज्ञान से शून्य हो जाता है।" तथा उत्क्रान्ति में भी जैसे–"प्राज्ञ परमात्मा से अधिष्ठित होकर (जीव) शरीर त्याग कर जाता है।" इन दोनों वर्णनों से स्पष्ट हो जाता है कि–जीवात्मा और परमात्मा भिन्न हैं, एक नहीं है, एक ही वस्तु में अज्ञता और प्राज्ञता, एकीभाव और प्रतिष्ठान आदि विलक्षणतायें सभव नहीं हैं और न क्षेत्रज्ञ जीवात्मा का साहचर्य ही संभव हैं क्योंकि–उसमें सर्वज्ञता का अभाव है।

इतश्च प्रत्यगात्मनोऽर्थान्तरभूतः परमात्मेत्याह– | जो

इसलिए भी जीवात्मा को परमात्मा से भिन्न बतलाया जाता है कि—

पत्यादिशब्देभ्यः :१।३।४४॥

अयं परिष्वंजकः परमात्मा उत्तरत्र पत्यादिशब्दैः व्यपदिश्यते 'सर्वस्याधिपतिः सर्वस्यवशी सर्वस्येशानः स न साधुनाकर्मणा भूयान्नो एव असाधुना कनीयान्, एष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेष भूतपाल एष सेतुः विधरण एषां लोकानामसम्भेदाय, तमेतंवेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषंति एतमेव विदित्वा मुनिर्भवति, एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजंति"—"स वा एष महानज आत्माऽन्नादोवसुदानः"—अजरोऽमृतोऽभयोब्रह्म" इति एते च पतित्व जगद्विधरणत्व सर्वेश्वरत्वादयः प्रत्यगात्मनि मुक्तावस्थेऽपि न कथचिद् संभवंति। अतो मुक्तात्मनोऽर्थान्तरभूतो नामरूपयोर्निर्विहिता आकाश.। ऐक्योपदेशस्तु सर्वस्य चिदाचिदात्मकस्य ब्रह्मकार्यत्वेन तदात्मकत्वायत्त इति "सर्वंखल्विदं ब्रह्म तज्जलान" इत्यादिभिर्वाक्यैः प्रतिपाद्यत इति पूर्वमेव समर्थितम्। द्वैत प्रतिवेधश्च तत एषेत्यनवद्यम्।

उक्त प्रकरण के उत्तर भाग में, जीवात्मा से परिष्वक्त होने वाले परमात्मा को पति आदि शब्दों से बतलाया गया है—"वह सभी के अधि-पति, वश करने वाले, सभी के ईश्वर हैं, वह उत्तम कर्मों से महान् या मंद कर्मों से हीन नहीं होते, वे सबके ईश्वर भूतपाल, भूताधिपति हैं, वे ही समस्त जगत के विभाग संरक्षण करने वाले सेतु हैं, ब्रह्मनिष्ठ ब्राह्मण उन्हें वेदार्थ परिशीलन से जानने की इच्छा रखते हैं उन्हें जानकर मौन हो जाते हैं। संन्यासी भी इन्हीं को जानने की इच्छा से संन्यास लेते हैं।" यह महान अज आत्मा ही अन्नभोक्ता और धनदाता हैं।" ब्रह्म अजर-अमर और अभय स्वरूप है।" इत्यादि वाक्यों में जो पतित्व, जगद्विधरणत्व और सर्वेश्वरत्व आदि गुण बतलाए गए हैं, वे मुक्त अवस्था वाले जीवात्मा में कदापि संभव नहीं हैं। इससे ज्ञात होता है कि—मुक्तात्मा से भिन्न नामरूप निर्वाहक आकाश है। "यह सब कुछ ब्रह्म है" इत्यादि वाक्य में जो अद्वैत का प्रतिपादन है, उसका तात्पर्य है कि—जड़ चेतन सारा जगत ब्रह्म का ही कार्य हैं, तदात्मक और उनके अधीन है; इसका विवेचन पहिले भी कर चुके हैं। ब्रह्मात्मक भाव से ही द्वैत का प्रतिषेध भी किया गया है। ऐसा मानना ही निर्दोष सुसंगत मत है।

प्रथम अध्याय तृतीय पाद समाप्त



[प्रथम अध्याय]

चतुर्थ पाद

१. आनुमानिकाधिकरणः—

आनुमानिकमप्येकेषामितिचेन्न शरीररूपकविन्यस्तगृहीतेर्दर्शयतिच ।१।४।१॥

उक्तं परमपुरुषार्थलक्षणमोक्षसाधनतया जिज्ञास्यं जगज्जन्मादि कारणं ब्रह्मचिद्वस्तुनः प्रधानादेश्चेतनाच्च वद्धमुक्तोभयावस्थाद् विलक्षणं निरस्त समस्तहेयगंध सर्वज्ञं सर्वशक्ति सत्यसंकल्पं समस्त कल्याण गुणात्मकं सर्वान्तरात्मभूतम् निरंकुशैश्वर्यम् इति। इदानीं कापिलतंत्रसिद्धा ब्रह्मात्मक प्रधान पुरुषादि प्रतिपादन मुखेन प्रधान कारणत्व प्रतिपादनच्छायानुसारोष्यपि कानिचिद्वाक्यानि कासुचिच्छाखासु संतीत्याशंक्य ब्रह्मैककारणत्वस्थेम्ने तन्निराक्रियते ।

तृतीय पाद तक, मोक्षसिद्धि के उपाय रूप से जिज्ञास्य, जगत् की सृष्टि आदि के कारण, प्रधान आदि अचेतन तथा बद्धमुक्त-अवस्था वाले चेतन जीवात्मा से विलक्षण, समस्त हीनता से रहित, सर्वज्ञ, सर्वशक्ति, सत्यसंकल्प, समस्त कल्याण गुणात्मक, सर्वान्तर्यामी, सर्वतंत्र स्वतंत्र परम पुरुषार्थ स्वरूप पर ब्रह्म, का विवेचन किया गया हैं। अब अनीश्वर-वादी कपिल के सांख्यशास्त्र के प्रतिपाद्य प्रधान पुरुष में जो, प्रधान तत्व है उसका श्रुतियों में कुछ अंशों में, छायारूप से प्रतिपादन प्रतीत होता है, अतः वही जगत का कारण है, ऐसी आशंका करते हुए, ब्रह्मकारणवाद का दृढ़ता से संपादन करते हुए, उक्त आशंका का निराकरण करेंगे ।

कठवल्लीष्वाम्नायते—"इन्द्रियेभ्यः पराह्यर्था अर्थेभ्यश्च परंमनः, मनसस्तु पराबुद्धिः बुद्धेरात्मामहान् परः, महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः पुरुषान्न परं किंचित् सा काष्ठा सा परागतिः ।" इति,

तत्र संदेहः किं कापिल तंत्र सिद्धिमब्रह्मात्मकं प्रधानमिहाव्यक्त शब्देनोच्यते, उत न इति। किं युक्तम्? प्रधानमिति, कुतः? "महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः" इति तंत्रसिद्धतंत्र प्रक्रिया-प्रत्यभिज्ञानेन तस्यैव प्रतीतेः "पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परागतिः" इति पंचविंशकपुरुषातिरिक्त तत्व निषेधाच्च। अतोऽ-व्यक्तम् कारणमिति प्राप्तम्। तदिदमुक्तम्—आनुमानिकमप्येकेषामिति चेत्—इति। एकेषां शाखिनां शाखास्वानुमानिकं प्रधानमपि कारण-माम्नायत इति चेत्—

कठवल्ली में प्रसग आता है कि—"इन्द्रियों से शब्दादि विषय बलवान हैं, विषयों से मन बलवान है, मन से बुद्धि बलवती है बुद्धि से श्रेष्ठ महत् तत्त्व है, महत् तत्त्व से बलवती अव्यक्त माया है, उस अव्यक्त से श्रेष्ठ पुरुष है, उस पुरुष से श्रेष्ठ कोई नहीं है वही सब की परम अवधि और परमगति है।"

इसको पढ़कर संदेह होता है कि—कपिल के सांख्य शास्त्र से सम्मत प्रधान को ही अव्यक्त नाम से बतलाया गया है अथवा नहीं, कह सकते हैं कि, प्रधान का ही वर्णन है, क्योंकि-अव्यक्त से पुरुष की जो बात कही गई है, वह सांख्यतंत्र की ही प्रणाली है। तथा 'पुरुष से श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है, वही परमगति और परम अवधि है" इत्यादि में जिस पुरुष का वर्णन किया गया है वह भी सांख्यतंत्र सिद्ध पंचविंशक पुरुष का ही वर्णन प्रतीत होता है। इसलिए जगत का कारण वह अव्यक्त प्रधान ही है ऐसा निश्चित होता है। इसी आशय से "आनुमानिक मप्ये केषाम्" अर्थात् किसी एक शाखा में आनुमानिक प्रधान को कारण माना गया है। इत्यादि——

सिद्धान्त—अत्रोत्तरं नेति। नाव्यक्तशब्देनाब्रह्मात्मकं प्रधान-मिहाभिधीयते। कुतः? शरीररूपक विन्यस्त गृहीतेः, शरीराख्य रूपक विन्यस्तस्य अव्यक्त शब्देनं गृहीतेः। आत्मशरीरबुद्धिमन इन्द्रियविषयेषु रथिरथादिभावेन रूपितेषु रथरूपेण विन्यस्तस्य

शरीरस्यात्राव्यक्त शब्देन ग्रहणादित्यर्थः । एतदुक्तं भवति-पूर्वत्र हि–"आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव च, बुद्धीं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च, इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्" इत्यादिना; "सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमंपदम्" इत्यतेन संसाराध्वनः पारं वैष्णवं पदं प्रेप्संतमुपासकं रथित्वेन तच्छरीरादीनि च रथरथां-रूपयित्वा यत्यैते रथादयो वशे तिष्ठंति, स एवाध्वनः पारं वैष्णवं पदमाप्नोतीत्युक्तवा, तेषु रथादिरूपित शरीरादिषु यानि येभ्यो वशीकार्यतायां प्रधानानि तान्युच्यन्ते "इन्द्रियेभ्यः परः" इत्यादिना। तत्र हयत्वेन रूपितेभ्य इन्द्रियेभ्यो गोचरत्वेन रूपिता विषयाः वशीकार्यत्वे पराः वश्येन्द्रियस्यापि विषयसन्निधाविन्द्रियाणां दुर्निग्रहत्वात् । तेभ्योऽपि परं प्रग्रहरूपितं मनः, मनसि विषय प्रवणे विषयासन्निधानस्याप्यकिंचित्करत्वात् । तस्मादपि सारथित्वरूपिता बुद्धिः परा, अध्यवसायाभावे मनसोऽप्यकिंचित्करत्वात् । तस्या अपि रथित्व रूपित आत्मा कर्तृत्वेन प्राधान्यात्परः, सर्वस्यचास्यात्मेच्छायत्तत्वादात्मैव महानिति च विशेष्यते । तस्मादपि रथरूपितं शरीरं परम्, तदायत्तत्वाज्जीवात्मनः सकल पुरुषार्थसाधन प्रवृत्तीनाम् । तस्मादपि परः सर्वान्तरात्मभूतोऽन्तर्याम्यध्वनः पारभूतः परं पुरुषः, यथोक्तस्यात्मपर्यन्तस्य समस्तस्य तत्संकल्पायत्त प्रवृत्तित्वात् । स खल्वन्तर्यामितयोपासनस्यापि निर्वर्तकः । "परात्तुतच्छ्रुतेः" इति हि जीवात्मनः कर्तृत्वं परमपुरुषायत्तामिति वक्ष्यते । वशीकार्योपासन निर्वृत्युपायकाष्ठाभूतः परमप्राप्यश्च स एव । तदिदमुच्यते "पुरुषान्न परं किंचित् सा काष्ठा सा परा गतिः" इति ।

सिद्धान्त—उक्त शंका का उत्तर नकारात्मक है। उक्त प्रसंग में अव्यक्त शब्द से प्रधान का उल्लेख नहीं है, क्योंकि—अव्यक्त के लिए शरीर के रूपक का वर्णन मिलता है जिसमें, आत्मा, शरीर, बुद्धि, मन,

इन्द्रिय, इन्द्रिय के विषय, रथी और रथ आदि के रूप में कल्पना की गई है रथ रूप से उल्लेख्य शरीर को ही अव्यक्त शब्द से प्रस्तुत किया गया है। यह रूपक उक्त प्रकरण के पूर्व का ही है। रूपक इस प्रकार है–"आत्मा को ही रथी, शरीर को रथ, बुद्धि को सारथी, और मन को लगाम समझो, इन्द्रियों को घोड़ा, विषयों को उनकी विचरण भूमि" इत्यादि से लेकर "वही संसार मार्ग से पार वैष्णव पद को प्राप्त करते हैं" इस अंतिम वाक्य तक, संसार मार्ग से पार वैष्णव पद को प्राप्त करने की इच्छावाले उपासक को रथी रूप से एवं उसके शरीर आदि को रथ और रथांग अश्व आदि रूप से कल्पना करके; यह दिखलाया गया है कि जो इन रथ आदि को वश में रखता है, वही संसार मार्ग से पार जाकर वैष्णव पद प्राप्त करता है। रथादि रूप से कल्पित शरीर आदि के मध्य में जिन्हें वशीभूत करने की बात कही गई है, उनमें भी सर्व प्रधान, जिनको वशीभूत करना सर्वाधिक कष्ट साध्य है "इन्द्रियेभ्यः परा" इत्यादि में उन्हीं वृत्तियों को "परा" शब्द से उल्लेख किया गया है इस वशीकरण कार्य में, अश्वरूप से कल्पित इन्द्रियों की अपेक्षा, गोचर रूप से कल्पित विषयों का समूह प्रधान है। क्योंकि–जिन लोगों ने एक मात्र इन्द्रियों को संयमित कर भी लिया, विषयों से विरक्ति नहीं हुई तो प्रायः उनकी इन्द्रियाँ असंयत हो जाती हैं। प्रग्रह (लगाम) रूप से कल्पित मन, उन विषयों से भी प्रधान है, क्योंकि–मन के विरत होने पर ही विषयों की न्यूनता होती है। सारथी रूप से कल्पित बुद्धि, मन की अपेक्षा और भी प्रधान है, क्योंकि—बुद्धि के द्वारा अध्यवसाय न करने पर मन भी कुछ नहीं कर सकता। रथी रूप से कल्पित आत्मा, सर्वकर्त्ता होने के कारण, उस बुद्धि की अपेक्षा प्रधान है, क्योंकि उक्त सभी आत्माधीन हैं; इसलिए आत्मा को ही "महान्" ऐसा विशेष नाम वाला कहा गया है। रथ रूप से कल्पित शरीर, उस आत्मा की अपेक्षा प्रधान है, क्योंकि– शरीर ही, जीवात्मा के हर प्रकार के पुरुषार्थ साधन में, प्रवृत्ति प्रयोजक है। संसार मार्ग से पार सबके अन्तर्यामी, परम पुरुष परमात्मा उसकी अपेक्षा प्रधान हैं, क्योंकि पूर्वोक्त आत्मा पर्यन्त सभी पदार्थ समस्त प्रवृत्तियां, उन्हीं की इच्छाशक्ति के अधीन हैं, वे ही अंतर्यामी रूप से उपासना का भी निर्वाह करते हैं। "परात्त तच्छ्रुतेः" इस सूत्र में जीवात्मा का कर्त्तृत्व, परं पुरुष के अधीन है, ऐसा बतलाते हैं। वे

परमात्मा ही आत्मवशीकरण और उपासना सिद्धि के उपायों में चरम उपाय एवं परं प्राप्य लक्ष्य हैं या परं पुरुषार्थ रूप हैं, यही बात "पुरुष से श्रेष्ठ कुछ नहीं है, वही परम अवधि और परम गति है" इस श्रुति में कहा गया है।

तथा चान्तर्यामिब्राह्मणे "य आत्मनितिष्ठन्" इत्यादिभिः सर्वं साक्षात् कुर्वन्तः सर्वं नियमयतोत्युक्त्वा "नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा" इति नियंत्रंतरं निषिध्यते। भगवद्गीतासु च–"अधिष्ठानंतथा कर्त्ता करणं च पृथग् विधं, विविधाश्च पृथग् चेष्टा दैव चैवात्र पंचमम्।" दैवमत्र पुरुषोत्तम एव "सर्वस्यचाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृति-र्ज्ञानमपोहनं च" इति वचनात्। तस्य च वशीकरणं तच्छरणागति-रेव। यथाह–"ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति, भ्रामयन् सर्वभूतानि यंत्रारूढानि मायया, तमेव शरणं गच्छ" इति। तदेवम् "आत्मानं रथिनं विद्धि" इत्यादिना रथ्यादिरूपक विन्यस्ता इन्द्रिया-दयः "इंद्रियेभ्यः पराह्यर्थाः" इत्यत्र स्वशब्देरेव प्रत्यभिज्ञायन्ते, न रथरूपितं शरीरमिति परिशेषात्तदव्यक्त शब्देनोच्यत इति निश्ची-यते। अतः कापिलतंत्रसिद्धस्य प्रधानस्य प्रसंग एव नास्ति।

इसी प्रकार अन्तर्यामी ब्राह्मण में "य आत्मनितिष्ठन्" इत्यादि वाक्य में उस परमात्मा को सबका दृष्टा और नियामक बतलाकर "नान्योऽतो" इत्यादि में इसके अतिरिक्त किसी अन्य नियामक का निषेध किया गया है। भगवद्गीता में भी–"अधिष्ठान (शरीर) एवं कर्त्ता, अनेक प्रकार के करण (इन्द्रियाँ) पृथक्-पृथक् विविध चेष्टायें तथा पांचवा दैव, ये ही क्रिया प्रवृत्ति के कारण हैं।" इसमें दैव का तात्पर्य पुरुषोत्तम ही है ऐसा—"मैं ही सबके हृदय में संनिविष्ट हूँ, मुझसे ही स्मरण, ज्ञान और अपोहन होते हैं"—इस वचन से ज्ञात होता है। उस परमात्मा को वशीकरण करने का उपाय उसकी शरणागति प्राप्त करना ही है। जैसा कि—इस गीता वाक्य से ज्ञात होता है–' ईश्वर अपनी माया से, सबके हृदय में विराज कर, सारे जगत् को यंत्रमयी कठपुतली की

तरह नचाते रहते हैं, तुम उन्हीं की शरण में जाओ।" इसी प्रकार "आत्मानं रथिनं विद्धि" इत्यादि से, रथी इत्यादि रूपक में चित्रित इन्द्रियाँ आदि "इन्द्रियेभ्यः परात्ह्यर्था:" इस वाक्य में अपने-अपने नाम से ही बतलाए गए हैं, केवल रथ रूप से कल्पित शरीर को ही प्रकरण के अंत में, 'अव्यक्त" शब्द से बतलाया गया है, ऐसा निश्चित होता है। कपिलतंत्र सिद्ध प्रधान का तो प्रसंग ही नहीं है।

न चात्रतत्तंत्रसिद्ध प्रक्रिया प्रत्यभिज्ञा "इंद्रियेभ्यः पराह्यर्था:" इतीन्द्रियेभ्योऽर्थानां शब्दादीनां परत्व कीर्त्तनात्। नहि शब्दादय इन्द्रियाणां कारणभूताः तद्दर्शने "अर्थेभ्यश्च परंमनः"इत्यादि न तत्त्रसंगतम्, बुद्धिशब्देन महत्तत्त्वस्याभिधानाभ्युपगमात्। नहि महतो महान् परः संभवति। महत आत्मशब्देन विशेषणं च न संगच्छते अतोरूपक निन्यस्तानामेव ग्रहणम्।

उम प्रसंग में सांख्यतंत्र के विवेचन की प्रणाली भी ज्ञात नहीं होती, "इन्द्रियेभ्यः पराह्यर्था:" इस वाक्य में, इन्द्रियों से उनके अर्थ अर्थात् शब्द आदि विषयों को, श्रेष्ठ बतलाया गया है, सांख्य तंत्र में कहीं भी, शब्द आदि को इन्द्रियों का कारण नहीं बतलाया गया है। इसी प्रकार "अर्थेभ्यश्च परंमनः" वाक्य भी सांख्य तंत्र सम्मत नहीं है, इस तंत्र में विषयों का कारण मन नहीं है। "बुद्धेरात्मा महान् परः" वाक्य भी उक्त तंत्र के मत से विपरीत है क्योंकि—सांख्य में बुद्धि शब्द "महत्" शब्द वाची है, महत् कभी महान् से श्रेष्ठ हो ही नहीं सकता "महत्" शब्द आत्म शब्द का विशेषण भी नहीं हो सकता, इसलिए उक्त कल्पित रूपक से आत्मा आदि अर्थ मानना ही युक्ति-युक्त है।

दर्शयति च तदेव—"एषु सर्वेषु भूतेषु गूढात्मा न प्रकाशते, दृश्यते त्वग्रया बुद्धया सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः" यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञः तद्यच्छेद् ज्ञान आत्मनि, ज्ञानंआत्मनि महतियच्छेद् तद्यच्छेच्छान्त-आत्मनि" इति। अजित बाह्याभ्यंतरकरणैरस्य परमपुरुषस्य दुर्दश-

त्वमभिधाय हयादिरूपितानामिंद्रियादीनां वशीकार प्रकारोऽय मुच्यते। 'यच्छेद् वाङ्मनसी" वाचं मनसि नियच्छेत्—वाक्पूर्वकाणि कर्मेन्द्रियाणि ज्ञानेन्द्रियाणि च मनसि नियच्छेद् इत्यर्थ.। वाक्छब्दे द्वितीयायाः "सुपां सुलुक्" इतिलुक्। "मनसी" इति सप्तम्याश्छान्दसो दीर्घ.। "तद्यच्छेद् ज्ञान आत्मनि" तन्मनौ बुद्धौ नियच्छेद्। ज्ञान शब्देनात्र पूर्वोक्ता बुद्धिरभिधीयते। ज्ञाने आत्मनि" इति व्यधिकरणे सप्तम्यौ। आत्मनि वर्त्तमाने ज्ञाने नियच्छेदित्यर्थः। "ज्ञान आत्मनि महति यच्छेत्" बुद्धिं कर्त्तरि महत्यात्मनि नियच्छेत्।" तद्यच्छेच्छांत आत्मनि" तं कर्त्तरि परस्मिन् ब्रह्मणि सर्वान्तर्यामिणि नियच्छेत्। व्यत्ययेन तदिति नपुंसकलिंगता। एवम्भूतेन रथिना वैष्णवं पदं गन्तव्यमित्यर्थः।

उक्त रहस्य को श्रुति में इस प्रकार दिखलाया गया है कि—"यह सबका आत्मरूप परं पुरुष, समस्त प्राणियों में रहता हुआ भी, माया के परदे में छिपा रहने से प्रत्यक्ष नही होता, केवल सूक्ष्म तत्त्वों को समझने वाले पुरुषों से ही अति सूक्ष्म तीक्ष्ण बुद्धि से देखा जाता है।" बुद्धिमान साधक को चाहिए कि वाणी आदि को मन में निरुद्ध करके, उस मन को ज्ञान स्वरूप बुद्धि में विलीन करे तथा ज्ञान स्वरूप बुद्धि आत्मा में विलीन करे तथा उस महान् आत्मा को शांत स्वरूप परमात्मा में विलीन करे।"

उक्त प्रसंग में, जो लोग बाह्य और आभ्यंतर को जय नहीं कर पाते, उनके लिए परमात्म दर्शन बहुत दूर है, ऐसा बतलाते हुए, अश्व आदि रूप से कल्पित इन्द्रियो को वशीभूत करने के विशेष उपाय का निर्देश किया गया है। "यच्छेद् वाङ्मनसी" का तात्पर्य है, वागेन्द्रिय को मन में लीन करो अर्थात् वागेन्द्रिय सहित कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों को लीन करो इस वाक्य में "सूपांसुलुक्" इस व्याकरणीय नियम से वाक् शब्द की द्वितीया विभक्ति का लोप हो गया है तथा "मनसी" पद में वैदिक व्याकरण के अनुसार सप्तमी विभक्ति में दीर्घ ईकार हो गया

है। "तद् यच्छेद् ज्ञान आत्मनि" का अर्थ है, उस मन को बुद्धि में लीन करो इसमें ज्ञान शब्द से पूर्वोक्त बुद्धि ही लक्षित है। "ज्ञाने आत्मनि" में दो सप्तमी विभक्ति का प्रयोग है, जिसका तात्पर्यार्थ है आत्मा में वर्त्तमान ज्ञान में लीन करो। 'ज्ञानं आत्मनि महति यच्छेद" का तात्पर्य है बुद्धि को महान कर्त्ता आत्मा में लीन करो। "तद् यच्छेद् शांत आत्मनि" का तात्पर्य है–उस कर्त्ता को परब्रह्म सर्वान्तर्यामी परमात्मा में लीन करो। इस वाक्य में तत् शब्द का नपुन्सक लिंगात्मक प्रयोग, लिंग विपर्यय से हुआ है। ऐसा रथी ही वैष्णव पद प्राप्त कर सकता है, यही प्रकरण का तात्पर्य है।

अव्यक्त शब्देन कथं व्यक्तस्य शरीरस्याभिधानम् ? इत्याह–

अव्यक्त शब्द से, व्यक्त शरीर कैसे माना गया ? इसका निराकरण करते हैं -

सूक्ष्मं तु तदर्हत्वात् ।१।४।२।।

भूतसूक्ष्ममव्याकृतं ह्यवस्था विशेष मापन्नं शरीरंभत्रः तदव्याकृतमिह शरीरावस्थमव्यक्त शब्देनोच्यते। तदर्हत्वात्-तस्य अव्याकृतस्य अचिद् वस्तुन एव विकारापन्नस्य रथवत् पुरुषार्थ साधन प्रवृत्यर्हत्वात्।

अव्याकृत सूक्ष्म भूत ही, अवस्था विशेष योग से शरीर होते है। शरीर रूप विशिष्ट अवस्था को प्राप्त इन अव्याकृतों को ही यहाँ अव्याकृत नाम से कहा गया है (अर्थात् अव्यक्त शब्द सूक्ष्मशरीर का वाची है) विकृतावस्था को प्राप्त अचित् वस्तु ही, रथ की तरह पुरुपार्थ साधन करने वाली है, यही उक्त कथन का तात्पर्य है।

यदि भूतसूक्ष्ममव्याकृतमभ्युपगम्यते, कापिल तंत्रसिद्धोपादानेकः प्रद्वेष ? तत्रापि हि भूतकारणमेमाव्यक्तमित्युच्यते। तत्राह–

अव्याकृत भूतसूक्ष्म को ही यदि अव्यक्त मानते हैं तो सांख्योक्त प्रकृति को ही मानने में क्या आपत्ति है ? वहाँ भी तो भूतकारण को ही अव्यक्त कहते हैं। इसका निराकरण करते हैं—

तदधीनत्वादर्थवत् ।१।४।३॥

परमकारणभूत परमपुरुषाधीनत्वात् प्रयोजनवत् भूत सूक्ष्मम्। एतदुक्तं भवति—न वयमव्यक्तं तत्परिणाम विशेषांश्च स्वरूपेण नाभ्युपगच्छामः। अपितु परमपुरुष शरीरतया तदात्मकत्वविरहेण। तदात्मकत्वेनैव हि प्रकृत्यादयः स्वप्रयोजनं साधयंति, अन्यथा स्वरूप-स्थिति प्रवृत्ति भेदास्तेषां न स्युः, तथाऽनभ्युपगमादेव तंत्रसिद्ध प्रक्रियानिरसनम् इति ।

परम कारण परं पुरुष परमात्मा के अधीनस्थ अव्याकृत भूत सूक्ष्मों का एक विशेष प्रयोजन है। कथन यह है कि—हम लोग अव्यक्त और उसके विशेष-विशेष परिणामों को स्वतंत्र रूप से एकाएक ही स्वीकार नही कर लेते, अपितु परमपुरुष के शरीर तदात्मक होने से ही, उनकी कृति को मानते हैं, तदात्मक होकर ही प्रकृति आदि सभी, अपने प्रयोजनों को पूरा कर पाते है। यदि ऐसा न होता तो, उनके स्वरूप, स्थिति और प्रवृत्ति में भेद न होता उक्त प्रकार की प्रक्रिया साख्यतंत्र में नहीं है, इसलिए सांख्यतंत्र प्रक्रिया का विरोध किया गया है।

श्रुतिस्मृत्योर्हि जगदुत्पत्ति प्रलयवादेषु परमपुरुषमहिमवादेषु च प्रकृति विकृतिपुरुषास्तदात्मकाः संकीर्त्यन्ते, यथा—"पृथिव्यप्सु-लीयते" इत्यारम्भ—"तन्मात्राणि भूतादौलीयन्ते, भूतादिर्महति लीयते, महानभ्यक्ते लीयते, अभ्यक्तमक्षरेलीयते, अक्षरं तमसि लीयते, तमः परे देवएकीभवति" तथा—"शस्य पृथ्वी शरीरं यस्यापः शरीरं, यस्य तेजः शरीरं यस्यवायुः शरीरं यस्याकाशः शरीरं यस्याहंकारः शरीरं यस्य बुद्धिः शरीरं यस्य अव्यक्तं शरीरं यस्याक्षरं शरीरं यस्य मृत्युः शरीरं एष सर्व भूतान्तरात्मा अपहतपाप्मा दिव्यो देव एको नारायणः" तथा—"भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनोवुद्धिरेव च, अहंकार इतीयं में प्रकृतिरष्टधा, अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्, जीवभूतां

महाबाहो ययेदंधार्यते जगत्। एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीव्युपधारय, अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा। मत्तः परतरं नान्यत् किंचिदस्ति धनंजय, मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव" इति। 'व्यक्तं विष्णुस्तथा अव्यक्तं पुरुषः कालएव च" इति। "प्रकृतिर्या 'मयाऽख्याता व्यक्ताव्यक्त स्वरूपिणी, पुरुषश्चाप्युभावेतौ लीयेते परमात्मनि परमात्मा च सर्वेषां आधारः परमेश्वरः" इति च।

श्रुति स्मृतियों में, जगत की उत्पत्ति स्थिति और लय के बोधक, परम पुरुष की महिमा के प्रतिपादक, प्रकृति विकृति और पुरुष तदात्मक वाक्य मिलते हैं जैसे कि—"पृथ्वी जल में लीन हो जाती है" इत्यादि से प्रारंभ कर--"तन्मात्रा, भूतादि अहंकार में लीन हो जाती हैं, अहंकार, महान् अव्यक्त में लीन हो जाता है, अव्यक्त अक्षर में लीन होता है, अक्षर तम में लीन हो जाता है—तम, परमात्मा में लीन हो जाता है।" तथा—"पृथ्वी जिसका शरीर है, जल जिसका शरीर है, तेज जिसका शरीर है, वायु जिसका शरीर है, आकाश जिसका शरीर है, अहंकार अक्षर जिसका शरीर है, जिसका शरीर है, बुद्धि जिसका शरीर है, अव्यक्त जिसका शरीर है, मृत्यु जिसका शरीर है, वह सर्वान्तिर्यामी निष्पाप दिव्य देव एक नारायण ही है।" तथा—"भूमि-जल-अग्नि-वायु-आकाश-मन-बुद्धि और अहंकार ये मेरी आठ प्रकार की भिन्ना प्रकृति है, मेरी जीव रूपा एक अपरा प्रकृति भी है जो कि इससे भिन्न है, उसी से यह जगत स्थिर है, ये समस्त भूत समुदाय मुझसे ही उत्पन्न हुए हैं, मैं ही समस्त जगत का उत्पत्ति और विलय स्थान हूँ, मेरे अतिरिक्त कुछ और नहीं है, सूत्र में पिरोई मणियों के समान मुझमें ही सारा जगत ग्रथित है। व्यक्त (जड) अव्यक्त चैतन्य, विष्णु और पुरुष और काल ये सभी उसी के रूप हैं। जिस व्यक्त और अव्यक्त प्रकृति और पुरुष को मैं बतला रहा हूँ वे दोनों ही परमात्मा में लीन हो जाते हैं। परमात्मा ही सर्वाधार पुरुषोत्तम है, उसे ही वेद और वेदांत में, विष्णु कहा गया है।" इत्यादि—

ज्ञेयत्वावचनाच्च ।१।४।४।।

यदि तंत्र सिद्धमिहाव्यक्तमविवक्षिष्यत्, ज्ञेयत्वमवक्ष्यत्, व्यक्ता-

भ्यक्तज्ञविज्ञानात् मोक्षं वदद्भिस्तांत्रिकै स्तेषां सर्वेषां ज्ञेयत्वाभ्युपगमात्, न चास्य ज्ञेयत्वमुच्यते, अतो न तंत्रसिद्धस्येह ग्रहणम् ।

यदि उपनिषदों में सांख्योक्त प्रधान को जगत का कारण माना गया होता तो, उसी को ज्ञेय भी कहा गया होता । व्यक्त-अव्यक्त और पुरुष, इन तीनों के विशेष ज्ञान से मोक्ष मानने वाले सांख्यवादी, इन तीनों को ज्ञेय मानते हैं, उपनिषदों में अव्यक्त को ज्ञेय नहीं मानते इसलिए श्रुतियों का प्रतिपाद्य, सांख्योक्त प्रधान नहीं है ।

वदतीति चेन्न प्राज्ञो हि प्रकरणात् ।१।४।५॥

"अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगंधवच्चयत्, अनाद्यमनंतं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तं मृत्यु मुखात्प्रमुच्यते" इत्यव्यक्तस्य ज्ञेयत्वमनंतरमेव वदतीयं श्रुतिरेति चेत्-तन्न, प्राज्ञः परमपुरुष एवत्यत्र श्लोके निचाय्यत्वेन प्रतिपाद्यते । "विज्ञानसारः यस्तु मनः प्रग्रवान्नरः, सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्" एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते, दृश्यते त्वग्रय्या बुद्ध्यासूक्ष्म्या सूक्ष्मदर्शिभिः" इति प्राज्ञस्यैव प्रकृतत्वात् । अतएव– "पुरुषान्न परंकिंचिद् "इति न पंचविशक पुरुषातिरिक्त तत्त्व निषेधः, तस्य च परं पुरुषस्याशब्दत्वादयो धर्माः "तत्तदद्रेश्यमग्राह्यम्" इत्यादि श्रुति प्रसिद्धाः । "महतः परम्" इत्यपि "बुद्धेरात्मा महान् परः" इति पूर्वप्रकृताज्जीवात्मनः परत्वमेवोच्यते ।

"शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गंध रहित, अनादि अनंत, महत् तत्त्व से भी परवर्त्ती, उस स्थिर वस्तु की उपासना करने से, मृत्यु से छुटकारा प्राप्त होता है" यह परवर्त्ती श्रुति तो अव्यक्त को ज्ञेय बतला रही है, ऐसी शंका करना भी ठीक नहीं है, प्राज्ञ परं पुरुष परमात्मा को ही इसमें उपास्य कहा गया है । "विज्ञान जिसका सारथी और मन जिसकी लगाम है, वही साधक, संसार मार्ग को पार कर विष्णु के परं पद को प्राप्त

करता है"—"यह सबका आत्म रूप परम पुरुष समस्त प्राणियों में रहता हुआ भी माया के परदे में छिपे रहने के कारण प्रत्यक्ष नहीं होता, केवल सूक्ष्म तत्त्वों को समझने वाले पुरुषों द्वारा ही अति सूक्ष्म तीक्ष्ण बुद्धि से देखा जाता है।" इत्यादि में प्राज्ञ परमात्मा को ही उपास्य रूप से बतलाया गया है। "पुरुषान्न परं किंचित्" इस वाक्य में भी पंचविंशक पुरुष से अतिरिक्त तत्त्व का निषेध प्रतीत नहीं होता। उस परम पुरुष की अशब्दत्व आदि जो विशेषतायें हैं, वे "अदृश्यमग्राह्यम्" इत्यादि वाक्यों में प्रसिद्ध हैं। "महत: परम्" वाक्य भी, "बुद्धेरात्मा महान् पर:" इस पूर्वकथित वाक्य के जीवात्मा से पर तत्त्व, परमात्मा की ओर ही इङ्गन कर रहा है।

त्रयाणामेव चैवमुपन्यासः प्रश्नश्च ।१।४।६॥

अस्मिन् प्रकरणे हि उपायोपेयोपेतृणां त्रायाणामेव चेवमुपन्यासः ज्ञेयत्वेनोपन्यासः तद्विषयश्च प्रश्नो दृश्यते, नान्यस्याव्यक्तादेः। तथा हि नचिकेता मुमुक्षुः सन्मृत्युप्रदत्ते वरत्रये प्रथमेन वरेणात्मनः पुरुषार्थयोग्यतापादनीमात्मनि पितुः सुमनस्कतां प्रतिलभ्य द्वितीयेन वरेण मोक्षोपायभूतां नाचिकेताग्निविद्यां वव्रे "स त्वमग्निं स्वर्ग्यमध्येषि मृत्यो प्रब्रूहि तं श्रद्धधानाय मह्यम्। स्वर्गलोकाऽमृतत्वं भजन्त एतद् द्वितीयेन वृणे वरेण" इति। स्वर्गशब्देनात्र परमपुरुषार्थलक्षणो मोक्षोऽभिधीयते, "अमृतत्वं भजन्ते" इति तत्रस्थस्यजननमरणाभावश्रवणादुत्तरत्रक्षयिफलकर्मनिदादर्शनाच्च। "त्रिणाचिकेतः त्रिभिरेत्य संधिम् त्रिकर्मकृत्तरति जन्ममृत्यू" इति च प्रतिवचनात् तृतीयेन वरेण मोक्षस्वरूपप्रश्न द्वारेणोपेयस्वरूपमुपेतृस्वरूपमुपायभूतकर्मानुग्रहीतोपासनस्वरूपं च पृष्टम्—"येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्ये अस्तीत्येके नायमस्तीति चैके। एतद् विद्यामनुशिष्टः त्वयाऽहं वराणामेष वरस्तृतीयः" इति।

इस प्रकरण में उपाय (साधना) उपेय (साध्य) और उपेतृ (साधक) इन तीनों का ही उपन्यास अर्थात् तीनों को ही ज्ञेय रूप से बतलाया गया है, और उन्हीं के विषय में प्रश्न प्रस्तुत किया गया है, अव्यक्त आदि का प्रश्न ही नहीं है। ऐसा वर्णन मिलता है कि–मुमुक्षु नचिकेता ने मृत्यु प्रदत्त तीन वरों में सर्व प्रथम पुरुषार्थयोग्यतापादिनी पिता की प्रसन्नता प्राप्त की, दूसरे वर में मोक्ष साधन भूत नाचिकेताग्नि विद्या मांगी "हे मृत्यु ! आप स्वर्ग साधन भूत अग्नि विद्या को जानते है, मुझ श्रद्धालु को उसका उपदेश करिये, स्वर्ग लोकगामी अमृतत्व भोग करते है, द्वितीय वर के रूप में मैं उसी की याचना करता हूँ।" यहाँ स्वर्ग शब्द परम पुरुषार्थ मोक्ष का द्योतक है। अमृतत्वं भजन्ते पद स्वर्गीय लोगों के जन्म मरण के अभाव और क्षयशील कर्म की निंदा का द्योतक है। "जो तीन बार नाचिकेताग्नि का चयन करता है, वह माता पिता और आचार्य इन तीनो से संबंधित तीनो कर्मों से कृतकार्य हो चुका, वह जन्म मरण को भी अतिक्रमण कर चुका" इस उत्तर से भी उक्त तथ्य की ही पुष्टि होती है। "तीसरे वर में मनुष्य के मरणोत्तर अस्तित्व को कोई मानता है, कोई नही मानता, आपके उपदेश से इस संशयात्मक रहस्य को जानना चाहता हूँ" इत्यादि में मोक्ष के स्वरूप विषयक प्रश्न द्वारा प्राप्तव्य, प्रापक और उसके उपायरूप कर्म-संपादित उपासना के स्वरूप की जिज्ञासा की गई है।

एवं मोक्षे पृष्टे तदुपदेशयोग्यतां परीक्ष्योपदिदेश–"तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्। अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति" इति। तदेवं सामान्येनोपदिष्टे नचिकेताः प्रीतस्सन् "देवं मत्वा" इत्युपास्यतया निर्दिष्टस्य प्राप्यभूतस्य देवस्य "अध्यात्मयोगाधिगमेन" इति वेदितव्यतया निर्दिष्टप्राप्तुः प्रत्यगात्मनश्च "मत्वा धारो हर्षशोकौ जहाति" इति निर्दिष्टस्य ब्रह्मोपासनस्य च स्वरूप विशोधनाय पुनः पप्रच्छ–"अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात् कृताकृतात्। अन्यत्र भूताद्भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद" इति। एवं सकलेतरातीतानागतवर्त्तमान साध्यसाधनसाधक-

विलक्षणे त्रये पृष्टे प्रथमं प्रणवं प्रशस्य तद्वाच्यं प्राप्यस्वरूपं, तदंतर्गतं च प्राप्तृस्वरूपं वाचकरूपं चोपायं पुनरपि सामान्येन ख्यापयन् प्रणवं तावदुपदिदेश—"सर्वे वेदा यत् पदमामनंति तपांसि सर्वाणि च यद् वदंति । यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरंति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्" इति । एवमुपदिश्य पुनरपि प्रणवं प्रशस्य प्रथमं तावत् प्राप्तुः प्रत्यगात्मनः स्वरूपमाह—"न जायते म्रियते वा विपश्चित्"इत्यादिना । प्राप्यस्य परस्य ब्रह्मणो विष्णोः स्वरूपम् "अणोरणीयान्" इत्यादिना "क इत्था वेद यत्र सः" इत्यंतेनोपदिशन् मध्ये "नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन" इत्यादिनोपायभूतस्योपासनस्य भक्तिरूपतामप्याह । "ऋतं पिबन्तौ" इति चोपास्यस्योपासकेन सहावस्थानात् सूपास्यतामुक्त्वा "आत्मानं रथिनं विद्धि" इत्यादिना "दुर्गं पथस्तत् कवयो वदंति" इत्यंतेनो-पासनप्रकारमुपासीनस्य च वैष्णवपरमपद प्राप्तिमभिधाय "अशब्द-मस्पर्शम्" इत्यादिनोपसंहृतम् । अतस्त्रयाणामेवात्र ज्ञेयत्वेनोपन्यासः प्रश्नश्च, तस्मान्नेह तांत्रिकस्याव्यक्तस्य ग्रहणम् ।

उक्त मोक्ष विषयक प्रश्न के उपरान्त, नचिकेता की उपदेश ग्राहिका शक्ति की परीक्षा करके यमराज उपदेश देते हैं—"धीर पुरुष दुर्दर्श, गूढ़, सर्वान्तर्यामी, गुहावस्थित, हृदयकन्दरस्थ, पुराण पुरुषोत्तम देव का अध्यात्म बल से दर्शन करके सुख दुःख से छूटते हैं।" ऐसे सामान्य सरल उपदेश से संतुष्ट नचिकेता "देवं मत्वा" पद से उपास्य रूप से निर्दिष्ट प्राप्य परमात्मा—"अध्यात्मयोगाधिगमेन" पद से वेदितव्य रूप से निर्दिष्ट जीवात्मा—"धीरो हर्षशोकौ जहाति" पद से निर्दिष्ट ब्रह्मोपासना और स्वरूपगत भाव को समझकर, इस तथ्य को विस्तृतरूप से जानने के लिए प्रश्न करता है—"हे यमराज ! धर्म और अधर्म से भिन्न, कार्य और कारण से पृथक्, अतीत और अनागत से पृथक् जो कुछ भी आप जानते हैं उसे बतलाइये।" नचिकेता द्वारा इस प्रकार अतीत अनागत और

वर्त्तमान तथा साध्य, साधक और साधन से विलक्षण तत्त्व की जिज्ञासा करने पर, यमराज ने, जिज्ञासा की प्रशंसा करते हुए, उपासना लभ्य प्रणव के वाच्यार्थ, प्राप्य स्वरूप, प्राप्ति के उपायरूप ब्रह्मवाचक प्रणव-स्वरूप का प्रकाश करने के लिए, प्रणवरहस्य का विवेचन किया–"सारे वेद जिस पद का बारबार प्रतिपादन करते हैं, संपूर्ण तप जिस पद को दिखलाते हैं, जिसको चाहने वाले ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं, वह पद तुम्हें संक्षेप मैं बतलाता हूँ वह ओम् ही है ।" ऐसा उपदेश देकर पुन: प्रणव की प्रशंसा करते हुए, सर्व प्रथम साधक जीवात्मा के स्वरूप को "विद्वान् का न जन्म होता है न मरता है' इत्यादि से, तथा प्राप्य परब्रह्म विष्णु के स्वरूप को "अणु से भी अणु" इत्यादि से लेकर–"वह ऐसा कहाँ स्थित है इसे कौन जाने" इत्यादि तक बतलाते हुए मध्य में "यह परमात्मा, प्रवचन, मेधा और शास्त्राभ्यास से लभ्य नही है" इत्यादि वाक्य से ब्रह्म प्राप्ति की उपाय रूप उपासना की भक्तिरूपता का प्रतिपादन करते हैं। "दोनों ही भोक्ता है" इत्यादि वाक्य में उपास्य और उपासक की एकत्र स्थिति दिखलाई गई है, इसलिए उपासना करना सरल है, इस रहस्य की ओर लक्ष्य करते हुए "आत्मा को रथी जानो" इत्यादि से लेकर 'ज्ञानी उसे दुर्गम पथ बतलाते हैं" इस अंतिम वाक्य तक उपासना के विशेष प्रकार तथा उपासीन की पर वैष्णव पद की प्राप्ति बतलाकर "वह अशब्द और अस्पर्श है" इत्यादि से प्रसंग का उपसंहार करते हैं। इस विवेचन से ज्ञात होता है कि इसमें उपास्य–उपासक–और उपासना की ही उक्त प्रसंग में जिज्ञासा की गई है, सांख्योक्त अव्यक्त संबंधी कोई प्रश्न नहीं है।

महद्वच्च ।१।४।७।।

यथा–"बुद्धेरात्मा महान् पर:" इत्यनात्मशब्द सामानाधिकरण्यान्न तंत्रसिद्धं महत्तत्त्वं गृह्यते, एवमव्यक्तमप्यात्मन: परत्वेनाभिधानान्न कापिलतंत्रसिद्धं गृह्यत इति स्थितम्।

जैसे कि–"बुद्धि से महान् आत्मा श्रेष्ठ है" इस वाक्य में आत्मा शब्द के साथ महान् शब्द का अभेद संबंध होने से, महान् शब्द से सांख्योक्त महत् तत्त्व की उपलब्धि नहीं होती, वैसे ही "आत्मा से

अव्यक्त श्रेष्ठ है" इस वाक्यगत अव्यक्त से, सांख्योक्त अव्यक्त को नहीं स्वीकार सकते ।

२ चमसाधिकरण—

चमसवदविशेषात् ।१।४।८।।

अत्रापि तंत्रसिद्ध प्रक्रिया निरस्यते, न ब्रह्मात्मकानां प्रकृति-महदहंकारादीनां स्वरूपम्, श्रुतिस्मृतिभ्यां ब्रह्मात्मकानां तेषां प्रतिपादनात्, यथा आथर्वणिका अधीयते—"विकारजननीमज्ञामष्ट-रूपामजां ध्रुवाम्। ध्यायतेऽध्यासिता तेन तन्यते प्रेर्यते पुनः। सूयते पुरुषार्थं च तेनैव अधिष्ठताजगत्। गौरनाद्यंतवती सा जनित्री भूतभाविनी। सिताऽसिता च रक्ता च सर्वकामदुघा विभोः। पिबंत्ये-नामविषमामविज्ञाताः कुमारकाः। एकस्तु पिबते देवः स्वच्छंदोऽत्र वशानुगाम्। ध्यानक्रियाभ्यां भगवान् भुंक्तेऽसौ प्रसभं विभुः। सर्व-साधारणीं दोग्ध्रीं पीड्यमानां तु यज्वभिः" इति। अत्र प्रकृत्यादीनां स्वरूपमभिहितम् यदात्मकाश्चैते प्रकृत्यादयः स परमपुरुषोऽपि "तं षड्विंशकमित्याहुः सप्तविंशमथापरे, पुरुषं निर्गुणं सांख्यमथर्वशिरसो विदुः" इति प्रतिपाद्यते। अपरे चाथर्वणिकाः—"अष्टौ प्रकृतयः षोडश विकाराः" इत्यधीयते। श्वेताश्वतराश्चैवं प्रकृति पुरुषेश्वर स्वरूपमामनंति—"संयुक्तमेतत्क्षरमक्षरं च व्यक्ताव्यक्तं भरते विश्व-मीशः, अनीशश्चात्मा बध्यते भोक्तृ भावात् ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्व पापैः"—"ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशावजा ह्येका भोक्तृभोगार्थयुक्ता, अनंतश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्त्ता त्रयंयदा विन्दते ब्रह्ममेतत्"—"क्षरं प्रधानं अमृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः, तस्याभिध्याना-द्योजनात्तत्वभावाद्भूयश्चांते विश्वमायानिवृत्तिः"—"छंदांसि यज्ञाः क्रतवो व्रतानि भूतं भव्यं यच्च वेदा वदंति, अस्मान्मायी सृजते

विश्वमेतत् तस्मिश्चान्यो मायया संन्निरुद्धः"–"मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्। तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत्" इति। तथोत्तरत्रापि–"प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः संसारमोक्षस्थिति-बंधहेतुः" इति।

इस प्रसंग में भी सांख्य तंत्र प्रक्रिया का खंडन किया गया है, ब्रह्मात्मक प्रकृति, महत्तत्त्व, अहंकार आदि का निराकरण नहीं है। श्रुति स्मृति में ब्रह्मात्मक प्रकृति आदि का प्रतिपादन ही मिलता है, जैसे कि आथर्वणिक श्रुति में–"समस्त कार्यो की कारण, आठ रूपों वाली, अचेतन, नित्यरूपा अजा प्रसिद्ध है, परमेश्वर उसमें अधिष्ठान पूर्वक उसे स्थूलादि रूपों में परिणत करते हैं, कार्योत्पादन में प्रेरित करते हैं, वह अजा ही परमेश्वर द्वारा परिचालित होकर जगत का प्रसव करती है। अतीत और अनागत स्वरूपा, श्वेत कृष्ण और रक्तवर्णा, जगज्जननी, आद्यंतरहित वह अजा ही परमेश्वर की सर्वकाम प्रसविनी गौ है। अज्ञानी बाल प्रकृति जीव, सर्वत्र समभाववाली इस गौ का भोग करता है। इस जगत में एकमात्र वह परमात्मा ही, अपनी वशवर्त्तिनी इस अजा का स्वच्छंद रूप से भोग करते हैं। ध्यान और क्रिया द्वारा पीड़िता और सर्व भोग्या, दूधवाली, याज्ञिकों द्वारा सरलता से प्राप्त इस गौ का, विभु भगवान बलपूर्वक भोग करते हैं, चौबीस प्रकार की यह अव्यक्त, व्यक्त होती है।" इत्यादि में प्रकृति का स्वरूप वर्णन किया गया है। ये सब जिससे आत्मीय संबंध रखती हैं उस परमपुरुष का भी जैसे–"कुछ लोग जिसे छब्बीस तत्त्वों वाला, कोई सत्ताइस तत्त्वों वाला बतलाते हैं, अथर्व शिरा उपनिषद् में इस संख्यावाले को निर्गुण बतलाया गया है।" इत्यादि प्रतिपादन किया गया है। दूसरी आथर्वणिक उपनिषद् में जैसे–"आठ प्रकार की प्रकृति और सोलह प्रकार के प्रकृति के विकार हैं।" इत्यादि–श्वेताश्वतरोपनिषद् में भी प्रकृतिपुरुष का रूप इस प्रकार कहा गया है–"विनाशशील जडवर्ग और अविनाशी जीवात्मा, इन दोनों के संयुक्त रूप व्यक्त और अव्यक्त इस विश्व का, परमेश्वर ही धारण पोषण करते हैं, जीवात्मा–इस जगत के विषयों का भोक्ता होने से प्रकृति के अधीन होकर इसमें बँध जाता है, परमपुरुष परमात्मा को जानकर ही

हर प्रकार के बंधनों से मुक्त होता है। सर्वज्ञ और अज्ञानी, समर्थ और असमर्थ ये दो अजन्मा हैं, भोगने वाले जीव के लिए उपयुक्त सामग्री वाली अनादि प्रकृति एक तीसरी शक्ति है। परमात्मा अनंत रूपों वाला होते हुए भी, कर्त्तापन के अभिमान से रहित है। जीवात्मा जब जीव, माया और ईश्वर इन तीनों के वास्तविक स्वरूप को जान लेता है तो ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है। प्रकृति विनाश शील है, पर उसको भोगने वाला जीवात्मा अमृतस्वरूप अविनाशी है। इस विनाश शील और अमृत दोनों को परमात्मा अपने वश में रखता है। उस परमेश्वर का निरन्तर ध्यान करने से, मन को उसमें लगाये रहने से तथा तन्मय हो जाने से अंततोगत्वा, समस्त माया की निवृत्ति हो जाती है। छंद-यज्ञ-व्रत आदि तथा जिसका भी भूत-भविष्य-वर्त्तमान रूप से वेद वर्णन करते है ऐसे संपूर्ण जगत को, मायाधीश परमेश्वर भूत समुदाय से रचता है, मायाधीन जीवात्मा इस प्रपंच में बँधा हुआ है। माया प्रकृति तथा मायापति महेश्वर को जानना चाहिए, उसी के अंगरूप कारण और कार्य से यह सारा जगत व्याप्त है। प्रकृति और जीवात्मा का स्वामी, समस्त गुणों का शासक, जन्म मृत्यु संसार में बांधने वाला, स्थिति रखने वाला, और उससे मुक्त करने वाला परमात्मा है।" इत्यादि।

स्मृतिरपि—"प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्धयनादी उभावपि, विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृति संभवान्। कार्यकारण कर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते, पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते। पुरुषः प्रकृतिस्थोऽहि भुंक्ते प्रकृतिजान् गुणान्, कारणं गुण संगोऽस्य सदसद्योनि जन्मसु। सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृति संभवाः, निवध्नंति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम।" तथा—"सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यांति मामिकाम्, कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम्। प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः, भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात्। मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्, हेतुनाऽनेन कौन्तेय जगद् हि परिवर्तंते" तस्माद् ब्रह्मात्मकत्वेन कापिल तंत्र-सिद्धाः प्रकृत्यादयो निरस्यंते।

स्मृति में भी इसी प्रकार जैसे—"प्रकृति-पुरुष दोनों को ही अनादि जानों, विकारों और गुणों को प्रकृति से ही उत्पन्न जानों। कार्य कारण में प्रकृति कारण कहलाती है, सुखदु:ख भोगने में पुरुष कारण कहलाता है। पुरुष, प्रकृति में स्थित हुआ ही, प्राकृतिक गुणों को भोगता है, गुणों की आसक्ति ही उसकी ऊँची-नीची योनि के जन्म का कारण है। सत्व रज तम आदि प्राकृतिक गुण ही, अव्यय आत्मा को देह में बांधते हैं।" तथा "कल्प के अंत में सारे भूत, मेरी प्रकृति को प्राप्त होते हैं, कल्प के आदि में मैं पुन: उनकी सृष्टि करता हूँ। प्रकृति के वशीभूत विवश समस्त भूत समुदाय को मैं, अपनी प्रकृति का अवलंबन कर, अनेक प्रकार से बार-बार सृजन करता हूँ। मुझ अध्यक्ष द्वारा प्रेरित, प्रकृति, समस्त चराचर जगत को उत्पन्न करती है, इसी से यह जगत चलता रहता है।" इत्यादि उदाहरणों से अब्रह्मात्मक सांख्य तंत्र सिद्ध प्रकृति आदि का स्वत: खंडन हो जाता है।

श्वेताश्वतरोपनिषदि श्रूयते—"अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णा बह्वी: प्रजा: सृजमानां सरूपा:, अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्य:" इति। तत्र संदेह:, किमस्मिन् मंत्रे केवला तंत्र सिद्धा प्रकृतिरभिधीयते, उत ब्रह्मात्मिका ? इति, किं युक्तम् ? केवलेति, कुत: ? "अजामेकाम्" इत्यस्या: प्रकृतेरकार्यत्व श्रवणात्, "बह्वी: प्रजा: सृजमानां सरूपा:" इति स्वातंत्र्येण सरूपाणां बह्वीनां प्रजानां स्रष्टृत्व श्रवणात्। इति।

श्वेताश्वतरोपनिषद् में प्रसंग आता है कि—"अपने ही समान भूत समुदायों को रचने वाली रक्त-श्वेत और कृष्ण वर्णा एक अजा को, निश्चय ही एक अज आसक्त होकर भोगता है, दूसरा अज इस भोगी हुई अजा को त्याग देता है।" इस पर संदेह होता है कि—इस मंत्र में सांख्योक्त केवला (स्वत: सिद्धा) प्रकृति का वर्णन है अथवा ब्रह्मात्मिका प्रकृति का ? कह सकते हैं कि केवला का, क्यों कि—"अजामेकाम्" पद में प्रकृति की अकार्यता बतलाई गई है तथा "बह्वी: प्रजा: सृजमानां सरूपा:" इस वाक्यांश में, अपने ही समान प्रजा का स्वतंत्र रूप से सर्जन कहा

गया है, जिससे ज्ञात होता है कि–सांख्य तंत्र सिद्ध केवला का ही वर्णन है।

एवं प्राप्तेऽभिधीयते–"चमसवदविशेषात्"। न जायत इति अजा इति अजात्वमात्र प्रतिपादनात् तंत्रसिद्धाब्रह्मात्मकाजाग्रहणे विशेषाप्रतीतेः चमसवत्, यथा–"अर्वाग्विलश्चमश ऊर्ध्वबुध्नः" इत्यस्मिन् मंत्रे चमसस्य भक्षणसाधनत्वमात्रं चमसशब्देन प्रतीयत इति न तावन्मात्रेण चमसविशेष प्रतीतिः, यौगिकशब्दानामर्थ-प्रकरणादिभिर्विनाऽर्थविशेषनिश्चयायोगात्, तत्र "यथेदं तच्छिरः एष हि अर्वाग्विलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नः" इत्यादिना वाक्यशेषेण शिरसः चमसत्वनिश्चयः, तथा अत्रापि अर्थ प्रकरणादिभिरेव अजा निर्णेतव्या, न चात्र तंत्रसिद्धा अजाग्रहणहेतवोऽर्थ प्रकरणादयो दृश्यन्ते, नचास्याः स्वातंत्र्येण स्रष्ट्वत्वं प्रतीयते "बह्वीः प्रजाः सृजमानां" इति स्रष्टृमात्रप्रतीतेः। **अतोऽनेन मंत्रेण न अब्रह्मात्मि-काऽजाऽभिधीयते।**

उक्त संशय पर "चमसवदविशेषात्" सूत्र प्रस्तुत करते हैं, जिसका तात्पर्य है कि–इस प्रसंग में सांख्योक्त प्रकृति का वर्णन नहीं है, जो जन्म न ले उसे अजा कहते हैं, ऐसी सामान्य अजा का ही प्रतिपादन किया गया है। इससे सांख्योक्त अब्रह्मात्मक अजाविशेष की प्रतीति नहीं होती, जैसे कि–' अर्वाग्विलश्चमस" इत्यादि मंत्र में चमस शब्द भक्षण के साधनत्व मात्र का ही बोधक है, चमसविशेष की प्रतीति नहीं कराता। यौगिक शब्दों का अर्थ, प्रकरण आदि के बिना, अर्थ विशेष का बोधक नहीं होता। जैसे कि–"यथेदं तच्छिरः" इत्यादि वाक्य के शेषांश से चमस शब्द, शिर अर्थ की प्रतीति कराता है, उसी प्रकार उक्त प्रसंग में भी, प्रकरण आदि से ही अजा शब्द का अर्थ निर्णय करना होगा। प्रकरण आदि में कहीं भी सांख्योक्त अजा की अर्थ प्रतीति नहीं होती, और न उसकी स्वतंत्र रूप से सृष्टि करने की ही प्रतीति होती है। "वह्वीः प्रजाः

सृजमानां" में तो केवल सृष्टिमात्र की ही चर्चा है। इससे निर्णय होता है कि—इस मंत्र में सांख्योक्त अब्रह्मात्मिका अजा अभिधेय नहीं है।

ब्रह्मात्मकाऽजाग्रहण एव विशेषहेतुरस्तीत्याह—

इस प्रकरण में ब्रह्मात्मक अजा ही मानी जायगी इसका विशेष कारण प्रस्तुत करते हैं—

ज्योतिरुपक्रमा तु तथाह्यधीयत एके ।१।४।९॥

तु शब्दोऽवधारणार्थः, ज्योतिरुपक्रमैवैषाऽजा, ज्योतिः ब्रह्म "तं देवा ज्योतिषां ज्योतिः" अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते" इत्यादि श्रुति प्रसिद्धेः। ज्योतिरुपक्रमा, ब्रह्मकारणिका इत्यर्थः। तथा हि अधीयत एके—हीति हेतौ, यस्मादस्या अजाया ब्रह्मकारणकत्वमेके शाखिनः तैत्तिरीया अधीयते—"अणोरणीयान् महतो महीयान् आत्मा गुहायां निहितोऽस्य जन्तोः" इति हृदयगुहायामुपास्यत्वेन सन्निहितं ब्रह्माभिधाय "सप्त प्राणाः प्रभवंति तस्मात्" इत्यादिना सर्वेषां लोकानां ब्रह्मादीनां च तत उत्पत्तिमभिधाय सर्वकारणीभूताऽजा तत उत्पन्नाऽभिधीयते "अजामेकाम्" इत्यादिना। सर्वस्य तद्व्यतिरिक्तस्य वस्तुजातस्य तत उत्पत्त्या तदात्मकत्वोपदेशे प्रक्रियमाणेऽभिधीयमानत्वात् प्राणसमुद्रपर्वतादिवदेषाप्यजा बह्वीनां सरूपाणां प्रजानां स्रष्ट्री कर्मवश्येनात्मना भुज्यमाना अन्येन विदुषात्मना त्यज्यमाना च ब्रह्मण उत्पन्ना ब्रह्मात्मिकाऽवगंतव्येत्यर्थः। अतो वाक्यशेषाच्चमसविशेषवच्छाखांतरीयादेतत्सरूपात् प्रत्यभिज्ञायमानार्थाद् वाक्यान्नियमिताऽजा ब्रह्मात्मिकेति निश्चीयते।

सूत्रस्थ तु शब्द निश्चयात्मक है। इस प्रकरण में कही गई अजा ज्योतिरुपक्रमा (ज्योतिर्मय ब्रह्मात्मिका) ही है। "देवता ज्योतियों की ज्योति की उपासना करते हैं, वह ज्योति द्युलोक के ऊपर चमक रही

है" इत्यादि श्रुतियों में ज्योति ब्रह्म की प्रसिद्धि है। ज्योतिरुपक्रमा का अर्थ है ब्रह्मकारणिका, अर्थात् ज्योति ब्रह्म ही जिसका कारण है। तैत्तिरीयोपनिषद् की एक शाखा में इसे ब्रह्मकारणिका बतलाया गया है– "इस जीवात्मा की अन्तर्गुहा में, अणु से अणु और महान् से महान रूप वाला वह परमात्मा विराजमान है" इस वाक्य में, हृदय की गुहा में उपास्य रूप से सन्निहित ब्रह्म का वर्णन करके "सात प्राण उससे उत्पन्न होते हैं" इत्यादि में सभी लोकों और ब्रह्मा आदि की उत्पत्ति उसी से बतलाकर, सबकी कारणीभूत अजा है उसी से सब उत्पन्न हुए हैं, ऐसा "अजामेकाम्" इत्यादि में बतलाया गया है। ब्रह्म के अतिरिक्त, उत्पन्न होने वाले सारे पदार्थ ब्रह्मात्मक हैं, ऐसे उपदेश के प्रसंग में, अनेक प्रजाओं की सृष्टि करने वाली, कर्माधीन जीवात्मा से भोग्या, अन्य ज्ञानी जीव से परित्यक्ता, ब्रह्मोत्पन्ना, इस अजा को भी, प्राण समुद्र पर्वत आदि की तरह, ब्रह्मात्मक मानना होगा। यही उक्त प्रकरण का तात्पर्य है। जैसे कि वाक्यांश से चमस शब्द की विशेष अर्थ प्रतीति होती है, वैसे ही उक्त शाखान्तरीय वाक्य से भी अजा शब्द की विशेष अर्थ प्रतीति होती है, इसलिए यह अजा ब्रह्मात्मिका है, ऐसा निश्चित होता है।

इहापि प्रकरणोपक्रमे "किं कारणं ब्रह्म" इत्यारभ्य "ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढां" इति परब्रह्म शक्तिरूपाया अजाया अवगते, उपरिष्टाच्च "अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्तस्मिंश्चान्यो मायया सन्निरुद्धः" "मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्" "यो योनिर्योनिमधितिष्ठत्येकः" इति च तस्या एव प्रतीतेर्नास्मिन्मंत्रे तंत्रसिद्ध स्वतंत्र प्रकृति प्रतिपत्ति गंधः।

इस प्रकरण के उपक्रम में "इस जगत का मुख्य कारण ब्रह्म कौन है?" इत्यादि से प्रारंभ करके "उन्होंने ध्यान योग में स्थित होकर, अपने गुणों से आवृत आत्म शक्ति का साक्षात् किया" इस वाक्य तक जो वर्णन किया गया है उससे अजा परब्रह्म की शक्ति रूपा है, ऐसा परिज्ञान होता है। इसके बाद के वाक्य से भी यही निश्चित होता है, जैसे—

"प्रकृति को माया तथा महेश्वर को मायाधीश जानो, उसी के अंगभूत कारण समुदाय से यह संपूर्ण जगत् व्याप्त है।" इन सब से ब्रह्मात्मिका अजा की ही प्रतीति हो रही है। सांख्य तंत्रोक्त, स्वतंत्र स्वभावा अजा की तो इस मंत्र में लेशमात्र भी चर्चा नहीं है।

कथं तर्हि ज्योतिरुपक्रमाया लोहित शुक्ल कृष्ण रूपाया अस्याः प्रकृतेरजात्वम्, अजाया वा कथं ज्योतिरुपक्रमात्वमित्य-आह—

ज्योतिरुपक्रमा, रक्त श्वेत कृष्ण वर्णा इस प्रकृति का अजा होना कैसे संभव है? यदि अजा है तो वह ज्योतिरुपक्रमा कैसे है? इस शंका की निवृत्ति करते हैं—

कल्पनोपदेशाच्च मध्वादिवदविरोधः ।१।४।१०।।

प्रसक्ताशंकानिवृत्यर्थश्च शब्दः। अस्याः प्रकृतेरजात्वं ज्योति-रुपक्रमात्वं च न विरुध्यते, कुतः? कल्पनोपदेशात्। कल्पनं क्लृप्तिः सृष्टिः जगद् सृष्ट्युपदेशांदित्यर्थः। यथा—"सूर्याश्चंद्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्" इति कल्पनं सृष्टिः। अत्रापि "अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्" इति जगत् सृष्टिरुपदिश्यते। स्वेनाविभक्ताद-स्मात् सूक्ष्मावस्थात् कारणाम्मायी सर्वेश्वरः सर्वं जगत् सृजती-त्यर्थः। अनेन कल्पनोपदेशेनास्याः प्रकृतेः कार्यकारणरूपेणावस्था-द्वयान्वयोऽवगम्यते। सा हि प्रलयवेलायां ब्रह्मतापन्ना अविभक्त नामरूपा सूक्ष्मरूपेणावतिष्ठते। सृष्टि वेलायां तद्भूत सत्वादिगुणाः विभक्त नामरूपाऽव्यक्तादि शब्दवाच्या तेजोऽबन्नादिरूपेण च परिणता लोहित शुक्ल कृष्णाकारा चावतिष्ठते। अतः कारणाऽवस्था अजा कार्यावस्थाज्योतिरूपक्रमेति न विरोधः।

सूत्रस्थ च शब्द की गई शंका की निवृत्ति के लिए प्रयोग किया गया है। इस प्रकृति के अजात्व और ज्योतिरुपक्रमात्व में कोई विरोध नहीं है, क्योंकि—कल्पना का उपदेश दिया गया है। क्लृप्ति का अर्थ

होता है सृष्टि, इसलिए कल्पना के उपदेश का तात्पर्य है सृष्टि का उपदेश। जैसे कि—"विधाता ने वैसे ही सूर्य और चंद्र की कल्पना की" इस वाक्य में कल्पना शब्द सृष्टि वाची है। इसमें भी "यह मायावी भूत समुदाय से जगत की सृष्टि करता है" ऐसा जगत सृष्टि का उपदेश दिया गया है। उक्त वाक्य का तात्पर्य है कि–मायाधीश सर्वेश्वर, अपने से अभिन्न, सूक्ष्म कारण रूप में स्थित इस प्रकृति से ही जगत को रचते हैं। इस कल्पनोपदेश से इस प्रकृति की कार्यकारण रूप दोनों अवस्थाओं की प्रतीति होती है। यह प्रकृति प्रलयावस्था में, अविभक्त नाम रूप वाली होकर सूक्ष्म रूप से ब्रह्म में लीन होकर स्थित रहती है। सृष्टि काल में यही, सत्त्व आदि गुणों के रूप में प्रकट विभक्त नाम रूपवाली, अव्यक्त आदि नामों वाली, तेज जल पृथिवी आदि रूपों में परिणत, रक्त शुक्ल कृष्ण आकार वाली हो जाती है। इस प्रकार कारण अवस्था वाली अजा और ज्योतिरुपक्रमा अजा में कोई विरोध प्रतीत नहीं होता।

मध्वादिवत्–यथेश्वरेणादित्यस्य कारणावस्थायामेकस्यैवावस्थितस्य कार्यावस्थायामृग्यजुःसामाथर्व प्रतिपाद्य कर्मनिष्पाद्यरसाश्रयतया वस्वादि देवताभोग्यत्वाय मधुत्वकल्पनं उदयास्तमय कल्पनं च न विरुध्यते, तदुक्तं मधुविद्यायाम्–"असौ वा आदित्यो देवमधु" इत्यारभ्य "अथ तत ऊर्ध्वं उदेत्य नैवोदेतानास्तमेतैकल एव मध्ये स्थाता" इत्यंतेन। एकलः एकस्वभावः। अतोऽनेन मंत्रेण ब्रह्मात्मिकाऽजैवाभिधीयते, न कापिलतंत्र सिद्धेति सिद्धम्।

जैसे कि--कारणावस्था में स्थित एक ही आदित्य की कार्यावस्था अर्थात् उदीयमान अवस्था की ऋग् यजु साम और अथर्व वेद में, कर्मफलावाप्ति के लिए, वसु आदि देवताओं की भोग्यता संपादन के लिए मधुरूप से की गई कल्पना में कोई विरुद्धता नहीं है, वैसे ही अजा के भी कार्यकारण रूप में कोई विरुद्धता नहीं है, मधुविद्या के—"यह आदित्य ही देवताओं का मधु है" इत्यादि से प्रारंभ कर "जैसा अब उदय हुआ है, वैसा अब उदय न होगा" इस अंतिम वाक्य तक के वर्णन से यही

बात स्पष्ट होती है। मंत्र में प्रयुक्त एकल शब्द एक स्वभाव का वाची है। इस मंत्र से ब्रह्मात्मिका अजा की ही प्रतीति होती है, कापिल तंत्र-सिद्ध प्रकृति की नहीं यह निश्चित मत है।

अन्ये त्वस्मिन् मंत्रे तेजोबन्नलक्षणाऽजैकाभिधीयत इति ब्रुवते। ते प्रष्टव्याः, किं तेजोवन्नान्येव तेजोबन्नात्मिकाऽजेका, उत तेजोबन्न रूपं ब्रह्मैव, किं वा तेजोबन्नकारणभूता काचित्—इति। प्रथमे कल्पे तेजोबन्नानां अनेकत्वात् "अजामेकाम्" इति विरुध्यते। न च वाच्यं तेजोबन्नानामनेकत्वेऽपि त्रिवृत्करणे नैकतापत्तिरिति त्रिवृत्करणेऽपि बहुत्वानपगमात्—"इमास्त्रिस्रो देवताः" तासां त्रवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणि' इति प्रत्येकं त्रिवित्करणोपदेशात्। द्वितीयः कल्पो विकल्प्यः, किं तेजोबन्नरूपेण विकृतं ब्रह्मैवाजैका, किं वा स्वरूपेणावस्थितमविकृतमिति। प्रथमः कल्पो बहुत्वानपायादेव निरस्तः। द्वितीयोऽपि "लोहितशुक्लकृष्णां" इति विरुध्यते। स्वरूपेणावस्थितं ब्रह्म तेजोबन्नलक्षणमिति वक्तुमपि शक्येत। तृतीये कल्पेऽप्यजाशब्देन तेजोबन्नानि निर्दिश्य तैस्तत्कारणावस्थोपस्थापनी-येत्यास्थेयम्। ततो वरमजाशब्देन तेजोबन्नकारणावस्थायाः श्रुति-सिद्धाया एवाभिधानम्।

अन्य संप्रदाय वाले कहते हैं कि—इस मंत्र में तेज जल पृथ्वी रूपा एक अजा का वर्णन है। ऐसा कहने वालों से प्रश्न है कि–तेज जल पृथ्वी रूप ही तेज जल पृथिव्यात्मिका एक अजा है? अथवा तेज जल पृथ्वी रूप ब्रह्म ही अजा है? अथवा तेज जल पृथ्वी की कारण भूता कोई शक्ति विशेष है? प्रथम प्रकार तो संभव नहीं है क्योंकि तेज जल पृथ्वी आदि तो अनेक हैं और अजा एक है, यह विरुद्धता कैसे संभव होगी। आप यह नहीं कह सकते कि—तेज जल पृथ्वी अनेक होते हुए भी त्रिवृत् प्रक्रिया से एक ही माने जाते हैं। उनके त्र्यात्मक होते हुए भी उनकी अनेकता भंग नहीं होती, जैसा कि–"इन तीन देवताओं को एक-एक के तीन-तीन करूँगा" इत्यादि से ज्ञात होता है।

द्वितीय प्रकार भी वैकल्पिक है, अर्थात् यह अजा, तेज जल पृथ्वी रूप से विकृत ब्रह्म है, अथवा स्वरूपावस्थ अविकृत ब्रह्म है? उसका विकृत रूप तो हो नहीं सकता, क्योंकि विकृत रूप अनेक होता है, और अजा एक है। अविकृत रूप भी "लोहित शुक्ल कृष्णा" इस विकृत वर्णन से विरुद्ध है। इसलिए तेज जल पृथ्वी आदि रूप वाली स्वरूपावस्थिति है ऐसा तो कह नहीं सकते।

तृतीय प्रकार में भी, अजा शब्द से तेज जल पृथिवी आदि निर्दिष्ट उसकी कारणावस्था ही माननी पड़ेगी। यदि ऐसा ही मानना है तो, श्रुतिसिद्ध कारणावस्था के निर्देश को मानना ही श्रेष्ठ है।

यत्पुनरस्याः प्रकृतेरजाशब्देन छागत्वपरिकल्पनमुपदिश्यत इति, तदप्यसंगतम्, निष्प्रयोजनत्वात्। यथा—"आत्मानं रथिनं विद्धि" इत्यादिषु ब्रह्मप्राप्त्युपायताख्यापनाय शरीरादिषु रथादिरूपणं क्रियते तद्वदस्यां प्रकृतौ छागत्वपरिकल्पनं क्वोपयुज्यते? न केवल-मुपयोगाभाव एव, विरोधश्च, कृत्स्न जगत् कारणभूतायाः स्वस्मि-न्ननादिकाल संबद्धानां सर्वेषामेव चेतनानां निखिल सुखदुःखोपभोगा-पवर्ग साधनभूतायाः अचेतनायाः अत्यल्प प्रजासर्गकरागंतुक संगम-चेतन विशेषैकरूपा अत्यल्प प्रयोजन साधन स्वपरित्यागाहेतुभूत स्वसंबंधिपरित्याग समर्थ चेतन विशेषरूपच्छागस्वभावख्यापनाय तद्रूपत्वकल्पनं विरुद्धमेव। "अजामेकां" अजो ह्येकः "अजोऽन्यः" इत्यत्राजाशब्दस्य विरूपार्थकल्पनं च न शोभनम्। सर्वत्र छागत्वं परिकल्प्यत इतिचेत् "जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः" इति विदुष आत्यंतिक प्रकृति परित्यागं कुर्वतो अनेन वान्येन वा पुनरपि संबंध-योगच्छागत्वपरिकल्पनमत्यंत विरुद्धम्।

यदि यह कहें कि—अजा शब्द का अर्थ बकरी है, ऐसा कहना भी असंगत है, ऐसे अर्थ में अजा शब्द के प्रयोग का कोई प्रयोजन समझ में नहीं आता। जैसे कि—"आतमा को सारथी जानो" इत्यादि वाक्य में,

ब्रह्म प्राप्ति की उपायता दिखलाने के लिए, शरीरादि की रथादि रूपकों में कल्पना की गई, वैसे ही इस अजा का बकरी अर्थ करने में क्या उपयोग है ? अजा शब्द का बकरी अर्थ करने में केवल प्रयोजन का ही अभाव नहीं है अपितु विरोध भी पड़ता है। संपूर्ण जगत की कारण रूपा प्रकृति, अचेतन होती हुई भी, अनादिकाल से अपने में संबद्ध विशिष्ट चेतनों के समस्त सुख दुःखों के भोग की तथा अपवर्ग की साधनिका भी है। उसको अत्यल्प संतान समुत्पादनार्थ, चेतन विशेष के साथ अभिनव संगम संबंध से केवल दुग्ध प्रदान रूप प्रयोजन के लिए बकरी रूप से कल्पित करना, उसके स्वरूप के विरुद्ध ही होगा।

"अजामेकाम्, अजो ह्येकः, अजोऽन्यः" इन पदों में प्रयुक्त अजा शब्द जो कि क्रमशः प्रकृति, बद्धजीव और मुक्त जीव के लिए कहा गया है, यहाँ बकरी अर्थ करना अशोभनीय भी है। यदि कहो कि हम तीनों ही अर्थों में बकरी अर्थ करेंगे तो "दूसरा अज इस भुक्तभोगी अजा का त्याग करता है" इस वाक्य में संपूर्ण रूप से प्रकृति को त्याग करने वाले जिस ज्ञानी पुरुष अज का वर्णन किया गया है, उसकी बकरी रूप से कल्पना करना तो उस मुक्त पुरुष को पुनः माया संबंधी बकरी रूप से बाँधना है, जो कि अत्यंत विरुद्ध है।

३ संख्योपसंग्रहाधिकरण :—

न संख्योपसंग्रहादपि नानाभावादतिरेकाच्च ।१।४।११॥

वाजसनेयिनः समामनंति—"यस्मिन् पंच पंचजना आकाशश्च प्रतिष्ठितः, तमेवमन्य आत्मानं विद्वान् ब्रह्मामृतोऽमृतम्" इति। किमयं मंत्रः कापिलतंत्रसिद्ध तत्वप्रतिपादनपरः उत नेति संदिह्यते। किं युक्तम् ? तंत्रसिद्धतत्व प्रतिपादनपर इति, कुतः ? पंचशब्द विशेषात् पंचजनशब्दात् पंचविंशति तत्त्व प्रतीतेः। एतदुक्तं भवति—"पंचजनाः" इति समासः समाहार विषयः। पंचानां जनानां समूहाः पंचजनाः "पंचपूल्य" इतिवत्। पंचजना इति लिंगव्यत्ययश्छांदसः, ते च समूहाः कतीत्यपेक्षायां पंचजनशब्द विशेषणेन

प्रथमेन पंचशब्देन समूहाः पंचेति प्रतीयंते, यथा पंच पंचपूल्य इति। अतः "पंच पंचजनाः" इति पंचविंशतिपदार्थावगतौ ते कतम इत्यपेक्षायां मोक्षाधिकारान्मुमुक्षुभिः ज्ञातव्यतया स्मृति प्रसिद्धाः प्रकृत्यादय एव ज्ञायंते। "मूलप्रकृतिर्विकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त, षोडशकश्च विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः" इति हि कापिलानां प्रसिद्धिः, अतस्तंत्रसिद्ध तत्त्व प्रतिपादन परः।

वाजसनेयी बृहदारण्यकोपनिषद् में कहा गया कि--"पाँच, पांचजन और आकाश जिसपर प्रतिष्ठित हैं, उसी को आत्मा मानकर अमृतस्वरूप ब्रह्मवेत्ता पुरुष अमर होते हैं।" इस पर संदेह होता है कि--यह कापिल तंत्रोक्त तत्त्व का प्रतिपादक है या नहीं? कह सकते हैं कि-सांख्य तत्त्व का ही प्रतिपादक है, क्योंकि-- इसमें पांच-पांच जनों का वर्णन विशेष रूप से किया गया है, जो कि सांख्योक्त पच्चीस तत्त्वों की ही प्रतीति कराता है। "पंचजनाः" पद समाहार समास विषयक है, पांच जनों के समूह को "पंचजन" कहते हैं, यह "पंचपुल्यः" की तरह समस्त पद है। इस पद में वैदिक व्याकरण के अनुसार लिंग विपर्यय है (पुंल्लिग प्रयोग किया गया है अन्यथा स्त्रीलिंग "पंचजनी" प्रयोग होना चाहिए था)। ये पांच समूह कौन हैं? ऐसी आकांक्षा होने पर—पंचजन शब्द के विशेषणीभूत, दूसरे "पंच" शब्द से ऐसा ज्ञात होता है कि केवल पांच ही हैं; जैसा कि "पंच पंचपुल्यः" में है। "पंच पंचजनाः" इस वाक्य में कहे गए पांच पांच के वे पांच समूहित पदार्थ कौन हैं? ऐसी आकांक्षा होने पर--सांख्यतत्त्वप्रसिद्ध मुमुक्षुओं के लिए ज्ञातव्य प्रकृति आदि तत्त्व ही ज्ञात होते हैं, यह शास्त्र एकमात्र मोक्षाधिकार का ही उपदेश देता है। "मूल प्रकृति अविकृत है, महत् आदि सात (रूप-रस-गंध-स्पर्श-शब्द-महत्-अहंकार) प्रकृति विकृति दोनों हैं। सोलह (जिह्वा-चक्षु-कर्ण-त्वग्-घ्राण, हस्त-पाद-पायु-उपस्थ-वाक्-मन-पृथ्वी-जल-वायु-तेज-आकाश) विकार हैं, पुरुष न प्रकृति है न विकृति।" ये कापिल तंत्रसिद्ध पच्चीस तत्त्व हैं। इससे यही ज्ञात होता है कि--उक्त श्रुति वाक्य इन तत्त्वों का ही प्रतिपादक है।

सिद्धान्तः—इति प्राप्ते प्रचक्ष्महे—"न संख्योपसंग्रहादपि" इति। 'पंच पंचजनाः" इति पंचविंशति संख्योपसंग्रहादपि न तंत्रसिद्ध-तत्त्वप्रतीतिः, कुतः ? नानाभावात्—एषां पंच संख्या विशेषितानां पंचजनानां तंत्रसिद्धेभ्यस्तत्त्वेभ्यः पृथगभावात्, "यस्मिन् पंच पंच जना आकाशश्च प्रतिष्ठितः" इत्येतेषां यच्छब्द निर्दिष्ट ब्रह्माश्रयतया ब्रह्मात्मकत्वं हि प्रतीयते। "तमेवम्मन्य आत्मानं विद्वान् ब्रह्मामृतोऽमृतम्" इत्यत्र तमिति परामर्शेन यच्छब्दनिर्दिष्टं ब्रह्मेत्यवगम्यते। अतस्तेभ्यः पृथगभूताः पंचजना इति न तंत्रसिद्धा एते। अतिरेकाच्च तंत्रसिद्धेभ्यस्तत्त्वेभ्योऽत्र तत्त्वातिरेकोऽपि भवति। यच्छब्दनिर्दिष्ट आत्मा आकाशश्चात्रातिरिच्येते। अतः "तं षड्विंशकमित्याहुस्सप्त-विंशमथापरे" इति श्रुति प्रसिद्धसर्वतत्त्वाश्रयभूतः सर्वेश्वरः परम-पुरुषोऽत्राभिधीयते, "न संख्योपसंग्रहादपि" इत्यपि शब्दस्य "पंच पंचजनाः इत्यत्र पंचविंशति तत्वप्रतिपत्तिरेव न संभवतीत्यभिप्रायः। कथम् ? पंचभिरारब्धसमूह पंचकासंभवात्, न हि तंत्रसिद्धतत्त्वेषु पंचसु पंचस्वनुगतं यत्संख्यानिवेशनिमित्तं जात्याद्यस्ति, न च वाच्यं, पंच कर्मेन्द्रियाणि, पंच ज्ञानेन्द्रियाणि, पंच महाभूतानि, पंच तन्मात्राणि, अविशिष्टानि पंच—इत्यवांतरसंख्यानिवेशाय निमित्त-मस्त्येव इति। आकाशस्य पृथङ्निर्देशेन, पंचभिरारब्धमहाभूत-समूहासिद्धेः। अतः "पंचजनाः" इत्ययं समासो न समाहार विषयः, अयंतु "दिक्संख्ये संज्ञायाम्" इति संज्ञाविषयः, अन्यथा पंचजनाः इति लिंगव्यत्ययश्च। पंचजना नाम केचित्संति, ते च पंच संख्या विशेष्यन्ते, "पंच पंचजनाः" इति, "सप्त सप्तर्षयः" इति वत्।

उक्त संशय पर सूत्रकार सिद्धान्त रूप से "न संख्योप" इत्यादि सूत्र प्रस्तुत करते हैं। अर्थात् उक्त वाक्य का पच्चीस संख्या अर्थ मान लेने पर भी सांख्योक्त तत्त्वों की प्रतीति नहीं होती, सांख्योक्त तत्त्वों से

पृथक्ता है। इन पंच संख्याविशेषित पांच जनों की सांख्योक्त तत्त्वों से पृथक्ता दिखलाई गई है। यत् शब्द निर्दिष्ट ब्रह्म के आश्रित होने से, इन तत्त्वों की ब्रह्मात्मकता प्रतीत होती है। "उसको ही आत्मा मानकर जो अमृत स्वरूप ब्रह्म को जानते हैं, वे अमर हो जाते हैं" इस वाक्य में प्रयुक्त तत् शब्द से यत् शब्द निर्दिष्ट ब्रह्म का ही निर्देश किया गया है। इससे स्पष्ट है कि—पंचजन सांख्योक्त तत्त्व से पृथक् हैं। इसमें जो तत्त्व वतलाये गए हैं वे सांख्य तत्त्वों से संख्या में अधिक भी हैं। यत् शब्द निर्दिष्ट आत्मा और आकाश ये दो सांख्य तत्त्व से अधिक हैं। "उन्हें कुछ लोग छब्बीस तथा कुछ सत्ताइस तत्त्वों वाला कहते हैं" ऐसे श्रुति प्रसिद्ध, समस्त तत्त्वों के आश्रय सर्वेश्वर परब्रह्म पुरुषोत्तम ही उक्त श्रुति के प्रतिपाद्य हैं।

सूत्रस्थ अपि शब्द यह निर्देश कर रहा है कि—"पंच-पंचजनाः" पद से पच्चीस तत्त्वों की प्रतीति कदापि संभव नहीं है। क्योंकि पांच-पांच समूहों का व्यवस्थित रूप से आरंभ करना संभव नहीं है। सांख्योक्त तत्त्वों की पांच-पांच संख्यावाली कोई सुनियोजित पद्धति नहीं है। ऐसा नहीं कह सकते कि—पंच कर्मेन्द्रिय, पंच महाभूत, पंच तन्मात्रा और पंच अवशिष्ट (महत्, अहंकार, प्रकृति, मन, पुरुष) ऐसी क्रमबद्ध शृंखला है, क्योंकि—वाक्य में जो आकाश का पृथक् निर्देश किया गया है, उससे पंचमहाभूत समूह असिद्ध हो जाता है। यह "पंचजनाः" पद समाहार समस्त पद नहीं है अपितु "दिक् संख्ये संज्ञायाम्" सूत्र के अनुसार संख्यावाची है। यदि ऐसा न होता तो इस पद में लिंगविपर्यय अवश्य हो जाता (अर्थात् पंचजनी होता), "पंच पंचजनाः" वाक्य "सप्त सप्तर्षयः" की तरह संख्यावाची ही है।

के पुनस्ते पंचजनाः ? इत्यत आह—

तो फिर वे पांच कौन हैं ? इसका उत्तर देते हैं—

प्राणादयो वाक्यशेषात् । १।४।१२॥

"प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुः श्रोत्रस्य श्रोत्रं अन्नस्यान्नं मनसो ये मनो विदुः" इति वाक्यशेषात् ब्रह्माश्रयाः प्राणादय एव पंचपंचजनाः इति विज्ञायन्ते।

"वे प्राणों के प्राण, नेत्रों के नेत्र, श्रोत्रों के श्रोत्र, अन्नों के अन्न और मनों के मन कहे जाते है" इस वाक्यांश में कहे गए, ब्रह्माश्रित प्राण आदि ही उक्त वाक्य में पांच संख्यावाले तत्त्व ज्ञात होते हैं।

अथ स्यात् काण्वानां माध्यन्दिनानां च "यस्मिन् पंच पंचजना:" इत्ययं मंत्रः समानः। "प्राणस्य प्राण:" इत्यादि वाक्यशेषे काण्वानामन्नस्य पाठो न विद्यते। तेषां पंच पंचजनाः प्राणादय इति न शक्यते वक्तुम्—इति, तत्रोत्तरम्।

आपकी बात ही ठीक हो सकती है, पर काण्व और माध्यंदिन दोनों शाखाओं में "पंच पंचजना:" इत्यादि मंत्र समान रूप से मिलता है, किंतु "प्राणस्य प्राणः" इत्यादि काण्व शाखीय वाक्यशेष में अन्न पाठ नहीं है, इसलिए उसमें तो प्राणादि को पांच तत्त्व कह नहीं सकते। इसका उत्तर देते हैं—

ज्योतिषैकेषाम सत्यन्ने ।१।४।१३॥

एकेषां काण्वानां पाठे असत्यन्ने ज्योतिषः पंचजनाः इंद्रियाणीति ज्ञायंते, तेषां वाक्यशेषः प्रदर्शनार्थः। एतदुक्तं भवति—"यस्मिन् पंच पंचजना:" इत्यस्मात्पूर्वस्मिन् मंत्रे "तं देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम्" इति ज्योतिषां ज्योतिष्ट्वे ब्रह्मण्यभिधीयमाने ब्रह्माधीनस्वकार्याणि कानिचित् ज्योतींषि प्रतिपन्नानि, तानि च विषयाणां प्रकाशकानीन्द्रियाणीति। "यस्मिन् पंच पंचजना" इत्यनिर्धारितविशेषनिर्देशेनावगम्यंते इति। "प्राणस्य" इति प्राण शब्देन स्पर्शनेन्द्रियं गृह्यते, वायुसंबंधित्वाद् स्पर्शनेन्द्रियस्य मुख्य प्राणस्य ज्योतिः शब्देन प्रदर्शनायोगात्। चक्षुष इति चक्षुरिन्द्रियम्, श्रोत्रस्येति श्रोत्रेन्द्रियम, अन्नस्येति घ्राणरसनयोस्तंत्रेणोपादामम्, अन्न शब्दोदित पृथ्वी संबंधित्वात् घ्राणेंद्रियमनेन गृह्यते। अद्यते अनेनेत्यन्नम् इति रसनेन्द्रियमपि गृह्यते। मनस इति मनः।

घ्राणरसनयोस्तंत्रेणोपादानमिति पंचत्वमप्यविरुद्धम्। प्रकाशकानि मनः पर्यन्तानींद्रियाणि पंचजनशब्दनिदिष्टानि तदविरोधाय घ्राणरसनयोस्तंत्रेणोपादनम्। तदेवम्—"यस्मिन् पंच पंचजना आकाशश्च प्रतिष्ठितः" इति पंचजन शब्दनिर्दिष्टानि इन्द्रियाणि आकाश शब्द प्रदर्शितानि महाभूतानि च ब्रह्मणि प्रतिष्ठितानीति सर्वतत्त्वानां ब्रह्माश्रयत्व प्रतिपादनात् न तंत्रसिद्ध पंचविंशति तत्त्व प्रसंगः। अतः सर्वत्र वेदांते संख्योपसंग्रहे तदभावे वा न कापिल-तंत्रसिद्ध तत्त्वप्रतीतिः, इति स्थितम्।

काण्व शाखीय पाठ में अन्न शब्द के न होते हुए भी, ज्योति शब्द के निर्देश से इन्द्रियों की ही "पंचजन" शब्द से प्रतीति होती है। उक्त अर्थ के प्रकाशन के लिए ही वाक्य के शेष में "पंचजन" शब्द का प्रयोग किया गया है। कथन यह है कि—"पंच पंचजनाः" वाक्य के पूर्ववर्त्ती "तं देवा ज्योतिषां ज्योतिः" इत्यादि वाक्य में, ज्योतियों के प्रकाशक के रूप में ब्रह्म का निरूपण किया गया है। उन ज्योतियों का अपना अपना प्रकाशन कार्य ब्रह्म के ही अधीन है। 'यस्मिन् पंच" इत्यादि में जो विशेष निर्देश किया गया है उससे, विषयों की प्रकाशक पांच इन्द्रियों का ही बोध होता है। "प्राणस्य" पद में कहे गए प्राण शब्द से स्पर्शनेन्द्रिय का ग्रहण होता है, इस इन्द्रिय का वायु के साथ संबंध है। ज्योति शब्द का मुख्य प्राण से तो ग्रहण किया जा नहीं सकता। "चक्षुषः" से चक्षु-रिन्द्रिय, "श्रोत्रस्य" से श्रोत्रेन्द्रिय का निर्देश किया गया है। "अन्नस्य" से घ्राण और रसन दोनों इन्द्रियों का निर्देश किया गया है। अन्न का अर्थ है पृथ्वी, घ्राणेंद्रिय का पृथ्वी से संबंध है, क्योंकि यह इन्द्रिय गंध-गुणवाली पृथ्वी से ही प्रकट हुई है। "अद्यते अनेन इति अन्नम्" इस व्याख्या के अनुसार, रसनेन्द्रिय भी अन्न शब्दवाची हो सकती है। "मनसः" शब्द से मन का निर्देश है। घ्राण और रसन के एक साथ निर्देश होने पर भी, पांच संख्या में कोई अन्तर नहीं आता। प्रकाश स्वभाव वाली मनपर्यन्त इन्द्रियाँ ही "पंचजन" शब्द से निर्दिष्ट हैं, संख्या विषयक विरोध के परिहार के लिए ही घ्राण और रसन दोनों

का एक साथ निर्देश किया गया है। "पंच पंचजना:" इत्यादि का तात्पर्य है कि--पचशब्द निर्दिष्ट पाच इन्द्रियाँ और आकाश शब्द निर्दिष्ट आकाशादि पंच महाभूत, ब्रह्म में अधिष्ठित है। इस प्रकार समस्त तत्त्वो के ब्रह्माश्रयत्व प्रतिपादन से ही यह निश्चित हो जाता है कि साख्य तत्र सिद्ध तत्त्वो की उक्त मत्र में चर्चा नही है। संख्या का ग्रहण हो न हो, वेदात वाक्यों में कहीं भी, कापिल तंत्र सिद्ध तत्त्वों की प्रतीति ही नही होती, यह निश्चित है।

४ कारणत्वाधिकरण :—

कारणत्वेन चाकाशादिषु यथाव्यपदिष्टोक्तेः १।४।१४॥

पुनः प्रधान कारणवादी प्रत्यवतिष्ठते—न वेदांतेषु एकस्मात् सृष्टिराम्नायत इति, जगतो ब्रह्मैककारणत्वं न युज्यते इति। कथम् ? तथाहि—"सदेव सोम्येदमग्र आसीत्" इति सत्पूर्विका सृष्टिराम्नायते, "असद् वा इदमग्र आसीत्" इत्यसत् पूर्विका च, अन्यत्र "असदेवेदमग्र आसीत्तत्सदासीत्तत्समभवत्" इति च। अतो वेदांतेषु स्रष्टुरव्यवस्थितेर्जगतो ब्रह्मैककारणत्वं न निश्चेतुं शक्यम्, प्रत्युत प्रधानकारणत्वमेव निश्चेतुं शक्यते।

प्रधान-कारणवादी पुनः सामने आते हैं, वे कहते हैं कि वेदांत वाक्यों में केवल एक से ही सृष्टि नहीं बतलाई गई है, इसलिए जगत का कारण एक मात्र ब्रह्म ही है, ऐसा कहना उपयुक्त नहीं है। देखें—"पहिले यह जगत् सत् स्वरूप ही था" इसमे सत्पूर्विका सृष्टि तथा—"पहिले यह जगत असद् रूप ही था" इसमें असत्पूर्विका सृष्टि का वर्णन मिलता है तथा "यह जगत् पहिले असत् ही था, वही सत् था, वही संभूत हुआ" ऐसा उभयात्मक भी वर्णन मिलता है। इस प्रकार वेदांत वाक्यों में सृष्टिकर्त्ता के विषय में जो अव्यवस्थित वर्णन मिलता है, उससे एकमात्र ब्रह्म को ही जगत् की सृष्टि का निश्चित कारण नहीं कह सकते, अपितु प्रधान को ही निश्चित रूप से जगत का कारण कह सकते हैं।

"तद्धेदं तर्हि व्याकृतमासीत्" इत्यव्याकृते प्रधाने जगतः प्रलय-मभिधाय "तन्नामरूपाभ्यां व्याक्रियते" इत्यव्याकृतादेव जगतः सृष्टि-श्चाभिधीयते । अव्याकृतं अव्यक्तम् , नामरूपाभ्यां न व्याक्रिय ते न व्यज्यत इत्यर्थः । अव्यक्तं प्रधानमेव । अस्य च स्वरूप नित्यत्वेन परिणामाश्रत्वेन च जगत्कारणवादिवाक्यगतौ सदसच्छब्दौ ब्रह्म-णीवास्मिन्न विरोत्स्येते । एवं अव्याकृत कारणत्वे निश्चिते सतीक्ष-णादयः कारणगताः सृष्ट्यौन्मुख्याभिप्रायेण योजयितव्याः । ब्रह्मा-त्मशब्दावपि बृहत्त्वव्यापित्वाभ्यां प्रधान एव वर्त्तेते अतः स्मृतिन्यांय-प्रसिद्धं प्रधानमेव जगत्कारणं वेदांतवाक्यैः प्रतिपाद्यते ।

"यह जगत् उस समय अव्याकृत था" इस वाक्य में अव्याकृत शब्द वाच्य प्रकृति में प्रलय बतलाकर "वह अव्याकृत ही नाम रूप से व्याकृत हो गया" इस वाक्य में उस अव्याकृत प्रकृति से ही जगत् की सृष्टि भी बतलाई गई है । अव्याकृत का अर्थ है अव्यक्त, अर्थात् जो नामरूप से व्यक्त न हो । अव्यक्त तो प्रधान है ही । यह प्रधान स्वरूपतः नित्य और संपूर्ण परिणामों का आधार होने से, जगत् कारण के प्रतिपादक सत् और असत् दोनों पदों से व्यवहृत हो सकता है, जैसे कि—ब्रह्म का दोनों शब्दों से प्रयोग होता है । इस प्रकार जगत् के कारण रूप से, अव्याकृत के निश्चित हो जाने पर, कारण के संबंध में कहे गए ईक्षण आदि गुणों को भी, सृष्ट्रयोन्मुखी भाव के अभिप्राय से, अव्यक्त के साथ ही जोड़ना होगा। ब्रह्म और आत्मा शब्दों को भी, जो कि बृहत्व और व्यापकत्व के द्योतक हैं, प्रधान के लिए ही मानना होगा । इसलिए निश्चित ही सांख्यस्मृति-प्रसिद्ध प्रधान ही वेदांत वाक्यों में जगत कारण के रूप से प्रतिपादित है ।

सिद्धान्तः—एवं प्राप्ते प्रचक्ष्महे—"कारणत्वेन चा काशाषु" इत्यादि, च शब्दस्तुशब्दार्थे, सर्वज्ञात् सर्वेश्वरात् सत्यसंकल्पान्निरस्त निखिलदोषगन्धात् परस्माद् ब्रह्मण एव जगदुत्पद्यत इति निश्चेतुं

शक्यते, कुतः ? आकाशादिषु कारणत्वेन यथाव्यपदिष्टस्योक्तेः, सर्वज्ञत्वादि विशिष्टत्वेन "जन्माद्यस्य यतः" इ येवमादिषु प्रतिपादितं ब्रह्म यथा व्यपदिष्टमित्युच्यते, तस्यैकस्यैवाकाशादिषु कारणत्वेनोक्तेः। "तस्माद् वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः" "तत्तेजोऽसृजत्" "इत्यादिषु सर्वज्ञं ब्रह्मैव कारणत्वेनोच्यते। तथाहि "सत्यंज्ञानमनंतं ब्रह्म" "सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता" इति प्रकृतं विपश्चिदेव ब्रह्म तस्माद् वा एतस्मादिति परामृश्यते। तथा–"तदैक्षत् बहुस्याम्" इतिनिर्दिष्टं सर्वज्ञं ब्रह्मैव "तत्तेजोऽसृजत्" इति परामृश्यते। एवं सर्वत्र सृष्टि वाक्येषु द्रष्टव्यम् अतोब्रह्मैक कारणं जगदिति निश्चीयते।

उन सांख्यवादियों के कथन पर सूत्रकार सिद्धान्त रूप से "कारणत्वेन चाकाशादिषु" इत्यादि सूत्र प्रस्तुत करते हैं। सूत्र में च शब्द तु शब्द वाची है। सर्वज्ञ, सर्वेश्वर, सत्य संकल्प, निर्दोष परब्रह्म से ही जगत् की सृष्टि हुई है ऐसा निश्चित कह सकते हैं। क्योंकि–आकाशादि में कारण रूप से ब्रह्म का ही उल्लेख किया गया है। "जन्माद्यस्य यतः" सूत्र में सर्वज्ञ आदि गुणविशिष्ट रूप से प्रतिपादित ब्रह्म ही, यथाव्यपदिष्ट रूप से कहा गया है, आकाशादि में एकमात्र उसी को कारण बतलाया गया है। "उसी से आकाश हुआ, उसने तेज की सृष्टि की" इत्यादि में ब्रह्म को ही कारण बतलाया गया है। उसी प्रकार––"ब्रह्म सत्य ज्ञान अनंत स्वरूप है" "वह सर्वदर्शी, ब्रह्म के साथ समस्त कामनाओं को भोगता है" इत्यादि में जिस सर्वज्ञ ब्रह्म का वर्णन किया गया है, "तस्माद् वा एतस्माद्" में उसी का उल्लेख है। "उसने सोचा बहुत हो जाऊँ" इत्यादि में निर्दिष्ट सर्वज्ञ ब्रह्म का ही "उसने तेज की सृष्टि की" इत्यादि में उल्लेख है। इसी प्रकार सभी जगह सृष्टि परक वाक्यों में देखना चाहिए। इससे निश्चित होता है कि––जगत् का एकमात्र कारण ब्रह्म ही है।

ननु "असद् वा इदमग्र आसीत्" इत्यसदेव कारणत्वेन

व्यपदिश्यते। तत्कथमिव सर्वज्ञस्य सत्यसंकल्पस्य ब्रह्मण एव कारणत्वं निश्चीयत इत्यत आह--

"सृष्टि के पूर्व यह जगत् असत् था" इस वाक्य में तो असत् को ही कारण रूप से दिखलाया गया है, तब सर्वज्ञ सत्य संकल्प ब्रह्म की जगतकारणता कैसे निश्चित होगी? इसका समाधान करते हैं--

समाकर्षात् ।१।४।१५॥

"असद् वा इदमग्र आसीत्" इत्यत्रापि विपश्चिदानंदमयं सत्यसंकल्पं ब्रह्मैव समाकृष्यते। कथम्? "तस्माद् वा एतस्माद् विज्ञानमयाद् अन्योऽन्तर आत्माऽनन्दमयः,–सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेयेति–इदं सर्वमसृजत, यदिदं किंच तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्चाभवत्" इत्यादिना ब्राह्मणेनानंदमयं ब्रह्म सत्यसंकल्पं सर्वस्य स्रष्टृ सर्वानुप्रवेशेन सर्वात्मभूतमभिधाय "तदप्येष श्लोको भवति" इत्युक्तस्यार्थस्य सर्वस्य साक्षित्वेनोदाहृतोऽयं श्लोकः "असद् वा इदमग्र आसीत्" इति। तथोत्तरत्र "भीषाऽस्माद् वातः पवते" इत्यादिना तदेव ब्रह्म समाकृष्य सर्वस्य प्रशासितृत्वनिरतिशयानंदत्वादयोऽभिधीयंते। अतोऽयं मंत्रस्तद्विषय एव। तदानीं नामरूपविभागाभावेन तत्संबंधितयाऽस्तित्वाभावात् ब्रह्मैवासच्छब्देनोच्यते। "असदेवेदमग्र आसीत्" इत्यत्राप्ययमेव निर्वाहः।

"सृष्टि के पूर्व यह जगत् असत् था" इस वाक्य में भी सर्वदर्शी आनंदमय, सत्य संकल्प, ब्रह्म का ही संबंध है। सो कैसे? (उत्तर) "निश्चय ही पहिले कहे हुए, विज्ञानमय जीवात्मा से भिन्न, उसके भीतर रहने वाले आत्मा आनंदमय परमात्मा हैं,–उस परमेश्वर ने विचार किया कि प्रकट होकर बहुत हो जाऊँ,–जो कुछ भी देखने और समझने में आता है उस सबकी रचना की,–उस जगत की रचना करके वह स्वयं

उसी में साथ-साथ प्रविष्ट हो गए,—उसमें प्रविष्ट होकर मूर्त्त और अमूर्त्त हो गए" इत्यादि ब्राह्मण मंत्रों से आनंदमय, सत्य संकल्प, सर्व-स्रष्टा ब्रह्म को, सब मे प्रविष्ट सर्वात्मभूत बतलाकर "उस विषय में भी यह श्लोक है" उपरोक्त अर्थ का प्रतिपादक साक्षी स्वरूप "प्रकट होने से प्रथम यह जडचेतनात्मक जगत अव्यक्त ही था" यह श्लोक कहा गया। तथा इसी प्रकरण के बाद—"इसी के भय से पवन चलता है" इत्यादि वाक्य में, उसी ब्रह्म से संबद्ध सर्व प्रशासकता निरतिशय आनंदमयता का वर्णन किया गया है। इससे सिद्ध होता है कि उक्त मंत्र ब्रह्मविषयक ही है। सृष्टि के पूर्व नाम रूप का विभाग न होने से, नाम रूप से संबद्ध उसका अस्तित्व भी नहीं था, इसलिए उस अवस्था वाले ब्रह्म का असत् शब्द से उल्लेख किया गया है। "असदेवेदमग्र आसीत्" वाक्य की भी इसी प्रकार अर्थ संगति करनी होगी।

यदुक्तं "तद्धेदं तर्हि अव्याकृतमासीत्" इति प्रधानमेव जगत्कारणत्वेनाभिधीयत इति, नेत्युच्यते। तत्राप्यव्याकृतशब्देनाव्याकृतशरीरं ब्रह्मैवाभिधीयते, "स एष हि प्रविष्ट आनखाग्रेभ्यः पश्यंश्चक्षुः शृण्वन् श्रोत्रं मन्वानो मन आत्मेत्येवोपासीत्" इत्यत्र "स एषः" इति तच्छब्देनाव्याकृतशब्दान्निर्दिष्यान्तः प्रविश्य प्रशासितृत्वेनानुकर्षात् "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्-अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि" इति स्रष्टुः सर्वज्ञस्य परस्य ब्रह्मणः कार्यानुप्रवेशनामरूपव्याकरण प्रसिद्धेश्च। "अंतः प्रविष्टः शास्ता जनानाम्" इति नियमनार्थत्वादनुप्रवेशस्य प्रधानस्याचेतनस्यैवंरूपोऽनुप्रवेशो न संभवति।

जो यह कहा कि—"उस समय यह जगत् अव्याकृत था", इत्यादि वाक्य में अव्याकृत प्रधान को ही कारण कहा गया है। यह कथन भी असंगत है, इसमें भी अव्याकृत शरीर ब्रह्म का ही वर्णन है। "वह आत्मा इस शरीर में नख से शिख पर्यन्त प्रविष्ट है उसके देखने से चक्षु, सुनने से श्रोत्र तथा मनन करने से मन आदि शब्दों का प्रयोग होता है, उसे

आत्मा मानकर उपासना करो" इस वाक्य में "स एषः" वाक्यगत तत् शब्द से अव्याकृत शब्दनिर्दिष्ट पदार्थ को ही, अन्तर्यामी प्रशासक रूप से स्थिर किया गया है। "उसने सृष्टि करके उसी में प्रवेश किया" तथा इस जीव में प्रवेश करके नाम रूप को प्रकाशित करूँगा" इत्यादि में जगत् स्रष्टा, सर्वज्ञ परब्रह्म के कार्यानुप्रवेश और नामरूपाभिव्यक्तीकरण का प्रसिद्ध वर्णन है। "वह अन्तर्यामी सबका शासक है" इत्यादि वाक्य में, उसका अनुप्रवेश और जगत शासकता ही एकमात्र उद्देश्य है, प्रधान में जडता के कारण ऐसी अनुप्रवेश शक्ति संभव नहीं है।

अतः अव्याकृतम्—अव्याकृतशरीरं ब्रह्म "तन्नामरूपाभ्यां व्याक्रियत्" इति तदेवाविभक्तनामरूपं ब्रह्म सर्वज्ञं सत्यसंकल्पं स्वेनैव विभक्त नामरूपं स्वयमेव व्याक्रियतेत्युच्यते। एवं च सति ईक्षणादयो मुख्या एन भवंति ब्रह्मात्मशब्दावपि निरतिशयबृहत्वनियमनार्थव्यापित्वाभावेन प्रधाने न कथंचिदुपयद्यते। अतो ब्रह्मैककारणं जगदिति स्थितम्।

अव्याकृत शरीर ब्रह्म को ही अव्याकृत बतलाया गया है, जैसी कि—"वह नामरूपाकार में अभिव्यक्त हुआ" इत्यादि में अव्याकृत सर्वज्ञ सत्यसंकल्प ब्रह्म की नामरूपाकार में अभिव्यक्ति बतलाई गई है। इस प्रकार ब्रह्म की अभिव्यक्ति और अनभिव्यक्ति सिद्ध हो जाने पर ईक्षण आदि गुण भी उन्हीं के सिद्ध होते हैं। ब्रह्म और आत्मा शब्द भी, निरतिशय बृहत्व और सर्वनियमनोपयोगी व्यापकता के अभाव से, प्रधान में कभी भी संभव नहीं हैं। इससे सिद्ध होता है कि जगत का एकमात्र कारण ब्रह्म ही है।

५ जगद्वाचित्वाधिकरण :—

जगद्वाचित्वात् ।१।४।१६॥

पुनरपि सांख्यं प्रत्यवतिष्ठते—यद्यपि वेदांत वाक्यानि चेतनं जगत्कारणत्वेन प्रतिपादयंति, तथापि तंत्रसिद्धप्रधानपुरुषातिरिक्त

वस्तु जगत्कारणं वेद्यतया न तेभ्यः प्रतीयते । तथाहि—भोक्तारमेव पुरुषं कारणं वेद्यतयाऽधीयते कौषीतकिनो बालाक्यजातशत्रु-संवादे—"ब्रह्म ते ब्रवाणि" इत्युपक्रम्य "यो वै बालाक एतेषां पुरुषाणां कर्ता यस्य वेतत्कर्म स वै वेदितव्य." इति उपक्रमे वक्तव्यतया बालाकिनोपक्षिप्त ब्रह्माजानते तस्मा एव अजात-शत्रुणा "स वै वेदितव्य." इति ब्रह्मोपदिश्यते । "यस्य वैतत्कर्म" इति कर्मसबंधात् प्रकृत्यध्यक्षो भोक्ता पुरुषो वेदितव्योपदिष्टं ब्रह्मेति निश्चीयते । नाथनिरम्, तस्य कर्मसंबंधानभ्युपगमात् । कर्म च पुण्यापुण्यलक्षणं क्षेत्रज्ञस्यैव संभवति ।

साख्यवादी पुनः प्रतिपक्षी होकर उठते है—यद्यपि वेदान्त वाक्यो मे चेतन को ही जगत् कारण रूप से प्रतिपादित किया गया है, तथापि उनमे साख्य तत्र सिद्ध प्रधान पुरुष के अतिरिक्त, कोई अन्य वस्तु जगत् कारणरूप से नही प्रतीत होती। कौषीतकि शाखा के बालाकि और अजातशत्रु के कथोपकथन मे, भोक्ता को ही, कारण रूप से, ज्ञातव्य बतलाया गया है। "तुझे ब्रह्मोपदेश करता हूँ" इत्यादि से प्रारंभ करके "हे बालाकि ! जो इस पुरुष समुदाय का कर्त्ता है, एवं जगत जिसका कार्य है, वही ज्ञातव्य तत्त्व है"। बालाकि ने उपक्रम मे जिस ब्रह्म को जानने की अभिलाषा प्रकट की, बालाकि उस ब्रह्म को नही जानता ऐसा समझकर अजातशत्रु ने स्वतः ही उसे ब्रह्म सबधी उपदेश उक्त वाक्य में दिया। "यही जिसका कर्म है" इत्यादि वाक्य मे, कर्म के साथ सबंधित होने से यह निश्चित होता है कि—ज्ञातव्यरूप से उपदिष्ट ब्रह्म तत्त्व, सांख्य सम्मत प्रकृति प्रेरक, भोक्ता पुरुष से भिन्न, कोई दूसरा नही है ऐसा प्रतीत होता है। उक्त प्रसग मे जिस ब्रह्म का उल्लेख किया गया है, वह परब्रह्म नही हो सकता, क्योकि—परब्रह्म का कही भी, कर्म के साथ संबध नही बतलाया गया है। पुण्य पाप लक्षण वाले कर्म का संबंध तो क्षेत्रज्ञ (जीव) से ही हो सकता है।

न च वाच्यम्—क्रियत इति कर्मेति व्युत्पत्त्या प्रत्यक्षादि प्रमाणो-पस्थापितं जगदेतत्कर्मेति निर्दिश्यते, यस्यैतत्कृत्स्नं जगत् कर्म, स

वेदिव्य इति क्षेत्रज्ञादर्थान्तरमेव प्रतीयतेइति। "यो वै बालाके एतेषां पुरुषाणां कर्त्ता यस्य वैतत्कर्म" इति पृथङ्निर्देश वैयर्थ्यात्, कर्मशब्दस्य च लोकवेदयोः पुण्य पाप रूप एव कर्मणि प्रसिद्धेः। तत्तद्भोक्तृकर्मनिमित्तत्वात् जगदुत्पत्तेरेतेषां पुरुषाणां कर्त्तेति च भोक्तुरेवोपपद्यते। तदयमर्थः—एतेषां आदित्यमंडलाद्यधिकरणानां क्षेत्रज्ञभोग्य भोगोपकरणभूतानां पुरुषाणां यः कारणभूतः, एतत्-कारणभावहेतुभूतं पुण्यापुण्यलक्षणं च कर्म यस्य स वेदितव्यः, तत्स्व-रूपं प्रकृतेर्विविक्तं वेदितव्यम्—इति।

ऐसा नहीं कह सकते कि—जो किया जाय उसे कर्म कहते हैं, इस व्याख्या के अनुसार, प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से सिद्ध जगत ही, इस ब्रह्म के कर्म के रूप में बतलाया गया है। "जिसका यह सारा जगत कर्म है, वही ज्ञातव्य है" इत्यादि में क्षेत्रज्ञ से विलक्षण, परब्रह्म ही प्रतीत होता है। ऐसा मानने पर तो "हे बालाकि! जो इन पुरुषों का कर्त्ता है, एवं यह जगत् जिसका कर्म है" इत्यादि में किया गया कर्त्ता और कर्म का पृथक् निर्देश ही व्यर्थ हो जायेगा। कर्म शब्द की, लोक और वेद में पाप और पुण्य रूप कर्म से ही प्रसिद्धि है। विभिन्न भोक्ताओं के कर्मा-नुमार ही जगत् की उत्पत्ति होती है, इस नियम के अनुसार "इन सब पुरुषों का कर्त्ता" इत्यादि वक्तव्य से, भोक्ता संबंधी कर्म ही, सिद्ध होता है। उक्त प्रसंग से यह तात्पर्य निकलता है कि, जो आदित्य मंडल आदि में स्थित हैं, एवं जीव के भोग्य और भोगोपकरण रूप इन पुरुषों के कारण हैं तथा कारण भाव के हेतुभूत, पाप और पुण्य कर्म वाले हैं, उन्हें ही जानना चाहिए, अर्थात् उनके स्वरूप को, प्रकृति से भिन्न रूप से जानना चाहिए।

तथोत्तरत्र— "तौ ह सुप्तं पुरुषमाजग्मतुः तं यष्टिना चिक्षेप" इति सुप्तपुरुषागमनयष्टिघातोत्थापनादीनि च भोक्तृप्रतिपादन एव लिंगानि। तथोपरिष्टादपि भोक्तैव प्रतिपाद्यते" तद्यथा श्रेष्ठी स्वैर्भुंक्ते यथा वा स्वाः श्रेष्ठिनं भुंजंत्येवमेवैष प्रज्ञात्मैतैरात्मभिर्भुंक्ते

एवमेवैत आत्मान एनं भुंजंति"इति। तथा "क्वैषा एतद् बालाके पुरुषोऽशयिष्ट क्व वा एतदभूत् कुत एतदायात्" इति पृष्टमर्थमजानते तस्मै स्वयमेवाजातशत्रुरुवाच-"हिता नाम नाड्यस्तासु तदा भवति यदा सुप्तः स्वप्नं न कथंचन पश्यत्यथास्मिन् प्राण एवैकधा भवति तदैनं वाक् सर्वैर्नामभिः सहाप्येति मनः सर्वैः ध्यानैः सहाप्येति स यदा प्रतिबुध्यते यथाग्नेर्ज्वलतः सर्वा दिशो विस्फुलिंगा विप्रतिष्ठेरन्नेवमेवैतस्मादात्मनः प्राणा यथायतनं विप्रतिष्ठते प्राणेभ्यो देवा देवेभ्यो लोकाः" इति सुषुप्त्याधारतता स्वप्नसुषुप्तिजागरितावस्थासु वर्त्तमानं वागादिकरणाप्ययोदगमस्थानमेव जीवात्मानम् "अथास्मिन् प्राण एवैकधा भवति" इत्युक्तवान्।

प्रकरण के उत्तर भाग में कहा गया है कि—"वे दोनों सोए हुए पुरुष के निकट आए, और छड़ी से प्रहार किया" इत्यादि में सुप्त के पास आना और छड़ी के प्रहार से उठाना आदि, भोक्तृप्रतिपादन के ही चिन्ह है [प्रकृत आत्मा देह इन्द्रिय आदि से भिन्न तत्त्व है, यह समझाने के लिए, अजातशत्रु बालाकि के साथ एक सोते पुरुष के पास जाकर छड़ी से मारने लगे, उसकी निद्रा भंग हो गई। इससे स्पष्ट हो गया कि—यह आत्मा यदि भोक्ता न होता तो, छड़ी के स्पर्श से उसमें संज्ञा का संचार न होता, छड़ी का स्पर्श भी एक प्रकार का भोग ही है, तभी तो उसे संज्ञा प्राप्त हुई]। इसी प्रकार प्रकरण के पूर्व भाग में भी भोक्ता का प्रतिपादन किया गया है, जैसे—"सेठ जिस प्रकार धन का भोग करता है, ठीक उसी प्रकार यह प्रज्ञात्मा भी, इन देह इन्द्रिय आदि से भोग करता है, ये देहेन्द्रिय आदि भी उसका भोग करते है" तथा—"हे बालाकि! यह जो पुरुष है, जब सोया था, तब कहाँ था, अब यह कहाँ से आया ?" इस प्रश्न द्वारा बालाकि को अज्ञानी जानकर अजातशत्रु ने स्वयं ही उससे कहा—"हिता नाम की जो, हृदय से संबद्ध शरीर में व्याप्त नाडियाँ हैं, उनके द्वारा, बुद्धि सहित हृदय में जाकर शयन करता है, सुषुप्ति में वह स्वप्न नही देखता, उस समय सारे प्राण एकत्र होकर स्थित रहते हैं, वागेन्द्रिय समस्त शब्दों के साथ उसके निकट पहुँच जाती

है। मन भी समस्त चिन्तनों के साथ उसके पास उपस्थित रहता है। जब यह जागता है तब, अग्नि से प्रस्फुटित चिनगारियों की तरह, इन्द्रियाँ इससे अलग होकर यथा स्थान पहुँच जाती हैं, उन इन्द्रियों से उनके अधिष्ठातृ देवता तथा उन देवताओं से समस्त लोक अर्थात् शब्दादि विषय अलग हो जाते हैं" इत्यादि में स्वप्न, सुषुप्ति और जागृति अवस्थाओं मे वर्त्तमान, वाग आदि इन्द्रियों का विलय और उद्भवस्थान जीवात्मा ही बतलाया गया है।

अस्मिन् जीवात्मनि प्राणभृत्त्वनिबंधनोऽयं प्राणशब्दः-"स यदा प्रतिबुध्यते" इति प्राणशब्दनिर्दिष्टस्य प्रबोधश्रवणात् मुख्यप्राणस्येश्वरस्य च सुषुप्तिप्रबोधयोऽसंभवात् , अथवा "अस्मिन् प्राण" इति व्यधिकरणे सप्तम्यौ अस्मिन्नात्मनि वर्त्तमाने प्राण एवैकधा भवति वागादिकरणग्राम इति। प्राणशब्दस्य मुख्य प्राण परत्वेऽपि जीव एवास्मिन् प्रकरणे प्रतिपाद्यते, स्वतः प्राणस्य जीवोपकरणत्वात्। अतो वक्तव्यतयोपक्रान्तं ब्रह्म पुरुष एवेति, तद्व्यतिरिक्तेश्वरासिद्धेः। कारणगताश्चेक्षणादयश्चेतनधर्माः अस्मिन्नेवोपपद्यंत, इत्येतदधिष्ठितं प्रधानमेव जगत्कारणम्।

यह जीवात्मा प्राणभृत अर्थात् प्राण विधारक है, इसीलिए उसमें प्राण शब्द का प्रयोग किया गया है। "वह जिस समय उठता है" इस स्थल में, प्राणशब्दनिर्दिष्ट पदार्थ का ही प्रबोध या जागरण प्रतीत होता है। मुख्य प्राण अर्थात् प्राणों के ईश्वर का प्रबोध या जागरण कभी संभव नहीं है। अथवा "अस्मिन् प्राणे" इस स्थल में जो दो सप्तमी विभक्ति का प्रयोग किया गया है, वह व्यधिकरण (अर्थात् दोनों में विशेष्य विशेषण भाव नहीं है) का प्रतिपादन करता है, जिससे निश्चित होता है कि--इस वर्त्तमान प्राण में ही वागादि इन्द्रियाँ एकत्र हो जाती हैं। प्राण शब्द के मुख्य प्राण परक होते हुए भी, उक्त प्रकरण में, जीव अर्थ में ही उसका प्रयोग किया गया है, प्राण तो स्वतः ही जीव का उपकरण (भोग का साधन) है। प्रकरण के प्रारंभ में वक्तव्य रूप से जिस

ब्रह्म का उपक्रम किया गया है, वह निश्चित पुरुष ही है, इसके अतिरिक्त उक्त प्रकरण में ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता। कारणगत ईक्षण आदि चेतन धर्म भी इस पुरुष (जीव) में ही घटते हैं। इस चेतन पुरुष द्वारा परिचालित प्रकृति ही जगत का कारण है, यह भी निश्चित होता है।

इति प्राप्ते प्रचक्ष्महे—जगद्वाचित्वात्,अत्र पुण्यापुण्य परवशः क्षेत्रज्ञः स्वस्मिन् प्रकृतिधर्माध्यासेन तत्परिणामहेतुभूतः पुरुषो नाभिधीयते, अपितु निरस्तसमस्ताविद्यादिदोषगंधोऽनवधिकातिशयासंख्येयकल्याणगुणनिधिर्निखिल जगदेककारणभूतः पुरुषोत्तमोऽभिधीयते। कुतः ? "यस्य वैतत्कर्म" इति, अत्रैतच्छब्दान्वितस्य कर्मशब्दस्य परमपुरुषकार्यभूतजगद्वाचित्वात्।

उक्त मत पर सिद्धान्त रूप से "जगद्वाचित्वात्" सूत्र प्रस्तुत किया जाता है। इस प्रकरण में, पुण्यपाप परवश क्षुद्र क्षेत्रज्ञ (जीवात्मा) जो कि स्वतः कर्तृत्व आदि प्राकृतिक धर्मों को कार्यरूप में परिणत करने में असमर्थ है, वह पुरुष अभिधेय नहीं है। अपितु अविद्या आदि दोषों से रहित, अगणित अपार असंख्य कल्याणगुण सागर, समस्त जगत का एकमात्र कारणभूत पुरुषोत्तम ही अभिधेय है। "यह जगत् जिसका कर्म है" इत्यादि वाक्य में "एतत्" शब्द से प्रयुक्त "कर्म" शब्द, परम पुरुष परमेश्र के कार्यरूप जगत का ही वाचक है।

एतच्छब्दो ह्यर्थप्रकरणादिभिरसंकुचितवृत्तिरविशेषण प्रत्यक्षादिप्रमाणोपस्थापितनिखिलचिदचिन्मिश्रितजगद्विषयः। न च पुण्यापुण्यलक्षणं कर्मात्र कर्मशब्दाभिधेयम् "ब्रह्मते ब्रवाणि" इत्युपक्रम्य ब्रह्मत्वेन बालाकिना निर्दिष्टादित्यमण्डलाद्यधिकरणानां पुरुषाणामब्रह्मत्वेन "मृषा वै खलु मा संवादयिष्ठाः" इतितमब्रह्मवादिनमपोद्य तेनाविदितब्रह्मज्ञानायाजातशत्रुणेदं वाक्यमवतारितं "यो वै बालाके" इत्यादि। पुण्यापुण्यलक्षण कर्मसंबंधिन आदित्याद्यधिकरणाः तत्स-

जातीयाश्चपुरुषास्तेनैव विदिता इति तदविदितपुरुषविशेषज्ञापनपरोऽयं कर्मशब्दो न पुण्यापुण्यमात्रवाची, अपितु कृत्स्नस्यजगतः कार्यत्ववाची। एवमेवखल्वविदितोऽर्थउपदिष्टो भवति। पुरुषस्य कर्मसंबंधोपलक्षितस्वाभाविकस्वरूपस्याज्ञातस्य वेदितव्योपदेशे च लक्षणा, कर्मसंबंधमात्रस्यैव वेदितव्यस्वरूपलक्षणत्वात् यस्य कर्म स वेदितव्य, इत्येतावतैव तत्सिद्धेः "यस्य वैतत्कर्म" इत्येतच्छब्द वैयर्थ्यं च।

"एतत्" शब्द का अर्थ, प्रकरण आदि से बहुत ही स्पष्ट और सामान्य ढंग से, प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से ग्रहीत, चेतन अचेतन युक्त समस्त जगत का वाची प्रतीत होता है। इस प्रसंग में प्रयुक्त कर्म शब्द, पुण्यपाप रूप ही कर्म नहीं है। "तुम्हें ब्रह्म तत्त्व बतलाता हूँ' इत्यादि से बालाकि को आदित्यमण्डल से अधिष्ठित जिस पूर्ण पुरुष ब्रह्म का निर्देश किया गया, उसी को "मुझे झूठी बातों से मत ठगो" ऐसी अब्रह्मवादी बालाकि द्वारा निन्दा करने पर, उसके अज्ञान निवारण के लिए अजातशत्रु ने "यो वै बालाके" इत्यादि वाक्य से अविज्ञात ब्रह्म तत्त्व का निरूपण किया। पुण्यपाप संबद्ध आदित्य आदि के आश्रयभूत एवं उसके समानजातीय पुरुष को तो बालाकि स्वयं ही जानता था, उसको वैसा ही उपदेश देने का कोई मतलब ही नहीं था, इससे निश्चित होता है कि—"कर्म" शब्द एकमात्र पुण्यापुण्य का ही वाचक नही है, अपितु संपूर्ण जगत की कार्यता का भी बोधक है। ऐसा मानने से ही, सही अर्थों में अविज्ञात तत्त्व का उपदेश घटित होता है। जो स्वतः सिद्ध स्वरूप है, समय विशेष में ही कर्म से संबद्ध होता है, उस अविज्ञात पुरुष की यदि ज्ञातव्योपदेश रूप से कल्पना की जाय तो, वह लक्षणा द्वारा ही संभव है, क्योंकि—कर्म के साथ जो संबंध है, एकमात्र उससे ही जिसके स्वरूप का ज्ञान होता है, वही ज्ञातव्य तत्त्व है। "यह जगत जिसका कर्म है, उसे जानो" इतना कहने मात्र से ही उद्देश्य की सिद्धि हो जाती है। यदि जगत् रूप कर्म का संबंध ज्ञेय से तोड़ दिया जाय तो वाक्यगत "एतत्" शब्द की उपयोगिता ही समाप्त हो जायगी।

"य एतेषां कर्ता यस्य वैतत्कर्म" इति पृथङ्निर्देशस्य चायमभिप्रायः, ये त्वया ब्रह्मत्वेन निर्दिष्टाः तेषां यः कर्त्ता,ते यत्कार्यंभूताः, किं विशिष्याभिधीयते, कृत्स्नस्यजगद्यस्यकार्यम्, उत्कृष्टा अपकृष्टाः चेतनाअचेतनाश्च सर्वेपदार्था यत्कार्यत्वे तुल्याः, स परमकारणभूतः पुरुषोत्तमो वेदितव्यः, इति। जगदुत्पत्तेर्जीवकर्मनिबंधनत्वेऽपि न जीवः स्वभोग्यभोगोपकरणादेः स्वयमुत्पादकः, अपितु स्वकर्मानुगुण्येनेश्वरसृष्टं सर्वं भुंक्ते, अतो न तस्य पुरुषान् प्रति कर्त्तृत्वमुपपद्यते। अतः सर्वं वेदांतेषु परमकारणतया प्रसिद्धं परंब्रह्मैवात्र वेदितव्यतयोपदिश्यते।

"जो इसका कर्त्ता है, एवं यह जिसका कर्म है" इत्यादि में किये गए कर्त्ता कर्म के पृथक् निर्देश का अभिप्राय है कि—तुम्हारे द्वारा जो ब्रह्मत्वरूप से निर्दिष्ट पुरुष है तथा जो कर्त्ता है, जिसके वे सब कार्यरूप हैं, अधिक क्या, सारा जगत ही जिसका कार्य है, भला बुरा, जड चेतन सभी पदार्थ उसके कार्य के समान हैं, वह परमकारण रूप पुरुषोत्तम ही ज्ञातव्य हैं। जीव का पापपुण्यमय कर्म ही यदि जगत की उत्पत्ति का कारण है तो प्रश्न उठता है कि—जीव अपने भोग्य और भोगोपकरणों का उत्पादक कैसे होगा? वह तो अपने कर्मों के अनुसार, ईश्वर सृष्ट पदार्थों का भोग मात्र कर सकता है, जीव का जीवों के प्रति कर्तृत्व कभी संभव नही है। सभी वेदांत वाक्यो मे परम कारण रूप से प्रसिद्ध परब्रह्म ही उक्त प्रकरण के ज्ञातव्य विषय हैं।

जीवमुख्यप्राणलिंगान्नेति चेत्तद् व्याख्यातम् ।१।४।१७।।

अथ यदुक्तम्—जीवलिंगान्मुख्यप्राणसकीर्त्तनाच्च लिंगाद् भोक्तैर्वाऽस्मिन्प्रकरणे प्रतिपाद्यते, न परमात्मा इति, तद्व्याख्यातम्। तस्य निर्वाहः प्रतर्दनविद्यायामभिहितः। एदतुक्तं भवति—यत्रोपक्रमोपसंहारपर्यालोचनया ब्रह्मपरं वाक्यमिति निश्चितम्, तत्रान्यलिंगानि तदनुरोधेन वर्णनीयानीति तत्र प्रतिपादितम्। अत्राप्युक्रमे "ब्रह्म ते ब्रवाणि" इति ब्रह्मोपक्षिप्तम्, मध्ये च "यस्य वै

तत्कर्म" इति निर्दिष्टं न पुरुषमात्रम् अपितु निखिलजगदेककारणम् ब्रह्मैवेत्युक्तम् ।

जो यह कहते हो कि—इस प्रसंग में जीव शब्द और मुख्य प्राण बोधक शब्द के प्रयोग से ज्ञात होता है कि—भोक्ता पुरुष का ही इस प्रकरण में प्रतिपादन किया गया है, परमात्मा का नहीं। इस विषय की व्याख्या हम कर चुके हैं, इसका समाधान भी प्रतर्दन विद्या के प्रसंग में कर चुके हैं। अब तो कथन यह है कि—जब प्रकरण के उपक्रम और उपसंहार की पर्यालोचना से यह निश्चित हो चुका कि सारा प्रसंग परब्रह्म परक ही है, इसलिये प्रयुक्त जितने भी शब्द हैं, उनका तदनुसार ही अर्थ करना चाहिए यही बात वहाँ प्रतिपादित भी है। इस प्रसंग के उपक्रम में भी जैसे—"तुझे ब्रह्मोपदेश देता हूँ" ब्रह्म का उल्लेख किया गया है। प्रसंग के मध्य के—"यह जिसका कर्म है" इस निर्देश में केवल पुरुष मात्र ही नहीं अपितु संपूर्ण जगत के कारण रूप से ब्रह्म का ही निर्देश किया गया है।

उपसंहारे च— "सर्वान्पाप्मनोऽपहत्य सर्वेषां च भूतानां श्रैष्ठ्यं स्वाराज्यमाधिपत्यं पर्येति य एवं वेद" इति ब्रह्मोपासनैकान्तं सर्वपापापहतिपूर्वकं स्वाराज्यं च फलं श्रुतम्, अतोऽस्यवाक्यस्य परब्रह्मपरत्वनिश्चयेनजीवमुख्यप्राणलिंगान्यपि तत्परतया वर्णनीयानि—इति।

प्रातर्दने हि उपासात्रैविध्येन जीवमुख्यप्राणलिंगानां ब्रह्मपरत्वमुक्तम्, अत्रापि—"अथास्मिन् प्राण एवैकधा भवति" इति सामानाधिकरण्य संभवे वैयधिकरण्यसमाश्रयणायोगात् ब्रह्मण्येव प्राणशब्द प्रयोग निश्चयेन च प्राणशरीरकब्रह्मोपासनार्थं प्राणसंकीर्तनं लिंगं युज्यते।

उपसंहार में भी—"जो इस प्रकार जानता है वह समस्त पापों को भस्म करके, संपूर्ण भूतों के श्रेष्ठतम रूप स्वर्ग राज्य का आधिपत्य

निश्चित होता है कि—जीव का वर्णन, जीव से भिन्न परमात्मा के प्रतिपादन के लिए ही किया गया है।

यदुक्तं प्रश्नव्याख्याने जीवपरे सुषुप्तिस्थानं च नाड्यएव, कारणग्रामश्च प्राणशब्दनिर्दिष्टे जीवएवैकधा भवति इति, तदयुक्तम् नाडीनां स्वप्नस्थानत्वात् उक्तरीत्याब्रह्मण एव सुषुप्तिस्थानत्वात्। प्राणशब्द निर्दिष्टे ब्रह्मण्येव जीवस्य तदुपकरणभूतवागादिकरणग्रामस्य चैकतापत्ति विभागवचनाच्च।

अपिचैवमेके—वाजसनेयिनोऽस्मिन्नेव बालाक्यजातशत्रु संवादे सुषुप्ताद्विज्ञानमयात् भेदेन तदाश्रयभूतं परमात्मानमामनंति—"य एष विज्ञानमयः पुरुषः क्वैष, तदाऽभूत्कुत एतदागात्" यत्रैष एतत् सुप्तो अभूत् य एष विज्ञानमयः पुरुषः तदैतेषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानमादाय य एषोऽन्तर्हृदय आकाशः तस्मिन् शेते" इति आकाश शब्दश्च परमात्मनि प्रसिद्धः। "दहरोऽस्मिन्नंतर आकाशः" इति। अतोऽत्र जीव संकीर्त्तनं तस्मादर्थान्तरभूतस्यप्राज्ञस्यपरस्यब्रह्मणः प्रतिबोधनार्थमित्यवगम्यते। तस्मादस्मिन्वाक्ये पुरुषादर्थान्तरभूतस्य निखिलजगत्कारणस्यपरस्यैवब्रह्मणो वेदितव्यतयाऽभिधानान्नतंत्रसिद्धस्य पुरुषस्यतदधिष्ठितस्य वा प्रधानस्य कारणत्वं क्वचिदपि वेदाते प्रतीयत इति स्थितम्।

प्रश्न और उत्तर दोनों ही जीव परक हैं, परमात्मा परक नहीं, नाड़ियां ही जीव का शयन स्थल है परमात्मा नही तथा इन्द्रियाँ ही प्राण बोधक हैं जो कि जीव मे एकत्र हो जाती है, इत्यादि कथन भी असगत है। नाड़ियो को शयन स्थल मानकर तुम उक्त मत स्थिर करते हो, उसी तरह हम, परमात्मा को शयन स्थल मानकर यह निर्णय करते है कि—प्राण शब्द निर्दिष्ट, जीव की साधन रूप वागादि इन्द्रियाँ, ब्रह्म में ही एकत्र होती और भिन्न होती है। ऐसा ही इसी वाजसनेयी की एक शाखा मे बालाकि अजातशत्रु के संवाद में, सुप्त पुरुष से भिन्न, उसके

आश्रयभूत परमात्मा का ऐसा वर्णन मिलता है कि—"यह जो विज्ञानमय पुरुष है, वह उस समय (सुप्तावस्था में) कहाँ था ? और बाद में (जागरितावस्था में) कहाँ से आ गया ? यह जब सुप्त था तब यह विज्ञानमय पुरुष, प्राण समूह विज्ञान के साथ, स्वीय विज्ञान को ग्रहण करके, इस हृदयस्थ आकाश में शयन कर रहा था" "दहरोऽस्मिन्नंतर आकाश" इत्यादि में आकाश शब्द परमात्मा के लिए प्रसिद्ध है। इस विवेचन से निश्चित होता है कि—उक्त प्रसंग में जो जीव का उल्लेख किया गया है, वह ब्रह्म परक ही है तथा पुरुष से भिन्न संपूर्ण जगत का कारण परब्रह्म ही ज्ञातव्य है। सांख्यतंत्रसिद्ध पुरुष और उससे अधिष्ठित प्रधान का कारणरूप से वेदांत वाक्यों में कहीं भी उल्लेख नहीं है।

६ वाक्यान्वयाधिकरण :—

वाक्यान्वयात् ।१।४।१९।।

अत्रापि कापिलतंत्रसिद्धपुरुषतत्त्वावेदनपरंवाक्यं क्वचित् दृश्यत इति, तदतिरिक्त ईश्वरो नाम न कश्चित् संभवतीत्याशंक्य निराकरोति ।

इस प्रकरण में भी कापिलतंत्र सिद्ध पुरुष तत्त्व को बतलाने वाले वाक्य कहीं-कहीं दिखलाई देते हैं, इसलिए उसके अतिरिक्त ईश्वर नामक कोई दूसरा नहीं हो सकता, ऐसी शंका करके उसका निराकरण करते हैं।

बृहदारण्यके मैत्रेयी ब्राह्मणे श्रूयते—"न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति" इत्यारभ्य "न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति, आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मंतव्यो निदिध्यासितव्यः मैत्रेय्यात्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञाते इदं सर्वं विदितम् इति ।

बृहदारण्यकोपनिषद् के मैत्रेयी ब्राह्मण में कहा गया है कि—"अरे पति की कामना से पति प्रिय नहीं होता" इत्यादि से लेकर "अरे सब की कामना से सब प्रिय नहीं होते, आत्मा को ही देखो, सुनो, मनन करो और अभ्यास करो, अरी मैत्रेयी ! इस आत्मा में ही देखने, सुनने, मनन करने और जानने से यह सारा जागतिक प्रसार ज्ञात हो जाता है।" यहाँ तक।

तत्र संशयः, किमस्मिन्वाक्ये द्रष्टव्यतयोपदिश्यमानः तंत्रसिद्धः पुरुष एव, अथवा सर्वज्ञः सत्यसंकल्पः सर्वेश्वरः ? इति किं युक्तम्? पुरुष इति, कुतः ? आदिमध्यावसानेषु पुरुषस्यैव प्रतीतेः, उपक्रमे तावत् पतिजायापुत्रवित्तपश्वादिप्रियत्वयोगाज्जीवात्मैव प्रतीयते। मध्येऽपि "विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्य संज्ञाऽस्ति" इत्युत्पत्तिविनाशयोगात्स एवावगम्यते। तथाऽन्ते च "विज्ञातारमरे केन विजानीयात्" इति स एव ज्ञाता क्षेत्रज्ञ इति प्रतीयते, नेश्वरः। अतस्तंत्रसिद्धपुरुष प्रतिपादनपरमिदं वाक्यमिति निश्चीयते।

उक्त वाक्य के विषय में संशय होता है कि-इसमें द्रष्टव्य रूप से उपदिष्ट, तंत्रसिद्ध पुरुष ही है, अथवा सर्वज्ञ सत्यसंकल्प सर्वेश्वर हैं ? कह सकते हैं कि पुरुष ही है; वाक्य के आदि मध्य और अन्त से पुरुष की ही प्रतीति होती है। उपक्रम में पति स्त्री पुत्र वित्त पशु आदि की प्रियता का संपर्क दिखलाया गया है जिससे जीवात्मा की ही प्रतीति होती है। मध्य में भी जैसे-"विज्ञानघन ही इन पंच भूतों का अनुगत होकर व्यक्त होता है तथा उनके विनष्ट होने पर विनष्ट हो जाता है, मृत्यु के बाद कोई चिन्ह अवशिष्ट नहीं रह जाता"-उत्पति और विनाश के साथ जो संयोग दिखलाया गया है, उससे भी उसी (जीव) का बोध होता है। इसी प्रकार अन्त में भी-"अरे! विज्ञाता को और कैसे जानेगी ?" वह क्षेत्रज्ञ ही ज्ञाता होता है, ईश्वर नहीं। इससे निश्चित होता है कि-यह वाक्य सांख्य तंत्रोक्त पुरुष परक ही है।

ननु "अमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेन" इत्युपक्रमामृतत्वप्राप्त्युपायोपदेशपरमिदं वाक्यमिदमवगम्यते। तत्कथं पुरुषप्रतिपादन परत्वमस्यवाक्यस्य तदुच्यते, अतएव ह्यत्र पुरुषप्रतिपादनम्। तंत्रे हि अचिद्धर्माध्यासविमुक्तपुरुषस्वरूपरूपयाथात्म्यविज्ञानमेवामृतत्वहेतुत्वेनोच्यते, अतो जीवात्मनः प्रकृतिवियुक्तं स्वरूपमिहामृतत्वाय "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः" इत्यादिनोपदिश्यते।

"धन से अमृतत्व प्राप्ति की आशा नहीं है" इस उपक्रमवाक्य से तो ज्ञात होता है कि अमृतत्व प्राप्ति के उपाय का उपदेश ही इस वाक्य में दिया गया है, इसे पुरुष प्रतिपादक कैसे कहा जा सकता है ? उत्तर देते हैं कि–इसमें पुरुष का ही प्रतिपादन किया गया है। सांख्य शास्त्र में अचित् धर्म (सुखदुःखादि) के बंधन से मुक्त पुरुष स्वरूप के यथार्थ ज्ञान को ही अमृतत्व प्राप्ति का कारण कहा गया है "आत्मा वा अरे दृष्टव्यः" इत्यादि में, जीवात्मा के, प्रकृति बंधन से मुक्त स्वरूप का ही, अमृतत्व प्राप्ति के लिए उपदेश दिया गया है।

सर्वेषामात्मनां प्रकृतिवियुक्तस्वात्मयाथात्म्यविज्ञानेन सर्व एवात्मानो विदिता भवंतीत्यात्मविज्ञानेन सर्वविज्ञानमुपपन्नम्। देवादिस्थावरांतेषुसर्वेषुभूतेष्वात्मस्वरूपस्य ज्ञानैकप्रकारत्वात् "इदं सर्वं यदयमात्मा" इत्यैकात्म्योपदेशः देवाद्याकाराणामनात्माकारत्वात् "सर्वं तं परादात्" इत्यादिनाऽन्यत्वनिषेधश्च "यत्र हि द्वैतमिव भवति" इति च नानात्वनिषेधेनैकस्वरूपे हि आत्मनि देवादिप्रकृति परिणामभेदेन नानात्वं मिथ्येत्युच्यते। "तस्य वा एतस्यमहतोभूतस्य निश्वसितमेतद् यदृग्वेदः" इत्याद्यपि प्रकृतेरधिष्ठातृत्वेन पुरुषनिमित्तत्वाज्जगदुत्पत्तेरुपपद्यते। एवमस्मिन्वाक्ये पुरुषपरे निश्चिते सति तदैकार्थ्यात् वेदांताः तंत्रसिद्धं पुरुषमेवावदधतीति तदधिष्ठिता प्रकृतिरेव जगदुपादानम्, नेश्वरः, इति।

सभी आत्माओं का प्रकृति बंधन से मुक्त स्वरूप एक सा है, इसलिए प्रकृति बंधन से अपने स्वरूप का यथार्थ ज्ञान हो जाने पर, सभी आत्माओं का परिज्ञान हो जाना स्वाभाविक है, इसलिए अपने ज्ञान से सबका ज्ञान हो जाता है, यह सिद्धान्त भी समीचीन है। देवादिस्थावर पर्यन्त सभी भूतों में आत्मज्ञान स्वरूप धर्म समान है इसलिए "यह सब आत्मस्वरूप है" ऐसा एकात्मोपदेश दिया गया, देवादि का आकार तो ज्ञानस्वरूप है नहीं। "सारे पदार्थ ही उसे प्रतारित करते हैं" इससे भेद बुद्धि का प्रतिषेध किया गया है तथा "जिससे द्वैतबुद्धि होती है" इत्यादि

से भेद निषेध करते हुए दिखलाया गया है कि—एक स्वरूप आत्मा में, प्रकृति के परिणाम स्वरूप देव, मनुष्य, पशु आदि मिथ्या भेद प्रतीत होता है। "उस नित्य सिद्ध महत् का निश्वास यह ऋग्वेद है" इत्यादि से भी प्रकृति का अधिष्ठाता पुरुष ही जगत का निमित्त है ऐसा सिद्ध होना है। इस प्रकार इस वाक्य के पुरुष परक निश्चित हो जाने पर, समस्त वेदांत वाक्यों का एकमात्र अर्थ यही होता है कि—सांख्योक्त पुरुष और उससे अधिष्ठिता प्रकृति ही जगत के उपादान कारण हैं, ईश्वर नहीं।

सिद्धान्त—एवं प्राप्ते प्रचक्ष्महे, वाक्यान्वयात्—इति। सर्वेश्वर एवास्मिन्वाक्ये प्रतीयते, कुतः? एवमेवहि वाक्यावयवानामन्योन्यान्वयः समंजसो भवति। "अमृतत्वस्य तु नाशाऽस्ति वित्तेन" इति याज्ञवल्क्येनाभिहिते 'येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्यां यदेव भगवान् वेद तदेव मे ब्रूहि" इत्यमृतत्वानुपायतया वित्ताद्यनादरेणामृतत्वप्राप्त्युपायमेव प्रार्थयमानायैमैत्रेय्यै तदुपायतया द्रष्टव्यत्वेनोपदिष्टोऽयमात्मा परमात्मैव"तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति" "तमेवं विद्वानमृत इह भवति नान्यः पन्थाः" इत्यादिभिरमृतत्वस्य परमपुरुषवेदनैकोपायतया प्रतिपादनात्। परमपुरुषविभूतिभूतस्य प्राप्तुरात्मनः स्वरूपयाथात्म्यअपवर्गसाधनपरमपुरुषवेदनोपयोगितयाऽवगंतव्यम्, न स्वत एवोपायत्वेन। अतोऽत्र परमात्मैवामृतत्व उपायतया "द्रष्टव्यः" इत्यादिनोपदिश्यते।

उक्त संशय पर सिद्धान्तरूप से "वाक्यान्वयात्" सूत्र प्रस्तुत है। उक्त वाक्य में सर्वेश्वर को ही प्राप्तव्य कहा गया है। ऐसा मानने से ही वाक्यों के अर्थ की परस्पर सामंजस्यपूर्ण संगति हो सकती है। "धन से अमरता प्राप्ति की आशा नहीं है" ऐसा याज्ञवल्क्य के कहने पर "जिससे मैं अमर नहीं हो सकती, उसे लेकर मैं क्या करूंगी? श्रीमान्! जो आप अमरता की साधना जानते हों उसे मुझे बतलावें" इत्यादि में मुक्तिलाभ के अनुपयोगी धन संपत्ति का अनादर करते हुए, मुक्ति के उपाय की जिज्ञासु मैत्रेयी को, द्रष्टव्य रूप से जिस आत्मा का उपदेश प्राप्त हुआ,

वह परमात्मा ही है। "उसे जानकर ही मृत्यु को अतिक्रमण करता है" "उसको भली भाँति जानकर इस लोक में ही अमर हो जाता है, इसके अतिरिक्त मुक्ति का कोई दूसरा मार्ग नहीं है" इत्यादि में परम पुरुष परमात्मा को ही एक मात्र ज्ञेय और उपायरूप प्रतिपादन किया गया है। परम पुरुष परमात्मा के विभूतिरूप, मोक्ष प्राप्त करने वाले जीवात्मा का जो स्वरूपगत यथार्थ ज्ञान है, उसे भी मुक्ति प्राप्ति के उपायभूत परमात्मज्ञान का उपयोगी बतलाया गया है। स्वतः उसकी उपायरूप से कोई सत्ता नहीं है। इससे सिद्ध होता है कि—इस प्रसंग में 'द्रष्टव्य" इत्यादि वाक्य में मोक्षोपायरूप से परमात्मा का ही उपदेश दिया गया है।

तथा—"तस्य ह वा एतस्य महतोभूतस्य निश्वसितभूतद्यद् ऋग्वेदः" इत्यादिना कृत्स्नस्यजगतः कारणत्वमुच्यमानं परमपुरुषाद न्यस्य कर्मपरवशस्यमुक्तस्यनिर्व्यापारस्य च पुरुषमात्रस्य न संभवति। तथा "आत्मनो वा अरे दर्शनेन" इत्यादिना एकविज्ञानमभिधीय-मानं सर्वात्मभूते परमात्मन्येवावकल्पते। यत्त्वेतदेकरूपत्वादात्मना-मेकात्मविज्ञानेन सर्वात्मविज्ञाममुच्यत इति, तदयुक्तम् अचेतन प्रपंच ज्ञानाभावेन सर्वविज्ञानाभावात्। प्रतिज्ञोपपादनाय च "इदं ब्रह्मेदं क्षत्रम्" इत्युपक्रम्य "इदं सर्वं यदयमात्मा" इति प्रत्यक्षादिसिद्धं चिद चिन्मिश्रं प्रपचं "इदम्" इति निर्दिश्य "एतदयमात्मा" इत्यैकात्म्यो-पदेशश्च परमात्मन एवोपपद्यते।

तथा "यह ऋग्वेद उस परमात्मा का निश्वास है" इत्यादि में संपूर्ण जगत् के कारण रूप से कहे गए पुरुष, परमपुरुष परमात्मा ही हो सकते हैं, प्राक्तन शुभाशुभ कर्माधीन, जागतिक क्रियाकलापों से रहित, मुक्त पुरुष नहीं हो सकता। ऐसे ही "आत्मा का दर्शन ही" इत्यादि मे जो एक विज्ञान से सर्व विज्ञान की बात कही गई है, वह भी सर्वान्तर्यामी परमात्मा में ही घट सकती है। सारी आत्मायें एक रूप होने से ज्ञान स्वरूप हैं, इसलिए एक आत्मा के ज्ञान से सभी का ज्ञान हो सकता है,

यह कहना भी युक्ति युक्त नहीं है, क्योंकि—अचेतन प्रपंचमय जगत के ज्ञान के विना समस्त ज्ञान हो नहीं सकता। उक्त प्रतिज्ञा (एक के ज्ञान से सबका ज्ञान हो जाता है) के प्रतिपादन के लिए "यही ब्राह्मण यही क्षत्रिय" इत्यादि से लेकर "यह सब कुछ आत्मास्वरूप है" यहाँ तक प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से सिद्ध चिदचिद् मिश्रित सारे प्रपंचमय जगत को "इदं" शब्द से बतलाकर "यह जो सब आत्म स्वरूप है" इत्यादि में उसकी आत्मा के साथ एकता दिखलाई गई है, ऐसी एकता परमात्मा में ही संभव हो सकती है।

नहीदंशब्दवाच्यं चिदचिन्मिश्रं जगत् पुरुषेणाचित्संसृष्टेन तद्वियुक्तेनस्वरूपेणवावस्थितेन चैक्यमुपगच्छति। अतएव "सर्वं तं परादात् योऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेद" इति व्यतिरिक्तत्वेन सर्वं वेदन निन्दा च तथा प्रथमे च मैत्रेयीब्राह्मणे "महद्भूतमनंतमपारम्" इति श्रुता महत्त्वादयो गुणाः परमात्मन एव संभवंति। अतः स एवात्र प्रतिपाद्यते।

पुरुष चैतन्य हो अथवा जडमिश्रित हो, किसी भी रूप से वह इदं पद वाच्य जडचेतनात्मक जगत के साथ अद्वैत भाव से रह नहीं सकता। इसीलिए "जो लोग आत्मा के अतिरिक्त सब पदार्थों को जानते हैं (अर्थात् सारे जगत को आत्मा से भिन्न मानते हैं) सारे पदार्थ उन्हे ही प्रतारित करते हैं" इत्यादि में जगत् को परमात्मा से भिन्न मानने की निन्दा की गई है। तथा प्रथम मैत्रेयीब्राह्मण के—"अनंत अपार स्वतः सिद्ध महान्" इत्यादि में उक्त महत्त्वादि गुण भी उस परमात्मा में ही संभव हो सकते हैं। इससे निश्चित होता है कि वह परमात्मा ही उक्त प्रकरण के प्रतिपाद्य हैं।

यत्तूक्तं—पतिजायापुत्रवित्तपश्वादिप्रियान्वयिनोजीवात्मन उपक्रमेत्वन्वेष्टव्यतया प्रतिपादनात्तद्विषयमेवेदंवाक्यमिति, तदयुक्तम, "आत्मनस्तु कामाय" इत्मात्मशब्देन जीवात्मसंशब्दने, तस्य "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः" इत्यनेनान्वयप्रसंगात्।" आत्मा

वा अरे द्रष्टव्यः" इत्मात्मनो द्रष्टव्यत्वोपयोगितया "आत्मनस्तु कामाय" इत्युपदिष्टमिति प्रतीयते । आत्मनस्तुकामाय—आत्मनः कामसंपत्तये, काम्यन्त इति कामाः, आत्मन इष्टसंपत्तय इति यावत् । न च जीवात्मन इष्टसंपत्तये पत्यादयः प्रिया भवंति, इत्युक्ते सति तस्यजीवस्य स्वरूपमन्वेष्टव्यं भवति । प्रियमेवहि अन्वेष्टव्यम्, न तु प्रियंप्रति शेषिणः प्रियवियुक्तं स्वरूपम् । यस्मादात्मन इष्ट संपत्तये पत्यादयः प्रिया भवंति, तस्मात् पत्यादिप्रियं परित्यज्य तद्वियुक्तमात्मस्वरूपमन्वेष्टव्यमित्यसंगतं भवति ।

जो यह कहा कि—वाक्य के प्रारंभ में पति-पत्नी-पुत्र-धन-पशु आदि प्रिय वस्तुओं से संपर्कित होने से "दृष्टव्य" इत्यादि में जीवात्मा को ही दृष्टव्य आदि कहा गया है, सो यह कथन भी असंगत है । "आत्मनस्तु कामाय" में आत्मनः पद से जीवात्मा का निर्देश मानने से "आत्मा वा अरे दृष्टव्यः" इत्यादि वाक्य के साथ उसकी संगति बैठ ही नहीं सकती, क्योंकि—"आत्मा ही दृष्टव्य है" इत्यादि में आत्मदर्शन को उपयोगी बतलाकर "आत्मा की कामना से" इत्यादि उपदेश दिया गया है, जिसका तात्पर्य होता है "आत्मा की कामपूर्ति के लिए" "काम" शब्द का तात्पर्य होता है, कामना का विषयीभूत अर्थात् अभीष्ठ विषयराशि । इस अर्थ के अनुसार आत्मनस्तु कामाय" इत्यादि का तात्पर्य होगा कि—"आत्मा की इष्ट संपत्ति के लिए ही पति पुत्रादि प्रिय होते हैं" ऐसा अर्थ होने पर जीवात्मा का स्वरूप अन्वेष्टव्य नहीं हो सकता । प्रिय वस्तु ही अन्वेषणीय होती है; प्रियवस्तु का अंगीभूत प्रियवियुक्त आत्मा का स्वरूप कभी अन्वेषणीय नहीं हो सकता । पति आदि प्रिय पदार्थों की पुंजीभूत राशि, आत्मा के प्रिय संपादन के लिए साधन हो सकती है, उन पत्यादि प्रिय वस्तुओं के अन्वेषण को छोड़कर, प्रियतारहित आत्मा के स्वरूप को अन्वेष्टव्य कहना असंगत है ।

प्रत्युत न पत्यादिशेषतया पत्यादीनां प्रियत्वम्, अपितु आत्मनः शेषतया पत्यादीनां प्रियत्वमित्युक्ते स्वशेषतया त एवोपादेयाः स्युः ।

"आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति" इत्यस्य परेणानन्वये वाक्यभेदः प्रसज्येत, अभ्युपगम्यमानेऽपि वाक्यभेदे पूर्ववाक्यस्य न किंचित् प्रयोजनं दृश्यते। अतः पत्यादि सर्वप्रियं परित्यज्यात्मन एवान्वेष्टव्यत्वं यथा प्रतीयते, तथा वाक्यार्थो वर्णनीयः।

ऐसी कल्पना करना अधिक युक्ति संगत होगा कि—पति आदि इसलिए प्रिय नहीं हैं कि वह पति आदि के अंश है अपितु परमात्मा के अंश होने से उन पत्यादि की प्रियता है, ऐसा मानने से वे स्व के मान्य अंश होंगे और उपादेय होंगे। "आत्मा की कामना से सब प्रिय होते हैं" इस वाक्य का, परवर्ती वाक्यों के साथ यदि संबंध नहीं रहेगा तो वाक्य भेद हो जायगा, यदि वाक्य भेद को मानेंगे तो पूर्ववर्ती वाक्यों का कोई प्रयोजन नहीं रहेगा। इसलिए पत्यादि समस्त प्रियवस्तुओं को छोड़कर, परमात्मा के अन्वेषण की ही जिसमें प्रतीति हो, वैसा वाक्यार्थ करना अधिक समीचीन होगा।

सोऽयमुच्यते—"अमृतत्वस्य तु नाशाऽस्ति वित्तेन" इति वित्तादीनां नित्यनिर्दोषनिरतिशयानंदरूपामृतत्वप्राप्त्यनुपायतामुक्त्वा वित्तपुत्रपतिजायादीनां सातिशयदुःखमिश्रकाचित्कप्रियत्वमनुभूयमानं न पत्यादिस्वरूपप्रयुक्तम्, अपितु निरतिशयानंदस्वभावपरमात्मप्रयुक्तम्। अतो य एव स्वयं निरतिशयानंदः सन् अन्येषामपि प्रियत्वलेशास्पदत्वमापादयति स परमात्मैव द्रष्टव्यः, इत्युपदिश्यते। तदयमर्थः "न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति" न हि पतिजायापुत्रवित्तादयो मत्प्रयोजनायाहमस्य प्रियः स्यामिति स्वसंकल्पात् प्रिया भवन्ति, अपि तु आत्मनः कामाय परमात्मनः स्वाराधक प्रियप्रतिलम्भनरूपेष्टनिर्वर्त्तय इत्यर्थः।

प्रसंग में कहा गया कि—"धन से अमरता की आशा नहीं है" अर्थात् ये धन आदि क्षणभंगुर पदार्थ, नित्यनिर्दोष सर्वातिशय परमानंदमय मुक्ति लाभ के उपाय नहीं है। पति स्त्री पुत्रादि में जो कुछ दुःख

मिश्रित प्रियता की उपलब्धि होती है वह, पत्यादि के स्वरूप से नहीं होती, अपितु वे सब अत्यानंदमय परमात्मा के अंश हैं, इसलिए होती है। जो स्वयं अत्यानंदमय होकर दूसरों को भी उस आनंद के लेश से आप्लावित करता है, ऐसा परमात्मा ही दृष्टव्य है, ऐसा उपदेश किया गया है। इसका तात्पर्य हुआ कि—"अरे पति की कामना से पति प्रिय नहीं होता" इत्यादि का यह अर्थ नहीं है कि—"पति, स्त्री, धन आदि सब मेरे ही प्रयोजन के साधन हैं, मैं ही इनका प्रिय हूँ"; अपितु आत्मा की प्रीति के लिए अर्थात् परमात्मा की आराधना के लिए, ये सब अभीष्ट प्रियता प्रदान करते हैं; ऐसा मानना चाहिए।

परमात्मा हि कर्मभिराराधितस्तत्तत्कर्मानुगुणं प्रतिनियतदेशकालस्वरूपपरिमाणमाराधकानां तत्तद्वस्तुगतं प्रियत्वमापादयति "एष ह्येवानंदयाति" इति श्रुतेः। न तु तत्तत्वस्तुस्वरूपेण प्रियम—प्रियंवा। यथोक्तं— "तदेव प्रीतये भूत्वा पुनर्दुःखाय जायते, तदेव कोपाय यतः प्रसादाय च जायते। तस्मात् दुःखात्मकं नास्ति न च किंचित्सुखात्मकम्" इति। "आत्मनस्तु कामाय" इत्यस्य जीवात्मपरत्वेऽपि "आत्मा वा अरे दृष्टव्यः" इति तु परमात्मा विषयमेव।

"एष ह्येवानंदयाति" इत्यादि श्रुति बतलाती है कि—परमात्मा, आराधना के अनुसार उन आराधकों को, देश-काल-स्वरूप-परिमाण-आकृतिगत प्रियता प्रदान करते हैं—जैसा कि—कहा गया—"एक ही वस्तु जो एक बार प्रीतिकारक होती है, वही पुनः दुखदायी हो जाती है, जो वस्तु क्रोधकारक होती है वही प्रीतिकारक हो जाती है, इससे ज्ञात होता है कि कोई भी वस्तु सुखात्मक या दुःखात्मक नहीं है।" कोई भी वस्तु तत्त्वतः स्वरूप से प्रिय वा अप्रिय नहीं होती। "आत्मनस्तु कामाय" इस वाक्य के जीवात्मा परक होते हुए भी, "आत्मा वा अरे दृष्टव्यः" वाक्य तो परमात्म विषयक ही है।

तत्रायमर्थः, यस्मात् पत्यादीनां इष्ट संपत्तये तत्परवशेन पत्यादयः प्रियत्वेन नोपादीयंते, अपितु आत्मेष्ट संपत्तये स्वतंत्रेण स्वीप्र-

यत्वेन उपादीयंते, तस्माद् य एवात्मनो निरुपाधिकनिर्दोषनिरव-धिकः प्रियः परमात्मा, स एव हि दृष्टव्यः, नदुःखमिश्राल्पसुखदुःखो-दर्काः परायत्त तत्तत्स्वभावाः पतिजायापुत्रवित्तादयोविषयाः, इति ।

अस्मिस्तु प्रकरणे, जीवात्मवाचिशब्देनापि परमात्मन एवाभि-धानात् "आत्मनस्तु कामाय" आत्मा वा अरे दृष्टव्यः "इति पूर्वोक्त. प्रक्रिययोभयत्रात्मशब्दावेकविषयौ ।

उक्त कथन का सारांश यह है कि—पति आदि की प्रीति के लिए, पति आदि प्रिय पदार्थों को, प्रियरूप मैं ग्रहण नहीं किया जाता अपितु अपनी अभीष्ट सिद्धि के लिए, उन सबको प्रिय रूप से ग्रहण किया जाता है, यदि तुम स्वाभाविक निर्दोष अपार प्रिय स्वरूप परमात्मा को, पति, स्त्री, पुत्रादि सभी में देखोगे तो तुम्हारी वास्तविक अभीष्ट सिद्धि होगी, क्योंकि–ये सांसारिक जीव दुःखमिश्रित अल्प सुखदायी, परिणाम में दुःखप्रद एवं स्वरूप और स्वभाव से परतंत्र हैं इनको देखने से शांति मिलने के बजाय दुःख ही पल्ले पड़ेगा। इसलिए परमात्मा ही दृष्टव्य हैं, पति पुत्र आदि नहीं। इस प्रकरण में तो, जीवात्मवाची शब्द से भी, परमात्मा ही अभिधेय हैं ' आत्मनस्तु कामाय'' "आत्मा वा अरे दृष्टव्यः" ये पूर्वोत्तर वाक्य, उक्त समाधान के अनुसार एक विषयक ही हैं।

मतान्तरेणापि जीव शब्देन परमात्माभिधानोपपादनमाह—

अन्य दूसरे मत से भी, जीव शब्द परमात्मवाची है इसका प्रति-पादन करते हैं—

प्रतिज्ञासिद्धेर्लिङ्गमाश्मरथ्यः ।१।४।२०।।

एक विज्ञानेन सर्वविज्ञान प्रतिज्ञा सिध्देरिदंलिगम् , यज्जी-वात्मवाचिशब्दैः परमात्मनोऽभिधानम् ,इत्याश्मरथ्याचार्यो मन्य-तेस्म । यदि अयंजीवः परमात्म कार्यतया परमात्मैव न भवेत् ,तदा तद्व्यतिरिक्ततया परमात्मविज्ञानादेतद्विज्ञानं न सेत्स्यति । आत्मा वा इदमेव एवाग्र आसीत् "इति प्राकसृष्टेरेकत्वावधारणात्

"यथा सुदीप्तात्पावकाद् विस्फुलिंगाः सहस्रशः प्रभवंते सरूपाः, तथाऽक्षरात् विविधाः सोम्य भावाः प्रजायंते तत्र चैवापियंति।" इत्यादिभिर्ब्रह्मणो जीवानामुत्पत्ति श्रवणात् तस्मिन्नेव लय श्रवणाच्च जीवानां ब्रह्मकार्यत्वेन ब्रह्मणैक्यमवगम्यते। अतो जीव शब्देन परमात्माभिधानमिति।

एक के ज्ञान से संपूर्ण का ज्ञान हो जाता है इस प्रतिज्ञा की सिद्धि के लिए ही उक्त प्रसंग में केवल आत्मा शब्द का प्रयोग किया गया है जिससे कि जीवात्मवाची शब्दों से परमात्मा का अर्थबोध होता है; ऐसा आश्मरथ्य आचार्य की मान्यता है। यदि यह जीवात्मा, परमात्मा का कार्य होने से, परमात्मा ही न होता, उससे एकदम भिन्न होता तो, परमात्मा को जान लेने पर, इसका ज्ञान नहीं हो सकता था। "सृष्टि के पूर्व यह जगत, एकमात्र आत्मस्वरूप ही था" ऐसे सृष्टिपूर्व के अद्वैत प्रतिपादक वाक्य से उक्त बात की ही पुष्टि होती है। "जैसे प्रज्वलित अग्नि ज्वाला से हजारों चिनगारियां बाहर छिटकती हैं, हे सौम्य! उसी प्रकार विविध प्रजा भी उस परब्रह्म से उत्पन्न होती है और उसी में विलीन हो जाती है।" इत्यादि वाक्य में कही गई, ब्रह्म से जीव की उत्पत्ति और प्रलय से जीवों की ब्रह्म कार्यता, और ब्रह्मात्मकता ज्ञात होती है। इसलिए जीव शब्द से परमात्मा का ही वर्णन किया गया है, यह निश्चित मत है।

उत्क्रमिष्यत एवम्भावादित्यौडुलोमिः ।१।४।२१॥

यदुक्त जीवस्य ब्रह्मकार्यतया ब्रह्मणैक्येनैकविज्ञानेन सर्व विज्ञानप्रतिज्ञोपादनार्थं ब्रह्मणो जीवशब्देन प्रतिपादनमिति, तदयुक्तम् "न जायते म्रियते वा विपश्चिद्" इत्यादिनाऽजत्वश्रुतेः जीवात्मनां प्राचीनकर्मफल भोगाय जगत्सृष्ट्यभ्युपगमाच्च, अन्यथाविषमसृष्ट्यनुपपत्तेश्च ब्रह्मकार्यस्यजीवस्य ब्रह्मतापत्तिलक्षणो मोक्ष आकाशादिवदवर्जनीय इति, तदुपायविधानानुष्ठानानर्थक्याच्च, घटादिवत् कारणप्राप्तेर्विनाशरूपत्वेन मोक्षस्यापुरुषार्थत्वाच्च।

जीवात्मन उत्पत्तिप्रलयवादोपपत्तिरुत्तरत्र प्रपंचयिष्यते। अतः "एषसंप्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परंज्योतिरुपसंपद्य स्वेनरूपेणाभिनिष्पद्यते" यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रे अस्तं गच्छंति नामरूपे विहाय, तथा विद्वान् नामरूपाद् विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति-दिव्यम्" इत्युत्क्रमिष्यतः परमात्मभावात् जीवशब्देन परमात्मनोऽभिधानम् इति औडुलोमिराचार्यो मन्यतेऽस्म।

जीव ब्रह्म का कार्य है, इससे जीव और ब्रह्म एक हैं, एक के ज्ञान से संपूर्ण का ज्ञान होता है, इस प्रतिज्ञा के प्रतिपादन के लिए ही, ब्रह्म का जीव शब्द से वर्णन किया गया है, यह कथन असंगत है। "ज्ञानी न उत्पन्न होता है न मरता है" इत्यादि में जीव को अजन्मा बतलाया गया है। जीवों के प्राक्तन कर्मों के अनुसार ही जगत् की सृष्टि का भी वर्णन मिलता है, यदि ऐसा न होता तो, सृष्टि में विषमता न होती। ब्रह्म के कार्य आकाश आदि की तरह ब्रह्म के कार्य जीवात्मा का भी यदि ब्रह्मतापत्तिलक्षण वाला मोक्ष अनायास ही हो जाय तो, मोक्ष प्राप्ति के उपाय अनुष्ठान आदि सब व्यर्थ हो जावेंगे [अर्थात् जैसे आकाश स्वतः प्रकट होकर प्रलय में स्वतः लीन हो जाता है वैसे ही यदि जीवों की भी उत्पत्ति और प्रलय होवे तो अनुष्ठानों की क्या आवश्यकता है] घट आदि की तरह स्वतः ही विनष्ट होने पर अपने कारणत्व को यदि जीव भी पा जावे तो, मोक्षनामक पुरुषार्थ को मानने की आवश्यकता ही क्या है? जीवात्मा के संबंध में जो उत्पत्ति और प्रलय की प्रसिद्धि है उसका विवेचन आगे करेंगे।

"यह जीव इस शरीर से बाहर निकल कर परमात्मा की परंज्योति को प्राप्त कर अपने वास्तविक रूप को प्राप्त कर लेता है, 'जैसे कि बहती हुई नदियाँ अपने नामरूप को छोड़कर समुद्र में विलीन हो जाती हैं, वैसे ही विद्वान् पुरुष नाम रूप से मुक्त होकर परात्पर दिव्य पुरुष को प्राप्त हो जाता है।" ऐसे, उत्क्रमणकारी जीव के परमात्मभाव के निरूपण से ज्ञात होता है कि उक्त प्रसंग में जीव शब्द से परमात्मा का ही वर्णन किया गया है। ऐसा औडुलोमि आचार्य का मत है।

अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः ।१।४।२२॥

यदुक्तमुत्क्रमिष्यतो जीवस्य ब्रह्मभावाद् ब्रह्मणस्तच्छब्देनाभिधानमिति, तदप्ययुक्तम्, विकल्पासहत्वात् । अस्य जीवात्मनउत्क्रान्तेः पूर्वमनेवंभावः किं स्वाभाविकः उतौपाधिकः अपारमार्थिकः वेति । स्वाभाविकत्वे ब्रह्मभावो नोपपद्यते, भेदस्य स्वरूप प्रयुक्तत्वेन स्वरूपे विद्यमाने तदनपायात् । अथभेदेनसह स्वरूपमप्यपैतीति, तथासति विनष्टत्वादेव तस्य न ब्रह्मभावः अपुरुषार्थत्वादिदोषप्रसंगश्च । पारमार्थिकौपाधिकत्वे प्रागपि ब्रह्मैवेति "उत्क्रमिष्यत एवंभावात्" इति विशेषो न युज्यते वक्तुम् । अस्मिन् पक्षे हि उपाधिब्रह्मव्यतिरेकेण वस्त्वंतराभावान्निरवयवस्य ब्रह्मण उपाधिनाच्छेदाद्यसंभवाच्चोपाधिगत एव भेद इत्युत्क्रान्तेः प्रागपि ब्रह्मैव । औपाधिकस्य भेदस्यापारमार्थिकत्वे कस्यायमुत्क्रान्तौ ब्रह्मभाव इति वक्तव्यम् । ब्रह्मणएवाविद्योपाधितिरोहितस्वरूपस्येति चेन्न, नित्यमुक्तस्वप्रकाशज्ञानस्वरूपस्याविद्योपाधितिरोधानासंभवात् । तिरोधानं नाम वस्तुस्वरूपेविद्यमाने तत्प्रकाशनिवृत्तिः । प्रकाश एव वस्तु स्वरूपमित्यंगीकारे तिरोधानाभावः स्वरूपनाशो वा स्यात् । अतो नित्याविर्भूतस्वस्वरूपत्वात्तस्योत्क्रान्तौ ब्रह्मभावे न कश्चिद् विशेषः, इति "उत्क्रमिष्यतः" इति विशेषणं व्यर्थमेव । "अस्माच्छरीरात् समुत्थाय" इति पूर्वमनेवंरूपस्य न तदानीं ब्रह्मतापत्तिमाह, अपितु पूर्वसिद्धस्वरूपस्याविर्भावम् । तथाहि वक्ष्यते "संपद्याविर्भावः स्वेनशब्दात्" इत्यादिभिः ।

उत्क्रमण करने वाले जीव को ब्रह्मभाव प्राप्त होता है, इसीलिए जीव शब्द से ब्रह्म का वर्णन किया गया है, इत्यादि कथन भी असंगत है । ऐसा तो विकल्प से भी नहीं हो सकता (एक विषय के लिए दो तीन या इससे अधिक पक्षों की कल्पना करना ही विकल्प है) उक्तमत वालों से मैं पूछता हूँ कि—जीवात्मा में उत्क्रांति के पूर्व जो ब्रह्मभाव का अभाव है,

वह स्वभाविक है या औपाधिक ? वह भी पारमार्थिक है या आपारमार्थिक ? यदि वह स्वाभाविक है तो जीवात्मा में कभी ब्रह्मभाव संभव नहीं हैं, क्योंकि–जब भेद स्वतः सिद्ध है तो, वस्तुस्थिति में उस भेद का अवगम हो नहीं सकता। यदि कहो कि भेद समाप्ति के साथ उसका स्वरूप भी नष्ट हो जाता है, ऐसा मानने पर तो, विनष्ट होने वाले उसका ब्रह्मभाव होना और भी कठिन है, साथ ही मुक्ति के संबंध में, अपुरुषार्थत्व दोष, उपस्थित हो जाता है। यदि यह पारमार्थिक और औपाधिक है तो यह समझना चाहिए कि उत्क्रांति के पूर्व जीव ब्रह्म ही है, तब "उत्क्रमण कर वह ब्रह्मभाव को प्राप्त करता है" इत्यादि कहना निरर्थक है। इस स्थिति में (पारमार्थिक औपाधिकावस्था में) एक बात और है, उपाधि ब्रह्म इन दो के अतिरिक्त कुछ और तो रहता नही तथा उपाधिद्वारा, निरवयव ब्रह्म में विभाग तो सभव है नहीं, इससे यह सिद्ध होता है कि–वह केवल औपाधिक ही हो सकता है, पारमार्थिक नही, इसलिए जीव, उत्क्रमण के पूर्व भी ब्रह्मस्वरूप ही था। यदि वह औपाधिक भेद अपारमार्थिक है, तो फिर उत्क्रांति के बाद ब्रह्मभाव किसका होता है ? यदि कहो कि अविद्या रूप उपाधि से विरहित ब्रह्म ही, ब्रह्मभाव है, तो तुम्हारा यह कथन भी असंगत है, क्योंकि-नित्यमुक्त और नित्य प्रकाश ज्ञान स्वभाव परब्रह्म में, अविद्याजन्य आवरण निमित्तक तिरोधान असंभव है। वस्तुस्वरूप के रहते हुए उसके प्रकाश की निवृत्ति हो जाना ही तो तिरोधान कहलाता है, प्रकाश स्वरूप परब्रह्म का तिरोधान मानना तो प्रकाश निवृत्ति होने से उसके स्वरूप का नाश मानना ही है। यदि नहीं मानते तो जीव का नित्यब्रह्मभाव निश्चित होता है, उत्क्रांति से उसमें कोई विशेषता तो होगी नहीं, 'उत्क्रमिष्यत्त·" यह विशेषण व्यर्थ ही है। "इस शरीर से उठकर" इत्यादि मे मृत्युपूर्वी अब्रह्मभाव वाले जीव की, तत्काल ब्रह्मप्राप्ति कही गई हो ऐसा भी नही है, अपितु पूर्वसिद्ध उसके अपने वास्तविक स्वरूप का पुनः आविर्भाव मात्र बतलाया गया है। यही बात सूत्रकार "संपद्याविर्भावः स्वेन शब्दात्" इत्यादि में कहते हैं।

अतः "अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य"– य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरोयम-

यति स त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः"— योऽक्षरमंतरे संचरन् यस्याक्षरं शरीरं यमक्षरं न वेद एष सर्वभूतान्तरात्माऽपहतपाप्मा दिव्यो देव एको नारायणः"— अन्तः प्रविष्टः शास्ताजनानां सर्वात्मा" इति स्वशरीरभूते जीवात्मन्यात्मतयाऽवस्थिते जीव शब्देन ब्रह्म प्रतिपादनमितिकाशकृत्स्न आचार्यो मन्यतेस्म।

अतः "जीवात्मा के स्वरूप में प्रवेश करके" जो आत्मा में स्थित रहते हुए भी आत्मा से पृथक् है आत्मा जिसको नहीं जानता, आत्मा ही जिसका शरीर है जो कि आत्मा को नियमित करता है, वही तुम्हारा अन्तर्यामी अमृत स्वरूप आत्मा है "जो अक्षर (जीव) में संचरण करता है, अक्षर ही जिसका शरीर है अक्षर जिसे नहीं जानता ऐसा सर्वान्तर्यामी निष्पाप दिव्य देव एकमात्र नारायण ही है" सबका आत्मस्वरूप परमेश्वर अन्तर्यामी शासक है" इत्यादि श्रुतियों में, अपने ही शरीररूप जीवात्मा में आत्मा रूप से उनकी स्थिति बतलाई है, इसीलिए जीवात्मवाची शब्दों से परमात्मा का वर्णन किया गया है। ऐसा काशकृत्स्न आचार्य का अभिमत है।

जीवशब्दश्च जीवस्य परमात्मपर्यन्तस्यैव वाचको न, जीवमात्रस्येति पूर्वमेवोक्तम् "नामरूपे व्याकरवाणि" इत्यत्र। एवमात्मशरीरभावेन तादात्म्योपपादने परस्यब्रह्मणोऽपहतपाप्मत्वसर्वज्ञत्वादिगोचरा जीवस्याविदुषः शोचतो ब्रह्मोपासनान् मोक्षवादिन्यो जगत्सृष्टिप्रलयाभिधायिन्यो जगतो ब्रह्मतादात्म्योपदेशपराश्च सर्वाः श्रुतयः सम्यगुपपादितां भवेतीति काशकृत्स्नीयंमतं सूत्रकारः स्वीकृतवान्।

जीव शब्द, जीव के परमात्मभाव तक का वाचक है केवल, जीवभाव मात्र का ही वाचक नहीं है, ऐसा "नामरूपे व्याकरवाणि" के प्रसंग में भी बतला चुके हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार, परमात्मा के शरीर रूप जीवात्मा के साथ, तादात्म्य भाव स्थिर होता है। परब्रह्म के

निर्दोष और सर्वज्ञ आदि गुणों के प्रतिपादक, तत्त्वज्ञान के अभाव में शोक संतप्त जीव के ब्रह्मोपासना के फलस्वरूप होने वाले मोक्ष के प्रतिपादक, जगत की सृष्टि स्थिति और प्रलय के प्रतिपादक, तथा ब्रह्म के साथ ब्रह्म के साथ जगत के तादात्म्य के प्रतिपादक श्रुतिवाक्यों का भी उक्त प्रकार से ही समाधान हो सकता है। इस काशकृत्स्न आचार्य के मत को ही सूत्रकार ने स्वीकार किया है।

अयमत्रवाक्यार्थः, अमृतत्वोपाये मैत्रेय्या पृष्टे याज्ञवल्क्यः "आत्मा वा अरे दृष्टव्यः" इत्यादिना परमात्मोपासनममृतत्वोपायमुक्त्वा" आत्मनि खल्वरे दृष्टे" इत्यादिनोपास्यलक्षणम्, दुंदुभ्यादिदृष्टांतैश्चोपासनोपकरणभूत मन. प्रभृतिकरणनियमनं च सामान्येभिधाय "सऽयथाऽर्द्रैन्धाग्ने" इत्यादिना "स यथा सर्वासामपां समुद्र एकायनम्" इत्यादिना चोपास्यभूतस्य परस्यब्रह्मणो निखिलजगदेककारणत्वम्, सकलविषयप्रवृतिमूलकरणग्रामनियमनं च विस्तीर्णमुपदिश्य "स यथा सैन्धवघनः" इत्यादिना अमृतत्वोपाय प्रवृत्तिप्रोत्साहनाय जीवात्मस्वरूपेणावस्थितस्य परमात्मनोऽपरिच्छिन्नज्ञानैकाकारतामुपपाद्य तस्यैवापरिच्छिन्नज्ञानैकाकारस्य संसार दशायां भूतपरिणामानुवृत्ति "विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यःसमुत्थाय तान्येवानुविनश्यति" इत्यभिधाय "न प्रेत्य संज्ञास्ति" इति मोक्षदशायां स्वाभाविकापरिच्छिन्नज्ञानसंकोचाभावेन भूतसंघातेनैकीकृत्याऽस्मनि देवादिरूपज्ञानाभावमुक्त्वा पुनरपि "यत्र हि द्वैतमिव भवति" इत्यादिना अब्रह्मात्मकत्वेन नानाभूतवस्तुदर्शनमज्ञानकृतमिति निरस्तनिखिलाज्ञानस्य ब्रह्मात्मकं कृत्स्नं जगदनुभवतो ब्रह्मव्यतिरिक्तवस्त्वंतराभावेन भेददर्शनं निरस्य "येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात्" इति च जीवात्मा स्वात्मतयाऽवस्थितेन येन परमात्मना माहितज्ञानः सन्निदं सर्वं विजानाति, अयंतं केन विजानीयात्, न केनापीति परमात्मनो दुरवगमत्वमुपपाद्य "स एष नेति नेति"

इत्यादिनाऽयं सर्वेश्वरः स्वेतरसमस्तचिदचिद्वस्तुविलक्षणस्वरूप एव सर्वशरीरः सर्वस्यात्मतयाऽवस्थित इति स्वशरीरभूतचिदचिद्वस्तुगतैः दोषैर्नं स्पृश्यत इत्यभिधाय 'विज्ञातारमरेकेन विजानीयादित्युक्तानुशासनाऽसि मैत्रेय्येतावदरे खल्वमृतत्वम्" इति समस्त वस्तुविसजातीयं निखिलजगदेककारणभूतं सर्वस्य विज्ञातारं पुरुषोत्तममुक्तप्रकारादुपासनात् ऋते केन विजानीयात् इतोदमेवोपासनममृतत्वोपायः, ब्रह्मप्राप्तिरेव च अमृतत्वमभिधीयते, इत्युक्तवान्। अतः परब्रह्मैवास्मिन्वाक्ये प्रतिपाद्यत इति परमेवब्रह्म जगत्कारणं, न पुरुषस्तदधिष्ठिता च प्रकृतिरिति स्थितम्।

उक्त मत के अनुसार प्रासंगिक वाक्यों का अर्थ इस प्रकार किया जावेगा कि—मैत्रेयी के, मोक्ष प्राप्ति का उपाय पूछने पर याजवल्क्य ऋषि ने प्रथम तो "आत्मा ही दृष्टव्य है" इत्यादि से परमात्मोपासना को ही, मुक्ति प्राप्ति का उपाय बतलाया फिर "आत्मा में दर्शन करने से ही" इत्यादि से उपास्य वस्तु का स्वरूप तथा दुन्दुभि आदि के दृष्टान्त से उपासना की सहायक मन आदि इन्द्रियों के संयम का उपदेश सामान्यतः करके "अग्नि जैसे आर्द्र काष्ठ में है वैसे ही वह भी है" तथा "समुद्र ही जैसे सब जलों का एकमात्र आश्रय है, वैसे ही वह भी है" इत्यादि से उपास्य परब्रह्म को ही समस्त जगत का कारण बतलाते हुए समस्त प्रवृत्तियों की मूल उत्स , इन्द्रियों के नियमन का विस्तृत रूप से विवेचन करके "सैन्धव नमक का टुकड़ा जैसे बाहर भीतर एक रस है वैसे ही वह भी आनंदैकरस स्वभाव है" इत्यादि से, मोक्ष प्राप्ति के उपायों अनुष्ठानों की वृत्ति को उत्साहित करने के लिए, जीवात्मा में अवस्थित परमात्मा को अपरिच्छिन्न ज्ञान का मूल कारण बतलाकर "विज्ञान मूर्त्ति (जीव) इन प्रपंचों से संसक्त होकर उत्पन्न होता है और उन्हीं के साथ विनष्ट हो जाता है" इत्यादि से अपरिच्छिन्न ज्ञानैकमूर्ति परमात्मा की ही संसारदशा में पंचभूत परिणाम रूप शरीरादि की अनुवृत्ति बतलाकर अन्त में कहा कि "मृत्यु के बाद कुछ शेष नहीं रहता " अर्थात ज्ञान ही जो कि आत्मा का एक मात्र स्वभावसिद्ध स्वरूप है, मोक्षावस्था में भी उस अपरिच्छिन्न ज्ञान

में कोई न्यूनता नही आती , जिससे ज्ञात होता है कि –देहरूप से संबद्ध आत्मा मे अज्ञानमूलक देव– मनुष्य– दानव आदि बुद्धि होती है। "जब द्वैतबुद्धि होती है" इत्यादि मे ब्रह्मात्मभाव की प्राप्ति न होने से वस्तुओ मे विभिन्नता प्रतीत होती है जो कि अज्ञान मूलक है, जिसका अज्ञान नष्ट हो जाता है, उसे सारा जगत ब्रह्मात्मक ही प्रतीत होता है वह ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ और देखता ही नही, इसलिए उसकी भेद दृष्टि समाप्त हो जाती है, ऐसा प्रत्याख्यान करके "जिसके द्वारा यह सारा जगत ज्ञात हो जाता है उसे जानने के लिए और कौनसा उपाय शेष रह जाता है?" इत्यादि में दिखलाया गया कि– जीवात्मा, अपने अन्तर्यामी परमात्मा की सहायता से विज्ञान सपन्न होकर सपूर्ण पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करता है, 'इसलिए उसे ज्ञान प्राप्त के लिए किन्ही अन्य उपायो की अपेक्षा नही होती। "स एष नेति नेति" इत्यादि से बतलाया गया कि– सर्वेश्वर निश्चित ही जड़चेतन सभी वस्तुओ से विलक्षण है, सारे पदार्थ उसके शरीर है, वही आत्मारूप से सभी मे अनुस्यूत है, फिर भी वह अपने शरीर रूप इस जड़चेतन जगत की दोष राशि से अस्पृष्ट रहता है "अरी मैत्रेयी! उस विज्ञाता को अब अधिक और क्या जाना जा सकता है? तुमने यह तत्त्वोपदेश प्राप्त कर लिया, यहाँ तक ही अमृतत्त्व का व्याख्यान है" अर्थात् समस्त पदार्थों से विलक्षण, समस्त जगत के एकमात्र कारण, संपूर्ण रहस्य के ज्ञाता परब्रह्म पुरुषोत्तम को, उक्त प्रकार की उपासना के अतिरिक्त और किन उपायों से जाना जा सकता है, इसलिए उपासना ही मोक्ष प्राप्ति का एकमात्र उपाय है, ब्रह्मभाव की प्राप्ति ही मोक्ष कहा गया है।

इत्यादि विवेचन से सिद्ध होता है कि– परब्रह्म ही इस संपूर्ण प्रसंग के प्रतिपाद्य विषय हैं, वही एकमात्र जगत के कारण है, पुरुष अधिष्ठिता प्रकृति जगत का कारण नहीं है।

७ प्रकृत्यधिकरणः–

प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात् ।१।४।२३।।

एवं निरीश्वर सांख्ये निरस्ते सति, सेश्वरसांख्यः प्रत्यवतिष्ठते। यद्यपि ईक्षणादि गुणयोगात् सर्वज्ञमीश्वरं जगत्कारण-

त्वेन वेदान्ताः प्रतिपादयंति, तथापि वेदांतैरेव जगदुपादानतया प्रधानमेव प्रतिपाद्यत् इति प्रतीयते। न हि वेदांताः सर्वज्ञस्य अपरिणामिनोऽधिष्ठातुरीश्वरस्यांधिष्ठेयेनाचेतनेन परिणामिना प्रधानेन विना जगतः कारणत्वमवगमयंति। तथाहि अपरिणामिनं प्रधानमेनं प्रकृतिं चैतदधिष्ठितां परिणामिनीमधीयते–"निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरंजनम्" स वा एष महानज आत्माऽजरोऽमरः "विकारजननीमज्ञामष्टरूपमजां ध्रुवाम्" ध्यायते अध्यासिता तेन तन्यते प्रेर्यते पुनः, सूयते पुरुषार्थं च तेनैवाधिष्ठिता जगत्, गौरनाद्यंतवती सा जनित्री भूतभाविनी" इति। तथा प्रकृतिमुपादानभूतामधिष्ठायैवेश्वरो विश्वं जगत्सृजतीति श्रूयते "अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्" मायांतु प्रकृतिविद्यान्मायिनं तुमहेश्वरम्" इति। स्मृतिरपि "मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्" इति एवम् श्रुतेऽपि प्रधानोपादानत्वे ब्रह्मणो जगत्कारणत्व श्रूत्यन्यथानुपपत्त्यैव प्रधानस्वरूपं तस्येश्वराधिष्ठितस्य जगदुपादानत्वं च सिद्ध्यति।

इस प्रकार निरीश्वर सांख्य के परास्त हो जाने पर, सेश्वरसांख्य सामने उपस्थित होता है। यद्यपि ईक्षण आदि गुणों के होने के सर्वज्ञ ईश्वर को ही, जगत के कारण रूप से सारे वेदांत प्रतिपादन करते हैं, तथापि वे ही वेदांत, जगत की उपादान कारण प्रधान (प्रकृति) है, ऐसा प्रतिपादन करते हुए भी प्रतीत होते हैं। वेदांत वाक्य, ईश्वराधिष्ठित परिणामी अचेतन प्रकृति के अतिरिक्त, केवल अपरिणामी (निर्विकार) सर्वज्ञ ईश्वर को ही जगत कारण रूप से प्रतिपादन करते हों, ऐसा नहीं है। जैसा कि–ईश्वर को अपरिणामी तथा ईश्वराधिष्ठित प्रकृति को परिणामी बतलाने वाले निम्नवाक्यों से प्रतीत होता है "ब्रह्म अखंड, निष्क्रिय, शान्त, निर्दोष और निरंजन है "यह महान् आत्मा अजर और अमर है" समस्त विकारों की मूलकारण आठ प्रकार की अचेतन प्रकृति अजन्मा और नित्य है "वह प्रकृति, परमात्मा से अधिष्ठित होने से ज्ञेय है, परमात्मा ही उसका विस्तार करके उसे जगत् सृष्टि की प्रेरणा देते हैं, वह प्रकृति उन्हीं से अधिष्ठित होकर पुरुषार्थ (भोग और अपवर्ग) और जगत का सृजन करती

है, आदि अन्तरहित, भूतभव्यात्मक गोरूपा वह प्रकृति ही सबकी जननी है।" इत्यादि। वह ईश्वर, उपादान कारणरूपा प्रकृति के अधिष्ठान पूर्वक ही संपूर्ण जगत का निर्माण करते हैं-" मायाधीश इस प्रकृति से ही जगत् की सृष्टि करते है "माया को प्रकृति तथा मायाधीश को महेश्वर जानो" मेरी अध्यक्षता में प्रकृति, जडचेतन जगत् का प्रसव करती है" इत्यादि श्रुति स्मृति वाक्यों से ज्ञात होता है। उक्त उदाहरणों से एकमात्र ब्रह्म की ही जगत कारणता सिद्ध नहीं होती, अपितु प्रधान की उपादान कारणता का स्पष्ट उल्लेख न होते हुए भी प्रकृति के बिना कार्य हो नहीं सकता इस उल्लेख से, ईश्वराधिष्ठित उस प्रकृति का अस्तित्व और उपादान कारणत्व स्वतः सिद्ध हो जाता है।

एवमेवहि लोके निमित्तोपादानयोरत्यतभेदो दृश्यते। मृत्सुवर्णादिरचेतनस्य घटकटकाद्युपादानत्वं चेतनस्य कुलालसुवर्णकारादेर्निमित्तत्वं च नियतमुपलभ्यते कार्यनिष्पत्तिश्च नियमेनानेककारकसव्यपेक्षत्वनियमं च अतिक्रम्यकमेव ब्रह्मोपादानं निमित्त च प्रतिपादयितु न प्रभवंति वेदांतवाक्यानि अतोब्रह्मनिमित्तकारणमेव नोपादानम्। उपादानं तु तदधिष्ठितंप्रधानमेव इति।

ऐसे ही व्यवहार जगत मे भी उपादान कारण और निमित्त कारण का अन्तर दृष्टिगत होता है। अचेतन मिट्टी और सुवर्ण, उपादान कारण के रूप मे तथा चेतन कुंभकार और सुवर्णकार, निमित्त कारण के रूप मे दीखते है। सभी कार्यों मे, अनेक कारणो की अपेक्षा नित्य दृष्टिगत होती है निमित्त और उपादान कारणों के नियमित भेद तथा कार्यों की अनेक कारण सापेक्षता का उल्लघन करके, एकमात्र ब्रह्म को ही, उपादान और निमित्त कारण के रूप मे, वेदांत वाक्य प्रतिपादन नही कर सकते। इसलिए यही मानना चाहिए कि ब्रह्म निमित्त कारण मात्र है, उपादान नही, उपादान कारण तो ब्रह्म से अधिष्ठित प्रकृति ही है।

सिद्धान्तः— एवं प्राप्ते प्रचक्ष्महे- प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्-इति प्रकृतिश्च उपादानं च। न निमित्त कारण मात्रं

ब्रह्म, उपादानकारणं ब्रह्मेवेत्यर्थः । कुतः ? प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात् । एवमेवहि प्रतिज्ञादृष्टान्तौ नोपरुध्येते । प्रतिज्ञा तावत "स्तब्धोऽस्युत तमादेशमप्रोक्ष्यः येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतंमतमविज्ञातं विज्ञातम्" इत्येक विज्ञानेन सर्वविज्ञानविषया । दृष्टान्तश्च–"यथा सौम्यैकेन मृत्पिडेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्यात् "यथा सोम्यैकेन लोहमणिना" यथा सौम्येकेन नखनिकृन्तनेन" इति कारणविज्ञानात् कार्यविज्ञान विषयः । यदि निमित्तकारणमेव जगतो ब्रह्म, तदा तद्विज्ञानान्न समस्तंजगद्विज्ञातं स्यात् । नहि कुलालादिविज्ञानेन घटादिर्विज्ञायते । अतः प्रतिज्ञादृष्टान्तयोर्बाध एव । ब्रह्मण एवोपादानत्वे उपादानभूतमृत्पिडलोहमणिनखनिकृंतनविज्ञानेनघटमणिकटकमुकुटायसीपरश्वत्थादितत्कार्यविज्ञानवन्निखिलजगदुपादानभूतेब्रह्मणिविज्ञाते तत्कार्यं निखिलं जगत्विज्ञातं स्यात् । कारणमेवावस्थान्तरापन्नंकार्यम्, न द्रव्यान्तरमिति कार्यकारणरूपेणावस्थितमृत्विकारादिनिदर्शनेन प्रतिज्ञासमर्थनाद् ब्रह्म जगदुपादानं चेति निश्चीयते ।

उक्त मत का प्रत्याख्यान करते हुए सूत्रकार सिद्धान्त रूप से "प्रकृतिश्च दृष्टान्तानुपरोधात्" सूत्र प्रस्तुत करते हैं । प्रकृतिश्च अर्थात् वह उपादान भी है । वह निमित्त कारणमात्र नहीं है उपादान कारण भी है । प्रतिज्ञा और दृष्टान्त दोनों, इसविषय में एकमत हैं । प्रतिज्ञा जैसे–"हे सौम्य ! तुम स्तब्ध हो, क्या तुमने कभी किसी प्राज्ञ से उसे जानने की इच्छा की है ? जिसे जानकर अश्रुत श्रुत, अचिन्त्य चिन्त्य, अज्ञात भी ज्ञात हो जाता है" इत्यादि में एक के ज्ञान से समस्तज्ञान की प्रतिज्ञा की गई है । दृष्टांत जैसे–"हे सौम्य ! जैसे एक मिट्टी के डेले से, संपूर्ण मिट्टी के पदार्थों का ज्ञान हो जाता है" तथा "एक लोहमणि से" एक लोहनिकृन्तन (नहन्ना) से" इत्यादि में कारण के ज्ञान से कार्य का ज्ञान होता है, ऐसे दृष्टांत दिए गए । यदि बह्म, जगत का निमित्त कारण मात्र है तो उसके ज्ञान से समस्त जगत का ज्ञान नहीं हो सकता । जैसे कि कुम्हार आदि की जानकारी से घर की जानकारी नहीं हो

जाती। ऐसा मानने से प्रतिज्ञा और दृष्टांत मे बाधा उपस्थित होती है। ब्रह्म को उपादान कारण मानने से ही, उसके कार्य रूप समस्त का ज्ञान हो सकता है, जैसे कि– उपादान कारण रूप मिट्टी, सोना, लोहा आदि की जानकारी से, उनसे निर्मित, घडा मटकी, कगन मुकुट, कुठार आदि का ज्ञान हो जाता है। अवस्थान्तर की प्राप्ति ही तो कार्य है, वस्तु का बदल जाना कभी कार्य नही कहलाता। ऐसे कारण कार्य भाव मानने से, मिट्टी और उनके विकार घट आदि की तरह ब्रह्म और उसका कार्यरूप जगत प्रतिज्ञानुसार निश्चित होता है, इससे यह भी निश्चित है कि–ब्रह्म, उपादान कारण भी है।

यत्तुनिमित्तोपादानयोर्भेद. श्रुत्यैव प्रतीयत इति, तदसत् निमित्तोपादानयोरैक्य प्रतीतेः "उत तमादेशमप्राक्ष्यः येनाश्रुतं श्रुतं भवति" इति। आदिश्यते प्रशिष्यतेऽनेनेत्यादेश. "एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि" इत्यादि श्रुते.। साधकतमत्वेनकर्त्ता विवक्षितः। तमादेष्टारमप्राक्ष्यः, येनाश्रुतं श्रुतं भवति, येनादेष्ट्राऽधिष्ठात्रा श्रुतेनाश्रुतमपि श्रुतंभवतीति, निमित्तोपादानयोरैक्यं प्रतीयते। "सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेव" इति प्राक्सृष्टेरेकत्वावधारणात् अद्वितीयपदेनाधिष्ठात्रन्तरनिवारणाच्च।

जो यह कहा कि– निमित्त और उपादान का भेद तो श्रुति से ही प्रतीत होता है, यह कहना भी गलत है; "जिससे अश्रुत भी श्रुत हो जाता है" इत्यादि वाक्य ही निमित्त और उपादान की एकता बतला रहा है। जिसके द्वारा आदिष्ट अर्थात् उत्तमरूप से शासित हो, उसे आदेश कहते है, इस आदेश की बात "इस अक्षर के प्रशासन मे सूर्य और चद्र स्थिर है" इत्यादि वाक्य मे कही गई है। ब्रह्म ही क्रियासिद्धि के प्रधान उपाय है, इसलिए वे ही कर्त्ता रूप से विवक्षित है। इस आदेष्टा (शासक) के विषय में कहा गया कि "जिसको जान लेने से अश्रुत भी श्रुत हो जाता है" अर्थात् जो आदेष्टा (प्रकृति का अधिष्ठाता) है, उसके श्रुत हो जाने पर, अन्यान्य अश्रुत विषय भी श्रुत हो जाते हैं। इस कथन से निमित्त और उपादान की एकता प्रदान होती है "हे सौम्य!

सृष्टि के पूर्व यह जगत सत् स्वरूप ही था" इस श्रुति में, एकत्वावधारणता बतलाने वाली अद्वितीयता बतलाई गई है, जिससे किसी अन्य की अधिष्ठातृता का निवारित हो जाता है।

ननु एवं सति—"विकारजननीम् गौरनाद्यन्तवती" इत्यादिभिः प्रकृतेराद्यन्त विरहेण नित्यत्वं जगदुपादानत्वं च श्रूयमाणं कथमुपपद्यते ?

तदुच्यते— तत्राप्यविभक्तनामरूपं कारणावस्थं ब्रह्मैव प्रकृति शब्देनाभिधीयते। ब्रह्मव्यतिरिक्तवस्त्वंतराभावात्। तथाहि श्रुतयः "सर्वं यो परादात् योऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेद" यत्रत्वस्य सर्वमात्मैवाभूत तत् किं केन पश्येत् ? "इत्याद्याः। सर्वं खल्विदं ब्रह्म "ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्" इति कार्यावस्थं कारणावस्थं च सर्वं जगत् ब्रह्मात्मकमिति श्रवणाच्च।

प्रश्न होता है कि—एकमात्र ब्रह्म को ही कारण मान लेगे तो, "विकारों की जननी" आदि अन्त रहित गौ "इत्यादि वाक्यों में जो प्रकृति की आद्यन्तरहितनित्यता और जगत् उपदानता बतलाई गई है, उसका समाधान कैसे होगा ?

उसका उत्तर देते हैं कि— उन वाक्यों में भी अव्यक्त नामरूप वाले कारणावस्थ ब्रह्म को ही प्रकृति शब्द से बतलाया गया है। वैसी ही बात अन्य श्रुतियों में भी जैसे— "सब उसका विरोध करते हैं, जो इस जगत को ब्रह्म से भिन्न मानते हैं" जब यह सब कुछ आत्मा ही है तो किससे किसको जाना जाय ? "इत्यादि तथा"—यह सब कुछ ब्रह्म ही है "यह सब ब्रह्मात्मक ही है" इत्यादि से कार्यावस्थ और कारणावस्थ समस्त जगत को ब्रह्मात्मक बतलाया गया है।

एतदुक्तं भवति—"यः पृथ्वीमंतरे संचरन्यस्य पृथ्वी शरीरं यं पृथ्वी न वेद" इत्यारभ्य "योऽव्यक्तमंतरे संचरन् यस्याव्यक्तं शरीरं यमव्यक्तं न वेद" योऽक्षरमन्तरे संचरन् यस्याक्षरं शरीरं यमक्षरं

न वेद" यः पृथ्व्यांतिष्ठन् पृथिव्याअन्तरो यं पृथिवी न वेद, पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमंतरोयमयति" इत्यारभ्य–'य आत्मनि तिष्ठन् आत्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति त आत्माऽन्तर्याम्यमृत." इति च सर्वचिदचिद्वस्तुशरीर-तया सर्वदा सर्वात्मभूतं परंब्रह्म कदाचिदविभक्तनामरूपं, कदा-चिच्चाविभक्त नामरूपम्, यदा विभक्त नामरूपं तदा तदेव बहुत्वेन कार्यत्वेन चोच्यते, यदा चाविभक्तनामरूपं तदैकमद्वितीयं कारण-मिति च। एवं सर्वदा चिदचिद् वस्तु शरीरस्य परस्य ब्रह्मणोऽ-विभक्त नामरूपा या कारणावस्था सा "गौरनाद्यंतवती" विकारजननीमज्ञाम् "अजामेकाम्" इत्यादिभिरभिधीयते इति।

कथन यह है कि–"जो पृथ्वी में संचरण करता है, पृथ्वी ही जिसका शरीर है, जिसे पृथ्वी नही जानती" इत्यादि से प्रारभ करके "जो अव्यक्त मे सचरण करता है, अव्यक्त ही जिसका शरीर है, अव्यक्त जिसे नहीं जानता" "जो अक्षर में सचरण करता है, अक्षर ही जिसका शरीर है, जिसे अक्षर नहीं जानता" यहाँ तक तथा–"जो पृथ्वी मे स्थिति है, उस अन्तर्यामी को पृथिवी नही जानती, पृथ्वी ही उसका शरीर है, वह अन्तर्यामी ही पृथ्वी का सयमन करता है" इत्यादि से प्रारंभ करके "जो आत्मा में स्थित है, उस अन्तर्यामी को आत्मा नही जानता, आत्मा ही उसका शरीर है, वह अन्तर्यामी ही आत्मा का संयमन करता है वह अन्तर्यामी ही अमृत है" यहाँ तक बतलाया गया कि–समस्त जड चेतन शरीरवाला, सर्वदा, सर्वात्मा वह परब्रह्म कभी विभक्त नामरूप वाला और कभी अविभक्त नाम रूपवाला होता है, जब वह विभक्त नाम रूप वाला होता है, तब उसे अनेक कार्यो के रूप में वर्णन किया जाता है और जब वह अविभक्त नाम रूपवाला रहता है, तो उसे "एक वही अद्वितीय कारण है" ऐसा कहा जाता है। इसी प्रकार सदा जड चेतन शरीर उस परब्रह्म की अविभक्त नामवाली कारणावस्था को "आदि अन्त रहित गौ" विकारजननी "एकाअजा" इत्यादि नामों से बतलाया गया है।

ननु च –"महानव्यक्ते लीयते अव्यक्तम् अक्षरे लीयते" इति प्रलयश्रुतेरव्यक्तस्योत्पत्तिप्रलयौ प्रतीयेते, तथा च महाभारते "तस्मादव्यक्तमुत्पन्नं त्रिगुणं द्विज सत्तम" अव्यक्तं पुरुषे ब्रह्मन्निष्क्रिये संप्रलीयते" इति । नैष दोषः, अचिद् वस्तुशरीरस्यब्रह्मणोऽव्यक्तशब्दावाच्यायास्त्रिगुणावस्थायाःकार्यत्वात् । "यदातमस्तत्र दिवा न रात्रिः" इति कृत्स्न प्रलयदशायामपि ब्रह्मात्मकस्यातिसूक्ष्मस्याचिद्वस्तुनः स्थित्यभिधाना जगद्कारणस्य परस्य ब्रह्मणः प्रकारभूतमतिसूक्ष्मं चाचिद्वस्तु नित्यमेवेति तत्प्रकारं ब्रह्मैव "गौरनाद्यंतवती" इत्यादिष्वभिधीयते ।

प्रश्न यह होता है कि–"महान अव्यक्त में लीन हो जाता है, अव्यक्त अक्षर में विलीन हो जाता है" इस प्रलय को बतलाने वाली श्रुति से तो उत्पत्ति और प्रलय कार्य अव्यक्त (प्रकृति) का ही प्रतीत होता है। वैसा ही महाभारत में भी कहा गया कि–"उससे ही त्रिगुणात्मक अव्यक्त का जन्म हुआ, वह अव्यक्त उस पूर्ण पुरुष (परमात्मा) में ही लीन हो जाता है" इत्यादि। ठीक है इसमें कोई दोष नहीं आता; अचेतनात्मक शरीरधारी ब्रह्म की जो त्रिगुणात्मक अव्यक्त अवस्था है वही तो कार्य रूप में व्यक्त हो जाती है। "प्रलयकाल में जब तम ही था, दिन रात कुछ नहीं था" ऐसी आत्यंतिक प्रलय की अवस्था में भी ब्रह्मात्मक अति सूक्ष्म अचेतन वस्तु का अस्तित्व बतलाया गया है। इससे ज्ञात होता है कि–जगत् के कारण परब्रह्म की ही, प्रकार रूप, अति सूक्ष्म अचित् वस्तु नित्य है; उस अवस्था वाले ब्रह्म का ही "गौरनाद्यंतवती" इत्यादि श्रुतियों में उल्लेख किया गया है।

अतएव च "अक्षरं तमसिलीयते तमः परे देव एकीभवति" इति तमसि एकीभावमात्रमेव श्रूयते,ऽतुलयः। एकीभाव इति तमोविधानातिसूक्ष्म अचित् प्रकारस्य ब्रह्मणोऽविभक्त नामरूपतयाऽवस्थानमभिधीयते । "तम आसोत्तमसा गूढमग्रेप्रकेतं तमसस्तन्महिमा-

जायतैकम्'' इत्याद्यपि एतदेव वदति। तथा च मानवं वचः "आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम् अतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः" इति। "अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्"। इत्यादिअनंतरमेवोपपादयिष्यते, ब्रह्मणोऽपरिणामित्वश्रुतयश्च।

इसी प्रकार-"अक्षर अंधकार में विलीन हो जाता है, अंधकार परम देव से एकीभूत हो जाता है" इत्यादि में, अंधकार का एकीभाव मात्र बतलाया गया है, लय नहीं। ब्रह्म की विशेष अति सूक्ष्म "तम" नामवाली जो अचित् वस्तु स्थिति है, उस अव्यक्तनामरूपवाली अवस्था को ही "एकीभाव" में दिखलाया गया है। "तम ही था" "सृष्टि के पूर्व समस्त विचित्रतायें, तम आवृत थीं, उसकी महिमा उस तम में ही एकीभूत थी" इत्यादि श्रुति, उक्त तथ्य की ही पुष्टि करती है। मनुस्मृति भी ऐसा ही कहती है-"यह जगत तमोभूत अलक्ष्य था, अज्ञात अतर्क्य यह सब उसी में सुप्त था" इत्यादि। मायाधीश ईश्वर ने इस (प्रकृति) के द्वारा इसकी सृष्टि की" इत्यादि वाक्यो में, बाद में भी इसी बात का प्रतिपादन किया गया है तथा ब्रह्म की अपरिणामिता की प्रतिपादिका श्रुतियाँ भी ऐसा ही निर्णय करती हैं।

यत्तु एकस्य निमित्तत्वमुपादानत्वं च न संभवति, एक कारकनिष्पाद्यत्वं च कार्यस्य, लोके तथा नियमदर्शनात्। अतोऽग्निना सिंचेदितिवद्वेदांतवाक्यान्येकस्मादेवोत्पत्तिं प्रतिपादयितुं न प्रभवंतीति। अत्रोच्यते-सकलेतरविलक्षणस्यपरस्यब्रह्मणः सर्वशक्तेः सर्वज्ञस्यैकस्यैव सर्वमुपपद्यते। मृदादेश्चेतनस्य ज्ञानाभावेनाधिष्ठातृत्वायोगादाधिष्ठातुः कुलालादेर्विचित्रपरिणामशक्तिविरहादसत्यसंकल्पतया च तथा दर्शननियमः। अतो ब्रह्मैव जगतो निमित्तमुपादानं च।

जो यह कहा कि—लोक दृष्ट नियमानुसार, एक ही का निमित्त और उपादान होना संभव नहीं है, तथा एक ही कारण से अनेक कार्यो

की उत्पत्ति भी संभव नहीं है। "अग्नि से सींचूंगा" इत्यादि की तरह, वेदांत वाक्य, एक ही कारण से समस्त की उत्पत्ति का, अनहोना प्रतिपादन नहीं कर सकते [अर्थात् जैसे आग से सींचना असंभव है, वैसे ही ब्रह्म का जडचेतन होना असंभव है] इसका उत्तर देते हैं–सबसे विलक्षण सर्वशक्ति संपन्न, सर्वज्ञ उस ब्रह्म से सब कुछ होना संभव है। मिट्टी आदि पदार्थों में ज्ञान के अभाव से स्वतः तो अधिष्ठातृत्व होता नहीं तथा अधिष्ठाता कुम्हार आदि मे पदार्थों को बिगाड़ कर दूसरे रूप में गढ़ने के अतिरिक्त, दूसरे तत्त्व में परिवर्त्तन करने की सत्यसंकल्पता तो होती नहीं इसलिए दृष्ट जगत् में निमित्त और उपादानता भिन्न-भिन्न है। इत्यादि विवेचन से निश्चित होता है कि–ब्रह्म, निमित्त और उपादान दोनों है।

अभिध्योपदेशाच्च ।१।४।२४॥

इतश्चोभयं ब्रह्मैव "सोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेयेति" "तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय" इति स्रष्टुर्ब्रह्मणः स्वस्यैव बहुभवन संकल्पोपदेशात्। विचित्रचिदचिद्रूपेणाहमेव बहुस्यां तथा प्रजायेयेति संकल्प पूर्विका हि सृष्टिरुपदिश्यते।

"उसने कामना की कि मैं बहुत होकर जन्म लूं" उसने स्वयं को अनेक रूपों में व्यक्त किया" इत्यादि में, स्रष्टा ब्रह्म की, स्वयं को ही अनेक रूपों में, प्रकट होने की संकल्पपूर्विका सृष्टि, बतलाई गई है, इससे भी ब्रह्म की निमित्त उपादान कारणता सिद्ध होती है। विचित्र जडचेतन रूप से मैं ही स्वयं, अनेक हो जाऊँगा, ऐसी संकल्पपूर्विका सृष्टि का उपदेश दिया गया है।

साक्षाच्चोभयाम्नानात् ।१।४।२५॥

न केवलं प्रतिज्ञादृष्टान्ताभिध्योपदेशादिभिरयमर्थो निश्चीयते, ब्रह्मण एव निमित्तत्वमुपादानत्त्वं साक्षादाम्नायते "किंस्विद्वनं क उ स वृक्ष आसीद्यतो द्यावापृथ्वी निष्ठतक्षुः, मनीषिणो मनसा पृच्छतेदुतद्यदध्यतिष्ठद्भुवनानि धारयन्। ब्रह्म वनं ब्रह्म स वृक्ष

श्रासीद्यतो द्यावापृथ्वी निष्ठतक्षुः , मनीषिणो मनसा प्रब्रवीमि वो ब्रह्माध्यतिष्ठद्भुवनानि धारयन्" इति । अत्र हि स्रष्टुर्ब्रह्मणः किमुपादानं कानि चोपकरणानीति लोकदृष्ट्या पृष्टे सकलेतरविलक्षणस्यब्रह्मणः सर्वशक्तियोगो न विरुद्ध इति ब्रह्मैवोपादानमुपकरणानि चेति परिहृतम् । अतश्चोभयं ब्रह्म ।

केवल प्रतिज्ञा दृष्टांत और अभिध्या (संकल्प) आदि के (श्रौत) उपदेश से ही उक्त अर्थ निश्चित होता हो, सो बात नही है अपितु ब्रह्म की निमित्तोपादानकता स्पष्ट बतलाई गई है–"यह बन क्या है ? यह वृक्ष भी क्या है ? सत्य संकल्प परमात्मा ने जिसके द्वारा आकाश और पृथ्वी का निर्माण किया वह कौन सी वस्तु है ? सारा जगत स्थिरतापूर्वक जिसमें स्थित है वह कौन सी शक्ति है ? ऐसा मनीषियों द्वारा मनन करने पर उन्हें मन से ही उत्तर मिला कि–अरे ! ब्रह्म ही बन है, ब्रह्म ही वृक्ष स्वरूप है, उन्ही से आकाश और पृथ्वी का निर्माण हुआ, सारे जगत को बना करके वह ब्रह्म ही अधिष्ठित है।" इत्यादि में लौकिक व्यवहारानुसार, उपादान और उपकरण (साधन) की जिज्ञासा होने पर सर्वपदार्थ विलक्षण, सर्वशक्तिसंपन्न ब्रह्म को ही अविरुद्ध उपादान और उपकरण के रूप में निर्देश किया गया है, इससे सिद्ध होता है कि–दोनों प्रकार के कारण परब्रह्म परमात्मा ही है ।

श्रात्मकृतेः ।१।४।२६॥

"सोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेय" इति सिसृक्षुत्वेन प्रकृतस्य ब्रह्मणः तदात्मानं स्वयमकुरुत" इति सृष्टेः कर्मत्वं कर्तृत्वं च प्रतीयत इत्यात्मन एव बहुत्वकरणात्तस्यैव निमित्तत्वमुपादानत्वं च प्रतीयते । अविभक्तनामरूप आत्मा कर्त्ता, स एव विभक्त नामरूपः कार्यमिति, कर्तृत्वकर्मत्वयोर्नविरोधः । स्वयमेवात्मानं तथाऽकुरुतेति निमित्तमुपादानं च ।

"उसने कामना की कि अनेक होकर प्रकटूँ" इस श्रुति में सृष्टि के इच्छुक ब्रह्म को "उसने स्वयं को ही बहुत किया" इत्यादि में कार्यरूप से वर्णन किया गया है, इन दोनों वाक्यों से ब्रह्म का कर्मत्व और कर्त्तृत्व प्रतीत होता है इस स्वयं को ही बहुत कर देने की बात से, उसका ही निमित्त और उपादान होना निश्चित होता है। वही अविभक्त नाम रूप आत्मा कर्त्ता है और वही विभक्त नामरूप कार्य है। इस प्रकार कर्त्तृत्व और कर्मत्व में कोई विरोध नहीं है। जो अपने को स्वयं उस रूप में परिणत करता है वही, निमित्त और उपादान है।

"सत्यं ज्ञानमनंतं ब्रह्म" आनंदोब्रह्म अपहतपाप्माविजरोविमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः "निष्कलं निष्क्रियं शांतं निरवद्यं-निरञ्जनम् "स वा एष महानज आत्माऽजरोऽमरः" इति स्वभावतो निरस्तसमस्तचेतनाचेतनवर्त्तिदोषगंधस्य निरतिशयज्ञानानंदैकतानस्य परस्यब्रह्मणो विचित्रानंतापुरुषार्थस्पिदचिदचिन्मिश्र प्रपंचरूपेणात्मनो बहुभवनसंकल्पपूर्वकं बहुत्वकरणं कथमुपपद्यत इत्याशंक्याह—

"ब्रह्म सत्य ज्ञान और अनंत स्वरूप है" आनंद ब्रह्म है "वह निष्पाप अजर अमर शोक भूख प्यास रहित है" वह निष्क्रिय, निरंजन, निर्दोष और शांत स्वभाव है "वह महान् आत्मा जरामरणरहित है" इत्यादि वक्यों से प्रतिपादित परब्रह्म जब स्वभाव से ही जडचेतनात्मक समस्त दोषों से रहित है तथा सर्वाधिक ज्ञान और आनंद का धाम है, तो उसका स्वेच्छापूर्वक अनंतविचित्रमय जडचेतन मिश्रित, जगदाकार-रूप में परिणत होना कैसे संभव है ? इस शंका का निवारण करते हैं—

परिणामात् ।१।४।२७॥

परिणामस्वाभाव्यात्, नात्रोपदिश्यमानस्य परिणामस्य परस्मिन् ब्रह्मणि दोषावहत्वं स्वभावः प्रत्युत निरंकुशैश्वर्यावहत्वमेवेत्यभिप्रायः। एवमेव हि परिणाम उपदिश्यते। अशेषहेयप्रत्यनीक कल्याणैकतानं स्वेतरसमस्तवस्तविलक्षणं सर्वज्ञं सत्यसंकल्पं अवा-

ससमस्तकाममनवधिकातिशयानन्दं स्वलीलोपकरणभूतसमस्तचिद-चिद्वस्तुजातशरीरतया तदात्मभूतंपरंब्रह्मस्वशरीरभूते प्रपंचे तन्मात्राहंकारादिकारणपरम्परया तमः शव्दवाच्यातिसूक्ष्म मचिद्-वस्त्वेकशेषेसति, तमसि च स्वशरीरतयाऽपि पृथङ्निर्देशानर्हाति-सूक्ष्मदशापत्त्या स्वस्मिन्नेकतामापन्ने सति तथाभूततमः शरीरं ब्रह्म पूर्ववद्विभक्त नामरूपचिदचिन्मिश्रप्रपंचशरीरं स्यामिति संकल्प्याप्य-यक्रमेण जगच्छरीरतया आत्मानं परिणमयतीति सर्वेषु वेदांतेषु परिणामोपदेशः ।

परमात्मा परिणाम स्वभाव वाला है इसलिए उसका विचित्र जगदाकार रूप से परिणत होना असंभव नही है । इस प्रसंग में परब्रह्म संबंधी जिस परिणाम का वर्णन है, वह उनके स्वाभाविक परिणाम का है, इसलिए दोषी वह नहीं है, इससे तो उस परमात्मा का स्वभाविक अप्रतिहृत ऐश्वर्य ही प्रकाशित होता है । समस्त उपादेय कल्याण गुणों के आकर, अन्यान्य वस्तुओं से विलक्षण, सर्वज्ञ, सत्यसंकल्प, पूर्णकाम सर्व-श्रेष्ठ, असीम आनंदस्वरूप लीला के उपकरण रूप, अपने शरीर स्थानीय समस्त जडचेतन वस्तुओं के आत्मा परब्रह्म अपने शरीर इस प्रपंच में तन्मात्रा अहंकार आदि क्रम से "तम" शब्द वाच्य अतिसूक्ष्म वस्तु के रूप में एकमात्र शेष होकर, अपने ही शरीर रूप उस तम से पृथक् न कह सकने योग्य सूक्ष्मातिसूक्ष्म उस तम के भी अपने में ही एकता प्राप्त कर लेने पर, वही तम शरीरी ब्रह्म "मै पुन. पूर्वकल्पानुसार नामरूपविभाग संपन्न जडचेतन शरीर वाला होऊँ" ऐसा संकल्प करके, प्रलयक्रमानुसार ही क्रमशः अपने को जगत् शरीर रूप में परिणत करते है; ऐसा ही समस्त वेदांत वाक्यों का परिणामोपदेश है ।

तथैव वृहदारण्यके कृत्स्नस्यजगतो ब्रह्मशरीत्वं ब्रह्मणस्तदात्म-त्वं चाम्नायते –"यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरोयं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमंतरो यमयत्येष स आत्माऽन्त-र्याम्यमृतः" इत्यारभ्य "यस्यापः शरीरं" "यस्याग्निःशरीरम्"

यस्यान्तरिक्षं शरीरम् यस्य वायुः शरीरम् यस्यद्यौः शरीरं यस्यादित्यः शरीरम् यस्यदिशः शरीरम् यस्य चंद्रतारकं शरीरम् यस्याकाशः शरीरम् यस्यतमः शरीरम् यस्य तेजः शरीरम् यस्य सर्वाणिभूतानि शरीरम् यस्य प्राणः शरीरम् यस्य वाक्छरीरम् यस्य चक्षुः शरीरम् यस्य श्रोत्रं शरीरम् यस्यमनः शरीरम् यस्य त्वक्छरीरम् यस्य विज्ञानं शरीरम् यस्यरेतः शरीरम् इत्येवमंतेन काण्वपाठे, माध्यंदिनेतु पाठे विज्ञानस्थाने यस्यात्माशरीरम् इति विशेषः। लोकयज्ञवेदानां परमात्मशरीरत्वमधिकम्।

तथा इसी प्रकार वृहदारण्यकोपनिषद् में संपूर्ण जगत को ब्रह्म का शरीर तथा ब्रह्म का तादात्म्य बतलाया गया है—"जो पृथिवी में स्थित होकर भी पृथ्वी से भिन्न हैं, पृथ्वी जिन्हे नहीं जानती, पृथिवी ही जिनका शरीर है, जो अंतर्यामी होकर पृथिवी का संयमन करते हैं. वे ही अंतर्यामी अमृत हैं" इत्यादि से प्रारंभ करके क्रमशः जल-अग्नि-अंतरिक्ष-वायु-द्यौ आदित्य-दिक्-चंद्रतारा-आकाश-तम-तेज-सर्वभूत-प्राण-वाक्-चक्षु-श्रोत-मन -त्वक्-विज्ञान-वीर्य इत्यादि सभी को उनका शरीर बतलाया गया है, उक्त काण्व शाखीय पाठ से माध्यन्दिन शाखा के पाठ में विज्ञान के स्थान पर "आत्मा" ऐसा विशेष पाठ किया गया है। तथा लोक यज्ञ और वेद को भी परमात्मा का शरीर स्थानीय कहा गया है।

सुबालोपनिषदि च पृथिव्यादीनां तत्त्वानां परमात्मशरीरत्वमभिधाय वाजसनेयकेऽनुक्तानामपि तत्त्वानां शरीरत्वं ब्रह्मण आत्मत्वं च श्रूयते —"यस्य बुद्धिः शरीरम् यस्याहंकार शरीरम् यस्य चित्तं शरीरम् यस्याव्यक्तं शरीरम् यस्याक्षरंशरीरम् योमृत्युमंतरे संचरन् यस्यमृत्युः शरीरम् यं मृत्युर्नवेद एष सर्वभूतान्तरात्माऽपहतपाप्मा दिव्योदेव एको नारायणः इति। अत्र 'मृत्यु शब्देन परमसूक्ष्ममचिद्वस्तु तमः शब्दवाच्यमभिधीयते "अव्यक्तमक्षरे लीयते

अक्षरं तमसि लीयते" इतितस्यामेवोपनिषदि क्रमप्रत्यभिज्ञानात् । सर्वेषां आत्मनां ज्ञानावरणार्थमूलत्वेन तदेव हि तमो मृत्युशब्दव्यपदेश्यम् ।

सुबालोपनिषद् में भी—ऐसे ही पृथिवी आदि तत्त्वों को परमात्मा का शरीर बतलाकर जिन्हे वाजसनेयी वृहदारण्यक मे नही बतलाया गया उन तत्त्वों को भी शरीर स्थानीय तदात्मक बतलाया गया है "बुद्धि जिनका शरीर है, अहंकार जिनका शरीर है, चित्त जिनका शरीर है, अव्यक्त जिनका शरीर है, अक्षर जिनका शरीर है, जो कि मृत्यु मे संचरण करते है मृत्यु उनका शरीर है, मृत्यु उन्हे नही जानता ऐसे सर्वान्तर्यामी निष्पाप, दिव्य देव एकमात्र नारायण ही है ।" इस प्रसंग में "मृत्यु" शब्द से, अतिसूक्ष्म वस्तु "तम" का ही उल्लेख किया गया है, इसी उपनिषद् के "अव्यक्त अक्षर में विलीन होता है, अक्षर, तम में लीन होता है" इस वाक्य से उक्त तथ्य की पुष्टि होती है । यह "तम' ही, समस्त आत्माओं के ज्ञान का आवरक होकर अनर्थ करने वाला मूल कारण हैं, इसीलिए "मृत्यु" शब्द से उसका उल्लेख किया गया है ।

सुबालोपनिषद्येव ब्रह्मशरीरतया तदात्मकानां तत्त्वानां ब्रह्मण एव प्रलय ग्राम्नायते – "पृथिव्यप्सु प्रलीयते, आपस्तेजसि लीयन्ते, तेजो वायौ लीयते, वायुराकाशे लीयते, आकाशइंद्रियेष्विन्द्रियाणि तन्मात्रेषु तन्मात्राणि भूतादौ लीयंते, भूतादिर्महति लीयते, महानव्यक्ते लीयते, अव्यक्तमक्षरेलीयते, अक्षरंतमसि लीयते, तमः परेदेव एकीभवति" इति । अविभागापत्तिदशायामपि चिदचिद्वस्त्वति सूक्ष्मं सकर्मसंस्कारं तिष्ठतीत्युत्तरत्रवक्ष्यते न कर्माविभागादिति चेन्नानादित्वादुपपद्यते चाप्युपलभ्यते च" इति ।

इस सुबालोपनिषद् में ही ब्रह्म के शरीर स्थानीय तदात्मक तत्त्वों का, ब्रह्म में ही लय बतलाया गया है "पृथ्वी, जलों में लीन होती है, जल तेज में लीन होते हैं, तेज, वायु में लीन होता है, वायु आकाश में लीन होता है, आकाश इन्द्रियों में लीन होता है, इन्द्रियाँ तन्मात्राओं में लीन

होती हैं, तन्मात्रायें भूतों में लीन होती हैं, भूत महत् में लीन होते हैं, महत् अव्यक्त में लीन होता है अव्यक्त अक्षर में लीन होता है, अक्षर तम में लीन होता है, तम परमात्मा में एकीभूत हो जाता है।" उक्त प्रकार की अविभक्त दशा में भी समस्त जडचेतन वस्तु, अतिसूक्ष्म रूप से, कर्मों के संस्कारों सहित उपस्थित रहते है, ऐसा सूत्रकार "न कर्माविभागादिति चेन्न" इत्यादि सूत्र में कहते हैं।

एवं स्वस्माद्विभागव्यपदेशानर्हतया परमात्मनैकीभूतात्यंतसूक्ष्म चिदचिद्वस्तुशरीरादेकस्मादेवाद्वितीयान्निरतिशयानंदात् सर्वज्ञात् सत्यसंकल्पाद्ब्रह्मणो नामरूपविभागार्हस्थूलचिदचिद्वस्तुशरीर-तया बहुभवनसंकल्प पूर्वको जगदाकारेण परिणामः श्रूयते। "सत्यं-ज्ञानमनंतंब्रह्म:" तस्माद् वा एतस्माद् विज्ञानमयात् अन्योऽन्तर आत्माऽनंदमयः "एष ह्येवानंदयाति" सोऽकामयत् , बहुस्यां प्रजा-येयेति स तपोऽतप्यत, सतपस्तप्त्वा इदं सर्वमसृजत यदिदं किंच तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् तदनुप्रविश्य सच्चत्यच्चाभवत् निरुक्तंचानिरुक्तं च, निलयनंचानिलयनं च विज्ञानंचाविज्ञानं च, सत्यंचानृतं च सत्यमभवत्" इति।

इसी प्रकार, ब्रह्म से भिन्न न कहने योग्य, परमात्मा में ही एकीभूत अत्यंतसूक्ष्म जडचेतन शरीर अद्वितीय, अत्यानंदमय सर्वज्ञ, सत्य संकल्प परब्रह्म ही नामरूप विभाग करने योग्य स्थूल जडचेतन शरीर वाला होने का संकल्प करता हुआ जगदाकाररूप में परिणत होता है, ऐसा—"ब्रह्म सत्य ज्ञान और अनंत है' "इस विज्ञानमय से सूक्ष्म अन्य आत्मा आनंदमय है "यही दूसरे को आनंदित करते हैं" उसने कामना की कि—अनेक होकर जन्म लूँ, इसलिए उसने तप किया, उसने तप करके ही इस समस्त जगत की सृष्टि की, वे दृष्ट अदृष्ट इस सबकी सृष्टि कर उसी में प्रविष्ट हो गए, प्रविष्ट होकर सत् असत्, निरुक्त अनिरुक्त, निलयन अनिलयन, विज्ञान अविज्ञान, सत्य और असत्य हो गए।" इत्यादि श्रुतियों से ज्ञात होता है।

अत्र तपः शब्देन प्राचीनजगदाकारपर्यालोचनरूपं ज्ञानं अभिधीयते "यस्य ज्ञानमयंतपः" इत्यादिश्रुतेः। प्राक् सृष्टं जगत् संस्थानांमालोच्येदानीमपि तत्संस्थानं जगदसृजदित्यर्थः, तथैव हि ब्रह्म सर्वेषु कल्पेष्वेकरूपमेव जगत् सृजति" सूर्याश्चंद्रमसौधाता यथा पूर्वमकल्पयत् दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो सुवः "यथा ऋतिषु ऋतुर्लिंगानि नानारूपाणि पर्यये, दृश्यंते तानितान्येव तथाभावा युगादिषु" इति श्रुतिस्मृतिभ्यः। तदयमर्थः, स्वयमपरिच्छिन्न ज्ञानानंदस्वभावोऽत्यंतसूक्ष्मतयाऽसत्कल्पस्वलीलोपकरणचिदचिद् - वस्तु शरीरतया तन्मयः परमात्मा विचित्रानंतक्रीडनकोपादित्सया स्वशरीरभत प्रकृति पुरुषसमष्टिपरम्परया महाभूतपर्यन्तमात्मानं तत्तच्छरीरकं परिणमय्य तन्मयः पुनः सत्यच्छब्दवाच्य विचित्र चिदचिद्मिश्र देवादिस्थावरान्तजगद्रूपोऽभवत्—इति।

यहाँ तप शब्द से, पूर्व कल्पीय जगत के स्वरूप का पर्यालोचन ज्ञान ही अभिहित है "ज्ञानमयता ही जिसका तप है" इस श्रुति से यही बात सिद्ध होती है। ब्रह्म ने, सृष्टि की पूर्वतन जगदाकृति का चिन्तन कर इस समय भी, तदनुरूप सृष्टि की रचना की, यही उक्त कथन का तात्पर्य है। उसी प्रकार, यह ब्रह्म,सभी कल्पों में, एक रूप वाले जगत की सृष्टि करते हैं. ऐसा "विधाता ने पूर्व सृष्टि के अनुसार सूर्य और चंद्र की कल्पना की, द्यु लोक, पृथ्वी, अंतरिक्ष और स्वर्गलोक भी उसी प्रकार बनाया।" "जैसे नियमित रूप से ऋतुएँ एक के बाद एक सदा प्रवृत्त होती हैं वैसे ही युगों की नियमित प्रवृत्ति होती है" इत्यादि श्रुति स्मृति प्रमाणों से ज्ञात होता है। इसका तात्पर्य यह है कि—प्रलयकाल में परमात्मा का लीलोपकरण रूप, जडचेतन वस्तुमय शरीर अत्यंत सूक्ष्म होने से "असत्" ज्ञात होता है। अपरिच्छिन्न ज्ञान और आनंद स्वभाव स्वयं परमात्मा, पुनः उन्हीं अनंतविचित्रतापूर्ण अपने लीलोपकरणों को प्रकट करने की इच्छा से, अपने शरीर स्थानीय प्रकृति पुरुष आदि को, समुदाय क्रम से महाभूत पर्यन्त, विशेष विशेष शरीरों के आकार में

प्ररिणत करके, स्वयं भी तन्मय होकर प्रत्यक्ष और परोक्षात्मक जडचेतन युक्त विचित्र, देवता से स्तम्ब पर्यन्त जगदाकार रूपों में परिणत हो गए।

"तदेवानुप्राविशत्तदनुप्रविश्य" इति कारणावस्थायामात्मतयाऽवस्थितः परमात्मैव कार्यरूपेण विक्रियमाणद्रव्यस्याप्यात्मतयाऽवस्थाय तत्तदभवदित्युच्यते। एवं परमात्मचिदचिद् संघात रूपजगदाकार परिणामे परमात्मशरीरभूतचिदंशगताः सर्व एवापुरुषार्थाः तथाभूताचिदंशगताश्च सर्वे विकाराः परमात्मनि कार्यत्वम् तदवस्थयोस्तयोः नियतृत्वेनात्मत्वम्, परमात्मा तु तयोः स्वशरीरभूतयोर्नियंतृतयाऽत्मभूतस्तद्गता पुरुषार्थैर्विकारैश्च न स्पृश्यते, अपरिच्छिन्नज्ञानानंदमयः सर्वदैकरूप एव जगत् परिवर्त्तनलीलयाऽवतिष्ठते। तदेतदाह—"सत्यं चानृतं च सत्यमभवत्" इति। विचित्र चिदचिद्रूपेण विक्रियमाणमपि ब्रह्म सत्यमेवाभवत् निरस्तनिखिलदोषगंधमपरिच्छिन्नज्ञानानंदमेकरूपमेवाभवदित्यर्थः।

"उन्होंने उन सब में प्रवेश करके" इत्यादि में कहा गया कि-जगत की कारणावस्था के रूप में स्थित परमात्मा ही कार्य रूप से परिणत वस्तु में आत्मा रूप से स्थित होकर उन्हीं रूपों के हो गए। परमात्मा का जडचेतन समष्टि रूप जो परिणाम है, वह परमात्मा के शरीर स्थानीय, चेतन अंशरूप (जीवों) के लिए पुरुषार्थ नहीं है (अपितु निवार्य है) तथा परमात्मा के ही शरीर भूत समस्त अचेतन विकार ये दोनों (चेतनांश जीव और अचेतनांश जगत) ही परमात्मा के कार्य हैं, इन दोनों में अतर्यामी रूप से स्थित होकर नियंत्रण करने वाले परमात्मा के ये आत्मीय भी है। परमात्मा इन दोनों शरीरों के नियंता और अन्तर्यामी होते हुए भी, उनके अपुरुषार्थ और विकारों को स्पर्श नहीं करते, वह तो अनिवार्य ज्ञानानंदमय, सदा एक रूप से स्थित रहते हुए, जगत की परिवर्त्तन रूप लीला का संपादन करते रहते है। इसी लिए

कहा गया कि—' वह सत्यस्वरूप परमात्मा, सत्य और असत्य रूप हो गए।'' इत्यादि विचित्र जडचेतन रूप से विकृत होते हुए भी, ब्रह्म स्वयं सत्य ही है, अर्थात् समस्त दोषों से अनस्पृष्ट, अनिवार्य ज्ञानानंदमय वह सदा एक रूप रहते है।

सर्वाणि चिदचिद्वस्तूनि, सूक्ष्मदशापन्नानि स्थूलदशापन्नानि च परस्य ब्रह्मणो लीलोपकरणानि सृष्ट्यादयश्चलीलेति, भगवद् द्वैपायन पराशरादिभिरुक्तम् "अव्यक्तादिविशेषांतं परिणामर्धिसंयुतम् क्रीडाहरेरिदं सर्वं क्षरमित्युपधार्यताम्" क्रीडतो बालकस्येव चेष्टां तस्य निशामय बालः क्रीडनकैरिव इत्यादिभिः। वक्ष्यति च—"लोकवत्तु लीला कैवल्यम्" इति।

सारी जडचेतन वस्तुएं, चाहे वह सूक्ष्मदशा में हों अथवा स्थूल दशा में हों, परब्रह्म की लीलोपकरण मात्र है, यह सब सृष्टि आदि परमात्मा की लीला ही है, ऐसा भगवान द्वैपायन और पराशर आदि का कथन है। "परिणाम युक्त, अव्यक्त से लेकर विशेष (स्थूल विकार) तक सब कुछ, हरि की क्रीडा मात्र है, इसे क्षर ही मानना चाहिए, हरि की इस क्रीडा को, बालकों की क्रीडात्मक चेष्टा ही समझना चाहिए'' बालक जैसे खिलौना आदि से खेलता है वैसे ही—इत्यादि। लोकवत्तु लीला कैवल्यम्'' इस सूत्र में भगवान बादरायण उक्त बात ही कहते हैं।

"अस्मान्मायी सृजेत विश्वमेतत्तस्मिंश्चान्यो मामया सन्निरुद्धः" इति ब्रह्मणि जगद्रूपतया विक्रियमाणेऽपि तत्प्रकारभूताचिदंशगताः सर्वे विकाराः तत्प्रकारभूत क्षेत्रगताश्चापुरुषार्था इति विवेक्तुं प्रकृतिपुरुषयोर्ब्रह्मशरीरभूतयोस्तदानीं तथा निर्देशानर्हेति सूक्ष्मदशापत्त्या ब्रह्मणैकीभूतयोरपि भेदेनव्यपदेशः "तदात्मानं स्वयमकुरुत" इत्यादिभिरैकार्थ्यात्। तथा च मानवं वचः—"सोऽभिध्याय शरीरात् स्वात् सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः अतएव ससर्जादौ तासुवीर्यमपासृजत्" इति। अतएव ब्रह्मणो निर्दोषत्वनिर्विकारत्वश्रुतयश्चोपपन्नाः अतो ब्रह्मैव जगतो निमित्तमुपादानं च।

"मायाधीश इस प्रकृति से, इस विश्व की सृष्टि करते हैं, और दूसरा (जीव) माया द्वारा इस सृष्टि में बांधा जाता है" इत्यादि में यह बतलाया गया है कि-ब्रह्म के जगदाकार रूप मे विकृत होने पर उनका जितना भी विकार है वह तो सारा का सारा उनके शरीर स्थानीय अचेतनांश में प्रतिष्ठित रहता है, तथा जो कुछ अपुरुषार्थ (परिहार्य अनर्थ) है वह परमात्मा के ही शरीर स्थानीय क्षेत्रज्ञ (जीव) में रहता है। इस बात को स्पष्ट करने के लिए ही, ब्रह्म की शरीर भूत अवर्णनीय अतिसूक्ष्म अवस्था वाली वस्तु प्रकृति और पुरुष को ब्रह्मात्मक होते हुए भी, भिन्न बतलाया गया है। ऐसा मानने से ही "उन्होंने स्वयं अपने को जगद् रूप में परिणत किया" इत्यादि वाक्यों का सामंजस्य हो सकता है। ऐसा ही मनुजी का भी वचन है-"उन्होंने अपने शरीर से विविध प्रजा की सृष्टि की इच्छा से सर्व प्रथम जल की सृष्टि की और उसमें वीर्य का रोपण किया।" इस प्रकार ब्रह्म की निर्दोषता और निर्विकारता श्रुतियों से सिद्ध होती है। ब्रह्म ही जगत के निमित्त और उपादान कारण है।

योनिश्च हि गीयते ।१।४।२८।

इतश्च जगतोनिमित्तमुपादानं च ब्रह्म, यस्माद् योनित्वेनाप्यभिधीयते "कर्त्तारमीशं पुरुषं ब्रह्म योनिम्" इति। "यद्भूतयोनिं परिपश्यंति धीराः" इति च योनिशब्दश्चोपादानवचन इति। "यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च" इति वाक्यशेषादवगम्यते।

इसलिए भी, ब्रह्म, जगत के निमित्त और उपादान कारण हैं कि परमात्मा को सब की योनि बतलाया गया है। "जगत कर्त्ता पुरुष, योनि स्वरूप ब्रह्म को" "उस भूत योनि को साधक लोग दर्शन करते हैं" इत्यादि में उन्हें योनि शब्द से निर्देश किया गया है "जैसे कि मकड़ी सृजन और ग्रहण करती है" इत्यादि वाक्यशेष से, उसकी उपादानता भी ज्ञात होती है।

८ सर्वव्याख्यानाधिकरणः—

एतेन सर्वे व्याख्याताः व्याख्याताः ।१।४।२९।।

एतेन पादचतुष्टयोक्तन्यायकलापेन, सर्ववेदांतेषु जगत् कारण प्रतिपादनपराः सर्वे वाक्य विशेषाः चेतनविलक्षण सर्वज्ञ सर्वशक्ति ब्रह्म प्रतिपादनपरा व्याख्याताः। "व्याख्याताः" इति पदाभ्यासो अध्याय परिसमाप्ति द्योतनार्थः।

इस अध्याय के चारों पादो का जिस प्रणाली से विवेचन किया गया है, उससे निश्चित होता है कि—समस्त वेदांतशास्त्र के जगत प्रतिपादक विशेष वाक्यों में, जडचेतन से विलक्षण सर्वज्ञ सर्वशक्ति संपन्न ब्रह्म का प्रतिपादन ही, एकमात्र तात्पर्य है। "व्याख्याताः" पद की द्विरुक्ति अध्याय समाप्ति की सूचिका है।

प्रथम अध्याय समाप्त